हिंदी संस्करण के सम्पादक

महेशचंद एम० ए०, (प्रधान सम्पादक).
अर्थशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

श्री नारायण अग्रवाल, एम० ए०
अर्थशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

तथा

सुरतदास श्रीवास्तव, एम० ए०,
अर्थशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

सहायक

श्री अजीत कुमार
श्री ओंकार नाथ
श्री रमाकांत सक्सेना

तथा

श्री सतीश दत्त पांडे

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक फंडामेन्टल्स ऑफ इकनामिक्स का हिन्दी संस्करण है जिसका सर्वश्री **महेशचंद, श्रीनारायण अग्रवाल** तथा **सुरतदास श्रीवास्तव** ने सम्पादन किया है। अनुवाद कार्य में उन्हें सर्वश्री **अजीत कुमार, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, रमाकांत सक्सेना** तथा **सतीशदत्त पांडे** से सहायता मिली है।

इस अवसर पर यह स्मरणीय है कि स्वर्गीय प्रो० एस० के० रुद्रा ने अंग्रेजी संस्करण की भूमिका में क्या लिखा था:—

"इसको लिखते समय यह प्रयत्न किया गया है कि प्रयाग की अपनी प्रणाली और पद्धतियुक्त अर्थशास्त्र का अध्ययन पाठकों के सम्मुख रखा जाए। प्रो० एच० एस० जेवेन्स के समय से हमारी विशेषता यह रही है कि अर्थशास्त्र की समस्याओं पर विचार करने में सिद्धान्तों पर विशेष जोर दिया जाय। हमारा विश्वास है कि हमने अर्थशास्त्र के प्रति जो दृष्टिकोण विकसित किया है वह युक्तिसंगत होते हुए भी "क्लासिकल" शब्द के संकुचित अर्थ में रूढ़िवादी नहीं है। पुस्तक के भिन्न भागों के पठन द्वारा यह बात बहुत कुछ स्पष्ट हो जाएगी।

"यद्यपि पुस्तक एक सम्मिलित कृति है, प्रत्येक अंश पर उसके लेखक के विचार और विद्वता की छाप लगी है तथा वही समस्या विशेष पर प्रकाश डालने की अपनी [illegible] के लिये पूर्णतः उत्तरदायी है।"

पुस्तक के विभिन्न अंशों के लेखक निम्नप्रकार से हैं:—

भाग १

[illegible], विधियाँ तथा महत्व	प्रयागदास हजेला, एम० ए० (प्रयाग)
आर्थिक आंकड़े	सी०डी० थाम्सन, एम० ए० (प्रिन्स्टन)

भाग २

उपभोग	दयाशंकरदुबे, एम० ए०, एल० एल० बी० (प्रयाग)

भाग ३

[illegible] (उत्पादन के साधन तथा जनसंख्या का सिद्धान्त [illegible])	पी० सी० जैन, एम० ए०, एम० एस्सी० (अर्थशास्त्र) (लंदन)
उत्पादन के साधन तथा जनसंख्या का सिद्धान्त	आर० एन० भार्गव, एम० ए० (प्रयाग)

भाग ४

[illegible] तथा नगर की समस्याएं

(अ) कृषि की समस्याएं	महेश चंद, एम० ए०, बी० एस्सी० (आनर्स) (प्रयाग)

(स) यातायात	श्रीमती एम० थामस, एम० ए० (मद्रास)

भाग ५

विनिमय सिद्धान्त	श्रीनारायण अग्रवाल, एम०ए० (प्रयाग)

भाग ६

वितरण-सिद्धान्त	
(अ) (i) विषय प्रवेश	डा० प्रयाग दास हजेला, एम० ए० (प्रयाग)
(ii) मजदूरी	
(iii) ब्याज	सी० डी० थाम्सन, एम० ए० (प्रिन्स्टन) तथा प्रयाग दास हजेला, एम० ए० (प्रयाग)
(ब) (i) भाटक	जे० के० मेहता, एम० ए० (प्रयाग)
(ii) लाभ	

भाग ७

द्रव्य तथा विदेशी विनिमय	प्रयागदास हजेला, एम० ए० (प्रयाग)
स्वर्ण मान	आई० ज़ेड० भट्टी, एम० ए० (प्रयाग)

भाग ८

साख तथा बैंकिंग	सरस्वती प्रसाद, एम० ए० (प्रयाग)

भाग ९

अंतर्राष्ट्रीय व्यापार (अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष संबंधी पृष्ठों को छोड़कर जिसे प्रयागदास हजेला ने लिखा है)	एस०एल० परमार

भाग १०

राजस्व	
(अ) राजस्व के सिद्धान्त (ब) सार्वजनिक आय	एस०के० मुकर्जी, एम०ए० (प्रयाग)
(स) सार्वजनिक व्यय (द) सार्वजनिक ऋण	कुमारी एस०गुप्ता, एम०ए० (प्रयाग)

भाग ११

आर्थिक प्रगति की दशाएँ	
(अ) आर्थिक विकास	आर०पी०बहादुर, एम०ए०, डी० फिल० (प्रयाग)
(ब) कल्याण	आई०जेड० भट्टी, एम० ए० (प्रयाग)
(स) आर्थिक आयोजन	जी०डी० कारवल, एम. ए. (पंजाब)

हिंदी संस्करण तैयार करते समय सैद्धान्तिक समस्याओं पर तर्कनिष्ठ प्रकाश और व्याख्या को ध्यान में रखते हुए प्रयुक्त भाषा को यथासंभव सरल बनाया गया है।

जहाँ तक पारिभाषिक शब्दों का संबंध है उनका चुनाव प्रचलन और उपयुक्तता [illegible] आधार पर किया गया है। हमको कतिपय नए शब्द निर्माण करने पड़े हैं और इस कार्य [illegible] अर्थशास्त्र शब्दावलियों संबंधी अँग्रेजी-हिन्दी कोषों का पूर्ण उपयोग किया गया है।

आशा है कि पुस्तक द्वारा विद्यार्थीगण सही आर्थिक विश्लेषण में दक्ष बनेंगे, [illegible] [illegible]क ज्ञान प्राप्त होगा और वे तर्कयुक्त तथा सही निष्कर्ष निकालना सीखेंगे। विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की हिन्दी में अर्थशास्त्र विषय [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पुस्तक से पूरी होगी।

[illegible]य,

जे० के० मेहता
अध्यक्ष, अर्थशास्त्र [illegible]

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ संख्या

भाग १—अर्थशास्त्र, क्षेत्र, विधि [illegible] महत्व

भाग २—उपभोग

भाग ३—उत्पादन

भाग ४—ग्रामीण और नगर की समस्याएँ

अध्याय

भाग ६—वितरण सिद्धान्त

भाग ७—द्रव्य तथा विदेशी विनिमय

भाग ८—साख तथा बैंकिंग

भाग ९—अंतर्राष्ट्रीय व्यापार

भाग १०—राजस्व

भाग ११—आर्थिक प्रगति की दशाएँ

भाग—१

अर्थशास्त्र—क्षेत्र, विधियाँ तथा महत्त्व

अध्याय १

अर्थशास्त्र की परिभाषा

'अर्थशास्त्र' शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में मतभेद होने पर भी यह विज्ञान विकसित हुआ है। यह स्वाभाविक ही है और सभी विज्ञानों के साथ ऐसा ही होता है। प्रत्येक विज्ञान के विषय विकसित एवं प्रवर्द्धित होते रहते हैं, हर पीढ़ी उनमें कुछ न कुछ जोड़ती तथा आवश्यक परिष्कार करती रहती है। साथ ही इस दिशा में भी प्रयत्न होते रहते हैं कि उन सब विषयों में निहित मूल एकता ज्ञात हो जाए जिससे उन विषयों की सीमा निर्धारित की जा सके। अतः एक परिभाषा का उद्देश्य ही यह है कि वह किसी विज्ञान को इस प्रकार वर्णित करे कि जो भी विभिन्न विषय, नियम तथा साधारणीकरण (generalizations) आदि उस विज्ञान में विकसित हुए हैं, सब उस परिभाषा के अंतर्गत सुसम्बद्ध रूप में आ जाएँ और एक ऐसी सीमा निर्धारित की जा सके जिसके भीतर समय-समय पर परिष्कृत होकर विषय घट-बढ़ सकें।

क्या अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है?—अब प्रश्न यह है कि अर्थशास्त्र की परिभाषा कैसे दी जाए? एक क्षण के लिए हम उन परिभाषाओं पर विचार कर लें जो मार्शल के पूर्व के अर्थशास्त्रियों ने दी थी। उनके लिए अर्थशास्त्र धन का शास्त्र था। वे यह भी समझते थे कि अर्थशास्त्री का कर्तव्य उन रास्तों को सुझाना भी है जिनसे समाज के धन में वृद्धि हो सके। ऐडम स्मिथ के अर्थशास्त्र के ग्रंथ के शीर्षक* से ही धन के पक्ष में यह पूर्वग्रह अत्यंत स्पष्ट हो जाता है

जब 'धन' की व्यापक व्याख्या की जाए, इस अर्थ में कि धन वह परिमित साधन है जो मनुष्य की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, तो निश्चय ही अर्थशास्त्र की इस परिभाषा का विरोध नहीं हो सकता। परन्तु पूर्वोक्त परिभाषा देने वाले अर्थशास्त्रियों ने धन की इतनी विशद व्याख्या नहीं की थी। धन से उनका तात्पर्य स्पर्शनीय (tangible), गोचर तथा जीवन की स्थूल वस्तुओं से था, जैसे अनाज, मेज, कुर्सी आदि। ऐसी वस्तुओं के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु के अध्ययन से तत्कालीन अर्थशास्त्रियों का कोई लगाव न था।

'धन' की यह संकुचित धारणा कुछ ऐसे भ्रान्तिमूलक अर्थों को जन्म देती है जो एक वैज्ञानिक मस्तिष्क को ग्राह्य नहीं हो सकते। पहला अर्थ तो यही कि अर्थशास्त्र ऐसे विज्ञान की भाँति दिखने लगता है जो जीवन की केवल निम्न वस्तुओं से संबद्ध है और फलतः मानव-कल्याण में अपना योग देने में असमर्थ है। वे लोग जो अनाज, मेज तथा कुर्सी के अधिकाधिक उत्पादन का सुझाव देंगे जीवन के उच्चतर मूल्यों को भूल कर मनुष्य को नितान्त भौतिक ही बना सकेंगे।

उपर्युक्त से जो दूसरा अर्थ निकलता है वह यह है कि अर्थशास्त्र केवल उन्हीं व्यक्तियों का अध्ययन करेगा जो मेजों, कपड़ों आदि भौतिक पदार्थों के उत्पादन तथा उपयोग से संबद्ध हैं। शेष व्यक्ति अर्थशास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र में नहीं आएँगे। उदाहरण के लिए जंगलों

परन्तु हम जानते हैं कि न तो अर्थशास्त्र भौतिकवाद को बढ़ावा देता है और व्यक्तियों का अध्ययन मात्र भौतिकवादी पूर्वग्रह से करता है। सम-सीमान्त उपयोगिता नियम एक साधु को अपने समय तथा साधनों को भोजन करने, (इसमें किसी को सन्देह न होना चाहिए कि साधु भी भोजन करते हैं, अन्यथा उनका जीवन ही न चलता) और पूजा-पाठ तथा चिन्तन करने में विभाजित करना सिखाता है, वैसे ही जैसे घोर भौतिक वस्तुओं से लिपटे हुए अन्य व्यक्तियों को यह नियम खाने-पीने तथा विविध वस्तुओं का क्रय करने में अपने समय एवं साधनों को बांटने में सहायक होता है। एक सनकी अर्थशास्त्री ही यह कह सकता है कि इस नियम का अध्ययन क्षेत्र सांसारिक व्यक्ति मात्र है, साधु नहीं। यदि सम-सीमान्त उपयोगिता नियम अर्थशास्त्र का नियम है और साधु तथा सांसारिक व्यक्ति—दोनों पर समान रूप से लागू होता है तो ये दोनों अर्थशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाएंगे, और अर्थशास्त्र की ऐसी परिभाषा देनी होगी जिसमें ये दोनों प्रकार के व्यक्ति समाहित हो सकें।

जो भी हो, इस दूसरे अर्थ को अर्थशास्त्रियों ने थोड़े ही दिन हुए अनुभव किया। फिर भी पहली भ्रान्ति तो उसी समय ज्ञात हो गई थी जब अर्थशास्त्रियों तथा उनके निम्न उद्देश्यों पर आक्रमण होना प्रारम्भ हुआ। साहित्य एवं कला के महत्वपूर्ण पारखियों ने अर्थशास्त्री को मानव-मस्तिष्क में गन्दी मनोवृति भरने वाला बताया। रस्किन ने यह स्पष्ट रूप से घोषित किया कि जीवन ही एक मात्र 'धन' है। और इस प्रकार अर्थशास्त्र का उपहास होने लगा, वह नीची दृष्टि से देखा जाने लगा।

मार्शल द्वारा सुधार—मार्शल पहले अर्थशास्त्री थे जिन्हों ने रस्किन तथा कार्लाइल जैसे व्यक्तियों की अर्थशास्त्र विरोधी आलोचना का उत्तर दिया। उन्होंने इस पर बल दिया कि धन अर्थशास्त्र का अन्त नहीं है, अन्त तो मनुष्य मात्र का कल्याण है। इसी के अनुसार मार्शल ने अपनी परिभाषा भी दी :—"अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यापार में मनुष्य मात्र का अध्ययन है; वह व्यक्तिगत तथा सामाजिक कार्य के उस अंश की परीक्षा करता है जो कल्याण की भौतिक आवश्यकताओं की प्राप्ति तथा उपयोग से घनिष्ठ रूप में संबद्ध है।"

अर्थशास्त्र को एक गौरव देने के अतिरिक्त यह परिभाषा पहले की परिभाषाओं से बहुत आगे बढ़ी हुई नहीं है। इसके अतिरिक्त यह अस्पष्ट भी है और अर्थशास्त्र का क्षेत्र वहीं तक रखती है जितना पहले की परिभाषाओं ने सीमित कर रक्खा था। आखिर जीवन के साधारण व्यवहार से क्या तात्पर्य है? क्या इस तरह का मुहावरा अर्थशास्त्र का अध्ययन ऐसी ही क्रियाओं तक सीमित नहीं कर देगा जो हमारे नित्य जीवन में साधारणतया होती रहती है? यह निश्चित है कि इससे हमारी खोज का क्षेत्र सीमित हो जाएगा।

मार्शल की परिभाषा में यह दोष तो उचित भाषा का व्यवहार न करने के कारण ही आ गया। परन्तु यदि हम भाषा की बहुत चिन्ता न भी करें और वही अर्थ स्वीकार कर लें जो मार्शल व्यक्त करना चाहते थे तो भी यह परिभाषा मान्य नहीं हो सकती। क्योंकि मार्शल के अनुसार तो अर्थशास्त्र केवल समाज में रहनेवाले व्यक्तियों का अध्ययन करेगा, साधु तथा राबिन्सन क्रूसो जैसे व्यक्ति अर्थशास्त्र के क्षेत्र के बाहर ही रह मार्शल कहते हैं, "अर्थशास्त्री व्यक्तियों के कार्यों का अध्ययन करता है परन्तु उनके जीवन की अपेक्षा सामाजिक कार्यों से उसका अधिक संबन्ध है, अतः अर्थशास्त्र

स्वभाव तथा चरित्र की व्यक्तिगत विशिष्टताओं में रुचि नहीं लेता।" हम ऊपर देख आए हैं कि इस प्रकार के दृष्टिकोण का अर्थ सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम के व्यवहार-क्षेत्र को संकुचित करना है और यह अर्थशास्त्र का मूलभूत नियम है। एक वैज्ञानिक का उद्देश्य अपने विज्ञान के नियमों को अधिक व्यापक बनाना है, न कि संकुचित करना।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र को सीमित करने वाली दुर्बलता उपर्युक्त वाक्य के अंतिम भाग से भी स्पष्ट है। 'कल्याण (well-being) की भौतिक आवश्यकताओं की प्राप्ति तथा उपयोग से संबद्ध' मानवीय कार्य का ही अध्ययन होता है। उस मानवीय कार्य का जो कल्याण के अभौतिक साधनों से संबद्ध है, अध्ययन नहीं किया जाएगा। किसी संगीत-सभा अथवा सिनेमा-शो का आनन्द अभौतिक है; शिक्षण तथा गायन भी अभौतिक ही है। अतः इनसे संबद्ध कार्य अर्थशास्त्री के अध्ययन की वस्तु नहीं होंगे। केवल उन कार्यों का ही अध्ययन होगा जो भोजन, मेज़-कुर्सी आदि मानव कल्याण की भौतिक आवश्यकताओं के साथ संलग्न हों। अतः मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र का क्षेत्र यह होता है, "किसी समाज में ही रहने वाले व्यक्तियों के कार्यों का अध्ययन किया जाएगा और उन व्यक्तियों के भी सब कार्यों का नहीं वरन् केवल उन थोड़े से चुने हुए कार्यों का जो जीवन की भौतिक वस्तुओं के साथ संबद्ध हैं"। एक अध्यापक, समाज में रह सकता है, परन्तु चूंकि उसका अध्यापन अभौतिक है अतः वह अर्थशास्त्र के क्षेत्र के बाहर पड़ेगा। हम जानते हैं कि यह बिल्कुल गलत है। जहां तक अध्यापन के एक ऐसी सेवा होने का प्रश्न है जो बाज़ार में मांग तथा पूर्ति के नियमों के अनुसार बेची और खरीदी जा सकती है, उसका निश्चित रूप से एक आर्थिक पहलू भी है जिसकी उपेक्षा कोई भी अर्थशास्त्री नहीं कर सकता। अपनी परिभाषा के उपर्युक्त अर्थों का पूर्ण निर्वाह मार्शल ने अपनी पुस्तक में नहीं किया है। उन्होंने सेवाओं के क्रय-विक्रय की चर्चा की है, जबकि सेवाएँ सहसा भौतिक वस्तुओं के अंतर्गत नहीं आतीं।

पीगू के विचार—प्रो० पीगू ने अर्थशास्त्र को 'आर्थिक कल्याण का अध्ययन' कह कर परिभाषित किया है। आर्थिक कल्याण "कल्याण का वह अंश है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से द्रव्य के माध्यम से नापा जा सकता है।" यह परिभाषा मार्शल की परिभाषा से अधिक भिन्न नहीं है। अन्तर यह है कि मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र कल्याण के भौतिक साधनों से संबद्ध मानवीय कार्यों का अध्ययन करता है और पीगू के अनुसार अर्थशास्त्र भौतिक या आर्थिक कल्याण मात्र से संबद्ध मानवीय कार्यों का अध्ययन करता है। स्पष्ट है कि जहां 'कल्याण के भौतिक साधन' एक सार्थक मुहावरा है, वहीं 'भौतिक' अथवा 'आर्थिक कल्याण'

कि ऐसे व्यक्ति के साथ अर्थशास्त्र का कोई भी संबन्ध नहीं है क्योंकि उसके कल्याण किसी भी अंश को 'प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में द्रव्य के मापदंड से नापना' असंभव है?

उपर्युक्त परिभाषाओं के अर्थ—ऊपर जिन पर विचार किया गया है वे सभी परिभाषाएं अर्थशास्त्र की वर्तमान विषय वस्तु की सही व्याख्या करने में असमर्थ सिद्ध हुई हैं। उनका तात्पर्य यह अधिक रहा है कि हम अर्थशास्त्र के कुछ नितान्त मूलभूत नियमों—जैसे उपभोग में सम-सीमान्त उपयोगिता नियम तथा अर्थ-सिद्धान्त (theory of value) में मांग तथा पूर्ति के नियम के व्यापक प्रयोग को कम कर दें। इसके अतिरिक्त भी इन परिभाषाओं ने अपना आधार यह विचार रखा है कि अर्थशास्त्र मानव-विज्ञान की अपेक्षा सामाजिक विज्ञान अधिक है। सामाजिक-विज्ञान का अभिप्राय प्रायः उस विज्ञान से होता है जो व्यक्ति को समाज का अंग मानकर अध्ययन करता है। इसीलिए एकान्त में रहनेवाला व्यक्ति एक सामाजिक विज्ञान के अध्ययन का विषय नहीं बनेगा। एक मानव-विज्ञान का क्षेत्र स्वभावतः अधिक व्यापक होता है। उसका केवल इतना ही तात्पर्य है कि यह विज्ञान मनुष्यमात्र का अध्ययन करता है। वह मनुष्यमात्र समाज का सदस्य है अथवा नहीं, इसका प्रश्न ही नहीं उठता। एक क्रूसो या एक साधु किसी भी ऐसे विज्ञान का उतना ही महत्वपूर्ण अंग है जितना किसी समाज में रहनेवाला एक व्यक्ति। अतः एक मानव-विज्ञान सामाजिक तथा असामाजिक दोनों प्रकार के प्राणियों का अध्ययन कर सकता है जबकि एक सामाजिक विज्ञान केवल सामाजिक प्राणी का। इस प्रकार मानव-विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र किसी सामाजिक विज्ञान से कहीं अधिक विस्तृत होता है। चूंकि अर्थशास्त्र के मूल नियम असामाजिक प्राणियों पर उतने ही लागू होते हैं जितने सामाजिक प्राणियों पर, अतः अर्थशास्त्र को इन दोनों का अध्ययन करना चाहिए। यह तभी संभव हो सकता है जब हम अर्थशास्त्र को एक मानव-विज्ञान मानें न कि सामाजिक विज्ञान।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह भी ध्वनि निकलती है कि अर्थशास्त्र क्रियाओं के एक निश्चित समूह का अध्ययन करता है न कि प्रत्येक क्रिया के किसी एक पहलू का। और वह समूह उन क्रियाओं का है जो 'धन' कहलाने वाली जीवन की 'स्पर्शनीय तथा स्थूल वस्तुओं के उत्पादन तथा उपभोग से संबन्धित हैं' या मार्शल के शब्दों में जो 'कल्याण की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उपभोग से संबद्ध' हैं। प्रोफेसर राबिन्स ने ऐसी परिभाषाओं को वर्गकारिणी (classificatory) कहा है। क्रियाओं को आर्थिक तथा अनार्थिक (non-economic) विभागों में बांटना पूर्णतः अवैज्ञानिक तथा असंगत है। क्या मेजों का उत्पादन करने वाला व्यक्ति, प्रयोग की जाने वाली लकड़ी की मात्रा, काम करने के घन्टों की संख्या तथा तैयार मेज़ के दाम आदि का अनुगणन (calculation) नहीं करता? यदि वह ऐसा करता है तो क्या मेजों के उस उत्पादक की क्रिया का एक गणितात्मक पहलू भी नहीं है? यदि है, तो वह क्रिया पूर्णतः आर्थिक किस भांति कही जा सकती है? और यदि वह क्रिया अंशतः आर्थिक ही कही जा सकती है, तो क्या यह मानना ठीक न होगा कि अर्थशास्त्र संपूर्ण क्रिया का नहीं, वरन् उसके किसी एक अंश या पहलू का ही अध्ययन करता है? एक अर्थशास्त्री के लिए यह उचित नहीं कि कोई संपूर्ण [illegible]
के लिए चुन ले
है

हों अथवा असामाजिक' क्रियाओं को इस ढंग से समाहित करे कि अर्थशास्त्र के अंतर्गत प्रत्येक क्रिया का कोई एक पहलू या अंश ही आए न कि किसी विशेष समूह अथवा वर्ग की संपूर्ण क्रियाएँ।

राबिन्स की परिभाषा—इन समस्त भ्रान्तिमूलक अर्थों के प्रति जागरूक प्रो० राबिन्स अर्थशास्त्र की परिभाषा देते हैं: "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानव-व्यवहार का अध्ययन सीमित साधनों, जिनके वैकल्पिक प्रयोग हो सकते हैं, तथा लक्ष्यों के संबन्ध के रूप में करता है।" जैसा कि स्पष्ट है यहां अर्थशास्त्र सामाजिक की अपेक्षा मानव-विज्ञान हो गया है और उसका क्षेत्र भी परिवर्धित हुआ है। अर्थशास्त्र 'मानव-व्यवहार' का अध्ययन करता है चाहे वह व्यवहार कहीं भी हो, किसी का हो। यदि वह समाज में बसने वाले प्राणी से संबन्धित है तो निस्संदेह अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय है, यदि समाज से दूर किसी व्यक्ति से संबन्धित है तो भी अर्थशास्त्र उसका अध्ययन करेगा। उस पर भी संपूर्ण मानव-व्यवहार से नहीं, वरन् उसके एक पहलू मात्र से अर्थशास्त्री संबद्ध है। लेकिन वह पहलू है क्या ? वह जो मानव-व्यवहार को जन्म देने वाली विविध इच्छाओं के लिये वैकल्पिक प्रयोग वाले सीमित साधनों के विभाजन से संबद्ध है। मान लीजिए, एक आदमी के पास क, ख, ग, तीन वस्तुओं पर खर्च करने के लिए पचास रुपए हैं। वह भली-भांति जानता है कि वह इन तीन वस्तुओं को अनन्त मात्रा में नहीं खरीद सकता क्योंकि जो द्रव्य (या साधन) उसे इन वस्तुओं पर व्यय करना है वह सीमित है। ऐसी स्थिति में वह उन वस्तुओं को कितना-कितना खरीदे ? वह क की अधिक मात्रा ख की कम और ग की उससे भी कम मात्रा खरीद सकता है, या वह ख की अधिक मात्रा में तथा क और ग वस्तुओं को कम मात्रा में क्रय कर सकता है। इन तीनों वस्तुओं को बराबर बराबर भी वह खरीद सकता है। मान लीजिए कि उसने निश्चित कर लिया कि उपलब्ध पचास रुपयों से वह इन वस्तुओं को कितनी मात्राओं में खरीदेगा और उसका खर्च इस प्रकार आता है; क पर तीस रुपया, ख पर बारह रुपया और ग पर शेष आठ रुपया। अतः जहां हम उस आदमी के वस्तुओं के खरीदने के कार्य अथवा व्यवहार को देखते हैं और उसकी क, ख, ग वस्तुओं की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए खर्च किए गए पचास रुपयों के 'क्यों' और 'कैसे' के निर्णय पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं, वहां हम उस व्यक्ति का अध्ययन अर्थशास्त्र के अन्तर्गत करते हैं। ऐसे चुनाव (कि वह प्रत्येक वस्तु की कितनी मात्रा क्रय करेगा तथा एक वस्तु पर अपने पचास रुपयों में से कितने रुपये व्यय करेगा) से संबद्ध व्यवहारों का एक आर्थिक पहलू है।

जहां भी उपलब्ध साधन सीमित हों और उन्हें विविध इच्छाओं की तृप्ति के लिए व्यय करना हो, वहीं आर्थिक पहलू स्पष्ट हो जाता है। उस व्यक्ति के व्यवहार का भी एक आर्थिक पहलू है जो चौराहे पर खड़े होकर अपनी [illegible] पहुँचने के लिए एक रास्ते की अपेक्षा दूसरा रास्ता चुनता है। [illegible] उस व्यक्ति के व्यवहार का भी एक आर्थिक पहलू है जो यह निश्चय करता है कि उसे जो भी सीमित समय [illegible] है उसमें [illegible] वह अध्ययन को देगा और कितना भोजन को। अतः जब भी हम अपनी विविध इच्छाओं की तृप्ति के लिए अपने सीमित साधनों के व्यय का निर्णय करते हैं एक आर्थिक समस्या उठ खड़ी होती है। इस भांति आर्थिक [illegible] चुनाव के कारण [illegible] होती है [illegible] मनुष्यों को चुनाव करने की सुविधा [illegible] नहीं [illegible] तृप्त हो। [illegible]

चुनाव इसलिए संभव होते हैं क्योंकि हम अपने साधनों को एक से अधिक इच्छाओं की तृप्ति के लिए प्रयुक्त कर सकते हैं। यदि आपके साधन किसी विशेष इच्छा की ही तृप्ति कर सकें और उन्हें अन्य इच्छाओं की संतुष्टि के लिए प्रयुक्त न किया जा सके, तो चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि ऐसी दशा में तो उन साधनों को उसी वस्तु पर व्यय करना होगा जिसके लिए वे निश्चित हैं। यदि साधनों का विविध प्रयोग संभव हो तभी यह प्रश्न उठता है कि वे किस लक्ष्य की सिद्धि करें और किसकी नहीं और तभी चुनावों की आवश्यकता पड़ती है और आर्थिक समस्या सम्मुख आती है। इसलिए आर्थिक समस्या के उठने के लिए उपलब्ध साधनों का वैकल्पिक प्रयोग होना आवश्यक है।

परन्तु, यद्यपि यह चुनाव करने के लिए आवश्यक है तथापि इतना ही यथेष्ठ नहीं है। वैकल्पिक प्रयोगों वाले साधनों की जितनी माँग होती है उसके अनुपात से उन्हें सीमित भी होना चाहिए। यदि इच्छाओं की तृप्ति के लिए मनुष्य के पास असीमित साधन हैं तब वह इसकी चिन्ता ही नहीं करेगा कि किस इच्छा पर कितने साधन व्यय किए जाएँ, क्योंकि उसे साधन उतनी बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं कि सारी इच्छाएँ पूर्णतया तृप्ति हो जाएँगी। जब साधन सीमित होते हैं तभी यह आवश्यक होता है कि किसी एक इच्छा पर सोच समझ कर साधनों की मात्रा व्यय की जाए अन्यथा कोई अन्य इच्छा या इच्छाएँ अन्त में अतृप्त ही रह जाएँगी। और इसी लिए एक व्यक्ति को इसका चुनाव करना पड़ता है कि वह एक इच्छा से कितना संतोष लाभ करेगा और दूसरी से कितना। इसी को दूसरे ढंग से इस प्रकार भी कह सकते हैं कि एक व्यक्ति को यह निर्णय करना पड़ता है कि अपने सीमित साधनों द्वारा वह अपनी विविध इच्छाओं की तृप्ति किस हद तक करेगा। चुनाव करने की आवश्यकता तभी उठ सकती है जब साधन न केवल वैकल्पिक प्रयोग वाले हों, वरन् मांग के अनुपात में सीमित भी हों। यह हमेशा होता है कि जितनी मांग होती है, साधन उससे कम पड़ जाते हैं क्योंकि मनुष्य की इच्छाएं अनन्त हैं। इसलिए आर्थिक समस्या तो सदैव बनी रहती है। उसका लोप तभी हो सकता है जब हम इच्छाओं का ऐसा नियंत्रण करें कि हमारी संख्यातीत इच्छाएँ कम होकर सीमित हो जाएँ और साधनों की पूर्ति उनकी मांग से अधिक हो जाएँ।

चुनावों का लक्ष्य—आप पूछेंगे कि चुनाव करने के समय मानव-व्यवहार का लक्ष्य क्या होता है? क्योंकि जब हम **क** वस्तु की मात्रा अधिक तथा **ख** और **ग** की कम लेते हैं तो इस विशेष प्रकार के निश्चय का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये। कारण केवल इतना है कि यह विशेष संयोग किसी अन्य संयोग (combination) की अपेक्षा हमारे ध्येय की संतुष्टि अधिक करता है। लेकिन आखिर वह ध्येय क्या है जिसकी प्राप्ति हम करना चाहते हैं? स्पष्ट है कि हमारा ध्येय, उपलब्ध सीमित साधनों द्वारा प्राप्त संतोष को अधिकतम करना है। हम कुछ इच्छाओं को तृप्त करने का निश्चय करते हैं और कुछ को नहीं, इसका इतना ही तात्पर्य है कि पहली इच्छाओं की संतुष्टि द्वारा हमें अधिक उपयोगिता मिलती है, दूसरी इच्छाओं की तृप्ति से कम। यदि बाद वाली इच्छाओं की तृप्ति से अधिक संतोष या उपयोगिता प्राप्त होने की संभावना होती तो हमने इन्हीं इच्छाओं की तृप्ति का प्रयत्न किया होता। तब हम पहले वाली इच्छाओं को तृप्त न करते।

चूंकि अर्थशास्त्र चुनावों का विज्ञान है और सारे चुनावों का लक्ष्य संतोष की अधिकतम प्राप्ति है, अतः अर्थशास्त्र उस मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है जो अधिकतम संतोष की प्राप्ति के लिए किए गए चुनावों से संबद्ध है। अर्थशास्त्र की ऐसी व्याख्या इस विज्ञान के अंतर्गत विकसित हुए मूलभूत नियमों के अनुरूप है। उदाहरण के लिए इस परिभाषा के अनुसार, सम-सीमान्त उपयोगिता नियम को अर्थशास्त्र का नियम उसी प्रकार सिद्ध किया जा सकता है जैसे अर्थ-सिद्धान्त में मांग और पूर्ति के नियम को। इन नियमों के व्यवहार के क्षेत्र को संकुचित करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

एक प्रश्न उठता है कि क्या मानव-व्यवहार के लक्ष्य—अधिकतम संतोष की प्राप्ति—उस समय अधिक संभव है जब अधिकाधिक इच्छाओं को तृप्त किया जाए या उस समय जब इच्छाएँ कम से कम कर दी जाएँ? यद्यपि पाश्चात्य अर्थशास्त्री यह साफ-साफ नहीं कहते, फिर भी उनकी धारणा है कि अधिकतम संतोष की प्राप्ति तभी संभव है जब उपलब्ध साधनों से अधिकाधिक इच्छाओं को पूरा किया जाए। इसका अनिवार्य फल यह हुआ है कि पाश्चात्य देशों के निवासियों की इच्छाएँ बढ़ गई हैं और वहां का जीवन निरन्तर जटिलतर होता जा रहा है।

अर्थशास्त्र का उद्देश्य: इच्छाओं को कम करना—प्रोफेसर जे० के० मेहता इस धारणा का उचित विरोध किया है क्योंकि मानव-संतोष में वृद्धि करने के स्थान पर यह उसको यथेष्ट मात्रा में कम कर देती है। वस्तुतः वे सोचते हैं कि अधिकतम संतोष और अधिकतम इच्छाएं दोनों अप्रासंगिक तथा एक दूसरे से पूर्णतया असंगत हैं। इच्छा एक पीड़ामय अनुभव है। यह इसी से स्पष्ट है कि हम इच्छा को संतुष्ट करना तथा उससे शीघ्र से शीघ्र छुटकारा पाना चाहते हैं। हमने उसे दूर करने या तृप्त करने की चिन्ता ही न की होती यदि वह पीड़ाजनक न होती। इसलिए इच्छा को दूर करने का अर्थ है: पीड़ा को दूर करना और सुख की उपलब्धि। यह सुख ही संतोष या उपयोगिता है। यदि कोई व्यक्ति अधिकतम उपयोगिता, सुख या संतोष पाना चाहे तो उसे समस्त वर्तमान पीड़ाओं को दूर कर इसका प्रयत्न करना होगा कि भविष्य में नई पीड़ाओं का अनुभव न हो। कम से कम यह आदर्श उस व्यक्ति के लिए है जो अपने चुनावों से अधिकतम संतोष प्राप्त करना चाहता है।

प्रकट रूप से संपूर्ण पीड़ा को पूरी तरह दूर करना असंभव जान पड़ता है। परन्तु वास्तव में यह इतना असंभव नहीं है। यह तो सच ही है कि उस व्यक्ति के लिए संपूर्ण पीड़ा का निराकरण करना अधिक कठिन है जिसकी इच्छाएँ बहुत अधिक हैं और फलतः दूर किए जाने वाली पीड़ा की मात्रा भी अधिक है। अपेक्षाकृत यह कार्य उस व्यक्ति के लिए सरल है जिसकी इच्छाओं की संख्या कम है, क्योंकि उसे थोड़ी ही पीड़ा से छुटकारा पाना होगा। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रत्येक अवस्था में पीड़ा का पूर्ण परिहार नितान्त असंभव है। इससे तो और अधिक आशा होती है कि यदि इच्छाएँ तथा उनसे संबद्ध पीड़ा, संख्या और मात्रा में घटती जाएँ तो समस्त पीड़ा से मुक्ति पाना अधिकाधिक संभव हो जाएगा। कम से कम इच्छाएँ हों तो कम से कम पीड़ा होगी और इस प्रकार उस पीड़ा से मुक्ति पाने तथा अधिकतम संतोष की प्राप्ति का कार्य अधिक सरल हो जाएगा।

व्यक्ति के व्यवहार का उद्देश्य होता है तो यह संतोष उस समय अधिक संपूर्णता से उपलब्ध होगा जब इच्छाओं की संख्या कम है, अधिक नहीं। और इस प्रकार मानव-व्यवहार द्वारा अधिकतम संतोष की प्राप्ति के लिए हम इच्छाओं को सरल या नियंत्रित करने के आदर्श की ओर बढ़ते हैं। चूंकि अर्थशास्त्र अधिकतम संतोष से संबद्ध मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है और चूंकि यह अधिकतम संतोष इच्छाओं के कम होने पर भली प्रकार उपलब्ध होता है, अतः अर्थशास्त्र मानवीय इच्छाओं के कम करने या सरल करने से संबद्ध मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है। इच्छाओं के कम करने को ही अर्थशास्त्र का अन्तिम उद्देश्य मानना ठीक होगा।

अधिकतम संतोष की प्राप्ति के मार्ग की इस व्याख्या के अतिरिक्त प्रोफेसर राबिन्स की परिभाषा अपने मूलतत्व में अकाट्य है।

राबिन्स की आलोचना—राबिन्स की परिभाषा की प्रायः जो दो मुख्य आलोचनाएं हुई हैं, वे ये हैं: पहली यह कि राबिन्स अर्थशास्त्र को वास्तविक तथा अनैतिक विज्ञान मानते हैं; दूसरी यह कि उन्होंने अर्थशास्त्र की ऐसी परिभाषा दी है जिससे अर्थशास्त्र सहज ही राजनीति, इतिहास या किसी अन्य विज्ञान जैसा दिखने लगता है। आलोचनाओं का तर्क है—क्या राजनीति, मनुष्यों की विविध इच्छाओं तथा सरकारों के लिए उनके सीमित साधनों के नियोजन से, संबद्ध नहीं है? और क्या प्रत्येक विज्ञान इसी प्रकार के नियोजनों से संबन्धित नहीं है? वस्तुतः ऐसे प्रश्न यह इंगित करते हैं कि आलोचकों के मस्तिष्क में कुछ भ्रम है। यह सच है कि किसी देश के प्रधान मंत्री का मानव-व्यवहार—जिसे राजनीति-शास्त्री अपनी संपत्ति कहना चाहेंगे—निश्चित रूप से, अनुभव की गई विविध इच्छाओं के लिए अपने साधनों का नियोजन करने से संबद्ध होगा। परन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं कि इस प्रकार जन्मे हुए व्यवहार का पहलू आर्थिक की अपेक्षा राजनीतिक हो गया। और जब तक ऐसा नहीं हो सकता—राबिन्स की परिभाषा के अंतर्गत अर्थशास्त्र और राजनीति एक नहीं हो सकते। राजनीति मानव-व्यवहार के एक दूसरे पहलू का अध्ययन करेगी। शायद उस पहलू का जो किसी नागरिक को राज्य द्वारा मिले हुए अधिकारों के आनन्द के उपभोग तथा राज्य के प्रति कर्त्तव्यों को करने से संबद्ध है, और जब इस आनन्दोपभोग तथा उत्तर-दायित्व के प्रसंग में कोई चुनाव करना होता है तो हम यह कहेंगे कि अर्थशास्त्र और राजनीति हाथ में हाथ मिलाकर चल रहे हैं; यह न कहेंगे कि उन्होंने अपने निजत्व को एक दूसरे में खो दिया है और वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि में एक हो गए हैं। जो राजनीति के विषय में सच है वही मानव-व्यवहार का अध्ययन करने वाले किसी भी विज्ञान के संबन्ध में सत्य है। मनुष्य के प्रत्येक कार्य में अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र निहित हैं, परन्तु ये विज्ञान न तो मिलकर एक हो जाते हैं और न वे केवल इसलिए अर्थशास्त्र के साथ एक रूप कहे जा सकते हैं—कि प्रत्येक कार्य (जिसमें यह विज्ञान निहित होते हैं) का किसी चुनाव से संबद्ध होने के कारण एक आर्थिक पहलू होता है।

राबिन्स की परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान हो गया—इस अभियोग की परीक्षा हम बाद में करेंगे। परन्तु सरसरी तौर पर यह कहा जा सकता है कि राबिन्स की परिभाषा की तर्क पूर्ण व्याख्या कर देने पर यह अभियोग झूठा ठहरेगा। इस प्रश्न पर प्रोफेसर राबिन्स बहुत स्पष्ट नहीं हैं। फिर भी जहां तक उनका अर्थ निकाला

जा सकता है, ऐसा ज्ञात होता है कि उनकी धारणा यही है कि अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है और उसे वास्तविक विज्ञान ही होना चाहिए । इस प्रश्न की चर्चा करने पर आगे हम स्वयं देखेंगे कि अर्थशास्त्र की प्रकृति आदर्शवादी है या नहीं। तब तक, इन तर्कों के आधार पर, जो अर्थशास्त्र की एक उपयुक्त परिभाषा की खोज करते समय हमारे सम्मुख आए, हमको यह विश्वास करने के लिए तत्पर होना चाहिए कि अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो चुनावों से संबद्ध मानव-व्यवहार का इस रूप में अध्ययन करता है कि इच्छाओं की संख्या कम रक्खी जाती है और मनुष्य मात्र के लिए जो भी अधिकतम संतोष संभव है, उसकी उपलब्धि होती है ।

अध्याय २

अर्थशास्त्र—विज्ञान अथवा कला

विज्ञान और कला के अर्थ—यदि 'विज्ञान' और 'कला' को किसी भाषा में अपने नामों की भिन्न स्थिति को सिद्ध करना हो तो उन्हें ऐसे दो अर्थों की व्यंजना करनी ही पड़ेगी जो एक रूप न हों। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उनमें कोई भी समानता न हो फिर भी इतना आवश्यक है कि प्रत्येक में कोई ऐसी विशेषता हो जो एक को दूसरे से अलग कर दे। तार्किक दृष्टि से यदि कोई विशेषता इनमें से एक में उपस्थित है, तो दूसरे में उसे अनुपस्थित होना चाहिए अन्यथा, जहां तक उस विशेषता का संबन्ध है, कला और विज्ञान में कोई भी अन्तर नहीं रह जाएगा।

आखिर वह कौन सी विशेषता है जो विज्ञान को कला से भिन्न बना देती है? यह, कि विज्ञान ज्ञान है; कला ज्ञान नहीं है। यदि कला भी ज्ञान होती तो स्पष्ट है कि यह विशेषता दोनों में समान हो जाती; और कला तथा विज्ञान में उस समय तक प्रभेद नहीं किया जा सकता जब तक कि हम कोई ऐसी अन्य विशेषता न खोज लें, जो इन दोनों में समान न हो। परन्तु कला को ज्ञान का अंश बतलाना कहां तक संगत है?

कला के संबन्ध में हमारे जो भी मतभेद हों, कम से कम इस विषय में सब एक मत हैं कि विज्ञान क्या है। इस संबन्ध में बहुत्र मतैक्य है कि विज्ञान व्यवस्थित (systematized) ज्ञान है। यदि यह धारणा ठीक मान ली जाए, और इसे ठीक मानना भी चाहिए, क्योंकि इसका किसी ने भी विरोध नहीं किया है, तो हम देखेंगे कि इसके अतिरिक्त कला कि कोई दूसरी परिभाषा संभव ही नहीं है कि वह और जो हो, ज्ञान नहीं है।

स्पष्टतः विज्ञान और कला दोनों का संबन्ध मानव-व्यवहार से है। मानव-व्यवहार का एक विज्ञान है तो साथ ही उसकी एक कला भी है। परन्तु केवल इसीलिए हम यह नहीं कह सकते कि कला एवं विज्ञान दोनों का एक ही अर्थ है। आप पूछेंगे क्यों? उत्तर स्पष्ट है—प्रत्येक मानव-व्यवहार दो प्रकार के प्रतिभासों (phenomena) को जन्म देता है। एक तो उस व्यवहार को व्यवहृत करना और दूसरा, वह सिद्धान्त जो व्यवहार (practice) की सहायता करता है। इस प्रकार, अन्त में यही मानव-व्यवहार की आधार-शिलाएँ ठहरते हैं और इन्हीं का नामकरण हमें करना है—एक ओर तो व्यवहार और दूसरी ओर उस व्यवहार का सिद्धान्त। यदि विज्ञान ज्ञान का एक समूह है, और ज्ञान जानकारी का समूह, और यदि जानकारी (information) विशुद्ध-मानसिक प्रतिभास है, तो विज्ञान भी अनिवार्यतः मानसिक प्रतिभास ही होगा। अतः विज्ञान सैद्धान्तिक है, और सिद्धान्त का नाम विज्ञान होना चाहिए। इस प्रकार मानव-प्राचरण के एक आधार का स्वरूप निर्धारित करने के पश्चात् दूसरा बचता है—व्यवहार जिसकी व्याख्या करने के लिए विज्ञान से भिन्न कोई अन्य वस्तु होनी चाहिए। यहां पर कला सम्मुख आती है। व्यवहार, सिद्धान्त तो हो नहीं सकता, क्योंकि सर्व सम्मति से सिद्धान्त का संबन्ध विज्ञान से मान लिया गया है; और चूंकि व्यवहार वही वस्तु हो सकती है जो विज्ञान न हो, अतः कला और व्यवहार दोनों समानार्थी हो जाते हैं। इस प्रकार इन

शब्दों के लिए हमें ऐसे दो अर्थ मिल जाते हैं जो न केवल उनसे उचित रूप में संबद्ध हो हैं, वरन् जो एक दूसरे को स्पष्ट विभागों में विभाजित भी कर देते हैं—विज्ञान ज्ञान है और कला-व्यवहार। विज्ञान और कला का एक ही अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि वे दोनों मानव-आचरण की किन्हीं निश्चित व्यवस्थाओं के विभिन्न आधार स्तम्भ हैं।

विज्ञान और कला परस्पर पृथक् हैं—कला तथा विज्ञान के अर्थों की इस पृष्ठभूमि के आधार पर हम अर्थशास्त्र के विज्ञान होने अथवा न होने के प्रश्न को हल कर सकते हैं। स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र एक ही साथ कला और विज्ञान दोनों नहीं हो सकता। जो विज्ञान है, वह कला नहीं हो सकता, और जो कला है उसका भी विज्ञान होना संभव नहीं। हमें केवल इसका निर्णय करना है कि अर्थशास्त्र विज्ञान है अथवा नहीं।

अर्थशास्त्र विज्ञान है—यह निर्णय करने के लिए हम अर्थशास्त्र की परिभाषा पर विचार कर लें। हम जानते हैं कि अर्थशास्त्र चुनाव करने से संबद्ध मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र उन अनेक सिद्धान्तों का समूह है जो मनुष्य को चुनाव करने में सहायक होते हैं। अर्थशास्त्र उन समस्त विचारों का प्रतिरूप है जो चुनावों को निश्चित रूप देने तथा सीमित साधनों से उनकी पूर्ति करने की क्रिया के समय किसी भी मनुष्य के मन में उठते हैं या उठने चाहिए। इस प्रकार अर्थशास्त्र वह ज्ञान राशि है जो चुनावों के माध्यम से देखे गए मानव-व्यवहार से संबन्धित है, जिसे हमने सिद्धान्त कहा है। चूंकि अर्थशास्त्र किसी 'कार्य' से संबद्ध ज्ञान का समाहार है, अतः वह उस क्रिया से निहित व्यवहार का सिद्धान्त मात्र है। उस व्यवहार का सिद्धान्त स्वयं व्यवहार नहीं हो सकता है। यहां आप प्रश्न करेंगे कि अर्थशास्त्र को सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहार ही क्यों न माना जाए? यह प्रश्न करना ठीक भी है, परन्तु जब तक ऐसे व्यवहार का एक सिद्धान्त है हमें उस का कोई न कोई नाम खोजना ही पड़ेगा। आप किस नाम का सुझाव देते हैं? अर्थशास्त्र नहीं, क्योंकि अर्थशास्त्र तो पहले ही प्रस्तुत विषय के सिद्धान्त के व्यवहार का नाम स्वीकृत हो चुका है।

इस समस्या को यों भी नहीं सुलझाया जा सकता कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त को अर्थशास्त्र का विज्ञान कहें, और उसके व्यवहार को अर्थशास्त्र की कला। क्योंकि तब तो 'स्वयं अर्थशास्त्र क्या है—विज्ञान अथवा कला?'—का प्रश्न अनिर्णीत ही रह जाएगा, और जब तक हम इसका निश्चय नहीं कर लेते, हम न तो अर्थशास्त्र की परिभाषा दे सकते हैं और न यही जान सकते हैं कि हमारी बातचीत का विषय क्या है? इसलिए, सबसे अच्छा तो यह होगा कि अर्थशास्त्र को विज्ञान माना जाए, और किसी उपयुक्त नाम के अभाव में उसके व्यवहार को अर्थशास्त्र की कला कहकर पुकारा जाए।

अध्याय ३

अर्थशास्त्र-वास्तविक और आदर्शवादी

अर्थशास्त्र वास्तविक है या आदर्शवादी, इस प्रश्न पर बहुत वाद-विवाद हो चुका है, परन्तु निष्कर्ष अभी तक कुछ भी नहीं निकला। निश्चय ही अर्थशास्त्र के एक वास्तविक विज्ञान होने के सम्बन्ध में कोई भी मतभेद नहीं हैं। परन्तु जैसे ही उसके आदर्शवादी होने का प्रश्न सम्मुख आता है, मतभेद उठ खड़े होते हैं। पश्चिम के अनेक अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को आदर्शवादी विज्ञान मानने का विरोध करते हैं। हम उनके मतों की परीक्षा बाद को करेंगे, तब तक हम इसकी खोज करें कि अर्थशास्त्र को आदर्शवादी विज्ञान भी कहा जा सकता है या नहीं।

अर्थशास्त्र की प्रकृति आदर्शवादी भी है। 'आदर्शवादी' का अर्थ किसी आदर्श से संबद्ध होना है और इसीलिए जब हम किसी विज्ञान को आदर्शवादी कहते हैं तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि वह विज्ञान ऐसे तथ्यों या स्थितियों का अध्ययन करता है जो किसी आदर्श अथवा मान के अनुरूप हों। अतः यदि अर्थशास्त्र को एक आदर्शवादी विज्ञान भी होना है तो उसका अध्ययन वास्तविक मानव-व्यवहार तक ही सीमित न रहेगा वरन् उस व्यवहार तक भी पहुँचेगा जो अर्थशास्त्री की दृष्टि में किसी आदर्श से संबद्ध है। इस स्थान पर एक प्रश्न उठता है कि आखिर ऐसे विचारों के लिए 'किसका' आदर्श लिया जाएगा? उस व्यक्ति का जिसके व्यवहार का अध्ययन किया जा रहा है, अथवा किसी अन्य ऐसे व्यक्ति का जिसे व्यक्तियों के आचरण का आदर्श खोजने का भार दिया गया है। यदि आदर्श प्रत्येक मनुष्य की निजी रुचि के अनुसार है तब तो प्रत्येक मनुष्य जो भी कार्य करता है किसी न किसी आदर्श के अनुसार ही करता है। इसलिए प्रत्येक कार्य एक आदर्शवादी विज्ञान का विषय हो जाएगा। यदि कोई आदर्श दूसरों द्वारा निर्धारित किया जाता है तो एक मनुष्य के कार्य उस आदर्श के अनुरूप हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते क्योंकि वह अपने लिए चुने गए आदर्श से सहमत भी हो सकता है और असहमत भी। मान लीजिए कि किसी मनुष्य का व्यक्तिगत लाभ इसमें है कि वह ईमानदार हो तथा उसका प्रत्येक कार्य इसी आदर्श के अनुसार हो तो निःसंदेह वह ऐसे ही काम करेगा जिनसे इस आदर्श की प्राप्ति हो सके। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसकी हानि होगी। इसलिए उसके समस्त कार्य ईमानदारी के अनुरूप ही होंगे और एक आदर्शवादी विज्ञान के अध्ययन का विषय बनेंगे। परन्तु यदि कोई दूसरा व्यक्ति उसके लिए ईमानदारी का यह आदर्श चुनता है तो यह संभव है कि वह व्यक्ति यह समझकर कि बेईमानी उसके व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अधिक अच्छा आदर्श है, ईमानदारी के रास्ते पर न चले। और तब उसके सारे कार्य जैसे होने चाहिए उसके विपरीत होंगे अर्थात् ईमानदारी की अपेक्षा बेईमानी की ओर अधिक उन्मुख होंगे। ऐसी दशा में यह कहा जाएगा कि उसके कार्य किसी आदर्शात्मक विज्ञान की विषय वस्तु नहीं हो सकते।

आदर्शवादी विज्ञान की यह व्याख्या बहुत संकुचित है। परन्तु 'आदर्शवादी वि की ऐसी संकुचित व्याख्या के अनुसार भी हम देखेंगे कि अर्थशास्त्र की प्रकृति आद

ही है। हम इस व्याख्या को संकुचित इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें कुछ ऐसी ध्वनि आती है जो निश्चित रूप से 'आदर्शवादी' शब्द के अर्थ के अंतर्गत नहीं आती। 'आदर्शवादी' का अर्थ है—किसी आदर्श के अनुसार और इस अर्थ से यह व्यंजना नहीं होती कि आदर्श किसी अन्य व्यक्ति द्वारा चुना हुआ ही होना चाहिए। परन्तु यदि यह विशेषता हमारी ओर से इस अर्थ में जोड़ भी दी जाए कि अर्थशास्त्र इच्छाओं की कमी के आदर्श से संबद्ध मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है, तो मनुष्य के लिए इस आदर्श के किसी अर्थशास्त्री द्वारा चुने गए होने पर भी अर्थशास्त्र एक आदर्शवादी विज्ञान ठहरता है।

ऊपर की व्याख्या उस समय और भी संकुचित हो जाती है जब यह कहा जाता है कि वह आदर्श, जिससे संबद्ध मानव-व्यवहार का (किसी आदर्शवादी विज्ञान में) अध्ययन किया जाएगा, भी निश्चित रूप से किसी अन्य सत्ता द्वारा ही चुना जाएगा जैसे कि एक नीतिशास्त्री द्वारा। आदर्शवादी विज्ञान ऐसी दशा में वह विज्ञान हो जाता है जो किन्हीं नैतिक सिद्धान्तों से संबद्ध मानव-व्यवहार का अध्ययन करे। कहना व्यर्थ है कि यह व्याख्या 'आदर्शवादी विज्ञान' के अर्थ में एक अनावश्यक विशेषता यह जोड़ देती है कि आदर्शवादी विज्ञान तथा नीतिशास्त्र बिलकुल एक जान पड़ने लगते हैं। प्रश्न यह है कि यदि आदर्शवादी विज्ञान और नीतिशास्त्र दोनों एक ही हैं तो यह दूसरा शब्द गढ़ने की कौन सी आवश्यकता आ पड़ी? और क्या नीतिशास्त्र प्रारंभ से अन्त तक 'आदर्शवादी विज्ञान' ही है? क्या नीतिशास्त्र इस अर्थ में एक वास्तविक विज्ञान भी नहीं है कि पहले तो उसमें अपने आदर्शों से संबद्ध मानवीय कार्यों का अध्ययन होता है और तब उस दिशा की ओर इंगित किया जाता है जिधर मानवीय कार्य उन्मुख होने चाहिए। इस प्रकार हम एक अन्य मनोरंजक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह विज्ञान भी जो पूर्णतया आदर्शवादी ज्ञात होता है, वस्तुतः आंशिक रूप से वास्तविक तथा आंशिक रूप से आदर्शवादी होता है।

जो भी हो, अब यदि इस संकुचित एवं एकांगी व्याख्या को ठीक मान लिया जाए तो भी अर्थशास्त्र एक आदर्शवादी विज्ञान ठहरता है, क्योंकि इच्छाओं की कमी का आदर्श ऐसा है जिससे नीतिशास्त्री अथवा धर्मशास्त्री किसी का भी कोई विरोध नहीं हो सकता। नीतिशास्त्र, नैतिकता या धर्म का वही अर्थ समझते हुए जिनकी व्यंजना ये शब्द साधारणतया करते हैं, कोई भी कह सकता है कि अर्थशास्त्र का आदर्श मूलतः नैतिक अथवा धार्मिक आदर्श है।

उचित व्याख्या—परन्तु ये समस्त व्याख्याएँ व्यर्थ ही एक आदर्शवादी विज्ञान का क्षेत्र सीमित कर देती हैं। हमें आदर्शवादी विज्ञान द्वारा इसके अतिरिक्त और कुछ न समझना चाहिए कि वह किसी भी आदर्श के अनुसार मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है। और इस अर्थ में अर्थशास्त्र की ही नहीं उन समस्त विज्ञानों की प्रकृति जो मनुष्य अथवा पदार्थ का अध्ययन करते हैं, आदर्शवादी हो जाती है। चट्टान का एक टुकड़ा जो भौतिकशास्त्री के अध्ययन का विषय है, इसीलिए एक विशेष प्रकार का है क्योंकि उसको जन्म देने वाली प्रकृति ने चाहा था कि वह उसी आदर्श के अनुरूप हो। जहाँ तक भौतिकशास्त्र इस चट्टान का अध्ययन करता है, वह वास्तविक तथा आदर्शवादी दोनों प्रकार का विज्ञान है। जो इस विज्ञान के विषय में सच है वही मानव-विज्ञानों के विषय में भी ठीक है। जब भी एक मानव-विज्ञान किसी मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है तो यह व्यवहार निश्चित रूप से वही होता है जिसे उसके कर्ता ने उचित समझकर

और इस प्रकार मानव-व्यवहार का अध्ययन करने वाले प्रत्येक विज्ञान की प्रकृति आदर्शवादी भी होती है।

अर्थशास्त्र के वास्तविक एवं आदर्शवादी पहलू—परन्तु इससे बड़े हास्यास्पद निष्कर्ष निकलते हैं। एक ही समय कोई विज्ञान वास्तविक और आदर्शवादी दोनों किस प्रकार हो सकता है? एक आदर्शवादी विज्ञान तो पूर्णतया आदर्शवादी होता है, उसमें किसी अन्य प्रकार के तत्व नहीं होते। इसी प्रकार कोई विज्ञान वास्तविक तभी होगा जब उसमें आदर्शवादी तत्वों का पूर्ण अभाव हो। यदि दोनों तत्व साथ-साथ स्थित हैं, अर्थात यदि कोई विज्ञान अंशतः आदर्शवादी तथा अंशतः वास्तविक है तो इसका अर्थ यही निकलता है कि उस विज्ञान के वास्तविक और आदर्शवादी दो पहलू हैं, न कि यह कि वास्तविक और आदर्शवादी दो विज्ञान एक में ही लपेट दिए गए हैं। दो विज्ञान मिलकर एक विज्ञान नहीं बन सकते, दो पहलू मिलकर एक विज्ञान बन सकते हैं।

अतः, अर्थशास्त्र को वास्तविक और आदर्शवादी दोनों प्रकार का विज्ञान कहने की अपेक्षा हम यह कहते हैं कि अर्थशास्त्र के वास्तविक और आदर्शवादी दो पहलू हैं। वास्तविक पहलू उस मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है जैसा अर्थशास्त्री उसे देखता है। आदर्शवादी पहलू व्यक्ति-विशेष के लक्ष्य से संबद्ध उसके व्यवहार का अध्ययन करता है। इस अध्ययन को संस्थिति (equilibrium) का अध्ययन कहा जाता है। संस्थिति का अध्ययन, व्यक्ति के लिए एक सुझाव है कि भले ही वह यह समझे कि उसका व्यवहार वही है जो होना चाहिए; परंतु संभव है कि वस्तुतः ऐसा न हो और ऐसी दशा में व्यक्ति को अपने आदर्श की पूर्ण प्राप्ति के लिए कौन-कौन से समायोजन (adjustment) करने चाहिए। कभी-कभी आचरण के तात्कालिक मान—जो मनुष्य को यह सोचने के लिए प्रेरित करते हैं कि वह जो कर रहा है वही उसे करना चाहिए—उसके अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक नहीं होते। ऐसी दशा में संस्थिति का अध्ययन मनुष्य को सही रास्ते पर ले आता है। प्रोफेसर राबिन्स का न यह कथन सत्य है कि "संस्थिति केवल संस्थिति है" और न यह कि संस्थिति की मान्यता या अमान्यता का प्रश्न नहीं उठता। कुछ अर्थों में स्वयं संस्थिति का तात्पर्य किन्हीं आदर्श परिस्थितियों से होता है। संस्थिति मनुष्यों को इसके लिए अत्यधिक प्रेरित करती है कि वे अपने व्यवहारों को या तो संस्थिति के अनुसार व्यवस्थित करें अन्यथा उनका अंतिम उद्देश्य मान या आदर्श उनके हाथों से छूट जाएगा और वे गलत रास्तों पर भटकते रह जाएँगे। अतः संस्थिति का सिद्धान्त, जो मनुष्यों को अपना ध्येय पाने के लिए ठीक रास्ता दिखाता है, प्रश्न अथवा संदेह से परे है तथा निश्चित रूप से आदर्शवादी है और अर्थशास्त्र के आदर्शवादी पहलू का निर्माण करता है।

की ऐसी संकु

अध्याय ४

अर्थशास्त्र तथा अन्य विज्ञान

जहां भी समाज है, मनुष्य के जीवन का सामाजिक पहलू उसकी इच्छाओं के चुनाव के निर्णय में महत्वपूर्ण कार्य करता है। अतः वे सारे विज्ञान जो मानव-जीवन के इस अंश से सम्बन्धित हैं, निश्चय ही चुनावों के विज्ञान से गहन रूप में सम्बद्ध होंगे। अर्थःशास्त्र तथा सामाजिक विज्ञान एक दूसरे के सम्बन्धी सिद्ध होते हैं।

अर्थशास्त्र और राजनीति—हम एक ऐसे समाज की कल्पना करें जहाँ राज्य करने वाली सरकार कमजोर हो और अपनी प्रजा की रक्षा न कर पाती हो। स्पष्ट है कि यदि लोगों को जीवित रहना है तो उन्हें अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध स्वयं करना होगा। ऐसी दशा में बन्दूकों और तलवारों की आवश्यकता या चुनाव, भोजन के अतिरिक्त कदाचित् अन्य सभी आवश्यकताओं से अधिक महत्वपूर्ण तथा प्राथमिक सिद्ध होगा। संभव है कि, यदि उन लोगों के पास भोजन, सुरक्षा, कपड़ों तथा शिक्षा आदि समस्त आवश्यकताओं की एक ही समय में पूर्ति करने के लिए अत्यधिक साधन नहीं है, शिक्षा की उपेक्षा हो जाए। यदि शिक्षा की उपेक्षा होती है तो लोगों की उचित-अनुचित समझने की मानसिक सामर्थ्य कम हो जाएगी। यह उनके चुनावों के मापदंड को और भी प्रभावित करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी समाज की राजनीतिक व्यवस्था उसके व्यक्तियों के चुनावों के आर्थिक पहलू को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अवश्य प्रभावित करेगी—अर्थात् उनकी इच्छाओं के वरण को और फलतः उन चुनावों द्वारा निःसृत कार्यों को भी। अतः राजनीति अर्थशास्त्र से इस रूप में संबद्ध है कि वह अर्थशास्त्र को प्रभावित करती है। साथ ही चुनाव स्वयं अपना प्रभाव भी समाज की राजनीतिक व्यवस्था पर डालते हैं। बम बनाने की अपेक्षा लोग अपना समय तथा शक्ति अच्छी बातों में अधिक लगाएँ तो एक जटिल तथा राजनीतिक षड्यन्त्रों से युक्त सरकार के स्थान पर वे एक ऐसी सरकार को पसन्द करेंगे जो न आततायी (aggressive) हो और न कूटनीतिज्ञ। आवश्यकताओं की कमी के आदर्श की प्राप्ति कदाचित राजनीति के अध्ययन को सरकार के उन रूपों की ओर उन्मुख कर सके जो आजकल प्रचलित समस्त रूपों से पूर्णतया भिन्न होंगे। तभी हम कह सकेंगे कि अर्थशास्त्र ने उन सामग्रियों (data) तथा संस्थाओं को मूलतः बदल दिया है जिन पर राजनीति निर्मित होगी। इसी भांति राजनीति भी सरकार के ऐसे रूपों का सुझाव दे सकती है जो इच्छाओं के वर्तमान चुनाव से भिन्न कुछ दूसरे ही मापदंड सम्मुख रखें और अर्थशास्त्र के अध्ययन की सामग्री में परिवर्तन ले आयें।

अर्थशास्त्र और इतिहास— जहां तक अतीत मनुष्यों के चुनावों को निश्चित करता है, इतिहास स्पष्टतया अर्थशास्त्र से घनिष्ट रूप में सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त प्रायः आर्थिक नियमों की प्रामाणिकता (validity) सिद्ध करने के लिए ऐतिहासिक प्रमाणों की आवश्यकता होती है। अर्थशास्त्र के लिए इतिहास इतना अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है कि जर्मनी के कुछ अर्थशास्त्री तो यहां तक मानने लगे थे कि इतिहास के प्रसंग के बिना अर्थशास्त्र सहज ही एक निरर्थक विज्ञान हो जाएगा। हम इस विचार

से भले ही सहमत न हों परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास और अर्थशास्त्र में घनिष्ट सम्बन्ध है। इतिहास अर्थशास्त्र की सामग्री को बदलता है और अर्थशास्त्र इतिहास की उस सामग्री को बदलता है जिसके आधार पर इतिहास का स्वरूप निर्मित होता है। यदि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को कम करने का निश्चय करले तो मानव-इतिहास एक दूसरी ही दिशा की ओर मुड़ पड़े। तब बहुत दिनों तक युद्ध और जय-पराजय की बातें न सुनाई पड़ें। यदि मनुष्य राष्ट्रों के पुराने द्वेषों और झगड़ों को ही याद रक्खे तो उनके चुनाव या आर्थिक निर्णय युद्धों के लिए हथियार तैयार करने वाले कारखानों के लिए ही हों, न कि मन्दिरों, मस्जिदों या गिर्जाघरों के लिए।

इस सम्बन्ध की प्रकृति—परन्तु इतिहास तथा राजनीति पर अर्थशास्त्र की प्रतिक्रिया, और अर्थशास्त्र पर इतिहास तथा राजनीति की प्रतिक्रियाएँ जो भी हों, उनसे इन विज्ञानों के क्षेत्र में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कम से कम अर्थशास्त्र के लिए हम निश्चित रूप से कह सकते हैं (अन्य विज्ञानों से हमारा अधिक सम्बन्ध नहीं है) कि यद्यपि राजनीति के अंतर्गत अध्ययन की गई संस्थाओं तथा सरकारों के बदलने के साथ किसी हद तक मनुष्यों के चुनाव भी बदल सकते हैं तो भी वे नियम तथा निष्कर्ष जो अर्थशास्त्र को निर्मित करते हैं न बदलते हैं और न प्रभावित ही होते हैं। ये नियम उस समय भी प्रभावित नहीं होते जब युद्ध की अपेक्षा शान्ति की परिस्थितियां अधिक होती हैं और लोग गंभीर तथा एक दूसरे के प्रति अधिक सहृदय हो जाते हैं। हमारे चुनाव जो भी हों—चाहे हथियार बनाने के कारखानों का निर्माण और बमों, बन्दूकों तथा तोपों का उत्पादन, चाहे मन्दिरों, गिर्जाघरों, मस्जिदों का निर्माण और धार्मिक अथवा नैतिक ग्रंथों की रचना—हमारे साधन सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार ही नियोजित किए जाएँगें। वही मांग और पूर्ति का नियम तोपों तथा बमों का भी मूल्य निश्चित करेगा जो पुस्तकों का मूल्य निर्धारित करता है। अतः अर्थशास्त्र इतिहास तथा राजनीति एक दूसरे से इस अर्थ में संबद्ध नहीं है कि एक का प्रभाव दूसरे के क्षेत्र को घटा-बढ़ा देता है, वरन् इस अर्थ में कि जब एक शास्त्र की सामग्री में परिवर्तन होता है तो दूसरे विज्ञानों की सामग्री भी प्रभावित होती है। जब सामग्री बदले तो नए सिद्धान्तों तथा निष्कर्षों द्वारा अर्थशास्त्र के अधिक संपन्न होने की सम्भावना अवश्य है, परन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं हुआ कि केवल इसी कारण अर्थशास्त्र का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया। अर्थशास्त्र का क्षेत्र वही रहेगा चाहे उसकी विशेष सामग्री बढ़ भी जाए।

अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान—अर्थशास्त्र का मनोविज्ञान से वही संबन्ध है जो गणित का स्वयंसिद्धियों (axioms) से। किसी भी चुनाव का आधार वह उपयोगिता होती है जो उस चुनाव की तृप्ति द्वारा प्राप्त होगी—और उपयोगिता एक मनोवैज्ञानिक प्रतिभास है। इसलिए अर्थशास्त्र में हमें यह मानना पड़ता है कि उपयोगिता अथवा संतुष्टि के लिए प्रत्येक मनुष्य में एक मनोवैज्ञानिक आकांक्षा होती है, उसी प्रकार जैसे गणित में हम यह मानते हैं कि यदि समान अंकों में समान जोड़े या घटाए जाएँ तो परिणाम समान अंक ही होंगे।

यदि यह स्वयंसिद्धि गलत हो तो सारी गणित बेकार हो जाएगी। इसी प्रकार यदि यह सिद्ध हो जाए कि अपने चुनावों की पूर्ति की आकांक्षा हममें नहीं होती तो

अर्थशास्त्र का सारा ढांचा छिन्न-भिन्न हो जाएगा। मनोवैज्ञानिक मान्यताएँ ही वह आधार हैं जिनपर अर्थशास्त्र निर्मित है।

अर्थशास्त्र और प्राकृतिक विज्ञान (physical sciences)—भौतिक शास्त्र (physics) या रसायनशास्त्र (chemistry) जैसे विज्ञानों से अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मूलतः उसी प्रकार का है जैसा सामाजिक विज्ञानों से। अन्तर केवल इतना है कि इन विज्ञानों के साथ यह सम्बन्ध उतना स्पष्ट नहीं है। नए आविष्कार भौतिकशास्त्र और रसायनशास्त्र के अध्ययन द्वारा ही होते हैं और ये मनुष्य के जीवन में परिवर्तन ला देते हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्र को अध्ययन करने तथा निष्कर्ष निकालने के लिए नई सामग्री मिलती है। परन्तु, जबकि इतिहास तथा राजनीति का प्रभाव मानव-स्थिति के सत्यों, फलतः अर्थशास्त्र की सामग्री, पर अधिक स्पष्ट और प्रत्यक्ष है प्राकृतिक विज्ञानों का प्रभाव परोक्ष और कम स्पष्ट है। वहीं, अर्थशास्त्र की सामग्री तथा चुनावों का प्राकृतिक विज्ञानों पर प्रभाव अधिक प्रत्यक्ष है। उदाहरणार्थ जब मनुष्य ने युद्धों को जीतने के लिए हथियार बनाने का निश्चय किया तो भौतिक शास्त्र ने तत्काल अपना ध्यान विस्फोटकों के अध्ययन की ओर केन्द्रित किया। मनुष्य के चुनाव प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन को कितना अधिक प्रभावित करते हैं, इसका एक अनुपम उदाहरण अणुबम है।

अर्थशास्त्र और गणित—अर्थशास्त्र और गणित का संबन्ध उस समय अधिक स्पष्ट होगा जब हम अगले अध्याय में अर्थशास्त्र की सामग्री का विश्लेषण तथा उससे निकाले गए निष्कर्षों की चर्चा करेंगे। तब तक के लिए, हम कह सकते हैं कि चूंकि सभी चुनाव उपयोगिताओं की तुलना से संबन्ध रखते हैं और सारी तुलनाएँ मूल्यांकनों से और चूंकि मूल्यांकन गणितशास्त्र के अनुगणन (calculation) से सम्बद्ध है, अतः गणित की सहायता के बिना आर्थिक निर्णय असंभव है। इस प्रकार अर्थशास्त्र गणित से अनिवार्यतः सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त भी, हम देखेंगे कि तर्कशास्त्र की ही भांति गणित भी तथ्यों के जुटाने, विश्लेषण करने और उनसे निष्कर्ष निकालने में सहायक होती है।

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र—पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों के भिन्न दृष्टिकोण के बावजूद अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र का इतना निकट संबन्ध है कि वे एक दूसरे से मिलते-जुलते कहे जा सकते हैं। नीतिशास्त्र के साधारण सिद्धान्त अर्थशास्त्र से भिन्न हैं, परन्तु जहां तक नीतिशास्त्र के इस उद्देश्य का संबन्ध है कि मनुष्य केवल ठीक कार्य ही करे, अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र प्रायः एक हो जाते हैं। क्या अर्थशास्त्री यह नहीं कहता कि हमें अपनी इच्छाओं को कम करना चाहिए? यह ठीक कार्य करने के लिए प्रेरित करना ही तो है। पाश्चात्य अर्थशास्त्री पूछ सकते हैं "आप यह क्यों कहते हैं कि कम से कम आवश्यकताओं का आदर्श ही मनुष्यों के लिए ठीक है?" हम उनसे यह पूछना चाहेंगे, "और आप कैसे जानते हैं कि यह सिद्धान्त ठीक नहीं है?" नीतिशास्त्र द्वारा यह निश्चित है कि ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है, फिर भी यह प्रश्न उठ ही सकता है कि आखिर ईमानदारी क्यों अच्छी नीति है। वस्तुतः यह कोई गणित का नियम तो है नहीं जो आंकड़ों से सिद्ध किया जा सके। हमें तो इसे ठीक मानना ही है क्योंकि हर युग में इसे ठीक माना गया है, चाहे इसका व्यवहार किया गया हो या नहीं। हमारा वक्तव्य भी इसी प्रकार का है कि मनुष्य को सादा जीवन बिताने का प्रयत्न करना चाहिए (आवश्यकताओं में कमी करने का यही तात्पर्य है)। हम

यह मान कर चलते हैं कि सादा जीवन बिताना ठीक है क्योंकि हमारे पूर्वज यही ठीक मानते आए हैं। वास्तव में यदि हम किसी नैतिक या धार्मिक व्यक्ति से प्रश्न करें तो वह तत्काल यह कहेगा कि अर्थशास्त्र का आदर्श धर्म अथवा नीति के सिद्धान्त से भिन्न नहीं है। और, इस अर्थ में कि अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र दोनों मनुष्य को इस सिद्धान्त पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं, दोनों शास्त्रों को एक रूप माना जा सकता है। अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के गहरे तथा निकट सम्बन्ध के लिए इनसे अधिक प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है।

अध्याय ५

अर्थशास्त्र के नियम

किसी विज्ञान में, दो घटनाओं के हेतुक (causal) सम्बन्ध बताने वाले कथन को नियम कहते हैं। यदि **क** घटना का विश्लेषण करते समय कोई वैज्ञानिक **ख** घटना पर पहुँचता है तो उसका यह कथन कि यदि **क** होता है तो **ख** भी होगा, एक वैज्ञानिक नियम हो जाएगा। उदाहरणार्थ, यह एक साधारण अनुभव है कि हम किसी वस्तु का उपभोग अनन्त मात्रा में नहीं करते। अतः यदि हम इस 'सीमित उपभोग' के कारण की खोज करते हुए ह्रासमान संतोष के प्रतिभास पर जा पहुँचें, तो यह कथन एक नियम बन जाएगा कि ह्रासमान तृप्ति की प्राप्ति होने पर एक ही समय में किया गया उपभोग निश्चित रूप से सीमित हो जाता है। इसी प्रकार यदि **क** घटना का विश्लेषण करते समय हम **ख** घटना पर जा पहुँचे, और यदि **ख** घटना **क** से उसी प्रकार निःसृत होती है जैसे कार्य किसी कारण से, तो यह कथन भी एक वैज्ञानिक नियम का रूप धारण करेगा कि **क** घटना के होने पर **ख** भी अवश्य घटेगी। यह उस कारण का अध्ययन है जो किसी कार्य में समाप्त होता है। पहले उदाहरण में किसी कार्य के कारण की खोज का अध्ययन अभिप्रेत था। हमारे अध्ययन का जो भी मार्ग हो, जहां तक दो घटनाओं में हेतुक सम्बन्ध स्थापित होना सम्भव है, (कि यदि एक घटित होगी तो दूसरी भी) हम वैज्ञानिक नियमों की स्थापना कर सकते हैं।

आर्थिक नियम—एक आर्थिक नियम ऐसी दो घटनाओं में हेतुक सम्बन्ध स्थापित करता है, जो मनुष्यों के चुनावों के निरूपण तथा संतोष की समस्याओं से सम्बद्ध हैं। उदाहरण के लिए: यह कथन कि, यदि मूल्य बढ़ता है और अन्य वस्तुएँ समान रहतीं हैं तो मांग कम हो जाएगी—एक आर्थिक नियम है। यह दो घटनाओं का सम्बन्ध स्थापित करता है—एक तो मूल्य का बढ़ना तथा दूसरी मांग का घटना। ये दोनों मनुष्यों के चुनावों के मापदंड को प्रभावित करती हैं। और फिर उपर्युक्त कथन एक हेतुक सम्बन्ध बताता है क्योंकि एक घटना दूसरे की कारण है।

किसी भी ऐसे हेतुक सम्बन्ध की स्थापना अत्यंत कठिन है। और जब तक विश्लेषण करने में बहुत सतर्क न रहा जाए ऐसे सम्बन्ध की उपलब्धि हो सकती है जो ऊपर से देखने पर तो हेतुक ज्ञात हो, परन्तु वस्तुतः न हो। उदाहरणार्थ यदि किसी समय एक देश की सरकार सार्वजनिक कार्यों और राष्ट्रीय उद्योगों पर अधिक व्यय कर रही है और वृत्ति (employment) अधिक ज्ञात होती है तो यह नियम बनाना तर्कसिद्ध न हो सकेगा कि सार्वजनिक कार्यों पर अधिक व्यय करने तथा उद्योगों का अधिकाधिक राष्ट्रीयकरण करने से देश में वृत्ति अवश्य ही बढ़ेगी। वृत्ति में वृद्धि होने के अन्य कारण भी हो सकते हैं, जैसे व्यापारियों, उपभोक्ताओं और विदेशियों के व्यक्तिगत व्ययों में वृद्धि होना। यदि इस प्रकार के व्यय कम हो जाते हैं तो सरकार सार्वजनिक कार्यों और अपने उद्योगों पर चाहे जितना व्यय करे, यह आवश्यक नहीं कि वृत्ति बढ़े ही। जब तक हम इस कथन में कुछ अन्य मान्यताएँ और शर्तें न जोड़ दें, यह एक वैज्ञानिक नियम नहीं हो सकता।

नियम का उद्देश्य—किसी भी विज्ञान के नियमों का एक न एक उद्देश्य अवश्य होना चाहिए अन्यथा लोग उन्हें खोजने और जानने की चिन्ता नहीं करेंगे। संक्षेप में, यह उद्देश्य है—मनुष्यों को यह भविष्यवाणी करने में कि आगे क्या होगा या होना चाहिए, और उसी के अनुसार अपने को व्यवस्थित करने में, सहायता देना। उदाहरणार्थ; एक नियम है कि अधिकतम एकाधिकार-आय (Maximum monopoly revenue) की प्राप्ति के लिए सीमान्त आय और सीमान्त लागत को बराबर होना चाहिए। यह नियम किसी एकाधिकारी को उस उत्पत्ति को निश्चित करने में सहायक हो सकता है जो उसकी वास्तविक आय (net revenue) को अधिकतम कर दे। यदि उसे नियम ज्ञात न हो तो वह इसका निर्णय करने में समर्थ न होगा कि मांग की किन्हीं विशेष परिस्थितियों में उसे कितना उत्पादन करना चाहिए ताकि अधिकतम आय मिल सके। इस नियम से अनभिज्ञ रहकर वह यह भी नहीं जान पाएगा कि उसने 'कहां' और 'क्यों' गलती की, और अधिकतम एकाधिकार-आय की प्राप्ति के लिए वह उत्पादन को किस भांति नियंत्रित करे। परन्तु नियम का ज्ञान होने पर उसे पहले से ही यह भविष्यवाणी करने में सहायता मिलेगी कि भविष्य में यदि मांग-वक्र (curve) इस प्रकार हो तो उसे कितनी उत्पत्ति करनी चाहिए तथा उत्पादन को मांग-वक्र द्वारा सूचित परिस्थितियों के अनुसार किस भांति नियंत्रित करना चाहिए कि एकाधिकार-आय अधिकतम हो सके।

नियम का क्षेत्र—स्पष्ट है कि एक नियम का क्षेत्र जितना ही व्यापक होगा उतने ही अधिक व्यक्ति उस नियम से लाभ उठा सकेंगे। जब हम कहते हैं कि यदि इलाहाबाद से दिल्ली की अपेक्षा लखनऊ अधिक निकट है तो इलाहाबाद के गेहूँ का रेलभाड़ा लखनऊ के लिए कम होगा, दिल्ली के लिए अधिक—तो हम एक ऐसा हेतुक संबन्ध स्थापित करते हैं जिसकी सीमाएँ संकुचित हैं और दिल्ली, लखनऊ तथा इलाहाबाद के क्षेत्र के बाहर नहीं पहुँचती। परन्तु जब हम कहते हैं कि एक निश्चित आमदनी और रुचि द्वारा अधिकतम उपयोगिता की प्राप्ति के लिए उपभोक्ता को ऐसी योजना बनानी चाहिए कि उपभोग की विविध वस्तुओं पर किए गए व्यय की अंतिम मात्रा से जो सीमान्त उपयोगिताएँ प्राप्त हों, वे बराबर-बराबर हों, तो हम एक ऐसे नियम की चर्चा करते हैं जिसके क्षेत्र को पृथ्वी के हर भाग में हमेशा के लिए व्याप्त कहा जा सकता है।

परन्तु जितना क्षेत्र व्यापक होता है, नियम उतना ही अधिक अमूर्त हो जाता है। हमने देखा कि उपभोग के नियम को समझना कठिन है। परन्तु दिल्ली, लखनऊ और इलाहाबाद के बीच गेहूँ के रेल भाड़े की प्रकृति का नियम इतना सरल और स्थूल है कि दिमाग पर बिना जोर डाले ही हम उसके तात्पर्य को समझ लेते हैं। इस नियम का क्षेत्र भले ही संकीर्ण हो पर व्यवहार की दृष्टि से उपभोग के नियम की अपेक्षा यह अधिक आकर्षक है। जैसे-जैसे नियम का क्षेत्र व्यापक होता है, वह अधिकाधिक अमूर्त्त होता जाता है और व्यवहार के लिए भी कम आकर्षक ज्ञात होने लगता है।

वैज्ञानिक नियमों की सार्वभौमिकता—यदि केवल व्यवहार को ही ध्यान में रखना होता तो हम सरलता पूर्वक कह सकते थे कि अधिक स्थूल आकार वाले नियम

अस्पष्ट नियमों की अपेक्षा अधिक अच्छे हैं। परन्तु एक दूसरा विचार भी महत्वपूर्ण है, कि विज्ञान के नियमों को जहां तक संभव हो, कम से कम परिकल्पित और सप्रतिबन्ध (conditional) होना चाहिए। अपने ही उदाहरण को लें: गेहूँ के यातायात से संबन्धित नियम से ज्ञात नहीं होता कि चावल, कपास या कोयले के विषय में क्या स्थिति होगी। प्रस्तुत नियम में इसका भी उल्लेख नहीं है कि यदि यातायात के साधन रेलगाड़ी के स्थान पर मोटर या हवाई जहाज़ होते तो नियम की प्रकृति क्या होती। इस प्रकार इस नियम में प्रतिबन्धों की संख्या बहुत अधिक है। यह नियम गेहूँ, रेलगाड़ी तथा उन तीन नगरों के संबन्ध में ही लागू हो सकता है जिनके आधार पर यह स्थापित हुआ है। परन्तु उपभोग का नियम तो सर्वत्र लागू होगा—जहां भी एक निश्चित आमदनी है, और उसके द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं के लिए एक विशेष रुचि। चाहे गेहूँ हो या कपास, कोयला हो या चावल और उपभोक्ता चाहे **क** हो या **ख** या **ग**, यह नियम संसार के प्रत्येक भाग में अवश्य लागू होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब किसी नियम का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है तो इसमें सन्देह नहीं कि वह अमूर्त हो जाता है लेकिन इसके साथ ही उसके प्रतिबन्ध भी कम होते जाते हैं और विविध वस्तुओं तथा व्यक्तियों के लिए उस नियम का व्यवहार संभव हो जाता है। यदि विज्ञान के रूप में अर्थशास्त्र को अधिकतम स्थायित्व तथा सार्वभौमिकता प्राप्त करनी है तो उसके नियमों का सम्बन्ध अनेक तथा विविध परिस्थितियों से होना चाहिए।

आर्थिक नियमों की प्रकृति

साधारणतः अर्थशास्त्र के नियमों को, भौतिक विज्ञानों के नियमों की अपेक्षा कम सही कहा जाता है। हम अभी विचार करेंगे कि ऐसा कहना सचमुच ठीक है या नहीं। परन्तु इतना तो हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि आर्थिक नियमों के सही होने की परीक्षा व्यवहारिक जीवन की प्रयोगशाला में करना अत्यन्त कठिन है। उदाहरण के लिए, हम यह नहीं सिद्ध कर सकते कि एक विशेष रुचि और आमदनी वाले उपभोक्ता को अधिकतम उपयोगिता की प्राप्ति उसी समय होगी, जब वह अपने व्यय को सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार नियोजित करेगा। उसकी आमदनी और रुचि दोनों में परिवर्तन हो सकता है। और फिर इसी का क्या निश्चय है कि जब क्रय की गई किसी वस्तु द्वारा प्राप्त सीमान्त उपयोगिता अन्य वस्तुओं की उपयोगिता से थोड़ा अधिक है तो ग्राहक अपनी खरीद को इतनी थोडी मात्रा में कम कर सकता है कि अन्ततः सारी वस्तुओं द्वारा प्राप्त सीमान्त बराबर हो। यह उसी समय संभव है जब वस्तुएँ बहुत छोटी इकाइयों में खरीदी जाएं। परन्तु कभी-कभी गाजर, मोटरों के साथ साथ खरीदी जा सकती है; ऐसी दशा में एक दो गाजरों के कम या अधिक करने से सीमान्त उपयोगिता भी कम या अधिक हो सकती है, परन्तु एक दो मोटर कम या अधिक खरीदने से सीमान्त उपयोगिता में बड़ा अन्तर पड़ जाएगा, और ऐसी दशा में बेचारे उपभोक्ता के लिए मोटरों और गाजरों की सीमान्त उपयोगिताओं को पूर्ण रूप से बराबर करना अत्यंत कठिन हो जाएगा।

मार्शल के विचार—मार्शल का कथन है कि अर्थशास्त्र के नियमों की तुलना ज्वार-भाटे के नियमों से करनी चाहिए न कि गुरुत्वाकर्षण (gravitation) के सरल और

सही नियम से । इस कथन का अर्थ यही है कि गुरुत्वाकर्षण का नियम प्रयोग द्वारा सही सिद्ध किया जा सकता है, ज्वार-भाटे के नियम इस तरह सिद्ध नहीं किए जा सकते । अतः आर्थिक नियम ज्वार-भाटे के नियमों के अनुरूप हैं न कि गुरुत्वाकर्षण नियम के । परन्तु यह कहना एक बात है कि अर्थशास्त्र के नियम प्रयोग की कठिनाइयों के कारण सही सिद्ध नहीं किए जा सकते; और यह कहना दूसरी बात कि वे प्राकृतिक विज्ञानों की अपेक्षा गलत या कम सही हैं ।

सभी नियम सही होते हुए भी सप्रतिबन्ध होते हैं—यदि वह विश्लेषण, जिसके द्वारा कोई नियम खोजा गया है, पूर्णतया तार्किक है तो यह कहना गलत न होगा कि संलग्न मान्यताओं के अनुसार यह नियम निश्चित रूप से ठीक है और जब भी या जहां भी वे मान्यताएँ वास्तविक जीवन में उपलब्ध होंगी, वह नियम अवश्य लागू होगा । इस अर्थ में गुरुत्वाकर्षण के नियम और ज्वार-भाटे या अर्थशास्त्र के नियमों में कोई भी अन्तर नहीं है । दोनों प्रकार के नियम किन्हीं निश्चित प्रतिबन्धों को मान कर चलते हैं । गुरुत्वाकर्षण के नियम में माना जाता है गुरुत्वाकर्षण की विरोधी कोई भी शक्ति काम नहीं कर रही है; सम-सीमान्त उपयोगिता नियम में यह माना जाता है कि एक विशेष समय में चुनाव करते समय उपभोक्ता की आमदनी और रुचि समान रहती है और उसमें अन्तर नहीं होता । ये दोनों नियम वास्तविक जीवन में उस समय तक लागू होते रहेंगे जब तक उनसे संलग्न प्रतिबन्ध प्राप्त होते रहें । यह बिलकुल दूसरी बात है कि जहां गुरुत्वाकर्षण नियम के प्रयोग के लिए परिस्थितियाँ निर्मित की जा सकती हैं वहाँ आर्थिक नियमों के प्रयोग की ऐसी सुविधाएं सुलभ न होंगी ।

परन्तु केवल इसी कारण हम आर्थिक नियमों को गलत नहीं कह सकते । किसी भी नियम का ठीक या गलत होना उस गणितात्मक सुतथ्यता (precision) पर निर्भर होता है जिसके साथ कोई नियम अपनी मान्यताओं से निःसृत होता है । यदि अधिकतम उपयोगिता तथा एक उपभोक्ता की निश्चित रुचि और आमदनी की मान्यताओं से हम तर्क अथवा गणित द्वारा यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उपभोक्ता अपने व्यय को सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार नियोजित करेगा, तब भले ही इस नियम की परीक्षा प्रयोग द्वारा की जा सके या नहीं, नियम अपने में उतना ही अधिक सही उतरेगा जितना भौतिक विज्ञानों का कोई भी नियम ।

इसलिए हम कह सकते हैं कि भले ही आर्थिक नियमों का प्रयोग सुगम न हो तो भी इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र तथा भौतिक विज्ञान के नियमों की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं है । दोनों अपने कार्य के लिए कुछ न कुछ प्रतिबन्ध मानते हैं (इससे नियमों की प्रकृति में अन्तर नहीं पड़ता कि कुछ की मान्यताओं की संख्या अधिक होती है और कुछ की कम) और जहाँ तक अपनी मान्यताओं से तार्किक अथवा गणितात्मक रूप में निःसृत होने का प्रश्न है, ये दोनों प्रकार के नियम अपने में सही और सम्यक (accurate,) हैं ।

अध्याय ६

अर्थशास्त्र की अध्ययन-विधि

आगमन और निगमन (Induction and Deduction) —अर्थशास्त्र की विधियाँ वही हैं जो अन्य विज्ञानों में प्रयुक्त होती है—वही आगमन तथा निगमन की परिचित विधियाँ। किसी विज्ञान की समस्याओं के प्रति एक व्यवहारिक दृष्टिकोण रखने वाली विधि को हम आगमन कह सकते हैं। यहां हम किसी सामान्यीकरण (generalization) को व्यवहार के साथ इस प्रकार संयुक्त कर देना चाहते हैं कि सिद्धान्त और व्यवहार का अन्तर कम से कम हो जाए। हम या तो वास्तविक जीवन की बहुत सी समान परिस्थितियों का अध्ययन करके कोई नियम बना सकते हैं, या हम किसी पूर्व-निरूपित नियम की परीक्षा, वास्तविक परिस्थितियों के अध्ययन द्वारा कर सकते हैं। पहले को आंकिक विधि (statistical method) और दूसरे को प्रायोगिक विधि (experimental method) कहते हैं। अतः आगमन तर्क-विधि इनमें से एक या दोनों उपगमनों (approaches) का रूप ग्रहण कर सकती है— आंकिक विधि का भी, जो वास्तविक जीवन के बहुत से तथ्यों से नियमों का निर्माण करती है और प्रयोगिक-विधि का भी जो इसकी परीक्षा करती है कि अमूर्त (abstract) तर्क द्वारा प्राप्त नियम हमारे चारों ओर की वास्तविकता का ठीक-ठीक वर्णन करते हैं या नहीं।

आगमन-तर्क-विधि—प्रायोगिक—अतः आगमन-तर्क-विधि सामान्यीकरण और वास्तविकता को मिलाने का प्रयास है। यह कथन कि आगमन विशेष से साधारण की ओर बढ़ता है, एक संकुचित कथन है, क्योंकि ऐसी दशा में तो आगमन एक प्रकार से केवल आंकिक उपगमन ही रह जाएगा जबकि हम ऊपर देख चुके हैं कि आंकिक विधि आगमन का एक रूपमात्र है, आगमन अन्य रूप भी धारण कर सकता है।

हम यह देख चुके हैं कि अर्थशास्त्रमें प्रायोगिक विधि का अनुसरण अत्यंत कठिन है। यदि वे परिस्थितियां, जिनके बीच हमें प्रयोग करना है, नियंत्रित की जा सकती तो कोई कठिनाई न पड़ती। इस संबन्ध में प्राकृतिक विज्ञान निश्चित रूप से अधिक अनुकूल भूमि पर स्थित हैं। परन्तु यदि अर्थशास्त्री यह जानना चाहे कि सार्वजनिक कार्यों पर अधिक व्यय होने पर किसी देश की सामान्य वृत्ति (general employment) में वृद्धि होगी या नहीं, तो उसे बहुत दिनों तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी क्योंकि वह व्यक्तिगत व्यापारियों और उद्योगपतियों द्वारा किए गए व्यय को नियंत्रित नहीं कर सकता और न वह अन्य देशों को अपने विविध व्ययों तथा उत्पादन की विधियों को स्थिर रखने का आदेश ही दे सकता है, ताकि उसके अपने देश में आयात होने वाली वस्तुओं के गुण तथा मात्रा में परिवर्तन न हो। और ये सारी बातें देश की सामान्य वृत्ति पर निश्चित प्रभाव डालती हैं।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अर्थशास्त्री को प्रयोग करने ही न चाहिए। वस्तुतः सार्वजनिक कार्यों तथा बेकारी की समस्याओं का जितना ही अधिक ज्ञान अर्थशास्त्री को हो और परीक्षा करने के लिए विशिष्ट दशाओं (जहां सार्वजनिक कार्य और वृत्ति एक दूसरे से सम्बद्ध हैं) की संख्या जितनी ही अधिक हो, उतनी ही अधिक इसकी संभावना है कि सार्वजनिक कार्य का देश की सामान्य वृत्ति पर प्रभाव जानने के लिए जो प्रयोग अर्थशास्त्री

करता है वे सफल होंगे और जो इसके साथ सच है, वही अर्थशास्त्र की उन सब समस्याओं के विषय में सत्य है जिनके लिए प्रयोग करना आवश्यक है।

आंकिक विधि—प्रयोग की कठिनाइयों के कारण ही आंकिक उपगमन का सुझाव सामने आता है। यदि परीक्षा करना कठिन है तो क्यों न सामान्यीकरण अमूर्त्त की अपेक्षा तथ्य पर आधारित किए जाएँ। इस प्रकार परीक्षा करने की आवश्यकता ही न रहेगी। पहले के बहुत से अर्थशास्त्रियों की धारणा यही थी और आज भी ऐसे अर्थशास्त्री बहुत हैं जो इसी धारणा पर दृढ़ हैं। इसमें सन्देह नहीं कि किसी भी विज्ञान में आंकिक विधि का महत्व निर्विवाद है। परन्तु इसे निगमन या अमूर्त्त गणितात्मक विश्लेषण (abstract mathematical analysis) के लिए स्थानापन्न कर देने का अर्थ तो वैज्ञानिक सामान्यीकरणों की प्रकृति से नितान्त अनभिज्ञता प्रकट करना है।

आंकिक विधि के लाभ स्पष्ट हैं। इसके द्वारा यह संभव होता है कि आर्थिक सामान्यीकरण तथ्यों पर आधारित किए जाएँ ताकि वे अधिक से अधिक स्पष्ट और मान्य (feasible) हो सकें। आंकिक विधि उन पुराने अमूर्त्त सिद्धान्तों को ठीक करने में भी सहायक हो सकती है, जो ऐसी स्थितियों में विकसित हुए जब प्रयोग संभव न थे। आज जब आंकड़े इकट्ठे किए जा चुके हैं और उनका सामान्यीकरण हो चुका है तो वास्तविक और अवास्तविक का अन्तर सरलतापूर्वक जाना जा सकता है।

कहा जा सकता है कि कुछ दशाओं में विश्लेषण की आंकिक विधि का ही उपयोग हो सकता है। ये दशाएँ विशेष रूप से वे हैं जिनमें कोई विस्तृत जानकारी आवश्यक होती है। उदाहरणार्थ एक प्रश्न है, "चीनी या कहवा पर अधिक कर लगाने से भारतवासियों की आर्थिक परिस्थिति पर ठीक-ठीक क्या प्रभाव पड़ेगा?" जब तक हम इन वस्तुओं की मांग की लचक से संबन्धित तथ्य न जानें; और उनके उगाने वाले कितनी सरलता से एक को दूसरे से स्थानापन्न कर सकते हैं? आदि अन्य विविध तथ्यों से परिचित न हों, तब तक हम इस प्रश्न का सीधा उत्तर नहीं दे सकते।

परन्तु तथ्यों को एकत्रित करना सरल कार्य नहीं है क्योंकि वास्तविकता स्पष्ट होते हुई भी जटिल होती है। उससे अर्थशास्त्री के काम की चीज़ निकाल लेना बड़े ही चतुर तथा जानकर व्यक्ति का कार्य है। इसके लिए ऐसे आदमी की आवश्यकता है जो आर्थिक और अनार्थिक का भेद भली प्रकार जानता हो और जिसे अर्थशास्त्र की वैज्ञानिक विधियों का अच्छा ज्ञान हो। उदाहरण के लिए उसे मांग की लोच के साधारण सिद्धान्त, तथा करापात (incidence of tax) आदि का ज्ञान होना चाहिए। तभी आशा की जा सकती है कि वह 'चाय या कहवा पर लगाए गए कर का जनसाधारण पर प्रभाव' विषय की सामग्री का संकलन तथा अध्ययन कर सकेगा।

यह सिद्ध करता है कि तथ्यात्मक अध्ययन, उन अमूर्त्त और गणितातमक सिद्धान्तों की सहायता के बिना असम्भव है जो अर्थशास्त्र में बहुत पहले से प्रयुक्त होते आ रहे हैं। इन सिद्धान्तों का अधिकांश भाग जिस विधि से विकसित हुआ है उसे निगमन कहते हैं। क्लासिकल तथा आस्ट्रियन अर्थशास्त्री इसका अत्यधिक प्रयोग करते थे। नवीन अर्थशास्त्रियों के बीच भी यह विधि कम प्रचलित नहीं है। वस्तुतः अर्थशास्त्र में गणित का अधिकाधिक

प्रयोग इसका प्रमाण है कि नवीन अर्थशास्त्री निगमन विधि को आगमन से कहीं अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।

निगमनतर्क-विधि—निगमन या निगमन तर्क-विधि को किसी विज्ञान की समस्याओं के प्रति एक अमूर्त उपगमन कह सकते हैं। यह किन्हीं निर्विवाद मूलभूत तथ्यों में कुछ मान्यताओं को जोड़ कर एक सिद्धान्त बना देती है जो वास्तविक हो भी सकता है और नहीं भी। यह तथ्य संदेह से परे है कि जब तक एक ही समय में किसी वस्तु की बहुत सी मात्राओं का उपभोग किया जाए मात्राओं की सीमान्त उपयोगिता क्रमशः घटती जाएगी। इस तथ्य के आधार पर, और अधिकतम संतोष तथा स्थिर रुचि और आमदनी की मान्यताओं की सहायता से अर्थशास्त्री यह निष्कर्ष निकालेगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यय का नियोजन सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार ही करता है। अर्थशास्त्री इसका विचार नहीं करता कि कोई व्यक्ति अधिकतम संतोष पाना चाहता है या नहीं, और उसकी आमदनी और रुचि वस्तुतः स्थिर है या नहीं। अर्थशास्त्री की दृष्टि पूर्णतया बौद्धिक (academic) होगी, उसे अपने निर्णयों पर पहुँचने के लिए आंकड़ों के संग्रह की आवश्यकता न होगी। और जहां तक ऐसा होता है हम कहेंगे कि अर्थशास्त्री अपने सामान्यीकरणों पर निगमन-तर्क-विधि द्वारा पहुँचा है।

निगमन विधि की अच्छाइयाँ—निगमन द्वारा सामान्यीकरणों में यथार्थता आती है और इस संबन्ध में तर्क और गणित का प्रयोग अचूक है। यदि हम अपनी मान्यताओं का विश्लेषण करें और सामान्यीकरण तक पहुँचने के लिए इनका उचित प्रयोग करें तो निष्कर्ष इतने सही और अकाट्य निकलेंगे जितना यह कहना कि दो और दो मिलकर चार होते हैं।

निगमन विधि सरल भी है क्योंकि इसमें आकड़ों को एकत्रित करने की झंझट उठाए बिना ही निष्कर्ष मालूम हो जाते हैं। आंकड़ों को इकट्ठा करना वस्तुतः बड़ा पेचीदा काम है। थोड़े से मूल तथ्यों को लेकर क्षण भर में हम बहुत से नियम निर्धारित कर सकते हैं। कभी-कभी तो हम ऐसे निष्कर्षों पर पहुँच जाते हैं जो आंकड़ों के अधिकाधिक अध्ययन द्वारा भी संभव न हो पाते।

यह देखते हुए कि अर्थशास्त्र में ठीक प्रयोग होना संभव नहीं है, अर्थशास्त्रियों के लिए निगमन विधि और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। समय की प्रगति के साथ अर्थशास्त्र अधिकाधिक गणितात्मक और अमूर्त होता जा रहा है।

आगमन और निगमन—बहुत अमूर्त हो जाने में खतरे भी काफी हैं। अर्थशास्त्र मानव-व्यवहार का विज्ञान है और इसलिए हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि अर्थशास्त्र का अध्ययन मनुष्य के वास्तविक जीवन में जो होता है, उसका अतिक्रमण न कर जाए। ऐसे निष्कर्ष भी न निकालने चाहिए जो अवास्तविक हों। परन्तु केवल इसी भय के कारण हम अर्थशास्त्र को इतिवृत्तात्मक विज्ञान नहीं बना देंगे और न समस्त अमूर्तीकरण को त्याग देंगे। प्रायः अमूर्त निष्कर्ष तथ्यों को जन्म देते हैं, वैसे ही जैसे तथ्यों से अमूर्त निष्कर्ष प्रसूत होते हैं। अतः अमूर्तीकरण और तथ्यात्मक उपगमन दोनों को हमारे विज्ञान को समृद्ध बनाने के लिए एक दूसरे को सहायता देते हुए, साथ-साथ चलना चाहिए। केवल आगमन या तथ्यात्मक दृष्टिकोण समाज को आगे बढ़ाने में सफल न होंगे। क्योंकि वह तो मानव-स्थिति

के उन्हीं पुराने तथ्यों को एक साधारण भाषा में दुहराते हैं, कोई नई सामग्री नहीं प्रस्तुत करते। इसी प्रकार अकेले निगमन विधि भी किसी कार्य की सिद्धि नहीं कर सकती, यदि हम सब स्वप्नदृष्टा न हो जाएँ। अतः, दोनों का उपयोग होना आवश्यक है भले ही समान मात्रा में न हो। मनुष्यों की परिस्थितियों के अनुसार कभी निगमन विधि का अधिक प्रयोग किया जा सकता है और कभी आगमन बिधि का। परन्तु हर समय, हर समाज के लिए इन दोनों का उपयोग होना अत्यंत आवश्यक है अन्यथा यह कहा जाएगा कि अपंग होने के कारण अर्थशास्त्र की गति असंतुलित है।

अध्याय ७

आर्थिक आंकड़े

आंकड़ों की आवश्यकता—अर्थशास्त्र, समस्त मानवीय मूल्यों को अनाज, सोने अथवा अन्य किसी पद में मापने का प्रयास है। यदि सारा अनाज और सारा सोना हमेशा किसी निश्चित श्रम की मात्रा द्वारा उत्पन्न होता रहता तो ये तीनों उपाय परस्पर समान रूप से काम में लाए जा सकते थे। उदाहरणार्थ : यदि ३०० दिनों के परिश्रम द्वारा १५ मन अनाज उगाया और तैयार करके घर ले आया जा सके और इतने ही श्रम में २½ तोला सोना भी खोदा जाकर, शुद्ध होकर, घर आ सके तो हम एक तोला सोने को १२० दिन के परिश्रम या ६ मन अनाज से नाप सकते हैं। इसी प्रकार एक मन अनाज को २० दिन के परिश्रम अथवा ⅙ तोला सोने से नापा जा सकता है। लेकिन आमतौर पर अनाज और सोना इतनी सरलता से श्रम के पदों (terms) में नहीं नापे जा सकते। उदाहरण के लिए, यदि कोई मनुष्य श्रम की उतनी ही मात्रा जितनी एक बीघे पर लगाता है दूसरे बीघे पर लगाकर अनाज की पैदावार को दुगनी कर लेना चाहे तो वह देखेगा कि दूसरा बीघा कम उपज देता है—३०० दिन का परिश्रम इस बार १५ मन अनाज के स्थान पर १२ मन ही उपजा सकता है। या, अगर वह उसी पहले बीघे पर ही ६०० दिन का परिश्रम लगाए तो भी इसकी बहुत संभावना नहीं है कि ३० मन अनाज उपज सके। दूसरी ओर, यदि दो ऐसे आदमी साथ-साथ ३०० दिन तक काम करें जिनमें एक अधिक शक्तिशाली हो और दूसरा अधिक बुद्धिमान ; और एक आदमी परिश्रम का कार्य अधिक करे तथा दूसरा बुद्धि का तो यह संभव है कि वे अनाज की पैदावार दुगुनी से भी अधिक कर सकें।

लेकिन एक दूसरी कठिनाई यह भी हो सकती है कि दोनों में से कोई एक आदमी यह समझे कि दूसरे ने उसके बराबर श्रम नहीं किया अतः समस्त अतिरेक (surplus) उसे ही मिलना चाहिए, जब कि सच्चाई यह है कि यदि दोनों ने सहयोग न दिया होता तो अतिरेक की कोई संभावना ही न थी।

एक और बड़ी कठिनाई यह है कि वही ३०० दिन का श्रम पहले वर्ष २० मन तथा दूसरे वर्ष केवल १० मन अनाज उपजा सकता है। इससे भी बुरा यह होना संभव है कि अलग-अलग काम करने पर दो व्यक्ति एक ही वर्ष में भिन्न-भिन्न मात्रा में पैदावार उगाएँ और इसका निश्चय न हो सके कि उनमें से किसी एक ने कम श्रम किया अथवा वर्षा उसके लिए सहायक न थी। जहां तक वर्षा का संबन्ध है हम यह भी नहीं कह सकते हैं कि वर्षा बहुत कम थी या बहुत अधिक।

वैज्ञानिक विधियां—ऐसी ही कठिनाइयों के कारण आंकड़ों की आवश्यकता पड़ती है। यदि हम अर्थशास्त्र को एक विज्ञान बनाना चाहते हैं तो वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग अत्यंत आवश्यक है। यह प्रायः सर्वमान्य है कि वैज्ञानिक विधि चार सोपानों में विभक्त है:—

(१) निरीक्षण (observation)

(२) आगमन या निष्कर्ष (Induction or inference)

(३) निगमन या व्यवहरण (deduction or application)

(४) आंकड़ों द्वारा प्रमाणन (verification)

वैज्ञानिक विधि के इन चार सोपानों की प्रकृति और महत्व की चर्चा एक पिछले अध्याय में हो चुकी है। फिर भी संक्षेप में दुहराया जा सकता है कि ज्ञान की खोज किसी ऐसे साधारण तथ्य के निरीक्षण से प्रारंभ होती है जो साधारण रूप से एक व्यापक सत्य हो—जैसे यह तथ्य कि हम एक ही समय में इस उद्देश्य से भूख से दुगुना भोजन नहीं खा सकते कि कुछ घंटों बाद दुगना सुख मिल सके। इससे हम क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम पर पहुँचते हैं कि निश्चित पूर्णता के पश्चात् प्रत्येक अतिरिक्त कौर कम आनन्द देता है। हम इस नियम को कपड़ों, फर्नीचर मनोरंजन यहां तक कि नींद पर भी लागू करके अधिक व्यापक बना सकते हैं। हम इसके साथ ही एक दूसरे निरीक्षण को भी जोड़ सकते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के पास सीमित समय तथा द्रव्य (money) होते हैं। अब हम इस स्थिति में हैं कि समसीमान्त उपयोगिता तथा अनुपात के नियमों का निष्कर्ष निकाल सकें, जो हमें बताएँगे कि किस प्रकार एक परिवार अपने समय तथा द्रव्य को विविध उपयोगों में लगाएगा—यदि हम केवल यह जान सकें कि अपने समय तथा द्रव्य को विविध रूपों में नियोजित करने के पश्चात् प्राप्त होने वाले संतोषों का उस परिवार के लिए क्या सापेक्षिक महत्व है।

अब यह आवश्यक हो जाता है कि एक सैद्धान्तिक परिकल्प (hypothesis) बना लिया जाए जिसके द्वारा यह माना जा सके कि हम एक औसत परिवार की अभिरुचियों (preference) का मापदण्ड जानते हैं। यदि इतना मान लिया जाय तो हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि किस प्रकार एक निश्चित आमदनी वाला साधारण परिवार अपने समय तथा द्रव्य को खर्च करेगा। हम इसका भी अनुमान लगा सकते हैं कि किसी कर की दर का परिवर्तन, सरकार के आय तथा व्यय को किस भांति प्रभावित करेगा। एक परिकल्प पर आधारित अनुमान द्वारा ही यह संभव हो सका कि किसी व्यवहारिक समस्या पर आर्थिक सिद्धान्तों को लागू किया जाए। परन्तु यदि परिकल्प ही भ्रामक है तो निष्कर्ष असत्य हो सकते हैं।

अब हम चौथे सोपान अर्थात् आंकिक प्रमाणन के लिए प्रस्तुत हैं। हम पारिवारिक बजटों के आंकड़े इकट्ठा करके देखते हैं कि वे अनुमानित व्यय से कहां तक मिलते हैं। हम देखेंगे कि वे हमारी पूर्वोक्तियों को सिद्ध करते हैं, क्योंकि आगमन का अर्थ ही पूर्वोक्ति है परन्तु यह भी संभव है कि वास्तविक परिणाम हमारे अनुगणनों के साथ मेल न खाएं। ऐसी दशा में यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपने अनुमान में सुधार करें और यथासंभव ऐसे अनुमान करें जो वास्तविक जीवन में सच्चे उतरें। कई स्थलों पर अर्थशास्त्र के सिद्धान्त निगमन पर आकर रुक गए हैं, उन्होंने ऐसे यथेष्ट प्रमाणों के होते हुए भी जो किसी न किसी जगह तर्क को गलत सिद्ध कर रहे थे अपने तर्कों को जांचनेकी चिन्ता नहीं की। उदाहरणार्थ: प्रतिदिन के अनुभव द्वारा हम तर्क कर सकते हैं कि यदि किसी देश की जनसंख्या दुगनी हो जाए तो प्रत्येक परिवार को मिलने वाले भोजन की मात्रा आधी रह जायगी। परन्तु बहुत से देशों के १९वीं सदी के आंकड़ों को देखने से ज्ञात होता है कि जब कि जनसंख्या दुगनी हुई है, धन चौगुना हो गया है, फलतः सामान्य परिवार को पहले का आधा नहीं वरन् दुगना भोजन मिला है—यह संभावना के विरुद्ध हुआ है। यहां,

सिद्धान्त के पूर्ण संशोधन की आवश्यकता है और यदि किसी भी सिद्धान्त को राष्ट्र के वास्तविक जीवन पर लागू होना है तो आंकड़ों द्वारा इसकी जांच करना आवश्यक है ।

प्रमाणन को कभी-कभी दो भागों में विभाजित किया जाता है : प्रयोग और आंकड़े । वस्तुतः, प्रयोग, आंकड़े एकत्रित करने की एक विधि है । अंतर यह है कि प्रयोग में कारणों को नियंत्रित किया जाता है, जबकि आंकड़ों में साधारणतया कारणों का नियंत्रण नहीं होता, कम से कम अंकशास्त्री उन्हें नियंत्रित नहीं करता । अर्थशास्त्र में प्रयोगों का करना कठिन है, एक तो इसलिए कि हम मनुष्यों पर प्रयोग करेंगे और संभव है कि प्रयोग में बहुत से बहुमूल्य जीवन नष्ट भी हो जाएँ; दूसरे इसलिए कि मनुष्यों की अपनी इच्छा होती है और वे प्रयोग के बीच में ही परिस्थितियों को बदल सकते हैं; और तीसरे इसलिए कि आर्थिक प्रयोग कई वर्ष का समय लेते हैं और सम्भव है कि अन्त के निष्कर्ष पहले निष्कर्षों से पूर्णतया भिन्न हों। उदाहरणार्थ मान लीजिए हम किसी राज्य से अनाज का निर्यात इसलिए बन्द कर देते हैं कि अनाज का दाम कम हो जाए। पहले वर्ष में तो संभावित परिणाम निकल सकता है, परन्तु सम्भव है कि दूसरे और तीसरे वर्षों में किसान कम अनाज पैदा करें और अन्ततः दाम इतने अधिक हो जाएँ जितने कभी हुए ही न थे, यहां तक कि भयंकर अकाल की नौबत आ जाए ।

आंकड़ों के उपयोग—हम देख चुके हैं कि आंकड़ों का प्रयोग मूल्यों को मापने के लिए किया जा सकता है, जैसे चांदी में गेहूँ का मूल्य या गेहूँ में श्रम का मूल्य । हम यह भी देख चुके हैं कि आंकड़े, सिद्धान्तों पर पहुँचने के लिए निरीक्षण करने तथा उनके प्रमाणन और निगमन में सहायक होते हैं । आवश्यक ज्ञान को प्रस्तुत करने में भी आंकड़ों का प्रयोग हो सकता है । उदाहरणार्थ कुछ ऐसे तथ्य हैं जिनको जानना अर्थशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को आवश्वयक है । हमें राज्यों की जनसंख्या ज्ञात होनी चाहिए, कम से कम अपने राज्य की जनसंख्या तो मालूम ही होनी चाहिए । मोटे तौर पर हमें यह भी जानना चाहिए कि भारत में और हमारे अपने राज्य में कितना खाद्यान्न उत्पन्न किया जाता है । हमें जानना चाहिए कि भारत में कितना कपड़ा और इस्पात तैयार होता है और उनका कितना उपयोग होता है । यदि ये संख्याएँ बहुत बड़ी है तो कम से कम एक साधारण परिवार के उपभोग की मात्रा तो मालूम ही होना चाहिए ।

मान लीजिए कि हमारे पास एक चार्ट है जिसमें भारत के विभिन्न राज्यों में उत्पन्न गेहूँ और चावल की मात्रा का उल्लेख है । भारत के मानचित्र में आयतें बनाकर अपने देश में इनके आयात की मात्रा का निरुपण कर सकते हैं। फिर मान लीजिए कि हमारे पास एक दूसरा चार्ट है जिसमें भारत सरकार के खाद्य विभाग द्वारा प्रकाशित भारत के खाद्यान्न सम्बन्धी आंकड़ों के आधार पर विभिन्न राज्य में उपभोग किए जाने वाले खाद्यान्नों की औसत मात्रा दी हो। इसे देखकर हमें तत्काल यह पता चल जायगा कि किन प्रदेशों में भोजन की आवश्यकता सब से अधिक है और किनमें सब से कम । परन्तु यह नितान्त असंभव है कि प्रत्येक राज्य के उपभोग की सही मात्रा हमें याद रहे। इसलिए ऐसी संख्याओं की आवश्यकता पड़ती है जो सबका प्रतिनिधित्व कर सकें या सारे अंकों का प्रतिबिम्ब हो सकें। इस संख्या को साधरणतया 'औसत' कहते हैं ।

औसत—औसत वह संख्या है जो सारी संख्याओं की सर्वोत्तम प्रतिनिधि या प्रतिबिम्ब है। यों बहुत से औसत संभव हैं पर इनमें दो सर्वाधिक प्रचलित हैं—साधारण औसत

(arithmetic average)और मध्यक (median)। जिसका अनुगणन हम लोग स्कूलों में सीखते हैं, वह साधारण औसत है और वह अंकों के योग को, अंकों की संख्या से विभाजित करके मिलता है। मध्यक केवल बीच की संख्या है—वह जो इस तरह चुनी जाती है कि आधी संख्याएँ ऊपर हों और आधी नीचे। इसमें यह लाभ है कि मध्यक निकालने के लिए सबसे बड़ी या सबसे छोटी संख्या जानने की आवश्यकता नहीं होती, केवल कुछ बीच के अंक और उनका क्रम ज्ञात होना चाहिए।

औसत की एक संख्या को याद रखना सरल है परन्तु स्पष्ट है कि यह संख्या हमें उच्चतम और निम्नतम संख्याओं के अन्तर के विषय में कुछ भी नहीं बतलाती। उदाहरणार्थ यदि हम जानते हैं कि कई वर्षों में गेहूँ का मूल्य हर महीने क्या रहा है तो हम न केवल औसत जानना चाहेंगे वरन् यह भी जानना पसन्द करेंगे कि मूल्यों में कितनी घट-बढ़ (fluctuations) हुई है। वह संख्या जो मूल्यों के विस्तार को मापती है, विचलन (dispersion) का माप कही जाती है। विचलन का सरलतम माप—उच्चतम तथा निम्नतम संख्याओं का अन्तर है। इसे संख्याओं का विस्तार (range) कहते हैं। चूंकि यह देखा गया है कि उच्चतम और निम्नतम संख्याएँ अपवाद (exceptional) होती हैं, इसलिए विचलन के अन्य माप सुझाए गए हैं। प्रारंभ के अंकशास्त्रियों ने पूर्वार्ध और उत्तरार्ध मध्यकों का प्रयोग किया जिन्हें वे चतुर्थक (quartile) कहते थे। इन चतुर्थकों का प्रयोग आज भी होता है क्योंकि ये ऐसी धारणायें हैं जिन्हें सभी विद्यार्थी सरलता से समझ सकते हैं। आधे माप तो दो चतुर्थकों के बीच में पड़ते हैं और आधे बाहर। इस प्रकार इस बात की पूरी संभावना रहती है कि भविष्य में मूल्य इन सीमाओं के भीतर रहें या न रहें। बाद के अंकशास्त्रियों ने यह अच्छा समझा कि उनके औसत से जो भी विचलन (deviation) हो, उन सब का एक औसत ले लिया जाए। उन्होंने समस्त विचलनों को धनात्मक माना। इसे 'औसत विचलन'(mean deviation) कहा जाता है। कुछ वर्षों से विचलन का सर्वाधिक प्रचलित माप 'प्रमाप विचलन' (standard deviation) है। पहले विचलनों के वर्गों (squares) का औसत निकाला जाता है और फिर उस औसत का वर्ग मूल निकाल कर 'प्रमाप विचलन' जाना जाता है। यह अपेक्षाकृत जटिल माप है परन्तु यह इसलिए प्रयुक्त होता है क्योंकि इसके गणितात्मक लाभ बहुत हैं। इन लाभों के कारण की व्याख्या यहां नहीं की जा सकती। लगभग दो तिहाई माप तो साधारण औसत से 'प्रमाप विचलन' को जोड़ने या घटाने से प्राप्त सीमाओं के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। यही सीमायें उन विन्दुओं का निर्धारण करती हैं जहां मापों का बारंबारता—वक्र (frequency curve) सपाट होने या फैलने लगता है। दो-तिहाई माप तो इन सीमाओं के बीच एकत्रित रहते हैं और शेष एक तिहाई माप इनके बाहर फैले रहते हैं। दो संख्याओं की सहायता से मूल्यों के एक समूह का परिचय देने की साधारण विधि यह है: समस्त मूल्यों के औसत में प्रमाप-विचलन को घटाकर या जोड़कर जो संख्यायें प्राप्त होती हैं वह औसत मूल्य की सांकेतिक हैं। जैसे यदि साधारण औसत १० रु० हो और विचलन २ रु० हो तो औसत मूल्य इस प्रकार लिखेंगे : १०±२। कुछ अंकशास्त्री एक दूसरी विधि को अधिक उत्तम मानते हैं, जो वस्तुतः पहली विधि जैसी ही प्रभावपूर्ण है, और जिसमें मध्यक और दोनों चतुर्थकों का उल्लेख किया जाता है। मूल्यों के आंकड़ों के लिए यह विधि भी यथेष्ट उपयोगी है क्योंकि मूल्यों की घट बढ़ ऊपर की दिशा में अधिक होती है।

आय के संबन्ध में तथा अन्य बहुत से आर्थिक आंकड़ों (जैसे कारखानों के आकार) में, बड़ी संख्याएँ, कई हजार गुना छोटी हो सकती हैं। अतः विचलन के एक ऐसे माप की आवश्यकता पड़ती है जो औसत से ऊपर की तरफ काफी घट-बढ़ सके, नीचे की ओर नहीं।

औसतों का अनुगणन और उनके उपयोग—अगले पृष्ठ पर पहली तालिका के पहले कालम में भारत के नौ प्रमुख राज्यों की जनसंख्या निकटतम करोड़ में दी गई है। पाठक एक ही दृष्टि में समझ सकें, इसलिए संख्याओं को परिमाण के क्रम से रखा गया है। पंजाब की संख्या—२·४ करोड़—बीच की संख्या होने के कारण मध्यक (median) है। औसत २·७६ है और यह देखा जा सकता है कि पहली और दूसरी तालिका में दी गई हर संख्या में औसत, मध्यक से अधिक है, केवल अंतिम कालम की संख्यायें छोड़कर। औद्योगिक मजदूरों के लिए में औसत मध्यक का ठीक दोगुना है, परन्तु अधिकांश संख्याओं में यह मध्यक से केवल दस प्रतिशत अधिक है। सभी कालमों में राज्यों का क्रम वही है जो पहले में है जिसका अर्थ यह है कि अन्य कालमों में संख्याएँ परिमाण के क्रम से नहीं है। स्पष्ट है कि इन नौ राज्यों में से प्रत्येक कभी न कभी मध्यक है। उत्तर प्रदेश अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक बार मध्यक है।

अब हम निम्नलिखित अंकों पर विचार करेंगे:—

सबसे पहली कठिनाई चतुर्थकों को खोजने में होती है। उदाहरणार्थ हम जनसंख्या के प्रश्न को लेते हैं। यदि दस संख्यायें हों तो प्रथम चतुर्थक निम्नतर पांच संख्याओं के मध्य में होगा। तब वह १·५ हुआ होता। यदि आठ संख्याएँ होती तो प्रथम चतुर्थक निम्नतर चार संख्याओं के मध्य में होता अर्थात् ०·९ और १·५ के बीच में, अर्थात् १·२। परन्तु क्योंकि ९ संख्याएँ हैं इसलिए वह १·२ और १·५ के मध्य अर्थात् १·३५ पर होगा। इसी को कहने का एक दूसरा ढंग भी है कि वह ०·९ और १·५ की तीन चौथाई दूरी पर होगा। इसी प्रकार यदि १० संख्याएँ हों तो तृतीय चतुर्थक ४·४ होगा और यदि केवल ८ संख्याएँ हों तो तृतीय चतुर्थक ४·६ होगा। परन्तु क्योंकि संख्याएँ ९ हैं इसलिए तृतीय चतुर्थक ४५ है। दूसरे शब्दों में यह ४·८ से ४·४ की ओर तीन चौथाई दूरी पर है। इन दोनों चतुर्थकों के अन्तर को अन्तर्चतुर्थक विस्तार कहते हैं। यह ३·१५ है। क्योंकि औसत विचलन और प्रमाप विचलन उस विस्तार के केवल आधे हैं, जो हमने यह मान कर स्थिर किया है कि औसत उसी सीमा तक ऊपर या नीचे की ओर विचलित हो सकता है, इस लिए औसत विचलन और प्रमाप विचलन से तुलना करने के लिए हम अन्तर्चतुर्थक विस्तार के अर्धांश को ही लेते हैं। इस प्रकार इस उदाहरण में अर्ध-अन्तर्चतुर्थक विस्तार १·५७५ और औसत विचलन १·५६ है। यहां यह अधिकतम है परन्तु साधारणतया यह सबसे कम होता है। यह सैद्धान्तिक ढंग से दिखाया जा सकता है कि अधिकांश उदाहरणों में अर्ध-अंतर्चतुर्थक विस्तार प्रमाप विचलन का दो तिहाई होता है जब कि औसत विचलन, प्रमाप विचलन का लगभग $\frac{4}{5}$ होता है। अन्य कालमों में जिनमें संख्याएँ परिमाण क्रमानुसार नहीं है, यह सबसे अच्छा होगा कि चतुर्थक या मध्यक निकालने के पूर्व इन्हें क्रमबद्ध कर लिया जाय। नीचे औसत विचलन और प्रमाप विचलन निकालने की संक्षिप्त विधि दी जा रही है।

तालिका १

भारत के प्रमुख राज्य	१९३१ की जनगणना के अनुसार जनसंख्या करोड़ों में	क्षेत्रफल १००० वर्ग मील	प्रति वर्ग मील जनसंख्या का घनत्व १९३१	जन्म दर १९३८	मृत्यु दर १९३८	मृत्यों से जन्मों का आधिक्य (प्रति हजार पर) १९३८
बंगाल ...	५·०	७७	६४७	२८·९	२५·०	३·९
उत्तर प्रदेश ...	४·८	१०६	४५६	३३·६	२३·६	१०·०
मद्रास ...	४·४	१२६	३५०	३५·७	२१·६	१४·१
बिहार ...	३·२	७०	४६४	३१·८	२१·८	१०·०
पंजाब ...	२·४	९९	२३८	४३·८	२३·४	२०·४
बंबई ...	१·८	७६	२३५	३८·७	२७·९	१०·८
मध्य प्रदेश ...	१·५	९९	१५६	३९·५	३७·६	१·९
आसाम ...	०·९	५५	१५७	२७·९	२०·९	७·०
उड़ीसा ...	०·८	३२	२४९	३२·९	२८·८	४·१
योग	२४·८	७४०	२,९५२	३१२·८	२३०·६	८२·२
औसत (Arithmetic average)	२·७६	८२·२	३२८	३४·७५	२५·६२	९·१३
मध्यक (Median)	२·४	७७	२४९	३३·६	२३·६	१०·०
विस्तार (Range)	४·२	९४	४९१	१५·९	१६·७	१८·५
प्रथम चतुर्थक (First Quartile)	१·३५	६६·२५	२१५·५	३१·०३	२१·७५	४·०५
तृतीय चतुर्थक (Third Quartile)	४·५	१००·७५	४६२	३९·३	२८·१३	११·६३
अन्तर्चतुर्थक (Inter-Quartile) विस्तार (Range)	३·१५	३४·५	२४६·५	८·२८	६·३८	७·५८
ऊपर का आधा	१·५८	१७·२५	१२३·२५	४·१४	३·१९	३·७९
औसत विचलन (Average deviation)	१·३८	२१·९	१२५·७	४·०	३·५	४·३
प्रमाप विचलन (Standard deviation)	१·५६	२६·९	१५६·०	४·९	५·०	५·४

तालिका २

भारत के प्रमुख राज्य	१९३१ में जनसंख्या (करोड़ों)	खाद्यान्न का उत्पादन १९३८-३९ में : (लाख टनों में)	प्रत्येक वयस्क मनुष्य द्वारा उत्पादन १९३८-३९ में (सेरों में)	प्रत्येक मनुष्य का खाद्यान्न और अन्न का उपभोग १९४४-४५ में (सेरों में)	विद्युत का उत्पादन (करोड़ किलोवाटों में)	कारखाने	वृत्ति पाए हुए औद्योगिक मजदूर (हजारों में)	काती हुई रुई (करोड़ पौण्डों में)
बंगाल	५·०	७७	२१६	१९५	८४·६	१७३५	.५६३	४·६
उत्तर प्रदेश	४·८	७९	२३०	२४०	३६·७	५३०	१५५	११·८
मद्रास	४·४	६३	२००	२२०	३१·०	१८१८	१९४	१६·९
बिहार	३·२	४०	१७४	१८०	७·४	३११	९३	·३
पंजाब	२·४	४४	२५६	२१०	१९·५	७८०	७२	१६·६
बम्बई	१·८	३२	२२४	२६०	१३२·३	२४९५	४७९	४·८
मध्यप्रदेश	१·५	३६	३३६	२५०	३·९	७३७	६२	६·०
आसाम	·९	१७	२६४	२२०	·४	७६५	५१	०
उड़ीसा	·८	१५	२६२	२५०	·२	८०	५	०
योग	२४·८	४०३	२१६२	२०२५	३२२·०	९२५१	१६७४	१०६·०
औसत	२·७६	४४·८	२४०	२२५	३५·८	१०२८	१८६	११·८
मध्यक	२·४	४०	२३०	२२०	१९·५	७६५	९३	४·६

विद्यार्थी—१९३८ में

प्रमुख राज्य	लड़कों की संख्या (हजारों में)	लड़कियों की संख्या (हजारों में)
बंगाल	२९५३	५३४
उत्तरप्रदेश	१६९७	१५४
मद्रास	२७९०	४३३
बिहार	१०५४	८३
पंजाब	१०९१	२५५
बम्बई	१३४१	२२६
मध्यप्रदेश	४७६	५४
आसाम	४८९	५५
उड़ीसा	३३०	१९
योग	१२२२१	१८१३
औसत	१३५८	२०१
मध्यक	१०९१	१५४

तालिका ३

राज्य	१९३१ की गणना के अनुसार जन-संख्या (करोड़ों में)	औसत वृद्धि: मृत्यु दर घटा कर जन्म दर	जन्म और मृत्यु दर के अनुगणन द्वारा प्राप्त जन संख्या १९४१	१९४१ की जन-गणना द्वारा प्राप्त जन सं०: (करोड़ों में)	विचलन : (करोड़ों में).
बंगाल	५·०	६·८	५३·५	६·०	+·६५
उत्तर प्रदेश	४·८	१२·४५	५४·३	५·५	+·०७
मद्रास	४·४	१२·९	५०·०	४ ९	—·१
बिहार	३·२	११·२	३५·८	३·६	+·०२
पंजाब	२·४	१७·८	२८·६	२·८४	—·०२
बम्बई	१·८	११·९	२०·३	२·१	+·०७
मध्यप्रदेश	१·५	९·६	१६.५	१·७	+·०५
असाम	.९	१०·०	९·९	१·०	+·०१
उड़ीसा	·८	६·२	८·५	·९	+·०५
योग	२४·८	....	२७७·४	२८·५४	+·८

तालिका ४

भारत के खाद्यान्न

खाद्यान्न : करोड़ टनों में

चावल	३·०	खाद्यान्न	६·०		
ज्वार-बाजरा	१·५	दालें	०·८		
गेहूँ	१·०	चीनी	०·३		
जौ और मक्का	०·५	चरबी, तेल यादि	०·७		
योग	६·०	फल और तरकारियाँ	०·७	वास्तविक तौल (करोड़ टनों में)	२·०
		दूध और अंडे	०·६	वास्तविक तौल (करोड़ टनों में)	२·६
		गोस्त और मछली	०·८		
		योग	१०·२		

यह सिद्ध किया जा सकता है कि मध्यक से मापे जाने पर औसत विचलन न्यूनतम होता है और साधारण औसत से मापे जाने पर प्रमाप विचलन न्यूनतम होता है। इसलिए हम यदि मध्यक का प्रयोग करेंगे कि तो भारत के एक राज्य की औसत जनसंख्या को २४+१३.८ लिखेंगे और यदि साधारण औसत का प्रयोग करेंगे तो २७.६+१५.६ लिखेंगे। मध्यक और ऊपर-नीचे की निकटतम संख्याओं के बीच की कोई संख्या चुन लेने से हम इन विचलनों को निकालने के श्रम से बच सकते हैं। उदाहरणार्थ हम इस दृष्टांत में २५ लें और इसी संख्या से सारे विचलन निकालें। तब मध्यक से से जो विचलन हो उसे छोड़कर हमें मध्यक से विचलनों का योग प्राप्त हो जाता है। प्रमाप विचलन निकालने के लिए इन विचलनों का वर्ग कर देना चाहिए। इनका वर्ग निकालना साधारण औसत के विचलनों के वर्ग निकालने से कहीं अधिक सुगम है। परन्तु इन वर्गों का योग निकाल लेने के पश्चात हमें औसत और उक्त कल्पित संख्या के अंतर के वर्ग को उसमें से घटा देना होगा। इस उदाहरण में २.६ का वर्ग, निकाले हुए वर्गों के योग से घटा दिया जाएगा तब साधारण औसत से वास्तविक विचलनों के वर्गों का योग निकल आएगा। ऐसी कल्पित संख्या मध्यक या मध्यक और साधारण औसतो की बीच की कोई संख्या, जब तक कोई अन्य की हुई संख्या उसके बीच में न हो, हो सकती है। इस उदाहरण में जो संख्या हम अनुगणन के लिए चुनें वह मध्यक के पास की संख्यओं से कम या अधिक न होनी चाहिए।

इन तालिकाओं में उद्धृत संख्याएँ १९२९-३० से १९३८-३९ के 'ब्रिटिश भारत की आंकिक तालिकायें' तथा भारत सरकार के खाद्य विभाग द्वारा १९४६ में प्रकाशित 'भारत के खाद्य आंकड़े' से ली गई हैं। उक्त संख्याओं में संख्याओं के कुछ मनोरंजक उपयोग दिखाए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ यदि हम जन्म-दर, मृत्यु-दर और मृत्यु पर जन्म के आधिक्य के आंकड़े ले तो हम उस औसत दर को मालूम कर सकते हैं जिसके अनुसार १९३१-४१ के बीच जनसंख्या बढ़ी होगी। ऐसा हम उस समय भी कर सकते हैं जब छः प्रान्तों के केवल ८ वर्ष के आंकड़े दिए हुए हैं और बम्बई बिहार तथा उड़ीसा के केवल तीन वर्षों के ही। हमने १९३१ की जन संख्याओं का प्रयोग किया क्योंकि १९४१ की जनगणना के विषय में बहुत संशय प्रकट किया गया है। ऐसा अनुमान है कि कहीं-कहीं राजनैतिक स्वार्थ के कारण जन-गणना में बड़ी गड़बड़ी हुई है।

मृत्यु से जन्म के आधिक्य को सन् १९३१ की जनसंख्या में जोड़कर हमने १९४१ की जनसंख्या का पता लगाया है। यह आंकड़े सन् १९४१ की जनगणना से प्राप्त जनसंख्या के आंकड़ों से बहुत मिलते-जुलते हैं—केवल बंगाल ही एक अपवाद है जहां हमारे अनु-गणन के अनुसार ३५ लाख की वृद्धि होनी चाहिए थी जबकि जन-गणना के अनुसार यह वृद्धि एक करोड़ है। इस प्रकार दो भिन्न विधियों से प्राप्त आंकड़ों की समानता, १९४१ की जन-गणना की विश्वसनीयता को बहुत बढ़ा देती है—केवल बंगाल में ६०-७० लाख का हेर-फेर है। या तो जन-गणना अधिक हुई है या हमारे द्वारा प्रयुक्त जन्म-दर कम या मृत्यु-दर अधिक है।

हम यह भी देखते हैं कि १९३१ में बंगाल में जनसंख्या का घनत्व प्रति वर्ग मील ६४७ था और यह संख्या अन्य राज्यों से १८३ अधिक थी। यदि जनगणना की संख्याएं ठीक हों तो यह घनत्व बढ़कर १९४१ में ७७९ प्रति वर्गमील हो गया होता, जो कि बिहार

और उत्तर प्रदेश से २५० से भी अधिक है । ऐसा घनत्व कलकत्ता के आसपास के अत्यधिक औद्योगिक क्षेत्र में या डेल्टा की बहुत अधिक उपजाऊ भूमि में तो संभव है परन्तु पूरे के पूरे राज्य में जनसंख्या का इतना अधिक घनत्व होना कठिन है । हम १९३८-३९ तथा १९४४-४५ की प्रति वयस्क मनुष्य की उत्पादन तथा उपभोग संबन्धी संख्याओं को भी देख सकते हैं । ये संख्याएँ ठीक-ठीक तुल्य नहीं हैं क्योंकि बाद वाली संख्याओं में, जिनका अनुगणन भारत सरकार के खाद्य-संबन्धी आंकड़ों से हुआ है, खाद्यान्न और चना दोनों मिले हैं । परन्तु हम देखेंगे कि बंगाल के अतिरिक्त अन्य सभी औद्योगिक राज्यों ने जितना उत्पादन किया है, उससे अधिक उपभोग किया है । कम से कम ऐसा संभव जान पड़ता है कि बंगाल की कम संख्याओं का कारण यह है कि वहां के खाद्यान्न की कुल मात्रा के ५·३५ करोड़ की जन संख्या से विभाजित किया गया है । यदि ऐसा किया गया होता तो बंगाल की संख्या १९३८-३९ के उत्पादन की संख्या के लगभग बराबर होती । दूसरा अन्य कारण भी सम्भव है जैसे युद्ध-काल में बर्मा से चावल मँगाने की असमर्थता । बंगाल की संख्या को मद्रास की संख्या के (जहां खाद्यान्न का उत्पादन और कारखानों की संख्या बंगाल जितनी ही है) बराबर मानने के लिए दोनों तर्क आवश्यक हैं यद्यपि मद्रास में औद्योगिक श्रमिकों की संख्या तथा विद्युत का उत्पादन कम है ।

भारत के खाद्यान्नों की चर्चा करते हुए, यह जानना रोचक होगा कि सारा उत्पादित खाद्यान्न औसतन, ६ करोड़ टन है, जिसमें लगभग ३ करोड़ टन चावल, १ करोड़ टन गेहूँ और ½ करोड़ टन मक्का तथा जौ है। शेष १½ करोड़ टन में ज्वार-बाजरा, रागी आदि मोटे अनाज आते हैं । यदि हम ६ करोड़ टन की संख्या याद करें तो हम सरलता से स्मरण रख सकते हैं कि इसका आधा चावल, एक चौथाई ज्वार-बाजरा और एक चौथाई गेहूँ, जौ और मक्का है । जो भी हो, यह स्मरण रखना आवश्यक है कि भारत अपने भोजन के लिए खाद्यान्नों पर ही निर्भर नहीं है । सरकार द्वारा प्रकाशित आंकड़ों में दालों (जिनके अन्तर्गत चना, अरहर, उर्द, मूंग, मटर आदि आती हैं) के आंकड़े भी दिये रहते थे क्योंकि वे महत्वपूर्ण समझी जाती थीं । कम से कम हमें उत्तर प्रदेश की स्थिति नहीं भूलनी चाहिए जहां दालों का उत्पादन अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक है । दालों का उत्पादन लगभग ८० लाख टन है । भारत में चीनी का उपभोग ६० लाख टन गुड़ के तुल्य है । चर्बी और तेल, घी आदि का उपभोग लगभग ७० लाख टन है । फलों और तरकारियों का वास्तविक उपभोग लगभग २०० लाख टन है और यदि हम इन तरकारियों में निहित विटामिनों के बारे में सोचें, तो उस प्रकार प्राप्त हुई संख्या, तरकारियों के वास्तविक मूल्य का परिचय देगी । परन्तु यदि हम इनकी शुष्क तौल (dry weight) या इनसे प्राप्त कैलोरियों (calories) का अनुगणन करने की चेष्टा करें तो यह तौल लगभग ७० लाख टन होगी जबकि गोश्त और मछली ही कम से कम ८० लाख टन है, यद्यपि गांवों में पकड़ी जाने वाली और खाई जानी वाली मछली की मात्रा का ज्ञान किसी को नहीं है । सब मिलाकर हमें यह आश्वासन हो सकता है कि भारत का समस्त भोजन १० करोड़ टन से अधिक है । इस संख्या को याद रखना भी अत्यंन्त सरल है । इस प्रकार खाद्यान्न संभवतः हमारे भोजन का केवल ६० % है ।

आंकड़ों के अन्य भी बहुत से व्यवहारिक और सैद्धान्तिक उपयोग खोजे जा सकते हैं । सिद्धान्त और व्यवहार दोनों के लिए महत्वपूर्ण एक दूसरा उदाहरण यथेष्ट होगा : यह

देशनांकों (index numbers) का उदाहरण है। यदि हम द्रव्य की इकाइयों में माप करना चाहें, और द्रव्य का मूल्य भी स्वयं घट-बढ़ रहा हो तो हम अपने को उसी स्थिति में पाएँगे, जिसमें मेज़ को एक ऐसे रबड़ के फीते से नापते समय, जिसका एक इंच कभी तो खिचकर दो इंच हो जाए और कभी सिकुड़कर आधा इंच ही। इस कार्य के लिए मूल्यों का औसत जानना आवश्यक होता है। संभव है कुछ मूल्य घट रहे हों, कुछ बढ़ रहे हों परन्तु औसत लेने पर हम मूल्यों की सामान्य गति जान सकते हैं। हम मज़दूरी का भी एक देशनांक बना सकते हैं। फिर मूल्य के देशनांक से मज़दूरी के देशनांक को विभाजित करके वास्तविक मज़दूरी (real wages) के देशनांक प्राप्त किए जा सकते हैं। फिर भी कठिनाइयां आ ही जाती हैं। उदाहरणार्थ मंदी (depression) के समय जब मूल्य, मज़दूरी की अपेक्षा अधिक तेज़ी से गिरते हैं, हम वास्तविक मज़दूरी के देशनांक को बढ़ता हुआ पाते हैं जबकि बहुत से मज़दूर बेकार होने के कारण भूखों मरते हैं। तब हमें वास्तविक मज़दूरी के देशनांकों को, प्रतिशत बेकारी के अनुपात से, नीचे लाना होगा जिससे सामाजिक वास्तविक मज़दूरी के देशनांक प्राप्त हो सकें। यह किसी हद तक, देश की नब्ज़, उसके रहन-सहन के स्तर और उसकी आर्थिक प्रगति को मापता है। इसकी परीक्षा औद्योगिक या कृषि सम्बन्धी उत्पादन के देशनांकों से भी हो सकती है।

देशनांकों पर पूरी की पूरी पुस्तकें लिख डाली गई हैं, परन्तु मूल्यों का ठीक-ठीक देशनांक अभी तक नहीं बन पाया है। यह क्षेत्र अब भी किसी जिज्ञासु के लिए खुला हुआ है और राष्ट्रीय प्रगति को मापने का सबसे अच्छा उपाय आज भी किसी ऐसे परिश्रमी विद्यार्थी द्वारा खोजा जा सकता है, जिसके लिए अंकगणित से अधिक गणित की जानकारी आवश्यक नहीं है।

अध्याय ८

अर्थशास्त्र का महत्व

फलदायी (fruit-bearing) और प्रकाशवाही (light-giving) ज्ञान में अन्तर—प्रायः कहा जाता है कि ज्ञान फलदायी तथा प्रकाशवाही दो प्रकार का होता है। प्रत्येक विज्ञान इनमें से किसी एक के अन्तर्गत आ सकता है। कदाचित् यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अन्ततः सभी ज्ञान फलदायी और प्रकाशवाही दोनों होते हैं। अतः ज्ञान का ऐसा विभाजन और इसके आधार पर विज्ञानों का वर्णन संभवतः भ्रामक है। इसमें संदेह नहीं कि एक विज्ञान प्रकाशवाही अधिक हो सकता है, या फलदायी परन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं कि हम किसी विज्ञान को पूर्णतया फलदायी या प्रकाशवाही कह दें। जैसा कि प्रत्येक विज्ञान में है, अर्थशास्त्र में भी ये दोनों तत्व मिले हुए हैं। और इसलिए यह कहना ठीक होगा कि अर्थशास्त्र एक ओर तो मनुष्यों के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डालता है और दूसरी ओर उनके व्यवहार पर। यही प्रकाशवाही और फलदायी तत्वों का अर्थ है। प्रकाशवाही तत्व मनुष्यों की मानसिक सामर्थ्य को इस प्रकार प्रेरणा देता है कि वे अपनी स्थितियों को समझकर उनका विश्लेषण कर सकें और अपनी कठिनाइयों को उचित रूप से सुलझा सकें। फलदायी तत्व मनुष्यों को सीधे-सीधे सुझाव देते हैं, और उन्हें इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती कि अपनी समस्याओं को लेकर माथा-पच्ची करें। विज्ञान का प्रकाशवाही पक्ष सूक्ष्म अप्रत्यक्ष तथा अ-विशिष्ट होता है और किसी तात्कालिक लाभ की ओर इंगित नहीं करता। फलदायी तत्व अधिक स्थूल, सीधा, और विशिष्ट होता है और तात्कालिक फल की प्राप्ति की ओर संकेत करता है।

अर्थशास्त्र का महत्व उस प्रभाव में निहित है जो अर्थशास्त्र के तत्व, चुनावों से सम्बद्ध मानव-व्यवहारों पर डालते हैं। क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम व्यक्ति के व्यवहार को कई रूपों में प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति एक वस्तु की बहुत अधिक इच्छा नहीं करेगा। जब वह देखेगा कि उसके अतिरिक्त द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता कम हो रही है तो वह कुछ द्रव्य गरीबों को दान कर देना अनुचित न समझेगा। यदि लोग इस नियम के प्रति जागरूक न होते तो वे जितना खरीदते हैं उससे कहीं अधिक मात्रा में वस्तुएँ खरीद लेते। और इस प्रकार उनके व्यवहार और चुनाव में अन्तर पड़ जाता।

अर्थशास्त्र का प्रमुख महत्व—मानवजाति के लिए अर्थशास्त्र का प्रमुख महत्व इस लिए है कि वह इच्छाओं को सरल तथा नियंत्रित करने के आदर्श पर बल देता है। इसमें सन्देह नहीं कि आज की दुनिया में हमारी बढ़ी हुई चिन्ताओं में से अधिकांश हमारे जटिल जीवन का फल है। जब मनुष्य अपनी बढ़ी हुई इच्छाओं को तृप्ति करने का विचार करते हैं तो उनका स्वार्थी और भौतिकवादी हो जाना निश्चित है। यह स्वाभाविक ही है कि ऐसी दशा में वे प्रार्थना, प्रेम, सत्यभाषण आदि जीवन के उन उच्च मूल्यों को भूल जाएँ जिनकी आज के गिरे हुए मनुष्य को बड़ी आवश्यकता है।

यह कहा गया है कि एक विज्ञान होने के नाते अर्थशास्त्र का 'जीवन के इन उच्चतर मूल्यों' से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। हमें सन्देह है कि क्या किसी विज्ञान को, जीवन के

ऊँचे या नीचे मूल्यों से विभक्त कर देना संभव भी है ? वस्तुतः ऐसे आदर्श को चुन लेना असम्भव नहीं है जिसके साथ जीवन का सर्वत्र सामंजस्य हो, और जिससे सम्बद्ध होकर सभी विज्ञान अपना अध्ययन आगे बढ़ा सकें। इच्छाओं को कम करने का आदर्श ऐसा ही है। कुछ लोगों की धारणा है कि आदर्श की समस्या नीतिशास्त्र की समस्या है। हम निवेदन करेंगे कि प्रत्येक विज्ञान का एक आदर्श होता है अन्यथा उस विज्ञान का अध्ययन ही संभव न हो सकेगा। और यदि कोई आदर्श चुनना ही है तो अच्छा यह होगा कि वह आदर्श जीवन के उच्चतर मूल्यों की ओर उन्मुख करनेवाला हो न कि अधोगामी मूल्यों की ओर ले जाने वाला। आखिर उस व्यक्ति का तात्पर्य क्या है जो यह कहता है कि अर्थशास्त्र को 'जीवन के उच्चतर मूल्यों' से कोई संबन्ध न रखना चाहिए? निःसन्देह, उसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि अर्थशास्त्र अपने को 'जीवन के निम्न मूल्यों' के साथ संलग्न करे। तो क्या वह चाहता है कि अर्थशास्त्र जीवन के किसी मूल्य से अपना सम्बन्ध न रक्खे? यदि यही उसका तात्पर्य है, तो वह व्यक्ति अर्थशास्त्र के अध्ययन को कदाचित नितान्त असम्भव बना देगा। हम मानव-व्यवहार का जीवन के उन मूल्यों से सम्बन्ध जाने बिना अध्ययन कर ही नहीं सकते, जिनके लिए वे व्यवहार किए गए हैं। जीवन के मूल्यों का विचार—जीवन के उच्चतर मूल्यों का विचार उस प्रत्येक विज्ञान के लिए आवश्यक है जो मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है।

महत्व के बारे में भ्रम—बहुत सी व्यवहारिक बातों में अर्थशास्त्र का महत्व गलत समझा गया है। उदाहरणार्थ पुरोगामी-कर(progressive tax) के लिए सरकारों ने क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम को आधार बनाया है। धनवानो से गरीबों की अपेक्षा अधिक कर मांगा जाता है क्योंकि कहा जाता है कि गरीबों की अपेक्षा उनके लिए द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता कम होती है। क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम हमें इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं बताता कि द्रव्य की बढ़ती हुई मात्रा के व्यय के साथ, प्रत्येक अतिरिक्त मात्रा द्वारा प्राप्त उपयोगिता कम होती जाती है। इस नियम में कहीं भी यह सुझाव नहीं है कि यदि किसी व्यक्ति की आमदनी दूसरे से अधिक है और, यदि यह मान लिया जाए कि उसके लिए द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता सौ है, तो गरीब व्यक्ति के लिए केवल पचास होगी। अधिक से अधिक यह नियम कहता है कि यदि गरीब व्यक्ति अधिक रुपया पा जाता है तो द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता उसकी दृष्टि में पहले से कम हो जाएगी। ऐसा ही उस समय भी होगा यदि धनवान व्यक्ति को अधिक रुपया मिले। परन्तु यह कहना एक बात है कि उनमें से प्रत्येक के लिए अधिक द्रव्य मिलने पर द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता पहले से कम हो जाएगी, और यह कहना बिल्कुल दूसरी बात है कि एक गरीब आदमी के लिए द्रव्य की घटी हुई सीमान्त उपयोगिता, धनवान व्यक्ति की द्रव्य की घटी हुई सीमान्त उपभोगिता से निश्चित रूप में कम होगी। फिर भी अर्थशास्त्र के क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम के आधार पर इस प्रकार की तुलनाएँ समीचीन ठहराई जाती हैं। अर्थशास्त्र की प्रशंसा होती है कि उसके सिद्धान्तों के आधार पर यह संभव हो सका कि सरकार पुरोगामी-कर लगाकर अपनी आमदनी बढ़ा सके। यह कहीं अच्छा होगा यदि हम अर्थशास्त्र का नाम उन कार्यों में न लें, जिनमें अर्थशास्त्र का हाथ नहीं रहा है।

अध्याय ९

इच्छाएँ

उपभोग की परिभाषा—अँग्रेज़ी भाषा में कुछ प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने उपभोग को 'पदार्थ का नाश' कह कर परिभाषित किया है। इस परिभाषा का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि पदार्थ नश्वर है। यह गलत है क्योंकि जब एक वस्तु का उपयोग कर लिया जाता है तो वह पदार्थ, जिससे उस वस्तु का निर्माण हुआ है, केवल अपना स्वरूप बदलता है। एक उदाहरण लें: जब कोयला जल जाता है तो वह कार्बन और कार्बन-द्वि-ओषद में परिणत हो जाता है। अतः उक्त परिभाषा भ्रामक है। Destruction of utility

उपभोग की दूसरी तथा अच्छी परिभाषा है: 'उपयोगिता का नाश'। उत्पादन में उत्पादक उपयोगिताओं की योजना-पुनर्योजना कुछ इस प्रकार करता है कि एक वस्तु अधिक उपयोगी हो जाती है। अतः उत्पादक में उपयोगिता की सृष्टि की जाती है। दूसरी ओर उपभोग में, उपयोगिताओं की यह योजना नष्ट कर दी जाती है। इसलिए, उपयोगिता का नाश अथवा ह्रास कहकर उपभोग की परिभाषा दी जा सकती है।

यह परिभाषा पहली से अच्छी है क्योंकि यह उपभोग में निहित मूलभाव की व्यंजना करने में समर्थ है। परन्तु इसका मुख्य दोष यह है कि इसमें उपभोग को ही उपयोगिताओं का नाश बताया गया है, जबकि वस्तुतः उपयोगिता का नाश उपभोग का परिणाम है, न कि स्वयं उपभोग।

मार्शल ने एक बड़ी सरल परिभाषा दी है। वे कहते हैं कि उपभोग 'नकारात्मक उत्पादन' है। परन्तु इसे हम नकारात्मक परिभाषा भी कह सकते हैं, क्योंकि इसमें उपभोग क्या नहीं है? का ही भाव है; उपभोग क्या है? का नहीं। इसके अतिरिक्त भी, इस परिभाषा को समझने के लिए आवश्यक हो जाता है कि पहले यह जानें कि उत्पादन क्या है?

उपभोग की नवीन परिभाषा—अर्थशास्त्र में उपभोग वह प्रक्रिया है जिसमें किसी मानव-इच्छा की पूर्ति के क्रम में एक वस्तु की उपयोगिता नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार उत्पादन वह प्रक्रिया है जिसमें किसी मानव-इच्छा की तृप्ति के लिए एक वस्तु में उपयोगिता की सृष्टि अथवा वृद्धि होती है। उत्पादन तथा उपभोग का मुख्य अन्तर उस दृष्टिकोण में है जिससे कि कोई प्रक्रिया देखी जाए। यदि एक वस्तु का उपयोग, उस इच्छा की दृष्टि से देखा जाए जिसकी तृप्ति के कारण वस्तु की उपयोगिता कम अथवा नष्ट हो जाए, तो उसे उपभोग कहेंगे। यदि एक वस्तु का उपयोग उस इच्छा की दृष्टि से देखा जाए जिसकी तृप्ति के कारण वस्तु की उपयोगिता की सृष्टि अथवा वृद्धि होती है, तो हम उसे उत्पादन कहेंगे। वस्तु के प्रत्येक उपयोग में ये दोनों पक्ष साथ ही साथ रहते हैं। यदि हम खाने की क्रिया को क्षुधा-निवारण की दृष्टि से देखें तो यह क्रिया उपभोग होगी क्योंकि इसमें उपयोगिता का नाश होता है किन्तु यदि हम इसी क्रिया को स्वास्थ्य-वृद्धि की दृष्टि से देखें तो यह क्रिया उत्पादन होगी क्योंकि इसमें उपयोगिता की वृद्धि होती है। अतः वस्तुओं के उपयोग के प्रति दृष्टि-कोण ही यह निर्धारित करता है कि वह क्रिया उत्पादन की क्रिया है, अथवा उपभोग की। वस्तु का उपयोग मात्र न उत्पादन माना जा सकता है और न उपभोग ही।

मानवीय इच्छाओं की विशेषताएँ—हमने उपभोग को वह क्रिया माना है जिसमें एक वस्तु की उपयोगिता, किसी मानवीय इच्छा की तृप्ति के क्रम में घटती है। उपभोग का उद्देश्य—इच्छाओंकी प्रत्यक्ष तृप्ति—उपभोग के नियमों के अध्ययन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है, इस लिए हम मानवीय इच्छाओं की मुख्य विशेषताओं की चर्चा करेंगे।

मानवीय इच्छाओं की पहली विशेषता यह है कि यथेष्ट साधन होने पर प्रत्येक इच्छा की तृप्ति पूर्णतया हो सकती है। यदि कोई मनुष्य भूखा है तो साधनों के होने पर वह अपनी भूख को पूर्णरूप से मिटा सकता है। इसी प्रकार वह भोजन तथा अन्य वस्तुओं की इच्छाओं की भी पूर्ण तृप्ति कर सकता है। परन्तु यह कहा जाता है कि साधनों (resources) की इच्छा कभी भी संपूर्ण रूप से पूरी नहीं हो सकती। द्रव्य (money) साधनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। हम देखेंगे कि इच्छा तो वस्तुओं के लिए होती है, जो उसके विनिमय में प्राप्त की जा सकती है। अतः एक अर्थ में द्रव्य की इच्छा एक अलग इच्छा नहीं; वह तो उन समस्त वस्तुओं की इच्छा का एक समूह है जो द्रव्य के द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। इसलिए द्रव्य—जो एक प्रमुख साधन है—की इच्छा कभी पूरी नहीं हो सकती, यद्यपि अलग-अलग वस्तुओं की इच्छा पूर्णतया संतुष्ट हो जाती है।

इच्छाओं की दूसरी विशेषता यह है कि वे असंख्य हैं। जैसे ही एक तृप्त होती है, दूसरी उठ खड़ी होती है और यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक कि सारे साधन समाप्त न हो जाएँ। कितना ही धनवान व्यक्ति क्यों न हो, उपलब्ध द्रव्य की कोई न कोई सीमा होती है; और उन सीमित साधनों से वह अपनी असीमित इच्छाओं की तृप्ति किसी प्रकार नहीं कर सकता। इसलिए प्रत्येक आदमी की, चाहे वह गरीब हो या अमीर, कुछ न कुछ अतृप्त इच्छाएँ होती ही हैं। तभी हम कह भी सकते हैं कि भले ही अलग-अलग संतुष्टि संभव हो, सामूहिक रूप से उन की तृप्ति नहीं हो सकती।

इच्छाओं की तीसरी विशेषता यह है कि उनकी तीव्रता में अन्तर होता है। सारी इच्छाएँ समान तीव्रता के साथ नहीं अनुभव की जातीं। किसी समय कोई एक इच्छा अत्यंत तीव्र जान पड़ती है, और उसकी तृप्ति के पश्चात् कोई दूसरी इच्छा जो पहले बहुत तीव्र न थी अब अधिक महत्वपूर्ण बन जाती है, और यह क्रम इसी प्रकार चला करता है। हम एक व्यक्ति की इच्छाओं को उनकी तीव्रता के अनुसार नियोजित (arrange) कर सकते हैं परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि भिन्न व्यक्तियों की रुचि के मापदंड भी भिन्न होंगे। एक किसान की इच्छाओं का मापदंड किसी विद्यार्थी अथवा किसी मालगुजारी वसूल करने वाले के मापदंड से अवश्य ही भिन्न होगा। कुछ इच्छाएँ पूरक होती हैं। प्रायः कुछ वस्तुओं की सामूहिक इच्छा अनुभव होती है, और उस समूह की कोई एक वस्तु उस इच्छा की पूर्ण तृप्ति नहीं कर सकती। चाय की इच्छा, चाय, दूध तथा शकर की इच्छाओं का योग है, और इन तीनों वस्तुओं के अभाव में उसकी तृप्ति नहीं हो सकती। कुछ इच्छाएँ प्रतिस्पर्धी होती हैं। उनकी तृप्ति विभिन्न वस्तुओं से हो सकती है। जब कोई मनुष्य भूखा है तो वह अपनी क्षुधा या तो घर में, या होटल में खाना खाकर दूर कर सकता है, या मिठाइयां या फल खाकर, अथवा ये समस्त वस्तुएँ खाकर अपनी क्षुधा शान्त कर सकता है। जब वह देखता है कि गेहूँ का दाम उसके लिए बहुत अधिक है तो वह गेहूँ के स्थान पर जौ, बाजरा आदि किसी निम्न कोटि के अनाज का कुछ सीमा तक उपयोग करके अपनी भोजन की इच्छा पूर्ति करता है।

जब वह देखता है कि एक इच्छा कई ढंग से संतुष्ट की जा सकती है तो वह इसका निश्चय करता है कि किस विशेष प्रकार से उसकी तृप्ति की जाए।

कुछ इच्छाएँ जब एक ही ढंग से पूरी होती रहती हैं तो वे आदत बन जाती हैं। जब एक आदत पड़ जाती है तो उसे बदलना मुश्किल होता है। बहुत से व्यक्तियों की आदत चाय पीने, नशा करने या बहुत मात्रा में सिगरेट पीने की पड़ जाती है। जब वे इन वस्तुओं के सेवन का बुरा प्रभाव अपने स्वास्थ्य तथा कार्य क्षमता (efficiency) पर अनुभव करते हैं तो भी वे इन्हें छोड़ने में अपने को असमर्थ पाते हैं। फिर भी यह सच है कि यदि किसी व्यक्ति में तीव्र इच्छा-शक्ति और दृढ़ निश्चय है तो वह पड़ी हुई आदत को छोड़ भी सकता है।

इच्छाओं के सविचार नियंत्रण की समीचीनता—इच्छाओं की विशेषताओं पर विचार करते समय हमने देखा कि इच्छाएँ असीमित हैं, जब कि इनकी पूर्ति के साधन सीमित हैं। जब किसी इच्छा की तृप्ति हो जाती है तो उपभोक्ता सुख का अनुभव करता है, अन्यथा पीड़ा का। इस दुख या पीड़ा को दूर करने का एक ही उपाय है कि जान बूझ कर इच्छाओं का नियंत्रण इस प्रकार किया जाए कि सीमित इच्छाएँ हमारे सीमित साधनों द्वारा पूरी की जा सकें। इच्छाओं का सविचार (deliberate) नियंत्रण जीवन को सरल बनाता है, उसका तात्पर्य भूखा रहना, अ-यथेष्ट कपड़े पहनना या खराब घरों में रहना नहीं है। वस्तुतः अच्छे भोजन, कपड़ों, साफ और हवादार घरों आदि की इच्छाओं को तो अधिक प्रश्रय देना ही होगा। इच्छाओं के नियंत्रण का तात्पर्य इच्छाओं का यथोचित चुनाव है। केवल, हानिकर इच्छाओं को त्याग कर उनके स्थान पर उपयोगी इच्छाओं को रखना चाहिए। इस बात का ध्यान भी रखना होगा कि इच्छाएँ हमारे उपलब्ध साधनों के अनुसार ही सीमित की जाएँ। यदि इच्छाओं को मनमाने ढंग से बढ़ाने की छूट दे दी जायगी तो अरुचिकर परिणामों की आशंका है।

इसमें सन्देह नहीं कि इच्छाएँ क्रियाओं की जननी हैं अतः उनकी संख्या जितनी अधिक होगी, हमारी आर्थिक क्रियाएँ भी उतनी ही अधिक होंगी। इच्छाओं का बाहुल्य (multiplicity) अत्यधिक आर्थिक क्रियाओं तथा अधिकतम धनोत्पादन को जन्म देता है। परन्तु उत्पादन में प्रत्येक वृद्धि के साथ इतनी अधिक इच्छाओं की वृद्धि संबद्ध होती है कि यदि उत्पादन की वृद्धि **क** के बराबर हुई है तो इच्छाएँ **खक** हो जाती हैं (यहाँ **ख** एक धनात्मक अंक (positive integer) है)। इस प्रकार इच्छाओं के अनुभव की पीड़ा तथा उसकी पूर्ण तृप्ति की संभावना के बीच की खाई बढ़ती ही जाती है।

कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि आजकल इच्छाओं को सीमित करना व्यवहार्य नहीं है। वे यह भूल जाते हैं कि एक व्यक्ति की इच्छाओं की संतुष्टि उन साधनों द्वारा सीमित रहती है जो उसे उपलब्ध है। मनुष्य साधनों के सीमित होने के कारण इतना विवश है कि वह अपनी सब इच्छाओं को पूरी तरह तृप्ति नहीं कर पाता अतएव उसे पीड़ा और कष्ट का अनुभव है। यदि वह अपनी इच्छाओं को सविचार नियंत्रित करे तो सम्भव है कि अर्जित साधन उसकी सारी इच्छाओं को पूरा कर दें। परन्तु इच्छाएँ तभी नियंत्रित की जा सकती हैं, जब मनुष्य में दृढ़ मनः शक्ति हो। अधिकांश व्यक्तियों में मनः शक्ति का अभाव होता है अतः वे स्वेच्छापूर्वक अपनी इच्छाओं को नियंत्रित नहीं कर पाते, और जब साधनों की कमी के

कारण विवश होकर इच्छाओं का नियंत्रण करना पड़ता है तो उन्हें कष्ट होता है। दृढ़ मनः-शक्ति प्रयत्न करने पर विकसित की जा सकती है और इस दिशा में उच्च विचार बहुत सहायक होते हैं। भारत में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है जो 'सादा जीवन उच्च विचार' के आदर्श पर चलते हैं। महात्मा गांधी इस आदर्श के महान प्रचारक थे; वे जीवन भर इसी मार्ग पर चले भी। इस आदर्श में कहीं भी अव्यावहारिकता नहीं है। कोई भी मनुष्य दृढ़ निश्चय तथा थोड़े प्रयत्न द्वारा इस आदर्श पर चल सकता है। इसी आदर्श द्वारा यह संभव है कि कोई मनुष्य निरन्तर प्रसन्नता, मानसिक शान्ति तथा संतोष पा सके।

'सादा जीवन तथा उच्च विचार' के आदर्श में विश्वास करने वाला व्यक्ति सर्वदा दूसरों के हितों का ध्यान रखेगा। वह न किसी का शोषण करेगा, और न धोखा ही देगा।

अस्तु, जब लोग अपनी इच्छाओं को सविचार नियंत्रित करने, और सादे जीवन तथा उच्च विचार के आदर्श में विश्वास करने लगेंगे तो निश्चय ही प्रत्येक शोषण समाप्त हो जायगा, घूसखोरी और भ्रष्टाचार लुप्त हो जाएँगे और समाज अधिक सुखी तथा संतुष्ट हो सकेगा।

रुपये रखने को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। यदि दान के लिये आरम्भ में ही रुपया न रख छोड़ा जाय तो बहुत सम्भव है कि महीने के अन्त में इस कार्य के लिये कुछ भी न बचे। अतएव बचत, कर और दान के लिये पर्याप्त रुपया रख छोड़ने के पश्चात् ही आवश्यकता, आराम और विलासिता की वस्तुओं पर व्यय का नियोजन करना चाहिए।

कभी कभी ऐसा होता है कि रुढ़िगत आवश्यकताओं पर किये गये व्यय से पर्याप्त सन्तोष नहीं मिलता। इस स्थिति में अगले महीने के व्यय का इस प्रकार पुनर्योजन करना चाहिये कि रुढ़िगत आवश्यकताओं पर कम और जीवन रक्षक तथा निपुणता दायक आवश्यकताओं पर अधिक व्यय हो। वस्तुतः जब तक निपुणता दायक आवश्यकताओं की पूर्ति न हो जाय, विलासिता की वस्तुओं पर व्यय न करने का ही प्रयास करना चाहिये। इस प्रकार प्रत्येक परिवार को महीने के आरम्भ में ही अपना बजट बना लेना चाहिये और यह प्रयास करना चाहिये कि उस मास में खर्च बजट के अनुसार ही हो। यदि दृढ़ संकल्प के साथ समुचित और निश्चित रूप से प्रयास किया जाय तो सफलता अवश्य मिलेगी। रुढ़िगत आवश्यकताओं तथा विलासिता की वस्तुओं पर उत्तरोत्तर कम तथा जीवन रक्षक और निपुणता दायक आवश्यकताओं पर उत्तरोत्तर अधिक व्यय होने लगेगा। इस प्रकार आय में वृद्धि हुए बिना ही परिवार दीर्घ काल में अपने व्यय से अधिकतम उपयोगिता अथवा तृप्ति प्राप्त कर सकेगा।

अध्याय १५

रहन-सहन का स्तर

समाज के किसी वर्ग के रहन-सहन का स्तर उस वर्ग के औसत परिवार द्वारा उपभोग की हुई वस्तुओं के गुण तथा परिमाण और दिये हुए समय में उपलब्ध तृप्ति और आनन्द के सम्बन्ध के आधार पर निर्णीत होना चाहिये। यह एक सापेक्ष धारणा है और प्रायः दो विभिन्न स्थानों पर एक समुदाय के, अथवा एक ही स्थान पर दो विभिन्न समुदायों के, अथवा दो विभिन्न समयों पर एक ही समुदाय के कल्याणों की तुलना करने में प्रयोग की जाती है। चूंकि विभिन्न समुदायों द्वारा उपभोग की गई वस्तुएँ विभिन्न गुणों तथा प्रकारों की होती हैं इसलिए सम्भव है कि उनसे उपलब्ध तृप्तियां भी विभिन्न हों। अतः वास्तविक जीवन में तुलना द्रव्य के रूप में की जाती है। तुलना करते समय दो विभिन्न स्थानों अथवा दो विभिन्न समयों में सामान्य मूल्य-स्तर के अन्तर को ध्यान में रखना चाहिये। यदि महायुद्ध के पहले इलाहाबाद का एक साधारण श्रमिक परिवार विभिन्न वस्तुओं पर २५ रुपये प्रति मास व्यय करता था और अब १६४८ में ५०) रुपया प्रति मास व्यय करता है तो यह निष्कर्ष कि श्रमिक वर्ग का रहन सहन का स्तर दूना हो गया है, उचित न होगा। कारण स्पष्ट है। इतने समय में वस्तुओं के मूल्य-स्तर में चतुर्मुखी वृद्धि हो गई है और वह परिवार १६४८ में ५०) रुपयों से उतनी वस्तुएँ नही खरीद सकता जितनी कि १६३६ में वह २५) रुपयों से खरीद सकता था। अतएव यदि कीमतों में १०० प्रतिशतसे अधिक वृद्धि हुई है तो द्रव्य की अधिक मात्रा व्यय करने पर भी परिवार को कुल तृप्ति पहले से कम ही प्राप्त होगी। इसी प्रकार यदि एक ही समुदाय के दो परिवारों में से एक गांव में ४०) रुपया प्रति मास और दूसरा नगर में ६०) रुपया प्रति मास व्यय करता है तो बिना नगर और गांव के मूल्य-स्तरों के अन्तरों को ध्यान में रक्खे हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि नगर वाले परिवार को तृप्ति अधिक मिलती है।

समाज के किसी वर्ग के रहन-सहन का स्तर पता लगाने के लिये उस वर्ग के कुछ प्रतिनिधि परिवारों के बजटों का संकलन आवश्यक है। जहां तक सम्भव हो सके प्रतिनिधि परिवारों का चुनाव दैव-निदर्शन (random sampling) पद्धति के अनुसार ही होना चाहिये। अन्वेषकों (investigators) को अपने द्वारा चुने गये परिवारों का विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये और ध्यान रखना चाहिये कि प्रत्येक व्यय का उल्लेख उचित रूप से किया जाय। भारतवर्ष में सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा की गई जाँच से स्पष्ट है कि जनता के बहुत बड़े भाग के रहन-सहन का स्तर बहुत नीचा है। करोड़ों की संख्या में लोग अनुपयुक्त मकानों में, अपर्याप्त कपड़ों में अर्द्ध भुखमरी की हालत में रहते हैं। उनके रहन-सहन के स्तर में उन्नति होना अत्यन्त आवश्यक है जिससे वे कम से कम न्यूनतम जीवन-रक्षक आवश्यकताओं की तो पूर्ति कर सकें। ध्यान रहे कि रहन-सहन में उन्नति 'सादे जीवन' के सिद्धान्त की विरोधी नहीं है। यदि द्रव्य बुद्धिमत्ता से व्यय किया जाय तो लोगों के प्रत्येक वर्ग के लिये रहन-सहन का उच्चतर स्तर सम्भव है। यदि नशीली वस्तुओं का उपभोग बढ़ता है और रहन-सहन के स्तर में उन्नति होती है तो उपभोक्ता की कार्य क्षमता अन्ततोगत्वा कम होगी। रहन-सहन के स्तर में इस प्रकार की वृद्धि वांछनीय नहीं है। रहन-सहन के ऊँचे स्तर से जीवन के मान में उन्नति होनी चाहिये अर्थात् वस्तुओं का अधिक मात्रा में

इस प्रकार उपभोग किया जाय कि कार्य क्षमता बढ़ सके। यह तभी सम्भव है जब कि कार्य क्षमता सम्बन्धी आवश्यकताओं पर व्यय का उचित नियोजन किया जाय। रहन-सहन के स्तर में वृद्धि तभी लाभप्रद होगी जब जीवन-रक्षक तथा निपुणतादायक आवश्यकताओं पर अधिक और रुढ़िगत तथा विलासिता की वस्तुओं पर कम द्रव्य व्यय किया जाय। समाज के प्रत्येक वर्ग के लिये रहन-सहन का ऊँचा स्तर वांछनीय है और हमारे रहन-सहन के स्तर को ऐसा होना चाहिये जो कि जीवन के मान को बढ़ा सके।

यह तो सभी मानते हैं कि भारतवर्ष की जनता के एक बहुत बड़े भाग का रहन-सहन का स्तर बहुत नीचा है और यदि हम चाहते हैं कि हमारे देश की आर्थिक उन्नति हो तो समाज के प्रत्येक वर्ग का, विशेष कर निर्धनतम वर्ग के रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना नितान्त आवश्यक है। इसके लिये देश में धन के उत्पादन में तेजी से वृद्धि करके लोगों की आय बढ़ानी होगी। कृषि-सुधार, कुटीर-उद्योगों के विकास तथा एक निश्चित योजना के अनुसार देश के उद्योगीकरण से दस वर्ष में उत्पादन दूना हो सकता है। परन्तु धन की वृद्धि का वितरण इस प्रकार से हो कि न्यूनतम आय वालों को बढ़े हुए धन का अधिकतम भाग मिले जिससे उन्हें अपने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने के अवसर प्राप्त हो सकें। साथ ही साथ सरकार को शिक्षा तथा उद्योगिक प्रशिक्षा की सुविधाएँ प्रदान करने का प्रयास करना चाहिए जिससे नवयुवकों की कार्यक्षमता में वृद्धि हो। यदि उपभोक्ता की धन उत्पादन करने की शक्ति स्थायी रूप से नहीं बढ़ती तो रहन-सहन के स्तर में भी स्थायी उन्नति न होगी। देशाटन और अनुकरण रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने के अन्य साधन हैं। सरकार को कम किरायों पर यात्रा की अधिक सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए। अन्त में उपभोक्ता को अपनी बढ़ी हुई आय को बुद्धिमानी से व्यय करना चाहिये। तब रहन-सहन के स्तर में हुई उन्नति जीवन के मान को भी बढ़ाएगी और लोग अधिक सन्तुष्ट और सुखी होंगे।

अध्याय १६

उत्पादन के साधन

मनुष्य की इच्छाएँ होती हैं और जब तक उन्हें तृप्त नहीं किया जाता वे उसे पीड़ा पहुँचाती हैं। किन्तु जब उनकी तृप्ति हो जाती है तो यह पीड़ा दूर हो जाती है और परिणामस्वरूप मनुष्य वह अनुभव करता है जिसे सामान्य भाषा में सुख कहते हैं। अतएव वह अपनी अधिक से अधिक इच्छाओं को सन्तुष्ट करने का प्रयास करता है। किन्तु जिन वस्तुओं अथवा सेवाओं की प्राप्ति उसकी इच्छाओं का ध्येय होता है उनको उत्पन्न अथवा प्राप्त करने का प्रयत्न किये बिना वह अपनी किसी भी इच्छा की तृप्ति नहीं कर सकता। अतः वस्तुओं की दुर्लभता के कारण ही उनके उत्पादन के लिये प्रयत्न किए जाते हैं। यदि इच्छाएँ न हों तो मानवीय प्रयत्न न हों, और परिणामस्वरूप उत्पादन भी न हो। इस प्रकार उत्पादन वस्तुओं और सेवाओं की उत्पत्ति के लिए किए गए मानवीय प्रयत्नों का परिणाम है। किन्तु इच्छाओं को तृप्त करने की आवश्यकता ही समस्त उत्पादन की प्रेरक शक्ति है।* अतः ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक मानवीय क्रिया का परिणाम उत्पादन और कारण उपभोग है।

हम जानते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य पदार्थ को नष्ट नहीं कर सकता उसी प्रकार वह पदार्थ का सृजन भी नहीं कर सकता। पदार्थ को अधिक उपयोगी बनाने के लिए मनुष्य केवल उसके रूप या स्थान में परिवर्तन कर सकता है। जब वह ईंटों का उत्पादन करता है तब वह अग्नि आदि की सहायता से मिट्टी का रूप-परिवर्तन करता है। इसी तरह जब वह ईंटों को भट्टों से वहाँ ले जाता है जहाँ कोई मकान बन रहा हो तब वह उन्हें ऐसे स्थान से जहाँ उनकी उपयोगिता कम है, दूसरे ऐसे स्थान पर ले जाकर जहाँ उनकी उपयोगिता अधिक है, उन्हें अधिक उपयोगी बना देता है। किसी वस्तु या सेवा की उपादेयता अथवा मानवीय इच्छाओं की पूर्ति करने की सामर्थ्य 'उपयोगिता' कहलाती है। इस प्रकार मानवीय प्रयत्न किसी वस्तु की उपयोगिता को उस वस्तु का रूप या स्थान आदि बदलकर, घटा बढ़ा ही सकते हैं। अतः अतिरिक्त उपयोगिता का सृजन ही उत्पादन है। *दूसरी ओर उपभोग में किसी वस्तु की उपयोगिता घटती है। रोटी का उत्पादन करने पर रोटीवाला अतिरिक्त उपयोगिता

*एक दृष्टिकोण से उत्पादन को स्वयं एक प्रयत्न न मान कर किसी प्रयत्न का फल माना जा सकता है। परन्तु इस भेद का अधिक सैद्धान्तिक या व्यावहारिक महत्व नहीं है। केवल यही ध्यान में रक्खा जाय कि हमारा तात्पर्य मानवीय प्रयत्नों के फलस्वरूप होने वाली उपयोगिता की वृद्धि से है। यदि कोई चिड़िया अपने बच्चे को खिलाने के लिए दाने इकट्ठे करती है तो वह अपने तथा अपने बच्चों के लिये अतिरिक्त उपयोगिता अवश्य उत्पन्न करती है किन्तु यह 'उत्पादन' नहीं है क्योंकि अर्थशास्त्र सिर्फ मानवीय क्रियाओं का अध्ययन करता है। किन्तु यदि वह पक्षी किसी मानव मस्तिष्क के निर्देशन तथा शिक्षण से किसी मानव आवश्यकता की तृप्ति के लिए दाने इकट्ठा करे तो यह उत्पादन होगा क्योंकि इस दृष्टान्त में अतिरिक्त उपयोगिता मानवीय प्रयत्नों से उत्पन्न होती है, यद्यपि पक्षी की सहायता उसमें है।

का सृजन करता है क्योंकि रोटी की उपयोगिता आटे तथा आग आदि की उपयोगिता से अधिक है। दूसरी ओर, जब कोई मनुष्य रोटी का उपभोग करता है तब वह उसकी उपयोगिता को घटाता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जब कोई व्यक्ति रोटी का उपभोग करता है तब क्या वह शक्ति का उत्पादन नहीं करता। अथवा जब वह कमीज़ का उत्पादन करता है तब क्या वह कपड़े का उपभोग नहीं करता पहले दृष्टान्त में शक्ति की उपयोगिता रोटी की उपयोगिता से अधिक है, दूसरे में कपड़े की उपयोगिता कमीज़ की उपयोगिता से कम है। अतः कोई क्रिया जो वृद्धिमान उपयोगिता उत्पन्न करती है उत्पादन है; ठीक इसी प्रकार उपभोग से ह्रासमान उपयोगिता प्राप्त होती है। एक ही क्रिया को उत्पादन तथा उपभोग—दोनों के दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। अथवा कहा जा सकता है कि प्रत्येक क्रिया के दो पक्ष होते हैं—उत्पादन पक्ष और उपभोग पक्ष। उपयोगिता की वृद्धि के दृष्टिकोण से देखने पर कोई क्रिया उत्पादन कहलाती है; उपयोगिता के ह्रास के दृष्टिकोण से देखने पर वही उपभोग कहलाएगी। जब हम रोटी खाने के कार्य को रोटी की उपयोगिता के ह्रास के दृष्टिकोण से देखते हैं तो उसे 'उपभोग क्रिया' कहते हैं किन्तु जब हम उसी कार्य को रोटी से अधिक उपयोगिता रखने वाली शक्ति की वृद्धि के दृष्टिकोण से देखते हैं तो हम उसे 'उत्पादन क्रिया' कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक मानवीय क्रिया का एक उत्पादन पक्ष होता है और साथ ही एक उपभोग पक्ष भी। किसी इच्छा की तृप्ति के दृष्टिकोण से देखे जाने पर—जैसे भूख मिटाने के लिए रोटी खाना —वह उपभोग है; और किसी लक्ष्य के साधन के रूप में देखे जाने पर—जैसे शक्ति उत्पन्न करने के लिए रोटी खाना —वह उत्पादन है। जो प्रत्यक्ष तृप्ति किसी क्रिया से मिलती है वह उसे एक उपभोग क्रिया बना देती है और जो परोक्ष तृप्ति उससे मिलती है वह उसे उत्पादन क्रिया बना देती है। उपभोग वर्तमान में होता है क्योंकि यहाँ हमारा सम्बन्ध प्रत्यक्ष तृप्ति से है जो उस क्रिया के साथ ही साथ होती जाती है; उत्पादन भविष्य से सम्बन्धित है क्योंकि उत्पादन से मिलने वाली परोक्ष तृप्ति भविष्य में स्थित किसी तृप्ति का प्रतिबिम्ब है।

उचित होगा कि यहाँ हम इस बात पर विचार करें कि क्या वास्तव में कोई क्रिया ऐसी भी है जो उपभोग कहला सके—जब कि उपभोग का तात्पर्य उपयोगिता के ह्रास से है। क्या प्रत्येक क्रिया उपयोगिता बढ़ाने के उद्देश्य से ही नहीं की जाती? अवश्य ही यह सच है क्योंकि कोई भी विचारशील मनुष्य किसी ऐसे कार्य को करने के लिए तैयार न होगा जिसका उद्देश्य उपयोगिता को घटाना हो। इस प्रकार वास्तव में सब क्रियाएँ उत्पादन क्रियाएँ हैं; उपभोग केवल वह प्रत्यक्ष तृप्ति है जो हम किसी क्रिया को करते हुए पाते हैं। प्रत्येक मनुष्य का चरम लक्ष्य अधिकतम आनन्द प्राप्त करना है अतः प्रत्येक क्रिया किसी न किसी लक्ष्य का साधन होती है—अर्थात् वृद्धिमान उपयोगिता के क्रम द्वारा परोक्ष तृप्ति देने का साधन। कोई व्यक्ति गेहूँ का उत्पादन आटे के उत्पादन के लिए करता है, आटे का रोटी के लिए, रोटी का शक्ति के लिए तथा शक्ति का उत्पादन आनन्द के लिए। अतः प्रत्येक क्रिया का लक्ष्य वृद्धिमान उपयोगिता उत्पन्न करना है और इसलिए प्रत्येक क्रिया उत्पादन क्रिया है। यद्यपि यह कहना सच है फिर भी उत्पादन और उपभोग के भेद को बनाए रखना आवश्यक है क्योंकि प्रत्येक क्रिया को उसके किसी इच्छा की प्रत्यक्ष पूर्ति करने वाले पक्ष पर दृष्टि रखकर भी देखा जा सकता है। फिर इच्छाओं की तृप्ति को महत्व देना भी ज़रूरी है। यदि तृप्ति के लिए इच्छाएँ न हों तो कोई क्रिया न हो, और न उत्पादन हो। यह ध्यान में रखना चाहिए कि मानवीय क्रियाएँ कभी समाप्त नहीं होतीं क्योंकि कोई मनुष्य अपनी सभी इच्छाओं की हमेशा के लिए

तृप्ति करने के लिए पर्याप्त उत्पादन नहीं कर पाता। मनुष्य की इच्छाएँ इतनी अधिक होती हैं कि वे सब उपलब्ध साधनों से तृप्त नहीं हो सकतीं। यदि साधनों को बढ़ाया जाता है तो इच्छाएँ उनसे भी अधिक वेग से बढ़ती हैं क्योंकि स्वयं साधनों के बढ़ने से ही नई इच्छाएँ पैदा होती हैं। फिर जिन इच्छाओं की एक बार तृप्ति कर दी जाती है वे पुनः प्रकट हो जाती हैं। यदि रोटी खाने से किसी व्यक्ति की खाने की इच्छा तृप्त हो जाती है तो इससे समस्या यहीं समाप्त नहीं हो जाती क्योंकि कुछ घंटों के बाद भूख फिर लगने लगती है। मानवीय क्रियाओं से कुछ इच्छाओं की तृप्ति हो जाती है लेकिन साथ ही कुछ नई इच्छाएँ भी पैदा हो जाती हैं जिनके लिए नई क्रियाओं की जरूरत होती है और यह क्रम एक अटूट शृंखला के रूप में चलता रहता है। दूसरी ओर हम साधनों की वृद्धि के लिए मानव के प्रयत्नों और उसकी निरंतर बढ़ती हुई इच्छाओं में एक सतत संघर्ष देखते हैं।* स्पष्ट है कि इस संघर्ष में यदि इच्छाओं को यत्नपूर्वक नियंत्रित और सीमित नहीं किया जाता तो वे सदैव साधनों का उल्लंघन करेंगी क्योंकि वे साधनों की अपेक्षा अधिक वेग से बढ़ती हैं। अतः जब तक मानव जाति की सत्ता है तब तक उत्पादन की प्रेरक शक्ति—मानवीय इच्छाओं को तृप्ति करने की आवश्यकता भी बनी रहेगी। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि जब तक मनुष्य जीवित है तब तक उन्हें उत्पादन क्रियाओं को करते रहना पड़ेगा। और यह प्रत्येक परिस्थिति में सच है क्योंकि यद्यपि इच्छाओं को बहुत नियंत्रित किया जा सकता है फिर भी उनका पूर्ण रूप से निराकरण नहीं हो सकता, चाहे ऐसा करना कितना भी श्रेयस्कर क्यों न हो।

उत्पादन के साधन—जो भी वस्तु उत्पादन में योग (त्याग) देती है वह उत्पादन का एक साधन कहलाती है। केवल अपनी सत्ता मात्र से ही कोई वस्तु उत्पादन का साधन नहीं बन जाती; वास्तव में उत्पादन में योग देने पर ही वह उत्पादन का एक साधन बनती है। यदि हम किसी कारखाने में जूतों के उत्पादन पर विचार करें तो इस कार्य में किसी कपड़े के मिल में रुई बुनने वाली मशीन या किसी कक्षा में भाषण देने में लगने वाला श्रम उत्पादन का साधन नहीं है, क्योंकि ये जूतों के उत्पादन में सहायता नहीं पहुँचाते। मोटे तौर पर उत्पादन के साधनों का दो शीर्शकों में वर्गीकरण किया जा सकता है—(अ) मानवीय परिश्रम और (आ) स्थूल वस्तुएँ जिनके अंतर्गत पशु और प्राकृतिक तत्व आ जाते हैं। उत्पादन की सहायता में मानवीय-परिश्रम जो शक्तियाँ प्रदान करता है उन्हें श्रम, संगठन और साहसोद्यम में उप-विभाजित किया जाता है। मानवीय परिश्रम के अतिरिक्त वे स्थूल वस्तुएँ या शक्तियाँ जो उत्पादन में सहायता करती हैं **पूंजी** कहलाती है।** कोई व्यक्ति जो इनमें से किसी उत्पादन के साधन की पूर्ति करता है उत्पत्ति-साधक कहलाता है। इस प्रकार श्रमिक, संगठनकर्ता, साहसोद्यमी और पूंजीपति उत्पादन के साधक हैं। इन साधकों की सेवाओं को उनके उत्पादन कार्य कहते हैं। श्रमिक का कार्य शारीरिक श्रम से उत्पादन में सहायता पहुँचाना

---

*प्रोफेसर जे० के० मेहता का मत है कि इस सतत संघर्ष का समाधान 'इच्छाहीनता' की स्थिति को प्राप्त कर लेना है। इस मत के सुन्दर प्रतिपादन के लिए देखिए उनकी 'एड-वान्स्ड् इकौनौमिक थ्योरी' अध्याय १।

**पूंजी के अंतर्गत खेतिहर भूमि भी आ जाती है। भूमि और पूंजी के पूरे वर्णन के लिए अगला अध्याय देखिये।

है, जब कि संगठनकर्ता का कार्य मानसिक परिश्रम (exertion) से सहायता करना है। साहसोद्यमी का कार्य जोखिम लेना है और पूंजीपति का प्रतीक्षा करना, अर्थात् वह उत्पादन में सहायता पहुँचाने वाली किसी वस्तु के उपभोग को स्थगित कर भविष्य में उसके उपभोग की प्रतीक्षा करता है।

मानवीय परिश्रम (exertion)—उत्पादन में जो सहायता मानवीय परिश्रम करता है उसका वर्गीकरण श्रम, संगठन और साहसोद्यम में किया जाता है। मार्शल का कथन है—"श्रम का तात्पर्य शरीर या मस्तिष्क से किए जाने वाले मानव के आर्थिक कार्य से है।"* स्पष्ट है कि मार्शल उत्पादन में सहायक प्रत्येक प्रकार के मानवीय परिश्रम को 'श्रम' के अंतर्गत मानते हैं। इस वर्गीकरण पर कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती किन्तु उत्पादन में सहायक मानवीय परिश्रम के प्रकारों का और अधिक विश्लेषण तथा उनसे सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करने के लिए इस मानवीय साधन के उप-विभाग करना आवश्यक है। दूसरे स्थान पर मार्शल 'श्रम' की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—"मानसिक अथवा शारीरिक कोई परिश्रम जो कार्य से प्रत्यक्ष मिलने वाले सुख के अतिरिक्त, अंशतः या पूर्णतः किसी लाभ के लिए किया जाता है।"** मार्शल का कार्य से मिलने वाले प्रत्यक्ष सुख को 'श्रम' से भिन्न मानना ठीक है क्योंकि यह **प्रत्यक्ष** सुख उपभोग है और इसलिए उत्पादन का साधन नहीं हो सकता। यह ध्यान में रखना चाहिए कि मार्शल 'शारीरिक और मानसिक परिश्रम' को श्रम मानते हैं। ऐसा करने पर संगठन और साहसोद्यम उत्पादन के भिन्न साधन नहीं रह जाते। यह अनुचित है क्योंकि स्वयं मार्शल ने शायद सबसे पहले श्रम को संगठन से भिन्न बताया था।

इसलिये हम श्रम की यह परिभाषा देंगे—'मनुष्यों का शारीरिक परिश्रम जो उत्पादन में सहायक होता है।' उनका मानसिक परिश्रम जो उत्पादन में सहायक हो, संगठन है। श्रमिक का कार्य उत्पादन की सहायता के लिए शारीरिक परिश्रम करना है। किन्तु उसका त्याग क्या है? किसी व्यक्ति का त्याग किसी ऐसी वस्तु के उपभोग को छोड़ देने में है जिसे वह चाहता हो। यदि कोई व्यक्ति संतरे खाना पसन्द करता है किन्तु उन्हें खाना बन्द कर देता है तो उसका त्याग उस सुख को छोड़ देने में है जो उसे संतरे खाने पर मिलता। इसी तरह जब कोई श्रमिक शारीरिक परिश्रम करता है तब वह शारीरिक विश्राम छोड़ देता है; यही उसका त्याग है। त्याग को केवल त्याग के लिए कोई नहीं चाहता। श्रमिक शारीरिक विश्राम का त्याग मजदूरी कहलाने वाले प्रतिफल के बदले में करता है। ऐसा भी हो सकता है कि कभी कोई व्यक्ति शारीरिक विश्राम की अपेक्षा शारीरिक परिश्रम ही को अधिक पसन्द करे। तब उसके परिश्रम को 'श्रम' नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ऐसी स्थिति में परिश्रम स्वयं सुखदायी हो जाता है। वास्तव में मानव स्वभाव आलस्य को उतना ही नापसन्द करता है जितना कार्य की अधिकता को। कोई भी हर समय बेकाम रहना पसन्द नहीं करता। यदि किसी व्यक्ति पर बेकारी लाद भी दी जाय तो सम्भवतः वह शीघ्र ही उसे उतना ही कष्टकर अनुभव करेगा जितना कि लगातार कार्य को। यहाँ तक कि एक श्रमिक आरम्भ में कुछ समय तक उन अत्यन्त अरुचिकर कार्यों को भी पसन्द करता है जो उसे किसी कारखाने

*प्रिन्सिपिल्स ऑफ इकौनौमिक्स ८वां संस्करण (१६३८) पृ० १३८।

**वही पृष्ठ ६५।

में करने होते हैं। यह बात काम से काफी समय तक अनुपस्थित रह चुकने वाले व्यक्ति के बारे में साफ देखी जा सकती है। वह कोई काम करने की एक आंतरिक प्रेरणा अनुभव करता है और लम्बी अनुपस्थिति के बाद काम आरम्भ कर पाने पर वह वास्तव में बहुत खुश होता है। यह सच है कि उस काल की अवधि, जिसमें कोई व्यक्ति अपने काम से सुख पाता है, प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न होती है और काम के प्रकार और वातावरण पर निर्भर रहती है। जो व्यक्ति स्वभाव ही से आलसी हो वह कार्य की थकावट का अनुभव उस व्यक्ति की अपेक्षा जल्दी करने लगेगा जो कि स्वभाव से फुर्तीला है। काम चाहे कष्टकर हो या रुचिकर, उसको करने वाला व्यक्ति प्रतिफल पाता है। पहले प्रकार के काम का प्रतिफल शारीरिक विश्राम के त्याग के लिए दिया जाता है; दूसरे प्रकार के काम का प्रतिफल किसी त्याग के लिए नहीं है; इसे निःशुल्क देन कहा जा सकता है। यह इसलिए कि श्रमिक कोई लागत नहीं लगाता और इसलिए कि वह कोई त्याग नहीं करता। काम कराने वाले को इससे कोई मतलब नहीं कि श्रमिक अपने काम से सुख पाता है अथवा नहीं। नियोक्ता रुचिकर और कष्टकर कार्यों में कोई भेद नहीं कर सकता। वास्तव में होता यह है कि जैसे-जैसे कोई व्यक्ति काम करता जाता है उसकी थकावट बढ़ती जाती है और फलस्वरूप कार्य अधिक कष्टकर होता जाता है। उसका त्याग वक्र कुछ-कुछ निम्नांकित जैसा होता है:—
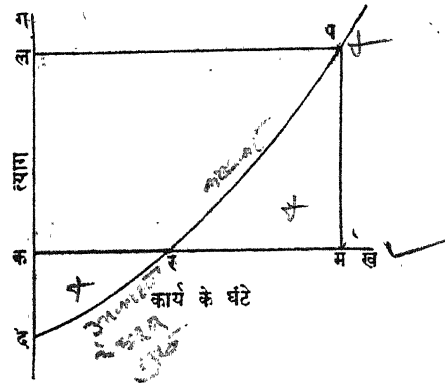
यदि **क ख** पर हम कार्य के घंटों को मापें और **क ग** पर किए गए त्याग को तब **द प** त्याग रेखा है। **क र** घंटों तक वह अपने कार्य से सुख पाता है। फलस्वरूप यहाँ तक वह नकारात्मक त्याग करता है। **र** बिन्दु के आगे कार्य कष्टकर होने लगता है और कष्ट बढ़ता जाता है। वह तब तक काम करता रहता है जब तक कि उसका सीमान्त त्याग प्रतिफल की दर के बराबर हो जाता है। अतः उसकी कुल कमाई है **क म प ल**—जो उसके प्रतिफल और कार्य से उसको मिलने वाले सुख **क द र** का योग है। इस कुल कमाई में त्याग या लागत है **प म र**। **क म** घंटे काम करने के लिए यह लागत उसे मिलनी ही चाहिए। बाकी **ल द प** लागत के ऊपर अतिरिक्त आय है। इस अतिरिक्त आय के मिलने का कारण यह है कि उसके पूरे

काम के लिये उसे वही प्रति फल दिया जाता है जो कि सबसे अधिक कष्टकर अंतिम घंटे के काम के लिए दिया जाता है।*

संगठन—किसी व्यक्ति का मानसिक परिश्रम जो कि उत्पादन में सहायक होता है संगठन कहलाता है। संगठनकर्ता का कार्य मानसिक परिश्रम करना है। स्पष्ट है कि मानसिक परिश्रम करने वाला मानसिक विश्राम का त्याग करता है किन्तु यदि उसे मानसिक प्रयत्न रुचिकर या सुखदायी हो तो वह कोई त्याग नहीं करता और जो प्रतिफल उसे मिलता है वह लागत के ऊपर अतिरिक्त आय होती है।**

जिस प्रकार श्रमिक को मजदूरी मिलती है उसी प्रकार संगठनकर्ता को वेतन मिलता है। यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि श्रम और संगठन की उपयुक्त परिभाषाओं के अनुसार प्रत्येक काम करने वाला श्रमिक भी होता है और संगठन कर्ता भी; क्योंकि प्रत्येक शारीरिक परिश्रम में मानसिक परिश्रम और प्रत्येक मानसिक परिश्रम में शारीरिक परिश्रम सन्निहित रहता है।*** शारीरिक परिश्रम के बिना मानसिक कार्य सम्भव नहीं। जब कोई व्यक्ति मानसिक कार्य करता है तब वह शारीरिक थकावट का भी अनुभव करता है। इसी तरह कोई भी शारीरिक परिश्रम, चाहे वह कितना भी कम हो, बिना थोड़े से मानसिक कार्य के सम्भव नहीं। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि किसी मेज को हटाने वाला या पत्थर उठाने वाला श्रमिक

*यदि काम की मांग ७ या ८ घंटे की इकाइयों में होतीं हो—जैसे किसी कारखाने में होती है—अथवा ५ या ६ घंटे रोज की मासिक या वार्षिक इकाइयों में —जैसे सरकारी नौकरी में—तो भी उपर्युक्त विश्लेषण ठीक घटेगा। ऐसी दशा में यह सम्भव है कि अन्तिम एक या दो घंटों का त्याग प्रतिफल के दर से अधिक हो अर्थात् वक्र निम्नांकित जैसा हो—
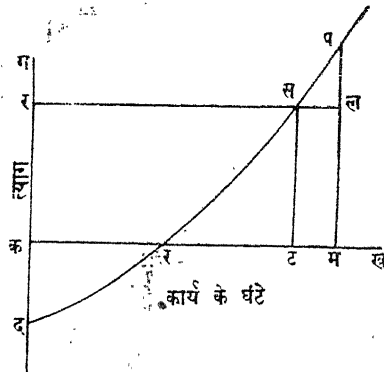
ल म प्रतिफल की दर है। इस स्थिति में श्रमिक **ट** के आगे काम करना पसन्द नहीं करेगा क्योंकि इसके बाद प्रतिफल **स ट** है किन्तु त्याग **स ट** से अधिक है। लेकिन काम की इकाई **क म** होने के कारण श्रमिक को **क म** घंटे काम करने या बिलकुल काम न करने में चुनाव करना है। ऐसी स्थिति में जबतक उसकी कमाई (**क म ल र**+**क द र**)—उसके त्याग (**प म र**) से अधिक है, वह विश्राम की अपेक्षा काम करना ही पसन्द करेगा।

**उपर्युक्त वर्णन यहाँ भी लागू है।

***और इस प्रकार हम देखते हैं कि एक व्यक्ति उत्पादन के कई साधन प्रदान कर सकता है। जिसे श्रमिक कहा जाता है वह पूंजीपति साहसोद्यमी और संगठनकर्ता भी हो सकता है।

केवल शारीरिक परिश्रम कर रहा है । किन्तु वास्तव में उसके कार्य को मानसिक निर्देशन की आवश्यकता रहती है। मानसिक निर्देशन के बिना किसी कार्य को लक्ष्य की ओर सुचारु रूप से प्रेरित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार कोई श्रमिक ईंटें उठाने के कार्य को तभी कर सकता है जब कार्य में लगने वाला शारीरिक श्रम मस्तिष्क द्वारा निर्देशित हो। अतः अपने विश्लेषण की सहायता से हम श्रमिक में संगठनकर्ता और संगठनकर्ता में श्रमिक को पा सकते हैं। इससे पता चलता है कि किसी कारखाने का तथा-कथित श्रमिक श्रम और संगठन दोनों का प्रदाता है, उसी प्रकार जैसे कि मैनेजर भी इन दोनो साधनों का प्रदाता है। अतः श्रमिक और मैनेजर दोनों मज़दूरी भी पाते हैं और वेतन भी। अन्तर केवल यही है कि कारखाने के तथा-कथित श्रमिक के कार्य में शारीरिक परिश्रम की मात्रा मानसिक श्रम से कहीं अधिक होती है ; जब कि मैनेजर के कार्य में शारीरिक श्रम की थोड़ी मात्रा के साथ मानसिक श्रम की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा मिली होती है। यदि दोनों के कार्य में घंटे समान हों तो भी प्रायः मैनेजर अधिक प्रतिफल पाता है क्योंकि मानसिक कार्य के प्रतिफल की दर अधिक होती है। कारण यह है कि शायद मानसिक कार्य अधिक थकाने वाला होता है या शिक्षा दीक्षा आदि में उसकी लागत अधिक होती है। श्रम और संगठन की कमाई में अन्तर बना रहता है क्योंकि मानसिक परिश्रम की माँग की अपेक्षा उसकी पूर्ति अधिक दुर्लभ है जब कि शारीरिक परिश्रम की पूर्ति उसकी माँग की अपेक्षा अधिक है। शारीरिक परिश्रम की कमाई को मानसिक परिश्रम की कमाई से अधिक करने के लिए शारीरिक परिश्रम की अपेक्षा मानसिक परिश्रम की पूर्ति को बढ़ाना आवश्यक है। इसके लिए शिक्षा को सार्वजनिक बनाना पड़ेगा जिससे कि मानसिक प्रयत्न की पूर्ति में वृद्धि हो सके। अतः यह बड़ी रोचक बात है कि शिक्षा के प्रसार का प्रभाव विभिन्न व्यक्तियों की कमाई की असमानताओं में कमी करने की ओर होता है।

उत्पादन में मानवीय साधन का उपर्युक्त विभाजन उसके कार्य के आधार पर किया गया है—यदि हम किसी व्यक्ति के मानसिक कार्य पर विचार करते हैं तो उसे संगठनकर्ता कहा जायगा। इसी तरह यदि उसके शारीरिक कार्य को ध्यान में रखें तो उसे श्रमिक कहेंगे। वर्तमान अर्थ-सिद्धान्त यह स्वीकार करता है कि ऐसा कोई व्यक्ति या उत्पादक नहीं है जो केवल मज़दूरी या केवल भाटक (rent) या केवल व्याज या वेतन पाता हो। यह मत कि कोई व्यक्ति एक श्रमिक या संगठनकर्ता मात्र है, अर्थ-सिद्धान्त की एक ऐतिहासिक गड़बड़ है। उत्पादन के साधनों का वह पुराना वर्गीकरण त्रुटि-एवं दोष-पूर्ण है जो मनुष्यों को अलग-अलग विभागों में बाँटता है। जब कोई दो मनुष्य शारीरिक और मानसिक दोनों श्रम करते हों तब हम कैसे कह सकते हैं कि एक श्रमिक है और दूसरा संगठनकर्ता ? उत्पादन में सहायक मानवीय परिश्रम का संपूर्ण रूप से श्रम या संगठन में वर्गीकरण करना अवैज्ञानिक विचार का सूचक है। दुख का विषय है कि अर्थशास्त्र की अधिकतर पुस्तकें अभी तक इस पुराने और बेकार वर्गीकरण को अपनाती हैं। जब एक व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दोनों परिश्रम करता हो तब किस आधार पर उसे केवल श्रमिक या केवल संगठनकर्ता कहा जा सकता है ? यदि यह वर्गीकरण कुल परिश्रम में मानसिक या शारीरिक परिश्रम के अनुपात के अनुसार किया जाए तो यह जानना आवश्यक है कि 'संगठन' या 'श्रम' कहलाने के लिए किसी प्रयत्न में मानसिक या शारीरिक परिश्रम का कुल परिश्रम के प्रति क्या अनुपात होना चाहिए। यदि उत्तर में कहा जाय ३० प्रतिशत तो प्रश्न उठता है कि ३० प्रतिशत ही क्यों ३५ या

४० या ७० या ६० या ६५ प्रतिशत क्यों नहीं ? क्लॉसिकल अर्थशास्त्री उस व्यक्ति के महत्व से अवगत थे जो उत्पादन के साधनों को आवश्यकतानुरूप अनुपात में इकट्ठा करता है। इस सम्बन्धीकरण के कार्य के लिये इतनी चतुरता और ज्ञान की आवश्यकता है और यह इतना आवश्यक और महत्वपूर्ण है कि इसके बिना कोई उत्पादन प्रयत्न सम्भव नहीं। इस कार्य को करने वाला मनुष्य उत्पादन की संचालक शक्ति है। उसके महत्व को ध्यान में रखकर उन अर्थशास्त्रियों ने उसके कार्य को एक भिन्न उत्पादन के साधन—संगठन* का पद दे दिया था। उन्होंने यह बात ध्यान में नहीं रक्खी कि ऐसे व्यक्ति को भी शारीरिक परिश्रम करना पड़ता है और वह उत्पादन में होने वाले जोखिम या अनिश्चितता का भी वहन करता है।

साहसोद्यम—उत्पादन का प्रसार सदैव भविष्य में होता है और माँग का अनुमान लगा कर ही किया जाता है। उत्पादक माँग का यथासम्भव सही अनुमान लगाता है और फिर उसके आधार पर वह उत्पादन की योजना बनाता है। किन्तु जब आयोजित सेवा या वस्तु का उत्पादन हो चुकता है तब तक हो सकता है कि माँग में परिवर्तन हो गया हो। रुचि, फैशन या उपभोक्ताओं की आय जैसे कई कारणों से माँग घट या बढ़ सकती है। यदि माँग घट जाय तो हो सकता है कि उस सेवा या वस्तु को उसके उत्पादन की लागत से कम मूल्य पर बेचना पड़े और इस प्रकार उत्पादक को अप्रत्याशित हानि हो। किन्तु जब यथार्थ माँग अनुमानित माँग से अधिक निकलती है तब उत्पादक को अप्रत्याशित लाभ हो सकता है। यद्यपि उत्पादक माँग का सही अनुमान लगाने का भरसक प्रयत्न करता है मगर फिर भी यह सम्भव है कि उसके अनुमान गलत निकलें। इसके ये कारण हो सकते हैं—उत्पादनकर्ता में पर्याप्त पूर्वदृष्टि का या बाजार की स्थिति के ज्ञान का अभाव अथवा कुछ ऐसी शक्तियों के कारण माँग में वृद्धि या ह्रास जिन्हें पहले से जान लेना सम्भव नहीं। यह भी हो सकता है कि उत्पादक के अनुमान सही निकलें किन्तु फिर भी यह अनिश्चितता उसके मस्तिष्क में बराबर रहती है कि उसके अनुमान गलत निकल सकते हैं और अप्रत्याशित हानि हो सकती है। इसी कारण से उत्पादन में जोखिम रहती है और इस जोखिम उठाने के कार्य के लिए किसीको प्रस्तुत होना चाहिए। यदि उत्पादक का यह विचार हो कि उसने भावी माँग का सही अनुमान लगा लिया है तो भी अन्य प्रकार के जोखिम रह ही जाते हैं। हो सकता है कि त्रुटिपूर्ण आयोजना या अप्रत्याशित घट-नाओं के कारण उत्पादन के फलों को प्राप्त न किया जा सके। कुआँ खोदते हुए बीच में कोई अभेद्य चट्टान आ सकती है या पानी अस्वास्थ्यकर हो सकता है या हो सकता है कि कुछ समय बाद कुआँ सूख जाय। इसी तरह यह भी हो सकता है कि किसी लेखक की पांडुलिपि उस समय खो जाय जब कि वह उसे प्रेस भेजने वाला हो, या वह प्रेस ही में चोरी हो जाय या जल जाय।

अतः उत्पादन में हमेशा कुछ जोखिम रहता है। इस जोखिम के कारण होने वाली हानि को वहन करने के लिये कोई होना चाहिये। जो व्यक्ति यह कार्य करता है वह साहसोद्यमी

---

*उस व्यक्ति के लिए जो उत्पादन के विभिन्न साधनों को आवश्यक अनुपात में इकट्ठा करता है और जो उत्पादन का प्रमुख निर्देशक होता है, संगठनकर्ता शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु सही वैज्ञानिक विश्लेषण और स्पष्टता के लिए उपर्युक्त भेद करना आवश्यक है।

कहलाता है। इस कार्य के कारण उसकी निश्चितता की भावना, जिसे हर कोई पसन्द करता है, समाप्त हो जाती है और यही उसका त्याग है। यदि किसी विशेष उत्पादन कार्य से लाभ होना निश्चित हो तो भी उसके पीछे अनिश्चितता की भावना अवश्य रहती है। उत्पादन के अन्य साधक अपने प्रतिफल के बारे में निश्चित होते हैं, साहसोद्यमी इस प्रकार निश्चित नहीं होता। यद्यपि इसका केन्द्र मस्तिष्क ही है और इसका आधार उत्पादन के जोखिमों को वहन करने की भावना है फिर भी मानसिक परिश्रम के साधारण अर्थों में साहसोद्यम मानसिक परिश्रम नहीं है। साहसोद्यम उत्पादन का एक अनिवार्य साधन है क्योंकि उत्पादन आरम्भ होने से पहले यह आवश्यक है कि कोई जोखिम उठाने को प्रस्तुत हो। अनिश्चितता या जोखिम की भावना किसी को भी प्रिय नहीं होती। *आय के निश्चित रहने पर जो शान्ति मस्तिष्क में रहती है और जो सबको प्रिय है साहसोद्यमी उसका त्याग करता है। क्योंकि समस्त जोखिम वह ही उठाता है इसलिए उत्पादन के अन्य साधनों को उनकी बँधी हुई आय का मिलना निश्चित रहता है। तो इस प्रकार साहसोद्यमी उत्पादन में सहायता करता है. इसके लिए उसे प्रतिफल मिलता है।

साहसोद्यमी को मिलने वाला प्रतिफल सदैव धनात्मक होता है और यह उत्पादन की लागत का एक भाग होता है। इसे 'लाभ' कहते हैं। किन्तु उत्पादन में जोखिम भी होते हैं इसलिए अप्रत्याशित हानियाँ और लाभ भी हो सकते हैं। इन्हें 'आकस्मिक हानि-लाभ' (windfalls) कहना अधिक उपयुक्त होगा। ये धनात्मक भी हो सकते हैं, ऋणात्मक भी। यह सहसोद्यमी को ही मिलते हैं क्योंकि वह ही जोखिम उठाता है; यह जरूरी नहीं है कि पूंजीपति या उत्पादन के साधनों को आवश्यक अनुपात में इकट्ठा करने वाला और उत्पादन को निर्देशित करने वाला व्यक्ति ही ये जोखिम उठाए। साहसोद्यम को उत्पादन के किसी अन्य साधन के साथ सम्बन्धित करके देखना युक्तिसंगत न होगा। उत्पादन का यह साधन अन्य साधनों से सर्वथा भिन्न और अलग है।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि स्थैतिक (static) दशाओं* में जोखिम नहीं होते क्योंकि भविष्य निश्चित होता है और बदलता नहीं। परिणामस्वरूप जोखिम उठाने के लिए किसी की आवश्यकता नहीं होती। उत्पादन का फल निश्चित होता है और भावी माँग पूर्ण रूप से ज्ञात होती है। अतः हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि उत्पादन के एक साधन के रूप में साहसोद्यम केवल प्रवैगिक (dynamic) दशाओं में ही रहता है। स्थैतिक दशाओं में, जो केवल एक सैद्धान्तिक कल्पना है, उत्पादन में सहायता करने वाले केवल दो मानवीय साधन होते हैं —श्रम और संगठन।

---

*किन्तु कोई व्यक्ति निर्भीक और साहसप्रिय स्वभाव का हो सकता है। सम्भव है कि ऐसे व्यक्ति को किसी प्रकार का कुछ जोखिम उठाना प्रिय हो। ऐसी स्थिति में उसका त्याग कुछ भी न होगा और उसका प्रतिफल अतिरिक्त आय के रूप में होगा। तुलना कीजिए पृष्ठ ८१-८२।

**स्थैतिक और प्रवैगिक दशाओं के लिए देखिए—प्रो० मेहता 'एडवांस्ड इकौनौमिक थेरी' अध्याय ६।

पूंजी—जब प्राकृतिक शक्तियाँ और मशीन* पशु आदि वस्तुएँ उत्पादन में सहायता पहुँचाती हैं तब उनका वर्गीकरण बहुधा पूंजी या भूमि में किया जाता है। जिसे साधारणतया धन कहाँ जाता है वह भी इसके अंतर्गत आ जाता है किन्तु तभी जब वह उत्पादन में सहायता करता हो। पूंजी मनुष्य से पृथक वस्तु है। वह उत्पादन का एक अमानवीय साधन है अतः वह किसी न किसी के अधिकार में रहती है। पूंजी का स्वामी पूंजीपति कहलाता है। जब पूंजीपति उत्पादन के लिए पूंजी देता है तब वह पूंजी के वर्तमान उपभोग से विमुख होता है। वह अपने धन का या तो उपभोग ही कर सकता है या बचत कर सकता है। जब वह बचत करता है तब वह उसके वर्तमान उपभोग का त्याग करता है और भविष्य में उसके उपभोग की प्रतीक्षा करता है। अतः उत्पादन में पूंजीपति का कार्य प्रतीक्षा करना है। जब कोई किसी वस्तु का उपभोग नहीं करता तब वह उसकी बचत करता है। अतः पूंजी बचत का फल है। वर्तमान उपभोग से विमुख होना ही पूंजीपति का त्याग है। प्रत्येक व्यक्ति को वर्तमान तृप्ति समान तीव्रता वाली भावी तृप्ति से अधिक रुचिकर होती है। व्याज के कारण किसी व्यक्ति के लिए भावी तृप्ति वर्तमान तृप्ति से अधिक रुचिकर हो सकती है। इस प्रकार भावी फल पर दृष्टि रखकर ही बचत की जाती है। प्रतीक्षा करने का कारण यह होता है कि प्रतीक्षा से प्रतिफल मिलता है। बचत करने के बाद ही कोई वस्तु पूंजी का रूप ले सकती है। अतः त्याग के फलस्वरूप ही पूंजी का संचय होता है।

सब साधन अनिवार्य हैं—ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्पादन पूंजी तथा क्लॉसिकल अर्थशास्त्रियों की 'भूमि' पर केन्द्रित मानवीय परिश्रम का फल है। किसी भी उत्पादन क्रिया के लिए मानवीय श्रम अनिवार्य है और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रत्येक प्रयत्न के लिए शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के परिश्रम आवश्यक हैं। वास्तविक संसार की प्रवैगिक दशाओं में साहसोद्यम उत्पादन का एक अनिवार्य साधन है। इस प्रकार किसी भी उत्पादन कार्य के लिए श्रम, संगठन और साहसोद्यम सदैव अनिवार्य है। इन सब मानवीय साधनों का प्रयोग किए बिना किसी भी वस्तु का उत्पादन करना असम्भव है। किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या केवल मानवीय परिश्रम ही किसी वस्तु या सेवा का उत्पादन कर सकता है। यह स्पष्ट है कि भौतिक धन अथवा वस्तुओं या सेवाओं के उत्पादन के लिए मानवीय परिश्रम का प्रयोग किसी स्थल पर—जिसके अंतर्गत प्राकृतिक शक्तियाँ भी आ जाती हैं—होना चाहिये। यहाँ तक कि गीत आदि के उत्पादन में भी गायक को वायु और स्थान आदि की आवश्यकता होती है। मनुष्य से पृथक वस्तुएँ और शक्तियाँ जो उत्पादन में सहायता करती हैं पूंजी कहलाती हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि उत्पादन के लिए उत्पादन के सभी साधन—श्रम, संगठन, साहसोद्यम अनिवार्य हैं इन सब के सहयोग के बिना उत्पादन सम्भव नहीं। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक साधन एक भिन्न व्यक्ति द्वारा दिया जाय। वास्तव में उपर्युक्त विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि ऐसा होना सम्भव ही नहीं है। जिस धन का उत्पादन होता है उसे भिन्न भिन्न व्यक्तियों में नहीं वल्कि उत्पादन के सब साधनों में बाँट दिया जाता है। कोई भी व्यक्ति उत्पादन के लिए एक से अधिक साधन प्रदान करता है, अर्थात् वह कई कार्य करता है। यदि हम यह जानना चाहें कि किसी उत्पादन कार्य में सहयोग देने से किसी व्यक्ति

---

*अभी हम क्लॉसिकल अर्थशास्त्रियों द्वारा वर्णित पूंजी और भूमि दोनों ही को पूंजी के अंतर्गत रख रहे हैं। उनके भेद को १७वें अध्याय में समझाया गया है।

की क्या कमाई होती है तो हमें उसको उसके विभिन्न कार्यो से मिलनेवाले प्रतिफलों को जोड़ना होगा।

साधनों की विशेषताएँ—शारीरिक कार्य* की यह विशेषता है कि उसे करने वाले या दूसरे शब्दों में उसका विक्रय करने वाले को स्वयं उस स्थान पर पहुँचना होता है जहां उत्पादन के लिए उसके कार्य की आवश्यकता है। इस साधन को साधन प्रदान करने वाले व्यक्ति से अलग नहीं किया जा सकता। बौद्धिक कार्य** साहसोद्यम या पूंजी में यह विशेषता नहीं है। यह सच है कि शारीरिक कार्य की भांति बौद्धिक कार्य तथा साहसोद्यम भी इन्हें प्रदान करने वाले व्यक्तियों के साथ काफी हद तक मिले हुए हैं किन्तु फिर भी इन्हें इनके विक्रेताओं से अलग किया जा सकता है। कार्य के स्थान पर इन साधनों को प्रदान करने वालों के जाने बिना ही उत्पादन में इन साधनों का सहयोग दिया जा सकता है। कलकत्ता का कोई प्रकाशन गृह यदि कोई पुस्तक प्रकाशित करना चाहे तो वह किसी इलाहाबाद में रहने वाले लेखक से पुस्तक लिखवा सकता है। कानपुर मे कोई मकान बनाने की योजना बम्बई में रहने वाले किसी इंजीनियर से बनवाई जा सकती है। इसी प्रकार टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी लिमिटेड द्वारा इस्पात का उत्पादन तो जमशेदपुर में होता है किन्तु जोखिम उठाते हैं हिस्सेदार जो कि देश के विभिन्न भागों में फैले हैं। टाटा कम्पनी में होने वाले इस्पात के उत्पादन का जोखिम उठाने के लिए हिस्सेदारों का जमशेदपुर में होना आवश्यक नहीं। यही पूंजी के विषय में भी सच है। जहाँ उत्पादक की सहायता के लिए पूंजी की आवश्यकता हो उस स्थान पर पूंजी पहुँचाने के लिए स्वयं पूंजीपति का जाना आवश्यक नहीं। किसी मशीन का स्वामी या द्रव्य देने वाला उस स्थान से जहाँ इनकी आवश्यकता हो हजारों मील दूर रह सकता है।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि शारीरिक परिश्रम या तथा-कथित श्रम नाशवान है जब कि उत्पादन के अन्य साधन नाशवान नहीं है। यदि कोई श्रमिक अपने कार्य का विक्रय नहीं करता या बेकार रहता है तो जो समय नष्ट होता है वह सदैव के लिए नष्ट होता है, यद्यपि इस प्रकार मिलने वाले विश्राम से अपनी शक्तियों का संचय कर वह अपनी कार्य क्षमता तथा अपनी भावी कमाई में वृद्धि कर सकता है। यह बात उत्पादन के प्रत्येक साधन के विषय में सच है। मानसिक विश्राम या बौद्धिक बेकारी के कारण नष्ट समय को भी पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता, यद्यपि कुछ परिस्थितियों में इसके कारण आगे और भी अच्छा काम किया जा सकता है। यदि उत्पादन का जोखिम उठाने वाला व्यक्ति कुछ समय तक बेकार रहे अर्थात् कोई जोखिम न ले तो उसे भी प्रतिफल की हानि होती है यद्यपि यह भी सम्भव है कि इस विश्राम के कारण उसकी जोखिम उठाने की क्षमता में वृद्धि हो जाय। यदि किसी मशीन को बेकार रहने दिया जाता है और इस कारण वह पूंजी का स्वरूप नहीं लेती (उत्पादन में सहायता करने पर ही वह पूंजी कहलाएगी) तो इस काल में उसको भी प्रतिफल की हानि होती है। यद्यपि इस बेकारी के काल में मशीन में टूट फूट नहीं होती फिर भी प्रतिफल की हानि इस

---

*उत्पादन में सहायक शारीरिक कार्य में बहुधा शारीरिक परिश्रम (श्रम) तथा उसके साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ थोड़ा मानसिक परिश्रम (संगठन) रहता है।

**उत्पादन में सहायक बौद्धिक कार्य बहुधा मानसिक परिश्रम (या संगठन) के रूप में होता है यद्यपि थोड़ा शारीरिक परिश्रम भी उसके साथ होता है।

फायदे से कहीं अधिक होती है। किन्तु भौतिक वस्तुओं और मनुष्यों में एक अन्तर है। मनुष्य का जीवन परिमित होता है। यदि वह बेकार रहे तो बेकारी के दिनों या वर्षों की सदैव के लिए हानि हो जाती है किन्तु यदि एक मशीन बेकार रहे तो उसका बाद में उपयोग किया जा सकता है। मशीन का केवल कार्य-जीवन परिमित होता है जब कि मानव का सम्पूर्ण जीवन ही परिमित होता है।

उत्पादन के इन साधनों की माँग की पूर्ति किसी भी समय वर्तमान भौतिक या मानवीय साधनों का उपयोग करके की जा सकती है। एक प्रकार के उत्पादन में लगे किसी साधन की पूर्ति को उस साधन की बेकार इकाइयों का उपयोग करके, दूसरे प्रकारों के उत्पादन से उसका स्थानांतर करके, अन्य प्रदेशों से उसका आयात करके या फिर उससे अधिक समय तक काम लेकर बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार यदि किसी एक प्रकार के उत्पादन में, जैसे सूती कपड़े के उत्पादन में, अधिक यंत्रादि की आवश्यकता होती है तब अन्य उद्योगों से पूँजी को इस उद्योग की ओर प्रवृत्त करके, या अब तक जो धन कार्यहीन रहा हो उसे काम में लाकर, या प्रयुक्त यंत्रों से प्रति दिन अधिक समय तक काम लेकर इस अतिरिक्त माँग की पूर्ति की जा सकती है। गत विश्वयुद्ध काल में तथा उसके बाद बिलकुल यही करना पड़ा था। श्रमिकों के काम के घंटों को बढ़ाकर, या दूसरे उद्योगों से श्रमिकों को आकर्षित करके, या बेरोज़गार मनुष्यों को काम देकर, या अवकाश कम करके किसी एक उद्योग में श्रमिकों की पूर्ति में वृद्धि की जा सकती है। इसके अतिरिक्त पूर्ण-अवकाश (retirement) लेने की आयु को बढ़ाकर या काम शुरू करने की आयु को कम करके या किसी परिवार के अधिक सदस्यों को काम देकर भी पूर्ति में वृद्धि की जा सकती है। किन्तु विशेष निपुण कार्यों के लिए श्रमिकों का एक उद्योग से दूसरे में स्थानांतर करने में या नए श्रमिकों को कार्य देने में काफी समय लग सकता है, क्योंकि विशिष्ट कार्यों के लिए श्रमिकों को विशेष शिक्षा देनी पड़ती है।

कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि किन्हीं दो उत्पादन के साधनों का अन्तर इस पर निर्भर होना चाहिए कि उन्हें कहाँ तक एक दूसरे के लिए प्रतिस्थापित किया जा सकता है। उत्पादन का एक साधन किसी दूसरे के लिए प्रतिस्थापित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि एक मशीन (पूँजी) को श्रमिकों (श्रम) के लिए प्रतिस्थापित किया जा सकता है तो मूलतः उन दोनों को एक ही साधन मानना चाहिए, क्योंकि किसी एक साधन की माँग तथा पूर्ति की दशाएँ दोनों साधनों को लगभग समान रूप से प्रभावित करती हैं। अवश्य ही साधनों के इस प्रकार के वर्गीकरण में सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से बहुत लाभ है। फिर भी इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि किसी हद तक उत्पादन के सब साधनों को एक दूसरे के लिए प्रतिस्थापित किया जा सकता है। मानसिक परिश्रम के उपयोग को बढ़ाकर और इस प्रकार भविष्य का अधिक ठीक अनुमान करके तथा अज्ञान-जन्य जोखिमों को न्यूनतम करके उत्पादन में निहित जोखिमों को कम कर लेना सम्भव है। इसी प्रकार स्वयं चालित मशीनों के उपयोग से निरीक्षण कार्य कम हो जाता है और परिणामस्वरूप मानवीय परिश्रम (संगठन और श्रम) में बचत होती है। अतः हम देखते हैं कि किसी हद तक उत्पादन में सभी साधन इस अर्थ में समान हैं कि प्रत्येक साधन दूसरे के लिए प्रतिस्थापित किया जा सकता है।

क्या उत्पादन के साधन अनुत्पादक हो सकते हैं?—अर्थशास्त्र की पुस्तकों में बहुधा यह कहा जाता है कि यदि श्रम (शारीरिक परिश्रम के अर्थ में) अपने इच्छित फल को

प्राप्त नहीं कर पाता तो वह अनुत्पादक है। यदि कोई मनुष्य एक कुआँ खोदे परन्तु बीच में एक अभेद्य चट्टान आ जाय और इस कारण उसे खोदना बन्द करना पड़े तो उसके श्रम को इस कारण अनुत्पादक माना जाता है कि उससे किसी उपयोगिता की उत्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार यदि घटनावश एक लगभग पूर्ण चित्र पर रँगों का पात्र ढुलक पड़े तो उसकी सुन्दरता नष्ट हो जायगी। दोनों ही दशाओं में लगने वाले श्रम को अनुत्पादक कहा जाता है। किन्तु इस मत का सतर्कता से विश्लेषण करना आवश्यक है। अर्थ-सिद्धान्त में इस मत का—कि श्रम अनुत्पादक भी हो सकता है —बड़ा रोचक इतिहास रहा है। वाणिज्यावादी (Mercantilists) विचारक किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा मूल्यवान धातुओं को ही सच्चा धन मानते थे। परिणामस्वरूप वे केवल उसी श्रम को उत्पादक मानते थे जो उन वस्तुओं का उत्पादन करता हो जिनका निर्यात हो सके और जिनके विनिमय से सोना और चाँदी प्राप्त हो सके। कृषिवादी विचारक (Physiocrats) केवल कृषि सम्बन्धी श्रम को ही उत्पादक मानते थे क्योंकि उनके मतानुसार केवल कृषक ही वास्तविक अतिरेक (Surplus) उत्पन्न करता है—एक बीज बोकर वह अन्न के अनेक दाने उत्पन्न करता है। एडम स्मिथ के विचार कृषिवादियों से अधिक उन्नत है किन्तु उनका भी यही मत रहा कि किसी अन्य प्रकार से उत्पादन में सहायता देने वाले श्रम की अपेक्षा कृषि सम्बन्धी श्रम अधिक उत्पादक होता है। उनके अनुगामियों ने इस भेद को तो स्वीकार नहीं किया किन्तु सामान्यतः उनका यह मत रहा कि वही श्रम उत्पादक है जो (भौतिक) धन में वृद्धि करे। यहाँ तक कि मार्शल भी इस क्लॉसिकल परिपाटी से मुक्त न हो सके और उनके मतानुसार "उस श्रम को छोड़कर जो अपने निर्देशित लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता और इस प्रकार जो उपयोगिता की उत्पत्ति नहीं करता शेष सभी श्रम को उत्पादक मानना उचित होगा।"*

उत्पादन के साधनों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रम (केवल शारीरिक परिश्रम के अर्थ में) कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकता; धन या उपयोगिता के उत्पादन के लिए उसे उत्पादन के अन्य साधनों की सहायता लेनी पड़ती है। अतः जब वे अर्थशास्त्री कहते हैं कि 'कभी-कभी श्रम अनुत्पादक भी होता है', तब इसका वास्तविक अर्थ यह होगा कि 'कभी-कभी उत्पादन के साधन अनुत्पादक भी हो सकते हैं'। यह कथन निरर्थक है और उतना ही हास्यास्पद है जितना यह कहना कि 'रात-दिन है' या 'सत्य-असत्य है'। कोई वस्तु उत्पादन का साधन तभी हो सकती है जब वह उत्पादन में सहायता दे अर्थात् जब वह अतिरिक्त उपयोगिता के सृजन में सहायक हो। इसलिए उत्पादन के सब साधन, अतः श्रम भी, सदैव उत्पादक होते हैं। 'अनुत्पादक श्रम' या 'उत्पादन के अनुत्पादक साधन' आदि शब्दों में पारस्परिक विरोध है जो कि अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को ग्राह्य नहीं हो सकता। जब उत्पादन के साधन इच्छित फल प्राप्त नहीं कर पाते तब होता यह है कि आकस्मिक या अप्रत्याशित लाभ ऋणात्मक हो जाता है अर्थात् अप्रत्याशित हानि होती है। यह कोई असाधारण बात नहीं है। हम जानते हैं कि उत्पादन सदैव भविष्य में प्रसारित रहता है। भविष्य सदैव अनिश्चित होता है। अतः उत्पादन में सदैव जोखिम निहित है। साहसोद्यमी का काम इस जोखिम का वहन करना है और इसके लिए जो प्रतिफल उसे मिलता है वह लाभ कहलाता है। और यदि आकस्मिक अतिरेक हो तो वह भी साहसोद्यमी

*देखिए उनकी पुस्तक पृष्ठ ६५।

को मिलता है ; साथ ही उसे आकस्मिक हानि भी उठानी पड़ती है। यदि कोई व्यक्ति कुआँ खोदता है तो निश्चय ही वह यह नहीं जानता कि बीच में एक अभेद्य चट्टान आ जायगी अन्यथा वह स्थान पर कुआँ खोदेगा ही नहीं। इसी प्रकार जब कोई चित्रकार चित्र बनाता है तब उसे यह पता नहीं रहता कि घटनावश वह उससे खराब हो जायगा। इन दोनों दृष्टान्तों में उत्पादक कुछ जोखिम अवश्य उठाता है या कम से कम कुछ न कुछ भय अवश्य रहता है कि प्रयत्नों के पूर्ण होने पर कहीं उनका फल प्रत्याशित फल से भिन्न न हो जाए। जब अंतिम फल प्रतिकूल हो तब श्रम, संगठन, साहसोद्यम और पूंजी का योग देने वाले व्यक्तियों का प्रतिफल तो धनात्मक होता है किन्तु आकस्मिक बचत ऋणात्मक हो जाती है। यह विश्लेषण एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। मान लीजिए कि एक ज़मींदार कुआँ खुदवाने के लिए मजदूर लगाता है। मान लीजिए कि उत्पादन के लिए आवश्यक औजार तथा अन्य पूंजी ज़मींदार स्वयं देता है और उत्पादन का जोखिम भी वह स्वयं उठाता है। मान लीजिए कुएँ की लागत निम्नानुसार ५०० रु० है—

१—पूंजी पर सूद	५० रु०
२—श्रमिकों को भुगतान (अधिकतर श्रम और अंशतः संगठन के लिए)	३५० रु०
३—ज़मींदार के आयोजन और निरीक्षण का प्रतिफल (अधिकतर संगठन, अंशतः श्रम के लिए)	५० रु०
४—जोखिम उठाने का प्रतिफल	५० रु०
कुल लागत	५०० रु०

ज़मींदार कुआँ खुदवाना तभी आरम्भ करेगा जब कि यह निश्चित हो कि तैयार होने पर कुआँ कम से कम ५०० रु० की कीमत का होगा। किन्तु यदि जब कुआँ लगभग तैयार हो तभी बीच में एक अभेद्य चट्टान आ जाय तो, मान लीजिए, कुएँ का मूल्य शून्य हो जाता है। ऐसी दशा में ज़मींदार श्रमिकों से यह नहीं कह सकता कि तुम लोग अपनी मजदूरी वापस करो क्योंकि कुआँ बेकार है। हानि ज़मींदार ही को उठानी पड़ेगी क्योंकि जोखिम उसी ने उठाया है और इसके लिए उसे ५० रु० दिए गए हैं। यदि उसने किसी बीमा कम्पनी से इस जोखिम का बीमा करा लिया होता और कम्पनी को जोखिम लेने के लिए ५० रु० दिये होते तो आकस्मिक हानि बीमा कम्पनी को होती। विपरीत दशा में यदि कुएँ का पानी आशा से अधिक स्वास्थ्य कर हो या ५० फीट की गहराई पर ही यथेष्ट पानी मिल जाय और पूर्व-अनुमानित गहराई तक खोदने की आवश्यकता न पड़े तो अप्रत्याशित अतिरेक मिलेगा जो जोखिम उठाने वाले ज़मींदार को ही मिलेगा, श्रमिकों को नहीं। अंतः हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि उत्पादन के सब साधनों का प्रतिफल सदैव धनात्मक है क्योंकि वे सदैव उत्पादक होते हैं। अप्रत्याशित बचत ही, जो कि आकस्मिक होती है, ऋणात्मक या धनात्मक हो सकती है और यह केवल साहसोद्यमी को ही मिलती है। किन्तु ध्यान रहे कि यह उसकी उत्पादकता का प्रतिफल नहीं है।

अध्याय १७

भूमि और पूंजी

आज भी अर्थशास्त्री 'भूमि' शब्द का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में करते हैं। लेकिन किसी विज्ञान में भूमि जैसी आधारभूत धारणा का विभिन्न अर्थों में प्रयोग नहीं होना चाहिए। किसी विज्ञान में प्रयोग किए जाने वाले पारिभाषिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट और सम्यक् होना चाहिए क्योंकि ऐसा न होने पर विचारधारा में बहुत-सी भ्रान्तियां उत्पन्न हो जाती है और स्वयं विज्ञान की प्रगति में भी बाधा पहुँचती है। हम अर्थशास्त्र में प्रयुक्त 'भूमि' शब्द के सही अर्थ का पता लगाने का प्रयत्न करेंगे।

पहले यह जान लेना उचित होगा कि क्लासिकल विचारक 'भूमि' का किस अर्थ में प्रयोग करते हैं। कहा जा सकता है कि मार्शल ने भूमि सम्बन्धी क्लासिकल विचारधारा को अंतिम रूप दिया। भूमि और पूंजी के अंतर बताते हुए वह अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपिल्स आफ इकानामिक्स' में लिखते हैं कि "वे भौतिक वस्तुएँ जिनकी उपादेयता का कारण मानवीय श्रम होता है" पूंजी कहलानी चाहिए और "वे जो मानवीय श्रम का फल नहीं है" भूमि वर्ग के अंतर्गत आनी चाहिए। मार्शल को, जो निस्संदेह एक महान अर्थशास्त्री थे, अवश्य ही यह आभास था कि उत्पादन में सहायक प्राकृतिक शक्तियों तक की उपादेयता भी मानवीय प्रयत्नों के कारण होती है चाहे इन प्रयत्नों का कार्य कितना भी कम क्यों न हो। यह बात मार्शल के इस कथन से स्पष्ट हो जाती है कि "यह भेद स्पष्टतः कुछ अनिश्चित सा है: ईंटें केवल थोड़े बहुत परिवर्तित किए गए मिट्टी के टुकड़े ही हैं; और प्राचीन देशों की भूमि पर मानवीय श्रम कई बार लग चुका है और उसी के कारण वह अपने वर्तमान रूप में है।" फिर भी वे इन भ्रमों का निवारण नहीं कर सके। इसका कारण शायद वह सशक्त क्लासिकल प्रभाव था जो मार्शल के समय तक भी चला आ रहा था। और मार्शल इस निष्कर्ष से संतुष्ट हो गए कि फिर भी यह भेद एक वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित है। "मनुष्य में पदार्थ का सृजन करने की शक्ति नहीं किन्तु वस्तुओं को उपादेय रूप देकर वह उपयोगिताओं का सृजन करता है; और उनकी अधिक मांग होने पर मनुष्य की उत्पन्न की हुई उपयोगिताओं की पूर्ति को बढ़ाया जा सकता है; उनका एक पूर्ति मूल्य (supply price) होता है। लेकिन और भी उपयोगितायें होती हैं जिनकी पूर्ति पर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता; ये प्रकृति द्वारा नियत परिमाण में मिलती हैं और इनका कोई पूर्ति मूल्य नहीं होता। अर्थशास्त्रियों ने 'भूमि' शब्द का इस प्रकार विस्तार किया है कि उसके अंतर्गत इन उपयोगिताओं के स्थायी स्रोत आएँ चाहे वे उसके अंतर्गत हों जिसे साधारण बोलचाल में भूमि कहा जाता है, या समुद्रों और नदियों, सूर्य रश्मियों, वर्षा, हवाओं और प्रपातों में हों।** 'उपयोगिताओं के स्थायी स्रोतों' की बात करते समय मार्शल के ध्यान में रिकार्डो के प्रसिद्ध शब्द 'भूमि की मौलिक तथा अनश्वर शक्तियां' थे। फिर भी उन्हें यह आभास था कि भूमि की उर्वरता अंशतः मानव द्वारा की गई उन्नतियों के कारण भी हो सकती है। उन्होंने यह कहा है कि—"पुराने देशों में भूमि के अधिकतर भाग की विशेषता बहुत कुछ मानवीय प्रयत्नों के कारण होती है। धरातल से जरा नीचे जो कुछ है उसमें मानव के

गत श्रम के फल-पूंजी—का बहुत बड़ा महत्व है !" इस प्रकार उन्होंने रिकार्डो के शब्दों में थोड़ा हेर फेर करने का प्रयत्न किया। प्रकृति की वे निःशुल्क देनें, जिन्हें रिकार्डो ने भूमि के 'अंतर्हित' और 'अनश्वर' गुण कहा था, मनुष्य की कई पीढ़ियों के कार्यों द्वारा संशोधित कर दी गई हैं और उनकी कहीं उन्नति हुई है कहीं अवनति। किन्तु धरातल से ऊपर स्थिति दूसरी ही है: "प्रत्येक एकड़ को प्रकृति की ओर से गर्मी और प्रकाश, हवा और नमी की एक वार्षिक आय होती है और इनके ऊपर मनुष्य का बहुत कम नियंत्रण है। जल-विकास का विस्तृत प्रबंध करके अथवा जंगल लगा कर या उन्हें काटकर वह अवश्य ही जलवायु को थोड़ा बदल सकता है। किन्तु कुल मिलाकर सूर्य, हवा और वर्षा के कार्य से एक वार्षिक आय उत्पन्न होती है जिसे प्रकृति प्रत्येक भूमि के टुकड़े के लिए नियत करती है। भूमि पर स्वामित्व होने पर इस वार्षिक आय पर भी स्वामित्व हो जाता है।" क्लासिकल विचारधारा के अनुसार भूमि और पूंजी में यह अंतर है कि धरती तथा प्राकृतिक शक्तियों की पूर्ति बहुत कुछ परिमित है जब कि पूंजी की पूर्ति मानवीय प्रयत्नों द्वारा बढ़ाई जा सकती है। मार्शल का विचार था कि यही अन्तर "भूमि और उन भौतिक वस्तुओं को, जिन्हें हम भूमि की उपज मानते हैं, भिन्न बनाता है।" भूमि की पूर्ति तथा उससे सम्बन्धित प्राकृतिक शक्तियों के सम्बन्ध में मार्शल ने कहा था—"उन पर मनुष्य का कोई नियंत्रण नहीं होता; वे मांग से बिलकुल प्रभावित नहीं होतीं; उनके उत्पादन की कोई लागत नहीं होती, किसी भी पूर्ति-मूल्य पर उनका उत्पादन नहीं किया जा सकता।" हमने मार्शल के उदाहरण इतने विस्तार से इसलिए दिए हैं कि पाठक मार्शल द्वारा संशोधित भूमि की क्लासिकल धारणा को समझ जायँ। वह धारणा इस प्रसिद्ध परिभाषा में संक्षिप्त रूप से दी गई है—"भूमि का तात्पर्य उन भौतिक वस्तुओं और शक्तियों से है जिन्हें प्रकृति भूमि और जल में, वायु, प्रकाश और गर्मी के रूप में मनुष्य की सहायता के लिए निःशुल्क प्रदान करती है।"

इस प्रकार मार्शल के मतानुसार 'भूमि' का तात्पर्य प्रकृति की कुछ शक्तियों से है जिनके नाम उसने दिये हैं। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने यहां वैसा ही भेद किया है जैसा उन्होंने मानवीय परिश्रम को श्रम और संगठन में विभाजित करते हुए किया था। उन्होंने शारीरिक कार्य करने वालों और बौद्धिक कार्य करने वालों में भेद किया और प्रत्येक को उत्पादन का एक भिन्न साधन माना। वैज्ञानिक रूप से परिश्रम शारीरिक तथा मानसिक परिश्रमों में विभाजित किया गया है। इसके अनुसार तथाकथित बौद्धिक और शारीरिक श्रमिक दोनों ही प्रकार का परिश्रम करते हैं। जिस प्रकार उन्होंने श्रम तथा शारीरिक कार्य को एक ही माना और यह भूल गए कि शारीरिक कार्य अंशतः संगठन भी है उसी प्रकार उन्होंने भूमि को 'प्रकृति की शक्तियों' का पर्यायवची माना। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि उनका दृष्टिकोण एक व्यक्ति को उत्पादन का केवल एक साधन मानना था। अतः उन्होंने शारीरिक श्रम करने वाले को श्रमिक, प्रबन्धक को संगठनकर्ता, धनी व्यक्ति को पूंजीपति और भूमि के स्वामी को भूमिपति कहा। हम देख चुके हैं कि एक व्यक्ति बहुधा दो या तीन साधनों की पूर्ति करता है। अतः कार्य पर आधारित वर्गीकरण अधिक श्रेष्ठ है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने भूमि की विशेषताओं का वर्णन करने का प्रयास किया और इस कारण उन्हें भूमि का पूंजी तथा मानवीय साधन से भेद करना पड़ा। उनके अनुसार भूमि की महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित हैं; हम यह बाद में देखेंगे कि ये विशेषताएँ केवल भूमि की ही हैं या उत्पादन के अन्य साधनों की भी।

भूमि की विशेषताएँ

१—निःशुल्क देन के रूप में प्रकृति जो कुछ भी शक्तियां प्रदान करती हैं वे भूमि हैं।

२—भूमि की पूर्ति सीमित होती है। मनुष्य उसे बढ़ा नहीं सकता।

३—भूमि के गुण मौलिक और अनश्वर होते हैं। इनकी क्षतिपूर्ति प्रकृति-प्रदत्त एक वार्षिक आय द्वारा होती रहती है।

यदि भूमि को प्रकृति की निःशुल्क देन कहा जाय तो यह पूछना अनुचित न होगा कि ऐसी भूमि है कहां? यदि वह एक निःशुल्क देन है तो वह बिना किसी लागत के मिल जानी चाहिए। लेकिन हम जानते हैं कि न गांव में न शहर में भूमि का कोई भी टुकड़ा बिना कीमत दिए नहीं मिलता। नए देशों में भी बिना कीमत दिए भूमि नहीं मिल सकती। किसी नए देश में आरम्भ में बसने वालों को भी भूमि के किसी भी भाग पर अधिकार करने से पहले कुछ न कुछ व्यय करना ही पड़ता है। यदि अमरीका वासी किसी महाद्वीप की खोज करलें तो वे उस पर अपना अधिकार रखेंगे तथा किसी दूसरे को उसका उपयोग न करने देंगे। कुछ कीमत लेकर ही वे उसके उपयोग की आज्ञा देंगे। और यदि वे कोई कीमत न मांगें तो कम से कम उपयोग करने वाले से अपनी राज्यसत्ता की स्वीकृति की मांग अवश्य करेंगे और बिना आज्ञा के उसका उपयोग न करने देंगे। उपर्युक्त दृष्टान्त से केवल यही कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति को भूमि कम कीमत पर मिल जाती है तो किसी को अधिक पर। यदि वह बिलकुल मुफ्त हो तो प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी की आज्ञा के उसका उपयोग करने का अधिकार होना चाहिए। जो भी हो गांवों में या शहरों में भूमि के वर्तमान स्वामियों ने उसे खरीदकर, या उत्तराधिकार द्वारा पाया है उसी प्रकार जिस प्रकार कि कोई मकान या मशीन खरीदी जाती है। किसी को भी भूमि निःशुल्क देन के रूप में नहीं मिलती। अन्यथा समाजवादी सबसे पहले यह आवाज उठाते कि सरकार को उसे जब्त कर लेना चाहिए। अतः यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कम से कम आजकल तो किसी को भी भूमि बिना कीमत दिए नहीं मिल सकती। किन्तु क्या यही बात वर्षा, गर्मी, प्रकाश आदि के बारे में भी सच है? क्या ये मुफ्त मिल सकती है? कदापि नहीं। जलवायु, वर्षा आदि की भिन्नता के कारण ही भूमि के दो समान टुकड़ों की कीमत भिन्न होती है। उत्तर प्रदेश के किसी उपजाऊ भाग में भूमि के एक टुकड़े की कीमत सहारा या राजस्थान या किसी अन्य बंजर भूमि के एक बराबर टुकड़े से कहीं अधिक होगी। टुकड़ों का आकार बराबर होते हुए भी वर्षा या जलवायु आदि की भिन्नता के कारण उनकी कीमत भिन्न होती है। चारों ओर से खुले हुए और इस प्रकार अधिक प्रकाश और हवा पाने वाले भू-भाग के लिए हमें क्षेत्र में बराबर किन्तु कुछ ओर से बंद किसी अन्य भू-भाग से अधिक कीमत देनी पड़ती है। अतः, यदि दो भू-भागों का क्षेत्रफल बराबर हो तो भी भूमि के गुणों तथा वर्षा, जलवायु आदि में अन्तर होने से उनकी कीमतें भिन्न हो जाती हैं। यह अन्तर वास्तव में उर्वरता शक्ति के अन्तर तथा प्रकाश हवा और वर्षा के रूप में मिलने वाली वार्षिक आय के पूंजीगत मूल्य (capitalized value) के अन्तर के योग के बराबर होता है। फिर, जब कोई व्यक्ति एक भूभाग खरीदता है तब वह उसकी जलवायु का भी स्वामी हो जाता है। हमारे घर की धूप या हवा सार्वजनिक सम्पत्ति नहीं है। तर्क के लिए यह कहा जा सकता है कि आदम और ईव या उनके वंशज या किसी जनहीन द्वीप पर रहने वाला रॉबिन्सन क्रूसो भूमि को बिना कीमत पाता है। तब यह भूमि हुई। किन्तु ऐसी

दशा में भी भूमि पर अधिकार होते ही वह निःशुल्क देन नहीं रह जाती। कोई वस्तु निःशुल्क तभी हो सकती है जब उसे बिना किसी लागत के प्राप्त किया जा सके। इस अर्थ में कोई वस्तु तभी निःशुल्क देन हो सकती है जब देने वाला उसके लिए कुछ भी कीमत न ले। मान लीजिए राम अपने मित्र मोहन को एक कलम भेंट देता है, अर्थात् वह कलम के लिए कोई कीमत नहीं लेता, तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि कलम मोहन को पूर्णतः निःशुल्क मिली है क्योंकि उसे कलम पर अधिकार करने के लिए कुछ न कुछ श्रम करना ही पड़ता है। यह श्रम ही उसकी कीमत है। यह ठीक है कि मोहन को बहुत कम कीमत पर कलम मिल गई है, परन्तु यदि वह स्वयं इस कलम को बेचे तो बिना उपयुक्त मूल्य लिए ऐसा नहीं करेगा। भूमि के इस विश्लेषण को आगे बढ़ाते हुए यह कहा जा सकता है कि यद्यपि आदिवासियों को भूमि के लिए कुछ भी कीमत नहीं देनी पड़ी, फिर भी इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह उनको निःशुल्क या बिना किसी व्यय के मिल गई, क्योंकि भूमि के चारों ओर बाड़ा बनाने में तथा अपना स्वत्व स्थापित करने में उनको कुछ न कुछ काम करना ही पड़ा होगा। बाद में इस भूमि को बेचते समय वह कुछ न कुछ मूल्य अवश्य लेंगे।

इतना जान लेने के पश्चात् अब हमें यह देखना है कि अर्थशास्त्र में हम किस 'भूमि' का अध्ययन करते हैं—(१) वह जो प्रकृति-दत्त है अथवा (२) वह जो उत्पादन में सहायक है। क्योंकि हम उत्पादन के साधनों के बारे में विचार कर रहे हैं, अतः हमें यह देखना है कि भूमि उत्पादन में सहायक है या नहीं। जो प्रकृति प्रदान करती है उससे हमारा सम्बन्ध तभी होता है जब वह उत्पादन में सहायक हो। धूप या प्रकाश केवल धूप और प्रकाशमात्र हैं और धूप तथा प्रकाश मात्र से हमारा कोई मतलब नहीं। जब वे उत्पादन में सहायता करते हैं, हमारे लिए तभी उनका महत्व होता है। उत्तर प्रदेश में आलुओं के उत्पादन या कानपुर के कारखाने में जूतों के उत्पादन का जिक्र करते समय हमारा कलकत्ता की धूप या ढाका की बारिश से कोई मतलब नहीं होता। फिर यह बात नहीं कि जो प्रकृति प्रदान करती है वह अवश्य ही उत्पादन में सहायक हो। उदाहरण के लिए वर्षा बाढ़ का कारण होकर उत्पादन में सहायता देने की जगह फसल को नष्ट कर सकती है।

फिर भी यह तर्क दिया जा सकता है कि प्रकृति प्रकाश, हवा, मिट्टी, वर्षा आदि को समाज या मानव मात्र के लिए इस अर्थ में निःशुल्क प्रदान करती है कि वह बदले में किसी कीमत की आशा नहीं करती। जीवन के लिये अनिवार्य प्रकाश और गर्मी देने वाला सूर्य कीमत न मिलने पर उदय होने से इन्कार नहीं कर देता। किसी बिजली की कम्पनी या मिट्टी के तेल के लैम्प के बारे में यह बात लागू नहीं होती। वे तब तक प्रकाश प्रदान नहीं करते जब तक उसे प्राप्त करने के लिए कुछ खर्चा न किया जाय। उत्पादन में सहायक होने पर ही प्रकृति की शक्तियां उत्पादन का साधन बन सकती है। उत्पादन में सहायक होने के लिए यह आवश्यक है कि उन पर अधिकार किया जाय। उन पर अधिकार करने में कुछ लागत लगती है, चाहे वह कितनी भी कम क्यों न हो। यदि प्राकृतिक वर्षा से कृत्रिम वर्षा या मनुष्य-निर्मित सिंचाई के साधनों की अपेक्षा पानी सस्ता मिल जाता है तो साथ ही उससे मानव जीवन, पशु और फसलों का नाश भी होता है। यदि प्रकृति की शक्तियां मनुष्य के लिए लाभदायक होती हैं तो साथ ही कभी कभी वे हानिकारक भी होती हैं जैसे तब जब वे तूफान, बाढ़ या भूचाल का रूप ले लेती हैं। अंत में, यदि निःशुल्कता भूमि की प्रमुख विशेषता है तो साथ ही यह भी कहना चाहिए था कि जो

कुछ भी निःशुल्क है वह भूमि है। तब तो स्वराज्य भवन भी भूमि हो जायगा क्योंकि यह कांग्रेस को दान दिया गया है। या यदि किसी को कोई कारखाना मुफ्त मिले तो क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार वह सब का सब भूमि हो जाय। भूमि या प्रकृति की शक्तियों की पूर्ति को इस अर्थ में परिमित कहा गया है कि मांग के बढ़ने पर वे बढ़ती नहीं और मनुष्य का उस पर कोई नियंत्रण नहीं है। यह गुण बहुत सी अन्य स्थूल वस्तुओं में भी पाया जाता है जैसे अलभ्य प्राचीन वस्तुएँ या प्रसिद्ध चित्रकारों के पुराने चित्र या प्रसिद्ध पुस्तकों की पांडुलिपियां और पुराने सिक्के आदि। एक तरह से तो ताजमहल या कुतुबमीनार में भी ये विशेषताएँ हैं। और फिर जैसा कि बहुधा माना जाता है, प्राकृतिक शक्तियों की पूर्ति बिलकुल अपरिवर्तनीय नहीं होती। खेतिहर भूमि का विस्तार ऊबड़ खाबड़ जमीन को समतल करके या झाड़ झंखाड़ों को साफ करके या बंजर जमीन को खेती के योग्य बनाकर बढ़ाया जा सकता है। खेतिहर भूमि की प्रभावी पूर्ति (effective supply) को भूमि की उर्वरता में वृद्धि करके या सिंचाई के साधनों में उन्नति करके या मशीन युक्त खेती द्वारा, जिसके कारण किसी भूमि-क्षेत्र की उपज दुगनी या तिगुनी हो जाती है, बढ़ाया जा सकता है। अमेरिका की टेनेसी-घाटी योजना की महान सफलताओं से ज्ञात होता है कि मनुष्य प्रकृति की शक्तियों पर नियंत्रण कर सकता है और उनसे और भी अधिक लाभ उठा सकता है। दामोदर की भांति एक उद्दाम नद हर साल बाढ़ ला सकता है किन्तु मानवीय प्रयत्न और कुशलता से निर्देशित होकर वही कहीं अधिक जल तथा शक्ति का स्रोत बन जाता है। आस्ट्रेलिया में फसलों को सूखे से बचाने के लिए कृत्रिम वर्षा तक की जाती है। इसी प्रकार फसलों को शीत या पाले से भी बचाया जाता है। मनुष्य धीरे धीरे प्रकृति की शक्तियों पर अपना नियंत्रण बढ़ा रहा है और उनसे प्राप्त होने वाली सुविधाओं की कृत्रिम व्यवस्था कर रहा है। जब आकाश की ऊँचाई में या किसी खान की गहराई में हवा की कमी होती है तो मानवीय प्रयत्नों से उसका उत्पादन कर लिया जाता है। इसी प्रकार वायु-नियंत्रण की विधियों से बहुत गर्म या ठंडे स्थान को आरामदे बना लिया जाता है। यह कहना गलत है कि मनुष्य उत्पादन में सहायक प्रकृति की शक्तियों की पूर्ति को घटा या बढ़ा नहीं सकता। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का मत था कि भूमि के गुण मौलिक और अनश्वर होते हैं। किन्तु वे स्वयं ये समझते थे कि अपने मौलिक रूप में भूमि शायद ही कहीं हो। मनुष्य के अनवरत उपयोग के कारण उसके रसायनिक तथा भौतिक गुण बदल चुके हैं। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उत्पादन में उपयोग करने के लिए भूमि के प्रकृति-प्रदत्त मौलिक रूप को बदलना पड़ा था। खेती के लिए उपयोगी करने से पहले भूमि को समतल और साफ करना पड़ा था। उत्पादन का साधन बनने से पहले भूमि के मौलिक रूप पर अधिकार करना और उससे बदलना आवश्यक था। जंगली झाड़ियों को उगने से रोक कर मनुष्य ने उस पर अपने निर्देशन में मनोनुकूल फसलें उगाई। इससे ज्ञात होता है कि ज्यों ही भूमि का उत्पादन के साधन के रूप में उपयोग किया जाता है, उसका मौलिक रूप समाप्त हो जाता है। और न भूमि के गुण अनश्वर ही होते हैं। बहुधा उसे इस कारण पर्ती छोड़ा जाता है या उसमें खाद दी जाती है या उसे जोता जाता है जिससे वह अपनी उर्वरा शक्ति को पुनः प्राप्त कर ले। किन्तु मार्शल का मत था कि यद्यपि मिट्टी की, या जो उसकी सतह के नीचे है उसकी, उर्वरता नष्ट हो सकती है फिर भी जो सतह से ऊपर हैं—जैसे वर्षा, गर्मी, हवा

आदि—वे अनश्वर हैं। वह प्रत्येक भूमि-क्षेत्र के लिए प्रकृति द्वारा निश्चित एक वार्षिक आय है। किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं। अनावृष्टि के बाद अतिवृष्टि होती है और उर्वरतम भूभागों में भी अकाल पड़ते देखे गए हैं। किसी भू-भाग से अधिकतम फसल उगाने के लिए मानव-प्रयत्नों से ही पानी आदि की पूर्ति का नियंत्रण होता है। यदि तूफानों, हवाओं और बादलों जैसी प्रकृति की उच्छृंखलताओं का नियंत्रण संभव न हो तो वे उत्पादन में सहायता के स्थान पर बाधा ही पहुँचाएँ।

और इस प्रकार हम देखते हैं कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की 'भूमि' प्रकृति की शक्तियों तक ही सीमित नहीं रखी जा सकती, न ही उनके द्वारा वर्णित उसकी विशेषताएँ मिट्टी, धूप या बारिश में पाई जाती है। लेकिन फिर हम 'भूमि' शब्द का क्या अर्थ करें? यह स्पष्ट है कि मानवीय शक्तियों से भिन्न अन्य सब शक्तियां या वस्तुएँ जो उत्पादन में सहायता देती हैं, या तो भूमि हो सकती है या पूंजी। पूंजी पिछली बचत का फल है; पहले बचत करने पर ही कोई वस्तु पूंजी बन सकती है; उपभोग न करके ही बचत की जा सकती है। इसका यह अर्थ हुआ कि जिस किसी वस्तु को बचाया जाए उसमें बचाए जाने या उपभोग किए जाने की क्षमता होनी चाहिए। परिणामस्वरूप कोई वस्तु तभी पूंजी बन सकती है जब उसके उपयोग में ये दो गुण हों:—(१) उसका उपभोग हो सके या (२) वह बचाई जा सके। उसका स्वामी उसे बचा सकता है या उसका उपभोग कर सकता है। उस वस्तु के ये दोनों प्रकार के उपयोग उसके लिए समान रूप से उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त चुनाव किये जाने के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु के स्वामी के लिए दोनों उपयोग समान हों और दोनों उपयोगों के बीच वह तटस्थ हो। यदि उपभोग वाला उपयोग बचत वाले उपयोग से अधिक मूल्यवान हो या इसका उल्टा हो तो चुनाव का प्रश्न रह ही नहीं जाता क्योंकि ऐसी हालत में वह उसका वही उपयोग करेगा जो उसके लिए अनुकूलतम है। चुनाव का प्रश्न तभी उठता है जब दोनों उपयोग बराबर आकर्षक हों। तब वह बचत करना इस कारण अच्छा समझ सकता है कि इससे व्याज मिलता है। बचत करने पर वह तात्कालिक उपभोग नहीं करता बल्कि भविष्य में उपभोग करने की आशा करता है। तात्कालिक उपभोग के स्थान पर वह उसका अधिक उत्पादन के लिए उपयोग करता है। वह तब तक बचत करना पसन्द करेगा जब तक व्याज प्रतीक्षा-जन्य त्याग से अधिक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कोई वस्तु पूंजी तभी बन सकती है जब कि उसका एक वैकल्पिक उपयोग भी हो जो उपादेयता में बराबर हो। किन्तु हम जानते हैं कि लगभग प्रत्येक वस्तु का वैकल्पिक उपयोग होता है। यह वैकल्पिक उपयोग चाहे पहले के बराबर वांछनीय न हो, चाहे वह मूर्खतापूर्ण ही हों, लेकिन मुख्य बात यह है कि लगभग प्रत्येक वस्तु का वैकल्पिक उपयोग होता अवश्य है। उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति अपने चश्मे का प्रयोग आंखों के लिए कर सकता है या कागज़ दबाने के लिए या फिर उसे अपने बच्चे को खेलने के लिए दे सकता है। किसी चश्म के ये वैकल्पिक उपयोग हैं यद्यपि हो सकता है कि सब किसी एक समय या स्थान पर समान रूप से उपादेय न हों। अब, चूंकि लगभग प्रत्येक वस्तु के वैकल्पिक उपयोग होते हैं इसलिए हम यह कह सकते हैं कि लगभग सभी वस्तुएँ पूंजी बन सकती हैं। लेकिन हो सकता है कि कोई वैकल्पिक प्रयोग पहले के बराबर उपादेय न हो। इसलिये हम कहेंगे कि कोई वस्तु उसी हद तक पूंजी हो सकती है जहां तक कि कोई वैकल्पिक उपयोग पहले उपयोग के बराबर उपादेय हो। जहां तक कोई वैकल्पिक उपयोग

पहले उपयोग से कम उपादेय है उस हद तक वह वस्तु पूंजी नहीं वरन् भूमि है। या यह कहा जा सकता है कि जहां तक उत्पादन में सहायता करने वाली किसी वस्तु का कोई वैकल्पिक उपयोग भी होता है उस हद तक वह पूंजी है और जहाँ तक उसका केवल कोई एक प्रयोग होता है वह भूमि है*। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि प्रत्येक वस्तु के किसी हद तक वैकल्पिक उपयोग होते हैं और किसी हद तक केवल विशिष्ट, यह कहना सर्वोत्तम होगा कि वस्तुओं के पूंजी और भूमि-पक्ष होते हैं। अतः यदि एक प्रकार के उपभोग में किसी वस्तु का मूल्य १०० रु० है और दूसरे प्रकार के उपयोग में केवल ९० रु०, तो हम कह सकते हैं कि वह ९० रु० पूंजी और १० रु० भूमि है या यह कि उसका पूंजीपक्ष ९०% है और भूमि पक्ष १०%। जब किसी वस्तु का एक विशिष्ट (Specific) उपयोग किया जाता है तब उसका कोई दूसरा उपयोग नहीं किया जा सकता ; जहां तक किसी वस्तु में भूमि-पक्ष होता है वहां तक किसी एक प्रयोग में उसका कोई त्याग नहीं होता—क्योंकि उस उपयोग को करने में किसी अन्य उपयोग को छोड़ देने की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए स्पष्ट है कि भूमि को मिलने वाला प्रतिफल उत्पादन में उसकी सहायता का परिणाम है—किसी त्याग का नहीं। यह प्रतिफल अतिरेक मात्र है क्योंकि इसे प्राप्त करने की लागत कुछ भी नहीं होती। यह अतिरेक निःशुल्क देन के समान होता है और भूमिपति को मिलता है जिसे कि कुछ भी त्याग नहीं करना पड़ता। क्योंकि इस प्रकार का, बिना त्याग किए मिलने वाला अतिरेक श्रम, संगठन और साहसोद्यम * का योग देने वाले को भी मिल सकता है इसलिए हम उत्पादन के सब साधनों में भूमि-पक्ष देख सकते हैं। जब कोई उत्पादन का साधन बिना त्याग किए प्रतिफल पाता है तब उसमें भूमि-पक्ष होता है। इस प्रकार भूमि उत्पादन का एक भिन्न साधन नहीं रह जाती क्योंकि भूमि तो केवल एक पक्ष मात्र है जो कि उत्पादन के सब साधनों में मिल सकता है। क्योंकि इस भूमि-पक्ष को बिना त्याग किए आय होती है इसलिए हम इसे उत्पादन का एक साधन नहीं मानते—कारण यह है कि उत्पादन के साधन के साथ त्याग की धारणा अनिवार्य रूप से संबद्ध है। इस प्रकार भूमि एक अमूर्त धारणा हो जाती है।

में उसी प्रकार भूमि पक्ष दिखा सकते हैं जिस प्रकार मिट्टी में अ-भूमि या पूंजी पक्ष, और इस प्रकार हम इस निश्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भूमि-सम्बन्धी क्लासिकल और नवीन अर्थशास्त्रियों के विचारों में यह समानता है कि दोनों स्कूल 'भूमि' की आय को केवल अतिरेक मात्र—निःशुल्क देन—मानते हैं। परिणामस्वरूप भूमि, या आधुनिक शब्दों में भूमि-पक्ष का कोई पूर्ति मूल्य नहीं होता।

पूंजी की घिसावट—किसी कारखाने या व्यवसाय में प्रयुक्त पूंजी अधिकतर इमारतों, फर्नीचर, मशीनों, औजारों, और कच्चे माल आदि के रूप में होती है। तैयार माल या सेवाओं का उत्पादन करने में इन वस्तुओं का धीरे-धीरे उपभोग होतारहता है। पूंजी की यह घिसावट तैयार माल के मूल्य में प्रतिबिंबित होती है। तैयार माल के विक्रय-मूल्य के अंतर्गत केवल उत्पादन के मानवीय साधनों के प्रतिफल ही नहीं बल्कि उत्पादन में घिसी हुई पूंजी को पुनः स्थापित करने की लागत भी आ जाती है। जहां तक पूंजी का सम्बन्ध है उत्पत्ति की प्रत्येक इकाई के उत्पादन में कच्चे माल की खपत होती है जिसका रूप और आकार इस क्रिया में परिवर्तित हो जाता है। किसी उत्पादन संस्था को कच्चे माल की लगातार आवश्यकता रहती है क्योंकि प्रत्येक इकाई के उत्पादन से कच्चे माल के परिमाणमें कमी होती है। दूसरी ओर इमारतों, मशीनों और औजारों जैसी अधिक टिकाऊ पूंजी धीरे-धीरे घिसती रहती है और वे कालांतर में बेकार हो जाती हैं। नवीन श्रेष्ठतर आविष्कारों के कारण मशीन और औज़ार प्रयोग-च्युत (obsolete) भी हो जा सकते हैं। इन नए आविष्कारों से उत्पादन में उन्नति और उत्पादन की लागत में कमी होती है। कभी-कभी किसी पुरानी मशीन आदि को उसका पूरा क्षय होने से पहले ही प्रयोग च्युत कर देना अधिक लाभदायक सिद्ध होता है, अतः पूंजी की आय दो प्रकार के अर्जनों का योग है (१) प्रतीक्षा जन्य त्याग का प्रतिफल और (२) घिसावट के लिए दिया गया प्रतिफल। घिसावट-निधि को इस दर से संचित करना चाहिए कि जब पूंजी पूरी तरह से घिस जाय या जब उसे प्रयोगच्युत कर दिया जाय तब उसके पुनर्स्थापन के लिए पर्याप्त द्रव्य निधि में हो। इसलिए प्रत्येक उत्पादन-संस्था एकघिसावट-निधि रखती है जिससे प्रतिवर्ष कुछ रकम इकट्ठा होती रहती है। यदि कोई ऐसी निधि न हो तो उत्पादक बड़े संकट में पड़ जायगा क्योंकि तब उधार लेकर ही घिसे हुए यंत्रादि (पूंजी) को पुनर्स्थापित किया जा सकता है। यह भी सम्भव है कि काफी समय बीतने पर ही ऐसे उत्पादक को (जो कि घिसावट-निधि नहीं रखता) यह पता चले कि वह अपनी आय का नहीं बल्कि अपनी पूंजी का उपभोग कर रहा था। वर्तमान समय में पूंजी का उपयोग बहुत बढ़ गया है। इसीलिए घिसावट-निधि का महत्व भी बहुत अधिक है।

यंत्रों का विशिष्टीकरण और उनका उपयोग—पूंजी का अधिक उपयोग करने से उत्पादन घुमा फिरा कर होता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ वस्तुओं के उत्पादन में ही विशिष्टता प्राप्त करता है और इनका वह उन वस्तुओं के साथ विनिमय कर लेता है जिनकी उसे आवश्यकता तो होती है किन्तु जिनका उत्पादन अन्य व्यक्ति करते हैं। जब उत्पादन पुराने ढंग से होता था तब उपभोक्ता अपनी अधिकांश आवश्यक वस्तुएँ स्वयं ही तैयार करता था। आज स्थिति बिलकुल भिन्न है। केवल यही बात नहीं कि किसी व्यक्ति को अपनी आवश्यकता की वस्तुओं के लिए अनेक उत्पादकों पर निर्भर रहना पड़ता है, जिन वस्तुओं या सेवाओं का उत्पादन वह स्वयं करता है उनकी बिक्री के लिए भी वह अन्य व्यक्तिओं पर निर्भर रहता है। इस प्रकार एक का सुख अनेक की समृद्धि पर निर्भर है। मानव जाति की एकता के बंधन

आज कहीं अधिक दृढ़ हैं और इस क्रम में यातायात तथा सन्देशवाहक साधनों की असाधारण उन्नति बहुत सहायक हुई है। बड़े-बड़े कारखाने गांव के शिल्पियों का स्थान ले रहे हैं। घर मे काम करने वाले शिल्पी के विश्रामपूर्ण एवं शान्तिपूर्ण वातावरण का स्थान व्यवसायिक सतर्कता और कारखाने का शोरगुल ले रहा है। यंत्रों के प्रयोग से किसी राष्ट्र में धन का वार्षिक उत्पादन बढ़ जाता है—क्योंकि मशीन अधिक तेजी से और अधिक सही काम करती है। धन के बढ़ने के साथ ही साथ इच्छायें भी बढ़ती हैं और यद्यपि यह सच है कि आज एक औसत मनुष्य अपने पूर्वजों से कहीं अधिक इच्छाओं की तृप्ति करता है, किन्तु यह भी सच है कि कि उसकी अतृप्त इच्छाओं की संख्या भी उनसे अधिक है। भाग्य की यह विचित्रता तो देखिये। औसत मनुष्य अधिक सुखी है क्योंकि वह अधिक इच्छाओं को तृप्त कर सकता है। साथ ही वह अधिक दुखी भी है क्योंकि उसकी अतृप्त इच्छाओं की संख्या, जो उसे पीड़ा पहुँचाती है, बढ़ रही हैं। यह चुनाव की समस्या वास्तव में कितनी निर्मम है? इसका समाधान है इच्छाओं का परित्याग। ऐसा करने पर ही कोई व्यक्ति बिना अधिक दुखी हुए अधिक सुखी हो सकता है।

उत्पादक की यांत्रिक और शिल्पकारी विधियों का संघर्ष मूलतः दो विचारधाराओं का संघर्ष है। एक ओर वे हैं—और इस समूह में अधिकांश आधुनिक अर्थशास्त्री और राजनीतिज्ञ आ जाते हैं—जिनका यह विश्वास है कि मशीनों के अधिक उपयोग से ही जनता के रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो सकता है और उसे आधुनिक जीवन की सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं। दूसरी ओर महात्मा गांधी जैसे विचारक और दार्शनिक भी हैं जिनका यह विश्वास है कि मशीन से सदैव बुराइयां और दुष्प्रयोग ही उत्पन्न होते हैं। शिल्पकारी प्रणाली में धन का उत्पादन कम अवश्य होता है, किन्तु फिर भी उत्पादन की वह विधि अधिक कल्याणकारी है। यंत्रों के प्रयोग से उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है। साथ ही धुआं, भीड़भाड़ और शोर गुल आदि बुराइयां भी आती हैं जो वर्तमान औद्योगिक नगरों की विशेषताएँ हैं। इन सबका मानव स्वास्थ्य और सुख पर बुरा प्रभाव पड़ता है। धन की ऐसी वृद्धि किस काम की जिससे जीवन अधिक सुखी और सुन्दर नहीं होता?

अवश्य ही यह सच है कि यंत्रों के अधिक उपयोग के साथ-साथ कुछ बुराइयां भी आती हे किन्तु अधिक ध्यानपूर्वक देखने पर यह ज्ञात होगा कि इन बुराइयों में से अधिकतर यंत्रों के प्रयोग के कारण नहीं होती, बरन राष्ट्रीय कल्याण की अपेक्षा अपने लाभ को अधिक महत्व देने वाले पूंजीपति वर्ग द्वारा यंत्रों के दुरुपयोग के कारण होती है। क्योंकि कोई भी सरकार अब 'करने दो' नीति में विश्वास नहीं करती इसलिए संभव है कि वे उत्पादन का इस प्रकार निर्देशन करें कि औद्योगिक प्रसार और केन्द्रीयकरण से होने वाली बुराइयां न्यूनतम हो जांय। फिर, यह अनिवार्य नहीं है कि यंत्रों के अधिक उपयोग से छोटे उत्पादक समाप्त हो जांय, यद्यपि यह सच है कि यंत्रों के उपयोग से बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव हो जाता है। यंत्रों से छोटे उत्पादकों को भी इस प्रकार की सहायता मिल सकती है कि उनकी मेहनत कम और कमाई अधिक हो जाय और ये दोनों ही बातें बहुत वांछनीय हैं। जापान के गृह-उद्योगों में सस्ती विद्युत शक्ति तथा छोटी मशीनों के प्रयोग से आशातीत फल प्राप्त हुए हैं और शायद जापान की प्रतियोगी सामर्थ्य का यही रहस्य है। जब यंत्रों के प्रयोग के कारण बड़े पैमाने पर उत्पादन और जनसंख्या का केन्द्रीयकरण होता है तब भी यह सम्भव है कि राज्य उचित कानून बना कर हवादार मकानों, उचित मजदूरी और स्वस्थ वातावरण का होना अनिवार्य

कर दे। बहुत मेहनत वाले काम यंत्रों से कराने पर मनुष्य की मांसपेशियों पर पड़ने वाला भार कम हो जाता है। बहुधा बहुत से ऐसे भारी काम भी जो मनुष्यों द्वारा नहीं किए जा सकते यंत्रों की सहायता से सम्भव हो जाते हैं। बहुत बारीक किस्म के काम भी यंत्र कर सकते हैं क्योंकि उनके द्वारा गति को नियमित रूप से दुहराया जा सकता है। यंत्रों से कार्य इतना सही होता है कि इनके द्वारा ऐसे यंत्रों का उत्पादन सम्भव हो जाता है जो कि एक दूसरे के लिए बदले जा सकें। इससे मरम्मत और पुनर्स्थापन का व्यय काफी कम हो जाता है और इस प्रकार उत्पादन की लागत घट जाती है। यंत्रों के प्रयोग द्वारा ही मनुष्य प्रकृति की शक्तियों पर अपना नियंत्रण बढ़ाकर उनका हितकर उपयोग कर सकता है —बहु-उद्देश्यीय जल-विद्युत योजनाएँ इसका उदाहरण हैं। फिर, यंत्रों द्वारा वस्तुओं का बड़े पैमाने पर उत्पादन हो सकता है और इस प्रकार कोई एक कारखाना अधिक विस्तृत बाजार के लिए उत्पादन कर सकता है। बड़े पैमाने पर उत्पादन होने के कारण किसी उद्योग में छोटे-छोटे कामों के लिए भी यंत्रों का प्रयोग सम्भव हो जाता है। किसी दियासलाई बनाने के कारखाने—जैसे बरेली में विमको का कारखाना—में जाकर और लकड़ी के बड़े-बड़े लट्ठों को काटने से लेकर दिया सलाई की डिब्बी के बनाने तक के कामों को यंत्रों से होता देख कर यह समझा जा सकता है कि छोटे कामों के लिए भी यंत्रों के प्रयोग से कितने फायदे होते हैं। क्योंकि विभिन्न उद्योगों में यंत्रों को चालित करने का आधारभूत सिद्धान्त एक सा ही होता है इसलिए भिन्न-भिन्न उद्योगों के बीच की बाधाएँ कम हो जाती हैं और श्रम की गतिशीलता बढ़ जाती है। इसके कारण ही विशिष्टता प्राप्त दस्तकारी सम्बन्धी निपुणता की मांग कम हो जाती है और एक श्रमिक को केवल साधारण सूझ बूझ और सामान्यज्ञान की आवश्यकता होती है। इस प्रकार अकुशल श्रमिकों के काम का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। एकलय और एकरस कार्य यंत्रों से कराए जाते हैं और, क्योंकि एक श्रमिक को एक ही कार्य बार-बार दुहराना पड़ता है और उसकी शक्तियां उसी छोटे से काम पर केन्द्रित रहती हैं इसलिए ऐसे आविष्कारों के सुझाव मिलते हैं जिनसे काम की एकरसता को और भी कम किया जा सकता है। अन्ततः इन सब फायदों के फलस्वरूप उत्पादन की निपुणता में वृद्धि होती है। इससे दो लाभ होते हैं–श्रमिकों की मज़दूरी बढ़ाई जा सकती है और विक्रय मूल्य में कमी की जा सकती है। इन दोनों के कारण उपभोग में वृद्धि होती है और इस प्रकार लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा होता है।

किन्तु किसी एक तर्क पर ध्यान देने का अर्थ यह नहीं कि हम अन्य सब तर्कों को भुला दें। फायदों के साथ-साथ यंत्रों से कुछ नुकसान भी होते हैं–ऐसे नुकसान जो यंत्रों के दुरुपयोग के कारण नहीं होते बल्कि स्वयं यंत्रों ही में निहित हैं। बहुधा यंत्रों के चलने से बहुत शोर होता है जो श्रमिकों को बहुत थका देता है। जहां मशीनें कोयले से चलती हैं, वहां बहुत धुआं होता है जो आसपास के वातावरण को बहुत अस्वास्थ्यकर बना देता है। मशीन द्वारा किए गए कार्य में समरूपता होती है किन्तु इससे वह विविधता समाप्त हो जाती है जो जीवन का सार है। परिणामस्वरूप यंत्रों के प्रयोग से काम तथा जीवन एकरस होने लगते हैं। फिर यांत्रिक उत्पादन में किसी हद तक श्रमिक का व्यक्तिगत योग महत्वहीन सा होता है। इसलिए वह अपने काम में गर्व का अनुभव नहीं करता और इस कारण उसकी उन्नति करने की प्रेरणा कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त यंत्रों से केवल एकरूप (standerdised) वस्तुओं का ही उत्पादन हो सकता है। इसलिए यंत्रों द्वारा उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन ठीक रहता है जिनमें उपभोक्ताओं की व्यक्तिगत विशेष रुचियों का महत्व कम हो।

पूंजी की पूर्ति–मशीनों का अधिक प्रयोग पूंजी की पूर्ति पर निर्भर रहता है। पूंजी की पूर्ति बचत पर निर्भर है और बचत की पूर्ति कई आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ बातों पर निर्भर है। ये बातें और कारण देश-देश में और समय समय पर भिन्न होते हैं किन्तु कुछ सामान्य कारण भी हैं जिनका विश्लेषण नीचे दिया गया है :—

प्राचीन और मध्य युग में अधिकांश बचत केवल व्यक्तियों द्वारा ही की जाती थी। लेकिन आजकल लगभग प्रत्येक समाज में कुल बचत का काफ़ी अनुपात संयुक्त पूंजी कम्पनियों और सरकारी या उप-सरकारी संस्थाओं द्वारा किया जाता है। संयुक्त पूंजी कम्पनियों का बचत करने का तरीका यह है कि वे अपनी चालू आय के एक भाग को हिस्सेदारों में लाभांश के रूप में न बांट कर उसको अपने सुरक्षित कोष (Reserve fund) को बढ़ाने में उपयोग करती हैं। इसी प्रकार सरकारी या उप-सरकारी संस्थाएँ अपनी चालू आय के एक भाग का उपयोग पूंजीगत-व्यय (capital expenditure) के लिए करके बचत की प्रेरणा उत्पन्न करती हैं* संयुक्त-पूंजी-कम्पनियां और सरकारी या अर्ध-सरकारी संस्थाओं की पूर्वदृष्टि और दूरदर्शिता अपेक्षाकृत अधिक होती है इसलिए समान परिस्थितियों में किसी व्यक्ति द्वारा की जाने वाली बचत की अपेक्षा ऐसी संस्थाएँ अधिक बचत कर सकती हैं।

आत्मनिष्ठ कारण—वे होते हैं जो किसी बचत करने वाले व्यक्ति के दृष्टिकोण पर निर्भर होते हैं। उनका सम्बन्ध उसकी दूरदर्शिता से होता है और वे उसके मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं। बचत की वृद्धि बचत करने वाले की पूर्वदृष्टि पर—भविष्य का पूर्वज्ञान तथा उसके लिए प्रबन्ध कर सकने की क्षमता पर—निर्भर होती है। स्वयं जीवन ही एक बहुत बड़ा जोखिम है और कोई भी व्यक्ति यह निश्चय पूर्वक नहीं कह सकता कि उसकी आय, विशेषतः अर्जित आय, सदैव निश्चित तथा नियमित रहेगी। बीमारी, बुढापे और मृत्यु के कारण अर्जित आय के स्रोत समाप्त हो जा सकते हैं। इसीलिए तो लोग बुरे दिनों के लिए बचत करते हैं। फिर किसी को यह ख्याल भी हो सकता है कि भविष्य में उसकी आवश्यकताएँ तो बढ़ जाएँ, किन्तु साथ ही आय में आनुपातिक वृद्धि न हो पाये। भावी आवश्यकताएँ पारिवारिक उत्तरदायित्वों के कारण बढ़ सकती हैं—जैसे बच्चों की संख्या में वृद्धि या उनकी शिक्षा

---

*चालू बचत का एक बहुत बड़ा अनुपात 'मानवीय साधन' के विकास के हेतु लगाई गई पूंजी के रूप में होता है। शिक्षा अथवा सफाई के ऊपर सरकारी खर्चा, या अपनी संतान की शिक्षा-दीक्षा के ऊपर माता-पिता द्वारा किया जाने वाला खर्चा इसका उदाहरण है। माता-पिता के लिए अपनी बचत को संतान की शिक्षा-दीक्षा में लगाना कम्पनियों के हिस्से या ज़ेवर खरीदने से कहीं अच्छा है। कोई पिता १०,००० रु० बचाकर उन्हें अपनी संतान के लिए छोड़ जाय तो हो सकता है कि इससे उन्हें २०० रु० की वार्षिक आय होती रहे, किन्तु यदि वह इस धन को संतान की शिक्षा दीक्षा और पालन-पोषण पर व्यय करे तो शायद वे ४०० या ५०० रु० सालाना कमा सकें। बहुत से समझदार व्यक्ति दूसरे प्रकार की बचत करना पसन्द करते हैं। टिकाऊ माल पर खर्च करके—जैसे सीने की मशीन या टाइपराइटर—कोई व्यक्ति बचत कर सकता है। वास्तव में वे सभी खर्चे, जिनसे किसी व्यक्ति की कार्य क्षमता बढ़ती है और जिनकी सहायता से वह अधिक अर्जन कर सकता है, एक प्रकार की बचत ही हैं। उनको व्यय नहीं, विनियोग कहना चाहिये।

विवाह आदि। धनवान होने के लिए या अपनी अनार्जित आय बढ़ा कर समाज में सम्मान पाने के लिए भी बचत की जा सकती है। भविष्य में अधिक आराम का प्रबन्ध करने के विचार से भी बचत की जा सकती है। कभी कभी लोग इस कारण भी बचत करते हैं कि वे अधिक व्यय करना नापसन्द करते हैं या फिर उन्हें बचत करने की आदत ही पड़ जाती है। परिवार के प्रति स्नेह भी बचत का कारण होता है। इसलिए भी बचत की जाती है कि अपने परिवार के लिए उन दिनों का प्रबन्ध हो जाय जब कि कमाने वाला व्यक्ति जीवित न होगा। बचत का एक बहुत बड़ा भाग पारिवारिक स्नेह के कारण किया जाता है—यह इससे स्पष्ट हो जाताहै कि लोग अपनी बचत के समस्त धन को अपने जीवन काल ही में खर्च नहीं कर डालते, बल्कि उसे अपनी संतान या अपने आश्रितों के लिए छोड़ जाते हैं। कभी-कभी लोग इस कारण भी मितव्ययता से रहते हैं कि वे सेवा-संस्थाओं को बहुत सा धन दान में देना चाहते हैं। अन्त में, किसी व्यक्ति के बचत करने का कारण यह भी हो सकता है कि राष्ट्र के हित में बचत करने की आवश्यकता है। युद्ध काल में इस कारण से बचत की जाती है।

वस्तुनिष्ठ कारण—उन परिस्थितियों पर निर्भर रहते हैं जो बचत करने वाले से बाहर होती हैं। कोई व्यक्ति तभी बचत कर सकता है जब कि उसकी चालू आय उसकी चालू आवश्यकताओं से अधिक हो। ऐसा न होने के कारण ही हमारे देश में मध्यवर्ग द्वारा की जाने वाली बचत इतनी कम है। कीमतों में जितनी अधिक वृद्धि हुई है, मध्यवर्ग की आय उसके अनुपात में नहीं बढ़ी है। बचत की गुंजाइश कुल आय पर भी निर्भर रहती है। भारत में अधिकांश व्यक्तियों की आय बहुत कम है। बचत वास्तविक आय पर भी निर्भर रहती है। वास्तविक आय वह परिमाण है जो कुल आय में से सरकारी करों द्वारा ले लिए जाने वाले भाग को घटाने पर बच रहता है। यदि करों द्वारा बहुत अधिक आय सरकार ले ले तो वास्तविक बचत की गुंजाइश कम रह जायेगी। जब आय-कर की दर कम थी तो लोग अपने जीवन में ही प्रचुर धन जमा कर सकते थे; आय-कर की दरों में वृद्धि हो जाने के कारण अब ऐसा करना बहुत कठिन हो गया है। बचत की वृद्धि जीवन तथा सम्पत्ति की सुरक्षा पर भी निर्भर रहती है। इस विषय में प्रत्येक व्यक्ति को यथोचित निश्चिन्तता होनी चाहिए कि उसके त्याग व्यर्थ न जाएँगे अर्थात् उसकी बचत उसके अपने उपभोग या उन लोगों के उपभोग के लिए मिल सकेगी जिनके लिए वह प्रबन्ध कर जाना चाहता है। अँग्रेजी राज्य से पूर्व खर्चीले सरदार उस समय बहुत कम बचत करते थे क्योंकि उनकी बचत के धन की सुरक्षा कर इकट्ठा करने वाले या धन लोलुप कर्मचारियों की दया पर निर्भर रहती थी। हमले और लूट आदि के डर से भी बचत बहुत कम की जाती थी। प्रकृति की शक्तियों की निर्दयता और अनिश्चितता से भी सुरक्षा की आवश्यकता है। भूचालों, ज्वालामुखियों और बाढ़ों के रोप के कारण भी मनुष्य की विलासप्रियता बढ़ जाती हैं। यह भी आवश्यक है कि राज्यसत्ता स्थिर हो, सामाजिक या राजनीतिक क्रांति का भय न हो और सम्पत्ति-हरण या दण्ड रूप करों के लगाए जाने की भी आशंका न हो।

विनिमय के साधन के रूप में द्रव्य के प्रयोग से बचत के विकास में बड़ी सुविधा हो गई है। कुछ सेवाओं तथा शीघ्र नष्ट हो जाने वाली वस्तुओं को भावी प्रयोग के लिए संचित रखना कठिन होता है। परिणामस्वरूप द्रव्य बचत के संचय का एक सुगम साधन

है। बचत का विनियोग (investment) करने के लिए लाभपूर्ण क्षेत्र भी होने चाहिए। यह एक सर्वविदित सत्य है कि भारत के ग्रामीणों में बचत करने की आदत के अभाव का एक कारण यह भी है कि देहातों में विनियोग की सुविधाएँ नहीं हैं। बैंकों, संयुक्त-पूंजी कम्पनियों, उधार की सरकारी योजनाओं और डाकखाने द्वारा दी जाने वाली विनियोग की सुविधाओं की वृद्धि से भारत में बचत करने की आदत को बहुत बल मिला है। अंत में, बचत की वृद्धि व्याज की दर पर भी निर्भर रहती है। बचत करने पर उपभोग को स्थगित कर देना पड़ता है और बचत करनेवाले को प्रतीक्षा के रूप में त्याग करना पड़ता है। व्याज प्रतीक्षाजन्य त्याग का प्रतिफल है। कोई व्यक्ति तब तक बचत करता जाता है जब तक उसका प्रतिफल उसके त्याग से कम नहीं होता। परिणामस्वरूप ऊँचे व्याज पर कम व्याज की अपेक्षा अधिक बचत होती है। इसलिए साधारणतया बचत की दर व्याज की दर के साथ साथ घटती-बढ़ती है। फिर भी कुछ परिस्थितियों में ऐसा सम्भव है कि व्याज कम होने पर कोई व्यक्ति अधिक बचत करे; जब कोई व्यक्ति अपने या अपने उत्तराधिकारियों के लिये भविष्य में एक निश्चित आय का प्रबन्ध करता है, तब ऐसा होता है। व्याज की दर कम हो जाने पर भविष्य में एक बँधी हुई आय पाने के लिये अधिक बचत और अधिक विनियोग करना पड़ता है। ऐसी दशाओं में बचत का परिमाण व्याज दर के प्रतिकूल होता है।

जाता है। यदि एक साधन को समान (constant) रखा जाय और दूसरे को थोड़े परिमाण में बढ़ाया जाय तो उत्पत्ति या तो परिवर्ती (variable) साधन की वृद्धि से अधिक अनुपात में बढ़ेगी (जिसे वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि कहा जाता है); या उत्पत्ति परिवर्ती साधन की वृद्धि से कम अनुपात में बढ़ेगी (जिसे ह्रासमान प्रत्युपलब्धि कहा जाता है)। जब उत्पत्ति समान अनुपात से बढ़ती है तो सम-प्रत्युपलब्धि नियम लागू होता है। किन्तु प्रत्येक दशा में उत्पत्ति में वृद्धि अवश्य होनी चाहिए, अन्यथा उत्पादक का परिवर्ती साधन को बढ़ाना सार्थक न होगा। अब हम कुछ उदाहरण लेते हैं।

	यंत्र + १०० श्रमिकों से उत्पत्ति = २०० इकाइयां
उदाहरण १	यंत्र + १०१ " " = २०३ "
" २	यंत्र + १०१ " " " २०१ "
" ३	यंत्र + १०१ " " " २०२ "

पहले उदाहरण में एक साधन (यंत्र) को समान रखा जाता है और दूसरे साधन (श्रम) में १ प्रतिशत वृद्धि की जाती है जिससे उत्पत्ति एक प्रतिशत से अधिक १½ प्रतिशत बढ़ जाती है। अतः यह उदाहरण वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि का है। यह भी कहा जाता सकता है कि यह दृष्टान्त ह्रासमान-लागत का है। उत्पादन को लागत के दृष्टिकोण से देखने का यह लाभ है कि बदलती हुई लागत की कीमत से तुलना करने पर हम तुरन्त जान सकते हैं कि उत्पादन को चलाते रहना ठीक है या नहीं। इसमें हमें यह भी पता चलता है कि उत्पादन से कितना लाभ हो रहा है।

दूसरे उदाहरण में उत्पत्ति में केवल ½ प्रतिशत वृद्धि हुई है जब कि यंत्रों की संख्या वही है और श्रमिकों की संख्या एक प्रतिशत बढ़ाई गई है। यह ह्रासमान प्रत्युपलब्धि या वृद्धिमान लागत का उदाहरण है। तीसरे उदाहरण में उत्पत्ति ठीक उसी अनुपात में (अर्थात १ प्रतिशत) बढ़ी है जिससे श्रमिकों की संख्या। यह सम-प्रत्युपलब्धि या सम-लागत का उदाहरण है। इन सब उदाहरणों में यह ध्यान रखना चाहिये कि श्रम को छोड़ कर अन्य सब साधनों को समान रखा गया है। अपरिवर्ती भूमि, खेती के औज़ार और बैल आदि के साथ क्रमशः श्रम की अधिक मात्रा लगाने पर भूमि से वृद्धिमान या ह्रासमान प्रत्युपलब्धियां प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार अपरिवर्ती यंत्र, पूंजी, कच्चे माल आदि पर श्रम को अधिक मात्रा में लगाने पर इससे वृद्धिमान या ह्रासमान प्रत्युपलब्धियां प्राप्त होती हैं। तैयार माल बनाने वाले उद्योगों में जब एक और श्रमिक लगाया जाता है तब यंत्र, पूंजी, कच्चे माल आदि को तो समान ही रखा जाता है किन्तु कच्चे माल का इस प्रकार नियोजन किया जाता है कि नये श्रमिक के लिए भी काम निकल आये। यदि किसी दर्जी की दुकान में एक श्रमिक अधिक लगाया जाता है और सीने की मशीन, तागे, बटन, आदि की संख्या उतनी ही रहे तो नए दर्जी को काम दे सकने के लिए यह आवश्यक है कि काम का पुनर्नियोजन किया जाय। नया दर्जी तभी उत्पादन कर सकेगा जब उसे तागा, कपड़ा, आदि दिया जाय। लेकिन मान लीजिए कि दिए हुए सामान से पहले दर्जी प्रति दिन २० कमीज़ें बनाते थे और एक नए दर्जी के आ जाने पर कमीज़ों का उत्पादन बढ़ कर २३ हो जाता है, तो श्रम की सीमान्त उत्पादकता तीन कमीज़ है। यदि प्रत्येक कमीज़ २ रु० ८ आ० के हिसाब से बिके तो द्रव्य में श्रम की सीमान्त उत्पादकता या (सही शब्दों में) 'सीमान्त उत्पादकता का मूल्य' (Value of marginal productivity) ७ रु०-८आ० होगा। यदि नए श्रमिक की मजदूरी इस सीमान्त उत्पादकता (७ रु०-८ आ०)

से अधिक हो तो उसे काम पर नहीं लगाया जायगा क्योंकि इससे अधिक मज़दूरी देने पर उत्पादक को हानि होगी । किन्तु यदि मज़दूरी की दर इस सीमान्त उत्पादकता से कम हो तो उत्पादक अपनी मशीन आदि से पूरा काम लेने के लिए अधिक श्रमिकों को नियुक्त कर लेगा ।

तैयार माल बनाने वाले उद्योग और खेती दोनों ही में ज्यों-ज्यों एक साधन की मात्रा, अन्य साधनों को समान रख कर, बढ़ाई जाती है, त्यों-त्यों उत्पादन की लागत प्रति इकाई कम होती जाती है। इसका कारण यह है कि अतिरिक्त श्रमिक के आ जाने से यह सम्भव हो जाता है कि वर्तमान यंत्रों का पूरी तरह उपयोग हो सके। यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक यंत्रादि का उपयोग उसकी 'अनुकूलतम सामर्थ्य' तक नहीं हो जाता और अनुकूलतम सामर्थ्य तक उपयोग उस स्थिति में होता है जब श्रमिकों की संख्या घटाने या बढ़ाने से उत्पादन की लागत बढ़ने लगती है। उपर्युक्त चित्र में उत्पादन की प्रति इकाई लागत **ग** अक्ष पर दिखाई गई है और उत्पादित वस्तु की इकाइयों की संख्या **ख** अक्ष पर। उत्पादन की प्रति इकाई लागत **क म** उत्पत्ति तक कम होती जाती है। यह अनुकूलतम उत्पत्ति है और यहां उत्पादन करने वाला कारखाना अपनी अनुकूलतम सामर्थ्य पर चल रहा है। इस बिन्दु पर उत्पादन की लागत न्यूनतम है। यदि उत्पादन को एक इकाई कम या अधिक कर दिया जाय तो लागत बढ़ जायगी। अनुकूलतम उत्पादन के इस बिन्दु पर उत्पादन की लागत न्यूनतम होती है। यदि उत्पत्ति को एक इकाई बढ़ा दिया जाय तो लागत बढ़ जायगी क्योंकि ऐसा करने पर ह्रासमान प्रत्युपलब्धि (जिसे वृद्धिमान उत्पादन की लागत द्वारा दिखाया गया है) आरम्भ हो जाती है। यदि उत्पत्ति को एक इकाई कम कर दिया जाता है तो भी लागत बढ़ जायगी क्योंकि ऐसा करने पर उत्पादक एक ऐसी स्थिति में आ जाता है जिसमें वह कुछ अधिक श्रमिक लगा कर वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि प्राप्त कर सकता है। ऐसी स्थिति में उत्पादक अधिक श्रमिक अवश्य लगायेगा क्योंकि न्यूनतम लागत या अनुकूलतम मात्रा पर उत्पादन करना उसके हित में है। यह इस कारण कि जब स्पर्द्धा होती है तब, जिस उत्पादक की लागत न्यूनतम होती है, उसकी स्पर्द्धा शक्ति भी अधिक होती है। यदि वस्तुओं की कीमतें दी हुई हों, तो उत्पादन की लागत कम होने पर उत्पादक का लाभ बढ़ जाता है। स्वाभाविक ही है कि जब उत्पादन अनुकूलतम मात्रा पर होता है, तब लाभ अधिकतम होता है। इसलिए प्रत्येक उत्पादक उत्पादन की अनुकूलतम मात्रा तक पहुँचना चाहता है। दूसरे शब्दों में प्रत्येक उत्पादक वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि का या बड़े पैमाने पर उत्पादन करने का पूरा पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में वह सफल होता है या नहीं यह कई बातों पर निर्भर है।
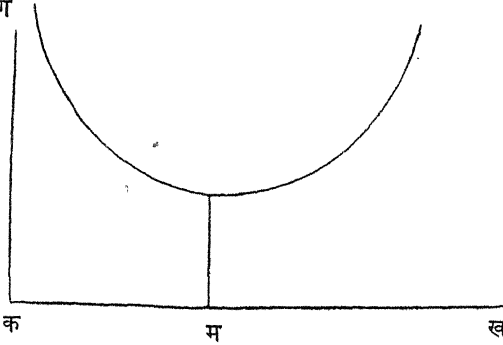
अनुकूलतम आकार (Optimum size)—बड़े पैमाने के उत्पादन या, दूसरे शब्दों में, प्रत्युपलब्धि के नियमों के अध्ययन में अनुकूलतम आकार का बहुत महत्व है। अनुकूलतम आकार तक वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि प्राप्त होती है या दूसरे शब्दों में उत्पत्ति बढ़ाने पर बड़ी मात्रा के उत्पादन की मितव्ययताएँ प्राप्त होती हैं। अनुकूलतम आकार के आगे बड़े पैमाने के उत्पादन

के नुकसान (या ह्रासमान प्रत्युपलब्धि) शुरू हो जाती है। चित्र में निरूपित क म उत्पादन अनुकूलतम परिमाण पर हो रहा है। अनुकूलतम आकार पर उत्पादन न्यूनतम लागत पर होता है।

किसी भी उद्योग का कोई एक अनुकूलतम आकार नहीं होता। स्थान तथा यंत्रादि के अनुसार वह भी बदलता रहता है। उसकी भिन्नता कई बातों पर निर्भर होती है—जैसे यंत्रों का स्वरूप, कच्चेमाल तथा शक्ति की पूर्ति, बाज़ार का विस्तार आदि। वैज्ञानिक अन्वेषणों तथा औद्योगिक संगठन के बदलने के साथ ही साथ अनुकूलतम आकार भी बदलता है। उदाहरण के लिए १९३२ के टैरिफ बोर्ड ने प्रतिदिवस ४०० टन गल्ला पेरने वाले कारखाने को अनुकूलतम आकार वाला माना था जबकि १९३८ में ५०० टन प्रतिदिवस और १९४८ में ८५० टन प्रतिदिवस गल्ला पेरने वाले चीनी के कारखाने को अनुकूलतम आकार का माना गया। इसी कारण उत्तर प्रदेश तथा बिहार की सरकारों ने ८५० टन से कम शक्ति वाले कारखानों को इस सीमा तक आकार बढ़ाने की सुविधाएँ दीं। १९३२ के टैरिफ बोर्ड ने अहमदाबाद के सूती कपड़े के उस कारखाने को अनुकूलतम आकार का घोषित किया जिसमें ६००-७०० करघे और २०,०००-२५,००० तकुए हों तथा बम्बई में उस कारखाने को जिसमें कम से कम १००० करघे तथा ३५,०००-४०,००० तकुए हों। बम्बई के अनुकूलतम आकार को अहमदाबाद के अनुकूलतम आकार से बड़ा रखने का प्रमुख कारण यह था कि बम्बई में जल-विद्युत प्रणाली से विद्युत-शक्ति मिल जाती है परन्तु अहमदाबाद में मिलों को अपने लिए शक्ति स्वयं उत्पन्न करनी पड़ती है और विद्युत यंत्र का अनुकूलतम आकार छोटा होने के कारण अहमदाबाद की सूती मिलों का अनुकूलतम आकार भी छोटा हो जाता है। जूट मिलों के क्षेत्र में अनुकूलतम आकार उन कारखानों का माना जाता है जिनमें ५००-१५०० तक करघे हों।

वास्तव में सब मिलें अनुकूलतम आकार की नहीं होती। कुछ तो बहुत बड़ी होती हैं और कुछ बहुत छोटी। किन्तु बड़े पैमाने के उत्पादन का यथासम्भव अधिक फायदा उठाने के लिए अर्थात् न्यूनतम लागत पर उत्पादन करने के लिए प्रत्येक मिल अनुकूलतम आकार तक पहुँचने का प्रयत्न करती है।

वास्तविक क्षमता		१९३६-३७ में काम करती हुई चीनी मिलों की संख्या
१–२५०	टन प्रति दिवस	२६
२५१–५००	"	५०
५०१–७५०	"	३४
७५१–१०००	"	२२
१००१ से अधिक	"	८
	कुल	१४०

चीनी उद्योग सम्बन्धी इन आंकड़ों से ज्ञात होता है कि केवल लगभग एक तिहाई मिलें ही अनुकूलतम आकार की हैं। शेष या तो बहुत छोटी हैं या बहुत बड़ी। यही बात अन्य उद्योगों के विषय में भी सच है। बम्बई मिल मालिक संघ का अनुभव था कि अनुकूलतम आकार की टैरिफ बोर्ड द्वारा दी गई परिभाषा के अनुसार २७० मिलों में से केवल १५८ मिलें ही इस आकार की थीं। अहमदाबाद में एक दूसरे अनुमान के अनुसार २७७ मिलों में से केवल १२७ मिलें ही अनुकूलतम आकार की थीं।

बड़े पैमाने के उत्पादन से फायदे—बड़े पैमाने के उत्पादन से फायदे क्यों होते हैं ? अनुकूलतम आकार तक पहुँचने तक उत्पादन की लागत क्यों कम होती जाती है ? वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि क्यों होती है ? मार्शल के मतानुसार उत्पादन की आंतरिक और वाह्य मितव्ययताओं के कारण ऐसा होता है। आंतरिक मितव्ययताएँ वे हैं जिन पर कोई साहसोद्यमी अपने प्रयत्नों से नियंत्रण कर सकता है—जैसे विभिन्न विभागों का उच्चतम संगठन, उत्पादन का अच्छा ढंग या काम को इस प्रकार विभाजित करना कि प्रत्येक काम सबसे उपयुक्त कार्यकर्ता द्वारा किया जाय। वाह्य मितव्ययताएं वे हैं जो प्रत्येक उत्पादन को उद्योग के आकार के प्रसार के कारण प्राप्त होती हैं; ये उत्पादक के नियंत्रण में नहीं होतीं। यातायात या डाकखाने की सुविधाएँ, सहायक उद्योगधंधों की उत्पत्ति और कार्य के उपयुक्त श्रम और पूंजी का मिलना इसके उदाहरण हैं। प्रत्येक उत्पादक को इन उपलब्ध मितव्ययताओं में से चुनाव करना पड़ता है। इनकी पूर्ति में वृद्धि करना या इनके गुणों में उन्नति करना किसी एक उत्पादक के लिए सम्भव नहीं है। ये सुविधाएं या तो किसी योजना के कारण या उद्योग के विस्तार के फलस्वरूप प्राप्त होती है।

आंतरिक मितव्ययताओं का, या दूसरे शब्दों में, उत्पत्ति के बढ़ने से उत्पादन की लागत में कमी होने का कारण है—अपरिवर्ती साधन की अविभाज्यता। यह अविभाज्यता दफ्तर के सामान, बिक्री सम्बन्धी संगठन तथा अन्य ऐसे ही संगठनों में होती है (इस प्रकार के संगठन प्रत्येक फर्म के साथ जुड़े होते हैं)। अविभाज्यता से हमारा तात्पर्य है—मानवीय कोशल की, एक आकार विशेष से छोटे आकार के यंत्र बना सकने की असमर्थता। मान लीजिए हमें सीमेंट का उत्पादन करना है। ऐसा कोई यन्त्र नहीं बनाया जा सकता जो प्रतिदिन केवल एक बोरा सीमेंट का ही उत्पादन कर सके। यदि यंत्र की शक्ति प्रतिदिन १००० बोरों का उत्पादन करने की है और यदि हम उससे केवल एक बोरे सीमेंट का ही उत्पादन करते हैं, तो इस बोरे की लागत बहुत अधिक होगी, क्योंकि चाहे हम एक बोरा सीमेंट का उत्पादन करें या एक हजार का, काम में पूरे यंत्र को ही लगाना पड़ेगा। कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में यंत्र अविभाज्य है। यदि हम और अधिक श्रम और कच्चे माल का उपयोग करके अधिक सीमेंट का उत्पादन करें तो मशीन की कार्य-शक्ति का उच्चतर और उत्तमतर उपयोग होगा। अब यंत्र को चालू करने की लागत अधिक इकाइयों पर पड़ेगी और इस कारण प्रति इकाई लागत कम हो जायगी। बड़े पैमाने के उत्पादन से होने वाले फायदों का या वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि का यही प्रमुख कारण है। जैसे जैसे उत्पादन बढ़ता है, कुल लागत में प्रत्येक सीमेंट के बोरे के हिस्से का अनुपात कम होता जाता है। ऐसी लागतों को अपरिवर्ती या ऊपरी (constant or overhead) लागत कहा जाता है। उत्पत्ति की प्रति इकाई लागत के कम होने का कारण यह है कि ऊपरी लागतों में अब उत्पत्ति की अधिक इकाइयाँ हिस्सा बटाती हैं। अकुशल श्रम और कच्चे माल आदि को तभी खरीदा जायगा जब कि सीमेंट का उत्पादन किया जाय। इन पर होने वाली लागत को परिवर्ती लागत कहा जायगा। यदि अधिक सीमेंट का उत्पादन किया जाता है तो परिवर्ती लागत अधिक होती है और यदि कम सीमेंट का उत्पादन किया जाय तो परिवर्ती लागत कम होती है।

नीचे के उदाहरण में पहले दृष्टान्त में १००० बोरों के उत्पादन की सामर्थ्य रखने वाली मशीन से दस बोरे सीमेंट का उत्पादन किया जाता है। फल यह होता है कि प्रति बोरे सीमेंट की लागत १०२ रु० है। यदि बड़ी संख्या में सीमेंट का उत्पादन हो तो उत्पादन की लागत

कम हो जाय। यदि हम एक हज़ार बोरे सीमेन्ट का उत्पादन करें तो ऊपरी लागत लगभग समान ही रहेगी। जब मशीन से अधिक काम लिया जाता है तब उसका अधिक ध्यान रखना पड़ता है और उसमें अधिक तेल डालने की आवश्यकता होती है। इसलिए ऊपरी लागत थोड़ी बढ़ जाती है। दृष्टान्त १ में ऊपरी लागत १००० रु० है। दृष्टान्त २ में वह ११०० रु० हो जाती है। पहले दृष्टान्त में परिवर्ती लागत २० रु० है जब कि दूसरे दृष्टान्त में वह २००० रु० है। इन उदाहरणों में यह मान लिया गया है कि परिवर्ती लागत उत्पत्ति के बढ़ने के अनुपात में बढ़ती है।

दृष्टान्त १ प्रतिदिवस उत्पादित सीमेंट के बोरों की संख्या

		रु०
१०	ऊपरी लागत	१,०००
	परिवर्ती लागत	२०
प्रति इकाई अर्थात् प्रति बोरा लागत १०२ रु०		१,०२०

दृष्टान्त २

१०००	ऊपरी लागत	१,१००
	परिवर्ती लागत	२,०००
प्रति इकाई अर्थात् प्रति बोरा लागत ३.१ रु०		३,१०० रु०

जैसे-जैसे उत्पत्ति बढ़ती है, उत्पादन की लागत कम होती जाती है और जब १००० बोरे प्रतिदिन की अनुकूलतम उत्पत्ति होती है तब लागत न्यूनतम (३.१ रु०) होती है। इसी प्रकार जैसे-जैसे अधिक उत्पादन किया जाता है उत्पत्ति की प्रति इकाई दफ्तर के खर्चे कम होते जाते हैं क्योंकि यह अपरिवर्ती लागत अधिक इकाइयों पर पड़ती है। ज्यों-ज्यों किसी उद्योग (फर्म नहीं) का आकार बढ़ता है और प्रमुख उद्योग के लिए अर्ध-निर्मित माल का उत्पादन करने के लिए सहायक उद्योगों का जन्म होता है, त्यों-त्यों उक्त अविभाज्यता सिद्धान्त के अनुसार प्रमुख उद्योग की उत्पादन की लागत कम होती जाती है। जब भारतीय काँच उद्योग बड़ा न था तब उसे कांच की पारसलों के बांधने के सामान का स्वयं ही उत्पादन करना पड़ता था जिसमें बहुत लागत लगती थी। अब उद्योग के आकार में विस्तार हो गया है इसलिए सामान बांधने की चीजें एक सहायक उद्योग से सस्ती मिल जाती हैं। आरम्भ में मोटरों का उत्पादन करने वाले अपनी आवश्यकता का कांच, रबड़ और बिजली का सामान स्वयं बनाते थे; जिससे लागत अधिक पड़ती थी। अब इन चीज़ों को बाजार से बहुत सस्ते दामों पर खरीदा जा सकता है और इस प्रकार मोटर बनाने की लागत बहुत कम हो जाती है।

ह्रासमान प्रत्युपलब्धि—जब उत्पादन का आकार अनुकूलतम आकार से बढ़ जाता है, या यों कहें कि अपरिवर्ती साधनों की सहायता से और अधिक उत्पादन किया जाता है, तब प्रति इकाई लागत बढ़ने लगती है। ऐसा बड़े पैमाने के उत्पादन की अमितव्ययताओं (diseconomies) या ह्रासमान प्रत्युपलब्धि (diminishing returns) के कारण होता है। ह्रासमान प्रत्युपलब्धि उद्योग तथा कृषि दोनों में हो सकती है। यदि भूमि के किसी एक टुकड़े में गहन या प्रकर्षक (intensive) खेती की जाय तो कुछ समय बाद उत्पादन की लागत बढ़ने लगती है। तैयार माल का उत्पादन करने वाले उद्योगों में यदि उत्पादन एक सीमा

से आगे बढ़ाया जाय तो उत्पत्ति की प्रति इकाई उत्पादन की लागत बढ़ने लगती है। ह्रासमान प्रत्युपलब्धि का सही अर्थ क्या है ? ह्रासमान प्रत्युपलब्धि की मार्शल द्वारा दी गई परिभाषा इस प्रकार है—"खेती में लगे पूंजी और श्रम की वृद्धि से, यदि साथ ही साथ कृषि कला में उन्नति न की जाय, तो उत्पन्न होने वाली उपज में सामान्यतः अनुपातिक वृद्धि कम होती है।" जहां तक इस परिभाषा का क्षेत्र है, यह ठीक है और सावधानी से प्रयोग करने पर इससे सही निश्कर्ष भी निकाले जा सकते हैं। वृद्धिमान और ह्रासमान प्रत्युपलब्धि की एक अपेक्षाकृत आधुनिक परिभाषा अकाट्य और परिष्कृत है। "ह्रासमान प्रत्युपलब्धि का नियम—जिस प्रकार इसकी प्रायः व्याख्या की जाती है, यह बतलाता है कि उत्पादन के एक साधन का परिमाण यदि अपरिवर्ती हो तो अन्य साधनों के परिमाण की क्रमशः वृद्धि से, एक सीमा के बाद, उत्पत्ति में ह्रासमान वृद्धि होगी। यदि उत्पादन की लागत के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो यदि एक साधन परिमाण में अपरिवर्ती हो और अन्य साधनों का परिमाण बढ़ाया जाय, और यदि इन अन्य साधनों के परिमाण के बढ़ने से उनकी निपुणता में कोई उन्नति या उनकी कीमत में कोई कमी न हो तो, एक सीमा के बाद उत्पत्ति की प्रति इकाई उत्पादन की लागत बढ़ने लगेगी" (श्रीमती जोन रोबिन्सन)। इस परिभाषा से लेखिका की वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि की परिभाषा की तुलना कीजिए: "जब उत्पादन में लगे हुए किसी साधन के परिमाण को बढ़ाया जाता है तो बहुधा यह होता है कि संगठन में उन्नति करना सम्भव हो जाता है, जिसके कारण साधन (मनुष्य, भूमि या पूंजी) की स्वाभाविक इकाइयां अधिक निपुण हो जाती हैं, जिससे यह आवश्यकता नहीं रहती कि उत्पादन की वृद्धि के साथ साधनों के भौतिक परिमाण में आनुपातिक वृद्धि की जाय।" इन दो परिभाषाओं की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि से ह्रासमान प्रत्युपलब्धि अधिक आधारभूत है।

ह्रासमान प्रत्युपलब्धि के क्या कारण हैं ? वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि को जन्म देने वाली अविभाज्यता ह्रासमान प्रत्युपलब्धि का भी कारण है। यदि दृष्टान्त २ की भांति उत्पादन अनुकूलतम मात्रा पर हो रहा हो और उन्हीं यंत्रों से और अधिक उत्पत्ति करने का प्रयत्न किया जाय तो परिणाम यह होगा कि अपरिवर्ती साधन पर अत्यधिक भार पड़ेगा; इसलिए टूट-फूट और घिसाई अधिक होगी और यदि वह साधन यंत्र है तो अधिक तेल देने और अधिक देखरेख की आवश्यकता होगी। इसके कारण ऊपरी व्यय अनुपात से अधिक बढ़ जावेगा।

दृष्टान्त ३	प्रति दिवस सीमेंट के बोरों की संख्या		कुल लागत
	१,१००	ऊपरी लागत	१,४००
		परिवर्ती लागत	२,२००
			कुल रु० ३,६००

प्रति इकाई अर्थात् सीमेंट के प्रति बोरे की लागत ३·२७ रु०

तीसरे दृष्टान्त में मशीन पर अत्यधिक भार के कारण प्रति इकाई लागत ३·२७ रु० तक बढ़ जाती है जब कि दृष्टान्त २ में यह ३·१ रु० ही थी। इसका कारण यह है कि **यंत्र सामर्थ्य** भर कार्य कर रहा है और उसमें कुछ भी सामर्थ्य बाकी नहीं रही जिसका फायदा उठाया जा सके। क्योंकि वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि की सुविधायें नहीं हैं अतः उत्पादन बढ़ाने पर ह्रासमान प्रत्युपलब्धि अवश्य आरम्भ हो जायगी। भूमि के विषय में इसे स्पष्ट रूप से देखा जा

सकता है। गहन खेती से मिट्टी की उर्वरता का क्षय होता है और उर्वरता के कम होने पर फसल की उपज कम होती है, या दूसरे शब्दों में उपज की लागत बढ़ जाती है।

उत्पादन की वृद्धिमान लागत का एक अन्य मुख्य कारण परिवर्ती साधनों की पूर्ति का सीमित होना भी है। अन्तत: किसी उद्योग को प्राप्त श्रम, कच्चे माल आदि का परिमाण सीमित ही होता है। यह स्मरणीय कि यहां हमारा तात्पर्य प्रत्येक फर्म से नहीं बल्कि उद्योग भर से है। एक सूती मिल के लिए अधिक कपास खरीद कर उत्पत्ति बढ़ाना सम्भव है। इससे बाजार में कपास की कीमत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। किन्तु यदि भारत के सूती मिल उद्योग का अर्थात् इस उद्योग के अंतर्गत सब सूती मिलों का, सूत और कपड़े का उत्पादन बढ़ जाता है और वह अधिक कपास खरीदती हैं तो कपास की कीमत अवश्य ही बढ़ जायगी। एक सीमा तक तो कपास को अन्य उपयोगों से आकर्षित किया जायगा, उसका अधिक आयात होगा और, यदि दीर्घकाल को ध्यान में रखा जाय तो, कह सकते हैं कि देश में उसका अधिक उत्पादन किया जायगा। किन्तु एक सीमा के बाद ऐसा नहीं होगा। ऐसी दशा में कपड़े की उत्पत्ति में और इसके परिणाम स्वरूप कपास की माँग में वृद्धि होने से कपास की कीमत में तेज़ी से वृद्धि होगी। उद्योग या कृषि द्वारा मांग बढ़ने पर परिवर्ती साधनों की कीमतों में वृद्धि उत्पादित वस्तु की लागत बढ़ जाने का एक मुख्य कारण होती है। प्रकृति की देन सीमित है ओर एक सीमा के बाद कच्चे माल, कोयले और श्रम के परिमाण को बढ़ाना सम्भव नहीं। यही ह्रासमान प्रत्युपलब्धि का कारण है।

यहां काम में लगे हुए साधन की प्रति इकाई ह्रासमान प्रत्युपलब्धि तथा किए गए खर्चे की प्रति इकाई ह्रासमान प्रत्युपलब्धि में भेद करना आवश्यक है। जब किसी वस्तु के उत्पादन में कई साधन सहयोग देते हों तब पहले प्रकार के ह्रासमान प्रत्युपलब्धि का हिसाब लगाना सम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। दूसरे प्रकार की ह्रासमान प्रत्युपलब्धि का पता लगाना कठिन नहीं है। यद्यपि पहले प्रकार की प्रत्युपलब्धि का हिसाब लगाना संभव नहीं (क्योंकि कई अ-समान साधनों का उपयोग किया जाता है) फिर भी अपनी विचारधारा में साधनों पर प्रत्युपलब्धि और खर्चे पर प्रत्युपलब्धि—इन दोनों में भेद करने से एक उपयोगी उद्देश्य की सिद्धि होती है। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं कि ह्रासमान प्रत्युपलब्धि एक या अधिक साधनों की अविभाज्यता के कारण होती है तो हम खर्चे के दृष्टिकोण से नहीं बल्कि साधन या साधनों की स्थूल इकाइयों के दृष्टिकोण से यह बात कहते हैं। एक साधन का परिमाण बढ़ाए बिना ही हमें इस कारण अधिकाधिक प्रत्युपलब्धि हो सकती है कि हम उस साधन का अधिक पूर्ण उपयोग कर पाते हैं। इसी प्रकार ह्रासमान प्रत्युपलब्धि तब होती है जब कुछ साधनों की अधिक इकाइयों का उपयोग करने पर भी हमें अधिक उत्पत्ति (कम से कम साधन के वृद्धि के अनुपात में) नहीं मिल पाती क्योंकि अपरिवर्ती सहयोगी साधन के सीमित होने के कारण इन बढ़ी हुई इकाइयों का समुचित उपयोग नहीं हो पाता। यहां यह माना गया है कि ह्रासमान प्रत्युपलब्धि उत्पादन प्रणाली की विशेषताओं के कारण होती है।

किन्तु जब यह कहते हैं कि ह्रासमान प्रत्युपलब्धि परिवर्ती साधनों के न्यून और इसलिए अधिक महँगे हो जाने के कारण भी हो सकती है तब हम उत्पादन कार्य को खर्चे के दृष्टिकोण से देखते हैं। साधनों का वही परिमाण उतना ही उत्पादन करता है जितना वह पहले करता था किन्तु अब साधनों पर अधिक व्यय होता है। यह उत्पादन का तांत्रिक पक्ष नहीं है किन्तु इसे उत्पादन का व्यापार पक्ष कहा जा सकता है।

अर्थात् इसके विभिन्न विन्दु **ख** अक्ष पर निरूपित **ख** साधन और **ग** अक्ष पर निरूपित **ग** साधन के उन विभिन्न परिमाणों को दिखाते हैं जिनकी **स स** वक्र द्वारा सूचित वस्तु के परिमाण विशेष के उत्पादन के लिए आवश्यकता है। यह वक्र निम्न सम्बन्ध को सूचित करता है:—

$$\frac{\text{साधन ग की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{साधन ख की सीमान्त उत्पादकता}}$$

रेखा **म म**, एक साधन की दूसरे साधन में कीमत सूचित करती है और निम्न सम्बन्ध बताती है :—

$$\frac{\text{साधन ग की कीमत}}{\text{साधन ख की कीमत}}$$

वक्र **स स** और रेखा **म म**, ब विन्दु पर मिलती हैं जहां पर उत्पादक संस्थिति में है। इस बिन्दु पर निम्न सम्बन्ध स्थापित हो जाता है—

$$\frac{\text{ख की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{ग की सीमान्त उत्पादकता}} = \frac{\text{ख की कीमत}}{\text{ग की कीमत}}$$

इसे यों भी लिखा जा सकता है—

$$\frac{\text{ख की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{ख की कीमत}} = \frac{\text{ग की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{ग की कीमत}}$$

इस प्रकार ब विन्दु पर उत्पादन के साधनों की सीमान्त उत्पादकता और उनकी कीमतों में अनुपात समान हो जाता है और इसी विन्दु पर उत्पादक संस्थिति में हो जाता है। उसे किसी एक साधन के लिए किसी दूसरे साधन का प्रतिस्थापन करने का प्रलोभन बाकी नहीं रह जाता।

अध्याय १९

जनसंख्या का सिद्धान्त

मानव जाति के इतिहास से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से ही जनसंख्या की समस्या बहुत महत्वपूर्ण रही है। पुरानी जंगली जातियों में भी हम एक ऐसे नियम को कार्य शील पाते हैं जो जनसंख्या की वृद्धि को नियंत्रित रखता था। इस क्षेत्र में सामाजिक या राजनीतिक दृष्टि से मानवीय आचार के निर्देशन के लिए थोड़े बहुत स्पष्ट रूप से सचेत प्रयत्नों का पता उस समय से लगता है जब कि मनुष्य सभ्य हुए और उनके सामाजिक जीवन का विकास हुआ। सामूहिक जीवन के विकास ने व्यक्तिगत संघर्षों को सामाजिक या सामूहिक संघर्षों के आधीन कर दिया। आजकल संगठित समूहों में स्वामित्व के लिए संघर्ष अधिक महत्वपूर्ण है यद्यपि व्यक्तिगत संघर्ष अभी भी थोड़े बहुत चल रहे हैं। किसी यूथ, समूह, राष्ट्र या जाति का स्वामित्व स्वाभाविक रूप से उस सामाजिक संगठन के सदस्यों के स्वास्थ्य, बल और संख्या पर निर्भर रहता था। इसीलिए हमें समूहों की संख्या तथा शारीरिक विकास के लिए प्रथा और परम्परा से सशक्त हुए धार्मिक एवं नैतिक आदेश मिलते हैं। प्राचीन ऋषियों और नीतिकारों ने पुत्रोत्पत्ति से माता-पिताओं को मिलने वाले आध्यात्मिक एवं भौतिक लाभों पर बल दिया था। ऐसे युग में जब कि व्यक्ति के अधिकार उसकी शक्ति पर निर्भर थे, पुत्र को इतना महत्व देना असंगत नहीं मालूम होता। मूसा और कनफ्यूसियस के विधान अपने अनुगामियों को एक पुत्र उत्पन्न करने का आदेश देते हैं क्योंकि केवल इसी से मुक्ति मिलती है। इसी प्रकार हिन्दुओं में भी उस व्यक्ति के लिए स्वर्ग के द्वार बंद है जिसकी अंत्येष्टि क्रिया उसके अपने पुत्र द्वारा नहीं की जाती और जो अपने जीवन काल में कन्यादान नहीं कर पाता। यूनान और रोम के निवासियों में जनसंख्या की वृद्धि के लिए कानूनी और राजनीतिक दबाव डाला जाता था जिससे दूर-दूर तक के देशों को विजय करने के लिए सबल सैनिक और शासक बराबर मिलते रहें। प्रजनन के नियंत्रण की आवश्यकता को भी भुलाया नहीं गया था। स्पर्टा निवासी इसका अत्यधिक प्रयोग करते थे। मुसलमानों के विवाह सम्बन्धी नियमों में ऐसे स्पष्ट चिन्ह मिलते हैं जो यह सूचित करते हैं कि सामाजिक और धार्मिक प्रथाएँ जनसंख्या विस्तार की नीति के आधीन थीं।

फिर भी यह प्रथा सी रही है कि जनसंख्या सिद्धान्त का अध्ययन माल्थस से शुरू किया जाय। इस सीधे सादे पादरी ने सन् १७९८ में बिना नाम दिए जनसंख्या पर अपना प्रसिद्ध निबन्ध* प्रकाशित किया। यह प्रधानतः एक सांख्यिक (statistical) अध्ययन था और इससे मालथस ने जनसंख्या का नियम निकाला जिसके विषयमें बहुत मतभेद आरम्भ हुआ। सतर्क अध्ययन के पश्चात् वह निम्नलिखित तीन निष्कर्षों पर पहुँचा—

१—जनसंख्या की वृद्धि जीवन-यापन के साधनों द्वारा सीमित है।

२—जनसंख्या की प्रवृत्ति जीवन-यापन के साधनों से अधिक तेज़ी से बढ़ने की होती है। इसलिए प्रकृति के सबल निरोध (checks) उसकी वृद्धि को रोकते हैं।

---

*'एसे आन प्रिन्सिपुल ऑव पॉपुलेशन, एज़ इट एफेक्टस द फ्यूचर इम्प्रूमेन्ट ऑव सोसाइटी'

३—अतीत में जो होचुका है उसकी भविष्य में फिर होने की सम्भावना है अर्थात् यदि मनुष्य जनसंख्या की वृद्धि को नियंत्रित नहीं करता तो उसकी वृद्धि प्राकृतिक या दमनात्मक (natural or repressive) निरोधों द्वारा रोकी जायेगी। इसलिए उसने कृत्रिम निरोधों अर्थात् ऐच्छिक नैतिक संयम पर जोर दिया।

माल्थस का पहला कथन तो असंदिग्ध है। यह एक स्पष्ट सत्य है कि जनसंख्या की वृद्धि जीवन-यापन के उपलब्ध साधनों से सीमित है; वे ही उस अंतिम सीमा को निर्धारित करते हैं जिससे आगे जनसंख्या नहीं बढ़ सकती क्योंकि अतिरिक्त जनसंख्या के लिए भोजन ही न मिल पायगा। पशु और बनस्पति जगत में भी ऐसा ही होता है—जीवन-यापन के साधनों से अधिक अतिरिक्त जनसंख्या भोजन के अभाव में मर जाती है। जंगली जातियों में भी हम यही पाते हैं कि बहुत से बच्चे या कमज़ोर और वृद्ध व्यक्ति भूखे मर जाते हैं। लगभग दो सौ वर्ष पहले भारतवर्ष में, तथा अभी कुछ समय पहले ही चीन में भीषण अकाल पड़ने पर भूख के कारण असंख्य मौतें होती हुई पाई गई है। किन्तु यातायात और संदेशवाहक साधनों में महान उन्नति हो जाने के कारण आजकल विश्व के अधिकतर भागों में होने वाले अकाल खद्याभाव के कारण नहीं वरन् क्रयशक्ति के अभाव के कारण होते हैं। परिणामस्वरूप अकाल पीड़ित मनुष्यों को जीविका देने के लिए सरकारें उनकी सहायतार्थ योजनाएँ चलाती हैं। इस प्रसंग में यह भी कह दिया जाय कि १९४३ में बंगाल में आधुनिक काल की भीषणतम घटना हुई थी—बंगाल का अकाल जिसमें हज़ारों स्त्री, पुरुष और बच्चे भुखमरी के शिकार हो गए।

किसी समय उपलब्ध जीवन-यापन के साधनों को प्रकृति द्वारा जनसंख्या की मांग कहा जा सकता है। जीवन-यापन के साधन जितनी अधिक मात्रा में हों उतनी ही अधिक जनसंख्या का पोषण हो सकता है। अतः कहा जा सकता है कि जीवन-यापन के साधनों के घटने-बढ़ने के साथ ही जनसंख्या के लिए प्रकृति की मांग भी कम या अधिक होती है। किन्तु 'जीवन-यापन के साधनों' से क्या तात्पर्य है? यदि इसका तात्पर्य जीवित रहने के लिए मनुष्य की न्यूनतम शारीरिक आवश्यकताओं से है, तो ऐसी अवस्था में जीवन निस्संदेह जंगली, और समस्त आह्लाद से विहीन होगा तथा उसमें कोई सभ्यता और सुन्दरता नहीं रह जायगी; इस प्रकार के जीवन में संस्कृति के तत्वों का अभाव होगा। मनुष्य और पशु में कोई भेद नहीं रह जायगा क्योंकि इस प्रकार का जीवन पशु जीवन मात्र होगा। मनुष्य प्रकृति का दास बन जाएगा, स्वामी नहीं। आधुनिक मनुष्य माल्थस द्वारा वर्णित जीवन की इस अवस्था को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं। जीवन-यापन के साधन किसी समाज के रहन-सहन के स्तर के साथ बदलते हैं। यह रहन-सहन का स्तर समय और स्थान के साथ बदलता रहता है। यहां तक कि किसी एक समय या स्थान पर भी रईस, गरीब मध्यवर्ग तथा इनके अनेक उप-वर्गों के लिए रहन-सहन के स्तर भिन्न भिन्न होते हैं। यदि इन कठिनाइयों पर ध्यान न भी दिया जाय तो एक और बाधा आती है: माल्थस का सिद्धान्त इस बात को मान कर चलता है कि जीवन-यापन के साधनों का उचित वितरण हो रहा है। वास्तव में ऐसा नहीं होता और जनसंख्या की वृद्धि किसी समूह या समाज को उपलब्ध जीवन-यापन के कुल साधनों पर नहीं वरन् उस समाज में धन तथा आय के वितरण पर निर्भर होती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जीवन-यापन के साधनों के उचित वितरण द्वारा जनसंख्या की वृद्धि की संभाव्य सीमा और भी आगे बढ़ाई जा सकती है। माल्थस का सिद्धान्त जनसंख्या की वृद्धि के प्रजनन-पक्ष को भी ध्यान

में नहीं रखता। इसकी उपेक्षा करने से राष्ट्रीय प्रगति में बहुत बाधा होगी। माल्थस का सिद्धान्त केवल इस अर्थ में मोटे तौर पर ठीक कहा जा सकता है—कि जनसंख्या उपलब्ध खाद्य-सामग्री से आगे नहीं बढ़ सकती। किन्तु कोई भी समाज जीवन के इतने निम्न स्तर तक नहीं पहुँच पाता। हां, शायद पूर्वीय देशों की दरिद्र और पिछड़ी हुई जातियों के विषय में ऐसा हो। इन देशों में भी मनुष्य केवल भोजन पर ही जीवित नहीं रहता। उन देशों में, जिन पर विशेषरूप से माल्थस का अध्ययन आधारित था, ऐसा बिलकुल नहीं होता। अंत में यह भी कहा जा सकता है कि यद्यपि जंगली जातियों में वास्तव में बहुत से भूखों मर जाते हैं, फिर भी यह परिणाम इस कारण नहीं होता कि अतिरिक्त जनसंख्या के लिए जीवन-यापन के साधनों का अभाव है वरन् इस कारण होता है कि वे अपने उत्पादन को बढ़ा कर अपने जीवन-यापन के साधनों में (जो कि जनसंख्या की भांति घट-बढ़ सकते हैं) वृद्धि करने में समर्थ नहीं होते। फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संख्या-वृद्धि की ऊपरी सीमा खाद्य के परिमाण द्वारा निश्चित होती है।

माल्थस के दूसरे कथन के अनुसार जनसंख्या में जीवन के साधनों से कहीं अधिक तेज़ी से बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। इसलिए उसकी वृद्धि में प्राकृतिक या दमनात्मक निरोध बाधक होते हैं। तथ्यों के अध्ययन द्वारा माल्थस ठीक ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि जन समूहों में बड़ी तेज़ी से बढ़ने की प्रवृत्ति होती है और यदि बीमारी, युद्ध, शिशु-हत्या, या यौन-सम्बन्धों में समझदारी के द्वारा नियंत्रण न होता तो जनसंख्या में अत्याधिक वृद्धि हो जाती। प्रकृति ने मनुष्य को एक शक्तिशाली यौन-प्रेरणा दी है और यदि इसकी तृप्ति पर कोई नियंत्रण न रखा जाय तो इससे दुराचार और दुर्गति में वृद्धि होती है। यह यौन-प्रेरणा इतनी शक्तिशाली होती है कि जब जीवन-यापन के साधन बढ़ते हैं तब मनुष्य नासमझ हो कर अपनी संख्या में बड़ी तेजी से वृद्धि करने लगता है। जब जनसंख्या में वृद्धि होती है तब जीवन-यापन के साधनों पर बहुत भार पड़ता है। वे बढ़ी हुई जनसंख्या के लिए पर्याप्त आहार प्रदान करने में असमर्थ होते हैं। फलस्वरूप यह जनसंख्या क्षुधा-पीड़ित रहती है और इसका पर्याप्त पोषण नहीं हो पाता। यह भूखी जनसंख्या बीमारी का शिकार बनने लगती है, या फिर भोजन प्राप्ति के लिए भयानक युद्ध भी हो सकते हैं। दोनों ही हालतों में बड़े पैमाने पर मौतें होती हैं। अथवा हो सकता है कि अपनी संतान के आहार के लिए पर्याप्त भोजन न पा सकने के कारण माता पिता शिशु-हत्या जैसा अमानवीय कार्य करने को विवश हो जाएँ। यह भी सम्भव है कि वे अपने यौन-सम्बन्धों में अधिक समझदारी से काम लें और अपनी यौनेच्छा पर नियंत्रण रखें। इन सब हालतों में जनसंख्या में कमी होगी और इस प्रकार जीवन-यापन के साधन पर्याप्त सिद्ध होंगे। इस प्रकार विपत्ति एवं दुख के काल के बाद अपेक्षाकृत सुविधा और सुख का समय आता है। यदि इस सुखमय समय को दीर्घ बनाने के सचेत प्रयत्न नहीं किए जाते तो इसके बाद फिर विपत्ति का काल आएगा। उत्पादन पद्धति में वैज्ञानिक या संगठन सम्बन्धी उन्नति करके ऐसा किया जा सकता है, क्योंकि यदि फिर जनसंख्या बढ़ती है तो भी जीवन-यापन के साधन कम न होंगे और तब परिणामस्वरूप भूख से मृत्यु या अपर्याप्त पोषण का प्रश्न ही नहीं उठेगा। किन्तु ऐसा करने से केवल अस्थायी सहायता ही मिलेगी। दूसरा तरीका यह है लोग यौन-सम्बन्धों में समझदारी से काम लें। वे नैतिक निरोधों द्वारा या विवाह करने की आयु को बढ़ाकर जन्म-दर को कम कर सकते हैं; अथवा यह भी किया जा सकता है कि रहन-सहन के स्तर को स्थायी रूप से ऊँचा करके उसे रूढ़ बना दिया जाय।

यदि ऐसा हो जाय तो जब तक आय न बढ़े तब तक लोग सन्तानोत्पत्ति न करना चाहेंगे क्योंकि इससे रहन-सहन का स्तर अवश्य नीचा होता है। जनसंख्या में खाद्य-सामग्री से अधिक बढ़ने की प्रवृत्ति रहती तो है, किन्तु ऊपर दिए गए उपायों से उस पर नियंत्रण रखा जा सकता है। परन्तु जनसंख्या की वृद्धि को नियंत्रित करने की पर्याप्त प्रेरणा केवल इस बात से ही नहीं मिल सकती कि संतानोत्पत्ति से माता पिता का खर्च बढ़ जाता है।

अनियंत्रित होने पर संख्या-वृद्धि की तीव्र गति तथा जीवन-यापन के साधनों के बढ़ने की अपेक्षाकृत मंदगति को देखकर माल्थस स्तंभित रह गया था। उसे ज्ञात हुआ कि एक ओर तो अनियंत्रित जनसंख्या गुणात्मक क्रम (geometric progression) से बढ़ती है, दूसरी ओर जीवन-यापन के साधन, अधिक से अधिक, समानान्तर क्रम (arithmetic progression) से बढ़ते हैं। जनसंख्या और जीवन-यापन के साधनों की वृद्धि के लिए २५ वर्षों की अवधि लें और **क** को जनसंख्या तथा **ख** को जीवन-यापन के साधनों का सूचक मानें तो इनमें निम्नलिखित ढंग से वृद्धि होगी।

क:—२क ४क ८क १६क ३२क ६४क १२८क और आगे इसी प्रकार

ख:—२ख ३ख ४ख ५ख ६ख ७ख ८ख और आगे इसी प्रकार

अर्थात् प्रत्येक २५ वर्षों की अवधि में जनसंख्या तो दुगनी हो जाती है किन्तु जीवन-यापन के साधन प्रत्येक अवधि में समान-अन्तर से बढ़ते हैं। पहले क्रम को तो सही माना जा सकता है क्योंकि वह एक प्राणिशास्त्रीय नियम पर आधारित है। जनसंख्या के २५ वर्षों में दुगनी होने का अर्थ केवल यह है कि प्रत्येक दम्पति के इतनी संतानें होती हैं कि उनमें से कम से कम चार विवाह योग्य आयु तक पहुँच जाते हैं। यदि हम यह स्वीकार कर लें कि हर तीन बच्चों में से एक की शिशु अवस्था ही में मृत्यु हो जाती है तो प्रत्येक दम्पति के वैवाहिक जीवन में केवल छः बच्चों की उत्पत्ति होने पर भी जनसंख्या दुगनी हो जायगी, क्योंकि इनमें से चार विवाह योग्य आयु तक पहुँच जायेंगे। माता पिता अपनी यौनेच्छा पर कोई निरोध न लगाएँ तो छः बच्चों का होना बहुत नहीं है। यह सच है कि अधिकांश पश्चिमी देशों में बहुत से माता पिता इतने बच्चों को जन्म नहीं देते किन्तु इसका कारण यह होता है कि वे जान बूझकर संतति निरोध का प्रयत्न करते हैं। कोई प्रतिबंध न होने पर एक परिवार में बच्चों की संख्या छः से अधिक ही होगी, कम नही। भारत और चीन आदि की बात तो जाने दीजिये, पश्चिमी देशों तक में एक दर्जन से ऊपर बच्चों को जन्म देने वाले मातापिता पाए जाते हैं। माल्थस का यह कथन, कि यदि बंधन न हो तो जनसंख्या २५ वर्षों में दुगनी हो जाती है, किसी प्रकार भी अतिशयोक्ति नहीं। यदि माल्थस ने कुछ गलती की ही है तो वह अति-अनुमान की नहीं वरन् न्यून-अनुमान की ही हो सकती है। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि एक पीढ़ी की अवधि २५ वर्ष नहीं बल्कि ३० या ३३ वर्ष माननी चाहिए। किन्तु यह एक मामूली सी बात है और इससे उसके तर्कों की सबलता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

माल्थस द्वारा दिए गए जीवन-यापन के साधनों के वृद्धि-क्रम की अधिक आलोचना की गई है। वनस्पति तथा पशु भी मनुष्य के लिए जीवन-यापन के साधन हैं और इनकी संख्या मनुष्य की संख्या से कहीं अधिक तेजी से बढ़ती है। एक अकेला बीज उग कर संख्या में कई गुना हो जाता है। इसी प्रकार मुर्गियां, मछलियां, बकरियां, सूअर आदि भी कई गुना बढ़ते हैं और सब का मनुष्य की खाद्य सामग्री के रूप में प्रयोग किया जाता है। किन्तु इनकी वृद्धि

भी उचित आहार के परिमाण तथा जीवन के लिए संघर्ष से सीमित है। फिर, हमें जीवन-यापन के साधनों की वार्षिक वृद्धि को ही ध्यान में रखना है। यदि एक भू-भाग पर एक बीज एक फसल में सौ गुना हो जाता है तो देखना चाहिए कि अगले साल फिर वह कितने गुना बढ़ जायेगा और इन दोनों वृद्धियों का अन्तर ही उत्पादन की वास्तविक वृद्धि को सूचित करता है। यदि उपजाऊ खेतिहर भूमि असीमित हो तो विभिन्न प्रकार की वनस्पति कहीं अधिक तेज़ी से बढ़ सकेगी। किन्तु उपजाऊ खेतिहर भूमि का विस्तार सीमित होता है इसलिए वनस्पति या कृषि की उपज एक साल से दूसरे साल कई गुना नहीं बढ़ पाती। जब माल्थस जीवन-यापन के साधनों की वृद्धि की बात करता है तब वास्तव में उसका तात्पर्य ह्रासमान प्रत्युपलब्धि से है यद्यपि स्पष्ट रूप से उसने यह बात नहीं कही। यह ध्यान में रखते हुए कि खेतिहर भूमि का विस्तार सीमित है और लागत के क्रमागत बढ़ाने पर ही उसे बढ़ाया जा सकता है, उसका यह सोचना ठीक ही था कि उत्पादन की एक स्थिति के बाद यदि किसी एक भू-भाग पर दुगने साधन भी लगाए जांय तो भी उसकी उपज दुगनी नहीं हो सकती। उसके इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है—"तो हम इसको अपना नियम माने यद्यपि यह सच से बहुत दूर है, और स्वीकार कर लें कि इस द्वीप (इंगलैण्ड) की पूरी उपज प्रत्येक २५ वर्षों में (अर्थात् जनसंख्या के प्रत्येक बार दुगना होने पर) जीवन-यापन के साधनों के उतने परिमाण के बराबर बढ़ जाती है जितने का वर्तमान समय में उत्पादन हो रहा है।" अपने सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए आगे माल्थस ने "समानान्तर क्रम" शब्द पर विशेष बल दिया यद्यपि यह स्पष्ट है कि उसका तात्पर्य यह था कि इंगलैंड की जनसंख्या के दुगनी हो जाने पर उत्पत्ति भी दुगनी हो सकती है, किन्तु जब जनसंख्या फिर दुगनी हो जाती है तब उत्पत्ति को भी दुगना करना संभव नहीं होता; इसका कारण वह नियम है जिसे आधुनिक शब्दावली में ह्रासमान प्रत्युपलब्धि का नियम कहते हैं। यह सच है कि माल्थस यातायात के साधनों की आश्चर्यजनक उन्नति तथा अमरीका से सस्ती खाद्य-सामग्री की प्राप्ति की कल्पना नहीं कर पाया था या शायद कर ही नहीं सकता था। इन सुविधाओं के कारण इंगलैण्ड अपनी खाद्य-सामग्री में अपेक्षाकृत सस्ती लागत पर वृद्धि कर सकता है और पहले से छः गुनी अधिक जनसंख्या का अपेक्षाकृत ऊँचे रहन-सहन के स्तर पर पालन कर सकता है। इस कल्पनातीत उन्नति ने उसके कथन को पुराना और असंगत बना दिया है यद्यपि इतना अब भी सच है कि यदि यौनेच्छा पर नियंत्रण न रखा जाय तो जनसंख्या में भीषण तीव्रता से वृद्धि होगी और वह खाद्य सामग्री के उपलब्ध परिमाण का अतिक्रमण कर जायगी। फिर अपर्याप्त पोषण के कारण प्राकृतिक या दमनात्मक निरोधों के कार्यान्वित होने से जनसंख्या कम हो जायगी।

माल्थस का तीसरा कथन उसके पहले दो कथनों का स्वाभाविक परिणाम है। सतर्क ऐतिहासिक अध्ययन करके वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यदि जनसंख्या पर किसी प्रकार का नियंत्रण न रखा जाये और यदि महामारी युद्ध आदि न हों तो जनसंख्या बड़ी तेज़ी से बढ़ने लगे। उसने जनसंख्या के निरोधों को प्राकृतिक या 'दमनात्मक' और 'कृत्रिम' वर्गों में विभाजित किया। प्राकृतिक निरोध से उसका तात्पर्य उन उपायों से है जो मृत्यु-दर को बढ़ाकर जनसंख्या को तुरन्त कम कर देते हैं। विनाशकारी युद्ध, बीमारी, शिशु हत्या आदि इसके उदाहरण हैं। कृत्रिम निरोधों का प्रभाव जन्मदर को घटाने और इस प्रकार अन्ततः जनसंख्या को कम करने की ओर होता है। इनका तात्पर्य नैतिक निरोधों या उन कृत्रिम साधनों से है जिनका जन्म-दर को कम करने के लिए प्रयोग किया जाता है। प्राणियों में एक ओर तो अपनी जाति को बढ़ाने की इच्छा होती है; दूसरी ओर जीवन-यापन के साधनों का जो

परिमाण प्रकृति प्रदान करती है उसके द्वारा इस वृद्धि की सीमाएँ भी निर्धारित हो जाती हैं। जीवन के लिए जो संघर्ष होता है उसमें केवल उपयुक्ततम ही जीवित रह पाते हैं और बाकी, जिनकी संख्या काफी बड़ी होती है, अधिक समय तक जीवित नहीं रह पाते। यह एक प्राणि-शास्त्रीय नियम है और पशु जगत पर भी लागू होता है जहाँ कि ऊँचे मृत्युदर के कारण पशुओं की संख्या अत्यधिक नहीं हो पाती। इससे माल्थस की विज्ञता का पता चलता है कि प्राणिशास्त्र द्वारा अपने कथन के समर्थन से पहले ही उन्होंने स्थिति का सही विश्लेषण कर लिया। जहाँ जन्मदर ऊँची होती है वहाँ मृत्युदर भी अवश्य ऊँची होती है। माल्थस जान गये थे कि जब तक ऐच्छिक निरोधों से जनसंख्या को नियंत्रित नहीं किया जाता तब तक "दुराचार और दुर्गति" के पुराने निरोध अपना काम करते रहेंगे। किन्तु, मनुष्य के पास पूर्वदृष्टि और बुद्धि है इसलिए वह सदुपायों द्वारा संख्या-वृद्धि के पुराने और निर्दयतापूर्ण निरोधों को अनावश्यक बना सकता है? यदि वह यह जानता है कि अधिक संतानोत्पत्ति करने पर एक अनिवार्य प्राणिशास्त्रीय नियम के कारण बच्चों की मृत्यु हो जायगी तो यह पूर्वदृष्टि संतानोत्पति कम करने से उसकी सहायता करेगी। अतः कृत्रिम निरोधों के प्रयोग द्वारा संख्याधिक्य की दुर्गति को रोकना या उसे कम करना सम्भव हो सकता है। इस प्रकार मनुष्य के सचेत प्रयत्नों से विपत्ति को रोका जा सकता है और इसीलिए माल्थस का यह मत था कि जनसंख्या-परिसीमन प्रकृति के अनिवार्य और निर्दय नियमों से बाध्य होकर नहीं बल्कि स्वयं मनुष्य के सचेत प्रयत्नों द्वारा किया जाना चाहिए। निश्चय ही यह कथन एक महान प्रगति का सूचक है। माल्थस ने जनसंख्या के आधुनिक सिद्धान्त का बीजारोपण किया, जिसके अनुसार जन-संख्या मनुष्य के सचेत और सतर्क प्रयत्नों द्वारा नियमित होती है और इस प्रकार वह सामाजिक या राजनीतिक प्रयोजनों की सिद्धि के आधीन है। माल्थस ने सामाजिक प्रयोजन के साथ जनसंख्या-वृद्धि का नियोजन करने की आवश्यकता का भी निर्देश किया है यद्यपि यहाँ वह अधिक स्पष्ट नहीं है। माल्थस का यह दृष्टिकोण साधारण तथा प्रचलित इस दृष्टिकोण से कहीं उच्चतर था कि बच्चों का पैदा होना ईश्वर की देन है जिस पर मनुष्य का कोई नियंत्रण नहीं। भारत तथा पूर्व के अन्य देशों में अभी तक इस मत के बहुत से मानने वाले हैं। संख्या-वृद्धि ईश्वरीय नियमों द्वारा नियमित मानी जाती है। माल्थस स्वयं एक पादरी था और उसके अपने निश्कर्ष ईश्वर की दया में उसके विश्वास के साथ मेल नहीं खाते। किन्तु वह यह मानते थे कि ईश्वरीय आदेश मनुष्य की असावधान आदतों से उत्पन्न होने वाली मानवीय विपत्ति को कम करते हैं।

"नैतिक निरोध" से माल्थस का तात्पर्य यौन-सम्भोग से पूर्ण निग्रह करने का नहीं था। न उसने ब्रह्मचर्य की शिक्षा ही दी क्योंकि उसका विचार था कि इससे बुराइयाँ ही अधिक होंगी और ये बुराइयाँ जनसंख्या की वृद्धि से होने वाली विपत्ति से भी बुरी होंगी। वह यह नहीं चाहते थे कि विवाह के क्षेत्र से बाहर नैतिकता का अतिक्रमण किया जाय। वह तो यह चाहते थे कि विवाह तब तक न किया जाय जब तक कि विवाह करने वालों की आय एक परिवार का पालन करने के लिए काफी न हो। उसकी ईसाई शिक्षा और विश्वास विवाह बंधनों का उल्लंघन कर यौन-सुख प्राप्त करने के सर्वथा विरुद्ध थी और इसीलिए वे ऐच्छिक निर्बीजन (sterilization) या पुरुष की कामेच्छा पूर्ति के लिए पेशेवर वेश्याओं की प्रथा के विरोधी थे। इसलिए उन्होंने मनुष्य को "बुद्धि द्वारा कामवासनाओं का नियंत्रण"

करने की सम्मति दी और पवित्रता के महत्व पर बल दिया। किन्तु उनकी व्यवहारिक बुद्धि ने उन्हें स्पष्ट रूप से जतला दिया कि अच्छे नैतिक आचार के उपदेश देने से सब लोग नैतिक नहीं बन सकते। वह जानते थे कि इस प्रकार नैतिकता के उल्लंघन को नहीं रोका जा सकता। वे यौनेच्छा की प्रबलता से परिचित थे और इसलिए उन्हें भय था कि अधिक व्यक्ति उनकी सम्मति का पालन नहीं करेंगे। परिणामस्वरूप नैतिक निरोध बहुत उपयोगी न हो पाएगा। अतः उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि यौनेच्छा की तृप्ति इस प्रकार की जाय कि उससे संतानोत्पत्ति न हो। यह मानते हुए भी उनकी शर्त यह थी कि ऐसा करने में नैतिकता का उल्लंघन न होना चाहिए। इतनी छूट उन्होंने इस कारण दे दी क्योंकि उनका विचार था कि उनके सिद्धान्तों के इस थोड़े से उल्लंघन से बहुत अनिष्ट न होगा। अतः माल्थस के अनुसार आचार का नियम यह नहीं है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य या परम पवित्रता का पालन किया जाय वरन् "स्पष्ट रूप से यह हमारा कर्तव्य है कि हम केवल उसी प्रकार अपनी कामेच्छा की तृप्ति करें जिससे हमारा अनिष्ट न हो।" उन्होंने स्वीकार किया कि "मुझे यह कहने से ज़रा हिचकिचाहट नहीं है कि विवाह पर विचार-संगत नियंत्रण रखना असामयिक मृत्यु से अच्छा है।"

माल्थस द्वारा दिये गए नियमों में सत्य का काफी अंश है किन्तु जो निष्कर्ष उन्होंने निकाले वे अनुचित रूप से निराशापूर्ण थे। शायद इसका कारण यह हो कि वह भावी प्रगति की कल्पना नहीं कर पाए थे। उनका यह निर्देश ठीक था कि जनसंख्या प्राकृतिक और कृत्रिम निरोधों द्वारा नियंत्रित होती है और यदि ऐसा न हो तो जन-संख्या भीषण गति से बढ़ने लगे। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि एक दम्पति प्रतिवर्ष १ प्रतिशत की दर से बढ़ता हुआ २००० वर्षों की अवधि में विश्व की वर्तमान जनसंख्या के बराबर हो जायगा। निश्चय ही विश्व की आयु २००० वर्षों से अधिक है और अनियंत्रित होने पर संतानोत्पत्ति की दर भी एक प्रतिशत से कम न होगी, फिर भी जनसंख्या उस भयावह रूप में नहीं बढ़ी है। इसलिए यह मानना पड़ता है कि जनसंख्या प्राकृतिक और कृत्रिम निरोधों से नियंत्रित हुई है। पशुओं में कृत्रिम निरोध काम नहीं करते। किन्तु मनुष्य पशुओं से अधिक समझदार होता है और जन-संख्या प्रकृति के अननुनेय नियमों के द्वारा ही नियंत्रित नहीं होती। वैयक्तिक चुनाव और स्वतंत्रता पर जो सामाजिक, नैतिक और वैधानिक प्रभाव होते हैं उन्हें दृष्टि में रखकर मनुष्यों द्वारा किए गए सजग और सचेष्ट प्रयत्नों से भी जनसंख्या का नियंत्रण होता है। चाहे जन-संख्या जीवन-यापन के साधनों का अतिक्रमण न भी करे तो भी माल्थस का सिद्धान्त हमें यह बताता है कि यदि जनसंख्या की वृद्धि के साथ उत्पत्ति में वृद्धि न हो तो उसका आर्थिक समृद्धि पर बुरा प्रभाव पड़ेगा और आर्थिक प्रगति में बाधा पहुँचेगी। माल्थस के सिद्धान्त का सुझाव यह है कि आर्थिक प्रगति के हित में यह आवश्यक है कि जब समाज में उत्पत्ति न बढ़ रही हो तब जनसंख्या की वृद्धि पर प्रतिबंध रखा जाय। लेकिन माल्थस बढ़ती हुई जनसंख्या की निराशा-पूर्ण कल्पना से अत्यधिक डर गये थे और उन्होंने तसवीर के दूसरे पहलू को बिलकुल देखा ही नहीं। वह यह सर्वथा भूल गए कि किन्हीं परिस्थितियों में संख्या-वृद्धि की मन्दता भी मानव-जाति की प्रगति में बाधक हो सकती है। प्राकृतिक और भौतिक साधनों के पूर्णतम उपयोग के लिए यह अनिवार्य है कि जनसंख्या एक विशेष स्तर से नीचे न हो। कभी-कभी जनसंख्या के बढ़ने से राष्ट्रीय प्रगति में सहायता पहुँचती है। फिर माल्थस ने राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था में जनसंख्या को अत्यधिक प्रमुखता दे दी। वह इस बात पर ध्यान नहीं दे पाए कि रहन-सहन के ह्रासमान स्तर या विपत्ति केवल जनसंख्या की वृद्धि के कारण ही नहीं, वरन् अन्य गुरुतर कारणों से भी हो

सकते हैं। सन् तीस तथा बाद के वर्षों की गति आर्थिक विपन्नता ने यह स्पष्ट कर दिया कि प्रचुरता भी संकट का कारण हो सकती है। गेहूँ को जलाया गया और कॉफी को समुद्र में फेंका गया—केवल इसलिए कि इतना अधिक उत्पादन हो गया था कि उसको लाभपूर्ण कीमतों पर नहीं बेचा जा सकता था। पुनरुत्थान (revival) के समर्थकों नें अति-उत्पादन से कष्ट पाते हुए संसार में समृद्धि लाने के लिए खेती तथा सब प्रकार के उत्पादनों पर रोक लगाने की राय दी। वह जन-संख्या-संकट नहीं था उत्पादन-संकट था। जीवन-यापन के साधनों में अत्यधिक वृद्धि हो गई थी और जो निदान बताया जाता था वह जनसंख्या-नियंत्रण नहीं वरन् उत्पादन-नियंत्रण था। किन्तु स्थिति का यह विश्लेषण ठीक न था। यह कहना निरर्थक है कि मनुष्य अपनी उपभोग क्षमता से अधिक उत्पादन कर सकता है—खासतौर से तब जबकि मनुष्यों की एक बड़ी संख्या क्षुधा-मृत्यु की सीमा पर रहती हो। [वह उत्पादन का संकट नहीं था; वह उत्पादन और क्रयशक्ति के दुरायोजन का संकट था। एक ओर तो उत्पादकों के पास इतना अधिक माल था कि वे उस सब को लाभ पर नहीं बेच सकते थे। दूसरी ओर लोग अपर्याप्त पोषण से पीड़ित थे और उनके पास उत्पादित माल को खरीदने के साधन नहीं थे। यह स्पष्ट था कि इस प्रकार आवश्यकता यह थी कि वितरण को इस प्रकार नियंत्रित किया जाता कि जो ज़रूरतमंद थे उन्हें पर्याप्त क्रय शक्ति मिल सकती।]

माल्थस का यह कहना ठीक था कि संभोग की कामना पूरी करने से संतानोत्पत्ति होती है, किन्तु वह यह भूल गया कि संभोग और संतानोत्पत्ति की इच्छाएँ भिन्न-भिन्न हैं। संभव है वह इस बात से भ्रम गया था कि प्रकृति ने इन दोनों इच्छाओं की तृप्ति के लिए एक ही अंग देकर इन्हें संयुक्त कर दिया है। यद्यपि उसको यह आभास था कि संभोग-सुख को संतानोत्पत्ति की इच्छा से अलग करना संभव है, फिर भी अपने सिद्धान्त में वह इस बात को स्पष्ट न कर पाया। इसलिए वह इन दो प्रकार की इच्छाओं में भेद न कर सका। यद्यपि संभोग की कामना लगभग सभी में होती है किन्तु संतानोत्पत्ति की इच्छा की भी यही विशेषता मान कर माल्थस ने गलती की। ये दो इच्छाएँ बिलकुल अलग-अलग शक्तियों से निर्देशित होती हैं। वास्तव में मानव जाति की संख्या में वृद्धि करने की इच्छा को संभोग की कामना बहुत कम प्रभावित करती है। बहुत से लोग यह पसन्द नहीं करते कि हर बार संभोग की कामना पूरी करने पर संतानोत्पत्ति के साथ आने वाली जिम्मेदारियां उठानी पड़ें। पशुओं तक में यह पाया जाता है कि वे मातृत्व या पितृत्व के भार से यथाशीघ्र मुक्त हो जाते हैं। अतः यह निश्कर्ष निकालना बहुत गलत न होगा कि संभोग की कामना पूरी करने पर मनुष्य संतान के पालन पोषण की जिम्मेदारी का भार उठाना पसन्द नहीं करते। संतानोत्पत्ति की इच्छा सामाजिक धार्मिक और राजनीतिक कारणों पर निर्भर होती है तथा समय और स्थान की आवश्यकताओं द्वारा निर्देशित होती है। इस पर परिवार का पालन न कर सकने वाले या करना न चाहने वाले माता-पिताओं के स्वार्थ या समझ का प्रभाव पड़ता है। स्त्रियों की आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्ति की इच्छा, या शिशु जन्म के कष्टों के भय या अपने रूप तथा शरीर की सुन्दरता की रक्षा भी जनसंख्या की वृद्धि में बाधक होती है। संक्षेप में संतानोत्पत्ति की इच्छा को प्रभावित करने वाली बातें व्यक्ति-व्यक्ति के लिए भिन्न होती हैं और समय के साथ बदलती रहती हैं। वास्तव में पाश्चात्य देशों को विज्ञान को विकास और प्रगति द्वारा इन दो इच्छाओं को अलग-अलग करने में जो महान सफलता मिली है वह आश्चर्यजनक है और उसने सिद्ध कर दिया है कि माल्थस

को जो भय थे वे गलत थे। माल्थस का डर था कि संख्याधिक्य विपत्ति का कारण बनेगी; किन्तु आजकल अधिकांश देश उसके कारण विपन्न नहीं हैं। इसके विपरीत कहीं-कहीं तो यह आशंका है कि जन्म-दर इतनी कम है कि उसके कारण जनसंख्या कम होती जा रही है। आज संतति निग्रह, शायद आर्थिक आवश्यकता के कारण, इतना प्रचलित है कि पूर्वीय देशों तक में आयोजित प्रजनन को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है। माल्थस इस बात पर ध्यान ही नहीं दे पाये क्योंकि वह बढ़ती हुई जनसंख्या से अत्यधिक भयभीत थे।

विशिष्टीकरण तथा वैज्ञानिक आविष्कारों ने विश्व की उत्पादन-क्षमता में जो महान वृद्धि की है उसका भी माल्थस को कोई आभास न था। इनके कारण जनसंख्या में वृद्धि होते हुए भी लोगों की समृद्धि में वृद्धि हो रही है, और इस प्रकार वे अपने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठा सके हैं। यह सच है कि जनसंख्या कि वृद्धि ऐच्छिक नियंत्रण से बहुत प्रतिबंधित हुई है और अब तो यह संसार भर में प्रचलित हो गया है। पूर्व के देशों तक में मध्य और उच्च वर्ग संतान वृद्धि को ईश्वर का अभिशाप मानने लगे हैं। लेकिन अज्ञान और भाग्यवादिता के कारण वे उसे बेबसी से स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु फिर भी इन देशों में भी कुछ निरोधों का प्रयोग अवश्य किया जाता है, यद्यपि इन देशों में सन्तति निग्रह की विधियों या प्रचलन पाश्चात्य देशों के बराबर नहीं है। शायद मानव जाति की बौद्धिक और भौतिक प्रगति भी भोग-कामना को कम करती है अथवा यह कहना अधिक उचित होगा कि बौद्धिक और भौतिक प्रगति लोगों को पितृत्व की जिम्मेदारियों का ज्ञान करा कर उनकी संतानोत्पत्ति की इच्छा को कम कर देती है। इस प्रकार सभ्यता के विकास के साथ पितृत्व की जिम्मेदारी का ज्ञान होने के कारण जन्मदर कम होने लगती है। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि माल्थस अवश्य उन बहुत सी आधुनिक युक्तियों की स्पष्ट निन्दा करते जो संतानोत्पत्ति किए बिना भोग-कामना की पूर्ति को सम्भव बनाती हैं।

अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त—किसी देश की जनसंख्या कभी स्थिर नहीं होती। वह बराबर बदलती रहती है। वह तो बढ़ती घटती रहती है और उसका यह बढ़ना या घटना उस समय उस देश की जन्म और मृत्यु-दर पर निर्भर होता है। अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त एक वस्तुनिष्ठ कसौटी प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार जनसंख्या में परिवर्तन होने चाहिए। कभी-कभी जनसंख्या की वृद्धि वांछनीय हो सकती है, उसी प्रकार जैसे कभी-कभी उसकी कमी भी। दोनों दशाओं में परिवर्तन अनुकूलतम सीमा की ओर निर्देशित होना चाहिए। अनुकूलतम विन्दु वह है जिस पर समाज प्रति व्यक्ति वस्तुओं और सेवाओं के अधिकतम परिमाण का उत्पादन कर सकता है। यह विन्दु वह नहीं है जिस पर समाज में धन का उत्पादन अधिकतम होता हो; इसका आधार तो कुल उत्पत्ति में प्रत्येक देशवासी का औसत हिस्सा है। यदि जनसंख्या की वृद्धि से औसत उत्पत्ति बढ़ती है तो वह वृद्धि वांछनीय है किन्तु जब उसके कारण औसत वास्तविक आय में कमी होने लगती है तो वह वांछनीय नहीं। इसके विपरीत जब जनसंख्या के घटने से प्रत्येक के औसत हिस्से में वृद्धि हो तो इस घटने का अर्थ है अनुकूलतम बिन्दु की ओर बढ़ना। अनुकूलतम बिन्दु पर प्रति व्यक्ति औसत वास्तविक आय अधिकतम होती है। ऐसी स्थिति में जनसंख्या के घटने या बढ़ने से औसत में कमी होगी; अतः कोई भी परिवर्तन वांछनीय न होगा। यह सच है कि इस विन्दु पर भी जनसंख्या के बढ़ने से कुल वास्तविक राष्ट्रीय आय बढ़ेगी ही, किन्तु प्रति अतिरिक्त व्यक्ति राष्ट्रीय आय की वृद्धि पहले से

कम होगी। इस प्रकार जनसंख्या के बढ़ने से प्रत्येक का औसत हिस्सा कम होने लगेगा। अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त के अनुसार एसी स्थिति में जनसंख्या की वृद्धि उचित नहीं क्योंकि आदर्श या सर्वाधिक वांछित जनसंख्या वह है जो समाज की प्रतिव्यक्ति औसत वास्तविक आय अधिकतम कर देती है।

यह सिद्धान्त ह्रासमान प्रत्युपलब्धि के नियम पर आधारित है। यह नियम यह बताता है कि उत्पादन के साधनों का एक आदर्श संयोजन होता है जिसमें साधन की प्रत्येक इकाई से न तो अत्यधिक काम लिया जाता है और न अत्यन्त कम, अर्थात प्रत्येक साधन के उतने ही परिमाण से काम लिया जाता है जितने का पूरा उपयोग हो सके। यही वह बिंदु है जिस पर औसत लागत न्यूनतम होती है या दूसरे शब्दों में उत्पादन अनुकूलतम होता है। यदि हम एक देश के समस्त साधनों को सम्पूर्ण रूप से—अर्थात स्थूल वस्तुओं, पशुओं, प्राकृतिक शक्तियों आदि को—मिलाकर उस देश के सम्पूर्ण धन को ध्यान में रखें तो यह कह सकते हैं कि मानवेतर साधनों के इस दिए हुए परिमाण के साथ एक विशेष जनसंख्या के द्वारा ही अधिकतम औसत उत्पत्ति संभव है, अर्थात् एक विशेष जनसंख्या के होने पर ही मानवीय और मानवेतर सब साधनों का पूरा उपयोग हो सकता है और इस प्रकार औसत उत्पत्ति अधिकतम हो सकती है। इसे निम्नांकित तालिका द्वारा दिखाया जा सकता है :—

कुल जनसंख्या (जो जनसंख्या की इकाइयों में वृद्धि भी दिखाती है)	कुल वास्तविक आय (पदार्थों और सेवाओं के रूप में)	औसत वास्तविक आय	सीमान्त वास्तविक आय
१०	५००	५०	—
११	५७२	५२	७२
१२	६४८	५४	७६
१३	७१५	५५	६७
१४	७९८	५७	८३
१५	८७०	५८	७२
१६	९१२	५७	४२
१७	९३५	५५	२३
१८	९५४	५३	१९

ऊपर की तालिका में हम देखते हैं कि कुल वास्तविक आय बराबर बढ़ती जाती है और जब वह अधिकतम होती है तब कुल जनसंख्या १८ है। लेकिन अनुकूलतम जनसंख्या १५ है क्योंकि इस पर औसत वास्तविक आय अधिकतम है। यह आय जनसंख्या के और अधिक बढ़ने पर कम होने लगती है। इस सीमा के बाद मानवीय साधन इतने अधिक हो जाते हैं कि मानवेतर साधनों के साथ उनका संयोजन नहीं हो पाता। ऐसा कहते समय हम मान लेते हैं कि किसी देश की प्राकृतिक शक्तियां और पशु शक्ति आदि पूंजी साधन अपरिवर्ती हैं। किन्तु संसार प्रवैगिक है इसलिए यह साधन भी घटते-बढ़ते रहते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुकूलतम आकार कोई स्थिर संख्या नहीं है, लेकिन वह जनसंख्या के साथ परिवर्तित होते रहने वाले पूंजी साधनों के परिवर्तन के साथ बदलती रहती है। किन्तु इससे यह कथन गलत सिद्ध नहीं होता कि अनुकूलतम जनसंख्या वह है जो दिए हुए मानवेतर साधनों के साथ मिलकर औसत वास्तविक आय को अधिकतम करती है। पूंजी साधनों के परिमाण के परिवर्तनों के

कारण केवल अनुकूलतम आकार को जानना और उस तक पहुँचना कठिनतर हो जाता है। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अनुकूलतम जनसंख्या एक कोरी कल्पना है। अनुकूलतम जनसंख्या का बिन्दु घड़ी के पेंडुलम की भांति चलायमान है; फिर भी उसे जाना जा सकता है यद्यपि संसार की प्रवैगिक दशाओं में उसकी प्राप्ति कठिन है। फिर भी यहां इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि उपरोक्त विवरण यह मान कर चलता है कि जनसंख्या के प्रत्येक कार्यशील सदस्य के काम की मात्रा में परिवर्तन नहीं होता। यह भी मान लिया जाता है कि लोगों की काम करना शुरू करने की आयु में या काम करना बन्द कर देने की आयु में या एक परिवार के काम करने वाले सदस्यों की संख्या में परिवर्तन होने के कारण किसी दी हुई जनसंख्या में श्रमिकों की प्रभावी पूर्ति में घट-बढ़ नहीं होती। इस प्रकार के किसी भी परिवर्तन का परिणाम वैसा ही होगा जैसा कि जनसंख्या के परिवर्तन का होता है। यदि अधिक निपुणता या उत्तम संगठन के कारण एक श्रमिक दिये हुए समय में २० प्रतिशत अधिक काम करता है तो उसका परिणाम वही होगा जो अपरिवर्ती निपुणता वाले श्रमिकों की संख्या में २० प्रतिशत वृद्धि का होता।

यह सिद्धान्त हमें वह वस्तुनिष्ठ आदर्श प्रदान करता है जिसके अनुसार जनसंख्या के परिवर्तनों को नियंत्रित करना चाहिए। साथ ही यह भी निर्धारित करता है कि व्यक्तिगत आचरण को इस प्रकार नियमित किया जाय कि वास्तविक जन्म-दर इतनी हो कि औसत वास्तविक उत्पादन अधिकतम हो सके। यह स्पष्ट है कि जनसंख्या स्वतः अनुकूलतम संख्या की ओर अग्रसर नहीं होती। अतः एक सचेत और सतर्क जनसंख्या नीति की आवश्यकता है जो उस लक्ष्य की सिद्धि के लिए जनसंख्या का नियमन करे। इस सिद्धान्त की विशेषता इसमें है कि यदि अधिकतम वास्तविक आय को एक वांछित आदर्श मान लिया जाय, तो यह बताता है कि किसी समय में जनसंख्या को किस दशा में परिवर्तित होना चाहिए और इसकी एक व्यवहारिक कसौटी प्रदान करता है। यह ध्यान में रखना जरूरी है कि जन्मदर के बदलने के कारण श्रमिकों की प्रभावी संख्या में होने वाले परिवर्तनों में बहुत समय लगता है और वह तभी स्पष्ट होता है जब एक नई पीढ़ी आ जाती है। फलतः ऐसा भी हो सकता है कि किसी समय उपलब्ध साधनों के लिए जनसंख्या अत्यधिक या अति-न्यून हो किन्तु अगले दस या कुछ कम ज्यादा वर्षों में पूंजी साधनों के घटने या बढ़ने से जनसंख्या अनुकूलतम हो जाय। स्पष्ट है कि ऐसी दशा में जनसंख्या में वृद्धि करना अनुचित होगा क्योंकि यदि जनसंख्या में कोई परिवर्तन किया जाता है तो जब तक वह पूरा होगा, उसी बीच पूंजी-साधनों के परिमाण में अन्तर हो जाने के कारण वह परिवर्तन स्वयं जनसंख्या को अनुकूलतम बिन्दु पर से हटा देगा। इसलिए जनसंख्या को अनुकूलतम स्तर तक लाने की किसी नीति के लिए, उन परिवर्तनों को ध्यान में रखना जरूरी है जो देश के पूंजी साधनों में हो रहे हों या होने वाले हों। किन्तु अनुकूलतम बिन्दु की जानकारी ही पर्याप्त नहीं। जनसंख्या को अनुकूलतम बनाने के लिए संख्या-वृद्धि का सचेष्ट नियमन होना चाहिए। जन्मदर के नियमन के लिए प्रत्यक्ष सरकारी-नियंत्रण बहुत कठिन होगा और साथ ही पारिवारिक जीवन के इस क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप लोगों को बहुत अप्रिय भी होगा। तनिक कल्पना कीजिए कि एक सरकारी अफसर प्रत्येक नवविवाहित दम्पति को आदेश दे रहा है कि वे उसके द्वारा स्थापित ध्येय के अनुसार संतानोत्पत्ति करने के लिए अपने वैवाहिक सम्बन्धों का नियमन करें! इससे अधिक अप्रिय और अव्यवहारिक और क्या हो सकता है? जिन परिवारों में संतानोत्पत्ति का सचेष्ट नियमन होता है उनमें भी संतानोत्पत्ति माता-पिता की संतान प्राप्ति

की इच्छा पर प्रभाव डालने वाली विभिन्न बातों पर निर्भर रहती है। फिर भी एक व्यवहारिक वैज्ञानिक कसौटी निर्धारित करके उसका प्रचार बहुत आवश्यक है। उसके द्वारा लोगों को यह ज्ञान कराया जा सकता है कि जन्मदर के बढ़ने से रहन सहन का स्तर अधिक या कम होने लगेगा। सामाजिक आवश्यकता के अनुसार यौन सम्बन्धों के क्षेत्र में वैयक्तिक आचार के नियमन में एक बाधा यह है कि जन साधारण को सामाजिक ध्येय का ज्ञान ही नहीं होता। जन साधारण के सामने सामाजिक ध्येय को स्पष्ट रूप से रख कर इस बाधा को दूर किया जा सकता है। किन्तु यदि माता पिता सामाजिक ध्येय को जानते हों तो भी संभव है कि वे उसे पसन्द न करें या उसके अनुसार अपने परिवार की संख्या का नियमन करने में उन्हें कठिनाई हो। इस क्षेत्र में व्यक्ति के सम्मुख अपना हित ही प्रमुख रहता है। वह सर्वसाधारण के रहन सहन के स्तर की परवाह नहीं करता और स्वयं अपनी आय और पितृत्व की जिम्मेदारियों को ही ध्यान में रखता है। यदि जनसंख्या अनुकूलतम से कम हो तो भी सम्भव है कि लोग अपने निजी रहन सहन के स्तर के गिरने के डर से अधिक संतानोत्पत्ति न करें। हो सकता है कि वे छोटे परिवारों को ही अधिक पसन्द करें जिससे वे अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा, पर्याप्त आराम और उन्नति करने की सुविधाएँ भी दे सकें। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर तो संतानोत्पत्ति की जिम्मेदारियों को स्वीकार करने के मामले में सरकारी नियंत्रण अप्रिय और कठिन होता है, दूसरी ओर केवल अधिक या कम बच्चे पैदा करने की ज़रूरत की घोषणा करके ही जनसंख्या को अनुकूलतम-स्तर तक नहीं पहुँचाया जा सकता। इसलिए सरकार को ऐसे उपाय काम में लाने चाहिए जिनसे मातापिताओं के निर्णयों पर प्रभाव पड़ सके। ऐसे उपायों का स्वरूप यह हो सकता है—जब बड़े परिवारों की ज़रूरत हो तब संतानोत्पत्ति के लिए उदारता से भत्ते दिये जायँ और जब जनसंख्या में कमी करने की ज़रूरत हो तब उन भत्तों को बन्द कर दिया जाये या संतानोत्पत्ति पर कुछ कर भी लगाए जायँ। सर्वाधिकारी (totalitorian) देशों (नाज़ी जर्मनी, फासिस्ट इटली और कम्यूनिस्ट रूस) ने केवल इन्हीं उपायों का प्रयोग नहीं किया है वरन् सामाजिक ध्येय की सिद्धि में सहायता करने वाले माता पिताओं को बड़े-बड़े सम्मान प्रदान किए हैं। उदाहरण के लिए सोवियत रूस में स्त्रियों को देशहित में अधिक संतानोत्पत्ति करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। हाल ही में एक चौदह बच्चों की मां को 'आर्डर आफ लेनिन' प्रदान किया गया था

अनुकूलतम जनसंख्या के सिद्धान्त में यह दोष है कि वह राष्ट्रीय आय या औसत वास्तविक आय की वृद्धि के वितरण विषयक प्रभावों पर बिलकुल ध्यान नहीं देता। इस सिद्धान्त के अनुसार जब जनसंख्या की वृद्धि से औसत वास्तविक आय अधिक होती हो तब वह वृद्धि वांछनीय है। किन्तु प्रायः यह पाया जाता है कि किसी देश में कुल धन और कुल आय का न्याय-संगत वितरण नहीं होता। यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रीय आय की जो वृद्धि औसत वास्तविक आय को बढ़ाती हो वह जनसाधारण की आय को बढ़ाकर उसके रहन सहन के स्तर को ऊँचा कर दे। यह सिद्धान्त शुरू ही से यह मान कर चलता है कि आय-वितरण की वर्तमान पद्धति उचित है या कम से कम संतोषजनक तो है ही; तथा भविष्य में काफी समय तक वह ज्यों की त्यों बनी रहेगी। यह सम्भव है कि बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण होने वाली कुल वास्तविक आय की वृद्धि केवल कुछ ही व्यक्तियों को मिले और वृद्धिमाप औसत वास्तविक आय के होते हुए भी देश के सामाजिक-आर्थिक ढांचे के कारण, जनसाधारण और भी अधिक विपन्न हो जायँ।

किसी समाज की आय-वितरण की पद्धति में परिवर्तन होने से ही जनसाधारण का रहन सहन का स्तर ऊँचा हो सकता है चाहे औसत वास्तविक आय न अधिकतम हो, न बढ़ रही हो। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि अधिकतम औसत वास्तविक आय का उत्पादन करने के लिए श्रमिकों को जिन दशाओं में काम करना पड़े वे सर्वथा अवांछित हों। इसलिए अनुकूलतम उत्पत्ति की कसौटी भिन्न सामाजिक ढांचे वाले देशों के लिए भिन्न होगी। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि अन्य बातों के समान रहने पर औसत वास्तविक आय की वृद्धि समाज के लिए अच्छी ही होती है।

इस सिद्धान्त का एक अन्य दोष यह है कि सामाजिक उद्देश्यों के विषय में इसका दृष्टिकोण बहुत संकीर्ण—केवल भौतिकतावादी—है। भौतिकतावादी अर्थशास्त्री या दार्शनिक भी इससे सहमत न होंगे कि अधिकतम औसत वास्तविक आय ही सामाजिक नीति का अंतिम ध्येय है। आध्यात्मिकता-प्रधान भारतीय विचारधारा को तो इस मत पर और भी अधिक आपत्ति है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अधिकतम सुख वैयक्तिक तथा सामाजिक आदर्श है। किन्तु अधिकतम सुख का अर्थ 'अधिकतम धन' नहीं। आनन्द के लिए कुछ धन या आय की आवश्यकता होती है किन्तु यह जरूरी नहीं कि अधिकतम धन से अधिकतम आनन्द की प्राप्ति हो। आनन्द एक बहुत व्यापक धारणा है और वह बहुत से सूक्ष्म तथा रहस्यपूर्ण कारणों पर निर्भर होती है। मनुष्य केवल अपनी भौतिक इच्छाओं की तृप्ति के लिए ही काम नहीं करता। उसे कुछ आध्यात्मिक तृप्ति की भी आवश्यकता होती है। किसी भौतिकतावादी आदर्श को इतनी छूट नहीं दी जा सकती कि वह जनसाधारण को नैतिक या आध्यात्मिक पतन की ओर ले आए: फिर, रोगों से मुक्ति तथा आध्यात्मिक और भौतिक संतुलन के लिए मनुष्य को शारीरिक स्वास्थ्य की भी आवश्यकता है। यह सिद्धान्त संख्या वृद्धि के प्रजनन-पक्ष पर यथोचित बल नहीं देता; राष्ट्रीय प्रगति और समृद्धि के लिए इस पक्ष को महत्व देना आवश्यक है। अधिकतम औसत वास्तविक आय के उपभोग के लिए स्वस्थ, समझदार, शिक्षित और ईमानदार लोग होने चाहिए, क्षुद्र और नासमझ व्यक्तियों का समूह नहीं। अतः किसी भी जनसंख्या नीति में आयोजित-प्रजनन का महत्वपूर्ण स्थान होना चाहिये।

यदि हम केवल भौतिकतावादी दृष्टिकोण ही रखें तो भी प्रति-व्यक्ति अधिकतम प्रत्युपलब्धि का आदर्श प्रत्येक दशा में हमारा पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकता। किसी राष्ट्र के लिए यह सर्वथा उचित होगा कि वह एक ऐसी जनसंख्या नीति अपनाए जिसके द्वारा वह अपने किसी राष्ट्रीय आदर्श की प्राप्ति कर सके—चाहे ऐसा करने से औसत वास्तविक आय में कमी ही क्यों न हो। हिटलर और मुसोलिनी की युद्ध में निष्ठा थी और अपने देश की सीमाओं का प्रसार करना उनकी विदेशी नीति का आधार बना। उनका विश्वास था कि राष्ट्रीय सर्वोपरिता के लिए जनसंख्या की वृद्धि आवश्यक है और यही नीति उन्होंने अपनाई। अपने इन निश्चित आदर्शों की प्राप्ति के लिए नाजी जर्मनी और फासिस्ट इटली को एक ऐसी जनसंख्या नीति को अपनाना उचित ही था जो औसत वास्तविक आय को अधिकतम तो न करती थी, किन्तु जो स्वस्थ एवं पुष्ट नागरिकों की संख्या बढ़ाती थी। इस नीति को उन्होंने स्वयं चुना था अतः उनके दृष्टिकोण से वह अवश्य ही अधिक उचित थी क्योंकि वह उनके राष्ट्र के निर्माण में सहायता करती थी। भारत जैसे देश में, जहाँ सादा जीवन और उच्च विचारों पर अधिक बल दिया जाता है, औसत वास्तविक आय पर कम महत्व दिया जाना स्वाभाविक

ही है। समस्या यह नहीं है कि जनसंख्या उपलब्ध खाद्य सामग्री से या औसत वास्तविक आय से निर्देशित हो ; समस्या तो यह है कि जनसंख्या वृद्धि को एक स्वीकृत सामाजिक लक्ष्य* के अनुसार नियोजित किया जाय। कोई एक ऐसी जनसंख्या नीति नहीं हो सकती जो प्रत्येक समय, प्रत्येक युग का प्रत्येक समाज के लिए उपयुक्त हो। किसी एक राष्ट्र के लिए सही जनसंख्या नीति उस राष्ट्र के सामाजिक उद्देश्यों पर निर्भर होती है। और नीति की सफलता इसमें होती है कि जनसंख्या वृद्धि का उस सामाजिक लक्ष्य के साथ नियोजन किया जा सके। जो भी हो इतना तो स्पष्ट है कि जनसंख्या को अनियंत्रित बढ़ने नहीं दिया जा सकता ; यह निर्विवाद है कि जनसंख्या का किसी स्वीकृत सामाजिक लक्ष्य के अनुसार सचेष्ट नियमन किया जाना चाहिये। दूसरे, क्योंकि जनसंख्या एक सामाजिक समस्या है इसलिए उसका हल यह नहीं हो सकता कि उसे व्यक्तियों के हाथों में, और उनकी सुविधा पर छोड़ दिया जाय। ऐसी नीतियों का आयोजन करना जरूरी है जिनका लक्ष्य सामाजिक आवश्यकता को दृष्टि में रख कर वैयक्तिक आचार निर्देश करना हो। ऐसा करने पर व्यक्तियों के बुद्धिसंगत व्यवहार के द्वारा ही सामाजिक ध्येय और जनसंख्या का नियोजन हो जायगा। दुर्भाग्य से भारत में संतानोत्पत्ति के वैयक्तिक प्रयत्न नहीं के बराबर रहे हैं। सरकार भी अभी तक कोई बुद्धिसंगत और सर्वमान्य जनसंख्या नीति निर्धारित नहीं कर पाई है। खेद का विषय है कि हम लोगों ने सामूहिक रूप से अभी तक एक सचेत और सु-आयोजित जनसंख्या नीति के पालन करने के महत्व को नहीं समझा है। संतति निग्रह विधियों का प्रचलन बहुत कम है और अधिकांश जन-साधारण को उन आधुनिक विधियों का ज्ञान ही नहीं है जिनके प्रयोग से संतानोत्पत्ति किए बिना यौनेच्छा की तृप्ति की जा सकती है। जहां लोग भीषणगति से संतानोत्पत्ति करते हों वहां सामाजिक उन्नति या प्रगतिशील आर्थिक व्यवस्था की किसी योजना को स्थायी सफलता नहीं मिल सकती। यह आवश्यक है कि सरकार की योजनाओं में जन संख्या नियंत्रता का भी स्थान हो जिससे जनसंख्या की भयावह वृद्धि के कारण रहन सहन के स्तर को ऊँचा करने की योजनाएँ व्यर्थ न हो जायँ।

---

*यदि 'वास्तविक आय' का प्रयोग अधिक से अधिक व्यापक अर्थ में किया जाय जिससे उसके अंतर्गत सभी वांछनीय उद्देश्य आ जायँ तो ये आलोचनाएँ निरर्थक हो जाती हैं। ऐसा करने पर 'वास्तविक आय' का तात्पर्य स्वीकृत सामाजिक ध्येय से ही होगा।

अध्याय २०

युक्तीकरण

युक्तीकरण (Rationalization) उत्पादन की क्षमता बढ़ाने और लागत कम करने का प्रयत्न है। प्रक्रिया के अंतर्गत वह सब विधियों और युक्तियाँ आ जाती हैं जिनका यह लक्ष्य हो। इसकी कई परिभाषाएँ दी जाती हैं किन्तु कोई भी संतोषजनक या पूर्ण नहीं है। एक परिभाषा है—"प्रयत्न या सामग्री के आय-व्यय को न्यूनतम करने के लिए प्रयुक्त तांत्रिक या संगठन सम्बन्धी उपायों को युक्तीकरण कहते हैं। एक अन्य परिभाषा के अनुसार युक्तीकरण का अर्थ है "श्रम का वैज्ञानिक संगठन, उत्पादन सामग्री और उपज दोनों का प्रमाणीकरण (standardistion), उत्पादन क्रियाओं का सरलीकरण और यातायात तथा विपणन-पद्धति में समुन्नति।" एक और परिभाषा के अनुसार युक्तीकरण का अर्थ है परम्परागत प्रक्रिओं, पुराने नित्यक्रिम, आनुभाविक नियमों और क्रियाओं के स्थान पर ऐसी युक्तियों का प्रयोग करना जो धैर्यपूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन फलस्वरूप प्राप्त हुई हों और जिनका उद्देश्य यह हो कि साधनों के लक्ष्य के साथ अनुकूलतम नियोजन हो ; जिससे प्रत्येक प्रयत्न से अधिकतम फल प्राप्त हो सके।" ऐसी कितनी ही परिभाषाएँ दी जा सकती हैं किन्तु परिभाषा करते रहने से कोई लाभ न होगा। इसकी अपेक्षा यह अधिक उचित होगा कि उन विभिन्न प्रक्रियाओं का जो मिलकर युक्तीकरण कहलाती हैं निम्नलिखित वर्गीकरण किया जाए। पहले वर्ग में वे सब प्रक्रियाएँ आ जाती हैं जिनके फलस्वरूप श्रम के स्थान तक यंत्रों का प्रयोग किया जाता है। इसे हम यंत्रीकरण कहते हैं। दूसरे वर्ग में पुर्नसंगठन की वे सब योजनाएँ आ जाती हैं जिनका उद्देश्य संस्थायों की घातक स्पर्द्धा, अति-उत्पादन और गिरती हुई कीमतों को रोकना होता है। तीसरे वर्ग में कार्य की गति को बढ़ाने तथा श्रमिकों से कम से कम समय में अधिक से अधिक काम करवाने की युक्तियां आ जाती हैं। इसे वैज्ञानिक प्रबन्ध कहते हैं।

स्पर्द्धा के आधार पर निर्मित पूंजीवादी व्यवस्था की दोषपूर्ण कार्य प्रणाली ही मुख्यतः युक्तीकरण को आवश्यक बनाती है। यदि स्पर्द्धा वास्तव में पूर्ण हो तो शायद बहुत सी कठिनाइयां हो ही नहीं। किन्तु वास्तविक जगत में स्पर्द्धा अपूर्ण ही होती है। फलस्वरूप क्रमिक रूप से अतिउत्पादन बेकारी और व्यापारिक विपन्नता होती हैं जिनके कारण उत्पादकों, उपभोक्ताओं और श्रमिकों को बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। जब व्यवस्था में व्यापारिक विपन्नता नहीं होती तो भी उत्पादक अपने माल के लिए बाज़ार पाने और अपने प्रतिस्पर्द्धियों को समाप्त करने के लिए घातक प्रतियोगिता की शरण लेते हैं। इससे बहुत बरबादी होती है। उपभोक्ताओं और श्रमिकों के हितों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता। लाभ की आकांक्षा से प्रेरित होकर नियोक्ता को यह परवाह नहीं रह जाती कि वह किसे पददलित कर रहा है। युक्तीकरण की योजनाओं का लक्ष्य उत्पादकों का अहित करने वाले पूंजीवादी व्यवस्था के इन दोषों का निराकरण करना है। ऐसी योजनाएँ घातक स्पर्द्धा, अति-उत्पादन और गिरती हुई कीमतों को जो उत्पादकों के लिए अहितकर होती हैं—रोकती है। इनका लक्ष्य उत्पादन को कम करनर होता है और लागत में कमी हो जाने पर यदि कीमत वही रहें, तो उत्पादकों के लाभ बढ़ जाते हैं। इसके विपरीत आर्थिक आयोजन का लक्ष्य उत्पादक, उपभोक्ता तथा श्रमिक के

हितों की रक्षा करता है। युक्तीकरण तथा आयोजन में एक और बड़ा अन्तर यह है कि युक्तीकरण तो केवल यहाँ-वहाँ सुधार भर करता है जब कि आयोजन का क्षेत्र और लक्ष्य बहुत व्यापक होता है। वैसे दोनों ही का लक्ष्य आर्थिक व्यवस्था का अंशतः या पूर्णतः पुर्नसंगठन करना है।

यंत्रीकरण—इसके अंतर्गत मानवीय श्रम के स्थान पर यंत्रों का प्रयोग किया जाता है और इस प्रकार उत्पादन-क्षमता बढ़ती है। यदि मान लीजिये १०० श्रमिक और ५ यंत्र किसी वस्तु की २०० इकाइयों का उत्पादन करते हैं तो युक्तीकरण का प्रभाव यह होगा कि वस्तु की उतनी ही मात्रा ३० श्रमिक और १५ यंत्र द्वारा तैयार हो जायगी। इस उदाहरण में यंत्र की दस इकाइयां ७० श्रमिकों के स्थान पर प्रतिस्थापित की गई हैं। इस प्रकार युक्तीकरण से कार्य-भार और कष्ट कम हो जाते हैं। उठाने, ढकेलने और खींचने के कार्य जिन्हें पहले मानवीय श्रम द्वारा किया जाता था अब उन्हें मशीनों की सहायता से किया जाता है। फिर, यंत्रों का अधिक प्रयोग करने से सही-सही काम करना सम्भव हो जाता है। यह निर्विवाद है कि बड़े पैमाने पर यंत्रीकरण करने से उत्पादित वस्तुओं की आकृति और सुन्दरता में उन्नति हुई है। फिर जिस देश में मानवीय श्रम उपलब्ध न हो या बहुत महंगा हो उसमें यंत्रीकरण उत्पादन की लागत को काम कर देता है। वास्तव में ये सब बहुत बड़े फायदे हैं। किन्तु इस प्रकार के युक्तीकरण में बहुत से दोषों की भी सम्भावना है। इससे बेकारी पैदा होती है। एक प्रसारशील अर्थव्यवस्था में या युद्धकाल में जब वृत्ति लगभग पूर्ण होती है, यंत्रीकरण से इस प्रकार की विशेष हानि नहीं होती क्योंकि एक जगह से निकाले जाने पर श्रमिकों को दूसरी जगह काम मिल सकता है। किन्तु साधारण दशाओं में जब यह सम्भव नहीं होता। यंत्रीकरण से श्रमिकों को बहुत कष्ट होते हैं। अतः युक्तीकरण में मानवीय-लागत बहुत अधिक होती है क्योंकि इसमें श्रमिकों को बहुत बलदान करना पड़ता है। आवश्यकता होते हुए भी भारतीय कृषि का यथेष्ट युक्तीकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि इसके द्वारा विस्थापित व्यक्तियों के लिए हमारे पास वैकल्पिक वृत्ति के क्षेत्र नहीं हैं। श्रम-संघों नेता के इसीलिए यंत्रीकरण का विरोध करते हैं क्योंकि इससे श्रमिकों को बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं। भारतीय सूती वस्त्र उद्योग में १९२७ और १९४० के बीच काफी यंत्रीकरण हुआ, किन्तु अधिकांश में श्रमिकों ने उसका विरोध ही किया। प्रति बुनकर की देख रेख में करघों की संख्या बढ़ाने के प्रयत्न के कारण बम्बई में एक भारी श्रमिक हड़ताल हुई। यंत्रीकरण श्रम की सीमान्त उत्पादकता बढ़ा कर मज़दूरी की दर को बढ़ाता है और यहां तक वह वांछनीय है। परन्तु साथ ही वह राष्ट्रीय आय में से श्रमिक वर्ग को मिलने वाला भाग कम कर देता है। ऊपर दिए गए उदाहरण में जब एक वस्तु की २०० इकाइयों का उत्पादन करने के लिए श्रमिकों की संख्या १०० से ३० कर दी जाती है तो यह सम्भव है कि प्रति श्रमिक मज़दूरी १५ रु० से बढ़कर ४५ रु० प्रति मास हो जाय। लेकिन मज़दूरी की दर अधिक होने पर भी श्रमिक-वर्ग को मिलने वाली मज़दूरी १,५०० रु० से घट कर १,३५० रु० रह जायगी। इस प्रकार यंत्रीकरण धन के वितरण की विषमता को और भी बढ़ा देता है। उसके कारण धनिक और भी अधिक धनी तथा गरीब और भी अधिक गरीब हो जाते हैं। यदि यंत्रीकरण के साथ ही साथ राष्ट्रीय आय में श्रमिक वर्ग के हिस्से को बढ़ाने का प्रबन्ध नहीं किया जाता तो उसके कारण आर्थिक विनाश और अव्यवस्था भी हो सकती है और कुछ राजनीतिक विचारकों को इसकी आशंका सदैव रही है।

इस प्रकार का युक्तीकरण अर्थात् श्रम के स्थान पर मशीन का प्रतिस्थापन, गत दो महायुद्धों के बीच के वर्षों में कई भारतीय उद्योगों विशेषतः सूती कपड़े, लोहे और इस्पात तथा चमड़े के उद्योग में किया गया। यह प्रक्रिया अब भी चल रही है यद्यपि युद्ध काल में पर्याप्त यंत्रों के अभाव के कारण इसकी गति कुछ मंद हो गई थी।

घातक स्पर्द्धा—पूंजीतन्त्र में पूर्ति का परिमाण वैयक्तिक साहसोद्यमियों द्वारा निर्धारित होता है। प्रत्येक उत्पादक बाजार की कुल मांग का अनुमान लगाने का प्रयत्न करता है और यह एक कठिन कार्य है। फिर वह इस मांग के उस हिस्से का अनुमान लगाने का प्रयत्न करता है जिसे वह स्वयं पूरा कर सकेगा। कुल मिलाकर वह अपनी बिक्री की सम्भावनाओं की बड़ी आशापूर्ण कल्पना करता है और उसी के आधार पर उत्पादन-शक्ति में अत्यधिक वृद्धि कर लेता है। यदि इस विषय में कुछ संदेह भी हो कि बाजार की कुल मांग में उसका हिस्सा कितना होगा तो भी प्रत्येक उत्पादक को यह आशा रहती है कि घातक स्पर्द्धा द्वारा वह अपने प्रतिस्पर्द्धियों का निराकरण कर सकेगा। किन्तु ऐसा करना उतना सरल नहीं होता। इसका फल होता है—अति-उत्पादन। यदि उपभोक्ताओं की संख्या या उनकी आय में कमी हो जाने के कारण बाजार-मांग घट जाती है तो भी यही परिणाम हो सकता है—अर्थात् अति-उत्पादन होगा जिससे कीमतें गिरेंगी और उत्पादकों को हानि होगी। यह दूसरे प्रकार का युक्तीकरण मिल मालिकों और उत्पादकों के हितों की रक्षा के लिए बचाव की युक्ति है।

इस प्रकार का युक्तीकरण साधारणतः निम्न तीन में से एक रूप लेता है: (१) उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश को लाइसेंस द्वारा नियंत्रित किया जाता है जिससे उसकी अधिक संख्या के कारण अति-उत्पादक न होने पाये। एक केन्द्रीय संगठन बनाया जाता है और सरकार उसे नई फर्मों के प्रवेश पर नियंत्रण रखने का कानूनी अधिकार देती है। ब्रिटेन के लोहे तथा इस्पात उद्योग तथा भारतीय चीनी उद्योग ने इस युक्ति का बहुत प्रयोग किया है इस युक्ति में दो खतरे हैं—यदि इसका प्रयोग निष्पक्ष भाव से नहीं किया जाता तो इससे लाभ की अपेक्षा हानि की ही अधिक आशंका रहती है। केवल इतना ही नहीं कि नियंत्रण का उद्देश्य ही निरर्थक हो जाय वरन् अकुशल फर्मों द्वारा अपनी उत्पादन शक्ति का विस्तार करने के कारण स्थिति और भी बिगड़ सकती है। भारतीय चीनी सिंडीकेट की त्रुटिपूर्ण नीति के कारण ठीक ऐसा ही हुआ। यदि नई फर्मों के प्रवेश पर प्रतिबंध लगाया जाता है तो इससे उद्योग में जड़ता आ सकती है। नये रक्त के प्रवेश से निपुणता आती है और यदि उस पर रोक लगा दी जाय तो हानि का भय है।

(२) जितने कारखाने हैं उनकी उत्पत्ति पर प्रतिबंध लगाया जा सकता है। ऐसा तीन ढंग से किया जा सकता है: (अ) कुछ कारखानों को बिलकुल बंद कर दिया जाय या (ब) प्रत्येक कारखाने के कुछ भाग को बंद कर दिया जाय या (स) पूरे कारखाने से कम घंटे काम लिया जाय। इनमें से कौन से विधि का प्रयोग किया जाय यह कई बातों पर निर्भर है। सूती कपड़े और जूट की मिलों के लिए यह तो सम्भव है कि वे अपने कारखाने के कुछ भाग को बंद कर दें किन्तु यंत्रों और कार्य की विशेषता के कारण लोहे और इस्पात तथा सीमेंट उद्योगों में ऐसा करना सम्भव नहीं। कारखाने को अंशतः बन्द करने से उत्पादन का संतुलन भंग हो जाता है और अनुकूलतम उत्पादन नहीं हो पाता। यदि ऐसा हो तो कुछ कारखानों को बिलकुल बन्द कर देना ही अच्छा होगा किन्तु जब बन्द कर देने लायक अकुशल कारखानों की आर्थिक अवस्था बहुत अच्छी हो तो उन्हें बन्द कर देना सम्भव नहीं होता। भारत के सूती

मिल उद्योग में यही स्थिति थी। कुछ उद्योगों में—जैसे कांच बनाने का उद्योग—भट्टी को बराबर गर्म रखना पड़ता है इसलिए सप्ताह में चालीस घंटे काम का प्रस्ताव व्यवहारिक नहीं है। फिर सबसे उपयुक्त विधि को अपनाने में श्रमिकों की प्रतिक्रिया का भी ध्यान रखना पड़ता है।

(३) विलयन (merger) एकीकरण (amalgamation) से भी उत्पत्ति को बाज़ार मांग के स्तर तक घटाया जा सकता है। यह संयोजन कुछ यंत्रों को बन्द कर सकता है या उनका स्थान परिवर्तन कर सकता है। भारत के सीमेंट उद्योग तथा भारतीय रेलों में यही हुआ। भारतीय सीमेंट उद्योग के अत्यधिक विकास ने स्पर्द्धा को जन्म दिया। ढीले-ढाले संगठन बनाने के प्रयत्न सफल न हो सके इसीलिए १६३६ में एक 'विलयन' बनाया गया जिसने १६३७ तक अपना काम पूरा कर लिया।* एसोसियेटेड सीमेन्ट कम्पनी आफ इन्डिया नामक एक नई कम्पनी ८ करोड़ रुपए की पूंजी से निर्मित की गई। उस समय की दस कम्पनियां 'विलयन' में सम्मिलित हुईं। इन कम्पनियों के हिस्सेदारों को पुराने हिस्सों के बदले में नकद रुपया या नई कम्पनी में हिस्से दिए गए। इस प्रकार पूरा नियंत्रण ए० सी० क० (एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनी) के हाथों में आ गया। कोटा प्रथा समाप्त कर दी गई; विभिन्न कारखानों के लिए प्रादेशिक बाज़ार निर्धारित किए गए। फिर खपत के क्षेत्रों में स्थित कारखानों का नई मशीनों द्वारा विस्तार किया गया तथा स्थानीय मांग की पूर्ति के लिए आवश्यक कारखानों को छोड़ कर अन्य कारखानों को बन्द कर दिया गया। इस प्रकार बहुत सा अपव्यय बंद हो गया और उद्योग सुदृढ़ हो गया।"

वैज्ञानिक प्रबन्ध—इसका सम्बन्ध किसी कारखाने के भीतरी तांत्रिक संगठन से है। इसका तात्पर्य प्रत्येक कार्य के लिए सबसे उपयुक्त कार्यकर्ता के चुनाव और इस अध्ययन से है कि कार्य को कम से कम कितने समय से किया जा सकता है और उसके लिए कितने कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता है। इसके अंतर्गत अधिकतम कार्य कुशलता लाने के लिए विभिन्न कार्यों का यथोचित वर्गीकरण भी आ जाता है। इस सबके लिए यह आवश्यक है कि विशेषज्ञ समस्याओं का का गंभीर अध्ययन करें। श्रमिकों को नई आवश्यकता के अनुसार कार्य करने की शिक्षा दी जाती है और इसके लिए उन्हें अधिक मजदूरी का प्रलोभन दिया जाता है। यदि ये प्रयत्न सफल हो जाते हैं तो उत्पादन की लागत कम हो जाती है। यह वैज्ञानिक प्रबन्ध की समस्या का एक वांछित पहलू है। किन्तु प्रायः यह होती है कि इन विधियों का प्रयोग करने से श्रमिकों पर एक असह्य भार आ पड़ता है और जब ऐसा होता है तब वैज्ञानिक प्रबन्ध की इन योजनाओं की मानवीय लागत अधिक हो जाती है। इसके अतिरिक्त यह भी हुआ है कि जब किसी योजना के अंतर्गत श्रमिक अधिक काम करते हैं तो लोभ से प्रेरित होकर उत्पादकों ने उनसे और भी अधिक काम करने की मांग की है। यदि श्रमिक इतना अधिक काम करने भी लगें तो इससे उनका स्वास्थ्य नष्ट हो जायगा। फिर कभी कुछ दशाओं में वैज्ञानिक प्रबन्ध की योजनाएँ श्रमिक-संगठनों को कमज़ोर करती हैं। यही कारण है कि श्रमिक संघ ऐसी योजनाओं का विरोध करते हैं। किन्तु ऐसे अनिष्टकर परिणाम तभी होते हैं जब योजना को अनावश्य सीमाओं तक बढ़ाया जाता है। यदि उसे उचित सीमाओं में रखा जाय तो वैज्ञानिक प्रबन्ध के फायदे उसके नुकशानों से कहीं अधिक होंगे।

---

*इन्डियन फाइनेन्स ईयर बुक

अध्याय २१

औद्योगिक संगठन

प्रत्येक प्रकार के औद्योगिक संगठन में साहसोद्यमी की उपस्थिति आवश्यक है चाहे वह संगठन व्यक्तिगत स्वामित्व और प्रबंध हो या साझेदारी हो या संयुक्त पूंजी कम्पनी । परन्तु संयुक्त पूंजी कम्पनियों में उसका अपेक्षाकृत अधिक महत्व है । ऐसी कम्पनियों में स्वामित्व तथा नियंत्रण अलग अलग होते हैं और यद्यपि साहसोद्यमी कम्पनी का स्वामी तो नहीं होता फिर भी वह उसका नियंत्रण और प्रबन्ध करता है । अतः संयुक्त पूंजी कम्पनी का भविष्य साहसोद्यमी* की कुशलता और क्षमता पर बहुत अधिक निर्भर रहता है । साहसोद्यमी उद्योग में जोखिम उठाता है । वही निश्चय करता है कि किन वस्तुओं का उत्पादन हो और इसके लिए किस कच्चे माल और उत्पादन के किन साधनों का उपयोग किया जाय । साहसोद्यमी का काम मौलिक निश्चय करना और आदेश देना है । अन्य सब उसके आदेशों का पालन करते हैं । प्रबन्धक, रसायनी, इंजीनियर और श्रमिक—इन सब का साहसोद्यमी से स्पष्ट भेद करना आवश्यक है । ये सब उसके आदेशों का पालन करते हैं । इन सब के कार्यों में भी मानसिक क्रिया सन्निहित है किन्तु वह बहुत साधारण तथा नित्यक्रम के रूप में होती है । सबसे प्रमुख बात यह है कि साहसोद्यमी का कार्य एक व्यक्ति भी कर सकता है या कई व्यक्ति मिल कर भी । यदि किसी मैनेजर या रसायनी को कम्पनी की साधारण नीति से अलग स्वतंत्र रूप से निश्चय करने का अधिकार दे दिया जाता है तो इस हद तक वह साहसोद्यमी का कार्य करता है । आधुनिक उद्योगों का संगठन बहुत पेचीदा होता है इसलिए उनमें किसी एक व्यक्ति को साहसोद्यमी कहना बहुत कठिन है । वास्तव में उसका कार्य बहुत उप-विभाजित कर दिया गया है और कई व्यक्ति एकसाथ उसे करते हैं ।

साहसोद्यमी के कार्य—साहसोद्यमी के दो प्रमुख कार्य हैं सम्बन्धीकरण और जोखिम उठाना । सम्बन्धीकरण का कार्य संभवतः अपेक्षाकृत सरल होता है और इसके लिए साहसी को 'साधारण लाभ' मिलते हैं जो कि मजदूरी के समान ही होते हैं और बहुत कुछ उसी नियम द्वारा निर्धारित होते हैं जिससे श्रम या किसी अन्य साधन का प्रतिफल । सम्बन्धीकरण के अंतर्गत निम्नलिखित कार्य आते हैं—

(अ) निश्चय करना कि किस प्रकार के माल का उत्पादन किया जाये और इसके लिए विभिन्न साधन किस अनुपात में संयोजित किए जायँ ।

(ब) प्रत्येक कार्य के लिए उपयुक्त कार्यकर्ता और कच्चे माल का चुनाव ।

(स) प्रतिस्पर्द्धियों के प्रति कम्पनी की नीति निर्धारित करना । इसी पर प्रतिस्पर्द्धियों की तुलना में कम्पनी की सफलता या असफलता निर्भर है ।

(द) कम्पनी की विज्ञापन-नीति निश्चित करना ।

---

*यहां 'साहसोद्यमी' शब्द का तात्पर्य है सर्वोच्च संगठनकर्त्ता जिसका प्रथम कार्य स्वतंत्र रूप से निर्णय करना होता है । विशेष अर्थ में इस शब्द का प्रयोग आधुनिक वितरण सिद्धान्त में किया जाता है उसके लिए 'लाभ' वाला अध्याय देखिए ।

(क) उन सम्बन्धों को निश्चित करना जो कम्पनी सरकार और जनता से रखेगी।

(ख) विभागीय समायोजना और सम्बन्धीकरण की नीति निश्चित करना।

दूसरे कार्य—'जोखिम उठाने' के लिए अधिक क्षमता की आवश्यकता है और यह कार्य कहीं अधिक कठिन भी है। इसके लिए साहसोद्यमी को शुद्ध लाभ मिलता है। यह 'शुद्ध लाभ' केवल आकस्मिक आय के रुप में मिलता है और उसका सीमान्त उत्पादकता के नियम से कोई सम्बन्ध नहीं है। व्यापार में वास्तविक सफलता व्यक्ति को मिलती है जो इस जोखिम उठाने के क्षेत्र में सही निश्चय कर सके। साहसोद्यमी को कई अनुमान करने पड़ते हैं—भावी बाज़ार मांग का, इसके उस भाग का जिसकी वह स्वयं पूर्ति करने की आशा कर सकता है, उस मूल्य का जिस पर वह कच्चे माल आदि को खरीद सकेगा और उस मूल्य का जिस पर वह अपने तैयार माल को बेच सकेगा। क्रय और विक्रय के उचित समय, आवश्यक वित्त का प्रबन्ध करने के उचित समय और यह कि यह वित्त किस प्रकार की हो—इन विषयों पर सही या गलत निश्चय करने पर व्यापार की सफलता या असफलता निर्भर रहती है। साहसोद्यमी कच्चे माल आदि खरीदता है और श्रमिकों को मज़दूरी देता है किन्तु अपने तैयार माल की कीमत की प्राप्ति के लिए उसे प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यदि उसके निश्चय ठीक होते हैं तब तो उसे लाभ होता है अन्यथा हानि।

यह कहना गलत है कि समाजवादी देशों में या सरकारी उद्योगों में साहसोद्यमी होता ही नहीं। ऐसे उद्योगों में भी साहसोद्यमी की उतनी ही आवश्यकता है। किन्तु उसका स्वरूप यहाँ अवश्य बदल जाता है। पूंजीवादी उद्योग में साहसोद्यमी निजी लाभ की आकांक्षा से प्रेरित होता है। अधिक लाभ की आकांक्षा से प्रेरित होकर ही वह मेहनत से काम करता है। यदि वह काम में ढील डाल दे तो उसका लाभ कम हो जाता है। साहसोद्यमी पूंजीतंत्र का आधार-स्तम्भ है। किन्तु सरकारी उद्योग या समाजवादी देश में वह (अ) एक सरकारी अफसर होता है और (ब) अन्य सबकी तरह वेतन पाता है। क्योंकि समाजवादी व्यवस्था वैयक्तिक लाभ को स्वीकार नहीं करती इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि साहसोद्यमी को भी अन्य साधनों की तरह ही प्रतिफल मिले। फिर समाजवादी व्यवस्था में व्यक्तियों के लाभ को आकस्मिक आय पर निर्भर नहीं रहने दिया जा सकता। किन्तु सम्बन्धीकरण तथा जोखिम उठाने* का कार्य पूंजीतंत्र की भांति समाजवादी व्यवस्था में भी उतना ही महत्वपूर्ण है। किसी न किसी को यह निश्चय करना ही पड़ता है कि कितनी मात्रा में उत्पादन किया जाय, किस प्रकार के और किस परिमाण में साधनों का उपयोग किया जाय और उत्पादन की किन विधियों से काम लिया जाय। पूंजीतंत्र में साहसोद्यमी को पूर्ति और मांग की स्वतंत्र शक्तियों के साथ अपने को नियोजित करना होता है। पूर्णरूप से समाजवादी व्यवस्था में कच्चे माल श्रम आदि की वसूली राज्यसत्ता के बल पर होती है और ऐसे ही तैयार माल की बिक्री। साहसोद्यमी का काम तो रहता ही है। उसका काम बहुधा इस रूप में होता है—विभिन्न विभागों के कार्य को सम्बद्ध करना और अर्ध-निर्मित वस्तुओं को नियमित रूप से एक विभाग से दूसरे विभाग को भेजने का प्रबन्ध करना। इस काम में भी जोखिम है किन्तु हानि और लाभ का वहन कोई व्यक्ति नहीं

---

*यहां जोखिम अंततः सरकार द्वारा उठाए जाते हैं; जब भी हानि होती है, नागरिकों हो उसका भार उठाना पड़ता है।

जाता है और बाद में ही दूसरों को कुछ मिल पाता है। विलम्बित हिस्सों को अन्य सबको भुगतान हो जाने के बाद ही कुछ मिलता है और यदि कभी कम्पनी का परिशोधन हो तो उनका अधिकार सबसे बाद में आता है। इस प्रकार इन हिस्सों पर जोखिम अधिकतम होता है लेकिन साथ ही अधिक लाभ भी मिलने की सम्भावना भी होती है। दूसरी ओर संचित अधिमान्य हिस्सों में जोखिम तथा प्रतिफल दोनों कम होते हैं।

तुलना—संयुक्त पूंजी कम्पनी वाले संगठन से प्रमुख फायदा यह है कि सीमित दायित्व और बहुत से लोगों के सहयोग के कारण विशाल परिमाण में पूंजी इकट्ठी की जा सकती है; फलतः बड़ी-बड़ी योजनाएँ चलायी जा सकती हैं। वैयक्तिक स्वामित्व और वैयक्तिक साझेदारी में पूंजी का परिमाण अनिवार्य रूप से सीमित रहता है। इस प्रकार के साहसोद्यम छोटे पैमाने के और अपेक्षाकृत कम जोखिम वाले उद्योगों के लिए ही उपयुक्त हैं। संयुक्त-पूंजी कम्पनियाँ प्रचुर पूंजी के कारण अधिक अनुसंधान कार्य कर पाती हैं। अधिक कुशल संगठन के कारण उत्पादन कम लागत पर किया जा सकता है; वैयक्तिक साझेदारी में इन कार्यों पर पर्याप्त व्यय करना सम्भव नहीं होता और परिणाम स्वरूप उसकी उत्पादन क्षमता कम होती है।

पूंजी के निर्माण तथा बचत की वृद्धि में संयुक्त पूंजी कम्पनी के उदय से अत्यधिक सहायता मिली है। क्योंकि संयुक्त-पूंजी कम्पनियां जनसाधारण को विनियोग की सुविधाएँ देती हैं इसलिए वे बचत करने को उत्साहित होते हैं। हर कोई अपना अलग व्यवसाय आरम्भ नहीं कर सकता और यदि संयुक्त-पूंजी कम्पनियां न हों तो जनसाधारण के पास उद्योग में वैयक्तिक योग दे सकने का कोई साधन न रहे। किन्तु इसके विपरीत वैयक्तिक स्वामित्व और वैयक्तिक साझेदारी का फायदा यह है कि उनमें ऐसे नए व्यवसायिकों के लिए भी स्थान रहता है जिनमें योग्यता तो होती है किन्तु जो किसी अन्य कम्पनी में काम नहीं कर सकते।

संयुक्त-पूंजी कम्पनी का जीवन अविच्छिन्न होता है किन्तु वैयक्तिक साझेदारियाँ बहुधा एक साझेदार की मृत्यु होने पर समाप्त हो जाती हैं।

यदि किसी संयुक्त-पूंजी कम्पनी के किसी हिस्सेदार की मृत्यु हो जाय तो शीघ्र ही उसके स्थान पर अन्य आ जाता है। कार्यकुशलता तथा ख्याति प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि कम्पनी का जीवन अविच्छिन्न हो।

संयुक्त-पूंजी कम्पनियों में धोखेबाज़ी और नियमों के उल्लंघन की बड़ी सम्भावना रहती है। इसका कारण यह है कि स्वामित्व और नियंत्रण को अलग-अलग कर दिया जाता है। वैयक्तिक साझेदारी में इस प्रकार की कुरीतियों की गुंजाइश कम है क्योंकि सब कार्य मालिकों की देख रेख में होता है। फिर भी संयुक्त-पूंजी के इस दोष को कुछ हद तक कम्पनी विधान द्वारा इस विषय में आवश्यक आदेश करके दूर किया जा सकता है। वैयक्तिक साहसोद्यम में एक ओर तो श्रमिकों तथा नियोक्ता में तथा दूसरी ओर उपभोक्ता और उत्पादक में सम्पर्क रहता है। वैयक्तिक साझेदारी में यह सम्पर्क कम हो जाता है और संयुक्त-पूंजी उद्योगों में तो यह लगभग बिलकुल ही नहीं रहता।

कभी-कभी वैयक्तिक साहसोद्यम तथा वैयक्तिक साझेदारी स्पर्द्धा में अधिक सफल होती है क्योंकि प्रतियोगी उनकी वास्तविक स्थिति को नहीं जान सकते। परन्तु क्योंकि संयुक्त

पूंजी उद्योगों में विपक्षी इसका पता सुगमता से लगा सकते हैं इस कारण प्रतिस्पर्द्धा अधिक तीव्र और घातक हो जाती है।

ये विभिन्न प्रकार के संगठन अपने अपने स्थान पर अच्छे हैं। प्रत्येक औद्योगिक व्यवस्था में इन सबका होना आवश्यक है। ब्रिटेन और अमरीका जैसे महान औद्योगिक देशों में भी ये सब प्रकार के संगठन साथ-साथ समुन्नत हो रहे हैं। वास्तव में होता यह है कि बहुत से नए साहसोद्यम वैयक्तिक साझेदारी के या एक व्यक्ति स्वामित्व के रूप में आरम्भ होते हैं और कुछ समय बीतने पर ही वे एक सार्वजनिक कम्पनी का रूप धर लेते हैं। अतः वैयक्तिक संगठन की आवश्यकता केवल उसके अपने गुणों और विशेषता के कारण ही नहीं है, संयुक्त-पूंजी उद्यम के लिए एक सीढ़ी के रूप में भी वह आवश्यक है।

संयोजन—पूर्ण स्पर्द्धा उत्पादकों के लिए सदैव ही लाभदायक नहीं होती। इससे घातक स्पर्द्धा, अति-उत्पादन और गिरती हुई कीमतों का जन्म होता है। इनके निवारण के लिए उत्पादक आपस में मिल जाते हैं। इस संयोजन का जिसके कई रूप हो सकते हैं उद्देश्य उत्पादकों के हितों की रक्षा करना है। यह युक्तीकरण की उन योजनाओं का एक भाग है जिनका उत्पादक अपने हित के लिए प्रयोग करते हैं। ये संयोजन विविध प्रकार के हो सकते हैं। इनका सर्वश्रेष्ठ वर्गीकरण ब्रिटिश उद्योग पर बैलफोर समिति की रिपोर्ट में मिलता है। निम्नलिखित परिभाषाएँ उक्त रिपोर्ट से ली गई हैं। इस रिपोर्ट में विभिन्न प्रकार के संयोजनों का उनकी गहनता और विस्तार के अनुसार वर्गीकरण किया गया है। जो शिथिल और ढीले-ढाले हैं उनको पहले और अधिक सुसम्बद्ध संयोजनों को बाद में लिया गया है।

(१) **भद्रजनीय सहमति** (Gentlemen's Agreement)—प्रतिस्पर्द्धी उत्पादकों या व्यापारियों में विक्रय कीमतों अथवा विक्रय क्षेत्रों के बारे में एक अनिश्चित वचन रहता है। इस प्रकार के संयोजन बहुत शिथिल और अधिकतर अस्थायी होते हैं। इसलिए इनका निर्माण और संचालन सरल होता है। रोटीवाले, नाई और दूध वाले जैसे स्थानीय व्यापारी ऐसे संयोजन प्रायः बना लेते हैं। उद्योग में भी इनका प्रयोग हुआ है। भारतीय जूट और सीमेन्ट उद्योगों के आरम्भ के समझौते इसी प्रकार के थे। ऐसे समझौते की सफलता उत्पादकों के पारस्परिक हित पर निर्भर रहती है जो अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखते हुए भी घातक स्पर्द्धा से बचना चाहते हैं। इन समझौतों के अनुसार कोई भी उत्पादक अपने माल की कीमतों को दूसरे उत्पादकों के माल की कीमतों से कम नहीं करता क्योंकि ऐसा करना किसी के हित में नहीं होता।

(२) **मूल्य-नियमन-सहयोजन**—"इनके अंतर्गत प्रतिस्पर्द्धियों या व्यापारियों में अधिक वैधिक सहमति होती है जो न्यूनतम विक्रय कीमत निर्धारित करने के लिए एक सहयोजन बना लेते हैं।" ऐसे सहयोजनों का उद्देश्य भी सीमित होता है और उत्पादकों को पूर्ण स्वतंत्रता देते हुए वे उत्पादकों की दूसरों से अपनी कीमत कम कर देने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए केवल कीमतों को निर्धारित कर देते हैं।

(३) **उत्पत्ति नियंत्रण-सहयोजन**—इस प्रकार के सहयोजन का सादा रूप यह है—प्रतिस्पर्द्धी उत्पादकों का सहयोजन जो यह प्रबन्ध करे कि मन्दी के समय में प्रत्येक फर्म में यंत्रादि का केवल कुछ भाग ही कार्यशील हो जिससे उत्पादन का नियंत्रण हो सके और कीमतें बढ़ाई जा सकें। इस प्रकार के अन्य सहयोजनों में प्रत्येक उत्पादक की उत्पत्ति निर्धारित की जा सकती

हैं और उनसे यह आशा की जाती है (चाहे आदेश भंगपर जुर्माना करने की प्रथा हो या नहीं) कि वे उससे अधिक उत्पादन नहीं करेंगे। भारतीय जूट मिल एसोसियेशन बहुत समय से इस प्रकार का एक सहयोजन चला रहा है। प्रायः सहमति द्वारा प्रत्येक सदस्य मिल में यंत्रादि का एक भाग बन्द रक्खा गया है जिससे उत्पादन माँग से अधिक न बढ़ पाये। इस प्रकार की सहमति या समझौता किसी ऐसे उद्योग के लिए बहुत ही उपयोगी होता है जिसकी उत्पादन शक्ति आवश्यकता से अधिक हो और जो इसी कारण विपन्न हो। यदि इस प्रकार का समझौता न हो तो यह सम्भावना रहती है कि उत्पादन मांग से अधिक बढ़ जायगा और इस प्रकार कीमतें कम हो जायेंगी। संगठन के इस रूप की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि अ-सदस्य या नई फर्में उसे विच्छिन्न न करें। भारतीय जूट मिल उद्योग में इस प्रकार का संगठन संतोषजनक रूप से काम न कर सका क्योंकि अ-सदस्यों ने नियमों का पालन नहीं किया और अपनी उत्पादन शक्ति को बढ़ाते गए। परिणाम यह हुआ कि जिन फर्मों ने नियमों का पालन किया उन्हें अपने बाजारों से हाथ धोना पड़ा।

(४) **संचयी सहयोजन**--एक साधारण प्रकार का संचय सहयोजन वह है जिसमें प्रत्येक सदस्य एक संचय-निधि में उत्पत्ति की प्रति इकाई पर समान निश्चित द्रव्य जमा करता है। इस संचय-निधि को, एक सुरक्षित कोष बना लेने के बाद, समय-समय पर अंशदाताओं में बराबर-बराबर बाँट दिया जाता है। जहाँ इस प्रकार के संगठन को अधिक विस्तृत रूप दिया जाता है वहाँ प्रत्येक उत्पादन को सहयोजन सदस्यों की कुल उत्पत्ति का एक निश्चित अंश उत्पादन के लिए दिया जाता है जो गत वर्षों के अनुभव के आधार पर निर्धारित किया जाता है। यदि कोई उत्पादक निर्धारित अंश से अधिक उत्पादन करता है तो उसे संचय-निधि में इस आधिक्य के अनुपात में एक पूर्व-निश्चित आधार पर द्रव्य की मात्रा देनी पड़ती है। यदि कोई उत्पादक अपने प्रतिशत से कम उत्पादन करता है तो संचय निधि में से उसे इस कमी के अनुपात में द्रव्य की एक मात्रा मिलती है। इसे भी एक स्वीकृति आधार पर निर्धारित किया जाता है (यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि यह आधार वही हो)। कभी-कभी संचयकर्त्ता-सहयोजन कीमतें भी निर्धारित करते हैं। भारतवर्ष में इस प्रकार के कुछ सहयोजन बने हैं; सर्वश्रेष्ठ उदाहरण भारतीय जूट मिल एसोसियेसन द्वारा चलाए गए "औद्योगिक संचय" का है। यह सहयोजन १ जुलाई १९४४ और ३१ मार्च १८४६ के बीच काम करता रहा। इसके कारण यह सम्भव हो सका कि युद्धकाल की वैत्तिक कठिनाइयों का भार सब मिलें यथासम्भव समान रूप से वहन कर सकें। यदि यह सहयोजन न बनता तो कुछ मिलों को तो काफी लाभ होता लेकिन औरों का सत्यानाश हो जाता।

(५) **मूल्य-सन्घ** (Cartel)—इस प्रकार के संगठन को जर्मनी के कई उद्योगों ने अपनाया था। इसका सार यह है—प्रतिस्पर्द्धी उत्पादकगण एक निश्चित समय के लिए केवल अपने ही माल की बिक्री के वास्ते एक संयुक्त विक्रय एजेन्सी बनाने का समझौता कर लेते हैं और प्रत्येक उत्पादक के लिए यह निर्धारित किया जाता है कि कुल उत्पत्ति में उसका कितना भाग होगा। जो उत्पादक अपने निर्धारित भाग से अधिक उत्पादन करता है उसे जुर्माना देना पड़ता है और जो निर्धारित अंश से कम उत्पादन करते हैं उन्हें हर्जाना दिया जाता है। विक्रय एजेंसी या सिंडीकेट एक कम्पनी के रूप में रजिस्टर्ड होती है जिसमें सहयोगी उत्पादक हो

हिस्सेदार हो सकते हैं। उनकी उत्पत्ति के अनुपात में उन्हें वोट देने का अधिकार मिलता है। सदस्यगण एक ऐसी आधार-मूल्य निर्धारित कर लेते हैं जिस पर उत्पादन की लागत मिल जाय और सिंडीकेट को अपना माल उससे कुछ अधिक कीमत पर बेचते हैं। फिर सिंडीकेट अपना क्रय-मूल्य तथा बाजार के विभिन्न भागों की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपना माल यथासम्भव अधिकतम दाम पर बेचता है। १९१४-१८ के युद्ध से पहले कुछ जर्मन-मूल्य-संघ निर्यात वाणिज्य को वैयक्तिक सहायता देते थे, विशेषतः मन्दी में। भारत में इस प्रकार का कोई शुद्ध मूल्य-संघ नहीं है किन्तु समय-समय पर कई सहयोजनों ने यह काम किये हैं। इस प्रकार के संगठन का सबसे बड़ा फायदा यह है कि वह न तो 'भद्रजनीय समझौते' की भाँति शिथिल होता है, और न 'विलयन' की भाँति गूढ़ ही; अतएव विशेष परिस्थितियों में सर्वोपयोगी सिद्ध होता है।

(६) **ट्रस्ट**—इस प्रकार का संगठन किसी समय अमरीका में बहुत प्रचलित था। न्यायालयों द्वारा अवैध घोषित किये जाने पर उसका अन्त हो गया। इसका निर्माण इस प्रकार हुआ था—कई प्रतिस्पर्द्धी कम्पनियों ने समझौता करके यह निश्चय किया कि अपनी समस्त राशि को, बदले में अपनी सम्पत्तियों के मूल्य की सूचक ट्रस्ट प्रमाणपत्र लेकर, ट्रस्टियों की एक समिति को सौंप दिया जाय जिससे ट्रस्टीगण समस्त व्यवसाय पर पूर्ण नियंत्रण कर सकें। सैद्धांतिक रूप से यह एक स्थायी संगठन है। भारत में इस प्रकार का कोई संगठन नहीं है। इसे अमरीका के कुछ वैधानिक प्रतिबंधों से बचने के लिये काम में लाया जाता था। भारत में इसकी आवश्यकता नहीं पड़ी है।

(७) **धारक कम्पनियाँ** (Holding Companies)—एकता स्थापित करने का एक अन्य तरीका यह है कि किसी समुदाय की प्रत्येक कम्पनी अपने सब या अधिकांश हिस्से एक अन्य कम्पनी को बेच दे (जो इसी उद्देश्य के लिए स्थापित की जाय या पहले ही से हो) और कम्पनियों के उस पूरे समुदाय के हित में प्रत्येक कम्पनी के हिस्सेदारों को बदले में धारक कम्पनी के हिस्से मिलें।

(८) **सन्घात या विलयन** (Consolidation or Merger)—इनका अर्थ है दो या अधिक व्यवसायों का एक उद्यम के रूप में संघात या विलयन होना। इस योजना के अंतर्गत आने वाले व्यवसाय की पृथक सत्ता बिलकुल समाप्त हो जाती है। अपने इस पूर्ण रूप में इस प्रकार के संगठन के कई ऐसे फायदे हैं जो अन्य प्रकार के संगठनों में नहीं पाए जाते। एकीकृत फर्मों के दृष्टिकोण से इसका यही एक दोष है कि उनकी पृथक सत्ता समाप्त हो जाती है। किन्तु जो संयोजन बनता है वह बड़ी सुविधा से अनावश्यक यंत्रादि को बंद, और कुशल फर्मों के यंत्रादि का विस्तार कर सकता है। इसके कारण लगभग सदैव ही उत्पादन की क्षमता में वृद्धि होती है। [illegible]हरण हैं। १९३६ में दस कम्पनियों के विलयन ने 'एसोसिएटेड सीमेंट कम्पनी आफ इन्डिया' बनाई गई थी। ईस्ट इन्डिया रेलवे योजना के अंतर्गत अवध-रुहेलखंड रेलवे का समावेश कर लिया गया। १९४० में पंजाब नेशनल बैंक में भगवानदास बैंक का समावेश हो गया। प्रत्येक क्षेत्र में इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं।

शीर्ष तथा अनुभूमिक संयोजन (Vertical and Horizontal Combinations)—इन सब संयोजनों को मोटे रूप से दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—शीर्ष

और अनुभूमिक। शीर्ष संयोजन वे होते हैं जिनमें एक ही जाति की विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उत्पादक आपस में संयोजित होते हैं। यदि कच्चे लोहे, कोयले, इस्पात और इंजिनियरी सम्बन्धी वस्तुओं के उत्पादक आपस में संयोजित हो जायँ तो यह एक शीर्ष संयोजन होगा। इसी प्रकार यह भी हो सकता है कि चीनी के कारखानों का एक ओर तो गन्ने के उत्पादन पर नियंत्रण हो तथा दूसरी ओर मिठाई बनाने के उद्योग पर। भारतवर्ष में प्रबन्धकारिणी एजेन्सी प्रथा के कारण शीर्ष संयोजन बनाना अनावश्यक हो गया है क्योंकि प्रबन्धकर्ता एजेंट कभी-कभी वही कार्य करते हैं जो एक शीर्ष संयोजन करता है। वैसे प्रबन्धकारिणी एजेंसी को शीर्ष संयोजन नहीं कहा जा सकता किन्तु कभी दोनों के काम एकसे ही होते हैं। अनुभूमिक संयोजन वे होते हैं जिनमें किसी एक ही वस्तु के विभिन्न उत्पादक आपस में संयोजित होते हैं। यदि चीनी के उत्पादक संयोजित हों या फौलाद के उत्पादक हों तो वह एक अनुभूमिक संयोजन कहलाएगा। भद्रजनीय समझौते, संचयी सहयोजन, मूल्य-संघ और ट्रस्ट आदि अधिकतर समान क्रय वस्तु के उत्पादकों द्वारा बनाए जाते हैं। अतः उनका स्वरूप अनुभूमिक होता है।

शीर्ष सन्योजन बनाने का **प्रलोभन** निम्नलिखित बातों से आ सकता है:—

(अ) अनिश्चितता—कोयले की पूर्ति नितांत आवश्यक है किन्तु यदि उसका मिलना अनिश्चित हो तो लोहे और इस्पात के उत्पादकों के लिए कोयले के उत्पादन पर नियंत्रण रखना ही उचित होगा। चीनी के कारखाने अपना गन्ना स्वयं उगाते हैं जिससे उन्हें गन्ने की पर्याप्त मात्रा नियमित रूप से मिलती रहे। (ब) **ताजगी और गुण** का विचार घी के उत्पादक दूध खरीदने के स्थान पर अपनी ही डेयरी रखते हैं। ताजे फलों का व्यापार करने वाले बहुधा अपना निजी बाग रखते हैं। (स) तांत्रिक कारण—इंजीनियरी उद्योग में यदि गर्म लोहे को ढालने के लिए सीधा भेज दिया जाय और इस प्रकार उत्पादन प्रक्रिया लगातार जारी रखी जाय तो इससे उत्पादन की लागत कम हो जायगी। इसी प्रकार कच्चा लोहा जब गर्म होता है तभी उससे इस्पात बनता है। ये सब तांत्रिक कारण हैं जिनसे शीर्ष संयोजनों के बनने से बहुत मितव्ययता होती है।

अनुभूमिक सयोजनों के निम्न कारण होते हैं—(अ) प्रतिस्पर्द्धी उत्पादकों में घातक प्रतियोगिता का होना। (ब) अति-उत्पादन शक्ति का होना और इसके परिणाम स्वरूप अतिउत्पादन और गिरते हुए मूल्य (भारत के जूट और चीनी उद्योगों में यही स्थिति थी)। (स) तांत्रिक कारण। इम्पीरियल केमिकल इन्डस्ट्रीज लिमिटेड में अनुभूमिक संयोजन के कारण केन्द्रीकृत क्रय और विक्रय द्वारा उत्पादन की लागतों को कम करना सम्भव हो गया। 'संयोजन' अनुसंधान कार्य पर काफी खर्च कर सकता है; अलग अलग कम्पनियाँ ऐसा नहीं कर सकतीं। इसीलिए एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनी आफ इन्डिया अनुसंधान कार्य पर काफी खर्च कर सकी थी।

प्रबन्धकारिणी एजेन्सी प्रणाली (Managing Agency System)—यह प्रणाली भारतीय उद्योग की अपनी विशेषता है। इसका आरम्भ उन विशेष समस्याओं के कारण हुआ जो ईस्ट इन्डिया कम्पनी के समय में तब उत्पन्न होती थी जब भारत में किसी विदेशी फर्म का कोई एक प्रबन्धक साझीदार मर जाता था या किसी कारणवश अपने देश को लौट जाना चाहता था। ये विदेशी प्रायः अपना काम 'एजेन्टों' को सौंप जाते थे; ये एजेन्ट कुछ

समय बाद अपने कार्य क्षेत्र को विस्तृत कर लेते थे। इस प्रकार प्रबन्धकारिणी एजेन्सी प्रणाली का जन्म हुआ। इधर कुछ वर्षों से प्रबन्धकारिणी एजेन्सियों का उदय केवल प्रबन्धकार्य से अवकाश लेने वाले प्रबन्धकों का काम संभालने के लिए ही नहीं हुआ है वरन् नए उद्योगों को आरम्भ और स्थापित करने के लिए भी। प्रबन्धकर्ता एजेंटों की फर्में एक प्रतिफल लेकर किसी फर्म का प्रबन्ध करने के लिए प्रस्तुत हो जाती हैं। आरम्भ में ये फर्में विदेशी थीं किन्तु अब बहुत सी भारतीय फर्में भी हैं—जैसे बिड़ला ब्रदर्स लिमिटेड और टाटा सन्स लिमिटेड। इन फर्मों के अनुभव से देश के औद्योगीकरण में बहुत सहायता मिली है। प्रबन्धकारिणी एजेन्सियाँ बहुधा साझेदारी या वैयक्तिक लिमिटेड कम्पनी के रूप में होती हैं।

कार्य—'मोटे तौर पर भारत में प्रबन्धकर्त्ता ऐजेन्ट तीन प्रमख कार्य करते हैं पहला यह कि वे नए उद्योगों का आरम्भ करते हैं और प्रवर्तकों के रूप में कार्य करते हैं। वे कोई औद्योगिक सम्भावना खोज निकालते हैं, व्यवसाय की शक्तियों को एकत्रित करते हैं और फिर इन शक्तियों को कार्यान्वित करने के लिए द्रव्य निधि का प्रबन्ध करते हैं। दूसरा कार्य यह है कि वे उद्योगों के लिए अपरिवर्ती और चालू दोनों प्रकार की पूंजी का प्रबन्ध करते हैं। अंतिम कार्य यह है कि वे उद्योगों का दैनिक प्रबन्ध भी करते हैं—अन्य देशों में यह काम एक प्रबन्धक या प्रबन्ध संचालक द्वारा किया जाता है।''— (एन० दास)

उद्योग के आरम्भ करने वाले कम्पनियों के प्रवर्तक, हिस्सों के अंतर्लेखक (underwriter) और प्रबन्धक होने के अतिरिक्त प्रबन्धकर्त्ता एजेंटों का प्रमुख महत्व इसमें है कि वे उद्योग के लिए वित्त देते हैं। ''प्रबन्धक एजेन्टों की वह विशेषता जिसने जनता का ध्यान सबसे अधिक आकर्षित किया है यह है कि वह पूंजीपति का कार्य भी करता है, अर्थात् औद्योगिक वित्त देता है। सर विलियम सैसून के अनुसार प्रबन्धकर्ता एजेन्ट का सबसे मूल्यवान कार्य यह है कि वह उन कम्पनियों के लिए, जो उसके नियंत्रण में होती हैं, वित्त का प्रबन्ध करता है। प्रबन्धकर्ता एजेंट को वित्त का प्रबन्ध केवल आरम्भिक अपरिवर्ती पूंजी व्यय के लिए ही नहीं वरन् बाद के पुनर्संठन विस्तार और आधुनिककरण के लिए और चालू पूंजी की आवश्यकता को पूरा करने के लिए भी करना पड़ता है। इस वित्त को वे विविध तरीकों से उपलब्ध करते हैं—संयुक्त-पूंजी कम्पनियों के हिस्से और डिबेन्चर स्वयं लेकर या उन्हें अपने मित्रों और सम्बन्धियों द्वारा खरीदवाकर, बैंकों से उधार का प्रबन्ध करके और उसके लिए अपनी गारन्टी देकर व्यवसाय के संसार में अपनी प्रतिष्ठा और स्थिति के बल पर जनता से जमा आकर्षित करके। अंतिम तरीका, जो किसी प्रकार भी कम महत्व पूर्ण नहीं है, यह है कि वे अपनी कम्पनियों को स्वयं किसी स्वीकृत ब्याज दर पर स्वयं ऋण दें।—(एस० के० वसु)

प्रबन्धकर्ता ऐजेंट अपने कार्यों के लिए कुछ कमीशन लेते हैं। १९३६ से पहले वे या तो (१) लाभ के आधार पर या (२) वास्तविक बिक्री (net sale) के आधार पर या (३) उत्पत्ति के परिमाण के आधार पर कमीशन ले सकते थे। वास्तविक बिक्री या उत्पत्ति के आधार पर कमीशन लेना वांछनीय नहीं है क्योंकि तब तो यह यदि उद्योग को हानि हो रही हो तो भी बिक्री या उत्पत्ति के आधार पर कमीशन लिया ही जायगा। इस कारण ऐजेंटों को सदैव अति-उत्पादन करने का लालच रहेगा। इसलिए १९३६ का 'कम्पनी ऐक्ट' केवल लाभ के आधार पर ही कमीशन लेने की अनुमति देता है। कमीशन के अतिरिक्त प्रबन्धकर्त्ता ऐजेंटों को अपने साधारण और विशेष अधिकारों के बल पर और भी बहुत सी आय होती है।

प्रबन्धकारिणी एजेन्सी के रूप—प्रबन्धकारिणी एजेंसी प्रणाली भारत के सब व्यवसायिक केन्द्रों में प्रचलित है, किन्तु फिर भी उसके दो रूपों में भेद किया जा सकता है और यह भेद करना आवश्यक भी है। बम्बई में प्रचलित प्रणाली और कलकत्ता में प्रचलित प्रबन्धकारिणी एजेंसी प्रणाली के दो भिन्न रूप हैं। कुछ शहरों में तो केवल एक प्रकार के प्रबन्धकर्ता एजेंट होते हैं और कुछ में दोनों प्रकार के। दोनों रूपों में कोई निश्चित और स्पष्ट अन्तर नहीं है किन्तु मोटे तौर पर उनमें ये अन्तर हैं—(क) बम्बई में प्रबन्धकारिणी ऐजेंसी फर्में अधिकतर भारतीय हैं, कलकत्ते में वे अधिकतर योरोपीय हैं। (ख) बम्बई में उनका रुझान केवल एक ही उद्योग की ओर है, और वह है सूती वस्त्र उद्योग, यद्यपि 'टाटा' जैसी फर्में भी हैं जिनका कई उद्योगों—रासायनिक सामग्री, तेल, सूती वस्त्र, जल विद्युत, लोहा और इस्पात आदि पर नियंत्रण है। कलकत्ते में प्रबन्धकर्त्ता एजेंट अपने को केवल किसी एक उद्योग तक ही सीमित नहीं रखते। प्रायः जूट, विद्युत, सीमेंट और कागज़ आदि उद्योगों के बहुत कारखाने एक ही एजेंट फर्म के नियंत्रण में पाए जाते हैं। (ग) बम्बई में फर्में अधिकतर पैतृक हैं पिता की मृत्यु के बाद पुत्र केवल परिवार का ही अध्यक्ष नहीं होता वरन् एजेंसी का भी अध्यक्ष होता है। इस उत्तराधिकार की प्रथा के कारण बहुत सी फर्में अकुशल हो जाती हैं। क्योंकि यह जरूरी नहीं है कि किसी कार्य कुशल व्यक्ति का पुत्र भी कार्य कुशल हो। कलकत्ते से यह प्रथा पैतृक नहीं है। प्रत्येक फर्म में कई साझेदार होते हैं और प्रायः कुशल कार्यकर्ताओं को साझेदार बना लिया जाता है। इस प्रकार संगठन में नए रक्त का प्रवेश सम्भव होता है जो उसे स्वस्थ बनाए रखता है। (घ) बम्बई में एजेंट नियंत्रित कम्पनियों के हिस्सों को अपने पास ही रखते हैं। परिणाम यह होता है कि वे अपने नियंत्रण की कम्पनियों में काफी विनियोग करते हैं। कलकत्ते में, कुछ इस कारण कि वे साथ साथ कई कम्पनियों पर नियंत्रण रखते हैं और कुछ अपनी परम्परा के कारण, प्रबन्धक ऐजेंट हिस्सों को अपने ही अधिकार में नहीं रखते। प्रायः वे व्यवसाय के पुराने क्षेत्रों को छोड़ कर नए साहसोद्यमों की ओर भी प्रवृत्त होते हैं। (ङ) बम्बई में एजेंट बहुधा अपने लाभ को उपभोग में खर्च कर देते हैं जब कि कलकत्ता में वे उसे पुनः व्यवसाय में लगा देते हैं और इस प्रकार व्यवसाय को और भी सुदृढ़ करते हैं। दोनों प्रकार की फर्मों के ये कुछ प्रमुख अन्तर हैं। वास्तव में ये अन्तर इतने स्पष्ट नहीं हैं जितने ऊपर के वर्णन से प्रतीत होते हैं। इधर ऊपर दी गई कई बातों में कुछ परिवर्तन भी हुआ है। किन्तु फिर भी साधारण रूप से इन अन्तरों के आधार पर इन दो रूपों में भेद करना सम्भव है।

प्रबन्धकारिणी ऐजेन्सी का महत्व

इस प्रणाली के बहुत से फ़ायदे हैं। प्रबन्ध एजेन्टों को बहुत अनुभव होता है और वे किसी उद्योग की अर्जन-क्षमता और उसकी सफलता या असफलता की सम्भावनाओं को ठीक तरह आँक सकते हैं। यदि एक कुशल प्रबन्धकारिणी एजेंसी फर्म किसी उद्योग का प्रबन्ध करती हो तो उस उद्योग की सफलता की अच्छी खासी सम्भावना रहती है। दूसरे, एजेंट अपनी नियंत्रण की फर्मों के लिए सब प्रकार का वित्त इकट्ठा करने में बहुत सहायता करते हैं। इससे इन उद्योगों को सुदृढ़ता मिलती है जो बहुत आवश्यक है। फिर वे अपने नियंत्रण की कम्पनियों के लिए कच्चा माल, रसायनिक सामग्री इत्यादि खरीदते हैं और इस प्रकार इन कम्पनियों को यह माल सस्ते दामों पर मिल जाता है क्योंकि क्रय-विक्रय बड़े पैमाने पर होता है। अंत में, यद्यपि प्रबंध-कारिणी एजेंसियाँ विलयन या एकीकरण के रूप में नहीं होतीं फिर भी वे अपनी नियंत्रण की

फर्मों को वे सब फायदे देती हैं जो सुसम्बद्ध संगठन से मिलते हैं। यदि एक ही एजेन्सी का जहाज-रानी कोयला तथा तैयार माल बनाने वाली कम्पनियों पर नियंत्रण हो तो जो फायदा किसी एक को मिलता है वह अन्य सबको भी मिल जाता है। साथ ही उनकी जोखिम भी कम हो जाती है और आवश्यक सामान का मिलना भी निश्चित हो जाता है।

आलोचना—इस प्रणाली के कुछ दोष भी हैं। विवेकशून्य व्यक्तियों ने इसका दुरुपयोग किया है यद्यपि कम्पनी विधान के हाल ही में किए गए परिवर्तन की ऐसे दुरुपयोग से जनता की रक्षा करते हैं।

(क) क्योंकि प्रबन्धकारिणी एजेंसी फर्मों का कमीशन निश्चित रहता है और उनकी स्थिति भी सुरक्षित होती है इसलिए उनमें अकुशल हो जाने तथा अपने नियंत्रण की कम्पनियों का उचित निरीक्षण न करने की प्रवृत्ति होती है। किन्तु यह प्रवृत्ति इस आशंका से बहुत कुछ कम हो जाती है, कि असफलता होने पर प्रतिष्ठा को धक्का लगता है। प्रबन्धकर्ता एजेंटों की पुरानी और सुस्थापित फर्में अपनी प्रतिष्ठा के विषय में काफी सतर्क रहती हैं। इसके अतिरिक्त १९३६ के नए कम्पनी विधान के अन्तर्गत कम्पनियों और उनके सहायक उद्योगों के प्रबन्धर्ता एक बार में २० वर्ष से अधिक के लिए नियुक्त नहीं किए जा सकते; केवल हिस्से-दारों की साधारण सभा ही अनुबन्ध को नया कर सकती है। यह हम पहले कह आए हैं कि कमीशन उत्पत्ति या बिक्री के आधार पर नहीं वरन् वास्तविक लाभ के आधार पर अनुगणित होता है। इस प्रकार यह प्रबन्धकर्ता एजेंट के हित में भी है कि कम्पनी को खूब लाभ हो।

(ख) एजेंट एक कम्पनी की द्रव्यनिधि का अपने नियंत्रण की दूसरी कम्पनी में विनियोग कर देते हैं। कम्पनियों की पूँजी का यह अन्तर्विनियोग बड़ा अनिष्टकारी हो सकता है। अन्तर्विनि-योग के कई रूप होते हैं। किसी एक कम्पनी की अतिरिक्त द्रव्यनिधि को अपने नियंत्रण की किसी दूसरी कम्पनी को उधार दिया जा सकता है। एक कम्पनी के सुरक्षित कोष का उपयोग अन्य नई मिलों के हिस्से और डिबेन्चर खरीदने में किया जा सकता है और इस प्रकार उस कम्पनी के लिए जोखिम की आशंका बढ़ जाती है। फिर बैंकों आदि से किसी एक फर्म की साख पर उधार लिए गए द्रव्य का किसी अन्य फर्म के लिए उपयोग किया जा सकता है।

ऐसा करना बहुत अनिष्टकारी होता है। १९३६ के कम्पनी विधान के अन्तर्गत कम्पनियों की पूंजी का अन्तर्विनियोग रोकने के लिए कुछ प्रयत्न किए गए हैं। इसके अनुसार कोई कम्पनी किसी प्रबन्धकर्ता एजेंट को या किसी साझेदार को कम्पनी के द्रव्य में से कुछ उधार नहीं दे सकती। कुछ दशाओं में ही किसी एक कम्पनी के हिस्से उसी प्रबन्धकर्ता एजेंट के नियंत्रण की किसी दूसरी कम्पनी द्वारा खरीदे जा सकते हैं।

(ग) यदि प्रबन्धकर्ता ऐजेन्ट के नियंत्रण में आने वाली कम्पनियों का बाहुल्य हो जाए तो नियंत्रण में शिथिलता और अक्षमता आ जाती है।

भाग—४

ग्राम-और नगर-समस्यायें

अध्याय २३

कृषि की समस्यायें

सामान्य रूप से अर्थशास्त्र के नियम और सिद्धान्त कृषि-क्रिया पर उतने ही लागू होते हैं जितने किसी अन्य प्रकार की क्रिया पर। फिर भी कृषि और उद्योग में स्पष्ट अन्तर है। उद्योग की व्याख्या में हम जिन बातों को मान लेते हैं उनके आधार पर हम कृषि के आर्थिक स्वरूप की व्याख्या नहीं कर सकते और न उनके आधार पर हम कृषि की समुन्नति के लिए सुझाव ही दे सकते हैं।

कृषि और उद्योग

यदि उत्पादन पक्ष पर विचार करें तो हम पाते हैं कि उद्योग की अपेक्षा कृषि में प्रकृति का अधिक हाथ रहता है। कृषि में उत्पादन प्रकृति पर अधिक निर्भर रहता है। मौसम, जलवायु, ऋतुएँ, विनाशकारी कीड़े, पौधों और पशुओं के रोग तथा अन्य प्राणि-शास्त्रीय शक्तियाँ खेत की वास्तविक उपज को और भी अनिश्चित बना देते हैं। औद्योगिक प्रक्रियाओं की तुलना में कृषि की प्रक्रियाएँ छोटे पैमाने पर होती हैं। भारत में ज्यादातर पारिवारिक और निर्वाह खेती ही पाई जाती है। जब कीमतें उत्पादन की लागत भर ही नहीं होतीं, तब भी बहुत से उप-सीमान्त उत्पादक खेती करते रहते हैं। यदि कोई ऐसा उत्पादक अपने खेत को छोड़ दे तो वह खेत खाली नहीं रहेगा। यदि उस खेत में पहले की उत्पादन-अकुशलता खेत के दोष के कारण न होकर खेतिहर के कारण हो तो उस खेत को कोई और उत्पादक ले लेगा। जिस देश में रहन सहन का स्तर बहुत नीचा हो और पोषण अपर्याप्त हो तो उसमें अधिक ज़रूरतमंद व्यक्ति खेती के लिए बुरे खेतों को भी लेने के लिए तैयार रहते हैं।

इसके अतिरिक्त कृषक कृषि को एक जीवन-निर्वाह के रूप में लेता है, व्यापार के रूप में नहीं। इसलिए अधिकतर यह पाया जाता है कि स्वयं श्रमिक तथा उसके परिवार के अन्य सदस्य ही खेतों पर काम करते हैं। एक औसत किसान मजदूरी पर मुश्किल से एक या दो आदमियों को ही लगाता है। इसलिए जब कीमतें गिरती हैं तब उसके श्रम पर होने वाले व्यय में बहुत कम परिवर्तन होता है। यदि उसका एक रहन सहन का स्तर मान लें तो रहन सहन का खर्च —और इसलिए श्रम सम्बन्धी खर्च—लगभग उतने ही रहते हैं। फिर भी अधिक मज़-दूरियाँ देने से होने वाली मितव्ययता कृषि में भी होती है। जहाँ खेती मजदूरी पर नियुक्त श्रम द्वारा की जाती है वहाँ तो यह और भी स्पष्ट है। मजदूरियाँ अधिक होंगी तो सम्भवतः श्रम की कुशलता भी अधिक होगी और वास्तविक लागतें कम होंगी।

उद्योग की भाँति कृषि में भी यह होता है कि श्रम की कमी हो जाने पर यंत्रों का उपयोग बढ़ जाता है। निस्संदेह कृषक रूढ़िवादी होता है। फिर भी यदि श्रम की लगातार कमी रहे तो इसके कारण वह श्रम की बचत करने वाली युक्तियों को अपनाने के विषय में अधिक समझदारी से विचार करने लगता है। यदि श्रम की कमी न हो तो भी यदि कृषकों को एक बार किसी यंत्र की उपयोगिता और व्यवहारिकता का विश्वास हो जाय तो वे बिना हिचकिचाहट उसे तुरन्त अपना लेते हैं। कृषक की विनियोग की क्षमता और इस विनियोग से

मिलने वाले लाभ ये दोनों कृषि के क्षेत्र में शारीरिक श्रम के लिए यंत्रों के प्रतिस्थापन की सीमाएँ हैं। फिर यद्यपि संसार में बहुत प्रगति हो चुकी है तो भी कृषि में अबाध यंत्रीकरण की बहुत कम गुंजायश है। अधिक यंत्रीकरण करने तथा पूंजी लगाने पर एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब इससे होने वाले फायदे, उर्वरता को बनाये रखने की लागत के कारण, निरर्थक हो जाते हैं।

कृषि में पूंजी सरलता से हस्तांतरित नहीं होती। अवश्य ही कृषक हल न चलाने या केवल आधे खेत ही में हल चलाने का निश्चय कर सकता है। किन्तु इससे उसकी अनुपूरक लागत कम नहीं होगी। कृषक के लिए उसकी अनुपूरक लागत के अंतर्गत ये भी आ जाते हैं–उसके परिवार और पशुओं के निर्वाह का खर्च तथा लगान और वे विशेष कर जो उसे देने पड़ते हैं। उद्योगपति तो साधारणतया अपने कारखाने को अंशतः या पूर्णतः बंद करके श्रम और कच्चे पदार्थों पर अपने खर्च को कम कर सकता है, किन्तु कृषक ऐसा नहीं कर सकता। कृषि में पूंजी के अपेक्षाकृत कम हस्तांतरित होने का कारण यह भी है कि कृषक कृषि को एक जीवन निर्वाह के रूप में लेता है। फिर कृषक एक फसल छोड़कर दूसरी को उगाने में बहुत रूढ़िवादी होता है। फिर ऐसा करने में कुछ कठिनाइयाँ भी होती हैं। हो सकता है कि नई फसल के लिए भिन्न यांत्रिक प्रक्रियाओं, उनके समय-निर्धारण, फसलों के हेर फेर तथा धरती की भिन्न उर्वरता तक की आवश्यकता हो। इसका अभी हाल ही का एक उदाहरण दिया जा सकता है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में कुछ कृषकों ने गन्ने के उत्पादन को छोड़कर गेहूँ का उत्पादन आरम्भ कर दिया था। अब यह कठिन है कि वे फिर गन्ने का उत्पादन करने लगें। यदि ऐसा करने की कोशिश भी की जाय तो भी इसके पहले कि फिर से गन्ने की औसत फसल होने लगे, सन्धि-काल में लगभग दो तीन वर्ष लगेंगे। फिर कृषि में पूंजी की पूर्ति उतनी नमनशील नहीं होती जितनी उद्योग में होती है। एक कृषक को जो विस्तीर्ण या गहन खेती द्वारा अपने व्यवसाय का विस्तार करना चाहता है, आवश्यक पूंजी सदैव सरलता से नहीं मिल पाती। जब मिल भी जाती है तब वह यह निश्चय नहीं कर पाता कि उसे विस्तीर्ण खेती करनी चाहिये या नहीं। वह यह निश्चय करने में हिचकिचाता है कि उत्पादन के विभिन्न साधनों के अनुपात को किस प्रकार बदला जाय। उत्पादन के साधनों के उचित संयोजन की महत्व-पूर्ण समस्या पर श्रमिक विचार करता ही रह जाता है।

कृषक के लिए खेत ही उसका घर है और घर ही खेत। इस कारण भी साहसोद्यम की परावर्तनीयता कम हो जाती है। साधारणतया उद्योगपति की अपेक्षा कृषक इस बात की बहुत अधिक उपेक्षा करता है कि उसकी उपज का कीमतों पर क्या प्रभाव पड़ता है? कृषक के लिए यह अधिक लाभदायक होता है कि वह अपने साधनों को खाली रखने और उन्नततर कीमतों पर बेचने के लिए कम उपज करने के बजाय यथासम्भव अधिक उत्पादन करे—चाहे ऐसा करने से उसकी उपज की कीमतों के कम हो जाने का डर ही क्यों न हो?

इसके अतिरिक्त कृषि में योग्य व्यक्तियों के लिए उतने अवसर नहीं होते जितने अन्य व्यवसायों में होते हैं। योजना की समस्या के विद्यार्थी साधारणतया पारिवारिक खेती की बात करते हैं जिससे पूरे परिवार को उत्पादक रोजगार मिल सके और उसका रहन सहन का स्तर ऊँचा हो जाय। किन्तु इस प्रकार की खेती से कृषक को बहुत लाभ नहीं हो सकते। उद्योग में साहसोद्यमी के लिए यह बाधा नहीं होती। कृषि में अपेक्षाकृत सुरक्षा की भावना, अच्छा

खासा रहन सहन तथा बँधी हुई आय तो मिल सकती है किन्तु ऊँची द्रव्य-आय प्राप्त करने के उतने अवसर नहीं आते जितने उद्योगों में। अतः यदि अधिक द्रव्य-आय प्राप्त करना लक्ष्य हो और बहुतों का यही लक्ष होता जा रहा है, तो इसमें संदेह नहीं कि ऐसे योग्य और समक्ष व्यक्ति कृषि से विमुख होते जाएँगे जिनकी जल-विद्युत-उत्पादन की प्रक्रियाओं को चालित करने के लिए या एक निगम स्थापित करने के लिए या भंडारों की एक श्रृंखला का प्रबन्ध करने के लिए आवश्यकता होगी।

कृषि तथा उद्योग के इन मोटे-मोटे अंतरों को ध्यान में रखते हुए हम तनिक विस्तार से कृषि के आर्थिक पहलू का अध्ययन करने का प्रयत्न करें। यह अध्ययन स्थैतिक या प्रवैगिक दशाओं के आधार पर किया जा सकता है। यह अध्ययन स्वच्छंदता या आयोजना की पृष्ठभूमि पर किया जा सकता है (यह आयोजना चाहे वैयक्तिक साहसोद्यम के रूप में हो अथवा राज्य नियंत्रण के अथवा सहकारिता सिद्धान्त-युक्त या सहकारिता-सिद्धान्त विहीन राज्य प्रबन्ध के रूप में हो)। फिर यह अध्ययन (१) खेती करने वालों, (२) देहातों में रहने वालों (३) देश-वासियों या (४) संसार-वासियों के दृष्टिकोण से किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में कृषि के आर्थिक पहलू पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया जा सकता है। (कृषि-अर्थशास्त्र के अंतर्गत ग्रामीण अर्थशास्त्र की अधिकांश समस्याएँ भी आ जाती हैं।) आगे हमने कुछ मुख्य समस्याओं पर, विशेष रूप से भारतीय दशाओं की पृष्ट भूमि में, विचार किया है।

विपणन (Marketing)

अर्थशास्त्र मूल्यांकन का अध्ययन है। प्रश्न उठता है कि कृषि की उपज के मूल्यों के विषय में क्या होता है? एक हद तक तो कृषि की उपज का स्वयं उत्पादकों की आवश्यकता को तृप्त करने के लिए उपयोग किया जाता है। भारत में तीन चौथाई से अधिक जनसंख्या गांवों में रहती है और दो तिहाई से अधिक क्षेत्रफल का खाद्य-उत्पादन के लिए प्रयोग किया जाता है। यह माना जा सकता है कि आधे से अधिक कृषि की उपज का कृषक ही उपभोग करते हैं और इस प्रकार ज्यादातर व्यवसायिक फसलों तथा कुछ खाद्य उपज का ही विक्रय किया जाता है। उपभोक्ताओं की माँग या बाजार-माँग अधिकांशतः खाद्य की माँग ही नहीं होती है। हो सकता है कि खाद्य की माँग को छोड़कर अन्य प्रकार की उपजों की माँगें साल भर काफी नियमित परिमाण में न हों। अतः माँग सम्भवतः अधिक लचीली होती है, यदि यह (बाजार माँग) अधिकांशतः खाद्य की माँग हो। इसका यह मतलब हुआ कि कृषि की उपज की कीमतों में नीची रहने की प्रवृत्ति होगी और कृषक को विक्रय आय के उतार चढ़ाव और आर्थिक हानि होने की अधिक सम्भावना होगी। यदि अपनी ग़रीबी, ऋणभार, पुराने वादों और करों की की कठोर वसूली के कारण उसे अपनी फसल को कटाई के बाद एकदम बेचना पड़े तब तो ऊँची कीमतों से फायदा उठाने की गुंजाइश और भी कम हो जाती है। ऐसा होने पर उसे और भी कम कीमत मिल पाएगी। यदि कृषक इन असमर्थताओं से मुक्त हो जाय तो वह कम से कम खाद्य पदार्थों की उपज के कुछ प्रतिशत परिमाण को कुछ समय तक रोके रख सकता है, वरना उसे पूरी उपज बेचनी पड़ती है। यदि कृषक खाद्य-उपज के कुछ परिमाण को कुछ समय तक रोक रख सकने योग्य हो जायँ तो उनको जो खेतिहर नहीं हैं और विशेषरूप से नगर-वासियों को, गल्ले की भारी कमी का सामना करना पड़े। भारत में १९५१ में कुछ-कुछ ऐसी स्थिति थी।

विपणन-ऐजेंसियाँ

क्योंकि कृषि एक छोटे पैमाने का संगठन है और क्योंकि कृषि की उपज समय, स्थान तथा उत्पादन के स्वरूप के दृष्टिकोण से उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं के आधार पर नहीं होती, इसलिए कृषक के लिए यह सम्भव नहीं होता कि उपभोक्ताओं को सीधे अपनी उपज बेच सके या अपनी पूर्ति का माँग से समायोजन कर सके। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि ऐसी एजेंसियाँ हों जो उपजों को थोड़े थोड़े परिमाणों में इकट्ठा करें, उनकी श्रेणी-निर्धारण करें, आवश्यकता हो तो उनका विधायन (processing) करें, उनका यातायात करें और उन्हें जमा करें। इन कार्यों के लिए वित्त लगाना तथा जोखिम लेना पड़ता है।

इन कामों को एक संगठन द्वारा भी किया जा सकता है और यह भी हो सकता है कि प्रत्येक कार्य उस कार्य के विशेषज्ञ एक संगठन द्वारा किया जाय। ये संगठन बड़े पैमाने पर कार्य कर सकते हैं; किन्तु यदि सहकारिता की विधि का उपयोग नहीं किया जाता तो कम से कम कृषकों को उपजों को इकट्ठा करने और अन्तिम उपभोक्ता तक उन्हें पहुँचाने का कार्य छोटे पैमाने पर ही होगा। उपभोक्ता अपने आवश्यक परिमाण को खरीदने के लिए सौ गज भी चलना नहीं चाहता। इसीलिए छोटे दुकानदार बड़े व्यापारियों की स्पर्द्धा के मुकाबले में भी अपना व्यवसाय चलाते रहते हैं। फिर भी हो सकता है कि किसान की खेती इस प्रकार की हो कि कटाई के कुछ समय बाद तक उसके बैलों आदि के लिए कुछ काम न रहे। यह भी हो सकता है कि यातायात की सुविधाएँ कम हों और केवल गधों, घोड़ों और ऊँटों पर सामान लादकर ले जाने वालों के लिए ही मितव्ययता से यातायात का कार्य करने की गुंजायश हो। उदाहरण के लिए वर्ष भर काम न रहने के कारण मोटरगाड़ियों द्वारा माल इकट्ठा करना शायद मितव्ययकारी न हो। फिर इसके लिए और अधिक द्रव्यराशि का विनियोग करना पड़ेगा। इन सब कारणों से साधारणतः यह पाया जाता है कि कृषक अपने माल को स्वयं निकटतम बाजार तक ले जाता है।

कृषि की उपज के विपणन के आगे की अवस्थाओं का प्रबन्ध बड़े व्यवसायी और फ़र्में करती हैं। ये व्यवसायी और फर्में बाजार की स्थितियों का भली भांति अध्ययन कर सकती हैं और पूर्ति को माँग से समायोजित भी कर सकती हैं। यदि कोई सरकारी या व्यापारिक संस्था बाजार विषयक सूचनाओं का प्रकाशन करे तो छोटे संगठन भी यह काम उचित रूप से कर सकते हैं।

यह आवश्यक नहीं कि विपणन-व्यय कम हो। हो सकता है कि निम्न दो कारणों से पूर्ण-स्पर्द्धा न हो : पहला यह कि देहात में माल खरीदने वाले व्यवसायी को थोड़ा बहुत स्थानीय एकाधिकार प्राप्त हो जाता है। कृषक के लिए यह मालूम करने का समय और सुविधा नहीं होती कि अन्य व्यवसायी क्या कीमत दे रहे हैं और पड़ोस के ग्रामीण बाज़ारों में क्या कीमत मिल सकती है, न कृषक में इतना धैर्य और इतनी क्षमता ही होती है कि किसी ग्रामीण बाजार में पहुँचने पर अपने माल की बिक्री को स्थगित कर दे। दूसरा कारण ये कि थोक व्यापारी सम्भवतः संख्या में कम होते हैं और अपने बड़े पैमाने के व्यापार के कारण उन्हें कुछ एकाधिकार प्राप्त रहता है। वे मिलकर अपने एकाधिकार को सबल भी बना सकते हैं। इसके अतिरिक्त प्रतियोगिता की अपूर्णता का कारण यह भी हो सकता है कि

उपजाए हुए पदार्थ उपभोक्ताओं की पसंद से मेल न खाएँ। चाहे उपभोक्ता विभिन्न श्रेणियों की उपज के लिए अलग अलग दाम दे रहे हों तो भी स्थानीय एकाधिकारी व्यवसायी बहुधा कृषकों को श्रेणियों के अनुसार कीमत देना असुविधाजनक समझते हैं। इसके कारण गुण और परिमाण दोनों में पूर्ति माँग से भिन्न हो सकती है। समाज के दृष्टिकोण से यह वांछित नहीं है।

सहकारी विपणन—कृषक तथा उपभोक्ताओं के बीच के लोगों (व्यवसायी आदि) द्वारा किए जाने वाले कार्यों को कम कीमत पर करने के लिए सहकारी विपणन समिति के रूप में एक वैकल्पिक विपणन ऐजेंसी का आरम्भ हुआ है। सहकारी विपणन समिति के कुछ फायदे हैं। एक सहकारी विपणन समिति पर कृषकों का नियंत्रण रहता है; इससे उन्हें विपणन विधि का ज्ञान हो जाता है और उन्हें अपने माल के लिए ऊँची कीमतें मिल जाती हैं। यदि समिति का उपज के काफी परिमाण पर नियंत्रण हो, और यदि उसे बाज़ार सम्बन्धी सूचना मिलती रहे तो वह कुल परिमाण में से पूर्ति का नियमन कर सकती है और कीमत के तल को भी प्रभावित कर सकती है। सहकारी समिति द्वारा उपज के आवश्यक परिमाणों की पूर्ति सम्भवतः अधिक नियमित और निश्चित रूप से होती है। बेचे जाने वाले माल के दर्जे निश्चित होने तथा उसके उपभोक्ताओं की कीमत अभिरुचियों के साथ समायोजित होने की भी अधिक सम्भावना रहती है।

यह सब कुछ होते हुए भी सहकारी विपणन के खतरों को बता देना चाहिए। (१) हो सकता है कि सदस्य समिति के प्रति वफादार न हों। हो सकता है कि बड़े कृषक मतदान के समान अधिकारों से संतुष्ट हों। कुछ समय तक ऊँची कीमतें दे कर वैयक्तिक व्यवसायी सदस्यों को आकर्षित कर सकते हैं। यदि उपज को इकट्ठी करने की प्रणाली बरती जाती है तो हो सकता है कि उत्तम प्रकार की उपज लाने वाले कृषक इसका विरोध करें। (२) यदि प्रबन्धक को अच्छा वेतन नहीं मिलता तो वह सम्भवतः समिति के कार्य में पर्याप्त रुचि न ले; साथ ही ग़रीबी के कारण कृषकों में इतनी क्षमता नहीं होती कि वे उसे अच्छा वेतन दे सकें। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रबन्ध अकुशल होगा। (३) सिद्धान्त में सहकारी समिति किसी उपज की पूर्ति के बहुत बड़े भाग पर नियंत्रण कर सकती है और एकाधिकारपूर्ण ढंग से कीमतों को बढ़ा सकती है।

राज्य द्वारा नियमन—राज्य बहुधा बाज़ारों का नियंत्रण और नियमन करने का प्रयत्न करता है। भारत में बलपूर्वक सहकारी वितरण प्रणाली स्थापित कर के बाज़ारों का नियमन करने की नीति काम में लाई जा सकती है। इस नीति की सफलताओं में सबसे बड़ी बाधा है शिक्षा का अभाव तथा जनता का अपनी जनतांत्रिक शक्ति के बावजूद भी अपने को उनके सामने असहाय समझना जिनके हाथ में आर्थिक शक्ति है। किन्तु आशा की जाती है कि यदि राज्य इस नीति को काम में लाता रहे और जनता को सहकारिता के सिद्धान्त और व्यवहार की शिक्षा देने का प्रबन्ध करे तो सहकारिता प्रणाली सफलता से विकसित होकर अन्य विपण ऐजेंसियों द्वारा किए जाने वाले शोषण को रोक देगी। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अन्य विपणन ऐजेंसियों को भी साथ-साथ काम करने देना चाहिए। कृषि सम्बन्धी कीमतों के सुस्थिरीकरण (sublisation) की योजनाओं में साधारणतया राज्य द्वारा उपज के क्रय-विक्रय का सुझाव दिया जाता है; किन्तु सहकारी विपणन के माध्यम से राज्य द्वारा नियमन की प्रणाली इससे कहीं अच्छी है।

खेत का आकार

कृषि-अर्थशास्त्र में खेत का आकार एक महत्वपूर्ण विषय है। बहुत से विचारकों ने इस मत का समर्थन किया है कि आकार इतना होना चाहिये कि उसमें उतने बड़े पैमाने पर काम किया जा सके जितने पर उद्योग में हो सकता है। यह हम पहले ही देख चुके हैं कि कृषि में उत्पादन उद्योग से लघुतर होता है। प्रति खेत मजदूरों की संख्या कम होती है और उत्पत्ति भी। निःसंदेह ऐसे भी औद्योगिक उपक्रम हैं जिनकी इस विषय में खेतों से तुलना की जा सकती है किन्तु बड़े औद्योगिक उपक्रमों की प्रतिशत संख्या बड़े खेतों की प्रतिशत संख्या से अधिक है।

लघुतर खेत क्यों ?—इसका क्या कारण है ? कहा जा सकता है कि ह्रासमान सीमान्त प्रत्युपलब्धि उद्योगों की अपेक्षा कृषि में पहले शुरू हो जाती है। लेकिन ऐसा क्यों होता है ? खेत का आकार बढ़ाने पर यथोचित संगठन की लागत आनुपातिक दर से अधिक बढ़ती है। खेत के एक भाग से दूसरे भाग तक जाने में अधिक समय लगता है। इसलिए विभिन्न प्रक्रियाओं को संगठित करना कठिन होता है। फिर खेत का आकार बढ़ाने पर श्रम और पूंजी के आनुपतिक परिमाण से अधिक की आवश्यकता होती है। इसलिए खेत के आकार को घटाने की प्रवृत्ति होती है। फिर जब किसी खेत से लागातार फसल उगाई जाती है तो भूमि की उर्वरता को बनाये रखने की लागत अनुपात से अधिक बढ़ती जाती है। फसल उगाने में भूमि के जो रासायनिक गुण समाप्त हो जाते हैं उन्हें वह उतनी शीघ्रता से पुनः प्राप्त नहीं कर सकती जितना कि किसान चाहता है। उदाहरण के लिए गन्ना, गेहूँ और कपास एक विशेष हेर फेर से उगाए जाते हैं और प्रत्येक हेर-फेर में खेत को दो बार परती (fallow) रखना पड़ता है: एक बार लगभग दो महीने तक और दुबारा लगभग छै महीने तक। यदि तीन फसलें उगाने का प्रयत्न किया जाय तो उपज घटने लगती है और ऐसा प्रतीत होता है कि खाद प्रयोग करके भी इसे रोका नहीं जा सकता।

अंत में, जब खेत में काम करने वालों को यह मालूम हो कि खेत की उपज उन्हें तथा उनके परिवार को मिलेगी तब वे अधिक क्षमता से काम करते हैं। कृषि के लए निरंतर बहुत देख भाल की आवश्यकता होती है। इस देखभाल को नित्यक्रम के एक साधारण काम का रूप नहीं दिया जा सकता। फिर मौसम आदि के अचानक बदलने से इस देख भाल का रूप भी बदल जाता है। इसलिए खेती का काम पूरी तत्परता और कुशलता से वही कर सकता है जिसकी कृषि से प्राप्त होने वाले फल में रुचि हो। यह प्रवृत्ति संसार भर में पाई जाती है। भारत में में भूमि-स्वामित्व प्रेम की जड़ें बहुत गहरी हैं और इसलिए यह प्रवृत्ति और भी सबल हो जाती है। यहाँ तक कि यदि खेतिहर मजदूरों को सहकारिता के आधार पर भूमि पर बसाया जाय तो वे सम्मिलित खेती करने के लिए तैयार नहीं होंगे। पारिवारिक खेती के लिए भारत में बड़ा मोह है। यदि किसी देश में अधोमुखी आर्थिक दशाओं के साथ जान बूझ कर गलत नेतृत्व हो, तो उस देश के गावों में बिखरे हुए तथा छोटे-छोटे खेत होंगे ही।

छोटे-छोटे खेतों से हानियाँ—ऐसी छोटे पैमाने की और बिखरे हुए छोटे-छोटे खेतों वाली खेती की हानियाँ मुख्यतः विपणन सम्बन्धी और तांत्रिक अमितव्ययताओं में हैं। इस प्रकार की प्रणाली में सम्भवतः कृषक न तो कृषि के लिए आवश्यक वस्तुओं को एक या

दो बार में इकट्ठा खरीदते हैं; और यातायात तथा विक्रय के खर्चों के अधिक होने के कारण न अपनी उपज को इकट्ठा बेचते ही हैं। अपरिवर्ती पूंजी-व्यय का अनुपात बढ़ता जाता है और समुन्नत यंत्रों का उपयोग करने की सम्भावना कम होती जाती है। खेत में काम करने वाले को कोई एकही काम नहीं करना पड़ता। उसे हल चलाना, निराई करना, कटाई करना, गायों को दुहना और पशु चराना आदि सब काम करने पड़ते हैं। हो सकता है कि इन कामों में उसकी लगन न हो। उद्योग में तो किसी एक काम को करते रहने से कुशलता प्राप्त हो जाती है किन्तु कृषि में यह सम्भव नहीं। इसलिए यह सम्भावना रहती है कि ज्यादातर योग्य व्यक्ति कृषि को छोड़कर अन्य व्यवसायों में चले जायँ। परिणाम यह होता है कि कृषि में कम क्षमता वाले व्यक्ति बच जमते हैं। किसी सीमा तक छोटे तथा बिखरे हुए खेतों से होने वाली हानियों को सहकारिता द्वारा रोका जा सकता है।

सर्वोत्तम, वृहत्तम और आर्थिक आकार—बहुधा खेत के सर्वोत्तम आकार, वृहत्तम आकार और आर्थिक आकार पर विवाद होता है। किसी खेत का सर्वोत्तम आकार क्या होगा यह कई बातों पर निर्भर है। गहन खेती के लिए यह आवश्यक होता है कि देखभाल विस्तार से की जाय; इसलिए एक औसत खेत का आकार लघुतर होता है। दूसरी ओर विपणन की कठिनाइयाँ जितनी ही अधिक होती हैं—विशेषत: पूर्ति तथा बिक्री के बाज़ारों की दूरी जितनी ही ज्यादा हो—खेत का आकार उतना ही बड़ा होता है। चाय, कहवा और रबर के साथ यही स्थिति है। फिर कृषि को पशुपालन के साथ समायोजित करने की अर्थात् मिश्रित खेती की मितव्ययताएँ जितनी ही अधिक हों उतना ही बड़ा खेत का आकार भी होगा।

भारत में खेतों का आकार—ऊपर के विश्लेषण से यह अर्थ न निकालना चाहिए कि भारत जैसे देश में खेतों के आकार को बढ़ाया ही नहीं जा सकता। किन्तु यह सच है कि विस्तार की दर कई कारणों से सीमित है। खेत के आकार के मनमाने विस्तार में तांत्रिक कठिनाइयाँ हो सकती हैं। जैसे, हो सकता है कि भूमि पर जनसंख्या के भार तथा भूमि भोगावधि प्रणाली के कारण पास-पास के खेतों को मिलाना सम्भव न हो, हो सकता है कि सिंचाई की सुविधाओं के अनिश्चित होने के कारण कृषक अपने ऐसे खेतों को छोड़ने के लिए तैयार न हो जो सिंचाई की सुविधाओं के दृष्टिकोण से गाँव के भिन्न-भिन्न भागों में स्थिति हो।

इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए यह सुझाव दिया जा सकता है कि फसलों की चकबंदी (consolidation of cropping) या खेतों की चकबंदी की जाय। वैधानिक बाध्यता के बिना यह योजना शीघ्र सफल नहीं हो सकती। भारत में तीस या और भी अधिक वर्षों से यह प्रयत्न किया जा रहा है कि वैधानिक बाध्यता के बिना ही खेतों की चकबन्दी की जाय। किन्तु अभी तक कोई संतोषजनक फल नहीं निकला है। करोड़ों एकड़ खेतिहर भूमि के देश में केवल कुछ लाख एकड़ खेतों की चकबन्दी हो पाई है। फिर, यह भी सम्भावना है कि जो कुछ किया गया है वह उत्तराधिकार सम्बन्धी विधानों, स्वामित्व के अधिकारों और आसामी द्वारा भूमि को लगान पर उठाने के अधिकारों के फलस्वरूप होने वाले हस्तांतर तथा उपविभाजन के कारण बेकार हो जाय।

भूमि-भोगावधि

भारत में भूमिपतियों, तथा अन्य बिचवइयों ने अपने अधिकारों का प्रयोग अधिकतर मनमाने ढंग से और समाज के हितों की उपेक्षा करते हुए किया है। यह कुछ तो पाश्चात्य

शक्तियों के प्रभाव के कारण और कुछ विदेशी राज्य द्वारा हमारे अपनी स्थिति में सुधार करने के प्रयत्नों में की गई बाधाओं के कारण हुआ है। भूमि-भोगावधि पद्धति (land tenure system) भारतीय अर्थव्यवस्था को अत्यधिक प्रभावित करती है। भूमि के राष्ट्रीयकरण और उसके उपयोग के सामाजीकरण पर गम्भीरता से विचार हुआ है।* किन्तु इस प्रकार के निश्चय किसी समय की स्थिति तथा सामाजिक मान्यताओं को ध्यान में रखकर ही किए जाने चाहिए। किसी समय तो रूस की भाँति बलपूर्वक और बिना हर्जाना दिये राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है यद्यपि ऐसा करने में बल प्रयोग, अत्याचार और हत्या तथा सम्पत्ति और जीवन हानि की धमकी निहित होती है। अधिक शांतिपूर्ण तरीका यह है कि भूमि पर अधिकार करने के लिए हर्जाना दिया जाय। किन्तु इस विधि में यह कठिनाई है कि हो सकता है कि हर्जाना देने का विरोध किया जाय, प्रयोग में आने वाले द्रव्य में वृद्धि हो और बजट में गड़बड़ हो जाय। हो सकता है कि पारिवारिक खेती सामाजिक मान्यताओं से मेल खाती हो; खेतों का व्यक्तिगत स्वामित्व या खेती करने वाले परिवारों के भूमि के उपयोग के सतत या दीर्घकालीन अधिकार भी उन मान्यताओं के अधिक अनुरूप हो सकते हैं। यदि ऐसा हो तो अनुचित भूमि-भोगावधि की त्रुटियों और और दोषों को दूर करने के लिए राष्ट्रीयकरण या उपयोग के समाजीकरण से भिन्न कुछ अन्य उपायों को अपनाना पड़ेगा।

भूमि-संरक्षण

चाहे खेत का आकार कुछ भी हो और चाहे उस पर खेती की जाती हो अथवा नहीं, भूमि की उर्वरता प्रतिवर्ष कम होती जाती है। कुछ तो इस कारण कि मिट्टी के कुछ रसायनिक तत्व फसल उगाने के अनुचित क्रम तथा विधियों के कारण नष्ट हो जाते हैं और कुछ इस कारण कि पानी तथा हवा के द्वारा होने वाले क्षरण (erosion) के कारण स्वयं मिट्टी ही की क्षति होती है। इस क्षति को कम या अधिक किया जा सकता है। यदि यह क्षति अधिक होने लगती है तो कृषि की आर्थिक व्यवस्था तथा जनसंख्या वितरण की सुस्थिरता को हानि होती है। जब आवश्यक भूमि को परती छोड़े बिना और खाद दिये बिना लगातार वही फसलें उगाई जाती हैं और जब पानी तथा वायु को भूमि का क्षरण करने से रोका नहीं जाता तब मिट्टी की क्षति अधिक होती है।

दूसरी ओर उचित खाद देकर, फसलों का हेर फेर कर तथा भूमि परती छोड़ कर भूमि के रसायनिक तत्वों की क्षति को रोका जा सकता है। भारतीय कृषिक तथा अन्य देशों के कृषिक भी अपनी सामर्थ्य भर तथा खेत और फसल के अनुरूप यथासम्भव परिमाण में खाद अवश्य देते हैं। यह तर्क करना निर्मूल है कि जब किसान का भूमि में कोई दीर्घकालीन स्वार्थ न हो तो भी वह भूमि की उर्वरता बनाये रखने और बढ़ाने को तत्पर रहेगा। यदि खेतिहर के भूमि के प्रयोग विषयक दायित्व और अधिकार अनिश्चित और अस्थायी हैं तो वह भूमि की उर्वरता की क्या चिन्ता करेगा? इस प्रकार के दोषों को दूर किया जाना चाहिये। भारत

*कुछ लोग तो रूस तथा फिलिस्तीन के ढंग की सामूहिक खेती को अपनाने के पक्ष में हैं, कुछ अन्य सहकारी खेती का समर्थन करते हैं। भारत के राज्य सहकारी खेती के पक्ष में हैं। उत्तर प्रदेश, बम्बई, मद्रास और बंगाल में सहकारी खेती सम्बन्धी प्रयोग किए जा रहे हैं किन्तु अभी तक उन्हें बहुत कम सफलता मिली है।

में हाल ही के कुछ विधानों के द्वारा खेतिहरों को कुछ अधिकार और सुविधाएँ दी गई हैं। किन्तु विभिन्न प्रदेशों में ये एक से नहीं हैं। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक और कृत्रिम खाद का प्रयोग दो बातों पर निर्भर है एक तो इन खादों की उपलब्धता तथा कीमत पर और दूसरे गोबर की खाद, कम्पोस्ट और हरी खाद आदि के महत्व और उनके संरक्षण तथा प्रयोग की विधियों के विषय में किसानों का ज्ञान या विश्वास पर। भारत में ये बातें विशेषरूप से लागू होती हैं।

मिट्टी का क्षरण—मिट्टी के कणों की क्षति की समस्या को इधर उतनी ही प्रधानता दी गई है जितनी मिट्टी के क्षरण की समस्या को दी जाती है। यह क्षति ज़मीन के ढलाव, मिट्टी के प्रकार, भूमि की बनावट, वृष्टिपात की व्याप्ति और स्वरूप, पेड़ों और झाड़-झंखाड़ों जैसे पवनरोधकों की स्थिति और खेतों तथा दूसरी ज़मीन के उपयोग के विधि पर निर्भर होती है। इस प्रकार काली मिट्टी का चिकनी मिट्टी से अधिक क्षरण होता है। मुलायम पत्थर और चूने की चट्टानों का भी यही हाल है। इसके अतिरिक्त मिट्टी की बनावट जितनी ही कम रंध्रयुक्त होगी उतना ही अधिक पानी का बहाव होगा और इसलिए उतना ही अधिक मिट्टी का क्षरण होगा। कुछ घंटों में ही हो जाने वाली तेज़ वर्षा से कई घंटों तक चलने वाली बूंदाबांदी की अपेक्षा मिट्टी का क्षरण अधिक होता है। किन्तु मिट्टी के क्षरण पर सबसे अधिक प्रभाव भूमि के उपयोग की विधि का पड़ता है। जंगलों की अन्धाधुन्ध कटाई, भूमि को परती छोड़ना, ढाल पर फ़सल उगाना (सरकार की किसी मूर्खतापूर्ण नीति के कारण ऐसा होना सम्भव है), पशुओं को बहुत अधिक चराना, चारे की कमी और लोगों का अज्ञान ये सब मिट्टी के क्षरण में सहायक हो सकते हैं।

मिट्टी के क्षरण के तांत्रिक उपाय गिना देना सरल है जैसे जंगल लगाना (गांवों में भी), नियंत्रित चराई, आड़ी खेती, फसल योजना, तथा-सीढ़ी, बांध आदि बनाना।

किन्तु इन उपायों को कार्यान्वित करना कठिन है। राज्य द्वारा भूमि-उपयोग के नियंत्रण को चाहे सब स्वीकार न करें किन्तु फिर भी इसकी सम्भावना नहीं है कि भारत जैसे देश में क्षरण विरोधी प्रयत्नों में ऐच्छिक सहकारिता से काम चल जायगा। भारत सरकार तथा कुछ प्रान्तीय सरकारों ने मिट्टी के क्षरण सम्बन्धी अध्ययन और क्षरण को रोकने के प्रयत्नों पर अधिक ध्यान दिया है। उत्तर प्रदेश की सरकार ने एक भूमि प्रबन्ध परिषद (Land Management Board) स्थापित की है जिसके काम ये हैं—मिट्टी के क्षरण को रोकना, बुरी तरह क्षरित क्षेत्रों को ठीक करना और उनका फिर से उपयोग करना और इन युक्तियों को कार्यरूप देने के लिए आवश्यक संगठन बनाना। परिषद को यह अधिकार दिया जा सकता है कि वह केवल क्षरित भूमि या नहरों के किनारों आदि के ही नहीं वरन् किसी भी प्रकार की भूमि के सर्वोत्तम उपयोग के विषय में अनुसंधान करें और यदि कृषकों की एक विशेष संस्था की सहमति हो तो अपनी योजना को लागू करे। एक अन्य तरीका यह है कि बंधक प्रलेखों में एक भमिसंरक्षण धारा जोड़ दी जाय।

यद्यपि ऊपर के विश्लेषण में क्षरण विरोधी कार्य के लिए राज्य के उत्तरदायित्व को बहुत कुछ स्वीकार कर लिया गया है फिर भी यह पूछा जा सकता है कि क्या भूमि की उर्वरता को बनाये रखने के लिए आवश्यक व्यय का कुछ भाग राज्य को देना चाहिए? एक किसान कह सकता है कि राष्ट्र के लिए भूमि की रक्षा करना उसका काम नहीं है। यदि वह अशिक्षित है तो

उसके ऐसे कहने की अधिक सम्भावना है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि राज्य द्वारा केवल वैत्तिक सहायता ही दी जाय। यह सच है कि राज्य-भूमि-संरक्षण के उपाय करने वालों को ऋण और रियायतें दे सकता है। बम्बई सरकार गाँवों में जंगल लगवाने वाले ज़मींदारों को कम ब्याज़ पर ऋण और लगान में छूट देती है। लेकिन राज्य को मिट्टी के क्षरण रोकने की विधियों के विषय सम्बन्धी अनुसंधान, शिक्षा तथा प्रदर्शन पर अधिक व्यय करना चाहिये। स्कूल की शिक्षा के साथ-साथ भूमि-संरक्षण की भी शिक्षा दी जा सकती है और इस प्रकार भूमि क्षरण विरोधी कार्य करने वालों की टोली प्रशिक्षित होकर तैयार हो जायगी। कुछ वर्ष पहले बम्बई सरकार ने बीजापुर जिले में बांध बनाने का प्रयोग किया था जिस पर लाखों रुपए व्यय हो गए। परन्तु बांध टूट गए और किसानों को जो क्षति पहुँची वह साधारणतः दस वर्ष में भी न होती। इसका कारण यह था कि जन-निर्माण-विभाग वालों को इस प्रयोग के सम्बन्ध में पूर्ण तांत्रिक ज्ञान नहीं प्राप्त था।

सिंचाई

भूमि-संरक्षण की समस्या दीर्घकालीन है, परन्तु इसका सिंचाई योजना से कई भाँति सम्बन्ध है। भूमि-क्षरण के कारण उत्तर प्रदेश के मथुरा, आगरा और इटावा जिलों में कुओं से सिंचाई घटने का एक कारण यह भी है कि भूगर्भीय जल-स्तर घट कर कहीं-कहीं एक सौ फीट हो गया है। भूमि-क्षरण के कारण भूमि में नमी की कमी हो जाती है। बहुमुखी नदी योजनाओं द्वारा अधिक जल-मात्रा को एकत्र कर लेने पर उससे होने वाला भूमि-क्षरण कम हो जाता है। परन्तु सिंचाई के सम्बन्ध में भी दीर्घ और अल्पकालीन दोनों प्रकार की समस्याओं का महत्व है।

किसी खेत की सिंचाई कई प्रकार हो सकती है—वर्षा जल द्वारा अथवा तालाब में संचित जल, कूप जल या नहर के पानी से। वर्षा जल की अपेक्षा अन्य सभी सिंचाई के साधनों में अपेक्षाकृत अधिक व्यय पड़ता है और उनका उपयोग करना तभी उपयुक्त होगा जब उनके उपयोग द्वारा उपज अधिक हो। सम्भव है कि वर्षा का वितरण समय और स्थान की दृष्टि से विषम हो, जैसा कि भारत में पाया जाता है। अतः फसलें अनिश्चित हो जाती हैं। कृषि एक प्रकार का जुआ बन जाती है और वर्षा की अनिश्चितता की दृष्टि से अन्य महंगे कृत्रिम सिंचाई के साधन भी उचित ठहर सकते हैं। भारत में कुछ ऐसी ही स्थिति है और यहाँ वर्षा पर निर्भरता कम करनी चाहिए।

जहाँ नहरें बनाई जाती हैं वहाँ एक अन्य भय है। उत्तर प्रदेश में नल-कूप *और नहरों का निर्माण सूखे प्रदेशों में कम हुआ है और कुंओं की सिंचाई वाले प्रदेश में अधिक। अतः वे कुएँ के अनुपूरक न होकर सिंचाई के वैकल्पिक साधन सिद्ध हुए हैं। किसान कुंओं को छोड़कर इनसे सिंचाई करते हैं। कुंओं के बेकार हो जाने से बहुत बड़ी सामाजिक क्षति हुई है। अस्तु, भारत के विभिन्न भागों के उपयुक्त सिंचाई साधनों की व्यवस्था करने के लिए देश में जल-सम्बन्धी खोज (Hydraulic Survey) होनी चाहिए।

---

*वैत्तिक दृष्टि से उत्तर प्रदेश के नल कूपों से सरकार को हानि हुई है और सरकार ने इनके भाड़े की दर में ७५% वृद्धि करने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में एक जल-विद्युत दर-समिति की स्थापना की गई थी।

नहर-सिंचाई वाले क्षेत्रों में पानी का भाड़ा लेना भी एक समस्या है। देश भर में यह भाड़ा किसी एक निश्चित आधार पर नहीं लिया जाता। देश के भिन्न भागों में जल-भाड़ा लेने के भिन्न आधार और रीतियाँ हैं। जल-भाड़े लेने के दो प्रमुख आधार हैं—जल की मात्रा और जल से सिंचित क्षेत्रफल। द्वितीय दशा में जल की बरबादी होती है या उसका अनार्थिक उपयोग होता है। जहाँ भाड़ा जल की मात्रा के अनुसार लिया जाता है वहाँ किसान स्वतः ही पानी से अधिकाधिक क्षेत्र की सिंचाई करने का प्रयास करता है; और यह अनुभव न केवल भारत वरन् अन्य देशों में भी रहा है। पानी का अनार्थिक उपयोग रोकने के लिए कई सुझाव दिये जा सकते हैं। प्रथम, किसान को यह सिखाया जाय कि अधिक जल देने से उसी की फसल को हानि पहुँचती है और जल को व्यर्थ जाने से रोकना उसका सामाजिक कर्त्तव्य है। द्वितीय, जल की मात्रा के अनुपात में भाड़ा लिया जाय और जल नापने के लिए एक ऐसे सस्ते मीटर का आविष्कार किया जाय जिसे किसान तोड़ न सके। तृतीय, नहरों के क्षेत्र में सिंचाई के भाड़े को लगान में मिला दिया जाय। इससे किसान नहर के जल की माँग करने के लिए वर्षा की आशा में आखिरी मिनट तक नहीं रुकेंगे। अन्यथा इस प्रकार हफ्तों बादलों के सपने देखा करते हैं और इस लालसा को लगाए रहते हैं कि वर्षा हो जाए तो नहर के जल-भाड़े से बच जाएँ। परन्तु ऐसा करने से अंत में नहर-जल की माँग पूर्ति से अधिक हो जाती है। हमारी समझ में तीसरी विधि वांछनीय है। कुछ भी हो यह अति वांछनीय है कि सिंचाई विभाग के कर्मचारियों की क्षमता में वृद्धि हो। भला बिना अतिरिक्त जल की पूर्ति के नहर की लंबाई को बढ़ाते जाने से क्या लाभ? इससे तो जल की माँग पूर्ति से अधिक हो जाएगी और विभिन्न प्रकार की बेईमानी को प्रोत्साहन मिलेगा। सिंचाई विभाग द्वारा की गई वितरण व्यवस्था में अपनी पारी की अनिश्चितता के कारण बहुत से किसान अपने खेतों में आवश्यकता से अधिक जल ले लेते हैं।

सिंचाई सम्बन्धी एक अन्य समस्या यह है कि क्या सिंचाई से होने वाली आय सिंचाई पर किए गए व्यय को पूरा अवश्य करे। भारत में तो दशाब्दियों से सरकार की यही नीति रही है कि आय व्यय से अधिक हो। भारत में उत्पादक नहरें तथा संरक्षक नहरें हैं। परन्तु अब नीति में परिवर्तन हो रहा है, क्योंकि नहरों की उपादेयता के माप में केवल आने वाली आय ही नहीं वरन् फलस्वरूप अधिक उर्वरता के कारण लगान वृद्धि भी गिनी जानी चाहिए। किस क्षेत्र में सिंचाई की सुविधा प्रदान की जाय इसका निर्णय इसी बात पर निर्भर होना चाहिए कि उस क्षेत्र को सिंचाई-सुविधा की आवश्यकता है कि नहीं। सिंचाई योजानाएँ दीर्घकालीन होती हैं, उनसे सरकार को दीर्घकाल तक आय मिलती है। अतः ऐसी योजनाओं के निर्माण-व्यय दीर्घकालीन ऋणों द्वारा किए जाने चाहिए ताकि आने वाली पीढ़ियों पर भी उनका भार पड़े।

एक अन्य सिंचाई समस्या अन्तर-देशीय झगड़े होते हैं। बहुधा नदी कई राज्यों से होकर बहती है। बहाव के ऊपरी ओर स्थिति देश (या राज्य) अपने स्वत्व के कारण उसके समूचे जल को सिंचाई के काम में ला सकते हैं। ऐसा होने से नीचे स्थित देश जल से बिल्कुल वंचित हो जाएँगे और वे भी नदी में पूर्ववत् प्रवाह की माँग कर सकते हैं। ऐसे झगड़ों के कारण कहीं-कहीं सिंचाई सुविधाएँ वर्षों खटाई में पड़ी रही हैं और जनता उनसे वंचित रही है। ऐसे झगड़ों का निपटारा अदालत द्वारा नहीं वरन् राज्यों के प्रतिनिधियों की पंचायतों द्वारा शीघ्र और कम कठिनाई से किया जा सकता है।

फसल-योजना

सिंचाई सुविधाओं के कारण अनावृष्टि से उत्पन्न फसल की अनिश्चितता समाप्त हो जाती है, परन्तु इसके यह मतलब नहीं हैं कि किसान सर्वोचित फसल उगाएँगे। बहुत सम्भव है कि किसान ऐसी फसल उगाएँ जिनके अधिक मूल्य प्राप्त होते हैं। उनका ध्येय अधिकतम उत्पादन न होकर अधिकतम विक्रय-आय (अधिकतम द्राव्यिक आय) हो सकता है। ऐसी स्थिति में व्यापारिक उपज अधिक पैदा हो जाएगी, खाद्यान्न कम। यह भी सम्भव है कि ऐसी फसल बोई जाए जिसके लिए खेत उपयुक्त नहीं है। भूमि के सर्वोत्तम आर्थिक उपयोग की समस्या, जिसकी ओर भूमि-क्षरण के सम्बन्धी अध्ययन में संकेत किया जा चुका है, यहाँ भी उठती है। किसी देश में कृषि-उत्पादन-नीति निर्धारित करते समय देश की भोजन, औद्योगिक, कच्चे माल और निर्यात सम्बन्धी आवश्यकताओं को ध्यान में रखना ही चाहिये।

इन आवश्यकताओं का निर्धारण केवल वर्तमान इच्छाओं पर ही नहीं निर्भर होना चाहिए। यह भी सोचना चाहिए कि इनका भावी रूप क्या हो। अधिकतर ये इच्छाएँ प्रादेशिक उत्पादन सामर्थ के अनुरूप भी होती है। यदि सभी भारतीय रई (rye) की रोटी खाने लगें या यदि सभी विस्थापित भाई मक्का (मकई) खाने की गाँठ बाँध लें तो शायद इन दोनों पदार्थों की प्रर्याप्त उत्पादन सम्भव न हो, या कम से कम उनका उत्पादन सस्ता न पड़े।

सस्ता उत्पादन ही हमारा ध्येय है। यों तो कह सकते हैं कि तिल में सर्वाधिक लौहांस होता है, अतः प्रत्येक व्यक्ति को दो छटाँक तिल का दैनिक उपभोग करना चाहिए। परन्तु सम्भव है कि न वह स्वादपूर्ण सिद्ध हो और न पच सके। उपभोग्य वस्तुओं का निर्णय करते समय न केवल सस्ते उत्पादन (अतः खरीद) वरन् स्वाद, पाचन, पकाने, और रींधने के ढंग को भी ध्यान में रखना होगा। फिर मान लीजिए एक गृहस्थी (१) नारंगी, (२) मूली, टमाटर तथा आलू जैसी सस्ती तरकारी या (३) अनाज पर रह सकती है। प्रति रुपया नारगी से मिलने वाला पोषण निम्नतम होगा और अनाज से सबसे अधिक। यदि यह गृहस्थी उत्तम स्वाद पूर्ण नारंगियों का उपभोग करती है तो शायद उचित अनुपात से अधिक पारिवारिक आय नारंगियों पर व्यय हो जाएगी। ऐसा होना इस कारण भी सम्भव है कि परिवार वालों को विभिन्न भोजनों और उनके संयोग के पोषण के आर्थिक पहलू का पूर्ण ज्ञान न हो। इसी प्रकार उपभोग में अपव्यय का एक कारण यह हो सकता है कि गृहस्थी को विभिन्न व्यंजनों के बनाने की उत्तम और सस्ती विधि न मालूम हो। उदाहरणार्थ, सम्भव है कि भात का माँड़ जिसमें उबालते समय भात के पोषक तत्व घुल जाते हैं, छान कर इस कारण फेंक दिया जाय क्योंकि उसके उपभोग का रिवाज़ नहीं है। अतः यह अत्यावश्यक है कि उपभोक्ताओं की अभि-रुचियों, तथा उनके भोजन के प्रकार और मात्राओं का अध्ययन किया जाय, विभिन्न भोजन और उनके संयोगों के पोषण-महत्व निकाले जाएँ, और विभिन्न ढँग से व्यंजन पकाने तथा तैयार करने के अर्थशास्त्र का भी अध्ययन किया जाए जिससे उत्पादकों और उपभोक्ताओं को इन सब ज्ञान द्वारा सहायता पहुँचाई जा सके। भारत में ऐसे अध्ययनों की बहुत कमी है। हाल में उत्तर प्रदेश की सरकार ने कुछ वर्ग के शिक्षित व्यक्तियों के उपभोग-बजट एकत्र किए थे और इस कार्य में भी लोगों का पूर्ण सहयोग नहीं प्राप्त हुआ था। इससे स्पष्ट है कि शिक्षित व्यक्ति भी इस प्रकार के अध्ययन के महत्व को नहीं समझते। अतः ऐसे अध्ययन करना कठिन है परन्तु वे किए जा सकते हैं और उन्हें करना भी चाहिए।

अधिकांश भारत गांवों में रहता है–प्रकृति और स्वच्छ वायु के निकट। ग्रामीण भाइयों के उपभोग की अपनी समस्यायें हैं जिसका हमारी फसल-योजना पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा। निस्संदेह गांव वाले गेहूँ से लेकर महुए तक कुछ भी खा लेते हैं; परन्तु वे शहर वालों से अधिक स्वस्थ होते हैं। तब भी उनके एक वर्ग को अनाज पानी खरीदना पड़ता है और कुछ को काम की तलाश में जगह-जगह की खाक छाननी पड़ती है। फलतः लाखों ग्रामीण व्यक्ति दयनीय जीवन व्यतीत करते हैं। यदि हम उनकी दुर्दशा और दुखों को कम करना चाहते हैं तो फसल-योजना में परिवर्तन करके ऐसे भोजन लकड़ी आदि की पूर्ति करनी पड़ेगी जिससे ग्रामीणों की आवश्यकताएँ भी पूरी हों और उन्हें वृत्ति भी मिल सके।

किसानों की उपभोग समस्याओं पर विचार करते समय इस बात पर भी जोर देना चाहिए कि किसान के घरों और खेतों दोनों क्षेत्रों में सुधार करने हैं। गृहिणी और बच्चों को सुविधाएँ देने की उपेक्षा की जाती है। घी के उत्पादक परिवार वालों के घी से वंचित रखते हैं। किस्मांकन करके अंडे बेचने वालों के घरों में अंडे का उपभोग नहीं होता है। ऐसी प्रवृत्तियों को रोकना चाहिए और ऐसा करने से उत्पादक योजना बदल जाएगी।

हम पुनः विभिन्न प्रदेशों की उत्पादन-सामर्थ्य की ओर ध्यान दें। इस सामर्थ्य को दीर्घ-काल तक बनाए रखना चाहिए। भूमि-संरक्षण के अंतर्गत हम इस ओर संकेत कर चुके हैं। किसी भी देश में जहाँ कृषि की परम्पराएँ चली आ रही हैं हम पीढ़ी दर पीढ़ी जीवन के अनुभवों द्वारा सीखे ज्ञान की उपेक्षा नहीं कर सकते। आज का वैज्ञानिक कुछ आँकड़ों और तथ्यों की माँग करता है। वह कहता है कि मिट्टी सम्बन्धी तथा भूमि-उपयोग सम्बन्धी मानचित्र बनाए जायँ। वह उपयुक्त अनुभव-संचित ज्ञान को भुला कर नए सिरे से कार्यारम्भ करना चाहता है। उदाहरणार्थ, भारतीय गांवों में लोकोक्ति और लोक गीतों के रूप में ऐसे ज्ञान का भंडार भरा है कि कहाँ क्या बोएँ, कब कौनसा कृषि कार्य करें तथा नक्षत्रों, वायु-दिशाओं, जलवायु आदि के अनुसार किस प्रकार कृषि कार्यों का हेर फेर किया जाए। पिछली दो शताब्दियों में होने वाले परिवर्तनों के कारण हमारे इस ज्ञान भंडार के उपयोग में बाधा पड़ी है। यह सत्य है कि किसान नई व्यापारिक फसलों और कृषि की नई विधियों के आधार पर उपर्युक्त अलिखित ढंगों में परिवर्तन कर रहा है। परन्तु ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि संचित ज्ञान और प्रचलित विधियों की बिल्कुल उपेक्षा करना उचित नहीं है। उदाहरणार्थ प्राकृतिक खाद के उपयोग को घटाने और कृत्रिम खाद के उपयोग को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न करना सही न होगा। यों तो किसान भी इस बात को शायद न माने क्योंकि उसे शीघ्र ही ज्ञात हो जाएगा कि कृत्रिम खाद* महंगी ही नहीं पड़ती वरन् उसके लिए अधिक सिंचाई की सुविधा की भी आवश्यकता है।

सन् १९३७ में सर जॉन रसेल ने हमारा ध्यान एक दूसरी समस्या की ओर भी दिलाया था। उन्होंने सुझाव दिया था कि फसलों की मिश्रित खेती के आर्थिक पहलू का अध्ययन करना चाहिए क्योंकि इनको उगाने का रिवाज बहुत विस्तृत रूप से फैला हुआ है और क्योंकि कुछ फसलों की मिश्रित उपज दूसरे मिश्रणों की उपज से अधिक होती है। यहाँ मिश्रित खेती से

*भारत में सरकार ने सिंधरी (बिहार) में कृत्रिम खाद की एक फैक्टरी स्थापित की है, परन्तु सरकार कृत्रिम खाद उपयोग की सीमाओं से अवगत है।

हमारा तात्पर्य कई फसलों के बीज को मिला कर बोने से है जिसमें एक ही खेत में भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न फसल काट ली जाती है।

किसी खेत की उपज फसलों के हेर फेर मिश्रित खेती और बीज के प्रकार* पर निर्भर रहती है। खेती की विधि भी उपज पर प्रभाव डालती है और एक सीमा तक प्रयुक्त कृषि के यंत्रों और औजारों के प्रकार भी।

तुलनात्मक अध्ययन तथा अन्य अनुसंधान करके नई विधियों, सुधारों और आविष्कारों को करना चाहिए। इनका किसान के खेत में प्रदर्शन भी करना चाहिए जिससे किसान को इनकी उपयोगिता का विश्वास हो जाय। साथ ही आविष्कृत उत्तम बीजों, औजारों और यंत्रों की पूर्ति की सुविधा भी दी जाय। अनुभव बताता है कि विश्वास हो जाने पर किसान नए किस्म के आलू और गन्ना पैदा करने, नए प्रकार के ईख पेरने के कोल्हू का उपयोग करने और हल में लोहे का छल्ला लगवाने लगे थे।

पशु-पालन—जोत के सर्वोत्तम आकार और उपज की समस्या पर विचार करते समय पशु-पालन का उल्लेख किया जा चुका है। कृषि की दृष्टि से गाय, भैंस, बैल, साँड़, बकरी और मुर्गियाँ प्रमुख महत्व रखती हैं। भारत में मुर्गी पालन कम होता है अन्य ढोरों की संख्या अत्यधिक है। यदि किसी देश में चारे की स्थिति खराब हो जाए तो यह आशा की जाती है कि ढोरों की संख्या भी घटेगी। परन्तु भारत में यह आशा पूरी न हुई। इसके कुछ कारण हैं—कृषि उत्पादन की प्रचलित विधि, खेत में गोबर की खाद को महत्व देना, तथा गाय बैल का धार्मिक दृष्टि से पूज्य होना। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद द्वारा किए गए मिश्रित खेती सम्बन्धी प्रयोगों से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि इस प्रकार की खेती से चारे की ही समस्या नहीं हल होती वरन् उपज भी अधिक होती है और आय भी। अन्य देशों में भी मिश्रित खेती सफल हो चुकी है भारत में भी इसका प्रचार किया जाना चाहिए। साथ साथ उत्तम नस्ल के ढोरों के प्रजनन और कमजोर तथा अवांछनीय ढोरों को (पशु-बध अथवा बधिया करके) कम करना चाहिये। भारत में धार्मिक विश्वास बस गौ बध और उनसे काम लेना अनुचित समझा जाता है। यद्यपि यह निर्देश वैदिक काल से ही पाया जाता है तथापि यह भी सत्य है कि स्मृतियों और प्राचीन महाकाव्यों में इस सम्बन्ध में धर्मशास्त्र सदृश मत नहीं मिलते। ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि उस काल में गौ बध भी होता था और उनसे श्रम-कार्य भी लिया जाता था। गाय की अक्षुण्यता उपादेयता सिद्धान्त पर आधारित प्रतीत होती है। आज इसी उपादेयता सिद्धान्त द्वारा गौबध और उनसे श्रम-कार्य लेने की बात उचित ठहरती है। भारत में सर्वप्रथम कमजोर और सूखे ढोरों को एक स्थान पर एकत्र करके अलग कर देना चाहिए। ऐसा प्रयोग उत्तर प्रदेशीय सरकार मथुरा के निकट कर रही है।

---

*इस सम्बन्ध में भारत सरकार के विशेषज्ञ डा० बर्न्स लिखित "भारत में कृषि विकास की तांत्रिक सम्भावनाएँ" शीर्षक रिपोर्ट (१९४४) उल्लेखनीय है। डा० बर्न्स ने यह बताया है कि उत्तम बीज और उत्तम खाद का उपयोग कर कीड़े तथा पौधों की बीमारियों को रोक कर और कृषि की उत्तम विधियों को अपना कर विभिन्न फसलों की प्रति एकड़ उपज कितने अनुपात में बढ़ाई जा सकती है।

कृषि-साख

हल और गन्ना पेरने की मशीन हमको पूंजी और कृषि-साख की समस्या की याद दिलाते हैं। इसका हमने अभी अध्ययन नहीं किया है। कृषि में पूंजी की उतनी ही आवश्यकता है जितनी व्यापार और उद्योग में। जिस प्रकार व्यापारी की सम्पूर्ण पूंजी निजी नहीं होती उसी प्रकार किसान भी अपनी खेती के व्यय अपने पैसों से नहीं कर पाता। उसको नकद और पदार्थों के रूप में ऋण लेना पड़ता है ताकि वह ढोर, औजार और खाद खरीद सके, भूमि में सुधार कर सके, अपने चालू व्यय कर सके, बुरे वर्ष में भी उत्पादन कार्य चालू रखे, और कभी कभी तेजी के समय अपनी फसल की बिक्री रोक सके।

कृषि और उद्योग में अन्तर होने के कारण कृषि-साख में कुछ विशेषताएँ अनिवार्य हैं। हम देख चुके हैं कि कृषि-कार्य की प्रकृति और समयावधि भिन्न होती है और लगी पूंजी पर प्रतिफल भी। कृषि वर्षा पर अधिक निर्भर है और इसमें उद्योग की भाँति किसी नियमित क्रम से कच्चे माल का स्थानांतरण नहीं होता है। कृषि पदार्थ काफी जल्दी नाशवान होते हैं। यद्यपि इतिहास बताता है कि उनमें से कुछ हजारों वर्ष तक सुरक्षित रखे जा सकते हैं, किसान को ऐसी सुरक्षा के उपाय उपलब्ध नहीं होते हैं। कृषि उत्पादन के ढंग भी सुगमता और तीव्रता से नहीं बदले जा सकते। । कुछ अपनी आदतों और कुछ कृषि की अनिश्चितता के कारण किसान अपनी द्रव्य-सम्बन्धी आवश्यकताओं का पूर्वानुमान नहीं लगा पाता।

अतः कृषि साख ऐसी हो कि (१) जहाँ तक चालू व्यय का सम्बन्ध है उसके लिए ऋण उत्पादन अवधि भर के लिए प्राप्त हो सके, (२) बैल, औजार आदि के क्रय हेतु कुछ वर्षों के लिए ऋण लिया जा सके और (३) भूमि खरीदने, उसमें दीर्घकालीन सुधार करने, कुआँ बनाने आदि के हेतु दीर्घकाल के लिए ऋण मिल सके। इसके अतिरिक्त कृषि-साख देने वाली आदर्श संस्था निम्नांकित विशेषताओं से युक्त होनी चाहिए :—

(१) कृषि-साख हर समय और बिना देर लगाए मिल सके।

(२) फसल बिगड़ने पर ऋण की अदायगी आगे के लिए टाली जा सके।

(३) साख संस्था के साधन नमनशील हों।

(४) साख संस्था ऋण लेने वालों के सम्बन्ध में आवश्यक बातों का आसानी से पता लगा सके।

(५) साख संस्था ऋण का उचित उपयोग करवा सके।

(६) साख संस्था किसान से ठीक समय पर (अर्थात् फसल बेच कर अथवा अन्य कहीं से उसके हाथ में रुपया आते ही) कड़ाई से ऋण और ब्याज की राशि वसूल कर ले।

व्यापारिक बैंक कृषि-साख नहीं देते। वे अपने द्रव्य का अन्य अधिक प्रतिफल वाले व्यापारिक तथा औद्योगिक क्षेत्रों में विनियोग कर सकते हैं। यही नहीं, यथार्थ में वे केवल व्यापार और उद्योग के मतलब के है। कृषि-साख की ओर से उनकी अरुचि के कई अन्य कारण भी हैं—यथा ऋण लेने वाले की साख का पता लगाने की कठिनाई; किसान द्वारा पर्याप्त जमानत देने और बंधक रखने की असमर्थता; मूल और ब्याज के समय पर लौटाने की अनिश्चितता, अतः बैंक की दृष्टि से द्रव्य फंस जाने का डर।

वर्तमान समय में किसानों के लिए आवश्यक कृषि-साख (वैत्तिक सुविधा) तीन प्रकार की हो सकती है। (१) कुछ वह जिसकी अदायगी की किसानों से आशा नहीं की जा सकती। (२) वह जिसकी किसान आंशिक अदायगी ही कर सकते हैं और (३) वह जो उचित व्याज सहित वसूल हो सकेगी।

आज कल तीसरे प्रकार के साख (या ऋण) की उपलब्धि पर अधिक जोर दिया जाता है। भारत ही नहीं, अन्य देशों में भी ऐसा ही होता है, परन्तु तथ्य यह है कि अनेकों कृषकों की आर्थिक दशा के पुनर्निमाण के लिए पहले दो प्रकार की वैत्तिक सुविधा की भी आवश्यकता है। उदाहरणार्थ, उत्तम बीज की पूर्ति के लिए पहले प्रकार की साख (या द्रव्य) उपलब्ध होना चाहिए। किसानों को उत्तम बीज निःशुल्क दिये जा सकते हैं यदि वे उन्हें अपने खेत में उगाने का बचन दें। दूसरी प्रकार की साख का उदाहरण है बीज, उपज और खाद रखने के लिए गोदाम बनाने हेतु आवश्यक साख। इसका एक अंश छोड़ दिया जाय और शेष कई वर्षों में किश्त पर वसूल किया जाय। गाँवों और प्रमुख मंडियों में गोदाम की सुविधा प्राप्त हो जाने पर किसान माँग और पूर्ति का समायोजन करके अधिक मूल्य प्राप्त कर सकता है। अधिक मूल्य का अर्थ है अधिक आय, और अधिक आय का अधिक देय-सामर्थ्य।

प्रथम दो प्रकार की साख की व्यवस्था राज्य को करनी चाहिए। सामान्यतः 'साख' शब्द से उपर्युक्त प्रथम दो अर्थ नहीं लगाये जाते। सामान्य अर्थ में साख केवल वह "वैत्तिक सहायता है जिसे कुछ व्याज सहित लौटाना पड़ता है।" शेष अध्याय में हम साख का यही अर्थ लगाएँगे। इस अर्थ में उसकी कुछ विशेषताएँ हैं जिनके कारण उसकी व्यवस्था विशिष्ट संस्थाओं द्वारा की जानी चाहिए। ये संस्थायें यथासंभव स्थानीय होनी चाहिए।

साख के साधन—भारत का उदाहरण लें, तो कृषि-साख के चार साधन हैं:—

(१) वैयक्तिक ऋणदाता जिसमें कुछ जमींदार और किसानों को भी गिन सकते हैं।

(२) सहकारी समितियाँ, जिनमें साख समितियाँ, भूमि बंधक बैंक, बिक्री समितियाँ और उत्पादक समितियां भी आ जाती हैं।

(३) बैंक (रिजर्व बैंक को लेकर)।

(४) राज्य।

इन सब में कुछ न कुछ दोष है: सभी की आलोचना की जाती है। तब भी इनको ही सुधार कर अथवा इनका ही कुछ रूप-परिवर्तन करके भावी कृषि-साख की व्यवस्था करना है। यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि साख की कितनी मात्रा आवश्यक है क्योंकि न तो कृषकों के उत्पादन-बजट ही प्राप्त हैं, न पुराने ऋणों की मात्रा और न विशेषतः वितरण का ही पूर्ण ज्ञान है।

कृषकों के ऊपर चढ़ा हुआ पुराना ऋण एक सीमा तक द्वितीय महायुद्ध और उसके बाद के ऊँचे भावों के कारण कम हो गया है। ठीक-ठीक तो नहीं कहा जा सकता परन्तु मद्रास की ऋण सम्बन्धी खोज तथा अन्य छुट पुट गांवों व प्रदेशों के कृषि ऋण सम्बन्धी अध्ययन से पता चलता है कि किसानों और भूमि-हीन कृषि-श्रमिकों के ऋण में वृद्धि हुई है। बड़े जमींदारों और बड़े किसानों (जिनके पास संभवतः बेचने को अनाज था) के ऋण

में अवश्य कमी हुई है। सन् १९३९ की तुलना में कुल प्रादेशिक और प्रति व्यक्ति कृषि-ऋण में अनुमानतः २० % की कमी हुई है। यदि वर्तमान रुपए की गिरी क्रय शक्ति को भी ध्यान में रखा जाय तो मद्रास में सन् १९३९ की अपेक्षा ऋण का वास्तविक भार चौथाई रह गया है।

अति सुन्दर ! परन्तु यदि तीन काम न किए गए तो यही स्थिति अत्यधिक वास्तविक भार वाली बन सकती है। प्रथम, कृषि में हानि न हो, द्वितीय, किसान पुनः महाजन का शिकार न बनने पाये, तृतीय, उसके पिछले ऋण का ऐसा प्रबन्ध हो कि उसकी स्वतः अदायगी हो जाये।

उपर्युक्त उपाय उन किसानों के लिए अधिक उपयुक्त हैं जिनके ऋण वास्तव में घट गए हैं। मद्रास, उत्तर प्रदेश गुजरात तथा बंगाल में हुए कृषि-ऋण सम्बन्धी अध्ययनों के अनुसार मध्यम और छोटे ज़मींदार और किसान अब भी ऋण-ग्रस्त हैं और छोटे किसान तथा कृषि-श्रमिकों के ऋण बढ़ गए हैं। ये दोनों वर्ग आसानी से जन संख्या के तृतीयांश या चतुर्थांश हैं। इनके लिए कृषि-साख की इतनी आवश्यकता नहीं है जितनी अधिक वृत्ति संबंधी सुविधाओं की। अवश्य, ग्रामों में अ-कृषि उद्योगों के संगठन के लिए साख की आवश्यकता पड़ेगी। हमको कृषि-साख की नहीं वरन् ग्रामीण साख की सुगम तथा पर्याप्त व्यवस्था करनी है।

उपर्युक्त कृषि-साख के चार साधनों के अतिरिक्त अब भारतीय कृषि वैत्तिक उपसमिति के सुझाव के अनुसार एक पाँचवा साधन कृषि वैत्तिक निगम (agricultural finance orporation) है। ये स्थापित किए जा सकते हैं परन्तु भारतीय सहकारी कार्यकर्त्ता इसका घोर विरोध करते हैं। उनका मत है कि कृषि वैत्तिक निगम को सरकार से जो सुविधाएँ और सहायताएँ मिलेंगी यदि वही सहकारी समितियों को मिल जाय तो वह अपेक्षाकृत कम व्यय करके उपयुक्त कृषि-साख का प्रबन्ध कर सकेगी। सहकारियों के इस मत में काफी सत्य है। बम्बई और मद्रास जैसे प्रदेश तो बिना 'निगम' के बहुत उन्नति कर सकते हैं। परन्तु उक्त उपसमिति की रिपोर्ट को ध्यान से पढ़ा जाए तो सहकारियों का विरोध घट जाएगा। अस्तु, सहकारी साख के ढांचे को सुदृढ़ बनाना है और वैयक्तिक महाजनों के लेन- देन का नियंत्रण करना है—विशेषतः उनके हिसाब-किताब तथा लेन-देन के ढंग और रीति का।

हम कृषि और ग्रामों के अर्थशास्त्र के ज्ञान के सम्बन्ध में मार्ग दर्शन हेतु बहुत कह चुके। अब हम औद्योगिक और शहरी आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में प्रकाश डालेंगे।

अध्याय २४

श्रम की समस्या

श्रम का प्रश्न, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही प्रकार से प्रथम महत्व का है। श्रम-समस्या के सही और न्यायपूर्ण हल पर ही मानव समाज का आर्थिक स्थायित्व और कल्याण निर्भर है। आधुनिक समाजों में जो आर्थिक स्तर-भेद हो गया है उसके विभिन्न वर्गों के बीच उचित और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना का प्रश्न ही इस समस्या का सार है। इस समस्या के उचित प्रगतिशील हल में ही संसार के राष्ट्रों के कौशल और आनन्द की वृद्धि निहित है।

श्रम की परिभाषा—यह समझ लेना चाहिए कि श्रम की धारणा सदियों के विकास के फलस्वरूप विस्तृत हो गई है। उत्पादन की विधि में परिवर्तन होने और उसके फलस्वरूप समाज के आर्थिक ढाँचे के बदलने के कारण 'श्रम' की सामाजिक स्थिति में भी परिवर्तन हुआ है। 'श्रम' के अर्थ के अन्तर्गत अब केवल शारीरिक श्रम ही नहीं बल्कि मानसिक श्रम भी (जब वह किसी प्रकार की आय की आशा से किया जाया है,) आता है। अपने काम के लिए हम डा० मार्शल द्वारा दी गई 'श्रम' की परिभाषा को मान सकते हैं। उनकी परिभाषा व्यापक है और उसमें श्रम के सभी तत्वों का समावेश है। डा० मार्शल के अनुसार "श्रम मस्तिष्क या शरीर का वह प्रयास है जो अंशत: या पूर्णत: किसी ऐसे लाभ की प्रत्याशा में किया गया हो जो इस प्रयास के करने मात्र से होने वाले सुख के अतिरिक्त हो।" अत: 'श्रम' के अन्तर्गत वे सभी शरीर या मस्तिष्क से काम करने वाले आ जाते हैं जो किसी वस्तु या धन के बदले में काम करते हैं। इस प्रकार श्रम का क्षेत्र भिन्नांग हो जाता है जिसमें जनता की विभिन्न श्रेणियों का समावेश है। उसमें वे सभी आते हैं जो कुछ पाने के बदले में किसी दूसरे की जगह काम करते हैं, चाहे वह मानसिक हो या शारीरिक। इस प्रकार श्रम की प्राचीन धारणा बिल्कुल बदल गई है। कुशल और निपुण कारीगर, मशीन चलाने वाले और कार्यालयों के पर्यवेक्षक तथा वेतन पानेवाले क्लर्क भी उसी प्रकार 'श्रम' के अङ्ग हैं जिस प्रकार कुशल, अर्ध-कुशल या साधारण श्रमिक।

समस्या का उद्भव—अधिकांश सामाजिक अनुसन्धानकर्ता 'श्रम' की समस्या को आधुनिक मानते हैं। उनके अनुसार इसका प्रारम्भ औद्योगिक क्रान्ति में हुआ। औद्योगिक क्रान्ति द्वारा जो उत्पादन की विधियों में परिवर्तन हुआ वह सबसे पहले ब्रिटेन में हुआ। किन्तु, वास्तव में, यह समस्या उतनी पुरानी है जितना कि वह समय जब मनुष्यों का सामूहिक जीवन उस स्थिति में पहुँच गया कि आर्थिक कार्यों के विशिष्टीकरण से आर्थिक हितों में परस्पर विरोध होने लगा। उत्पादन के क्रम में पूंजी पर जब से स्वामित्व स्थापित होने लगा तब से विनिमय और वितरण के क्षेत्रों में आर्थिक असमानताएँ प्रकट होने लगीं। दास-प्रथा जो कि मनुष्य की आदिम संस्थाओं में से एक है, श्रम की समस्या का आरम्भ मानी जा सकती है। प्राचीनकाल और मध्यकाल में हर प्रकार और हर अंश की दास प्रथा सामन्तवादी श्रम के रूप में प्रकट हुई। प्रत्येक प्रकार की भूमि-धारण प्रणली

के अन्तर्गत दासों, असामियों और स्वतन्त्र श्रमिकों पर भी निश्चित ढङ्ग के कर लगाए जाते थे। भू-क्षेत्रों (manor) के स्वामी अपनी ज़मीन पर बसे हुए श्रमिकों की विभिन्न श्रेणियों पर विभिन्न अंशों में अधिकार रखते थे। शिल्पी और कारीगरों का समाज में एक निश्चित स्थान था और उनको अपनी व्यवसायिक पंचायतों (guilds) के अनुसार अधिकार एवं पारिश्रमिक प्राप्त थे। इस प्रकार उनका आना-जाना, काम सीखना और पारिश्रमिक पाना सभी कुछ मध्य-युग तक उस्ताद-कारीगरों के निर्णय तथा पंचायतों के निर्णय के अनुसार होता था। वास्तव में दास और असामी आदि वर्तमान मज़दूर के ही प्रारम्भिक रूप हैं। फिर भी कुछ कारणों से हम श्रम के प्रश्न को अपेक्षाकृत आधुनिक भी मान सकते हैं। इसका प्रादुर्भाव औद्योगिक क्रान्ति के अनिवार्य परिणाम के रूप में हुआ था। औद्योगिक क्रान्ति की सबसे महान देन अर्थात् उत्पादन एवं विनिमय की विधियों में परिवर्तन के फल-स्वरूप मानव इतिहास का एक नवीन युग प्रारम्भ हुआ। 'श्रम' के क्षेत्र में खास तौर से एक नया युग आया। जल और कोयले की शक्ति-स्रोत के रूप में प्रतिष्ठा हो जाने के कारण मनुष्य की शारीरिक शक्ति औद्योगिक क्षेत्र में उतनी महत्त्व पूर्ण नहीं रह गई। प्रकृति में निहित शक्ति स्रोतों का पता लग जाने पर मानवीय श्रम शक्ति उसके समक्ष नगण्य हो गई। परिणामस्वरूप मानवीय श्रम के मूल्य और स्थिति की अवमानना हुई।

पूँजी के उपकरण—प्रकृति के नए खोजे हुए शक्ति स्रोतों के उचित उपयोग के लिए यान्त्रिक उपकरणों का होना नितान्त आवश्यक था। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि नए खोजे हुए शक्ति स्रोतों के वहन के लिए उत्पादन एवं यातायत के पूंजीवादी उपकरणों की नितान्त अवश्यकता थी। इस आधुनिक सामान और यन्त्रादि का मूल्य बहुत था, वे बहुत समय में बनकर तैयार होते थे, उनकी प्रयोग-अवधि अनिश्चित थी क्योंकि उनके शीघ्र ही अप्रचलित हो जाने का भय रहता था। इतना ही नहीं, उन्होंने औद्योगिक विकास की रेखाएँ भी निश्चित एवं निर्धारित कर दी थीं। इन आधुनिक उपकरणों को जुटाने के लिए बहुत आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी। उद्योगीकरण के विस्तार के साथ-साथ धन और पूँजी की माँग बढ़ी जिसके फलस्वरूप बैंकों तथा साख की वृद्धि हुई। साहसोद्यमियों और आधुनिक उद्योग के कर्णधारों द्वारा अपेक्षित द्रव्य प्रदान करने के लिए वित्त-गृह, दलाल, अन्तर्लेखक, चालक तथा हर प्रकार के सटोरिए उत्पन्न हो गए। द्रव्य-बाज़ार द्वारा उद्योगों में रुपया लगाना महत्वपूर्ण हो गया। धीरे-धीरे मालिक और निर्माता तक रुपया लगाने वालों पर निर्भर हो गए। साख देने वालों और उद्योगों में पूंजी लगाने वालों का व्यवसायों और औद्योगिक संस्थाओं पर नियन्त्रण के लिए आवश्यक हिस्सों पर अधिकार हो गया। संयुक्त-पूंजी प्रणाली और परिमित-दायित्व-सिद्धान्त के उदय के कारण स्वामित्व प्रसारित हो गया और प्रत्यक्ष प्रतिबन्ध का प्रचलन नहीं रह गया। इस प्रकार मिलें और खाने तथा अन्य उद्योग वैयक्तिक या पारिवारिक सम्पत्ति होने के स्थान पर अनेक हिस्सेदारों की सम्पत्ति बन गए। किसी व्यक्ति विशेष या निर्माता के परिवार के वैयक्तिक स्वामित्व के बजाय उद्योगों का स्वामित्व प्रबन्धकारिणी एजेंसियों (managing agency) संचालक-मण्डल (board of directors) ट्रस्ट और मूल्य संघ (cartels) आदि अवैयक्तिक संस्थाओं के नियन्त्रण में आ गया। इस कारण मज़दूरों और मालिकों में यान्त्रिक सम्बन्धों की स्थापना हुई। पुराने ज़माने के मज़दूर-मालिक के वैयक्तिक सम्बन्ध अवैयक्तिक हो गए। नव-निर्मित उद्योगों का एक मात्र कार्य लाभ कमाना

रह गया। उद्योगों का अमानवीकरण ही हमारे युग की सर्वव्यापी औद्योगिक अशान्ति के लिए उत्तर-दायी है।

मज़दूर का अमानवीकरण१-उद्योगों का यन्त्रीकरण हो जाने से न केवल मानवीय शक्ति की अवमानना हुई वरन् मानवीय कौशल और निपुणता की भी पूछ कम हो गई। मज़दूर यन्त्र के एक पुर्ज़े की भाँति होकर रह गया। उसकी दक्षता अब मशीनों ने ले ली। निर्माण और नेतृत्व की क्षमता उसमें न रही। आत्माभिव्यक्ति और आत्म-प्राप्ति के जो सुयोग उसे अयान्त्रिक उत्पादन में दैनिक कार्यों द्वारा मिलते थे, अब असम्भव हो गए१ शिल्पी को कला सृजन से प्राप्त आनंद, चाहे कला कितनी ही सामान्य क्यों न हो, अब अधिकांश श्रमिकों को प्राप्त न रही। उसका काम उसके कार्याधिकारी द्वारा नियत होने लगा। उसका यान्त्रिक प्रमापीकरण हो गया। मज़दूर का अमानवीकरण कर दिया गया। औद्योगिक क्रांति के इस परिणाम को आधुनिक श्रम-असंतोषके कारण के रूप में उसके अध्ययन करने वालों ने जितना महत्व दिया है, वह उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह सबसे बड़ा कारण हो सकता है। इसके कारण श्रम के द्वारा मानव चरित्र के विकास और प्रसार की सम्भावनाओं को गहरा धक्का पहुँचा। उत्पादन की मन उचटा देने वाली पुनरावृत्ति-पूर्ण प्रणाली को कार्यान्वित करने के लिए मज़दूरों को रखा जाने लगा। इस प्रकार मनुष्य और यंत्रका पारस्परिक संघर्ष प्रारम्भ हुआ। श्रम की बचत के आधुनिक उपाय जिनके उपयोग को विवेकीकरण भी कहा जाता है उसी संघर्ष के आधुनिकतम चरण हैं।

१ औद्योगिक क्रान्ति की दूसरी विशेषता यह थी कि पूँजीगत यंत्रादि को चलाने के लिए अधिक मज़दूरों की आवश्यकता हुई। प्रारम्भिक काल की उत्पादन विधि के अनुसार अधिक उत्पादन के लिए समूह वृत्ति आवश्यक थी। ऐसी दशा में मज़दूरों को मालिक नाम से नहीं वरन् संख्या से जानता था। पहले मज़दूर को मालिक लोग एक मनुष्य के रूप में जानते थे जिसके स्त्री, बच्चे आदि होते थे, अब वह केवल एक गणित की इकाई रह गया। मालिक और मज़दूर के सम्बन्धों की एक मात्र कड़ी द्रव्य रह गया। इस प्रकार प्रबन्धकों और मज़दूरों के बीच जो गहरी खाई खुद गई वही आज की श्रम समस्या का मूल कारण है। वैयक्तिक सम्बन्धों और स्वामिभक्ति का नाश हो गया। औद्योगिक जीवन का सहयोग समाप्त हो गया। एक ओर लाभ कमाने की लालसा और दूसरी ओर वर्ग-विद्वेष के कारण मालिक-मज़दूर के सम्बन्ध आमूल विषमय हो गए। निर्मम स्पर्धा शुरू हो गई। यह जिंदा रहने के लिए संघर्ष था। दुर्बल पराजित हुए, निराश्रित व कमज़ोर अपंग और नियुक्ति के अयोग्य मनुष्यों की विपत्ति बढ़ गई। पुराने तरीके सहयोग और नियम सब तिरस्कृत करके भुला दिए गए। समुदाय की भावना खो गई। मानव चरित्र की अहंवादी प्रवृत्तियाँ ही प्रधान रूप से प्रतिष्ठित हो गई। इसका अल्पाधिकृत वर्गों पर बड़ा बुरा असर पड़ा।

नागरिक और सामाजिक समस्याएँ—एक ही स्थान पर व्यक्तियों के विशाल समूहों के बसने की आवश्यकता के कारण गम्भीर नागरिक एवं सामाजिक समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। नवीन नगर व्यवस्था और स्वास्थ्य-रक्षा के सिद्धान्तों का तब तक विकास नहीं

हुआ था इसलिये औद्योगिक तथा खनिक नगरों तथा बन्दरगाहों के विकास के समय जन-स्वास्थ्य और सामूहिक जीवन की अवहेलना हो गई। इन नव निर्मित औद्योगिक नगरों में जब ग्रामीण जनता का आकस्मिक और अभूतपूर्व आगमन प्रारम्भ हुआ तो आधुनिक नागरिक जीवन की कुछ जटिल समस्याएं उठ खड़ी हुई। मजदूर बस्तियाँ बनीं जिनसे गन्दे, घिचपिच और सटे हुए मकानों की वृद्धि हुई। इस घिचपिच के कारण जिन सामाजिक अभिशापों का उदय हुआ उन्होंने नगरों के भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के तंतुओं को प्राणहीन कर दिया। पारिवारिक सम्बन्धों के शैथिल्य, बाल-मृत्यु की वृद्धि, गुप्त रोगों तथा क्षय सदृश संक्रामक रोगों के प्रसार के कारण मृत्यु बहुत होने लगी। जुआ, शराब, वेश्यागमन आदि की लते नवीन परिवर्तन-जन्य अभिशापों के उदाहरण हैं। ये अभिशाप नागरिक जीवन में शीघ्र औद्योगीकरण के कारण ही जन्मे हैं। इनके कारण सामाजिक समस्याओं का एक दल का दल उठ खड़ा हुआ है जिनका जनता से, विशेष कर औद्योगिक जनता से सीधा सम्बन्ध है। चाहे ये अभिशाप प्राचीन काल से ही चले आ रहे हों परन्तु उनका इस प्रकार केन्द्रीभूत हो जाना आधुनिक सभ्यता का ही अभिशाप है।

'करने दो' का सिद्धान्त—औद्योगिक क्रांति जन्य परिवर्तनों की हिमायत करने के लिए जो आर्थिक एवं दार्शनिक सिद्धान्त सम्मुख आए उनके कारण श्रमिक का स्थान पूर्ण-रूपेण अरक्षित हो गया। सामंत का हीन पंचायती व्यवस्था या पैरिशों के रीतिनीत प्रतिबन्ध के अन्तर्गत तो श्रमिक को कुछ सुविधाएं और सुरक्षाएँ भी थीं परन्तु इस नवीन वैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिक बिल्कुल बहिष्कृत और अरक्षित हो गया। व्यवहार और सिद्धान्त दोनों में विधान ने श्रमिक का स्थान 'अवस्था' (Status) से बदल कर इकरार का कर दिया। 'इकरार (Contract) का अधिकार' (Right of Contract) पास हो जाने के कारण एक महत्वपूर्ण वैधानिक क्रान्ति हो गई। इसके अनुसार श्रमिक को काम करने और स्थानान्तरण का अधिकार मिल गया और उसका सामाजिक स्तर पहले से ऊपर उठ गया। अब से विधान की दृष्टि में एक श्रमिक राज्य के किसी भी उच्च या निम्न नागरिक के समान ही स्वतन्त्र हो गया। व्यक्ति की गरिमा प्रतिष्ठित हो गई। इकरार के सिद्धान्त के अनुसार श्रमिक और मालिक की स्थिति समान हो गई। जैसे एक ही प्रहार से युगीन कड़ियाँ असमर्थतायें और गतिरोध चूर चूर हो गए। मनुष्यों के समूह के समूह जो अभी तक असामियों, दासों या सीमित अधिकार प्राप्त नागरिकों की भाँति थे, एकाएक सब समान स्थिति पर पहुँच गए। मनुष्य-मनुष्य के समानाधिकार (equal right of man as man) की प्राप्ति की महत्ता को किसी प्रकार घटाया नहीं जा सकता। परन्तु इस वैधानिक स्वतन्त्रता ने राजनीतिक जीवन में गम्भीर समस्यायें खड़ी कर दीं। इसका कारण यह है कि आर्थिक सामर्थ्य के अभाव में वैधानिक समानता केवल किताबी संतोष की चीज ही हो सकती है। वैधानिक समानता को यथार्थ रूप में परिणत करने के लिए कुछ आर्थिक सुरक्षा नितान्त आवश्यक है। उदाहरणार्थ, न्यायलयों में भी अमीरों के विरुद्ध गरीबों के अधिकारों की प्रतिष्ठा सुगमता-पूर्वक नहीं हो पाती। इस प्रकार की वैधानिक समानता मिथ्या या भयानक प्रवंचना बनी रह सकती है। इसमें कोई सन्देह है ही नहीं कि 'करने दो' (laissez-faire) और 'रहने दो' (laissez passer) के सिद्धान्त ने जनता में कटु असंतोष उत्पन्न किया है। इसने सामाजिक अंतर्विरोध को जन्म

दिया है और समाज की एकता एवं शांति में बाधा पहुँचाई है। फिर भी उस काल के दार्शनिकों और वैज्ञानिकों में व्यक्ति को कार्य करने की स्वतन्त्रता देने के प्रश्न पर विलक्षण मतैक्य रहा है। क्लासिकल अर्थशास्त्री दार्शनिक और वैज्ञानिक प्राकृतिक विधान में विश्वास करते थे। वे इस सिद्धान्त में विश्वास करते थे कि व्यक्ति को स्वार्थानुसार स्पर्धा द्वारा अपने गुणों का उचित प्रतिफल प्राप्त हो सकता है। आवश्यकताओं की पूर्ति इसी प्रकार हो सकती थी। किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप अप्राकृतिक माना जाता था। जो अयोग्य थे उनका निवारण कर दिया जाता था। उनके विचारों में दया और दान को कोई स्थान नहीं था। वे उन हस्तक्षेपों को प्रकृति की विभ्रम रहित प्रक्रिया में हस्तक्षेप के सदृश मानते थे। विधान का मौलिक सिद्धान्त था 'प्राकृतिक स्वाधीनता' जो प्राकृतिक व्यवस्था द्वारा कार्यान्वित होकर प्राकृतिक सामंजस्य में परिणत होती थी। इस विचार पद्धति के अनुसार सुविधा-बाधा रहित, स्वार्थ-साधन-रत व्यक्ति अनजाने ही समाज का भी भला करेगा। इस प्रकार व्यक्ति का हित समाज के हित से सम्बद्ध था। एक की प्राप्ति के साथ साथ दूसरा भी प्राप्त हो जाता था। 'अदृश्य हाथ (invisible hand) इसे प्राकृतिक प्रक्रियाओं द्वारा सम्पादित करता था। इस बौद्धिक निश्चय के फलस्वरूप मालिकों या श्रमिकों के स्वार्थों की वृद्धि के लिये बनाए गए समस्त संघों की निन्दा की गई। मालिकों या श्रमिकों के ऐसे समस्त सङ्घ प्रकृत नियम के अवरोध के समान माने गए। न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने के लिये 'करने दो' की नीति आधारभूत मानी गई। दार्शनिक विचारधारा के अनुसार यह व्यक्ति के भले के लिये ही था कि उसकी आर्थिक एवं सामाजिक कल्याण-प्राप्ति की चेष्टाओं में उसे कोई सहायता या सुरक्षा न प्रदान की जाय। उन्नति और विकास के लिए संघर्ष आवश्यक था। इस प्रकार वे सारे प्रयास जो पुराने नियमों, विधानों और रीति-रिवाजों के अनुसार श्रमिकों की ओर से न्याय और सुरक्षा प्राप्त करने के लिए होते थे, व्यर्थ करार दे दिए जाते थे। सामूहिक मोल-तोल के लिये संघों के निर्माण करने के समस्त प्रयास निर्दयतापूर्वक दबा दिए जाते थे। ऐसी समस्त सामूहिक क्रियाएं प्रकृति के नियमों के विरुद्ध मानी जाती थीं। यह विश्वास किया जाता था कि वे 'व्यापार पर नियन्त्रण' बन जाती थीं और इस प्रकार उनके कारण सामाजिक अहित होता था।

श्रम की चुनौती—विगत शताब्दी ने अपना निर्णय 'करने दो' सिद्धान्त के परिणामों के औचित्य के विरुद्ध दिया है। मानवतावादियों और क्रांतिवादी दर्शनिकों के सहयोग से श्रमिकों ने उस क्लासिकल सिद्धान्त की आधारभूत दृढ़ता को चुनौती दी। उनके अनुसार तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक ढाँचे में निर्बलों और अर्थशक्तिहीन व्यक्तियों या समूहों की सुरक्षा का भाव अंतर्निहित नहीं था। वित्त-स्रोत और पूँजीवादी नियन्त्रण केन्द्रित हो गए थे और बैंकों, ट्रस्टों और मूल्य-संघों द्वारा, जिन्हें सशक्त राजनीतिक दलों का सहयोग प्राप्त रहता था, उनका पालन होता था। ऐसे में निर्धन और बहिष्कृत व्यक्ति को अच्छा रोज़गार मिलने के लिए आवश्यक शिक्षा और ट्रेनिंग के सुयोग नहीं मिल पाते थे। क्लासिकल दार्शनिकों ने ऐसे सुयोगों की प्राप्ति को यों ही सम्भव मान लिया था। आर्थिक मन्दी (depression), सामूहिक बेरोजगारी और व्यवसायिक तथा अन्त: कालीन परिवर्तनों की अवस्था में अकेला व्यक्ति असहाय हो जाता था। उस दशा में वह अपने कर्तव्यमार्ग का उसी प्रकार निर्धारण कर सकता था जैसे तूफानी समुद्र में बिना

पतवार की नाव। आर्थिक व्यवस्था में एक आधार खोज लेने के लिए और अस्तित्व के संघर्ष में विजयी होने के लिए श्रमिकों के लिए सम्बद्ध हो जाना अनिवार्य हो गया। इस प्रकार श्रम-आन्दोलन का उदय हुआ। वर्षों के संघर्ष के उपरान्त इसने 'श्रम-संघ' को अपने संघर्ष का माध्यम बनाया। अब यह बहुत प्रभावपूर्ण हो गया है। श्रम-संघर्ष का उद्देश्य सामूहिक मोल-तोल का अधिकार रहा है। श्रम-संघर्ष केवल अधिक मजदूरी, काम की परिस्थितियों का सुधार, कार्य काल में कमी और जीवन को अच्छे स्तरों पर बिताने के लिए सुरक्षाओं को प्राप्त करने के लिए नहीं है। उसका उद्देश्य उद्योग व्यवस्था में सक्रिय सहयोग एवं अधिकार प्राप्त करना भी है। यह केवल श्रमिकों की रक्षार्थ कोई नकारात्मक माँगमात्र न होकर उनकी सामाजिक स्थिति और प्रतिष्ठा को ऊपर उठाने की माँग है। यह श्रम-समस्या का सार है।

अध्याय २५

श्रम-संघ

'अदृश्य हाथ'—श्रम को साधन मात्र न माना जाय इसलिए लगभग एक शताब्दी या उससे अधिक समय से यह स्थापना की जा रही है कि श्रम को सामूहिक मोल-तोल का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। मनुष्य-मनुष्य की पारस्परिक वैधानिक समानता के सिद्धान्त की स्थापना मानव-विकास के महत्वपूर्ण चरणों में से एक रही है। यह भी मानव-इतिहास के दुर्भाग्यों और विरोधाभासों में से एक रहा है जब यह सिद्धान्त नागरिक अधिकारों के आधार के रूप में स्वीकृत हुआ तब तक विशेषकर कम आमदनी वाले मनुष्य औद्योगिक क्रांति-जन्य निर्मम स्पर्द्धा और अन्य सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों के कारण बहुत पीड़ित हो चुके थे। सामन्तीय और व्यवसायिक पंचायतीय व्यवस्था के अन्याय और सामर्थ्यहीनता की चाहे जितनी निन्दा की जाय परन्तु इसका निर्देश अवश्य करना चाहिए कि उन्होंने जनता, विशेषकर शिल्पकार वर्ग को सुरक्षा प्रदान की। परन्तु व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उसकी पारस्परिक समानता के सिद्धान्त की स्थापना के बाद तो वह नई आर्थिक व्यवस्था में अपना स्थान खोजने के लिए केवल अपने निजी साधनों के साथ बिल्कुल अकेला रह गया। रक्षा और शरणप्रदान करने वाले पुराने विधान रद्द कर दिए गए। तत्कालीन राज्य व्यवस्था में उस विषय पर नवीन विधानों के निर्माण के प्रश्न पर कोई विचार तक नहीं हुआ था*। प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए अलग अलग लड़ना था। वैधानिक और नागरिक समानता का सिद्धान्त बड़ा जीवनदायी था और उसने सामाजिक तथा आर्थिक विकास में बड़ा सहयोग दिया। परन्तु जहाँ तक जनता का प्रश्न है उसे नवीन यान्त्रिक उत्पादन पद्धतियों का आविष्कार हो जाने के कारण अपने परम्परागत व्यवसायों (जैसे कृषि, शिल्प और दस्तकारी) से निर्ममतापूर्वक निकाल कर एक नितान्त असहाय अवस्था में छोड़ दिया गया। आर्थिक सामर्थ्य के अभाव में वैधानिक समानता उनके लिए व्यर्थ थी। निर्धन और बेरोजगार मजदूर जिसके सिर पर परिवार के पेट पालने का बोझ था केवल अपने वैयक्तिक मोल-तोल के बल पर अपार साधन सम्पन्न मालिक के सामने कितनी देर टिक सकता था? भुखमरी से बचने के लिए मजदूर को मजदूरी की दर, काम करने का समय और दशा मालिक की इच्छा के अनुसार स्वीकार करना पड़ता था। जहाँ पर भी कृषि-आर्थिक-दस्तकारी सभ्यता पर औद्योगीकरण हावी हुआ है वहाँ के इतिहास के पन्ने आदमियों, औरतों और बच्चों के क्लेशों की गाथाओं से काले हो गए हैं। जब तक उसके सार्थक बनाने का प्रयत्न न हो तब तक सिद्धान्त तक सीमित समानता कोरी प्रवंचना मात्र है। सामूहिक अधिकारों का आतंक इतना अधिक था कि प्रत्येक प्रकार के संघ या संयोजन (combination) को व्यापार पर नियंत्रण कह कर उनकी निन्दा की जाती थी और वे वैधानिक रूप से अस्वीकार्य थे। स्वाधीनता का सिद्धान्त और स्पर्धा की प्रक्रिया को प्राकृतिक माना जाता था। यह माना जाता था कि उनके द्वारा जीवन में मितव्ययता लाई जा सकती थी और यह कि उन्हीं के द्वारा समूह और व्यक्ति का संयुक्त कल्याण संभव था। प्राकृतिक व्यवस्था के दर्शन के अनुसार 'अदृश्य हाथ' ही व्यक्तिगत स्वार्थों का सामाजिक कल्याण के

*देखिए एच० सैमुएल्स की पुस्तक—द ला ऑव ट्रेड यूनियन्स।

साथ सामंजस्य स्थापित करा सकता था। परन्तु यह प्रक्रिया बड़ी ही दुखद थी क्योंकि मानव जीवन के रूप में इसका मूल्य अदा करना पड़ा।

सामूहिक मोल-तोल का अधिकार—मजदूरों तथा उनके विचारक तथा कर्मवीर शुभचिन्तकों ने धीरे धीरे यह अनुभव किया कि श्रमिकों को कुछ सामूहिक अधिकारों की आवश्यकता है। उन्होंने उनके सामूहिक मोल-तोल के अधिकार के लिए आन्दोलन किया। श्रम आन्दोलन के सिलसिले में संसार भर में लम्बे और कटु संघर्ष हुए। धीरे-धीरे मजदूरों को अपना यह आधारभूत अधिकार प्राप्त हो गया। इस अधिकार के अनुसार इस प्रचलन की छूट मिल गई कि मजदूर संघबद्ध होकर संयुक्त विचार विनिमय द्वारा इसका निर्णय कर लिया करें कि वे किन दशाओं में और कितनी मजदूरी पर काम करना पसन्द करेंगे। राज्य और मालिकों ने बहुत बेमन होकर इस सिद्धान्त को स्वीकार किया। परन्तु जनतन्त्र के सिद्धान्त, और स्वाधीनता की शक्तियों के विस्तार और व्यक्तियों तथा समूह के सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारों में समानता की दृष्टि के विकास के कारण सामूहिक मोल-तोल की प्रक्रिया को समस्त जनतंत्रवादी देशों ने आवश्यक स्वीकार कर लिया है। पिछले सालों में इस प्रक्रिया को संसार भर में व्यापक बना देने में अंतर्राष्ट्रीय श्रम-संघ ने महत्वपूर्ण योग दिया है। यह सिद्धान्त श्रम-संघों द्वारा कार्यान्वित होता है।

श्रम-संघ—कुछ सिद्धान्त जिनके अनुसार श्रम-संघों का निर्माण और काम होता है, अपने प्रयोगों की दृष्टि से बड़े व्यापक हैं। देश के औद्योगिक विकास के स्तर, शैक्षिक विकास तथा जनसाधारण की नागरिक चेतना को ध्यान में रखते हुए श्रम-संघों का निर्माण कुछ ऐसा होना चाहिए कि वे परिवर्तनों को सहज ही ग्रहण करके उनके अनुरूप बन सकें। मजदूरों के संगठन के अपरिवर्तनीय रूप के लिए किन्हीं रूढ़ नियमों की स्थापना नहीं की जा सकती। जो भी श्रम-संघ किसी जलवायु में अपने विशिष्ट आकार-प्रकार लेकर पनपेंगे उनमें उस देश के राष्ट्रीय इतिहास, देशी संगठनों, देश की आर्थिक दशा और राजनैतिक ढाँचे का बड़ा हाथ रहेगा। फिर भी मजदूरों के संगठनों में कुछ ऐसे आधारभूत तत्व हैं जो सब जगह समान रूप से पाये जाते हैं।

ऐच्छिक-सदस्यता-प्रणाली (open shop system)—ऐच्छिक-सदस्यता-प्रणाली श्रम-संघों के निर्माण की पहली शर्त है। अगर कोई मजदूर किसी प्रकार के संगठन में सम्मिलित नहीं होना चाहता तो उसे बाध्य न किया जाना चाहिए। मजदूर को इस सम्बन्ध में मत स्थिर करने के लिए पूर्ण संरक्षण मिलना चाहिए। यह ठीक है कि व्यक्तियों के अहंकार को अनवरुद्ध गति से बढ़ने न देना चाहिए परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें अपने व्यक्तिगत निर्णय से वंचित रखना भी अकल्याणकर है। अगर मजदूरों के कुछ समूह भी श्रम संघों के बाहर रहना चाहते हो तो उन्हें पूरी स्वतंत्रता रहनी चाहिए। यह जनतंत्र का मूल-भूत सिद्धान्त है। हाँ, अवश्य ही इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी समूह या व्यक्तिगत मजदूर ऐसा आचरण न करे जिससे उद्योग के अंतर्गत या बाहर के मजदूरों के महत्तर स्वार्थों को क्षति पहुँचे। मजदूरों में विभेद होने पर मालिक, राजनैतिक गुट, व्यक्तिगत महत्वाकाँक्षाएँ आदि मजदूर वर्ग के हितों के विरुद्ध अपना सिर उठा सकती हैं। काला-झंडा दिखाने की या ऐसी ही अन्य विभेदकारिणी कुचेष्टाओं का बहिष्कार करना चाहिए। मजदूर वर्ग की

सारभूत एकता का पालन अवश्य होना चाहिए। एक ही उद्योग या एक ही स्थान पर अनेक श्रम-संघों के निर्माण को बड़ी सावधानी से रोकना चाहिए। यह श्रम-संघ निर्माण के क्रम की एक कमज़ोरी है। विभिन्न मतों द्वारा प्रेरित अनेक मजदूर संगठनों का बनना अनिवार्य है। उनके न्याय-सम्मत विकास और अस्तित्व के लिए आवश्यक क्षेत्र प्राप्त होना चाहिए। राज्य को पूर्ण पक्षपातहीनता का व्यवहार करना चाहिए। जब तक श्रम-संघ विधान-सम्मत और राज्य के प्रति निष्ठावान रहते हैं उन्हें सरकार से किसी प्रकार का डर न होना चाहिए। राज्य को उलट देने सरीखी विद्रोहपूर्ण चेष्टाएँ वास्तव में सहन नहीं की जा सकतीं। जनतान्त्रिक राज्य में विधान, संविधान या सरकार को बदल देने का एक ही उपाय है और वह उपाय है जनसाधारण से अपील करना। राजनीतिक परिवर्तन करने के लिए संविधान द्वारा स्वीकृत साधनों का ही सहारा लिया जा सकता है। सरकार को बाध्य करने के लिए की गई व्यापक हड़ताल कभी भी विधान-सम्मत नहीं हो सकती। वास्तव में जहाँ तक सम्भव हो श्रम-संघ से कार्य-क्षेत्र को श्रम सम्बन्धी और अन्य तत्संबंधी विशिष्ट समस्याओं तक ही सीमित रखना चाहिए। राजनीतिक समस्याओं की परीक्षा, उन पर वाद-विवाद और निर्णय राजनीतिक संगठनों द्वारा होना चाहिए जो इसी काम के लिए बनाए जाते हैं। इसके लिए श्रम-संघ विधानों (trade union acts) में इसकी व्यवस्था है कि वे राजनीतिक उद्देश्यों के लिए अलग से धन एकत्र कर सकते हैं। सदस्यगण ऐसे चन्दे देने के विषय में पूर्णतः स्वाधीन रहते हैं*। यद्यपि कोई ऐसी स्पष्ट विभेद-रेखा नहीं खींची जा सकती तथापि विशिष्ट श्रम-सम्बन्धी तथा राजनीतिक राष्ट्रीय समस्याओं के अंतर को स्पष्ट रखना ही होगा। यह स्पष्टीकरण जितने सार्थक ढंग से किया जायगा श्रम-संघों को अपना लक्ष्य प्राप्त करने में उतनी ही सुविधा होगी। मालिकों से भी सब प्रकार के श्रम-संघों के निर्माण का पूरा सुयोग प्रदान करने की अपेक्षा की जानी चाहिए। यदि मालिक किसी दल विशेष द्वारा निर्मित श्रम-संघों को ही अपना सम्पर्क प्रदान करेंगे तो यह पक्षपातपूर्णहोगा। इस सिद्धान्त के अनुसार समाजवादी या साम्यवादी या अन्य किसी प्रकार के श्रम-संघ का किसी उद्योग या निर्माणशाला के अन्तर्गत संगठित होना रोका नहीं जा सकता। केवल विचारधारा के मतभेद के कारण सरकार या मालिक कोई भी इनके निवारण करने में न्याय-सम्मत नहीं हो सकता। श्रम-संघों के विरुद्ध तभी कार्रवाई की जा सकती है जब उनके कार्य विद्रोहात्मक हो उठें। ऐच्छिक सदस्यता के सिद्धान्त का पालन आधारभूत है। इसी प्रकार मजदूरों को भी इसका कोई अधिकार नहीं है कि जो मजदूर उनके संघ के सदस्य न हों उन्हें वे उस उद्योग से बहिष्कृत कर दें। उन्हें भी 'ऐच्छिक सदस्यता' के सिद्धान्त को उसी कड़ाई से मानना चाहिए जिस प्रकार वे चाहते हैं कि मालिक और उनके संगठन उक्त सिद्धान्त को मानें**। अगर यह मान लिया जाय कि श्रम-संघ केवल श्रम-सम्बन्धी मामलों को तय करने के लिए बनाए जाते हैं तब और प्रश्न उठने ही न

---

*इस दृष्टिकोण से बृटिश ट्रेड यूनियन ऐक्ट (१९२७) और ट्रेड डिस्प्यूट ऐक्ट (भारत १९४६) की तुलना किजिए।

**संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का लेबर मैनेजमेंट रिलेशंस ऐक्ट (१९४७) इस पर अधिक प्रकाश डालता है।

चाहिये। यह स्पष्टतः उचित है कि मालिकों से यह अपेक्षा की जाय कि वे समाजवादी या साम्यवादी श्रम-संघों को उनके राजनीतिक मतानुसार स्वीकृत करें। और यह भी पूर्णरूपेण उचित है कि एक मत माननेवाले मज़दूर किसी दूसरे मत के माननेवाले मजदूरों को अपने सहकर्मी मानें। अगर यह सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जाता और मालिक अनिवार्य सदस्यता के आधार पर स्वीकृति देते हैं तो इससे अंततः एक सबल और स्वतन्त्र श्रम-आन्दोलन के विकास को क्षति पहुँचेगी। ठीक इसी प्रकार, यदि मज़दूर किन्हीं विशेष संघों में सम्मिलित होने के लिए श्रम-संघों द्वारा बाध्य किए गए तो यह व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त का उल्लंघन होगा। संगठित श्रमशक्ति किसी राज्य के अंतर्गत जीवन-शक्ति के ही समान है। राज्य को श्रम के ऊपर एकाधिकार स्थापित करने से रोकना चाहिये। अगर ठीक तरह से रोक थाम न की जाय तो उद्योग में एकाधिकार जनता के लाभ पर आघात पहुँचाता है। यही बात श्रम के विषय में भी सत्य है। श्रम का बलप्रयोग भी उचित रोक थाम के अभाव में समाज के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है। संसार के विभिन्न देशों का श्रम-इतिहास अनैच्छिक-सदस्यता-प्रणाली (closed shop system) के दुष्परिणामों की अच्छी सीख देता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जाति, वर्ण, धर्म या लिंग किसी प्रकार का भेद श्रम-संघ संगठन के ऐच्छिक सदस्यता सिद्धान्त के पालन में हानिकारक है। विशेष दशाओं और परम्पराजन्य परिस्थितियों में संकुचित ढंग के श्रम-संघों का निर्माण सम्भव भी हो सकता है और समीचीन भी। परन्तु पूरे तौर से इस प्रकार के जाति-वर्ण पर आधारित श्रम-संघों का बनना असहनीय है। अधिक से अधिक वे कुछ समय के लिए केवल व्यवस्थात्मक आवश्यकताओं के कारण बने रह सकते हैं। उत्पादन में नवीन ढंगों के व्यवहार और युक्तीकरण (Rationalisation) के कारण अब मज़दूरों की नियुक्ति और उनका टिकना जाति वर्ण या लिंग पर निर्भर न रहकर उनकी कार्य-सामर्थ्य पर निर्भर रहता है। मालिकों का अपने देश-धर्म के लोगों के प्रति पक्षपात करना स्वाभाविक है। परन्तु इसी कारण दूसरे योग्य लोगों की वृत्ति का द्वार बन्द नहीं किया जा सकता। श्रम आन्दोलन और राज्य को इसका ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार के प्रतिबन्ध रोजगार की रोक बन जाएँ। नियम यह होना चाहिए कि श्रम-संघों की सदस्यता किन्हीं ऐसे भेदों द्वारा सीमित न हो। उद्योग में कुशल या अकुशल मज़दूर का स्थान उसकी निपुणता और योग्यता के अनुसार निर्धारित होना चाहिए। जनतंत्र की आत्मा के अनुसार कोई दूसरा दृष्टिकोण समर्थनीय नहीं है।

नेतृत्व—संसार भर में यह देखने में आया है कि अपनी प्रारंभिक अवस्थाओं में, जब श्रम-संघवाद पनप रहा था, श्रम-आन्दोलन का संचालन मजदूरों ने उतना नहीं किया जितना अन्य सामाजिक वर्ग वालों ने किया। ये लोग सामाजिक न्याय की सच्ची भावना से प्रेरित थे। वे प्रताड़ितों और अधिकारच्युतों की सहायता करने के लिए उत्सुक थे। श्रम-आन्दोलन को ऐसे निस्वार्थ व्यक्तियों का समर्थन न मिला होता तो श्रम-संघों का विकास, प्रसार और शक्ति संचय बहुत मंद हुआ होता। मुख्यतः गैर-मजदूर वर्ग ने ही श्रम-आन्दोलन का नेतृत्व किया। इसके विपरीत कुछ हो भी नहीं सकता था। परन्तु जैसे-जैसे शिक्षा और जानकारी बढ़ी

मज़दूर वर्ग अपने स्वत्वों के प्रति जागरूक हुआ और स्वयं अपना नेतृत्व करने की चेष्टा करने लगा। मालिकों की यह माँग कि नेतागण स्वयं मजदूर होने चाहिए, खोखली नहीं है। गैर-मजदूर वर्ग के नेतागण प्रायः यंत्रचालन की कठिनाइयों से उद्भूत झगड़ों की वास्तविकता से अनभिज्ञ होते हैं और इसीलिए वे जाने-अनजाने ऐसे प्रश्नों को खड़ा कर सकते हैं जो, सच पूछा जाय तो, श्रम-संघों के क्षेत्र से बाहर पड़ते हैं। वास्तव में कभी-कभी तो शुद्ध औद्योगिक प्रश्न भी राजनीतिक प्रश्नों से इतना अधिक सम्बद्ध होते हैं कि उन्हें जनता का समर्थन मिल जाता है। इस प्रकार के संघर्ष और हड़ताल श्रम-आन्दोलन के लिए अधिक सहायक नहीं हो सकते। जब देश पर विदेशी राजनीतिक शासन हो तब ऐसे संघर्षों से कुछ लाभ भी हो सकता है परन्तु सामान्य राष्ट्रीय राजसत्ता के अन्तर्गत जनतंत्रात्मक सरकार के शासन में ऐसी प्रक्रियाएँ हानिकारक ही होंगी। गैर-मज़दूर नेताओं ने मज़दूरों की स्मरणीय सेवाएँ की हैं। उन्होंने जो कुछ किया है वह भुलाया नहीं जा सकता परन्तु अब उनका काम पूरा हो गया है और अब उत्तरदायित्व दूसरों को मिलना चाहिए। हाँ, वे श्रम की उन्नति के लिए सलाहकारों या अनुसन्धानियों के रूप में अपना महत्वपूर्ण सहयोग दे सकते हैं। दूसरी तरफ यह भी सच है कि श्रम-संघों की अभी अपरिपक्वावस्था है इसलिए प्रायः मालिक लोग मज़दूर नेताओं को दबाकर रखने के लिए हर प्रकार के प्रयत्न करते हैं। इस देश में तथा अन्य देशों में भी उन्हें नीचा दिखाने के लिए प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से हर प्रकार के अत्याचार किए गए हैं। उन्हें संगठनच्युत कर देने के लिए तरह-तरह के लालच दिए गए हैं। परन्तु दृढ़ निश्चय और ईमानदारी के बल पर मज़दूर नेताओं ने श्रम-आन्दोलन को अमर सहयोग दिया है। अन्त में यह प्रश्न उठाना ही असंगत है कि श्रम-संघों का नेतृत्व मजदूरों के हाथों में आ जाना चाहिए। श्रम-आन्दोलन का सारा इतिहास, विशेषतया बृटिश श्रम का, इसी विकास क्रम पर आगे बढ़ा है। कोई कारण नहीं है कि भारतीय श्रम-आन्दोलन के विकास में इतिहास अपने को न दुहरावे। अगर प्रबन्धक-गण अपना दृष्टिकोण तर्क-सम्मत और सहानुभूतिपूर्ण बनाए रहें तो बहुत कुछ लड़ाई झगड़ा मिट सकता है। अच्छे और ईमानदार मालिकों ने इस दिशा में प्रशंसनीय कदम बढ़ाए हैं। मजदूर नेता विशिष्ट कठिनाइयों को गैर-मजदूर नेताओं से कहीं अच्छी तरह समझते हैं, इसलिए वे समस्याओं का सुलझाव सरलतापूर्वक किसी न्यायपूर्ण समझौते पर कर सकते हैं। दूसरी ओर इसमें भी सन्देह नहीं कि ऐसी दशा में जब हड़तालें होंगी तब वे अधिक भयंकर और लम्बी होंगी। मजदूर नेता इन चीजों का सामाजिक तथा राजनीतिक महत्व उतना ठीक नहीं समझ सकते जितना गैर-मज़दूर नेता समझ सकते हैं। जीवन के अनिवार्यतः सीमित अनुभव तथा दृष्टिकोण के कारण वे उन समस्याओं को, जो राज्य के सम्मुख उठ खड़ी होंगी, उतना ठीक-ठीक नहीं समझ सकते जितना ठीक तरह से गैर-मज़दूर नेता समझ सकते हैं। श्रम-संघ जनतंत्रात्मक रूप से कार्य करें तो आशा की जा सकती है कि मजदूर नेता अपने आप निर्वाचित होने लगें। चरित्रवान और कुशल स्त्री तथा पुरुष अच्छी संख्याओं में मिल सकते हैं। औद्योगिक संघर्ष काल में वे नेतृत्व का विकास करके सामने आ जाएँगे। वे न केवल श्रम-सम्बन्धी वरन सम्पूर्ण राष्ट्र सम्बन्धी समस्याओं पर मार्ग प्रदर्शन कर सकेंगे। राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिए उच्च स्तर के नेतृत्व की आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति करने से मज़दूर बर्ग की गौरव-वृद्धि होगी।

कार्य—सामूहिक मोल-तोल के उपायों के द्वारा प्रबन्धक वर्ग से श्रम-व्यवस्था सम्बन्धी अनेक समस्याओं पर विचार विनिमय करना और उनको सुलझाना श्रम-संघों का कार्य होगा। मज़दूरी का प्रश्न इन समस्याओं में सर्व प्रथम है, क्योंकि अन्ततः मज़दूरी ही मज़दूर की प्रमुख जीविका है। मज़दूरी के दर को घटा कर ही अधिकतर शोषण किया जाता है। नितान्त अकेला, अनभिज्ञ, और शक्तिहीन मज़दूर कटु स्पर्द्धा की दशा में मालिक से कम ही मोल-तोल कर सकता है। विशेष और असामान्य परिस्थितियों के अतिरिक्त सदैव ही मालिक विजयी रहता है और मज़दूरी की दर तथा वृत्ति की और शर्तें निर्धारित करता है। इस प्रकार निर्मम शोषण होने लगा है। अकुशल स्त्री और बच्चे मज़दूरों की नियुक्ति के सम्बन्ध में ऐसा विशेष रूप से हुआ है। सामूहिक मोल-तोल के कारण अधिकतर एकता, विकसित ज्ञान और श्रम में संगठन की शक्ति बढ़ जाने के कारण परिस्थितियाँ बदल कर यद्यपि बिल्कुल श्रम के अनुकूल तो नहीं हो गई है तब भी इसमें शक नहीं कि दोनों पक्ष कुछ समानता के स्तर पर आ गए हैं। काल या कार्य के आधार पर दर निश्चित करना कोई सरल कार्य नहीं है। नवीन उत्पादन पद्धति में मज़दूरी निश्चित करना एक बहुत विशिष्ट प्रक्रिया बन गया है। काम करने में जो दक्षता, कुशलता, मेहनत, समय और उत्तरदायित्व अपेक्षित होते हैं, मज़दूरी निश्चित करते समय उन सबों का ध्यान रखना ही चाहिए। समूचे श्रम-बाज़ार की या प्रदेश विशेष या उद्योग विशेष की सापेक्ष माँग का भी ध्यान रखना चाहिए। दूसरी ओर मानव आवश्यकताओं का भी ध्यान रखना चाहिए। निम्नतर या दलित वृत्तियों (sweated trades) के विषय में ऐसा करना विशेष रूप से आवश्यक है। रीति या परम्परागत मज़दूरी की दर इस दृष्टिकोण से अवश्य ही अच्छी रहती है कि उसके कारण मज़दूरी की दर एक निश्चित स्तर से नीचे नहीं गिरती। परन्तु दूसरी ओर यह कठिनता भी है कि उसके कारण मज़दूरी की दर में रूढ़ि आ जाती है और तब उन वृत्तियों में दर की अभिवृद्धि कठिन हो जाती है। रूढ़ि के कारण मज़दूरी की दर सुरक्षित भले ही हो जाय परन्तु उसकी लोच घट जाती है। कुशल उत्पादन के लिए श्रम को उचित मज़दूरी मिलना नितान्त आवश्यक है। इस आवश्यक दशा का पालन अवश्य होना चाहिए। जब तक मज़दूरी की दर इस दशा को नहीं प्राप्त कर लेती उत्पादन अवरुद्ध होता रहता है। यह बिना सुसंगठित श्रम के प्रयत्नों के सम्भव नहीं। इसी कारण से मज़दूर-संगठनों का समर्थन मज़दूरी की दर तय करने में विशेष रूप से सहायक होता है।

अन्य कार्य—मज़दूरी की समस्या के अतिरिक्त वृत्ति के और भी कई महत्वपूर्ण पहलू हैं। उदाहरणार्थ कार्य के घन्टों, कार्य की दशाओं और स्वास्थ्य तथा सुरक्षा साधनों के प्रदान के प्रश्न श्रम के लिए चरम महत्व के हैं। साधारण सुविधाएँ तथा अन्य आवश्यक दशाएँ भी महत्वपूर्ण हैं। आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इनका होना आवश्यक है। इनमें से अधिकांश उद्योगों की प्रकृति और प्रकार पर निर्भर होंगे। विशिष्ट जटिलताओं और उस ढंग की और कठिनाइयों का सम्यक अध्ययन करना होगा। वैत्तिक व्यय का अनुगणन करना होगा और उसके लिए उचित द्रव्य का प्रबन्ध करना होगा। खानों और यातायात जैसे उद्योगों का निर्माण इस प्रकार होना चाहिए कि उनमें सुरक्षा स्वास्थ्य और शौचादि के प्रबन्ध आदि की सुविधाएँ हों। इस प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बृटिश फैक्टरी ऐक्ट १६३७ में कुछ विशेष धाराएँ संयुक्त कर दी गईं और हमारे फैक्टरी

ऐक्ट १९४८ में भी ऐसा ही किया गया। वास्तव में यह माना जाने लगा है कि छोटे पैमाने के उद्योगों तथा कुटीर उद्योग-धंधों में भी इन आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाय। ऐसी जगहों पर अक्सर श्रम का बहुत शोषण होता है। इस प्रकार के उद्योगों में श्रम की दशा बहुत दयनीय है। सच पूछा जाए तो छोटे पैमाने के उद्योग और विशेषत: कुटीर उद्योग-धन्धे पूर्णता प्राप्त संस्थाएँ नहीं है जैसा कि कुछ लोग उन्हें समझते हैं। इसके विपरीत उद्योग के इस क्षेत्र में कार्य की दशाओं के कुछ हीनतम उदाहरण मिलते हैं। इन सब बातों की व्यवस्था करने के सम्बन्ध में यह अच्छा है कि श्रम की सलाह ले ली जाया करे। हो सकता है कि मज़दूर सब मामलों पर अपनी राय दे सकने के योग्य न हों फिर भी प्रत्येक दशा में वे प्रत्येक प्रश्न पर श्रम की प्रतिक्रिया तो प्रतिबिम्बित कर ही सकेंगे। इसी कारण कार्य-समितियाँ महत्वपूर्ण हैं। प्रबन्धकों के अधिनायकत्व की पुरानी परिपाटी अब लुप्त होती जा रही है। विवेकपूर्ण सहयोग ही अब नया रास्ता है। मज़दूरों का सहयोग मिल जाने पर उत्पादन की इच्छा बढ़ेगी और मज़दूरों में एक अनुशासन की भावना आ जाएगी।

संस्थेतर-विषय—गृह-प्रबन्ध, नागरिक सुविधाएँ और शिक्षा, संस्कृति तथा मन-बहलाव सम्बन्धी अन्य सेवाओं में तो यही अधिक अच्छा होगा कि मज़दूर मज़दूर की तरह नहीं वरन् सामान्य नागरिक के रूप में भाग लें। उन्हें समाज के अन्य सदस्यों के सदृश ही नागरिकता के अधिकार प्राप्त होने चाहिए। नागरिकता के क्षेत्र में जहाँ तक मज़दूरों की विशिष्ट सामूहिक समस्याओं का प्रश्न है, उनका अपना क्षेत्र होना चाहिए। परन्तु सम्पूर्ण राष्ट्र के नागरिक बोध के विकास के लिए, और मज़दूरों के हित के लिए भी, यह आवश्यक है कि इस अलगाव का यथा संभव निवारण किया जाय। ये संस्थेतर सेवाएँ प्रत्येक नागरिक के अधिकारों के अंतर्गत है और समाज में उसकी स्थिति पर निर्भर नहीं हैं। फिर भी मज़दूरों को ऐसे कार्यों के लिए शिक्षा तथा चिकित्सा जैसी नागरिक संस्थाओं में प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए। सार्थक-श्रम-प्रतिनिधित्व का परिणाम संतोषजनक ही सिद्ध होगा। इस दिशा में श्रम-संघ पर्याप्त सहायता कर सकते हैं। इसलिए उसका पुनर्संयोजन होना चाहिए। यह विचार पुराना हो चुका है कि श्रम केवल पाने के लिए है, देने के लिए नहीं। सामाजिक ढाँचा तेजी से बदल रहा है। नागरिक विषयों में श्रम की बहुमूल्य देनों की आशा है। श्रम-संघों के वे प्रश्न, जिनका उद्योग से सीधा सम्बन्ध है वहीं तक सीमित रहने चाहिए और उन पर उसी विशिष्ट दृष्टिकोण से विवाद होना चाहिए। अन्य प्रश्नों को इन श्रम-समस्याओं से अलग ही रखना चाहिए। यद्यपि जीवन एक ही होता है तथापि उसमें विभिन्न प्रकार के कार्य किए जाते हैं। इसी लिए यह विवेकपूर्ण ही होगा कि विभिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विशिष्ट संघों का संगठन हो।

श्रम-संघीय वित्त—श्रम संघ के मामलों का एक पहलू बहुत महत्वपूर्ण है—वैत्तिक। कुशल विशेषज्ञों का मत है कि जो श्रम-संघ वैत्तिक रूप से दुर्बल होते हैं वे कार्यक्षेत्र में कभी बलवान नहीं हो सकते। मोटे तौर पर इसे ठीक माना जा सकता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कम आमदनी वाले मजदूरों के श्रम-संघ उपादेय नहीं

हो सकते। यह व्यापक सत्य नहीं है कि उद्देश्य प्राप्ति में सफल होने के लिए श्रम-संघों का धनी होना नितान्त आवश्यक है। फ्रांसीसी श्रम-संघों का उदाहरण दिया जा सकता है। वैत्तिक रूप से वे अन्य देशों के श्रम-संगठनों की अपेक्षा कहीं अधिक असम्पन्न हैं। फिर भी वे मजदूर-वर्ग के अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ हैं। हो, सकता है। कि जीवन के स्तर की सुरक्षा करने के दृष्टिकोण से फ्रांसीसी श्रम-संघ अधिक महत्वपूर्ण न हों-परन्तु संघर्ष के क्षेत्र में वे अद्वितीय हैं। मात्र वैत्तिक शक्ति की अपेक्षा एकता, अनुशासन और नेतृत्व आधुनिक संगठनों के लिए कहीं अधिक आवश्यक हैं। यह भी याद रखना चाहिए कि आधुनिक सरकारें, अगर अभिप्रायों में नहीं तो सेवाओं के क्षेत्र में अवश्य हो, समाजवादी हैं। आज सरकारें बहुत-सी उन ज़रूरतों को पूरी करने का प्रयत्न कर रही हैं जिन्हें किसी समय श्रम-संघ पूरी करने का प्रयत्न करते थे। अनेक प्रकार की सामाजिक सहायता तथा सामाजिक बीमा की योजनाओं का प्रादुर्भाव हो गया है। उनके कारण मज़दूरों और उनके परिवारों को अनेक सुविधायें तथा सुरक्षायें प्राप्त हो गई हैं*। इसलिए आज के श्रम-संघों को अतीत की अपेक्षा कम वैत्तिक साधनों की आवश्यकता है। जब से बीमारी, बेरोज़गारी, वृद्धावस्था, दाह संस्कार, विधवाओं और अनाथों की व्यवस्था करने का भार सरकार ने अपना आधारभूत नागरिक उत्तरदायित्व मान कर, सामाजिक सुरक्षा योजनाओं के रूप में, अपने ऊपर ले लिया है तब से श्रम-संघों के ऊपर से उनकी व्यवस्था का भार हलका हो गया है। राजकीय-सामाजिक सुरक्षा सेवाएं इन सब का किसी न किसी प्रकार प्रबन्ध करती हैं। इस कारण से अल्पवित्त-श्रम-संघ कार्य क्षेत्र में असमर्थ नहीं रह जाते। अब जिन विशेष खर्चों के लिए श्रम-संघों को चन्दे की आवश्यकता होती है वे संगठन, कानूनी कार्रवाई और व्यवस्था सम्बन्धी होते हैं। सबसे अधिक खर्च हड़ताल के दिनों में मज़दूरी की व्यवस्था करने में होता है। इसके लिए हड़ताल-निधियाँ इकट्ठी की जाती हैं। यह खर्च सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसलिए श्रम-संघों के लिए वित्त-संग्रह का काम काफी महत्वपूर्ण है। इसके लिए चन्दा नियत किया जाता है। चन्दे की दर से भी अधिक महत्वपूर्ण उसकी समय पर वसूलयाबी का प्रश्न है। अधिकांश श्रम-संघों की वैत्तिक दुर्बलता के कारणों में चन्दा बाकी रह जाना प्रमुख है। निरन्तर और सुचारु रूप से चन्दा मिलते रहने पर कम-दर वाले श्रम-संघों की भी वित्त-शक्ति बढ़ सकती है। फिर भी श्रम के इतिहास में जो भी लम्बी लम्बी हड़तालें हुई हैं वे केवल उनकी आर्थिक सामर्थ्य के आधार पर नहीं, वरन् उन सिद्धान्तों की महानता के आधार पर हुई हैं जिनका प्रश्न उठाकर वे हड़तालें की गई थीं। हमारे देश में औद्योगिक संघर्ष के दिनों में मज़दूरों के लिए गाँव लौट जाना संभव है†। कभी कभी श्रम-संघों की सामर्थ्य से बाहर लम्बी अवधि की हड़तालों का यह भी एक कारण रहा है। श्रम-नेताओं ने औद्योगिक संघर्ष में इस उपाय को नीति की भाँति अपनाया है। फिर भी वित्त-शक्ति और चन्दे का सावधानी और ईमानदारी से प्रयोग करना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। ठीक ठीक हिसाब रखने और उसकी जाँच-परताल की भी व्यवस्था होनी चाहिए। हमारे देश में रजिस्टर्ड श्रम-संघ जाँच-परताल के विषय में सरकार से निःशुल्क

---

*देखिए सर विलियम बेवरेज की पुस्तक—पिनर्स ऑव सोशल सिक्योरिटी १९४३।

†देखिए श्रम पर भारतीय शाही कमीशन की रिपोर्ट।

सहायता प्राप्त कर सकते हैं।* आमदनी और खर्च की अच्छी तरह जाँच-परताल हो जाना हर प्रकार से वाँछनीय है। हर प्रकार के गबन को रोकना चाहिए क्योंकि ऐसा होने से जनसाधारण और विशेष रूप से मजदूरों के विश्वासों को बड़ा आघात पहुँचता है। वैत्तिक शुद्धता एक ऐसा उद्देश्य है जिसकी प्राप्ति का निरन्तर प्रयत्न होता रहना चाहिए। इससे संघों को शक्ति प्राप्ति होती है।

कार्य-समिति (Works Committee)—प्रबन्धकों और मजदूरों के बीच में समझौता करने के लिए जो सबसे महत्वपूर्ण कदम उठाया गया है वह कार्य-समितियों की उत्पत्ति है। इन समितियों में प्रबन्धकों और मजदूरों के प्रतिनिधि बराबर संख्या में होते हैं। विवादास्पद विषयों तथा अन्य समस्याओं पर विचार होता है। अनेक समस्याएँ, जिनकी परिणति या तो वार्ताओं के भंग हो जाने में होती या प्रकट संघर्ष में, अब कार्य-समितियों की सहायता से शांतिपूर्वक हल कर ली जाती हैं। कार्य-समितियों का निर्माण कोई आकस्मिक घटना नहीं है। इसके लिए लम्बे और कठोर संघर्ष हुए हैं। समिति-प्रणाली में भी काल-गत परिवर्तन हुए हैं। पहले जब हड़तालें बिल्कुल होने वाली होती थीं या हो जाती थीं तभी समस्या कार्य-समितियों के सम्मुख आती थी। अब ऐसा है कि लड़ाई झगड़ा हो चाहे न हो, कार्य-समिति की बैठकें नियमानुसार होती रहती हैं। बहुत सी समस्याओं पर तो सामान्य कार्य-क्रम के अन्तर्गत ही विचार होता है। पहले केवल मजदूरी के प्रश्न पर ही पारस्परिक विचार विनिमय होता था तथा उद्योगों से सम्बन्धित अन्य विषय संयुक्त विचार विनिमय से बहिष्कृत थे। परन्तु वर्तमान प्रवृत्ति विषयों के क्षेत्र को अधिक से अधिक करने की है। यह मानना होगा कि इस दिशा में एकरूप या व्यापक प्रगति नहीं हुई है और इसे एक मान्य परम्परा बनने में अभी विलम्ब है। प्रबन्धकगण और श्रम को अभी भी पारस्परिक सहिष्णुता और सहानुभूति उत्पन्न करनी है। और यह अभ्यास द्वारा ही सम्भव है। तांत्रिक विधियां, उत्पादन की प्रक्रियाएँ, माल की बचत, गुण और परिमाण की अभिवृद्धि, वैत्तिक समस्याओं पर विचार विनिमय, क्रय-विक्रय के प्रश्न और कमीशन आदि के नियमों पर धीरे धीरे संयुक्त रूप से विचार किया जाएगा। पारस्परिक विश्वास की उत्पत्ति और अनुभव धीरे धीरे इन उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक होंगे। इस प्रकार बड़ी सद्भावना उत्पन्न की जा सकती है। फिर भी यह आशा करना व्यर्थ है कि श्रम से सब प्रश्नों पर समान रूप से मूल्यवान सम्मति प्राप्त हो सकती है।

हड़ताल का अधिकार—क्योंकि यह आशा नहीं की जा सकती कि इन समितियों में प्रत्येक प्रश्न और विचारधारा को प्रश्रय प्राप्त हो सकेगा, इसलिये वर्षों के प्रयत्नों के बाद विधान द्वारा औद्योगिक शान्ति के विकास के लिये व्यवस्था की गई है। समझौता-समितियों (conciliation committees) पंचायती बोर्ड (arbitration boards) और औद्योगिक न्यायालयों (industrial courts) का इसीलिए निर्माण हुआ है। इन्होंने बहुमूल्य कार्य किया है। इस तरह श्रम और प्रबन्धक वर्ग दोनों ही भारी नुकसान से बच गए हैं। औद्योगिक शांति को प्रोत्साहन देने की प्रवृत्ति को उत्पन्न करना इससे भी अधिक सार्थक सिद्ध हुआ है। इस प्रकार उच्च वर्गों और जनसाधारण में अधिक से अधिक सामंजस्य लाने की सम्भावनाएँ बढ़ गई हैं। परन्तु फिर भी तथ्यों का सामना करना ही होगा और यथार्थ को स्वीकार करना ही पड़ेगा। मजदूरों और प्रबन्धकों के बीच सभी प्रकार के

---

*देखिए इंडियन ट्रेड यूनियन ऐक्ट, १९२६ तथा १९४७।

लड़ाई-झगड़े, संघर्ष और गलतफहमियाँ होती ही रहेंगी। बहुत से जटिल प्रश्न उठेंगे, और प्रत्यक्ष संघर्ष अनिवार्य हो जायगा। औद्योगिक संघर्ष से भिन्न, प्रतिष्ठा का प्रश्न भी किसी तरफ से उठ खड़ा हो सकता है। ऐसे में समझौता टेढ़ी खीर हो जायगा और इसका स्वाभाविक फल होगा—प्रकट संघर्ष। यह समय समय पर अनिवार्यतः होता रहता है। तालेबन्दी या हड़ताल शक्ति प्रदर्शन के ही प्रकार हैं। परन्तु जब विवेक असफल रह जाता है तब पाशव शक्ति का उदय होता है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है। परन्तु कभी कभी यह भुला दिया जाता है कि पशु भी उसी के अन्दर छिपा रहता है, और अक्सर उसकी अभिव्यक्ति होती है। ऐसी भावी दैवी का सामना करना ही पड़ता है। स्वतन्त्र देश में हड़ताल और तालेबन्दी के अधिकार की अवश्य ही रक्षा होनी चाहिए, अन्यथा आवश्यक स्वाधीनता समाप्त हो जायगी। सिर्फ सर्ववादी राज्य में ऐसी स्वाधीनता अमान्य हो सकती है। कभी-कभी राष्ट्रों के विपत्ति काल में भी ऐसी स्वाधीनता को कम कर देना आवश्यक हो सकता है। ऐसी स्थितियों में राष्ट्रीय सुरक्षा को मुख्य और औद्योगिक झगड़ों को गौण स्थान प्राप्त होना चाहिए। वैसे सामान्य काल में हड़ताल और तालेबन्दी के अधिकार बने रहने चाहिए। ऐसी दशा में जब समझौते के सभी वैयक्तिक या सार्वजनिक रूप से किए गए प्रयत्न निष्फल हो गए हों तब प्रत्यक्ष औद्योगिक संघर्ष का भी अधिकार होना चाहिए। यह संघर्ष विधान द्वारा स्वीकृत सीमाओं के अन्तर्गत ही रहना चाहिए। औद्योगिक संघर्ष गृह-युद्ध या वर्ग-युद्ध के कारण न बनने चाहिए। उन्हें राजनीतिक क्रान्ति का हथियार भी न बनाना चाहिए। औद्योगिक संघर्षों को राजनैतिक संघर्षों का रूप न ले लेना चाहिए क्योंकि ऐसा होने से राजसत्ता खतरे में पड़ जायगी। विदेशी राजनीतिक शक्तियों को राजसत्ता हड़पने का अवसर मिलेगा। राजनीतिक प्रश्नों पर वैधानिक ढंग से लड़ाई होनी चाहिए। औद्योगिक संघर्ष के समय भी सभाएँ बनाकर जनोपयोगी और आवश्यक सेवाओं को यथावत् बनाए रखना चाहिए। जन-रक्षा और जन-स्वास्थ्य खतरे में न पड़ने चाहिए। मशीन या और सामान को तोड़ना फोड़ना राष्ट्र-विरोधी कार्य मानना चाहिए। मशीनों और उनके पुर्जों की रक्षा होनी चाहिए। इस काम के लिए जो चौकीदार (Safety men) नियुक्त होते हैं उनको अपना काम करते रहने देना चाहिए। श्रम-संघों को ऐसी परम्परा बनानी चाहिए। बहुत से देशों में ऐसा व्यवहार रूढ़ रूप से स्वीकृत है।

मत-दान—इन सबके लिए यह आवश्यक है कि एक सर्व-स्वीकृत कार्यप्रणाली मान ली जाए। हड़ताल और तालेबन्दी महँगी चीजें हैं। मजदूरों को केवल मजदूरी या हड़ताल-निधि (Strike fund) का ही नुकसान नहीं होता वरन् उनको व्यक्तिगत नुकसान भी होते हैं। मालिकों को भी बहुत नुकसान होता है। आमदनी खत्म हो जाती है; खर्च बना रहता है। प्रायः समझौते की शर्तों में यह भी सम्मिलित रहता है कि मालिक लोग हड़ताल के समय की मजदूरी भी दें। इस नुकसान के अलावा यह भी हो सकता है कि मालिकों के हाथ से स्वदेशी और विदेशी बाज़ार निकल जाएँ। अगर हड़तालें आए दिन होती रहें तो विदेशी माँग निश्चित रूप से कम हो जायगी। माँग की कमी के कारण उत्पादन पर भी नियन्त्रण अधिक हो जाएगा। इसका असर वृत्ति पर पड़ेगा और अंततः मजदूरों की ही हानि होगी। यह भी स्मरणीय है कि हड़तालों द्वारा जनसाधारण को जो परोक्ष रूप से असुविधाएँ होंगी वे कम नहीं होंगी। अगर रेल जैसे जनोपयोगी उद्योग या कोयले की खान जैसे

आधारभूत उद्योग (Key industry) में हड़ताल होती है तब तो जनसाधारण को बहुत अधिक असुविधा और हानि होगी। राज्य का भी नुकसान होगा क्योंकि आय-कर तथा आमदनी के और स्रोत कम हो जाएँगे और जनता में जिस रोष का संचार होगा उसका ठीक-ठीक अनुमान करना कठिन है।

इसलिए यह परम आवश्यक है कि झगड़े तय करने के लिए हड़तालों और तालेबन्दियों का प्रयोग सबसे अंत में ही किया जाय। ऐसे में मतदान को किसी भी मूल्य पर गुप्त रखना चाहिए। हड़ताल के पक्ष या विपक्ष में समस्त मजदूरों का निर्णय लेने के लिए केवल मत-दान प्रणाली को ही अपनाना चाहिए। हाथ उठाकर निर्णय करने वाली शुद्ध जनतांत्रिक प्रणाली आज के जन-सहभागिता के ुग में अनुपयुक्त है। हाथ उठाने की प्रणाली कुछ उतनी स्वतंत्रतापूर्ण है भी नहीं जितना कुछ राजनीतिज्ञों का मत है। वैयक्तिक प्रभुता, और गुटबन्दी या पार्टीबन्दी आदि ऐसे संघर्षों में बरबस प्रवेश पा लेती है। इसलिये एक साधारण मज़दूर को अपने मताधिकार का उपयोग करने के लिए सुरक्षा प्राप्त होनी चाहिए। स्वतंत्र निर्णय के लिए मतदान का उपयोग बहुत आवश्यक है। विवादास्पद विषयों का स्पष्ट निर्देश और सम्यक् प्रचार होना चाहिए। विषय को भली-भांति समझ लेने के लिए पर्याप्त समय भी मिलना चाहिए। श्रम-संघ, श्रम-आन्दोलन और जनतांत्रिक सरकारें अगर मत-दान का उपयोग नहीं करती हैं तो उनका नाश सूर्यास्त के बाद होने वाले अंधकार की भाँति ही निश्चित है; क्योंकि केवल इसी उपाय द्वारा जनसाधारण की अनुमति का पता लग सकता है। श्रम-संघवादियों के लिए यह सर्वाधिक सुरक्षित मार्ग है। सदस्यों की निष्ठा पाने के लिए कोई भी और ऐसा उपाय नहीं है जो इस उपाय की अपेक्षा भ्रष्टाचार से अधिक दूर हो।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क—राष्ट्रों के आर्थिक कार्यों के बढ़ते हुए संघटन के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क बहुत महत्वपूर्ण हैं। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सहयोग द्वारा बहुत रचनात्मक कार्य हो सकता है तथा बहुत से अच्छे कामों को प्रोत्साहन मिल सकता है। इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सहकारिता प्रत्येक देश के मजदूरों का हित करेगी। ऐसे अधिकाधिक सहयोग की आवश्यकता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (International Labour Office), उसके सचिवालय तथा सभाओं ने इस दिशा में बहुत कुछ कर लिया है। यह महत्वपूर्ण है कि श्रम का दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय रहता है। अगर भविष्य में विश्व संघर्षों को शांतिपूर्ण एवं विवेकपूर्ण ढंग से समाप्त करना है तो श्रम को उसमें अपना महान योग देना होगा। परन्तु इन समस्त सहयोगों के होते हुए राष्ट्र के प्रति निष्ठा बनी रहनी चाहिए। यह कोई मामूली शर्त नहीं है। बहुधा राष्ट्रीय नीतियाँ अन्तर्राष्ट्रीय न्याय संहिता के विरुद्ध हो सकती हैं। ऐसी दशा में जो राजनीतिक प्रश्न खड़े हों उनकी सम्यक् परीक्षा और उन पर निर्णय देने के लिए समर्थ राष्ट्रीय अधिकारी-वर्ग या विश्व-संगठनों की शरण लेनी चाहिए।

अध्याय २६

न्यूनतम मजदूरी

मजदूरी की समस्याएँ—प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में मजदूरी निश्चित करने की समस्या चरम महत्व की होती है। आधुनिक साम्यवाद की ही भाँति पुरातन समाजों में मनुष्यों को सामाजिक आय में से अपना भाग किन्हीं निश्चित आधारभूत सिद्धान्तों के अनुसार ही प्राप्त होता था। प्राप्त भाग या तो कार्य के अनुसार होता था, या प्राप्तकर्ता की सामाजिक स्थिति के अनुसार। इस प्रकार एक ओर मानव-आवश्यकताएँ और दूसरी ओर कृत सेवा का मूल्य इन्हीं दो प्रधान सिद्धान्तों के आधार पर अतीत काल से पारिश्रमिक देने की प्रणाली का निर्माण हुआ है। मजदूरी देने के ढंगों और उपायों का निर्माण करने में परम्पराओं और प्रचलनों का भी काफी हाथ रहा है। प्रचलित भुगतान सुरक्षा प्रदान करते हैं। जैसा कि मुख्यतः सभी ग्रामीण क्षेत्रों मे रहा है, यदि भुगतान वस्तु रूप में होता है तो उससे रहन-सहन के स्तर को स्थायित्व प्राप्त होता है। मजदूरी का एक महत्वपूर्ण अंश अन्न तथा जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुओं के रूप में हिसाब लगाकर दे दिया जाता था। मूल्यों या माँग और पूर्ति के उतार-चढ़ाव मजदूरियों के इन प्रचलित मानों पर कोई प्रभाव नहीं डालते थे। इस प्रकार पारिश्रमिक देने के परम्परागत ढंगों में काफी स्थायित्व आ जाता था।* परन्तु इसके कारण विकास में बाधा भी पड़ती थी। किसी भी लागत-मूल्य सम्बन्ध में पारिश्रमिक की दर को बदलना संभव नहीं था। प्रोत्साहन था ही नहीं। ऐसी आर्थिक व्यवस्था में हर एक गुट जिस सम्प्रदाय में रहता था उसी में बना रहता था। आर्थिक जीवन स्थैतिक हो जाता था। रहन-सहन के स्तर की रक्षा और साथ ही साथ उसके विकास के लिए पारिश्रमिक-प्रणाली में स्थैतिकता और नमनशीलता (flexibility) दोनों ही वांछित हैं। समस्या बहुत जटिल है। कुछ दृष्टिकोणों से यह आर्थिक विवाद का केन्द्रीभूत प्रश्न है।

निर्मम स्पर्धा—परम्पराओं के विघटन और औद्योगिक क्रांति के बाद आदमी, औरत, बच्चे सभी अपना आर्थिक स्तर ढूँढने के लिए निर्बाध होगए। पूँजी- वादी स्पर्धामूलक अर्थ-व्यवस्था में उन्हें अपना रास्ता खुद निकालना था। परम्पराओं ने उन्हें कोई संरक्षण नहीं दिया। कृषि और औद्योगिक क्रांतिजन्य कारणों से ब्रिटेन में श्रम की उपलब्धि इतनी बढ़ गई कि औसत मजदूरी केवल मुँह-पेट भर के लिए रह गई। औरतें और बच्चे वयस्क पुरुषों के विरुद्ध प्रत्यक्ष स्पर्धा में आए, इससे दशा और भी खराब हुई। उत्पादन के नए साधनों, प्रणालियों और यंत्रों के आविष्कार के कारण कुशल शिल्पी और निपुण कारीगर अपनी परम्परागत रोजी खो बैठे और बेकाम हो गए।† नव-निर्मित यन्त्रों को चलाने के लिए औरतें और लड़के मर्दों से अधिक उपयुक्त सिद्ध हुए। इस विस्थापन के परिणामस्वरूप भयानक बेकारी फैली। शोषण सर्व-व्यापी

---

*रूरल वेजेज इन द यूनाइटेड प्राविंसेज—एस० सी० चतुर्वेदी, १९४७।

†द ग्रोथ ऑव इंग्लिश इंडस्ट्री एंड कामर्स—विलियम कनिंहम।

हो गया और विपत्ति चारों ओर फैलने लगी। मज़दूर मुट्ठी भर दानों के लिए मरने लगे। बच्चों के लिए भी काम के घंटे बारह-सोलह से कम नहीं थे। उपनिवेशों तथा संसार के अन्य अविकसित भागों में भी पुराने शिल्पियों के अपने परम्परागत पेशों से विस्थापित होने पर यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हुई है। संसार के सशक्त और औद्योगिक देशों ने उपनिवेशों के बाज़ारों में अपनी चीज़ों की भरमार कर दी और घरेलू कारीगरों की रोज़ी छिन गई। इस प्रकार ये देश उन्नत देशों की राजनीतिक नहीं तो आर्थिक प्रभुता के अन्तर्गत आ गए। उनकी आन्तरिक अर्थ-व्यवस्थाएँ पूरी तरह से उजड़ गईं। वास्तव में इन देशों में पाश्चात्य देशों की भाँति पुराने व्यापारों की जगह नए उद्योगों तथा व्यवसायों का उदय नहीं हुआ और पूरी जनता को भूमि पर ही आश्रित होना पड़ा*। इसके परिणाम बड़े भयानक हुए। मज़दूरी की दरें तथा दशाएँ बुरी तरह नीचे गिर गईं। पतन की कोई भी सीमाएँ जानी या मानी नहीं गईं†। माल्थस के जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त चरितार्थ होने लगे। बच्चों और जवानों की भी मृत्यु-दर बढ़ चली। जीवन की भयानक क्षति हुई। जब श्रम को सामूहिक मोल-तोल का अधिकार प्राप्त हुआ और सुव्यवस्थित और सुसंगठित श्रम-संघों का विकास हुआ तभी वृत्ति की शर्तों और मज़दूरी की दरों में सुधार दिखाई दिया।

राज्य का हस्तक्षेप—धीरे-धीरे जनता की भावनाएँ और सामाजिक न्याय के आदर्श अपना पैर जमाने लगे। यह अनुभव किया जाने लगा कि उद्योगों के एक विशिष्ट प्रकार के ढाँचे और विशिष्ट वैत्तिक संगठन होने के कारण श्रमिक वर्ग को उनमें फलने-फूलने को अधिक अवसर नहीं रह गया। यह भी अनुभव किया गया कि उक्त बात अस्थायी तथा अल्पाधिकारी वर्गों के लिये और भी अधिक सच थी। यह विचार किया गया कि श्रम-संघों के बावजूद समाज का प्रतिनिधि होने के नाते राज्य को मज़दूरों को सामाजिक न्याय दिलाने के लिये हस्तक्षेप अवश्य करना चाहिये। राज्य को देखना चाहिये कि सभी मज़दूर विशेषकर असंगठित उद्योगों के मज़दूर वृत्ति की दशाओं और शर्तों का निश्चय करने में उचित सहायता पाते हैं। इस प्रकार न्यूनतम मज़दूरी के विचार का उदय हुआ। उसका ध्येय यह है कि एक ऐसी मज़दूरी की दर हो जो कम से कम मज़दूर-वर्ग के प्रचलित जीवन-स्तर को चलाने के लिये काफी हो। यह प्रक्रिया धीरे धीरे किन्हीं विशेष उद्योगों में शुरू हुई और इसे क्रमशः संसार के कुछ देशों ने स्वीकार किया। ✓

मजदूरी का लौह-सिद्धान्त—यह स्मरणीय है कि स्पर्धा-प्रणाली में मज़दूर की मज़दूरी की दर उसके कार्य के मूल्य तक ही हो सकती है। यह मज़दूरी उसे वस्तुओं या द्रव्य के रूप में प्राप्त हो सकती है। मज़दूरी की दर भी स्थान और काल द्वारा नियमित किन्हीं दी हुई दशाओं में विवेक और स्वाधीनता के साथ माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार निश्चित होती है। माँग और पूर्ति दोनों ओर की सारी शक्तियों का संघर्ष मज़दूरी की दर निश्चित होने के समय तक हो चुका हुआ मान लिया जाता है। यह स्थायी संस्थिति का विन्दु कहा जा सकता है। इस विन्दु से ऊपर या नीचे किसी ओर का विलचन माँग और पूर्ति की स्वाधीन शक्तियों द्वारा ठीक हो जाता है। उस मज़दूरी की दर पर निश्चित एक प्रकार के मज़दूरों की निश्चित संख्या को काम देने के प्रसंग

---

*पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया -दादाभाई नौरोजी।

†द इंग्लिश स्टेट्यूट ऑव लेबरर्स १५४९ और स्टेट्यूट ऑव अप्रेंटिसेज़ १५६२ खत्म कर दी गई।

में मालिक के लिए यह सीमान्त औचित्य का विन्दु है। दूसरे शब्दों में पारिश्रमिक की दर, श्रम की सीमान्त उत्पादकता द्वारा निश्चित होती है। सिद्धान्ततः पारिश्रमिक-निश्चय के एक सन्तोषजनक स्पष्टीकरण के रूप में यह विश्लेषण विवेकपूर्ण है परन्तु वास्तविक संसार में अनेक बाधाओं के कारण ये प्रवृत्तियाँ पूर्णता को नहीं प्राप्त हो पातीं। ज्ञान, शीर्ष तथा अनुभूमिक चलिष्णुता, वित्त, तथा मोल-तोल के कौशल आदि के अभाव के कारण श्रम का शोषण हो सकता है। बहुत सी प्रचलित मज़दूरी की दरें इसी प्रकार वर्गीकृत की जाएँगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि श्रम को मिलने वाली मज़दूरियाँ उनकी सीमान्त उत्पादकता से कम हैं। मोल तोल की श्रेष्ठतर शक्ति के कारण मालिकों का पलड़ा श्रम की तुलना में भारी पड़ता है। अतएव उनको लागत के ऊपर होने वाले अतिरेक का अनुचित भाग प्राप्त होता है। यह शोषण है। सिद्धान्ततः और वस्तुतः दोनों ही प्रकार से इस प्रकार मज़दूरी का निश्चित होना अन्यायपूर्ण है। परन्तु यह हमें मानना होगा कि साधारणतः सीमान्त दर ठीक-ठीक निश्चित की जाती है और ईमानदारी से भुगतान की जाती है, और मज़दूर को उसके योग का मूल्य, किसी दिए हुए अनुमाप के अनुसार मज़दूरी के रूप में मिलता है। इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप होने पर उत्पादन के अन्य साधनों के क्रम में विक्षोभ हो जाएगा और पूरी आर्थिक प्रक्रिया शिथिल हो जाएगी। इस 'करने दो' नीति का अत्यंत सशक्त और तर्कपूर्ण ढंग से समर्थन किया गया। साधारणतः इसे उचित मानागया। इसे आधारभूत परिकल्पना मानकर मज़दूरी के कई सिद्धान्तों का प्रणयन तथा विकास किया गया*। पूरी दलील का झुकाव इसी तरफ था कि किसी भी श्रेणी के श्रम की मज़दूरी की दर में यदि परिवर्तन होगा तो उत्पादन और वितरण की पूरी प्रक्रिया में व्यतिक्रम हो जायगा। यह कहा जाता था कि ऐसे हस्तक्षेप का असर अन्ततः स्वयं श्रम पर पड़ेगा। जो मज़दूर सीमान्त उत्पादकता दर के नीचे पड़ेंगे वे निकाल दिए जाएँगे। मज़दूरी की दर उपजीविका-स्तर (Subsistence level) से नीचे है या ऊपर, इससे मालिकों को कोई मतलब नहीं था वे। शोक प्रकट कर सकते थे परन्तु कोई उपचार नहीं कर सकते थे। उनके लिए एक ही मार्ग था कि मज़दूरों को निकाल दें। यह मान लिया गया था कि मज़दूरों की भाँति ही मालिक भी स्पर्धा के चंगुल में फँसे हुए थे। जो सेवाओं तथा वस्तुओं की सीमान्त लागत से अधिक पर सेवाओं तथा वस्तुओं का विक्रय करना चाहेंगे उन्हें स्पर्धा की शक्तियों के कारण अकुशल मज़दूरों की भाँति बाज़ार से निकल जाना पड़ेगा। यह मज़दूरी का लौह-सिद्धान्त था। इसकी घोषणा थी कि मज़दूर को केवल उतना मिल सकता है जितना वह स्थायी सस्थिति की सीमा पर योग देता है। इससे कोई मतलब नहीं था कि उस दर पर मजदूर और उसके परिवार का भरण-पोषण संभव था या नहीं।

शोषण का अन्त—आर्थिक क्रिया के उद्देश्य की खोज और जन-भावना में जनहित के समावेश के कारण नए उपायों की माँग हुई। सरकारी नीति स्पष्टतर रूप से इसी उद्देश्य की पूर्ति के विचार से निर्धारित होने लगी। इसीलिए आर्थिक क्षेत्र में राजकीय हस्तक्षेप बढ़ने लगा। अधिकतर देशों में यह हस्तक्षेप धीरे धीरे और खण्डशः आया।

---

* द थ्योरी ऑव वेजेज़-जे० आर० हिक्स।

तात्कालिक उद्देश्य तो मजदूर-वर्ग के किन्हीं उपवर्गों की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करना था। अधिकांशतः इसका सम्बन्ध अल्पाय मजदूर श्रेणियों से था। इन उदाहरणों में हस्तक्षेप को शोषण रोकने का प्रयत्न ही मानना चाहिए, इससे किसी अनिष्ट की आशंका नहीं। सचमुच यह न्याय के उद्देश्य की पूर्ति के लिए था। इसके कारण शोषितों को अपना उचित और अधिकृत प्राप्य मिलता है। अधिकांशतः श्रम को गाँवों या नगरों में जो भी नकद वा वस्तु रूप में मजदूरी दी जाती है वह शोषित ही होती है। प्रायः प्रचलन, जाति तथा वर्ग इस शोषण की प्रक्रिया को बल देते हैं। संसार के अधिकांश भाग में, और हमारे देश के भी कई भागों में, एक ही काम के लिए विभिन्न मजदूरियाँ देने की अन्यायपूर्ण प्रथा है। ऐसी दशाओं में राजकीय हस्तक्षेप पूर्ण रूप से न्याय-संगत है। ऐसे हस्तक्षेप से राष्ट्रीय आय को कोई क्षति नहीं पहुँचेगी। इस श्रेणी के मजदूरों की वृत्ति की दशाओं और शर्तों में किसी प्रकार की भी उन्नति लाभपूर्ण ही सिद्ध होगी। यह प्रत्यक्ष रूप से उनकी शक्ति की वृद्धि करेगा, साथ ही साथ उनकी कार्यक्षमता की भी वृद्धि होगी जिससे कि समस्त समाज का कल्याण होगा। समाज के अल्पाय वर्गों में वेतन वृद्धि का उपयोग अधिकतर अच्छे खाद्य पर ही किया जाता है, इसमें विशेषतः जवानों और बच्चों के स्वास्थ्य और शक्ति की वृद्धि होती है। उनकी शिक्षा और ट्रेनिंग और अच्छी हो सकती है। इस प्रकार शोषणपूर्ण मजदूरी को सुधारना हर प्रकार से न्याय-संगत है।

मजदूरियों के स्तर की उन्नति—ऐसी दशा में जब सीमान्त मजदूरी ही वास्तविक मजदूरी हो और उसमें शोषण का अंश न हो, और साथ ही यदि वह उपजीविका-स्तर से नीचे हो तब मजदूरी को ऊपर उठाना कठिन होता है। ऐसी मजदूरी की दर को ऊपर उठाने का उत्पादन की प्रक्रिया के निर्वाह पर बुरा असर पड़ेगा। ऐसी स्थिति उत्पादन की प्रणाली में परिवर्तन, विदेशी स्पर्धा, बाजार-माँग में परिवर्तन, विशेष प्रकार के श्रम की अति प्राप्ति या अन्य किसी कारण से उठ खड़ी हो सकती है। इन्हीं कारणों से मजदूरी की सीमान्त दर नीचे गिर सकती है। या हो सकता है कि प्रारम्भ में ही वह उसी बिन्दु पर रही हो। सिद्धान्त और वस्तुतः स्थायी संस्थिति में ऐसा हो सकता है। उसमें हस्तक्षेप होने पर सारी मजदूरी की दर की प्रवृत्ति विचलित हो सकती है। जहाँ तक मजदूरी बढ़ने पर मजदूर की क्षमता में वृद्धि होने का प्रश्न है ऐसी अभिवृद्धि न्याय-संगत है। इसमें यह भी सन्निहित है कि आवश्यक स्तर से नीचे की क्षमता वाले मजदूर निकाल दिए जायँगे। इससे बेकारी बढ़ेगी। इसीलिए कुछ देशों में न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने की समस्या को कुछ नमनशीलता के साथ हल किया जाता है। मजदूरियाँ उस सीमा तक ऊपर उठाई जाती हैं जहाँ वे पर्याप्त उपजीविका के बराबर नहीं वरन् उस उद्योग-विशेष की सामर्थ्य के अनुकूल होती हैं। इस मजदूरी-निर्धारण में 'जो व्यापार सहन कर सकेगा' का सिद्धान्त लागू होता है। किन्हीं सीमाओं के अन्दर ऐसी व्यवस्था असम्भव नहीं है। उत्पादन के अन्य साधनों की निष्पीड़नीयता (Squeezability) अव्यवहार्य नहीं है। हाँ, पाठ्य पुस्तकों में ऐसे सीमान्तों का विश्लेषण सम्भव नहीं है। परन्तु वास्तविक बाजार में विशेषकर अल्पाय श्रेणियों की मजदूरी में कुछ परिवर्तन हो सकते हैं यद्यपि इसके लिए यह आवश्यक है कि मजदूरी का योग उत्पादन की कुल लागत के किसी प्रतिशत के अन्तर्गत रहे। यदि व्यापार बन्द होने को होगा तो श्रम का एक अंश उससे निकालकर अन्य लाभप्रद जगहों पर

नियुक्त कर दिया जायगा। इन पेशों में मन्दी का सामना करने के लिए बालकों और युवकों का प्रवेश और प्रौढ़ों का निष्क्रमण श्रम-विनिमय संस्थाओं (Labour Exchanges) द्वारा आयोजित और व्यवस्थित करना पड़ेगा। आधुनिक समाज की आर्थिक स्थिति की गतिशीलता के अनुसार यह महत्वपूर्ण और उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य श्रम-विनिमय संस्थाओं को निरन्तर करते रहना चाहिए। इस बात की पूरी सम्भवना है कि यह एक दीर्घकालीन कार्य होगा। फिर भी औद्योगिक परिवर्तनों तथा मन्दियों का पूर्वाभास करके उनके विरुद्ध योजनाएँ बना लेनी चाहिए। यदि विदेशी स्पर्धा के कारण किसी उद्योग की क्षति हुई है तो स्थिति का वशीकरण अनेक परिस्थितियों पर निर्भर होगा। यदि गृह-उद्योग में मज़दूरी की मन्दी का कारण विदेशी उत्पादन की श्रेष्ठतर क्षमता हो तो, अन्य बातें समान रहने पर, यह युवित युक्ति नहीं होगा कि केवल गृह-उद्योग की उन्नति की दलील देकर ऐसी वस्तुओं को गृह-बाजारों से बहिष्कृत रखा जाय। उद्योगों की इस अक्षमता को किसी प्रकार का प्रोत्साहन न देना चाहिए। यदि विचाराधीन उद्योग आवश्यक है और ऐसा है जिसमें अधिक संख्या में मजदूर नियुक्त हैं तो यह युवितयुक्त होगा कि ऐसे उद्योग को उचित जाँच-पड़ताल करके संरक्षण दे दिया जाए या उसे इतनी आर्थिक सहायता प्रदान कर दी जाए कि वह राज्य द्वारा निश्चित मजदूरी की दर के अनुसार मज़दूरी दे सके। परन्तु दूसरी अवस्थाओं में राजकीय सहायता की ऐसी प्रक्रियाएँ असीमित काल तक नहीं चलाई जा सकतीं। प्रबन्धक वर्ग को क्षमता-वृद्धि के उपाय खोजने ही होंगे नहीं तो वे धीरे-धीरे व्यापार से बहिष्कृत हो जाएँगे। पिछड़े हुए या अविकसित राष्ट्रों के सम्बन्ध में यह तर्क बहुत सोच विचार कर प्रयुक्त करना चाहिए। उन्हें संसार के अन्य अधिक उन्नत राष्ट्रों के स्तर तक पहुँचने के लिए पर्याप्त अवधि मिलनी चाहिए। इन देशों को समुचित संरक्षण प्रदान करने के लिए विशेष व्यापार-संधियाँ करनी पड़ेंगी। अतर्राष्ट्रीय व्यापार पत्र (International Trade Charter) में, जिसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापर संघ (International Trade Organisation) का निर्माण हुआ है, इस बात को आज के विश्व की आर्थिक व्यवस्था के लिए आधारभूत माना गया है। इसलिए इन देशों में मज़दूरी का स्तर धीरे-धीरे उठाया जा सकता है। औद्योगिक निपुणता और यांत्रिक विकास द्वारा, पिछड़े हुए राष्ट्र समर्थ अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों द्वारा निर्धारित, प्रदेशानुसार, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर को प्राप्त हो सकेंगे। फिर भी अल्पाय क्षेत्रों से होने वाले आयात के विरुद्ध अन्य देशों को आवश्यकतानुसार संरक्षण प्रदान करना ही सड़ेगा।

न्यूनतम वास्तविक मज़दूरियाँ— न्यूनतम मजदूरी निश्चित करने के सिलसिले में विभिन्न अङ्गों के कौशल के उद्देश्यों पर विचार करने के अतिरिक्त स्थानिक तथा प्रादेशिक परिस्थितियों पर भी विचार करना होगा। कुछ भी हो, समाज में एक निश्चित रहन-सहन के स्तर की स्थापना करने के उद्देश्य से ही न्यूनतम मज़दूरी निर्धारित की जाती है। आधारभूत मज़दूरी का निर्धारण वस्तुओं के रूप में होगा। इसके लिए परिवार-बजटों की जाँच करनी होगी। मज़दूरों की रहन-सहन की वास्तविक दशा का पता लगाना होगा। सामूहिक तथा प्रादेशिक आदतों तथा विषय से सम्बद्ध अन्य परिस्थितियों पर सम्यक विचार कर लेने पर श्रमिक वर्ग के जीवन-स्तर के आदर्श बनाए जाएँगे। आहारीय मानों (nutritional-

standards) तथा अन्य आवश्यकताओं को निश्चित करना होगा। जीवन के राष्ट्रीय आदर्श को वास्तविक मजदूरी के पदों में पता लगाकर निश्चित करना होगा। ग्रामीण और नागरिक अंतरों पर विचार करके उनका उचित नियोजन करना होगा। मानव आवश्यकताओं के सिद्धान्त को मानना होगा। ऐसी जोड़-गाँठ में विभिन्न आर्थिक प्रदेशों और नागरिक केन्द्रों के पारस्परिक अंतरों को स्वीकार करना ही होगा। प्रान्तीय तथा आर्थिक अंतरों का विश्लेषण करना होगा। इन्हें आधारभूत राष्ट्रीय न्यूनतम स्तर के निर्माण में समाहित करना होगा। संभव है कि राष्ट्रीय न्यूनतम स्तर को फौरन ही निश्चित न किया जा सके; परन्तु एक ऐसा कार्यक्रम बनाना ही होगा जिससे मुख्य उद्देश्य की क्रमशः प्राप्ति हो सके। हाँ, यह याद रखना होगा कि लोगों की आदतों और रहन-सहन के ढंग में परिवर्तन होने के कारण आधारभूत निम्नतम स्तर की समय-समय पर परीक्षा होती रहनी चाहिए। एक प्रगतिशील दृष्टिकोण का निर्वाह करना होगा। उपभोग सम्बन्धी आदतें प्रचलित, परम्परागत और रूढ़ मानी जाती है परन्तु फिर भी उन्हें नवीन प्रभाव अग्राह्य नहीं होते। श्रमिक वर्ग के उपभोग के आदर्श परिवर्तित होते देखे गए हैं। ध्यान से देखने पर यह धारणा पुष्ट हो गई है कि श्रमिक वर्ग के आहार तथा उपभोग की वस्तुएँ तेजी से बदल रही हैं। शिक्षात्मक, सामाजिक तथा अनेक अन्य प्रभावों के कारण ये परिवर्तन स्पष्ट हैं। इसलिए निर्दिष्ट कालान्तर के पश्चात आधारभूत मजदूरी के पुन-निर्धारण की आवश्यकता होगी। यह फिर से जोर देकर कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी को द्रव्य के पदों में उतना नहीं ग्रहण किया जाता जितना किसी निश्चित आदर्श के अनुसार वास्तविक मजदूरी के पदों में। ऐसी जोड़-गाँठ में स्थानिक तथा प्रादेशिक अंतरों का ध्यान रखना ही होगा।

निर्वाह-व्यय देशनांक—(Cost of living Index Numbers) इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि निर्वाह-व्यय की जानकारी की सुचारु व्यवस्था हो। इसमें इतनी वैज्ञानिक योग्यता होनी चाहिए कि यह सब वर्गों के लिए विश्वसनीय हो सके। मजदूरों, मालिकों और जनसाधारण को उस व्यवस्था की योग्यता और ईमानदारी में विश्वास होना चाहिए। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह बिलकुल सही और कार्य के दृष्टिकोण से पक्षपात रहित होना चाहिये। निर्वाह-व्यय के परिवर्तनों के नियोजन को सर्पी-अनुमाप विन्यास (Sliding Scale Arrangement) के अनुसार आपसी समझौते द्वारा पूर्वनिश्चित कर लेना चाहिए। यह दिए हुए विन्दुओं के बीच में स्वतः कार्यान्वित होगा। यदि परिवर्तन असामान्य रूप से भीषण हुए और उत्थान या पतन किसी उच्च या निम्न विन्दु के परे हुए तो नवीन नियोजन के लिए समझौता करना पड़ेगा। ऐसे में स्थिति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मँहगाई-भत्ता की व्यवस्था करनी होगी। विभिन्न प्रदेशों, क्षेत्रों और नगरों के लिए अलग-अलग निर्वाह-व्यय देशनांक बनाने और रखने होंगे। इसके लिए आवश्यकतानुसार कोई सर्वनिष्ट आधारकाल मानना होगा। निर्वाह-व्यय देशनांक प्रकाशनार्थ संगठनों में जिन-जिन विषयों का समावेश हो उनको उचित भार (weight) देना चाहिए।

समायोजन के उपाय (Machinery for Adjustment)—प्रबन्धक वर्ग और श्रम की पारस्परिक वार्ता के लिए किसी प्रतिनिधि तंत्र के निर्माण की आवश्यकता होगी। इस सहकारिता का आधार क्रमबद्ध और नैत्यिक होना चाहिए। जहाँ मजदूरों के संगठन न हों वहाँ यह अच्छा होगा कि, अगर आवश्यक हो तो, राज्य की सहायता से ही उनका निर्माण

किया जाय। निर्वाह-मजदूरियों की सुरक्षा और उनकी शान्तिपूर्वक प्राप्ति के लिए यह आवश्यक हैं कि मजदूरों के ऐसे स्वतन्त्र संगठन हों जो तद्विषयक वार्ताओं को चला सकें। विशेष रूप से उन उद्योगों में शान्ति स्थापित करने के लिए जिन्हें घोर स्पर्धा का सामना करना पड़ता है, उत्पादन की प्रक्रिया को यथासम्भव अबाध गति से चलने देना चाहिए। हड़तालों और तालेबन्दियों को रोकना चाहिए। औद्योगिक संघर्ष को शान्त करने के लिए बनाई गई तदर्थ समितियां (ad hoc committees) यद्यपि उपयोगी होती हैं तथापि वे उक्त उद्देश्य के लिए बनाई गई स्थायी संस्थाओं का स्थान कदापि नहीं ग्रहण कर सकतीं। प्रबन्धक वर्ग औ मजदूरों के पास कोई ऐसा तंत्र होना ही चाहिए जो समय समय पर उठने वाली परिस्थितियों का सामना कर सके। मजदूरी की समस्याएँ, अभी और निकट भविष्य के लिए भी, औद्योगिक झगड़ों की मूल कारण हैं। पिछड़े हुए या केवल आंशिक रूप से समुन्नत औद्योगिक देशों की मजदूरी सम्बन्धी झगड़े औद्योगिक शान्ति को भंग करने के लिए समुन्नत औद्योगिक देशों की अपेक्षा अधिक उत्तरदायी हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि समस्या की परीक्षा और सुलझाव के लिए यथेष्ठ तंत्र की स्थापना की जाय। न्यूनतम मजदूरी निश्चित हो जाने से न केवल औद्योगिक संघर्ष के इस मुख्य कारण का ह्रास होगा वरन् इसके द्वारा श्रम के प्रतिनिधि इन कठिनाइयों को सुलझाने में प्रबन्धक वर्ग का हाथ भी बँटा सकेंगे। इस प्रकार दोनों ओर की कठिनाइयों को समझने की और पारस्परिक अवबोधन की भावना बढ़ेगी। रचनात्मक सहकारिता की प्रवृत्ति का उदय होगा। यह एक सकारात्मक लाभ होगा। यह उद्योगों को चलाने में बहुत सहायक होगा। पारस्परिक सम्मति के द्वारा सामूहिक लाभ हो सकता है। यह उत्पादन की तथा राष्ट्र के विभिन्न उद्योगों में की गई सेवाओं के गुणों की वृद्धि कर सकता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि हड़तालें और तालेबन्दियाँ होंगी ही नहीं फिर भी इसका संकेत ध्वंसात्मक प्रवृत्ति के स्थान पर रचनात्मक प्रवृत्ति के विकास की ओर है, जिधर मज़दूरी के प्रश्नों को हल करके अग्रसर हुआ जा सकता है। इस प्रकार के प्रबन्धक वर्ग और श्रम की पारस्परिक भावनावों के सुधार से आर्थिक और राष्ट्रीय कल्याण की वृद्धि ही होगी।

न्यूनतम ही अधिकतम—यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सम्भव है कि न्यूनतम ही अधिकतम हो जाए। जहाँ तक क्षीण संगठनशाली उद्योगों का प्रश्न है यह बात संभावनाओं की परिधि के परे नहीं है। जिन उद्योगों में स्त्रियां, बच्चे और अकुशल मज़दूर काम करते हैं उनमें ऐसा होना संभव है। परन्तु श्रम-संघ संगठनों के सशक्त हो जाने पर आशा है कि ऐसी परिस्थितियाँ कम हो जाएँगी। न्यूनतम मजदूरी द्वारा केवल किसी निश्चित कालांश में किए गए काम के परिमाणात्मक तथा गुणात्मक औसत उत्पादन की आधारभूत दर का निर्धारण होता है। जिन मजदूरों की सामर्थ्य औसत से अधिक होगी वे स्वभावतः न्यूनतम से अधिक आय की अपेक्षा करेंगे और पाएँगे। वे मालिक जो महँगी मशीनों और महँगे कच्चे माल का प्रयोग करते हैं और उच्च क्रय-शक्ति-शाली बाजारों में अपना माल भेजते हैं वे दूसरे प्रकार के श्रम को नहीं नियुक्त कर सकते। ऊँची मजदूरियों की मितव्ययिता का सिद्धान्त काफ़ी जाना और माना हुआ व्यवहार है। प्रायः सभी देशों के प्रगतिशील और ऊँचे दर्जे के मालिक यही व्यवहार करते हैं। इस प्रकार वे अपने अपेक्षाकृत कम भाग्यशाली तथा प्रगतिशील भाइयों के लिए एक आदर्श स्थापित करते हैं। दूसरी ओर

मज़दूर संगठनों को चाहिए कि उनके सदस्य अच्छी मज़दूरियों के बदले में अच्छा कार्य करें। यह दायित्व पारस्परिक है। राजनीतिक मोर्चा बन्दियों और अन्य विचारधारात्मक पूर्वग्रहों के परे श्रम-संघों को अपने सदस्यों के उच्च स्तर के आचरण पर ज़ोर देना चाहिए। विश्व के सर्वाधिक शक्तिशाली श्रम-संघ वे ही हैं जो अपने सदस्यों से उत्पादन के परिमाण और गुण के उच्च स्तर की कठोरतापूर्वक अपेक्षा करते हैं। यह अन्ततः स्पष्ट ही है कि जो कुछ भी दिया जा सकता है वह उद्योग के उत्पादन में से ही संभव है। अभिवृद्ध आय का जो भी अंश उत्पादन के प्रत्येक साधन को प्राप्त होगा वह अंततः उसकी उस उत्पादन क्षमता पर निर्भर रहेगा जिसके साथ वह स्थायी संस्थिति के बिन्दु पर उत्पादन में योग देगा। यह माना जाता है कि यदि मज़दूरों को यह संतोष हो जाय कि उनके साथ मज़दूरी आदि के सम्बन्ध में उचित व्यवहार हुआ है तो मालिकों की अपनी उचित आय में कोई कमी नहीं हो सकती, वरन् वह और बढ़ेगी ही। प्रत्येक सम्भव उपाय द्वारा मज़दूरों में इस मनोवृत्ति को सबल बनाना चाहिए।

उप-स्तर मज़दूर—(Sub-Standard Workers) सहज सामर्थ्य और उचित भरण पोषण के अभाव तथा असावधान शिक्षा के कारण कुछ लोग कार्य के सामान्य स्तर तक नहीं पहुँच पाते। इस असमर्थता के कारण, यदि यह किसी भी आंतरिक या बाह्य कारणों से हो, इन पुरुषों या स्त्रियों की रोज़ी न छीननी चाहिए। ऐसे लोगों के लिए उपयुक्त काम ढूँढना चाहिए। इसके बजाय कि वे अपने परिवार या समाज पर भार हों उनको अपनी मेहनत द्वारा अपने भरण-पोषण का अवसर देना चाहिए। स्वभावतः ऐसे व्यक्तियों की मज़दूरियाँ न्यूनतम मज़दूरी की दर से नीचे होंगी। इसलिए उनको कुछ प्रकार की सामाजिक सुरक्षा तथा सामाजिक सहायता योजनाओं पर निर्भर रहना पड़ेगा। इन योजनाओं को राज्य की पूर्णरूपेण और मालिकों की आंशिक सहायता लेनी होगी। इसके लिए कार्य समिति को अधिकृत करना होगा कि वह ठीक-ठीक जाँच के बाद निर्णय करे कि इन उप-स्तर मज़दूरों को कौन काम करने के लिए दिया जाय और उनकी मज़दूरी की दर क्या हो। यह आवश्यक है कि किसी उद्योग या उसके विभाग में पारस्परिक सहमति द्वारा ऐसे मज़दूरों के अनुपात को निश्चय कर लिया जाय। किन्तु केवल इसी कारण से ही उप-स्तर मज़दूरों को किसी उद्योग में प्रमुख स्थान न प्राप्त होना चाहिए।

अध्याय २७

सामाजिक सुरक्षा

व्यापक अरक्षा—जीवन की जटिलताओं में फंसे हुए विवश मनुष्यों की सहायता की समस्या की ओर अब अंतर्राष्ट्रीय रूप से विचार किया जाने लगा है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने इस महान सामाजिक समस्या में जनरुचि उत्पन्न करने के लिए बहुत कुछ किया है।* इस ने सूचनाओं को संगठित और योजनाओं का प्रणयन किया है और ऐसे विचार निर्माण की ओर दिशा-निर्देश किया है जिसके द्वारा की इन अनिश्चितताओं के विरुद्ध उचित कदम उठाए जा सकते हैं। उत्पादन की विधियों में महान और विश्वव्यापी परिवर्तनों के कारण इन आर्थिक कु-संयोजनों की गहनता और विशदता सभी देशों की प्रमुख सामाजिक समस्या बन गई है। अन्तर्युद्ध काल में कुछ तानाशाही तथा संकीर्ण राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के बावजूद समस्त संसार, विशेषतः वैत्तिक तथा यातायातिक विकासों के कारण, जहाँ तक कृषि तथा उद्योग के प्रमुख उत्पादनों का प्रश्न है, संकुचित और अधिक संगठित हो गया है। संसार के किसी अनजान कोने में होने वाली अशांति भी दूसरे स्थानों की आर्थिक प्रक्रिया के क्रम को विचलित कर देती है। इस विस्थापन की मात्रा उन प्रदेशों के आर्थिक संगठन के प्रकार पर निर्भर है। सामान्य स्थिति से इन व्यापक और महान विचलनों के अतिरिक्त जो प्रादेशिक तथा स्थानिक परिवर्तन होते हैं उनके कारण भी गम्भीर तथा व्यापक कष्ट उत्पन्न होते हैं। परिणामतः रहन-सहन के स्तर का निर्वाह, विशेषतः नवयुवकों और बालकों की शिक्षा और स्वभाव बुरी तरह चौपट हो जाते हैं। जहाँ तक व्यक्तिगत कष्टों का प्रश्न है विशेषतः बूढ़ों, अपंगों, अपाहिजों और वृत्ति के अयोग्य मनुष्यों के कष्टों को द्रव्य मात्र के पदों में सरलता से नहीं अनुमाना जा सकता। अनैच्छिक वृत्तिहीनता (involuntary unemployment) आज के विश्व-समाज का प्रमुख और मूल अवगुण है। अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों का यह प्रयत्न है कि संसार के प्रत्येक प्रदेश तथा घर से इच्छाओं के आतंक का निराकरण हो जाए। प्रत्येक विवेकशील शासन का यही उद्देश्य है कि जीवन की अरक्षाएँ (insecurities) समाप्त हो जाएँ। सामाजिक सुरक्षा संसार भर के सामाजिक पुनर्निर्माण सम्बन्धी समसामयिक चिन्तन का आधारभूत अंग बन गई है। पिछड़ी हुई अर्थ-व्यवस्थाओं के विकास और संसार के आर्थिक साधनों के न्यायोचित वितरण को इस प्रकार संगठित होना है कि यथासम्भव अनैच्छिक वृत्तिहीनता न उत्पन्न हो पाए और लोगों के रहन-सहन के स्तर बने रहें†। सचमुच समाजिक सुरक्षा का ध्येय विशेषतः अल्पायु तथा उप-मानव वर्गों के जीवन स्तरों को यदि उन्नत नहीं तो स्थायी बनाना अवश्य ही है।

अरक्षा के कारण—इनमें से अधिकांश कठिनाइयाँ मानव जाति के साथ आदि काल से रही हैं। रुग्णता, शिशु जन्म, दुर्घटनाएँ, अपंगता, वृद्धावस्था और मृत्यु आदि सृष्टि के

---

* देखिए इंटर्नेशनल लेबर कान्फरेंस की रिपोर्ट १९४४

† देखिए 'चार्टर' ऑव इंटर्नेशनल ट्रेड आर्गनाइजेशन १९४८

आरम्भ के ही मनुष्य के साथ रहे हैं। उनके विरुद्ध जातिगत तथा परिवारगत सुरक्षाएँ थीं। मातृसत्तात्मक तथा पितृसत्तात्मक परिवार (Matriarchal या Patriarchal family) ही सामाजिक इकाइयाँ थी। आधुनिक ढंग का माता-पिता और बच्चों का स्वाभाविक परिवार तथा सामाजिक इकाई के रूप में स्वीकृत नहीं था*। फिर भी इन सभी आवश्यकताओं के लिए मोटे तौर पर सुरक्षाएँ उपलब्ध थीं। किन्हीं किन्हीं कबीलों में तो समाज को वृद्धों के भार से मुक्त करने के लिए उनको बड़ी धूमधाम से मार डाला जाता था। इन वैयक्तिक तथा पारिवारिक आवश्यकताओं तथा अकाल, बाढ़ तथा महामारी जन्य प्राकृतिक विपत्तियों की शृंखला में अब आधुनिक यान्त्रिक जीवन-निर्वाह-विधियों द्वारा उद्भूत विपत्तियाँ भी सम्मिलित हो गई हैं। यन्त्रों के कारण होनेवाली दुर्घटनाएँ, कारखानों में पैदा होने वाले रोग और अधिकांशतः अनैच्छिक वृत्तिहीनता आधुनिक युग की जटिलताएँ हैं जिनके कारण व्यक्ति की अर्जन शक्ति कम होती है और परिवार के रहन-सहन का स्तर नीचे गिरता है। इनमें से अधिकांश दुर्घटनाओं का उत्तरदायित्व व्यक्ति पर नहीं रखा जा सकता। हाँ यह हो सकता है कि व्यक्तिगत दूरदर्शिता के कारण इन भयंकर घटनाओं के परिणाम कुछ हद तक कम हो जाएँ, परन्तु व्यक्तिगत दूरदर्शिता मात्र द्वारा आर्थिक प्रवृत्तियों पर विजय पाना संभव नहीं है। इन विपत्तियों पर व्यक्ति या परिवार का कोई वश नहीं चलता। अतः इन विपत्तियों के विरुद्ध सम्पूर्ण समाज को उपाय करना चाहिए। अकेला व्यक्ति इन दुर्घटनाओं का उसी प्रकार सामना कर सकता है जैसे कि एक अकाल का। नए औज़ारों या किसी नए माल के प्रयोग की नई विधियों की खोज के कारण तान्त्रिक वृत्तिहीनता उत्पन्न हो सकती है क्योंकि इनकी खोज के परिणामस्वरूप पुरानी विधियाँ और पुरानी वस्तुएं उपयोग से बहिष्कृत हो सकती हैं और इसीलिए मज़दूरों, कारीगरों और किसानों के समूह के समूह को अपनी पुरानी वृत्ति छोड़नी पड़ती है।† औद्योगिक ढाँचे में ऐसा परिवर्तन भीतर से हो सकता है जैसा कि इंग्लैंड में हुआ और बाहर से भी ज़बरदस्ती लादा जा सकता है जैसा कि भारतवर्ष में हुआ। इंग्लैंड की औद्योगिक तथा कृषि-क्रान्तियाँ तथा भारत की विदेशी स्पर्धा तथा राजनीतिक पराधीनता इस बात के उदाहरण हैं कि राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय विस्थापन किस प्रकार होते हैं। वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा आविष्कारों के भी अनिवार्यतः ऐसे ही परिणाम होंगे। अन्तरिम काल में सम्पूर्ण समाज, विशेषतः मजदूर वर्ग का, भयानक विस्थापन होगा। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के अतिरिक्त प्राकृतिक, सामाजिक, आर्थिक, यान्त्रिक और वैज्ञानिक सदृश विविध कारणों से से ये विस्थापन होते हैं। इन भयानक दुर्घटनाओं के समक्ष अकेला व्यक्ति, छोटे छोटे परिवार और यहाँ तक कि राष्ट्र तक शक्तिहीन हैं। यह आर्थिक इतिहास का सत्य है। स्वतंत्र तथा परतंत्र सभी देशों में ये दुर्घटनाएं बड़े पैमाने पर अनुभव की गई हैं, चाहे ये देश औद्योगिक हों या कृषि-प्रधान। वास्तव में अब यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका है कि आधुनिक विश्व की व्यवस्था में वृत्तिहीनता का प्रश्न किसी एक ही देश का नहीं वरन अन्तर्राष्ट्रीय है। इसलिए ऐसी कु-प्रवृत्तियों का संसार के राष्ट्रों को सम्मिलित

---

*उन अतीत कालीन सामाजिक मूल्यों के समक्ष व्यक्तिशून्य सदृश था।

† आर्थिक विस्थापन के कारण अधिकतर सार्वभौतिक होते हैं।

रूप से सामना करना चाहिए। सचमुच ऐसे दृष्टान्तों में एक अकेला राष्ट्र ऐसी आर्थिक शक्तियों का सामना करने में उतना ही असहाय होगा जितना एक परिवार या व्यक्ति अकाल का सामना करने में। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बहुत से संगठन और संस्थाओं का निर्माण हुआ है। इस विशेष श्रम सहकारिता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I.L.O.) एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। इन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की सफलता बहुत कुछ राष्ट्रीय व्यवस्थाओं के कौशल पर निर्भर है।

सामाजिक सुरक्षा—इन आपत्तियों की संख्या, अवधि और प्रचण्डता इतनी अधिक होती है कि परिवार तक से उनके विरुद्ध वैत्तिक रूप से सशक्त रहने की आशा नहीं की जा सकती, फिर व्यक्ति की कौन कहे। नवीन समाज का आर्थिक ढांचा कुछ इस प्रकार विकसित हुआ है कि इन विपत्तियों का भार व्यक्ति या परिवार द्वारा नहीं सँभाला जा सकता। संयुक्त परिवार या धमार्थ संस्थायें यद्यपि अपने में प्रशंसनीय हैं तथापि वे आधुनिक स्थितियों के दुष्परिणामों का सामना करने में असमर्थ हैं: नई बुराइयों को दूर करने के लिए नए उपायों की आवश्यकता है। पुराने उपायों का स्थान नए उपायों को मिलना चाहिए। इसीलिए सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं का उद्घाटन हुआ है। ये योजनाएँ खंडशः विकसित हुई हैं। ये विभिन्न देशों में विभिन्न सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उद्भूत हुई हैं।

सामाजिक सुरक्षा की राष्ट्रीय प्रणालियाँ अनेक रूप ग्रहण कर सकती हैं। ये विशिष्ट कार्यों के रूप में, जैसे अकाल से रक्षा करने के रूप में प्रदान की जा सकती हैं। अनुभव, सावधान विश्लेषण, अध्ययन और अनुसंधान द्वारा जिस ज्ञान-राशि का अर्जन हुआ है उसकी सहायता से जरूरतमन्द लोगों को सहायता देने के प्रभावी उपाय निर्धारित किए जा सकते हैं।

सड़क निर्माण, नहर खोदना, रेल, बन्दरगाहों या बाँध का निर्माण तथा अन्य जनोपयोगी योजनाएँ प्रारम्भ की जा सकती हैं। इस प्रकार का समयानकूल और सम्यक सार्वजनिक व्यय केवल वृत्तिहीनों को वृत्ति ही नहीं प्रदान करेगा वरन् यह पतनशील मूल्य स्तर को स्थायित्व भी प्रदान करेगा और इस प्रकार आर्थिक क्रिया को चालू रखेगा। इस प्रकार के जन कार्यों के अतिरिक्त सरकार व्यक्तिगत साहसोद्यमों को किसी न किसी प्रकार की आर्थिक सहायता भी प्रदान कर सकती है और इस प्रकार वृत्ति निरन्तर बनी रह सकती है। राज्य मजदूरी के स्तर को बनाए रखने के लिए आर्थिक सहायता दे सकता है, या अकर्म-वेतन (Doles) दे सकता है या वृत्ति हीनों को भोजन, घर और चिकित्सात्मक सहायता दे सकता है। शरणार्थी समस्या यद्यपि राजनीतिक कारणों से उद्भूत हुई है तथापि यह प्रश्न विस्थापितों को आर्थिक व्यवस्था में फिर से स्थापित करने का है। इस प्रकार की सहायता की अवधि तब तक होनी चाहिए जब तक पुनर्स्थापन सम्पूर्ण नहीं हो जाता। ऐसी समस्त सहायता को सामाजिक सहायता (social assistance) कहते हैं। सामाजिक सहायता अप्रत्याशित राष्ट्रीय, वर्गीय या व्यक्तिगत कष्टों के निराकारण के उपयुक्त उपाय को कहते हैं। यह सहायता ऐसे में भी प्रदान की जाती है जब पीड़ित वर्ग इतना अल्पाय होता है कि वह स्वयं अपनी सहायता नहीं कर सकता। ऐसी आपत्तियों

की संख्या और अवधि ऐसी होती है कि इनसे बचने के लिए अपेक्षित शुल्क का हिसाब लगाना बड़ा मुश्किल होता है। इन सब दशाओं में सामाजिक सहायता, सामाजिक बीमे से अधिक उपयुक्त होगी। सचमुच ही दारिद्रय का भय इस परिस्थिति में निहित है। इससे बचना चाहिए। किसी राष्ट्र की नैतिकता की बलि देकर उसका आर्थिक निर्माणकरना हीन मनोवैज्ञानिक दृष्टि का द्योतक होगा। यह एक विनाशकारिणी राष्ट्रनीति होगी। स्वावलम्बन भी निश्चित सीमाओं के परे नहीं जा सकता। रहन-सहन के स्तर के पतन को उस सीमा से नीचे कदापि नहीं गिरने दिया जा सकता जहाँ नवयुवकों बालकों और जच्चाओं की उत्पादन-क्षमता की विपत्ति में पड़ जाने की सम्भावना हो जाती है। अतल निर्धनता, अपार अज्ञान, व्यापक वृत्तिहीनता और लघुजीवी कार्येच्छा की दशा में व्यक्ति की विपत्तियों के निवारणार्थ सामाजिक सहायता ही एक मात्र उपाय है। समाज के ऐसे अंग राज्य के उत्तरदायित्व के अंतर्गत आते हैं और उसे उनका अनिवार्यतः निर्वाह करना चाहिए। वे समूह के समूह सामाजिक, ऐतिहासिक तथा आर्थिक कुसंयोजनों के अभागे शिकार होते हैं। जैसे ही उनका पुनर्स्थापन हो जाय और उनको अपने कामों के लिए उचित प्राप्य मिलने लगे वैसे ही उन्हें जनसाधारण के लिए निर्मित सामाजिक सुरक्षा योजनाओं के अंतर्गत कर लेना चाहिए। इस प्रकार सामाजिक सुरक्षाओं के उपचारात्मक पक्ष की कार्यान्विति हो सकती है।

सामाजिक बीमा—सहायता का दूसरा प्रशस्त मार्ग है सामाजिक बीमा। इस योजना के अन्तर्गत व्यक्ति किसी ऐसी सहकारी योजना को चन्दा या कोई इकट्ठी धनराशि प्रदान करता है जो उसकी या उसके परिवार की विपत्ति की अवस्था में सहायता कर सकती है। ये चन्दे या शुल्क (Premiums) त्रिदल (Trpartite) ढंग के होते हैं। ये दल हैं—हितग्राही (Beneficiarics) मालिक और राज्य। अभियाचित धन, मालिक जो मजदूरी देता है उसका कोई प्रतिशत, तथा मजदूर की मजदूरी का एक अंश, तथा सम्पूर्ण हितव्यय का एक तिहाई राज्य द्वारा चन्दे के रूप में प्राप्त होता है। सम्पूर्ण निधि का प्रयोग, वह जिन विशेष विपत्तियों से लड़ने के लिए जमा की जाती है, उनके जीवनांकिक (Act-uasial) आधार पर किया जाता है। इसमें आवश्यक प्रशासन-व्यय भी सम्मिलित रहता है। रूस जैसे देशों में मजदूर कोई व्यक्तिगत चन्दा नहीं देता। आस्ट्रेलिया जैसे अन्य देशों में भी बिना हितग्राहियों से कुछ भी वसूल किए उन्हें सामाजिक सेवाएँ प्रदान की जा रही हैं। दूसरी ओर भारतवर्ष में जितनी भी ऐसी सामाजिक बीमा की योजनाएँ चलाई जा रही हैं उनमें सरकार कोई भी वैत्तिक योग नहीं दे रही है। इसमें शक नहीं है कि अस्पतालों, स्वास्थ्य रक्षा-गृहों, मातृत्व कल्याण केन्द्रों के लिए चिकित्सा सम्बन्धी सहायता तथा प्रशासन-व्यय प्राप्त होगा। फिर भी इस समस्या के विद्वानों का यह विचार है कि जनता के अल्पायतम स्तरों को छोड़कर अन्य हितग्राहियों से कुछ चन्दा अवश्य वसूल किया जाना चाहिए। अन्यथा गन्दी गुटबन्दियों और काम करने की अनिच्छा जैसी अवस्थ प्रवृत्तियों के फैलने की आशंका है। इस प्रकार के प्रदानों का यह सकारात्मक प्रभाव भी होता है कि चन्दा देने वाला चाहे कितन भी कम चन्दा द यह अवश्य अनुभव करता है कि उसने कुछ न कुछ दिया है। इससे उसके आत्म-सम्मान की रक्षा होती है। मजदूरों से उनकी मजदूरी के अनुसार बीमा शुल्क लिया जाना

चाहिए। चंदे की श्रेणीबद्ध योजनाएँ असामान्य नहीं हैं।

संस्थात्मक देखभाल—ऐसी सहायता अधिकांशतः संस्थात्मक रूप से दी जाती है। अस्पताल, स्वास्थ्य रक्षा गृह, सैनिटोरियम तथा पागलखाने आदि आदमियों, औरतों और बच्चों की इसी प्रकार की आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए खोले जाते है। विशिष्ट कार्यकर्ताओं और सुविधाओं के कारण संस्थाओं में बीमा कराने वालों के घर से अच्छी और सस्ती सहायता की व्यवस्था हो सकती है। शिशुओं और माताओं की सुश्रूषा तथा स्थायी रूप से अक्षम व्यक्तियों तथा वृद्धों की देख भाल, उचित साज-सामान युक्त, कुशल व्यक्तियों द्वारा निपुणता-पूर्वक प्रचालित संस्थाओंद्वारा ही हो सकती है। इसका कोई कारण न होना चाहिए कि सामाजिक सहायता प्राप्त व्यक्ति इन संस्थाओं से लाभ न उठा सकें। वास्तव में उद्देश्य तो यह है कि इस प्रकार की विशिष्ट संस्थाएँ समूची जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरी करें चाहे उसका बीमा हुआ हो या नहीं। इंगलैंड की बेवरिज योजना की भाँति भारतीय सरकार का उद्देश्य भी इस राष्ट्रीय आवश्यकता की इसी ढंग से पूर्ति करना है।

प्रतिनिधि सहकार्य—इन नागरिक सेवाओं के प्रशासन के सम्बन्ध में यह सिद्ध हो चुका है कि एक विच्छिन्न और असम्बद्ध प्रबन्ध की अपेक्षा एक सुदृढ़ और सर्वव्यापी संगठन कहीं अधिक प्रभावी होगा। इन अयोग्यताओं में से अधिकांश एक दूसरे से सावयव रूप से जुड़ी हुई हैं। अस्वास्थ्य, बीमारी, वृत्तिहीनता, अपंगता तथा अनाथों और विधवाओं की सहायता के उपाय विशिष्ट रूप से एक ही नहीं तो एक दूसरे से सम्बद्ध अवश्य हैं। एक सामाजिक कुसंयोजन दूसरे को जन्म देता है। इसीलिए उसका उपचार भी एक सर्व-समाहारी संगठन द्वारा पारस्परिक रूप से सम्बद्ध होना चाहिए। इन सामाजिक सुरक्षा-सेवाओं की प्रगति व्यक्ति से परिवार की ओर हुई है। रोटी कमाने वाला अब भी मुख्य है। परन्तु उस पर निर्भर रहने वालों पर, विशेषतः बच्चों पर, भविष्य निर्भर है। क्योंकि प्रत्येक विशिष्ट सामाजिक सेवा का अपना विशिष्ट कार्यकारी मंडल, केन्द्र और उपचार होता है (चाहे वह मातृत्व या वृद्धावस्था के लिए या औद्योगिक रोगों के लिए हो) इसलिए इस सारे संगठन को नियन्त्रित रखने वाले प्रशासन को एक होना ही होगा। शुद्ध नौकरशाही व्यवहार से बचना चाहिए क्योंकि उस दशा में सामाजिक सुरक्षा केवल कार्यक्रमात्मक रह जायगी। इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज के उन वर्गों से जिन में ऐसी दुर्घटनाएँ प्रायः हुआ करती हैं, सम्पर्क बनाए रखा जाय। पुराने परोपकारी संगठन और श्रम संधादि जो अपनी जाति या आस-पास के लोगों की सेवा से ही सम्बन्धित हैं उनका भी दुर्घटना के शिकारों से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करा देना चाहिए। उनके पास बहुमूल्य अनुभव है और उनके कार्यकर्ता विश्वसनीय हैं। उनका ऐसा प्रभाव है जो कोरे अफसरों का हो ही नहीं सकता। वे बहुत सी जटिल समस्याओं को जिस अन्तर्दृष्टि और सहानुभूति के साथ सुलझा लेंगे उसका नौकरशाही शासन में एकान्त अभाव है। पीड़ित पुरुषों और स्त्रियों के उपचार के लिए मानवीयता को बनाए रखना आवश्यक है। मनुष्य का केवल भौतिक शरीर ही नहीं वरन उसका मन भी उपचार की अपेक्षा करता है। इसलिए श्रम-संघ तथा इसी प्रकार की अन्य प्रतिनिधि संस्थाएँ ऐसी समस्त सेवाओं के प्रशासन से सम्बद्ध होनी चाहिएँ।

श्रम-विनिमय संस्थाएँ—इस सम्बन्ध में यह दिखलाया जा सकता है कि श्रम-विनिमय की संस्थाएँ अनिवार्य हो जाती हैं। वे समस्त सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं के

समस्त संगठन की धुरी के समान होंगी। श्रम-विनिमय संस्थाओं द्वारा वृत्ति के स्रोतों का एकीकरण सामाजिक सहायता के प्रबन्ध के कार्य-क्रम का आधार स्तंभ है। श्रम-विनिमय संस्थाओं के अभाव में व्यक्तियों या परिवारों के बीच वस्तुओं या द्रव्यों का उचित वितरण संभव नहीं होगा। अव्यवस्था बरबादी और दोहरकम (duplication) होने लगेगा। अपर्याप्त मार्ग-प्रदर्शन के कारण जन शक्ति को गलत दिशा-निर्देश मिलेगा। श्रम-विनिमय संस्थाएँ स्थानिक, प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय स्थितियाँ, आंकिक सूचना, वृत्ति की माँग और पूर्ति की स्थिति तथा अन्य सभी प्रकारकी सामग्री को एकत्र करके उसकी परीक्षा और निरीक्षण करेंगी। शीर्ष और अनुभूमिक दोनों प्रकार की विवेकपूर्ण चलिष्णुता का प्रबन्ध किया जायगा। मालिकों और मजदूरों दोनों की समस्याओं को सुलझाने और उचित मार्ग-प्रदर्शन करने के लिए विशेषज्ञ उपलब्ध रहेंगे। श्रम-विनिमय संस्थाओं के अधिकारी इस स्थिति में होंगे कि वे आर्थिक व्यवस्था के अंतर्गत होने वाली सतत औद्योगिक तथा सामाजिक पुनर्समायोजन की समस्याओं के लिए अपने सुझाव दे सकें। ये संस्थाएँ विभिन्न सहायता-प्रार्थियों के विषय में सूचना प्रदान कर सकेंगी। बीमा प्राप्त तथा वृत्तियाचक व्यक्तियों के बारे में पूरी जानकारी रखने में ये संस्थाएँ वह समस्त सामग्री प्रदान कर सकेंगी जिसके द्वारा निवारक तथा उपचारक कदम उठाए जा सकेंगे। श्रम-विनिमय संस्थाओं को मालिकों और मजदूरों दोनों की ओर पूर्णतः निष्पक्ष रहना होगा। प्रत्येक प्रकार का पक्षपात समाप्त कर देना होगा। यदि वे प्रबन्धक-मजदूर सम्बन्धी झगड़ों में पक्षपात करेंगी तो उनकी सार्थकता नष्ट हो जाएगी। इन संस्थाओं को मालिकों और मजदूरों दोनों के प्रतिनिधियों की सम्मति लेनी चाहिए। यदि इन संस्थाओं को श्रम-बाजार में सफलतापूर्वक काम करना है तो इनके लिए मालिकों तथा मजदूरों की इस प्रकार की कार्यिक सहकारिता अनिवार्य है। मनोविश्लेषक, अर्थशास्त्री, शिक्षाशात्री, चिकित्सा शास्त्री सदृश अन्य विशेषज्ञों तथा नेताओं को श्रम-विनिमय संस्थाओं की सार्थकता तथा प्रतिष्ठा बड़ाने के लिए नियुक्त करना होगा। इस विचार से भारतीय राजकीय बीमा संघ (state insurance corporatian) का निर्माण बहुत सुचारु ढंग से हुआ है।

अन्तर्राष्ट्रीय विस्तार—सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी मामले स्थानिक तथा प्रादेशिक क्षेत्रों से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों तक विस्तृत होते हैं। विभिन्न प्रशासन इकाइयों में वैत्तिक सहायता को समायोजित और संतुलित होना पड़ेगा जिससे कि सुरक्षा के भार का न्यायपूर्ण विभाजन हो सके। केन्द्रीय सरकार और प्रादेशिक सरकारें अपने अपने क्षेत्र में वैत्तिक व्यय के एक न्याय्य अश को वहन करेंगी। प्रशासन सम्बन्धी उत्तरदायित्व को भी उचित रूसेप विभाजित और वितरित होना होगा। इन जीवनांकिक अनुगणनों का ठीक ठीक से निर्णय और समय समय पर पुनर्निरीक्षण करना होगा। द्रव्यों और निधियों के सुरक्षित और समयोपयुक्त विनियोग के बारे में भलीभांति विचार करके उसे भली भांति संगठित करना होगा। निधियों की सुरक्षा के साथ साथ आय की भी प्राप्ति करनी होगी। केन्द्रिक तथा सांघिक सम्पर्क भी जीवित रखने होंगे। अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता का भी निर्वाह करना होगा। सामुद्रिकों वैमानिकों तथा अन्य सेवि-वर्गों के लिए, जो एक देश से दूसरे देश तक यात्रा करते हैं, निवास भुगतान, उपचार तथा अन्य सहायताओं के प्रतिव्यवहार के लिए वार्ता करके व्यवस्था करनी होगी। विभिन्न आर्थिक परिस्थितियों में पड़े हुए विभिन्न देशों के तुलनात्मक अध्ययन,

अनुभव-विनिमय तथा उनकी विभिन्न प्रणालियों की खोज का विकास करके उनमें पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करना होगा। इस प्रकार इन समस्याओं के हल के ग्रहण की परिधि विस्तृत हो जाएगी। विशाल जनसंख्याओं के रहन-सहन के स्तर की रक्षा करना, चुने हुए देशों में लाभप्रद वृत्ति की अवधि को अधिकतम करना, अनिवार्य और प्रतिकूल आर्थिक परिस्थितियों के अनैच्छिक शिकार पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों के जीवन को सहनीय बनाना और वृद्धों के अन्तिम दिनों को सुखमय बनाना ऐसा कार्य है जिसमें उच्चतम स्तर की योग्यता, स्फूर्ति और चारित्रिक गठन अपेक्षित हैं : केवल इसी प्रकार सामाजिक सुरक्षा की प्राप्ति और स्थापना हो सकती है।

अध्याय २८

नगर-योजना और गृह-व्यवस्था

केन्द्रीय सामाजिक समस्या—यह कहा जा सकता है कि मजदूरी के प्रश्न और वृत्ति की दशाओं के पश्चात् मजदूर वर्ग के लिए गृह-व्यवस्था की समस्या सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। सचमुच जैसी साधारणतः समस्त संसार की, तथा विशेषतः हमारे देश की, दशा है उसे देखते हुए गृह-व्यवस्था की समस्या हमारी पीढ़ी की केन्द्रीय सामाजिक समस्या है। नागरिक तथा ग्रामीण क्षेत्रों में संत्रामक भीड़ भाड़ एक सामान्य अनुभव है*। जनसंख्या की अल्पाय श्रेणियों की स्थिति नितान्त निराशापूर्ण है। यह कहा जा सकता है कि सभी जगहों की सरकारें और प्रदेशीय सरकारों के साथ जनतंत्र भारत भी इस आवश्यकता के प्रति सजग है। गृह-व्यवस्था समितियाँ बनाई गई हैं और समस्या पर कुशल विचार विमर्श हो रहा है। भारत में राष्ट्रीय योजना समिति (National Planning Committee) और बाहर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (International Labour Organisation) ने इस व्यापक समस्या का काफी अध्ययन किया है।

पुरातन समस्या—गृह-व्यवस्था या नगर-योजना की समस्या नवीन नहीं है। यह बड़ी पुरानी समस्या है। चीन, मिस्र, वेबिलन, यूनान और रोम के अतिरिक्त स्वयं हमारे देश में भी यह समस्या समय समय पर भीषण प्रचंडता के साथ विभिन्न रूपों में सम्मुख आई है। मोहनजोदारो सरीखे प्राचीन नगरों और उनकी स्थितियों के भग्नावशेषों से यह प्रकट होता है कि किस प्रकार मनुष्य ने अपने लिए सुरक्षा और सुविधापूर्ण तथा शानदार मकान बनाने का निरंतर प्रयास किया है। अतीत में मुख्य समस्या राजाओं और समान्तों के लिए यथेष्ट प्रतिष्ठा और सुरक्षापूर्ण घर बनाने की थी। कुलीनों की गृह-व्यवस्था से ही नगर-आयोजकों का मुख्यतः सम्बन्ध था, जब कि आधुनिक समस्या, जनतांत्रिक रूप से, सामान्य नागरिक के लिए गृह-व्यवस्था करने की है।

प्रश्न का मूल कारण—सामूहिक जीवन की आवश्यकता का मूल कारण स्वयं व्यक्ति के स्वभाव में निहित है। यदि मनुष्य का निर्माण किसी दूसरी प्रकार हुआ होता तो कदाचित नगर-योजना और गृह-व्यवस्था की समस्या कभी उठती ही नहीं। परन्तु मलभूत तथ्य यह है कि मनुष्य स्वाभाविक रूप से सम्पर्कशील प्राणी है। उसका अस्तित्व, और विकास उसके पारस्परिक सम्पर्क में ही होता है। यह मूल सत्य है। निवास स्थान की निकटता की व्यवस्था को जितने ही सार्थक रूप से विकसित किया जायगा प्रगति उतनी ही सफल होगी। मनुष्य में सम्पर्क प्रवृत्ति अनेक कार्यों के पूर्ति के लिए होती है। प्राचीन काल में मनुष्य की सम्पर्क की सहज प्रवृत्ति मातृसत्तात्मक तथा पितृसत्तात्मक परिवारों में परिलक्षित होती थी। इसका विस्तार कबीलों या उपजातियों के रूप में हुआ। तत्पश्चात सदियों के विकास के बाद उसने राष्ट्र का रूप धारण किया। आज तक संकीर्ण, पारिवारिक, जाति और सम्प्रदायगत सामूहिक जीवन प्रमुख रूप से प्रचलित है। हमारी निवास प्रणालियों में जातिगत या सम्प्रदायगत

---

*देखिए भारतीय जनगणना रिपोर्ट १९२१, १९३१ और बाम्बे रेन्ट इन्क्वायरी कमेटी रिपोर्ट १९३६।

सम्बन्ध अब भी बने हुए हैं। इन गहरी जमी हुई मनोवृत्तियों को समुचित सम्मान और स्थान देना ही होगा। इनका निर्ममतापूर्वक दमन कर देने से अनेक समाज विरोधी प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं और सम्पूर्ण रूप से सामजिक जीवन के आदर्श की प्राप्ति में बाधा हो सकती है। दूसरी ओर संकीर्ण निष्ठाओं के कारण व्यक्ति, परिवार तथा जातिगत समूहों के सम्पूर्ण राष्ट्र के अनुरूप बनने के आदर्श की भी हत्या न होने देनी चाहिए। विभिन्न निष्ठाओं का सन्तुलन अवश्य प्राप्त करना चाहिए। नगर-योजनाओं को बनाने में इन सामाजिक तथा सामूहिक प्रवृत्तियों को ध्यान में रखना चाहिए।

रक्षा–चरम आवश्यकता—जिस प्रथम आवश्यकता ने मनुष्य को समूहों, कबीलों तथा उपजातियों आदि में बँध कर रहने के लिए मजबूर किया वह उसकी अपने जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा की आवश्यकता थी। प्रकृति के उत्पात, हिंस्र पशुओं के आक्रमण और शत्रुओं के धावों ने मानव निवास के संगठित स्थानीकरण को अनिवार्य कर दिया। यह इतिहास के प्रारम्भ से आज तक होता आया है। अणु-अस्त्रों और वायु-युद्ध के कारण भले ही जन-संख्या विघटित हो जाय परन्तु ये सब उसी सार्थक सैनिक रक्षा वाली पुरातन समस्या के अन्तर्गत आते हैं। युद्ध की नई विधियाँ केवल आधुनिक नगरों के ढाँचे, रूपरेखा और अभिन्यास (lay out) में परिवर्तन की अपेक्षा करेंगी। औद्योगिक केन्द्रों में जनसंख्या के एकत्रीकरण तथा उद्योगीकरण की ओर राष्ट्र की प्रगति होने के कारण हमारे देश में सुरक्षा का पक्ष चरम महत्वशाली हो जायगा। प्रशासन केन्द्रों, औद्योगिक उत्पादन तथा व्यवसायिक वितरणों की भेद्यता को मिटा कर उन्हें स्थायी बनाना होगा। सुरक्षा के अभाव में केवल निम्न स्तर का जीवन ही सम्भव है। भौतिक तथा सांस्कृतिक दोनों प्रकार के विकासों के मार्ग में अरक्षा बड़ा भारी अवरोध है।

नागरीकरण का कार्यिक उद्देश्य—नगर, चाहे वे पुरातन हों या मध्य-कालीन या आधुनिक, ध्येय की दृष्टि से सुरक्षात्मक होने के अतिरिक्त कार्यिक भी होते हैं। यह कदाचित आधुनिक काल में अतीत की अपेक्षा अधिक सत्य है। नगरों के उद्योगीकरण और स्थानीकरण के पीछे मुख्यतः कार्यिक प्रेरणा रही है। मनुष्य जाति सदियों के उतार-चढ़ाव पूर्ण लम्बे रास्ते पर चल करके पुरातन काल से आधुनिक काल तक आ पहुँची है। मिश्रित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्मित नगर भी बहुत संख्या में बस गए हैं। इस औद्योगिक विकास में यातायात ने सहायता प्रदान की है। जहाँ पर जल, स्थल और वायु यातायात की सुविधाएँ एकत्र हो जाती हैं वहाँ मिश्रित उद्देश्य वाले नगर बस जाते हैं। अन्यथा आधुनिक नगरों के विकास में विशिष्ट कार्यिक प्रेरणाओं की प्रधानता रहती है। आधुनिक नगर के प्रकार का निर्धारण उसके द्वारा होने वाली उपयोगिता और बचत के द्वारा होता है। उदाहरण के लिए हम विभिन्न प्रकार के खनिक नगरों, धातुकार्मिक नगरों, रेल नगरों, बन्दरगाहों और विभिन्न प्रकार के औद्योगिक नगरों के विकास को ले सकते हैं। इसी प्रकार वैत्तिक, व्यवसायिक तथा व्यापारिक केन्द्र युग की विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। ये नगर जिन आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं उनका विस्तार निकट पड़ोस से लेकर प्रादेशिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों तक हो सकता है। भू-स्थिति, जलवायु और स्वास्थ्य आदि, नगरों की सृष्टि और विकास को बहुत प्रभावित करते हैं। ऐतिहासिक, धार्मिक, प्रशासनिक, शैक्षिक तथा अन्य सुविधाएँ भी अपना अपना प्रभाव डालती हैं। परन्तु आधुनिक उद्योगीकरण में आर्थिक उद्देश्य की दशा और स्थिति ही प्रमुख रूप से प्रभावशाली होती हैं।

नगर स्थिति के विभिन्न कारण—उदाहरणार्थ सस्ती तापीय या विद्युतीय शक्ति, पर्याप्त जल की उपलब्धि, आवश्यक कच्चे माल और श्रम की उपलब्धि , व्यवसायिक, बीमा सम्बन्धी तथा वैत्तिक सहाताओं तक पहुँच, यातायात तथा बाज़ार की सुविधाएँ तथा इसी प्रकार की अन्य सुविधाएँ विभिन्न प्रकार के नगरों में उद्योगों और व्यापारों के स्थानीकरण के लिए अभीष्ट होंगी । दूसरी ओर धार्मिक नगरों , विश्वविद्यालय-नगरों, प्रशासन-नगरों तथा स्वास्थ्य-सुधार या आमोद-प्रमोद के नगरों की स्थिति के लिए अन्य ऐसे अभीष्ट साधनों की आवश्यकता होगी जिनके द्वारा उनके अपने अपने उद्देश्य समुचित रूप से पूरे हो सकें ।

नगर-योजना—नगर केन्द्र तथा कटिबन्ध—नगर-योजना का आशय, भूम्याकार, मेंह, वायु और तापक्रम सदृश जलवायु सम्बन्धी बातों और भावी विस्तार को ध्यान में रखते हुए नगर के अभिन्यास का मानचित्र बनाने से है ।* इसका उद्देश्य निर्माण, लागत और गति के सम्बन्ध में अधिक से अधिक फायदा पाना होता है । इस प्रकार उसका उद्देश्य भी सार्थक रूप से और किफायत से पूरा हो जाता है तथा स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य बोध को भी धक्का नहीं लगता । नगर की सावयव एकता के निर्वाह और उसके प्रमुख उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भू-दृश्यों, नदियों, पहाड़ों, जंगलों और सागर आदि को पूरी तरह से विस्तारपूर्वक देखना होगा । नगर एक-उद्देशीय होगा या बहु-उद्देश्यीय—इसी प्रश्न का उत्तर नगर-आयोजन को उसका विशिष्ट रूप देगा। नगर आयोजक यथेष्ट सोच विचार के बाद ही नगर-केन्द्र (civic centre) का स्थान निश्चित करेगा—यह निश्चय ही नगर योजना की केन्द्रीय समस्या है : नगर-केन्द्र नगर की आत्मा के सदृश है ।† क्योंकि कुछ भी हो नगर केवल कारखानों, दूकानों और कार्यालयों का संग्रह मात्र नहीं है, जिस प्रकार एक मन्दिर ईंट, पत्थर, चूना का ढेर मात्र नहीं है । एक सच्चे नगर का अपना व्यक्तित्व होता है । एक सच्चे रूपरेखाकार को जनता की प्रकृति का परिचय प्राप्त करके उसे उपयुक्त ढाँचा प्रदान करने का उद्देश्य बनाना चाहिए । प्राचीन तथा मध्यकाल में शिल्प कौशल की महान सफलता और प्रतिष्ठा के साथ यह आदर्श बहुधा प्राप्त कर लिया जाता था । नगर राष्ट्र की आत्मा के प्रतीक होते थे । दिल्ली, पेकिङ्ग, लन्दन, पेरिस, रोम आदि अपने राष्ट्रों की आत्मा को अपने निजी ढंग से प्रतिबिम्बित करते थे । कतिपय आधुनिक नगर ऐसी वास्तुकलात्मक और कायिक अभिव्यंजना में सफल हुए हैं । परन्तु अधिकतर आधुनिक नगर जल्दबाज़ी में विकसित हुए हैं । वे उथल-पुथल के ढंग से विकसित हुए हैं जिससे असुविधा, अस्वास्थ्य, व्यय और कुरूपता की वृद्धि हुई है । चालें तथा पट्टियाँ बड़े गन्दे तथा घिचपिच ढंग से विकसित हुई है । सावयव एकता जो मानव निवास केन्द्रों में आवश्यक है बिल्कुल नष्ट हो गई है । नागरिक केन्द्र और उचित कटिबन्धन (zoning) नगर योजना के मूलाधार हैं । राज-पथों, सड़कों, चौराहों, गलियों, पुलों तथा सुरंगों के युक्तिपूर्ण अभिन्यास के द्वारा मनुष्यों, जानवरों

---

*देखिए एफ० कार्स्टर की 'माडर्न सिटी प्लानिंग' या एच० डब्ल्यू लंकास्टर की 'द आर्ट ऑव टाउन प्लानिंग'।

†यह वास्तविक तथा अलंकारिक रूप से नगर का केन्द्रीय भाग होता है और संस्थाओं विशाल भवनों, उद्यानों आदि द्वारा नागरिकों के ऐतिहासिक और परम्परागत जीवन का प्रतीकत्व करता है ।

तथा यातायात के विभिन्न साधनों के गमनागमन के लिए सुविधाएँ देनी होंगी। एक अच्छे नगर की आयोजना में व्यवसाय तथा व्यापार के केन्द्रों के विशेषतः अस्वास्थ्यकर उद्योगों के निर्माण कटिबन्ध, गोदाम, थोक तथा फुटकर बाजारें, शिक्षा तथा निवास के क्षेत्र, स्थल पथ तथा जलपथ, आमोद-प्रमोद के स्थान , बाग-बगीचे , धार्मिक स्थान, बूचड़खाने, कूड़ाखाने, अस्पताल पागल-खाने तथा श्मशान घाट आदि समस्त स्थानों की समुचित व्यवस्था करनी होगी। स्वास्थ्य तथा नागरिक केन्द्रों पर विशेष ध्यान देना होगा। प्रचुर मात्रा में स्वच्छ जल आदि ले जाने वाली नालियों तथा जल-प्रवाह और कूड़े को इकट्ठा करने और फेंकने का प्रबन्ध करना होगा। दूध घी व अन्य दुग्ध-पदार्थों तथा मांस, फल और सब्जियों की शुद्धता की गारंटी तथा उनके शीत-संग्रह (cold storage) की व्यवस्था करनी होगी। बीमारों, अपंगों, बूढ़ों, पागलों तथा अपराधियों के उपचार की व्यवस्था करनी होगी । सब अवस्थाओं के स्त्री या पुरुष अपराधियों, चोरों, पाकिटमारों तथा वृत्तिहीनों पर यथेष्ट प्रतिबंध को संस्थात्मक रूप से स्थान प्रदान करना होगा। पुलिस चौकियाँ, जेल, शराब की दूकानें, जुआघर, वेश्यालय आदि पर भी, जो कि मनुष्य की पतित वासनाओं के फलस्वरूप उद्भूत होते हैं, उचित ध्यान देना होगा। यदि नगर की जनता को बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उच्चता को प्राप्त होना है तो इस प्रकार की सैकड़ों समस्याओं की परीक्षा तथा प्रबन्ध करना होगा।

मुख्य समस्या—परन्तु नगर की साधारण जनता के घरों की व्यवस्था करना मुख्य समस्या होगी। यह नगर-योजना की समस्या का सबसे जटिल अंश है। गृह-व्यवस्था का अर्थ अन्ततः लोगों के लिए मकान बनाना है। घर के अन्दर और उसके आस पास ही राष्ट्र का लालन पालन होता है। घर ही में बच्चा पलकर वयस्क मनुष्य और राष्ट्र का नागरिक बनता है। मनुष्यों को सुखी, उपयोगी तथा भद्र बनाने के लिए उनकी चिर परिचित पारिवारिक, भौतिक, मनोवैज्ञानिक, तथा बौद्धिक आवश्यकताओं को जाग्रत, शिक्षित, पूर्त तथा अभिव्यक्त करना चाहिए। ऐसे घरों की व्यवस्था के अभाव का अर्थ होगा सभ्यता की असफलता। नगर-आयोजकों के ऊपर यह उत्तरदायित्व है कि वे इस यथेष्ट रीति से गृह-व्यवस्था करें कि पारिवारिक जीवन के उक्त आदर्श पूरे हो सकें। घरों की व्यवस्था कुछ ऐसी होनी चाहिए कि उनके द्वारा मनुष्यों की उत्तम प्रवृत्तियाँ जागरूक हों और उनकी मूलतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो। वे उनकी आय-सामर्थ्य के भीतर ही होने चाहिए। विभिन्न आदतों, भावों, विभिन्न सौन्दर्य-दर्शन के मानों तथा अ-समान आयों की अवस्था में जनसंख्या के सब स्तरों के लिए घरों का निर्माण करना बड़ी ही विषम समस्या है और इसका यथेष्ट हल कोई सरल काम नहीं है। यदि नगर कायिक रूप से तथा नागरिकों के संगठन की दृष्टि से समांग (homogenous) हैं तब तो निर्णय और व्यवस्था में उतनी कठिनाई नहीं होगी। परन्तु जब हमारे नगर सामाजिक तथा कायिक रूप से भिन्नांग (heterogenous) होते हैं तब नगर योजना और गृह-व्यवस्था का आदर्श हल कठिन हो जाता है।

आर्थिक दृष्टिकोण (जनतांत्रिक)—कुछ भी हो यह कहा जा सकता है कि इस समस्या को आर्थिक दृष्टिकोण से ही देखना चाहिए। जाति वर्णादि को प्रधानता न मिलने देना चाहिए। हम जानते हैं कि हमारे देश में तथा विदेशों मे भी ये सामूहिक सम्बन्ध बहुत प्रभावशाली सिद्ध होते हैं। परन्तु हमारे लिए इस पुराने भेद-भाव को बनाये रखने के लिए

व्यग्र होना अनुचित है। इन परम्पराओं की रूढ़िबद्धता नागरिक तथा सामाजिक सामंजस्य का समाज-विरोधी विभाजन कर देगी, अतः इसे रोकना चाहिए। अलगाव की पुरानी प्राचीरों को धीरे-धीरे ढहा देना चाहिए। यह देखा जा सकता है कि हमारे नवीन नगरों में यह प्रक्रिया स्वतः क्रियाशील है। हमारे नगरों के प्राचीन भागों में अब भी लोगों के निवास स्थानों में जाति तथा वर्णगत विभेद है, परन्तु नए भागों में सभी जाति-वर्ण के लोग एक साथ रहने लगे हैं। उच्चतर तथा सुविधापूर्ण रहन-सहन के सर्वमान्य आदर्श के कारण प्राचीन कालीन जाति तथा वर्ग-गत अलगाव धीरे-धीरे क्षीण होता जा रहा है। अब समूहगत पृथक रहन-सहन की भावना लुप्त हो जाएगी और वृहत्तर सामाजिक निष्ठा उसका स्थान ले लेगी। नगरों के निर्माण में गृह-व्यवस्था करते समय विभिन्न आय-स्तरों के लोगों की किराया दे सकने की कार्य क्षमता तथा आर्थिक क्षमता का भी विचार रखना चाहिए। इस प्रकार नागरिक जनता को घर देने का निर्णय करते समय उसकी आय तथा कार्य को ध्यान में रखना चाहिए। इसके लिए (जैसा कि कुछ नगरों में पहले से से ही किया जा चुका है) बड़ी सावधानी से नगर का सर्वे कर लेना चाहिए। तथ्यों के संग्रह और निश्चय के पश्चात् ही योजनाएँ बनाई जानी चाहिए। इन योजनाओं की रूपरेखात्मक, स्वास्थ्यरक्षात्मक तथा अन्य दृष्टिकोणों से परीक्षा होनी चाहिए। वैत्तिक पक्ष की सबसे अधिक ध्यानपूर्वक परीक्षा होनी चाहिए। शिक्षा, प्रशासन, आमोद-प्रमोद या स्वास्थ्य-सुधार के नगरों की अ-भांति औद्योगिक नगरों में यह पाया जायगा कि वहाँ के दो तिहाई से अधिक नागरिक अल्पाय श्रेणियों के हैं। इनमें प्रतिदिन काम करने वाले अकुशल मज़दूर, अर्धकुशल मज़दूर, कुशल यन्त्र चालक और अधिकाँश मध्यवर्गीय लोग भी सम्मिलित हैं। ये ही हमारे नगरों की जनसंख्या के प्रमुख अंश हैं और नगरों की गृह-व्यवस्था की समस्या इन्हीं से सम्बन्धित हैं। धनी तथा उच्चवर्गीय लोग न तो इतने अधिक हैं और न आर्थिक रूप से इतने असमर्थ ही हैं कि अपने रहने के लिए नगर के अन्दर घर की व्यवस्था न कर सकें। वे उपनगरों में भी रह सकते हैं। आधुनिक युग की मोटर सदृश यातायात के याँत्रिक साधन उन्हें सुलभ है। आज के अधिकांश नगरों में अल्पाय श्रेणी के नागरिकों के लिए यथेष्ट निवास की भारी कमी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। विदेशों में भी यही दशा है। जिस प्रथम तथ्य पर ध्यान रखने की आवश्यकता है वह लोगों की किराया दे सकने की सामर्थ्य है। इसी के कारण सर्वहारा की स्थिति जितनी दयनीय है उतनी ही भयानक। इसलिए वर्तमान नगर-योजना की समस्या मूलतः जनसाधारण की निवास स्थान प्रदान करने की समस्या है। इसका उद्देश्य जनतांत्रिक है। नगर-योजना के आशय में आमूल परिवर्तन हो गया है। इसलिए किरायों को जनसाधारण की सामर्थ्य के अनुकूल ही होना चाहिए। जहाँ इस श्रेणी के किराए दारों को 'आर्थिक-किराया' (economic rent) देना पड़ता है वहाँ वह उनकी आय के बीस प्रतिशत से कम नहीं रहा है। अगर उन सब भुगतानों का भी अनुमान लगाया जाय जो उन्हें किसी न किसी रूप में करने पड़ते हैं तो यह प्रतिशत और भी ऊपर उठ जायगा। किराएदारों को हर प्रकार के अवैधानिक खर्च करने पड़ते हैं। भीड़ भाड़ तो इतनी बढ़ गई है कि मानव रहन-सहन के लिए अशोभनीय हो उठी है। किराए के घरों की अवस्था भी खराब हो गई है। शौच गृहों, पानी, मल प्रवाह आदि का पहले जो निम्न स्तर था, वे उससे भी नीचे गिर गए हैं। इस श्रेणी के नागरिकों के घरों का किराया उनकी औसत वार्षिक आय के दस प्रतिशत से अधिक न होना चाहिए। कुछ लोग इससे भी नीचे सीमा निर्धारित करना चाहेंगे परन्तु सामान्यतः मज़दूरियों की उन्नति, महँगाई भता और बोनस तथा सामाजिक सुरक्षा

व विभिन्न ढंग की निःशुल्क सेवाओं के कारण इस श्रेणी के नागरिकों को इतना किराया दे सकना चाहिए । यह भी मानना होगा कि घरों का निर्माण , मरम्मत, और सेवाएँ, सभी चीज़ों का दाम बहुत बढ़ गया है । इन सब व्ययों के लिये समुचित व्यवस्था होनी ही चाहिए जिससे लोग गृह-सम्पत्ति में रुपया लगाते रहें । प्रत्येक दशा में कम किराया ही अधिकारियों का ध्येय होना चाहिए । इस समस्या के अधिकांश विद्वान निःशुल्क गृह-दान के पक्ष में नहीं हैं । अल्पाय मज़दूरों की विशेष श्रेणियों (जैसे भंगी मेहतर आदि) तथा ऐसे उद्योगों के मज़दूरों को जो आबादी से दूर स्थित हों, निश्शुल्क निवास प्रदान किया जा सकता है । ऐसा हमारे देश में आजकल भी किया जा रहा है । अन्यथा निःशुल्क गृह-दान एक गलत नीति है । किराए का भुगतान आत्म सम्मान की रक्षा करेगा । अन्य वस्तुओं के साथ-साथ किराएदारों के विभिन्न वर्गों द्वारा वांछित ढंग के निवास के अनुसार ही किराया भी निश्चित करना चाहिए । निम्नतम आय-श्रेणियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार के घरों के किराए का एक क्रमिक अनुमान लगाना चाहिए परन्तु वह किसी भी दशा में औसत अर्जित आय के दस प्रतिशत से अधिक न होना चाहिए । इस काम के लिए यौगिक आय का नहीं वरन् वास्तविक आय का ही अनुमान लगाना चाहिए ।

गृह-निर्माण का प्रबन्ध—एक ओर किराए पर प्रतिबन्ध तथा दूसरी ओर मकान बनवाने आदि के व्यय को ध्यान में रखते हुए यह चिन्तनीय है कि कौन सी संस्था घरों की आवश्यकता को पूरी कर सकती है । इतना तो स्पष्ट है कि ज़मीन और मकान बनवाने के सामान जैसे ईंट, पत्थर, सीमेंट, लकड़ी, लोहा तथा श्रम का मूल्य बढ़ जाने के कारण व्यक्तिगत ठेकेदार या मकान बनाने की कम्पनियाँ अल्पाय-वर्ग किराएदारों के मकान बनाने के लिए तब तक तैयार नहीं होंगी जब तक उन्हें पूरा-पूरा आर्थिक किराया ले लेने की छूट न मिल जाय । मकानों की कमी की दशा में किराया-प्रतिबन्ध-विधानों को चलाते रहना आवश्यक होगा । नगर-प्रतिबन्ध अधिकारियों (town control authorities) द्वारा गृह-नियतन (allotment) को भी चलाते रहना होगा । इसमें संशय है कि वर्तमान लागत-मूल्य-संतुलन प्रणाली की अवस्था में सहकारी गृह-व्यवस्था समितियाँ इस किराएदार वर्ग की कमी को पूरी कर सकेंगी । इसलिए यह प्रकट है कि समाज के इस वर्ग की गृह-व्यवस्था की मूल समस्या केन्द्रीय या प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रत्यक्ष रूप से या म्युनिसिपैलिटियों कारपोरेशनों या विशेष रूप से निर्मित टाउन इम्प्रूवमेंट ट्रस्टों द्वारा परोक्षरूप से हल की जानी चाहिए । सरकार इन गृह-व्यवस्था संस्थाओं को दीर्घकालिक तथा अल्प-व्याज ऋण देकर पर्याप्त सहायता कर सकती है । ऐसे ऋणों का संग्रह करने के लिए प्रदेश-प्रेम को प्रोत्साहन दिया जा सकता है । अल्पाय श्रेणियों के घरों के निर्माण पर उचित ज़ोर डालते हुए गृह-निर्माण की लक्ष्यपूर्ति को कुछ निश्चित वर्षों की अवधि के उपरांत रखा जा सकता है । वैत्तिक सहायता के अतिरिक्त सरकार गृह-निर्माण संस्थाओं के लिए इमारती सामान का, जो प्रायः बाज़ार में आसानी से नहीं मिल पाता, यथेष्ट और नियमित मात्रा में समुचित प्रबन्ध करके भी उनकी महत्वपूर्ण सहायता कर सकती है । जनसाधारण तथा विशेष रूप से मज़दूर वर्ग की गृह-समस्या को हल करने के लिए पहले से ही बहुत सी प्रशंसनीय योजनाएं चल रही है ।*

*देखिये भारत-सरकार की और बम्बई और संयुक्त प्रान्त की गृह-व्यवस्था सम्बन्धी रिपोर्टें ।

मालिकों को भी अपने मज़दूरों के लिए घर बनवाने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। कुछ मालिक पहले से ही अंशतः ऐसा कर रहे हैं। सुदूर प्रदेशों या खान जैसे अस्वास्थ्यकर उद्योगों में मालिकों से मज़दूरों के घरों की व्यवस्था करने की अपेक्षा की जा सकती है परन्तु अनेक कारणों से मालिकों पर मज़दूरों के निवास की व्यवस्था करने के लिए दबाव न डालना चाहिए। हाँ, उनसे गृह-निर्माण निधि के लिए प्रति-व्यक्ति चन्दा लिया जा सकता है। यह भी विचारणीय है कि मज़दूर लोग अपने मालिकों के दिए हुए मकानों में रहना पसन्द भी नहीं करते। वे काम तथा छुट्टी हर समय प्रबन्धक वर्ग की आंखों के नीचे नहीं रहना चाहते। इस मनोवृत्ति का आदर करना चाहिए। इसका महत्व हमारी समझ से अधिक हो सकता है। इसके द्वारा हर प्रकार की अस्वास्थ्यकर तथा समाज विरोधी प्रतिक्रियाएँ जन्म ले सकती हैं। तालेबन्दियों तथा हड़ताल के दिनों में मालिकों के घरों में रहने से अनावश्यक जटिलताएँ उठ खड़ी हो सकती हैं। इसलिए यह प्रकट है कि सरकार को ही उपर्युक्त प्रकारों से अल्पाय श्रेणी के नागरिकों की गृह-व्यवस्था के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी होना चाहिए। फिर भी व्यक्तिगत साहसोद्यम को भी मकानों की कमी पूरी करने के लिए स्वतन्त्रता रहनी चाहिए। अकेले मज़दूर, चाहे वह सरकारी गृह-व्यवस्था समितियों द्वारा संगठित भी हों तब भी, अपनी गृह-व्यवस्था की आवश्यकता की केवल नगण्य अंशों में ही पूर्ति कर सकते हैं। मुख्य कठिनाई यही है कि सरकार द्वारा निर्मित मँहगे पड़ सकते हैं। उनमें किफायत करने के लिए बहुत अधिक सतर्क रहना होगा। लागत अधिक होगी तो मरम्मत आदि के बारंबार व्यय के कारण आर्थिक किराया भी अधिक होगा। सम्भवतः प्रत्येक दशा में सरकार को आर्थिक किराए से कम वसूल करने के रूप में गृह-व्यवस्था की योजनाओं को आर्थिक सहायता देनी पड़ेगी। परन्तु राजकीय आय का यह व्यय विशेष रूप से मज़दूर जनता के अधिक अच्छे स्वास्थ्य, अधिक अच्छे काम और सन्तोष के रूप में जैसे पुनप्रप्ति हो जाएगा। साधारण समाज और विशेप रूप से प्रशासन के भले के लिए दूरदर्शी राजनीतिज्ञ इन लाभों की अवहेलना नहीं कर सकते।

गृह-व्यवस्था का रूप—गृह-व्यवस्था के रूप का प्रश्न बहुत विचारणीय है। यह इंजीनियरिंग और स्वास्थ्य की मिली जुली समस्या है। सौन्दर्यबौधिक तथा मनोवैज्ञानिक सन्तोषों पर भी विचार करना चाहिए। जनसंख्या की विभिन्न श्रेणियों के लिए अपने निवास स्थान से कार्य स्थान तक रोज़ आने जाने में समय और द्रव्य की बचत और व्यय का पूर्ण रूप से अध्ययन करके ही घरों की स्थिति का निर्धारण करना होगा। निर्धारित तथा निरीक्षित आवश्यकताओं के अनुसार निवासों, बंगलों, चेरियों, चालों, अहातों, उपवन नगरों या ग्रामीण बस्तियों जैसे प्रकारों के मकान बनाने होंगे। इमारती सामान का गुण तथा उसकी फिटिंग, सजावट, शौचालय, रसोईघर और श्रम निवारक वस्तुओं का निर्धारण तथा प्रमाणीकरण हो जाना चाहिए। जनसंख्या के प्रमापों द्वारा निर्धारित सामाजिक प्रचलनों का ध्यान रखते हुए निश्चित फर्श का प्रति मनुष्य घनत्व के अनुसार रहने तथा रसोई घरों, भंडार घरों और स्नानगारों की भी व्यवस्था करनी चाहिए*। मंदिर, मस्जिद, गिरजा, गुरुद्वारा, तथा श्मशान जैसे धार्मिक स्थानों के अतिरिक्त स्कूल, वाचनालय, सार्वजनिक हाल, व्यायाम गृह, खेल कूद के मैदान, थियेटर, सिनेमा, होटल, डेरी, बाज़ार, चिकित्सालय, शिशुपालन-गृह, अस्पताल, नहाने, तथा कपड़ा धोने के घाट, तरकारी उगाने तथा पशुपालन क्षेत्र जैसी सार्वजनिक उपयोग की संस्थाओं

---

*प्राविशियल हाउसिंग बोर्डों की पंचवर्षीय योजना १९४७।

के निर्माण के विषय में भी विचार करना होगा। आधुनिक नगर व्यवस्था के उपरिवर्णित रूप की माँग का कारण हमारी आधारभूत सामाजिक तथा कायिक आवश्यकतायें हैं।

प्रतिनिधि-शासन—अंत में, दो बातें जरूरी हैं। एक तो यह कि प्रबन्धकगण या इम्प्रूवमेंट ट्रस्टों जैसी संस्थाओं में मकानों के निवासियों को प्रशासनसम्बन्धी कार्यों के लिए प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए। प्रशासन जितना ही किराएदारों और निवासियों के साथ अधिक संगठित होगा उतना ही अधिक उपयोगी होगा। प्रतिरोधगत, वर्गगत या व्यक्तिगत स्वार्थों को भली भांति समझ बूझ कर तय करना होगा। गृह-व्यवस्था तथा तत्सम्बन्धी प्रशासन में मौलिक जनतंत्र के सिद्धान्त का व्यवहार होना चाहिए। इस प्रक्रिया द्वारा बस्ती का प्रशासन भी अधिक अच्छा होगा और उसका सामंजस्यपूर्वक संस्कृतिक विकास भी सम्भव हो सकेगा।

खोज—नगर-योजना तथा गृह-व्यवस्था की समस्याओं पर उच्चतम स्तर की खोज करना दूसरी आवश्यकता होगी। इस संगठन का प्रान्तीय तथा स्थानीय गृह-निर्माण प्रशासनों से सावयव सम्पर्क होना चाहिए। नगर जीवन और नगर योजना में जनसंख्या की भावी अभिवृद्धि तथा उसका आयु तथा लिंग-वर्गों में विभाजन, नगर के विस्तार की दिशा, निर्माण में मितव्यय, नागरिक सेवाओं की कार्य क्षमता, सामाजिक सुविधाओं का प्रबन्ध, जनसंख्या के गमनागमन और परिमाण और प्रकृति के आधुनिकतम उपाय, नदियों, सड़कों रेलों और वायुयानों द्वारा व्यवसाय का विकास, जीवन व सम्पत्ति की सुरक्षा तथा इसी प्रकार की अन्य ऐसी समस्याओं पर निरन्तर खोज होती ही रहनी चाहिए। जनता की पसन्दों, कार्यों, प्रक्रियाओं और सांस्कृतिक आदर्शों में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करके उनका एक प्रगतिशील ढंग से प्रबन्ध करना चाहिए। ग्रामीण तथा नागरिक दोनों प्रकार के जीवन को इस खोज के अंतर्गत ले लेना चाहिए। यदि हम जनता की विस्तारशील तथा परिवर्तनशील आवश्यकताओं के आगे देख सकने में असमर्थ हैं तो हम उसे निराशा की ओर ही ले जाएँगे। इसलिए खोज हमारी जनता के द्रुत आधुनिकीकरण के सरल तथा सामंजस्यपूर्ण विस्तार में एक बहुत महत्वशाली भाग लेगी। असाधारण इतिहास वाले अपने महान राष्ट्र के उपयुक्त गृह-व्यवसाय की एक 'महायोजना' बनाना ही उक्त खोज का लक्ष्य होगा।

अध्याय २९

यातायात

यातायात का महत्व—सामूहिक अर्थ में 'यातायात' शब्द का तात्पर्य प्राणियों एवं वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने से होता है। यातायात सभ्य जीवन का महत्व-पूर्ण अंग है। वैज्ञानिक एवं तांत्रिक विकास ने आधुनिक यातायात को देश और काल पर विजय दिलाई है और उसे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महत्व दिया है। यातायात देश के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं रक्षा-सम्बन्धी (defence) संगठन से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। हमारा सम्बन्ध उसके केवल आर्थिक पहलू से है।

यातायात की उन्नति—यातायात के आदि साधन स्त्री-पुरुष स्वयं थे। परन्तु पशुओं के पाले जाने पर वह बोझ स्वाभाविकतया मूक पशुओं पर डाल दिया गया। कदाचित् गधा प्राचीनतम भारवाही पशु है। इसके बाद बैल, घोड़े और ऊँट आए। मध्यपूर्व, फारस, अफगानिस्तान, मिस्र और उत्तर भारत में अब भी ये पशु यातायात के साधनों की भाँति इस्तेमाल किये जाते हैं। गधे से होते होते वायुयान का इस्तेमाल प्राचीन से आधुनिक काल तक के परिवर्तन का द्योतक है। यह सामाजिक विकास की प्रगति का पर्याप्त प्रमाण है। मिस्र, बेबिलन और ग्रीस जैसे देशों की प्राचीन सभ्यताएँ तेज़ और दूर ले जा सकने वाले यातायात के साधनों के अभाव के कारण सँकरी भौगोलिक सीमाओं में सीमित थीं। परन्तु यातायात के विकास ने आधुनिक सभ्यता को संसार भर में बिखेर दिया है।

यातायात का उपयोग—उत्पादन, विनिमय, वितरण एवं उपभोग में सुविधा ही यातायात का आर्थिक उपयोग है।

उत्पादन में सहायता—यातायात उत्पादन को, जिसका काम उपयोगिताओं को उत्पन्न करना और बढ़ाना है, बहुमूल्य सहायता प्रदान करता है। प्राणियों एवं वस्तुओं को उस स्थान से, जहाँ उनकी आवश्यकता नहीं है, उनकी आवश्यकता के स्थान पर पहुँचा कर यातायात उप-योगिता उत्पन्न करता है। कम आवश्यकता वाले स्थानों से प्राणियों एवं वस्तुओं को अधिक आवश्यकता वाले स्थान पर पहुँचा कर यातायात उपयोगिता की वृद्धि करता है। इस प्रकार यातायात 'स्थान उपयोगिता' उत्पन्न करता है।

यातायात उद्योगों के विस्तार में सहायता देकर भी उत्पादन में सहायता देता है। किसी उद्योग का विकास दो शर्तों पर निर्भर है:—(१) कच्चे माल तक पहुँच और (२) विस्तृत बाजार। लंकाशायर का वस्त्र उद्योग बड़े पैमाने वाले उत्पादन में यातायात के महत्वपूर्ण उपयोग का का अच्छा उदाहरण है। यातायात इस उद्योग के लिए आवश्यक कच्चा माल उपलब्ध करता है। जैसे अमरीका, मिस्र और भारत जैसे सुदूर देशों में पैदा की हुई रुई। साथ ही उसकी उत्पादित वस्तुओं को संसार के विभिन्न भागों में ले जाकर और वहाँ उनकी पूर्ति की निरंतरता बनाए रख कर यातायात उसके लिए एक विस्तृत बाजार भी बना देता है। यातायात उद्योगों की उन्नति में सहायक होने के नाते कच्चे माल के बाजार को भी प्रशस्त करता है।

इसके अतिरिक्त यातायात उद्योगों के स्थानीकरण में सहायक होकर भी उत्पादन को सहायता पहुँचाता है। जहाँ यातायात के वे खर्चे जो एक वस्तु की लागत में जोड़े जाते हैं, कम से कम होते हैं, उद्योगों की प्रवृत्ति वहीं केन्द्रित होने की होती है। एक वस्तु को निर्मित करने के लिए शुद्ध सामग्री (pure material) या कुल सामग्री (gross material) का उपयोग किया जाता है। शुद्ध सामग्री का वज़न निर्माण की प्रक्रिया में अत्यन्त नगण्य मात्रा में कम होता है। उदाहरणार्थ रुई शुद्ध सामग्री है। कुल सामग्री का वज़न निर्माण की प्रक्रिया में कम हो जाता है—उदाहरणार्थ कच्चा लोहा। यदि कोई उद्योग ऐसे माल का, जिसका उत्पादन प्रक्रिया में भार कम हो जाता है, अधिक उपयोग करता हो तो, यदि वह उस सामग्री के प्राप्ति स्थान के पास ही स्थित हो तो, यातायात के खर्चे में काफी बचत हो सकती है। इसीलिए सभी धातुकार्मिक उद्योग अधिकतर लोहे कोयले की खानों के पास ही एकत्र हो जाते हैं।

नाशवान वस्तुओं को उनके सुदूर स्थित उपभोक्ताओं के पास पहुँचा कर के भी यातायात उत्पादन को सहायता देता है। मछली मारने, गोश्त को डिब्बे में भरने, मुर्गी पालने, डेरी, और फल के उद्योग जिनमें क्रमशः जापान और न्यूफाउंडलैंड, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और अस्ट्रेलिया, स्विटज़रलैंड और डेनमार्क, कैलीफोर्निया और टस्मानिया के बहुत से लोग लगे हुए हैं अपने वर्तमान विशाल पैमाने पर केवल इसीलिए चलते हैं कि उन्हें विश्वसनीय और द्रुतगामी यातायात सुलभ है।

आधुनिक यातायात ने अपने ही लिए उत्पादन के विशाल क्षेत्र खोल दिए हैं। जहाज़, इंजन, स्वयंचालित गाड़ियां, वायुयान और अन्य सवारियों का निर्माण और उनके असंख्य कल पुर्जों का उत्पादन आजकल के महानतम उद्योग हैं। इनमें पूंजी एवं श्रम अपरिमित मात्रा में लगे हुए हैं।

विनिमय में सहायता—यातायात विनिमय में सहायता देता है। उसके बिना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विशाल जाल असम्भव है। यातायात के नवीन और विकसित ढंग देशों के पारस्परिक व्यवसाय को आगे बढ़ाते हैं। जब यातायात के साधन साधारण और सीमित थे तब व्यापार केवल स्थानीय था और अधिकतर साप्ताहिक बाजारों में होता था। यातायात के साधनों का ज्यों ज्यों विकास हुआ त्योहारी मेले होने लगे। वहाँ बड़े बड़े थोक व्यापारी संसार प्रसिद्ध स्थानों की वस्तुओं को खरीदते और बेचते थे। विज्ञान ने यातायात का और भी अधिक विकास किया और उसका परिणाम यह हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मेलों में होने के स्थान पर एक अबाध क्रिया बन गया। यातायात प्रत्येक देश को उन वस्तुओं के उत्पादन में प्रवृत और सीमित करता है जिनके निर्माण के लिए वे सबसे अधिक उपयुक्त हैं। यह इस प्रकार होता है कि विकसित यातायात द्वारा व्यवसाय के विस्तृत क्षेत्र में श्रम-विभाजन का सिद्धांत लागू होने लगता है। यदि प्रत्येक देश अपनी आवश्यकता की समस्त वस्तुओं को उत्पन्न करने लगे तो या तो उसका परिणाम प्राचीन अवस्था का पुनरावर्तन होगा, जिसमें आवश्यकताएँ स्वल्प और सरल थीं, या बेहद ज्यादा खर्च। यातायात एक बीच का रास्ता प्रस्तुत करता है। इसके द्वारा प्रत्येक देश के लिए यह सम्भव हो जाता है कि वह उन वस्तुओं का उत्पादन विशेष रूप से करे जिन्हें वह सुलभ परिस्थितियों में उत्पन्न कर सकता है और फिर उनका अन्य देशों द्वारा इसी प्रकार उत्पादित वस्तुओं से विनिमय कर ले। इससे दोनों का फायदा होगा।

वितरण में सहायता—यातायात धन के वितरण में सहायता देता है। साधारणतया यह भूमि का मूल्य और परिणामतः उसके भाटक में अभिवृद्धि करता है, यद्यपि किन्हीं परिस्थितियों में यातायात भाटक को कम भी कर सकता है। उदाहरणार्थ सस्ते खाद्य पदार्थ का आयात किसी देश की निकृष्ट कृषि भूमि को कृषि के अयोग्य बना कर भाटक को कम कर सकता है। परन्तु क्योंकि भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ता ही जाता है इसलिए उपर्युक्त परिणाम सम्भव होते हुए भी बहुत निश्चित नहीं कहा जा सकता।

यातायात का एक और आर्थिक परिणाम यह भी है कि यह वित्त-पूंजी पर व्याज की दर और आकार को बढ़ाता है। हम यह देख चुके हैं कि यातायात नए बाज़ार बनाता और पुराने बाज़ारों को विस्तृत करता है। इसका परिणाम यह होता है कि बाज़ारों में पूर्ति के लिए उद्योगों में अधिकाधिक पूंजी लगती जाती है। वित्त-पूंजी की माँग बढ़ने के कारण उसके व्याज की दर चढ़ जाती है, और विनियोग की वृद्धि स्वभावतः व्याज अर्जित धन की कुल मात्रा की वृद्धि कर देती है। आज कल वित्त-पूंजी अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बड़ी शक्ति शालिनी हो गई है; इसका श्रेय यातायात को ही है।

यातायात मज़दूरी की दर को भी बढ़ाता है। अभिवृद्ध उत्पादन के लिए अधिक वृत्ति आवश्यक होती है। श्रमिकों की बढ़ी हुई माँग उनकी मज़दूरी की दर को भी बढ़ाती है। इसके अतिरिक्त यातायात की सुविधाओं द्वारा श्रमिकों की चलिष्णुता बढ़ जाती है और वे शीघ्रता और सरलता से कम मज़दूरी वाले स्थानों से अधिक मज़दूरी वाले स्थानों पर जा सकते हैं। श्रम की चलिष्णुता जिसके द्वारा विस्तृत क्षेत्रों में भी मज़दूरी की दर समान रहती है बहुत कुछ यातायात पर ही निर्भर है।

इसी प्रकार यातायात मूल्यों में समानता लाता है। हमने देखा है कि यातायात बाज़ार विस्तृत करता है। आजकल अधिकांश औद्योगिक वस्तुएँ विश्व विस्तृत एक ही बाज़ार में बेची जाती हैं। निर्माण स्थल से दो उपभोग स्थलों तक ले जाने के अंतर को छोड़कर एक ही वस्तु के लिए एक बाज़ार में एक ही मूल्य रहता है। इसके अतिरिक्त यातायात स्पर्द्धा को प्रोत्साहन देकर भी मूल्यों का समानीकरण करता है। स्पर्द्धा सदैव मूल्यों को कम करती है। बाहुल्य के क्षेत्रों से अभाव के क्षेत्रों को वस्तुएँ पहुँचा कर भी यातायात मूल्यों का समानीकरण करता है। यह विशेष तौर पर भारतवर्ष में देखा जा सकता है जहाँ अक्सर किन्हीं प्रदेशों में अच्छी फसल होती है तो किन्हीं प्रदेशों में अंशतः या पूर्णतः फसल मारी जाती है।

उपभोग में सहायता—यातायात उपभोग में भी सहायता पहुँचाता है। जैसा कहा जा चुका है वह वस्तुओं को विस्तृत बाज़ारों में कम मूल्य पर उपलब्ध कराता है। वस्तुओं के विनिमय द्वारा भी यातायात उपभोग को प्रोत्साहन देता है। अर्थशास्त्र के अनुसार उपभोग में वृद्धि का अर्थ जीवन के स्तर को ऊँचा उठना है।

यातयात के प्रकार—विभिन्न प्रकार के यातायातों को चार विभागों में बाँटा जा सकता है। वे विभाग हैं (१) रेल-यातायात, (२) सड़क-यातायात (३) जल-यातायात और (४) वायु-यातायात।

रेल-यातायात

रेल-यातयात का महत्व—यातायात के विभिन्न साधनों में रेल का महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु आज के युग में सड़क-यातायात अर्थात् मोटर-बस और लॉरी के विकास ने

रेल-यातायात के सर्वोच्च स्थान को संदिग्ध कर दिया है। कुछ भी हो अब भी लम्बी यात्राओं, औद्योगिक कच्चे माल एवं भारी भरकम सामान के यातायात के क्षेत्र में रेल-यातायात का अपना स्थान बना हुआ है।

लम्बी यात्राओं में, विशेषकर उच्चतर श्रेणियों में, रेलों में अधिक आराम मिलता है। मोटर बस पर लम्बी यात्रा उपयुक्त साधनों के अभाव के कारण कष्टप्रद हो जाती है। इंग्लैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका में लम्बी यात्रा की बसों की काफी उन्नति हुई है। इन देशों में उसका प्रचलन कम किराया होने के कारण है। चूंकि रेलें अपनी पटरियों पर दौड़ती हैं इसलिए वे अधिक गति से दौड़ सकती हैं जब कि बसें चलती सड़कों से होकर चलती हैं। रेलों की औसत गति ६० मील प्रति घंटा है जब कि बसों की केवल २५ मील। साधारणतः बसों की गति विधान द्वारा जनता की सुरक्षा और सड़कें खराब न होने के लिए नियंत्रित कर दी जाती है। एक मोटर बस की बोझा लादने की सामर्थ्य भी रेल की अपेक्षा कहीं कम होती है, इसलिए वह सघन और भारी यातायात की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाती। चूंकि रेलों के सम्बन्ध में क्रमागत ह्रास-शील लागत का नियम लागू होता है इसलिए जैसे जैसे यातायात बढ़ता जाता है रेल के किराए कम होते जाते हैं।

रेलों को कुछ अंशों में वायु-यातायात की स्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है परन्तु वह उच्चवर्गीय जनता के गमनागमन तक सीमित है। अन्तर्देशीय जलमार्ग और तटीय जलयानों ने किसी हद तक निम्न वर्गीय जनता के गमनागमन के क्षेत्र में भी, जहाँ प्रमुख आकर्षण गति न होकर सस्तापन होता है, रेल से स्पर्द्धा की है।

दर और किराये—रेल के दर और किराए के सिद्धान्त पर विचार करते समय दो प्रमुख विशेषताओं पर ध्यान रखना चाहिए। एक तो रेल के व्यय में अपरिवर्ती पूंजी बहुत अधिक अनुपात में होती है जब कि अन्य उद्योगों में अपरिवर्ती लागत का अनुपात परिवर्ती लागत के अनुपात की अपेक्षा काफी कम रहता है। रेल की परिवर्ती लागत में विशेष आने-जाने वाली वस्तुओं के लादने का खर्च, विशेष डिब्बों का खर्च, मज़दूरी, कोयला पानी का खर्च आदि शामिल हैं। अपरिवर्ती लागत में मशीन के निर्वाह का खर्च, वेतन, ऋण का व्याज, कर और ऋण-परिशोध निधि का शुल्क शामिल है। पहले (परिवर्ती) समूह में लागत का गमनागमन से सीधा सम्बन्ध है जब कि दूसरा (अपरिवर्ती) समूह बहुत कुछ स्वतन्त्र है और गमनागमन की कमी या अधिकता के साथ घटता-बढ़ता नहीं रहता। रिप्ले के कथनानुसार कुल रेल-व्ययों का दो तिहाई भाग भाग अपरिवर्ती लागत के अन्तर्गत होता है। अपरिवर्ती लागत का यह बड़ा अनुपात इस मत की पुष्टि करता है कि रेल-उद्योग पर क्रमागत वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि नियमलागू होता है। जैसे जैसे गमानागमन बढ़ता जाता है प्रति व्यक्ति खर्च कम होता जाता है क्योंकि कुल खर्च अधिक व्यक्तियों में विभाजित होता है। इस तथ्य का गमनागमन प्रबन्धक के लिए विशेष महत्व है। जहाँ गमनागमन शिथिल हो वह किराए की दर को अधिक यात्रियों को आकृष्ट करने के लिए कम कर सकता है।

दूसरी विशेषता यह है कि रेलों के खर्चे सामूहिक रूप से किए जाते हैं। एक रेल विभिन्न प्रकार के आकार, मूल्य एवं वज़न की चीज़ों को ले जाती है। पुल, सुरंग, पटरियां आदि सवारी और माल दोनों ही प्रकार की गाड़ियों के लिए समान रूप से उपयोगी होती हैं। रेल की पूरी

मशीन अनेक कार्यों के लिए इस्तेमाल की जा सकती है और यह कहना कठिन है कि कुल व्यय का कौन सा अंश किसी विशेष सामान या यात्री से वसूल करना चाहिए।

विभिन्न सिद्धान्त—रेल के किराये और दर के निर्धारण के लिए अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं। उनमें से मुख्य यह हैं :—

(१) **सेवा की लागत का सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार रेल के किराए और दर वस्तुओं एवं यात्रियों के भार वहन की लागत और उचित लाभ के योग के आधार पर निश्चित किए जाने चाहिए। यद्यपि यह सिद्धान्त सरल प्रतीत होता है तथापि इसके उपयोग में कठिनाइयाँ हैं। यदि लागत का अर्थ परिवर्ती लागत हो तब तो वह आसानी से निश्चित की जा सकती है क्योंकि खर्चे किसी विशेष गमनागमन के सम्बन्ध में किए जाते हैं। परन्तु यदि लागत में परिवर्ती और अपरिवर्ती दोनों ही प्रकार की लागतें शामिल हैं तब तो यह हिसाब लगाना बड़ा कठिन होगा कि कितनी अपरिवर्ती लागत किस विशेष गमनागमन से वसूल की जाये क्योंकि इस प्रकार की लागत पूरी सेवा के लिए इकट्ठा लगती है।

दूसरी बात यह है कि गमनागमन के परिमाण के अनुसार परिवर्ती लागत भी बदलती रहती है इसलिए लागत का पता सेवा की अवधि के बाद ही लग सकता है, जबकि दरों की सारणियाँ पहले ही से ज्ञात होनी चाहिए। इससे यह प्रकट हो जाता है कि लागत दर और किराया निर्धारित करने का आधार नहीं बनाई जा सकती क्योंकि किसी क्षण-विशेष पर लागत का ठीक-ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता। अगर लागत निश्चित भी की जा सके तो भी जनता के भले के लिए यह वांछनीय है कि इस आधार पर किरायों का निर्धारण न हो। रेल द्वारा विभिन्न मूल्यों वाली वस्तुओं का गमनागमन हो सकता है। उन सबों को समानुपातिक ढंग से भुगतान करने पर विवश करने का अर्थ सस्ते माल के गमनागमन का निषेध ही होगा। इस प्रकार कुल गमनागमन में भी कमी आ जायगी और सम्पूर्ण व्यय का भार मँहगे माल पर ही पड़ेगा। इनमें से कोई भी जनता के लाभ का मार्ग नहीं है।

फिर भी 'सेवा की लागत' की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह कम से कम वह सीमा निर्धारित कर देती है जिससे कम किराया वसूल करने मे लाभ की कोई संभावना नहीं रह जाती।

(२) **सेवा की उपयोगिता का सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार किराया और दर रेल द्वारा की गई सेवा की उपयोगिता पर आधारित होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि रेल-सेवा की माँग का पक्ष ही, जो उसकी उपयोगिता के परिणामस्वरूप ही निर्धारित होता है, दर एवं किराया निश्चित करने का आधार होना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार दर और किराया वस्तुओं की विभिन्न स्थान-उपयोगिताओं के अन्तरस्वरूप निश्चित किया जाना चाहिए। जैसे यदि एक वस्तु का मूल्य इलाहाबाद में १५) है और कानपुर में २०) तो सिद्धान्ततः इलाहाबाद से कानपुर तक के यातायात की दर अधिक से अधिक ५) होनी चाहिए। सिद्धान्ततः यह अंतर रेल का उपयोग करने वाले व्यक्ति के लिए यातायात की उपयोगिता का माप है। व्यवहार के क्षेत्र में यातायात-व्यय को उपयोगिताओं के अंतर के बराबर रख पाना कठिन है। इसलिए वस्तुओं के बाज़ार भाव के अनुसार ही यह जाना जा सकता है कि जनता उसके यातायात के लिए

कितना खर्च करने के लिए तैयार है। रेल-दर इसी प्रवृत्ति के अनुसार निर्धारित की जाती है। इस सिद्धान्त को कहते हैं---'सामर्थ्यानुसार वसूल करना'। अमीर आदमियों और बहुमूल्य वस्तुओं से गरीब आदमियों और सस्ती वस्तुओं की अपेक्षा अधिक वसूल किया जा सकता है, इसलिए उनसे ऊँची दर पर किराया वसूल किया जाता है। इस किराए में रेल की परिवर्ती और अपरिवर्ती लागतों को पूरी करने की बात ध्यान में रखी जाती है और इसके अतिरिक्त भी कुछ वसूल कर लिया जाता है जो सस्ती वस्तुओं एवं गरीब आदमियों के यातायात की अपरिवर्ती लागत को पूरी करने में सहायक होती है। गरीब यात्रियों और सस्ती वस्तुओं से उसी दर से वसूल किया जाता है जिससे अपरिवर्ती लागत निकल आए। इस प्रकार रेल में उपर्युक्त दो वर्गों से अधिकतम वसूलयाबी की जाती है।

सामर्थ्यानुसार वसूल करना सामाजिक दृष्टि से लाभप्रद होता है क्योंकि आवश्यक सस्ती वस्तुएँ सस्ते में आ जा सकती हैं। अगर किराया अधिक हो तो ऐसी वस्तुओं का आना जाना असम्भव ही हो जाय।

दूसरा लाभ यह भी है कि दर निर्धारित करने का यह तरीका विकासशील उद्योगों के लिए लाभदायक है। शिशु तथा विकासशील उद्योगों के लिए नीची दर रखी जा सकती है।

'सेवा की लागत' और 'सेवा की उपयोगिता' दोनों ही सिद्धान्त महत्वपूर्ण हैं। सेवा की लागत का सिद्धांत निम्नतम सीमा बताता है जिससे नीची दर रखना रेल के लिए हानिकारक होगा। सेवा की उपयोगिता का सिद्धांत वह उच्चतम सीमा बताता है जिसके ऊपर दर निर्धारित करने से व्यापारियों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिल सकता। व्यवहार में दर इन्हीं दो सीमाओं के बीच में कहीं निर्धारित होती है।

(३) **कटिबन्धी-दरों का सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार रेल-सेवा का क्षेत्र कटिबन्धों में विभाजित रहता है। प्रत्येक कटिबन्ध में एक ही दर वसूल की जाती है। एक कटिबन्ध से दूसरे तक जाने का किराया भिन्न होगा। साधारणतया दूर तक कटिबन्ध के लिए ऊँची दर होगी। कटिबन्ध-प्रणाली टिकट चेक करने का काम सुगम कर देती है और छपाई और हिसाब-किताब में भी किफायत हो जाती है परन्तु इससे यात्रियों में असन्तोष फैलता है। कम दूर जाने वाले यात्री को भी अधिक दूर जाने वाले यात्री के समान ही देना पड़ता है। परिणामस्वरूप कम दूर जाने वाला मोटर से आता जाता है। इसके विपरीत दूर जाने वाले यात्री रेल से ही आते जाते हैं और इस प्रकार लम्बी यात्राओं के कारण रेल की लागत में वृद्धि हो जाती है। इसके लिए रेलों को अक्सर किराया बढ़ाना पड़ जाता है। इन्हीं कारणों से यह सिद्धान्त अपनाया नहीं जा सका।

(४) **घटती हुई दरों का सिद्धान्त**--इसके अनुसार जैसे जैसे दूरी बढ़ती जाती है प्रति मील दर कम होती जाती है। अनुपाततः दूरी की वृद्धि की अपेक्षा उसकी लागत की वृद्धि कहीं कम होती है इसलिए जैसे जैसे दूरी बढ़ती जाय दर घटती जानी चाहिए।

(५) **बराबर दूरी का सिद्धान्त**--इस सिद्धान्त के अनुसार दूरी चाहे *जितना भी* हो दर वही रहनी चाहिए। यह सिद्धान्त सेवा की लागत के सिद्धान्त के विरुद्ध है। विभिन्न वर्गों में गमनागमन की विभिन्न परिस्थितियों के कारण लागत भी भिन्न होती है। बराबर

दूरी का सिद्धान्त असंगत है और इसीलिए दरों को ऐसा रखा गया है कि जैसे जैसे दूरी बढ़ती है अनुपाततः दर कम होती जाती है।

रेल के किरायों की दरें (व्यवहार में)—आम तौर से रेलवे एकाधिकारी होती हैं इसी कारण उसमें विभिन्न दरों से किराया वसूल किया जा सकता है। इसलिए ये विभिन्न दर और किराये इस प्रकार निर्धारित किए जाने चाहिए कि अधिकतम प्राप्ति हो सके। परन्तु व्यवहार में रेलों का निरपेक्ष एकाधिकार नहीं होता। प्रत्येक देश में राज्यानुशासन द्वारा एक सीमा निर्धारित कर दी जाती है जिससे अधिक रेलें नहीं वसूल कर सकतीं। अन्य उपायों से भी राज्य रेल पर प्रतिबन्ध रखता है। कुछ देशों में सरकारी नौकरों को राज्याज्ञा द्वारा कम खर्च पर सफर करने दिया जाता है। और रेलवे का भी यातायात पर एकाधिकार नहीं होता उसे मोटर जैसे यातायात के प्रतिद्वंदी साधनों की स्पर्द्धा का भी ध्यान रखना होता है। इधर जो मोटर-यातायात की उन्नति हुई है उसके कारण रेल के किराए मनमाने ढंग से नहीं बढ़ने पाये हैं। इस प्रकार, व्यवहार में, यातायात पर रेलवे का एकाधिकार नहीं रह सका है। फिर भी जो रेल के किरायों में विभेद पाया जाता है उसका कारण एकाधिकार ही है। विभेदपूर्ण किरायों की रीति का प्रयोग वर्गीकरण के सहारे होता है। इस वर्गीकरण का आधार या तो वस्तुओं का मूल्य होता है और या उन वस्तुओं की किराया दे पाने की सामर्थ्य होती है। अधिक मूल्यवान वस्तुएँ एक अलग वर्ग में रखी जाती हैं और उनसे ऊँची दर वसूल की जाती है और इसी प्रकार सस्ती वस्तुओं को एक दूसरे वर्ग में रख कर उनसे नीची दर वसूल की जाती हैं।

सेवा की लागत का भी वर्गीकरण पर प्रभाव पड़ता है। जिन मार्गों पर सुरंगें, और पुल जैसे मूल्यवान साधनों का सहारा लेना पड़ता है उस मार्ग पर किराए की दर ऊँची होती है। इसी प्रकार उन वस्तुओं पर भी अधिक किराया लगता है जिनके उठाने बैठाने में अधिक मेहनत या सावधानी की जरूरत होती है, उदाहरणार्थ शीशे का सामान, खाद्यपदार्थ, और खुली हुई चीजें। जिन अन्य बातों का इस प्रकार के वर्गीकरण पर प्रभाव पड़ता है वे निम्न प्रकार हैं:—

(१) गमनागमन की नियमितता (२) वस्तुओं के भार और घनत्व का अनुपात (३) अभीष्ट रेल-डिब्बे का प्रकार (४) वस्तुओं को ले जाने के लिए नियत समय (५) वैकल्पिक मार्गों की उपलब्धि।

वस्तुओं का वर्गीकरण करने के बाद प्रत्येक वर्ग के लिए दर निश्चित कर दी जाती है। किरायों की सारिणी में विभिन्न वर्गों की वस्तुओं की प्रति मन या प्रति टन दरें दी रहती हैं।

इन 'वर्गीकृत दरों' के अतिरिक्त कुछ विशेष पशुओं के लिए विशेष दरें भी निश्चित की जाती है। इन्हें 'वस्तु-दरें' (Commodity rates) कहते हैं। वस्तु-दरें वर्ग दरों की अपेक्षा कम होती हैं।

भारतीय रेलों में साधारणतः यातायात दरें वस्तुओं के मूल्य पर आधारित होती हैं। वस्तुएँ सोलह वर्गों में विभाजित हुई हैं और सरकार ने अधिकतम और न्यूनतम किराये निश्चित कर दिए हैं। वस्तु का अधिकतम किराया उसके वर्ग द्वारा निश्चित होता है। यदि रेलें चाहें तो अधिकतम से कम भी वसूल कर सकती हैं। परन्तु न्यूनतम को रेलवे बोर्ड की अनुमति के बिना कम नही किया जा सकता।

जो दरें वस्तुतः वसूल की जाती हैं वे निम्नलिखित वर्गों में किसी न किसी के अन्तर्गत आती हैं :—

(१) वर्ग-दरें—प्रति मन, प्रति मील।

(२) सारणी-दरें—जो दूरी की वृद्धि के साथ घटती जाती हैं। ये सस्ती वस्तुओं पर लागू होती हैं।

(३) विशेष-दरें जो विशेष वस्तुओं पर लागू होती हैं। ऐसी वस्तुएँ वर्ग दरों का भार नहीं उठा सकतीं।

भारतीय रेलों का इतिहास—भारत में रेल निर्माण का प्रथम प्रस्ताव सन् १८४४ में हुआ था। इसके लिए भारत सरकार ने ईस्ट इंडियन रेलवे कम्पनी और ग्रेट इंडियन पेनिनसुलर कम्पनी को क्रमशः कलकत्ता और बम्बई से रेल खोलने का ठेका दिया। इस प्रकार कम्पनियों द्वारा ठेके पर रेल चलाने की पद्धति सरकार ने सन् १८५३ से शुरू की। लार्ड डलहौजी ने अपने वाइसराय-काल में गारंटी प्रथा द्वारा भारत भर में रेलों का जाल बिछाने का निश्चय किया। अतएव सन् १८५४-६० में आठ कम्पनियों को ठेके दिए गए। इन ठेकों में मुख्य बातें ये थीं :—(१) सरकार द्वारा निःशुल्क भूमि दान, (२) कम्पनियों की पूंजी पर सरकार द्वारा ४½ से ५ प्रतिशत ब्याज की गारंटी और उस पर २२ पाई प्रति रुपया का भुगतान, (३) पूंजी पर सरकार द्वारा दिए गए ब्याज के अर्धांश का गारंटी पूरी करने के लिए भुगतान, (४) सरकार द्वारा, रेलवे के कर्मचारियों की नियुक्ति के अतिरिक्त समस्त कार्यों का निरीक्षण एवं नियंत्रण, (५) एक निश्चित अवधि के पश्चात रेलों को खरीदने की सरकार को स्वतंत्रता।

इस प्रणाली के कारण सरकार का खर्चा बहुत बढ़ गया क्योंकि प्रारम्भ में कम्पनियों को अपनी चल पूंजी पर ५% की उपलब्धि नहीं हो पा रही थी और सरकार को कमी पूरी करनी होती थी। चूंकि सरकार ने ब्याज की ऊँची दर घोषित कर रखी थी इसलिए कम्पनियाँ खर्चा कम करने के लिए भी अधिक प्रयत्नशील नहीं थीं। ब्याज की इतनी ऊँची दर घोषित करना सरकार के लिए युक्तियुक्त नहीं था और इस प्रकार की गारंटी के बिना भी ब्रिटेन से पूंजी आ सकती थी। आखिरकार सरकार को अपनी गलती महसूस हुई और उसने गारंटी प्रणाली बन्द कर दी। सन् १८६९ से सरकार ने ऋण-पूंजी द्वारा रेलों का निर्माण प्रारम्भ कर दिया। रेल-निर्माण का काम बड़े जोरों से चल पड़ा परन्तु अकाल और अन्य बाधाओं के कारण सरकार का कार्यक्रम आगे न बढ़ सका। अंततः उसे पुनः कम्पनियों की शरण लेनी पड़ी। सन् १८७९-१९०० में बंगाल-नागपुर रेलवे कम्पनी; और मद्रास और सदर्न मरहठा रेलवे कम्पनी को ठेका दिया गया। इस बार की गारंटी नए ढंग की थी; उसकी मुख्यताएँ इस प्रकार की थीं :—(१) कम्पनियों द्वारा निर्मित रेलवे लाइनें लन्दन स्थिति भारत-मंत्री की सम्पत्ति थीं। वह उन ठेकों को २५ वर्ष पूरे होने पर या तत्पश्चात् दस दस वर्षों का अन्तर देकर, कम्पनियों द्वारा व्यय की गई पूंजी को लौटा कर तोड़ सकता था। (२) विनियुक्त पूंजी पर ब्याज की गारंटी पहले से कम अर्थात् ३½ प्रतिशत थी। (३) लाभ का तीन चौथाई भाग सरकार अपने उपयोग के लिए रख सकती थी। अवधि बीत जाने पर सरकार ने ठेकों को पुनर्वार स्वीकृति नहीं दी बल्कि ईस्टर्न बंगाल, अवध-रुहेलखंड और सिंध-पंजाब की रेल कम्पनियों को सरकार ने खरीद भी लिया और उनका प्रबन्ध भी अपने हाथों में ले लिया। ई० आई० आर० और जी० आई० पी० की लाइनें भी सरकार ने

खरीद लीं परन्तु नए समझौते (agreements) में उनका प्रबन्ध फिर उन्हीं कम्पनियों को दे दिया गया। अन्य प्रकार की रेलवे प्रणालियाँ भी इस काल में चल पड़ीं। देशी राज्यों को भी भारत-सरकार ने अपनी सीमाओं के अन्दर रेल निर्माण कार्य में प्रोत्साहन दिया। हैदराबाद ने सर्व प्रथम अपनी रेलें चलाईं।

भारतीय रेलों को सन् १९०० तक लाभ नहीं होता था। राज्य को ५,१५,२०,००० (पांच करोड़, पन्द्रह लाख, बीस हजार) पौंड की हानि सहनी पड़ी। परन्तु सन् १९०० के बाद से राज्य को लाभ होने लगा। सन् १९१० तक यह लाभ बहुत कम था परन्तु सन् १९१९ तक लाभ का परिमाण काफी बढ़ कर ४,४७,४०,००० (चार करोड़, सैंतालिस लाख, चालिस हजार) पौंड हो गया।

भारतीय जनता को यह पसन्द नहीं था कि राज्य की रेलों का प्रबन्ध कम्पनियाँ करें। यह भावना तीसरे दर्जे के यात्रियों के प्रति किए गए दुर्व्यवहार के कारण तीव्र होती गई। इस बात की भी शिकायत रहती थी कि किराए और दर कुछ जान बूझ कर इस प्रकार रखे जाते थे कि भारतीय उद्योगों को हानि हो और ब्रिटिश उद्योगों को कच्चा माल खरीदने में सुविधा हो, और यह कि नौकरी और तरक्की में अंग्रेज़ों और अमरीकियों के साथ अनुचित पक्षपात किया जाता था। सन् १९२० में ऐक्वर्थ कमेटी इस प्रश्न पर विचार करने के लिए नियुक्त की गई कि ई० आई० आर०, जी० आई० पी० आर० को जो राज्य की सम्पत्ति थीं और जिनकी व्यवस्था कम्पनियाँ करती थीं उन्हें सन् १९२४ में जब उनका समझौता समाप्त होता था, सरकारी व्यवस्था के अन्तर्गत ले लेना चाहिए या नहीं। उक्त कमेटी ने रेलों के सरकारी-प्रबन्ध को ही ठीक बतलाया और सन् १९२४ में सरकार ने उक्त दोनों रेलों की व्यवस्था का भार अपने ऊपर ले लिया। अन्य रेलें भी, ज्यों-ज्यों उनके समझौते समाप्त होते गए सरकारी व्यवस्था के अन्तर्गत आती गई। ऐक्वर्थ कमेटी का दूसरा महत्वपूर्ण सुझाव यह था कि रेल-राजस्व साधारण-राजस्व से पृथक कर दिया जाय। इसके कारण निम्नानुसार थे :—(१) इस पृथक्करण से बजट अनुमानों को अनिश्चतता बहुत कुछ दूर हो जाती क्योंकि यह अनिश्चितता बहुत कुछ रेल के लाभ के गलत अनुमान करने के कारण होती थी। रेल के लाभ का अनुमान ठीक होना प्रायः असम्भव है क्योंकि व्यावारिक परिस्थितियाँ प्रतिक्षण बदलती रहती हैं। (२) साधारण-राजस्व में सम्मिलित रहने के कारण रेलों का शुद्ध व्यवसायिक ढंग से संगठन नहीं हो पाता। (३) रेल-राजस्व के लिए निर्धारित निधि वर्ष के अंत पर जब्त हो जाती थी उसके लिए फिर से निधि-दान करना पड़ता था। यह बहुत असुविधापूर्ण होता था। कमेटी का सुझाव था कि रेल-राजस्व में से पूंजी का एक प्रतिशत और लाभ का ५% साधारण राजस्व को दिया जाय। कमेटी का यह भी सुझाव था कि गारंटी-प्रणाली के अनुसार १५० करोड़ रुपया की लागत का रेल-निर्माण आगामी पांच वर्षों में किया जाय और इसी खर्चे से तीसरे दर्जे की यात्रियों की सुविधाओं का भी प्रबन्ध किया जाय। कमेटी ने एक रेलवे बोर्ड निर्माण करने की राय दी थी। उसने उसके कार्यों को भी निर्धारित किया। उसने रेलों और जनता के बीच दर सम्बन्धी झगड़ों को तय करने के लिए एक दर-अदालत (rates tribunal) निर्माण करने की भी राय दी थी।

भारतीय विधान सभा ने एक महत्वपूर्ण अपवाद के साथ ऐक्वर्थ कमेटी के सभी सुझावों को स्वीकार कर लिया। वह दर-अदालत बनाने के लिए राजी नहीं हुई। उसके स्थान

पर उसने सन् १९१६ में अनुचित पक्षपात, अयुक्ति संगत दर और असुविधाओं के विरुद्ध शिकायतों की सुनवाई करने के लिए एक दर-परामर्शदात्री समिति नियुक्ति की। यह बात ध्यान में रखने की है कि एक अदालत और परामर्शदात्री समिति में बड़ा अंतर है। अदालत के निर्णय अंतिम होते हैं और दोनों वादियों पर कानून की भांति अनिवार्यतः लागू होते हैं जब कि परामर्शदात्री समिति को परामर्श मात्र देने का अधिकार है। उस परामर्श को सरकार जो कि ऐसे अभियोगों में एक वादी की भांति ही होती है, माने चाहे न माने।

१९२४-२७ समृद्धि का काल था। इस काल में रेलों द्वारा अर्जित सम्पूर्ण आय ५२ करोड़ ६४ लाख रुपए थी और साधारण राजस्व में रेल-राजस्व का भाग ४२ करोड़ रुपए था। इसके अतिरिक्त ४१·५ करोड़ रुपया घिसावट-निधि में गया था।

१९२९-३६ मंदी का काल था। इस काल में रेलें साधारण-राजस्व को कुछ भी न दे सकीं। उन्हें अपनी सुरक्षा निधि और घिसावट निधि से भी ऋण लेना पड़ा। इस कमी का कारण कुछ तो विश्व भर की मंदी थी और कुछ रेल-यातायात और सड़क-यातायात की पारस्परिक स्पर्द्धा। रिट्रेन्चमेंट कमेटी (१९३१) और पोप कमेटी (१९३२-३३) ने रेलों में छँटनी की राय दी।

सन् १९३६ के पश्चात् रेलों में पुनः लाभ होने लगा। इसका कारण कुछ तो उक्त कमेटियों द्वारा बताए गए सुझावों के अनुसार काम करना था और कुछ व्यापार का पुनरुद्धार। रेलें फिर साधारण-राजस्व को अर्थ दान देने लगीं। फिर भी सड़क यातायात की स्पर्द्धा के कारण रेलों की आय पहले जैसी न हो सकी। सन् १९३६ में सड़क यातायात की स्पर्द्धा का सामना करने और रेल का खर्चा कम करने के लिए वेजवुड कमेटी बनाई गई। कमेटी ने पोप कमेटी के के छँटनी और खर्च कम करने का सुझावों का समर्थन किया। वेजवुड कमेटी के कुछ सुझाव निम्नलिखित सुधारों के विषय में थे :—(१) मरम्मत के लिए आए हुए इंजनों और डिब्बों की संख्या घटाना, (२) रेलों की मरम्मत के स्थानों का एक दूसरे में विलयन, (३) ट्रेनों की चाल तेज़ करना, (४) अनुत्पादक सेवाओं पर रोक लगाना, (५) पूंजी व्यय में अधिक सावधानी बरतना, (६) रेल-कर्मचारियों की अशिष्टता और बेईमानी दूर करने का प्रयत्न करना। सड़क यातायात की स्पर्द्धा के सम्बन्ध में कमेटी ने ज़ोर दिया कि रेल को मोटर यातायात चलाने का भी पूरा अधिकार होना चाहिए। यह काम रेलें या तो ठेकेदारों द्वारा करवा सकती हैं या मोटर यातायात के व्यवसायियों से समझौते करके प्रबन्ध करवा सकती हैं। इसके लिए मोटर यातायात ऐक्ट का संशोधन होना चाहिए और इस प्रकार मोटर-गमनागमन में सुधार होना चाहिए।

द्वितीय महायुद्ध-काल में विशेषकर सैनिक, वस्तुओं और यात्रियों का गमनागमन बहुत बढ़ गया था। रक्षा-सेवाओं द्वारा रेल यातायात माँग इतनी अधिक हो गई थी कि जन साधारण के गमनागमन के लिए बहुत कम गाड़ियाँ मिल पाती थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि गाड़ियों में भयानक भीड़ होने लगी। लड़ाई अगस्त सन् १९४५ में समाप्त हो गई परन्तु रेलों में भीड़ अब भी बहुत होती है।

भावी विकास के पथ—भारतीय-रेलवे-बोर्ड ने एक युद्धोत्तर कालीन रेल विकास योजना बनाई है। इसका अनुमानित व्यय १२०० करोड़ रुपया है और यह सत्रह वर्ष में

पूरी होगी। प्रथम सात वर्षों का व्यय ३२० करोड़ रुपया है । पाँच हजार मील नई रेलवे लाइन निर्माण करने की योजना है ।

सड़क-यातायात

सड़क-यातायात के फायदे—अन्य फायदों के साथ-साथ सड़क यातायात से एक यह भी फायदा होता है कि वह सस्ता पड़ता है । उसके सस्ते होने के कारण इस प्रकार है :—

(अ) सड़कें सरकार द्वारा बनवाई जाती हैं और विधान द्वारा निर्धारित फीसें देकर कोई भी उन पर अपनी गाड़ियाँ चला सकता है । इसके विपरीत रेलों के लिए पटरियों का निर्माण करना होता है जिसमें अपार धनराशि व्यय होती है । रेल-निर्माण में कुल मिलाकर लगभग १०,००० पौंड प्रति मील का खर्च होता है । सड़कें इस धन के एक अंश से ही सरलता-पूर्वक बन सकती हैं । रेलों के सम्बन्ध में स्टेशन, शेड, मालगुदाम, केबिन, सिगनल, क्वार्टर आदि के निर्माण में भी अपार धन राशि का व्यय होता है जब कि सड़क यातायात में इन बातों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

(ब) सड़क पर चलने वाली गाड़ियाँ रेलगाड़ियों से सस्ती पड़ती हैं । सड़क की गाड़ियों में मोटर सबसे अधिक कीमती होती है । लड़ाई के पहले एक मोटर बस या लारी का मूल्य ६,००० रु० से अधिक नहीं था; अब उनका मूल्य लगभग १५,००० रु० है । बैलगाड़ी तथा अन्य गाड़ियां तो बहुत ही सस्ती होती हैं ।

सड़क यातायात से एक और लाभ यह भी है कि गाड़ी को किसी भी रास्ते से ले जाया जा सकता है ; रेलगाड़ी के लिए यह सम्भव नहीं । सड़क यातायात में यात्री अपने घर से ही गाड़ी पकड़ सकते हैं और उतर भी सकते हैं । ऐसा रेल में किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है ।

सड़क पर चलने वाली अच्छी गाड़ियाँ यात्रियों और वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक बिना रुके हुए पहुँचा सकती हैं । यह एक सुविधा है , क्योंकि सीधी यात्रा विलम्ब होने से बचा लेती है और रेल की भांति गाड़ी बदलने का झंझट भी नहीं उठाना पड़ता । लम्बी यात्राओं में रेलें विलम्ब को पूरा कर सकती हैं परन्तु छोटी यात्राओं में मोटरें रेल के साथ सफलता पूर्वक स्पर्द्धा कर सकती हैं ।

मोटर-यातायात में एक यह भी सुविधा होती है कि वह एक निश्चित और रूढ़ कार्य-क्रम के अधीन नहीं रहता । रेलों में व्यापारियों को रेल के कार्यक्रम के अनुसार ही अपना सामान भेजना पड़ता है परन्तु सड़क यातायात में वे अपनी इच्छा एवं सुविधा के अनुसार सामान भेज सकते हैं । उस पर उनका प्रत्यक्ष अधिकार रहता है । एक ठेले भर सामान किसी भी समय एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजा जा सकता है । जल्दी नष्ट हो जाने वाली वस्तुओं और आकस्मिक माँग की पूर्ति के लिए वस्तुओं का शीघ्र यातायात अत्यंत आवश्यक होता है । ऐसी दशाओं में मोटर-यातायात बहुत उपयोगी सिद्ध होता है । रेलों से इस प्रकार की सेवाएँ नहीं हो सकतीं ।

सड़क यातायात शहरों और उनके पास पड़ोस के गांवों में वस्तुओं के पारस्परिक विनमय को प्रोत्साहित करने का अत्यंत उपयुक्त साधन है । दूध, अंडा, तरकारी जैसी गांव की वस्तुएँ सुगमता से शहर लाई जा सकती हैं; यदि विशेष वस्तुओं के लिए विशेष प्रकार की

गाड़ियों का निर्माण हो सके तो पैकिंग आदि की भी विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती। जहाँ तक रेलों का प्रश्न है उसमें बहुत सावधानी से पैकिंग करने की आवश्यकता रहती है और उसमें श्रम और धन दोनों का ही खर्च होता है।

सड़क यातायात में शीशे के माल जैसी कमज़ोर चीज़ें भी कम टूटती हैं और माल की चोरी आदि की सम्भावना भी कम रहती है क्योंकि अधिकतर माल ढोने का उत्तरदायित्व एक ही व्यक्ति पर रहता है। रेलों में किसी एक व्यक्ति को निश्चित रूप से उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। हमारे देश में रेलों में चोरियाँ बहुत अधिक होती हैं। व्यापारी भी यह सोच कर चुप रहते हैं कि शिकायत आदि करने से झगड़ा बढ़ेगा इसलिए चुप रहने में ही कल्याण है।

मोटर बस नागरिक यातायात के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है। वृद्धि होने के कारण नागरिक जनता में उपनगरों में बस जाने की प्रवृत्ति हो गई है। उपनगरों में रहन सहन का खर्च कम होने के कारण यह प्रवृत्ति लाभदायक है परन्तु इसकी उन्नति तभी हो सकती है जब यातायात के सस्ते और तेज़ साधन उपलब्ध हों। मोटर बस में ये दोनों सुविधाएँ सम्भव हैं। शहरों की भीड़ भाड़ को रेलें अकेले नहीं कम कर सकतीं। बम्बई और मद्रास में बिजली की रेलों से कुछ सहायता अवश्य प्राप्त हुई है परन्तु रेलें शहर के सभी मार्गों पर तो नहीं चल सकतीं। मोटर बसें सस्ती, और तेज़ होती हैं। वे मन चाहे रास्तों पर चलाई जा सकती हैं। अतः उनके द्वारा भीड़भाड़ की समस्या आसानी से हल की जा सकती है। शहर के अधिकांश मज़दूरों के लिए तो सस्ता और तेज़ यातायात एक वरदान के समान है। इस प्रकार के यातायात से नागरिकों की समय की बचत होती है। विकेन्द्रीकरण के कारण जनसाधारण का स्वास्थ्य सुधरता है और उनकी नागरिक उत्तरदायित्व की भावना को बल मिलता है।

सड़क यातायात का क्षेत्र—सड़क यातायात हल्की सवारी और छोटी दूरियों के लिए अधिक उपयुक्त है। लम्बी दूरियों और भारी सवारियों के लिए रेलें ही अधिक उपयुक्त हैं। जहाँ सड़कें अच्छी होती हैं मोटरें जनप्रिय सवारी बन जाती हैं। एक मोटर लारी औसतन २½ टन बोझा लाद लेती है इसलिए हलके वज़नों के लिए वह बहुत उपयुक्त होती है। सौ मील तक की दूरी के लिए मोटरों का इस्तेमाल करने से बहुत किफायत हो सकती है। उससे अधिक दूरी के लिए रेलें अधिक ठीक हैं। परन्तु इंग्लैंड और अमेरिका में रेलों को इससे अधिक दूरियों पर भी मोटरों की स्पर्द्धा का सामना करना पड़ता है क्योंकि वहाँ बसों का किराया बहुत कम होता है। कुछ भी हो मोटरों ने, विशेषकर पिछड़े हुए देशों में, अभी तक घोड़ा गाड़ियों और बैलगाड़ियों की जगह नहीं ली है। इसका कारण यही है कि मोटरें अधिक खर्चीली होती हैं और गरीब आदमी न उन्हें खरीद ही सकते हैं और न चला ही सकते हैं। बैलगाड़ियाँ और घोड़ागाड़ियाँ सस्ती पड़ती हैं। वे छोटी यात्राओं और संकरी गलियों से होकर गुजरने के लिए विशेषतौर से उपयुक्त होती हैं। जहाँ माल उतारने या लादने में अधिक समय लगता हो और जहाँ गमनागमन कम हो मोटर गाड़ियों के स्थान पर बैलगाड़ियाँ आदि ही अधिक उपयुक्त हैं। तीन से दस मील की दूरी के लिए बैलगाड़ी सबसे सस्ती पड़ती हैं। यदि जानवर अच्छे हों तो बैलगाड़ी पचास मील तक बोझा ले जा सकती है और एक बार में लगभग चालीस मन ढो सकती है। विस्तृत रेगिस्तानों और उन स्थानों में जहाँ अच्छी सड़कें नहीं हैं, अब भी गधों और ऊँटों पर सामान ढोया जाता है। एक ऊँट पर लगभग दस मन बोझा लादा जा सकता है।

सड़क यातायात की दरें और किराए—सड़क यातायात चलाने के लिए अपेक्षाकृत कम पूंजी की आवश्यकता पड़ती है जो गाड़ियों के मूल्य से कुछ ही अधिक होती है। गाड़ी चलाने के खर्चों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है— (१) स्थायी खर्च और (२) अस्थायी खर्च।

गमनागमन की मात्रा कितनी भी हो स्थायी खर्चे उतने ही रहते हैं परन्तु अस्थायी खर्चे गमनागमन की मात्रा के साथ घटते-बढ़ते रहते हैं।

रेलों की अपेक्षा सड़क यातायात के स्थायी खर्चे बहुत कम होते हैं। सड़क यातायात में अस्थायी खर्चे स्थायी खर्चों से कहीं अधिक होते हैं, इसलिए किसी विशेष गमनागमन के खर्च का अनुमान आसानी से किया जा सकता है।

सड़क यातायात में दर और किराया अधिकांशतः सेवा की लागत के अनुसार ही निश्चित किया जाता है। सड़क यातायात में स्पर्द्धा का भाव लगभग सदैव बना रहता है इसलिए भी दर और किराये सेवा की लागत के लगभग ही जा पहुँचते हैं। कभी-कभी तो स्पर्द्धा इतनी अधिक हो जाती है कि दर और किराये सेवा की लागत से कम भी हो जाते हैं। ऐसी दशा में कोई भी सेवा अधिक समय तक नहीं चल सकती। अधिकतर तीव्र स्पर्द्धा का परिणाम होता है—एकाधिकार। जब किसी कम्पनी या म्युनिसिपैलिटी या राज्य का एकाधिकार स्थापित हो जाता है तब परिणाम यह होता है कि दर और किराए स्पर्द्धा के स्तर से ऊपर उठा दिए जाते हैं। परन्तु बड़े पैमाने पर काम करने से जो बचतें होती हैं उनके और सड़क तथा नहर यातायात की पारस्परिक स्पर्द्धा के कारण दर और किराए का स्तर अनुचित रूप से नहीं बढ़ पाते।

किराए का निर्धारण (व्यवहार में)—किराए कुछ ऐसे ढंग से निश्चित किए जाने चाहिए कि वे यात्रियों की समझ में सुगमता पूर्वक आ सकें। वसूल करने का तरीका और भी सीधा और सरल होना चाहिए जिससे कंडक्टर को भी सुविधा हो। साधारणतया दो विधियाँ व्यवहृत हैं। (१) सपाट दरें और (२) कटिबन्धी दरें।

(१) **सपाट दरें**—इस विधि के अंतर्गत छोटी और बड़ी सब प्रकार की दूरियों के लिए एक ही किराया लिया जाता है। यह सरल विधि है परन्तु इसमें यात्रियों को ऐसा लगता है कि कम दूर जाने वाले को अधिक दूर जाने वाले के लिए खर्च करना पड़ता है क्योंकि जो कुछ वसूल किया जाता है वह दोनों के किराए का औसत होता है।

(२) **कटिबन्धी दरें**—इसमें दूरियों के कटिबन्ध निश्चित कर दिये जाते हैं और एक कटिबन्ध के अन्दर एक ही किराया लिया जाता है। इसमें भी कम दूर जाने वाले की कुछ न कुछ हानि अवश्य रहती है।

सड़कों के विकास का इतिहास—भारत सरकार के पुरातत्व विभाग द्वारा की गई खुदाई से पता चला है कि सिन्ध में मोहन-जो-दारो और पंजाब में हड़प्पा में ३५०० ई० पू० और २५०० ई० पू० भी ऐसे शहर थे जिनमें सड़कें और नालियाँ थीं। बौद्ध काल में सड़क निर्माण म काफी उन्नति हुई। अशोक ने सड़कें और उन पर धर्मशालाएँ बनवाई थीं तथा उन पर छायादार पेड़ लगवाए। शेरशाह, अकबर और औरंगज़ेब सभी ने अपनी राजधानियों को अन्य शहरों से सम्बद्ध करने के लिए सड़कें बनवाई थीं।

कुछ भी हो आयोजित सड़क निर्माण का विकास अंग्रेज़ी काल में ही हुआ। प्रारम्भ में सड़क निर्माण का महत्व केवल सैनिक महत्व की दृष्टि से होता था और यह काम सेना विभाग का ही था। महत्वपूर्ण व्यवसायिक एवं सैनिक केन्द्रों को सम्बद्ध करने के लिए अनेक लम्बी सड़कों का निर्माण हुआ। विलियम बेंटिक और लॉर्ड डलहौज़ी ने इस नीति में परिवर्तन किया और मिलिटरी बोर्ड के स्थान पर सन् १८५५ में पी० डब्ल्यू० डी० (पब्लिक वर्क्स् डिपार्टमेंट) की स्थापना हुई। रेलों की उन्नति से सड़क निर्माण को भी प्रोत्साहन मिला। रेलों के माल के गमनागमन को सुलभ करने के लिए नई सड़कें बनी। लॉर्ड रिपन के वाइसराय काल में स्थानीय स्वशासन की स्थापना के कारण भी सड़क निर्माण को प्रोत्साहन मिला। आजकल मुख्यतः विशाल सड़कें चार हैं और छोटी छोटी अनेक सड़कें उन्हीं से सम्बद्ध हैं। वे हैं (१) ग्रांड ट्रंक रोड (कलकत्ता से खैबर तक) (२) मद्रास से कलकत्ता तक (३) मद्रास से बम्बई तक और (४) बम्बई से दिल्ली तक। इनके विस्तार का योग लगभग ५००० मील होगा। अभी तक के अंग्रेज़ी भारत की कुल पक्की सड़कों के विस्तार का योग ६५,०५४ मील था। सड़कों का विस्तार दक्षिण भारत में सर्वोत्तम है और राजपूताना, सिंध और पंजाब में सबसे कम। सन् १९४३ में कुल ६५,०५४ मील पक्की सड़कों में केवल १५,१२१ मील सड़कें ही आधुनिक ढंग की थीं। इसके अतिरिक्त २,०१,३८४ मील कच्ची सड़कें हैं जिनके केवल १६ प्रतिशत विस्तार पर मोटरें चल सकती हैं। पाकिस्तान बनने से पहले भारत की सड़कों की सम्पूर्ण लम्बाई २,९६,४३८ मील थी। इस प्रकार औसतन प्रति लाख व्यक्तियों के लिए ७६ मील सड़क थी। निम्नलिखित आंकड़े तुलनात्मक हैं :—

देश	सड़कों का विस्तार प्रति वर्ग मील	सड़कों का विस्तार प्रति लाख जनसंख्या
ब्रिटेन	२·०२	३९२
फ्रांस	१·८४	९३४
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	१·०१	२४९९
जर्मनी	·९५	२६०
इटली	·८९	२४७
भारत	·१८	७६

भारत में ६,५५,८९२ गांव हैं। ग्रामीण जीवन ही सर्व प्रधान है इस कारण से राष्ट्रीय विकास की समस्त योजनाओं में ग्राम विकास की योजनाओं का सन्निवेश होना ही चाहिए। ग्राम विकास का एक अत्यंत आवश्यक साधन है सड़कों का विकास क्योंकि इस उपाय द्वारा वे मुख्य सड़कों से सम्बद्ध हो सकते हैं। मोटर चलाने के योग्य पक्की सड़कें भारत के ग्रामवासियों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होंगी क्योंकि तब वे अपने उत्पादन की वस्तुओं को सरलता से और लाभ के साथ बाज़ारों में बेच सकते हैं और इस प्रकार उन्हें बिचवइयों से छुटकारा मिल सकता है। जैसे जैसे किसान की पहुँच में नई नई और विभिन्न प्रकार की बाज़ारें आती जायँगी तैसे तैसे वह अपनी रूढ़ फसलों को छोड़ कर नई नई फसलें उगाएगा। अच्छी सड़कों की सहायता से वह 'खाद्य-कृषि' के स्थान पर कपास जूट और तम्बाकू जैसी 'द्रव्य-कृषियाँ' करने लगेगा। इस प्रकार उसकी आय में वृद्धि होगी और उसके रहन सहन का स्तर ऊपर उठेगा। द्रुतगामी यातायात की सहायता से गाँव वाले तरकारी और फल इत्यादि जल्दी नष्ट होने वाली वस्तुओं

की पैदावार कर सकते हैं और मछली मारना, मुर्गी और शहद की मक्खी पालना जैसे रोज़गार कर सकते हैं। ऐसे रोज़गारों के लिए गावों में काफी क्षेत्र है।

अच्छी सड़कों द्वारा गांव वालों को अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदने में भी बड़ी सुविधा होती है। इस प्रकार किसानों की आवश्यकता के विभिन्न प्रकार के बीज, खाद, और औज़ार आसानी से गाँव ले जाए जा सकते हैं। अच्छी सड़कों से इस प्रकार बेचने और खरीदने दोनों प्रकार की सुविधा मिल सकती है।

यह याद रखना चाहिए कि भारतीय गाँवों की अर्थ व्यवस्था अधिकतर बैलगाड़ियों पर निर्भर है। खराब सड़कों के कारण इनको बहुत अधिक मेहनत पड़ती है और ये जल्दी ही काम करने के अयोग्य हो जाते हैं। गाँव वालों की भयानक कर्ज़दारी का एक यह भी कारण है कि इस प्रकार बैलों के नष्ट हो जाने से गाँव वालों को जल्दी जल्दी बैल खरीदने पड़ते हैं। ऊबड़ खाबड़ सड़कों पर बोझा ढोने के कारण बैल अल्पायु हो जाते है।

अच्छी सड़कों का गाँव वालों पर सांस्कृतिक प्रभाव भी महत्वपूर्ण होगा। उनके सहारे गाँव वाले नई प्रगतिशील शक्तियों के सम्पर्क में आएँगे और अपनी भाग्यवादी निरुपायता से छुटकारा पाएँगे।

सड़कों के विकास पर विचार करने से लिए भारत सरकार ने दिसम्बर १९४३ में नागपुर में एक कान्फ्रेंस बुलाई थी। इसमें प्रान्तों और देशी राज्यों के तीस चीफ इंजीनियर सम्मिलित हुए थे। इस कान्फ्रेंस ने यह निश्चित किया था कि भारत को डेढ़ लाख ग्राम-सड़कों की आवश्यकता है और इसी के द्वारा गाँव आयोजित सड़क व्यवस्था के सन्निकट आ सकते हैं। यह योजना 'नागपुर योजना' नामक युद्धोत्तर सड़क निर्माण की बीस वर्षीय बृहत्तर योजना का भाग है। इस योजना का सविस्तार वर्णन आगे किया जाएगा। यहाँ तो केवल यह बताना था कि गांव की सड़कों के महत्व को सरकार भी स्वीकार कर चुकी है।

आजकल ग्रामीण क्षेत्रों में अच्छी सड़कों की भारी कमी है। गांवों की अधिकांश सड़कें पगडंडियाँ भर हैं। कुछ बड़े बड़े गांवों में जिला बोर्डों ने सड़कें बनवाई हैं परन्तु वे कच्ची हैं और उन पर मोटरें और लोहा चढ़े पहियों की बैलगाड़ियाँ अच्छी तरह नहीं चल पातीं। धनाभाव के कारण इनकी उचित मरम्मत भी नहीं हो पाती।

पुलों का अभाव भी ग्रामीण सड़कों का एक महान दोष है। बरसात के दिनों में पुल न होने के कारण अक्सर सड़कें बेकार हो जाती हैं क्योंकि नदियाँ बढ़कर उनका रास्ता रोक देती हैं।

स्थानीय संस्थाएँ एक प्रकार से गांवों की सेवा कर सकती हैं। वे सब मौसमों के योग्य सड़कें बनाने के स्थान पर केवल अच्छे मौसम के योग्य सड़कों का निर्माण कर सकती हैं। यह ठीक है कि ऐसी सड़कें पक्की न होंगी और बरसात के दिनों में बहुत कुछ बेकार हो जाएँगी। परन्तु फिर भी चूंकि भारतवर्ष में अधिकतर स्थानों पर बरसात साल में तीन महीने से अधिक नहीं होती और ऐसी सड़कों का निर्माण बहुत कम खर्चों में हो जाता है, उनके द्वारा समस्या का तात्कालिक हल हो सकता है। इनका निर्माण राष्ट्रीय सड़क निर्माण का ही एक अंग माना जाना चाहिए और अंततः इन्हें सब मौसमों के योग्य बना देने का लक्ष्य बना रहना चाहिए।

ऐसी सड़कों को बनाने में अलग अलग गांवों या गांवों के समूहों के निवासियों को सहकारिता के साथ कदम बढ़ाना चाहिए। प्रान्तीय सरकारों के ग्राम सुधार विभागों ने इस दिशा में कुछ प्रारम्भिक काम किया है परन्तु चूंकि यह सब किसी पूर्व निश्चित योजनानुसार नहीं हुआ इसलिए कालान्तर में इसका कोई मूल्य नहीं होगा।

वित्त और व्यवस्था—भारत में सड़कों की व्यवस्था करने का भार प्रान्तीय सरकारों, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिसिपल बोर्ड जैसी स्थानीय संस्थाओं पर है।

सड़कों के विकास की सम्भावनाओं और तद्विषयक वित्त व्यवस्था के साधनों की जांच के लिए सन् १९२७ में भारत सरकार ने एक भारतीय सड़क विकास कमेटी बनाई। कमेटी ने यह सुझाव दिया कि पेट्रोल-कर को चार आना प्रति गैलन बढ़ाकर छः आना प्रति गैलन कर दिया जाय और इस प्रकार जो अतिरिक्त आय हो उसे सड़क निर्माण में खर्च किया जाय। उसने यह भी सुझाव दिया कि गाँव की सड़कें सुधारी जायें और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों व म्युनिसिपल बोर्डों को अधिक वित्त दान दिया जाय। इसके अनुसार केन्द्रीय-सड़क-विकास-निधि (१९२९) में स्थापित की गई। यह निधि प्रान्तों में पेट्रोल के खर्च के अनुपात में बाँट दी गई और १५% केन्द्रीय सुरक्षा निध के रूप में रख लिया गया। इस निधि के उद्देश्य इस प्रकार थे (१) खोज (२) सड़क निधि की व्यवस्था (३) सड़क विकास के लिए विशेष महत्वपूर्ण योजनाएँ और (४) पिछड़े प्रान्तों और क्षेत्रों को विशेष सहायता। सन् १९३७ में यह तय हुआ कि प्रत्येक प्रान्त के भाग का २५% प्रतिशत सहायक सड़कों पर खर्च होना चाहिए और रेलों की प्रतिस्पर्द्धी सड़कों पर २५% से अधिक न खर्च होना चाहिए।

यह निधि प्रान्तीय सरकारों के बजट द्वारा निर्धारित निधि के साथ ही सड़कों के निर्माण और उनकी मरम्मत में खर्च होनी चाहिए। परन्तु अधिकांश प्रान्तीय सरकारों ने यह सहायता पाने के कारण अपना खर्च कम कर दिया और इस कारण सड़कों का विकास जैसा प्रत्याशित था उतनी शीघ्रता से नहीं हुआ।

सड़क निर्माण सम्बन्धी अनुभवों से अवगत होने के लिए भारत सरकार के तत्कालीन परामर्शदाता इंजीनियर श्री एस० सी० मिचेल ने सन् १९३४ में एक भारतीय सड़क कांग्रेस की स्थापना की। यह भारत की सड़कों के विकास में एक महत्वपूर्ण घटना थी। भारत सरकार ने इस आन्दोलन को पसन्द किया और पहली बैठक का सारा खर्च जो सरकारी और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों पर हुआ केन्द्रीय सड़क निधि से दिया। पहली बैठक सन् १९३५ में दिल्ली में हुई। इसकी सफलता से प्रोत्साहित होकर सरकार ने अगले दो वर्षों के लिए भी सब खर्च बरदाश्त करने का वादा किया। अपने अच्छे काम के कारण ही कांग्रेस अब स्थाई हो गई है।

हाल में युद्धकालीन अर्थव्यवस्था के स्थान पर शांतिकालीन अर्थव्यवस्था के सुचारु आरोपण के फलस्वरूप सड़कों के विकास की ओर फिर ध्यान आकृष्ट हुआ है। भारत सरकार ने सन् १९४३ में नागपुर में एक कान्फरेंस बुलाई। उसके सुझाव नागपुर योजना के नाम से प्रकाशित हुए हैं। नागपुर योजना ने फौरन ही एक यथेष्ट सत्ताशाली केन्द्रीय सड़क बोर्ड की स्थापना की सम्मति दी और इस बोर्ड के पथप्रदर्शन के लिए एक परामर्शदात्री समिति के निर्माण का भी परामर्श दिया। यह समिति बोर्ड की नीति और योजना की दैनिक व्यवस्था की

देख रेख करती और केन्द्रीय, प्रान्तीय और देशी सरकारों के हितों का ध्यान रखती । नवम्बर १९४४ में भारत सरकार की 'सड़कों की स्थायी समिति' ने इस प्रस्ताव पर विचार किया । स्थायी समिति ने विचार का तो आदर अवश्य किया परन्तु प्रस्ताव की सविस्तार कार्य परिणति के प्रश्न पर प्रान्तीय सरकारों को यह सोचने का अवसर देना आवश्यक समझा कि उक्त संस्थाओं का कार्य क्षेत्र और संगठन किस ढंग का हो ।

नागपुर योजना के अनुसार भारतवर्ष में ४,००,००० मील सड़कों की आवश्यकता है जिनमें से आधी प्रत्येक मौसम के उपयुक्त होनी चाहिए । उसके अनुसार सड़कों का वर्गीकरण निम्न प्रकार है :—

(१). राष्ट्रीय सड़कें—अर्थात् वे बड़ी-बड़ी सड़कें जो विभिन्न प्रान्तों और देशी राज्यों से होकर गुज़रती हैं । इनका राष्ट्रीय महत्व है । ये बड़े-बड़े बन्दरगाहों, विदेशी सड़कों, प्रान्तों और देशी राज्यों की राजधानियों को एक दूसरे से सम्बद्ध करती हैं । इनका उपयोग सैनिक कार्य के लिए होता है ।

(२) प्रान्तीय और देशी-राजकीय सड़कें जिनमें प्रान्तों अथवा राज्यों की अन्य सभी प्रधान तथा सहायक सड़कें सम्मिलित हैं ।

(३) मुख्य जिला-सड़कें ।

(४) छोटी (minor) जिला सड़कें ।

(५) गांव की सड़कें ।

नागपुर योजना के अन्य सुझाव इस प्रकार हैं :—

(१) राष्ट्रीय सड़कों के विकास और मरम्मत का सम्पूर्ण वैत्तिक भार केन्द्रीय सरकार को उठाना चाहिए ।

(२) केन्द्रीय सरकार को सड़कों के विकास में सक्रिय सहयोग देना चाहिए । इसके लिए उसे विशिष्ट जानकारी के लिए केन्द्रीय-सड़क अनुसन्धान शालाएँ खोलनी चाहिए और केन्द्रीय मान तथा विशिष्टाताएँ निश्चिय करनी चाहिए ।

(३) सड़क निर्माण करने की मशीनों और आवश्यक सामान जैसे सीमेन्ट , कोलतार आदि की उपलब्धि में केन्द्रीय सरकार को सहायता देनी चाहिए ।

(४) केन्द्रीय सरकार को अपने निजी प्रयत्नों द्वारा कुशल और बड़ी संख्या में सड़क इंजीनियरों को शिक्षा देनी चाहिए ।

(५) एक केन्द्रीय कानूनी-परामर्शदात्री समिति का निर्माण होना चाहिए जो भूमि-अधिग्रहण अपहरण की रोक थाम, भूमि सुधार का व्यय और तत्सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करे ।

भारत-सरकार ने नागपुर योजना के अधिकांश सुझावों को मान लिया है । १ अप्रैल १९४७ से राष्ट्रीय सड़कों से सम्बन्धित समस्त वैत्तिक उत्तरदायित्व केन्द्रीय सरकार पर चला गया है । परन्तु इसके लिए यह आवश्यक समझा गया कि प्रान्तीय सरकारों को निम्नलिखित शर्तें मंजूर होनी चाहिए ।:—

(१) किसी सड़क को राष्ट्रीय सड़क मानने, और उसके किस भाग को कितना अच्छा बनाया जाय और किस भाग को पहले और किस बाद में बनाया जाय आदि बातों का सारा निर्णय केन्द्रीय सरकार के हाथों में रहेगा।

(२) तद्विषयक सारा खर्च केन्द्रीय सरकार की मंजूरी द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

(३) यों तो प्रान्तीय पी० डब्ल्यू० डी० (जन सेवा विभाग) रहेगा ही, तो भी केन्द्रीय सरकार अपने पास यह अधिकार सुरक्षित रखेगी कि वह आवश्यकतानुसार सड़कों के निर्माण अथवा निर्वाह के लिए कोई अपना विभाग नियुक्त कर दे।

(४) यद्यपि सड़कों पर प्रान्तीय सरकारों को स्वामित्व के अधिकार प्राप्त रहेंगे तथापि गमनागमन के संचालन, अतिक्रमण की रोक थाम, रिबन विकास का नियंत्रण, राष्ट्रीय सड़कों के उपयोग पर प्रतिबंध लगाने और सुधार-कर आदि लगाने के सम्बन्ध में उन्हें जनता के हित में केन्द्रीय सरकार की अनुमति के अनुसार चलना होगा। कुछ भी हो ये केन्द्रीय सरकार को सुधार-कर की आय का कोई अंश भी नहीं मिलेगा।

(५) मोटर आदि गाड़ियों पर जो पहले से कर देती हैं कोई मार्ग-कर या चुंगी नहीं लगेगी। केन्द्रीय सरकार की अव्यवसायिक मोटरें भी प्रान्तीय या स्थानीय कर से मुक्त होंगी।

(६) प्रान्तीय सरकारें जिला और गाँव की सड़कों के विकास की ओर विशेष ध्यान देंगी।

(७) सड़क यातायात का प्रबन्ध साधारणतया व्यवहार की पूर्व निश्चित योजना के अनुसार ही होगा। जिन निर्णयों का सम्बन्ध प्रान्तीय सरकारों से अधिक है वे उनकी सम्मति के अनुसार ही किए जाएँगे।

(नोट—चौथी शर्त के 'रिबन विकास' का अर्थ है उन हल्के उद्योगों का स्थानीकरण जो उन्नति सड़कों के किनारे प्रतिष्ठित हो जाते हैं। उन्नत व्यवसायिक देशों के अनुभव के अनुसार यह प्रथा अंत में उन उद्योगों के लिए भी हानिकर सिद्ध होती है। इसलिए भारत में जहाँ अभी ऐसी चीजों का विकास नहीं हुआ है प्रारम्भ से ही नियंत्रण रखना उचित है।)

यहाँ इसका उल्लेख किया जा सकता है कि भारत में संविधान के मसविदे में 'संघीय विधान द्वारा घोषित राष्ट्रीय सड़कें' संघ-सूची में सम्मिलित कर ली गई हैं। यदि, जैसी आशा है, यह मान लिया जाता है तब तो केन्द्र को राष्ट्रीय सड़कों के पोषण का वैधानिक अधिकार प्राप्त हो जाएगा और इसके फलस्वरुप केन्द्रीय सरकार नागपुर योजनानुसार भारतवर्ष के लिए एक राष्ट्रीय सड़क ऐक्ट बना सकेगी। योजना ने रिबन विकास को रोकने का भी सुझाव दिया है।

नागपुर योजना के अनुसार सड़क विकास की लागत ४५० करोड़ रुपया हो गयी। विवरण निम्न प्रकार है :—

१—निर्माण	३५०	करोड़ रुपया
२—भूमि अधिग्रहण	५०	" "
३—पुल	५०	" "

जैसा ऊपर कहा जा चुका है यह विकास-काल बीस वर्ष होगा और इस अवधि के पूर्ण होने पर सड़कों का मीलों में विस्तार इस प्रकार होगा :—

१—राष्ट्रीय सड़कें— १८,००० मील (देश के बंटवारे के पश्चात केवल १४,००० मील)
२—प्रान्तीय सड़कें ७२,००० मील
३—मुख्य ज़िला सड़कें ६०,००० "
४—छोटी ज़िला सड़कें १,००,००० " बंटवारे के पूर्व के अंक।
५—गाँव की सड़कें १,५०,००० "

जल-यातायात

जल-यातायात का सस्तापन—जल-यातायात यातायात का सबसे सस्ता साधन है। रेलों और सड़कों के निर्माण और पोषण के लिए बहुत रुपए की आवश्यकता होती है। जल-यातायात के लिए तो प्रकृति ने स्वयं ही मार्ग बना दिये हैं। यह ठीक है कि जहाज़ चलाने लायक नहरें बनाने का काम बड़ा खर्चीला है, फिर भी वह खर्च रेलों की अपेक्षा बहुत कम है। बन्दरगाहों और लाइटहाउसों का खर्च स्टेशन, कैबिन, कर्मचारियों के क्वार्टरों आदि के खर्च से बहुत कम होता है।

जल-यातायात के सस्ते होने का एक कारण यह भी है कि पानी में गतिरोध बहुत कम होता है और थोड़ी शक्ति से ही गमनागमन हो सकता है। रेल की पटरियों पर पानी की अपेक्षा पाँच गुना अधिक गतिरोध होता है। गतिरोध की कमी की दशा में लदे हुए समान के टूटने का भय कम हो जाता है और इसी कारण तद्विषयक बीमे का शुल्क भी कम होता है।

रेलों, मोटरों और वायुयानों की अपेक्षा जलयानों में अधिक बोझ लादा जा सकता है। रेल का एक वैगन अधिक से अधिक पचास टन बोझ लाद सकता है जब कि एक सामान्य जलयान इसका बीस गुना लादता है। फिर जलयान द्वारा माल सीधा एक जगह पर लाद कर दूसरी जगह उतारा जा सकता है, परन्तु रेलों में विभिन्न स्टेशन होने के कारण लादने और उतारने की परेशानी कई बार उठानी पड़ सकती है।

जल-यातायात से एक सुविधा और भी है। स्थल मार्गों में देशों की सीमाएँ पड़ती हैं इसलिए सामान की पैकिंग तोड़ तोड़कर उसका निरीक्षण किया जाता है, परन्तु जल मार्गों में ऐसा कोई प्रश्न नहीं उठता।

समय का बहुत अभाव न हो तो सस्ती और भारी वस्तुओं को ढोने के लिए जल मार्ग सबसे अच्छा उपाय है।

जल-यातायात की सीमाएँ—आजकल गति का कम होना प्रायः हर दिशा में एक बड़ी भारी कमी है। जल-यातायात, विशेषकर नहर-यातायात का धीमापन उसकी कदाचित सबसे बड़ी कमज़ोरी है। जल-यातायात उसी दशा में लाभप्रद हो सकता है जब समय के प्रश्न को आसानी से टाला जा सकता हो।

चट्टानी और पहाड़ी इलाकों में नहरें नहीं बन सकतीं।

अत्यधिक ठंढक में पानी जम जाने के कारण ठंडे देशों में जल यातायात को प्राकृतिक अवरोध सहन करना पड़ता है। गर्म देशों में गर्मियों में किन्हीं किन्हीं नदियों और नहरों का

पानी सूख जाता है। इस दशा में भी उन पर जल यातायात सम्भव नहीं रह जाता। दक्षिण भारत की अधिकांश नदियाँ गर्मियों में सूख जाती हैं।

अंतर्देशीय जल-यातायात : दर और किराए—नहर यातायात के लिए साधारण व्यवसायिक संगठन की आवश्यकता होती है। एक ही व्यक्ति या मामूली साझेदारी की कुछ डोंगियों और नावों द्वारा काम चल सकता है। इसमें अधिक पूंजी लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। यातायात शुल्क (१) मार्ग कर और (२) सेवा की लागत के योग के तुल्य होता है। जब गमनागमन अधिक और विभिन्न प्रकार का होने लगता है तब स्वाभाविकतया यातायात का संगठन भी कुछ बड़ा और जटिल हो जाता है और तब दर और किराया भी विभिन्न श्रेणियों में विभाजित कर दिया जाता है। इस श्रेणी विभाजन की पद्धति रेल वाली पद्धति से मिलती जुलती है।

सामुद्रीय-यातायात—माल और यात्रियों का समुद्रों पर यातायात विभिन्न प्रकार के जलयानों द्वारा होता है। दोनों प्रकार की सेवाएँ एक दूसरे से भिन्न हैं। यात्रियों का गमनागमन स्टीमरों पर निश्चित मार्गों द्वारा नियत समय पर होता है। माल दो प्रकार से ले जाया जा सकता है —(१) जलपोतों द्वारा जो नियत समय पर निश्चित मार्गों पर चलते हैं, (२) स्टीमरों द्वारा जिनका कोई निश्चित समय या मार्ग नहीं होता और जो इच्छानुसार संसार के किसी कोने से किसी कोने के लिए माल ले जाते हैं। पहले प्रकार को लाइन कहते हैं। लाइन खोलने के लिए बहुत बड़ी पूंजी की आवश्यकता होती है और उसमें कई जलयान होते हैं। दूसरे प्रकार में हर स्टीमर एक पृथक् इकाई होता है इसलिए उसमें विशाल विनियोग की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिए अधिकतर माल स्टीमरों द्वारा ही ले जाया जाता है।

यात्रियों का सारा गमनागमन लाइनों द्वारा ही होता है। किराए स्पर्द्धा जन्य होते हैं। परन्तु चूंकि विशेष मार्गों पर कुछ ही कम्पनियों के जहाज़ चलते हैं इसलिए वे आपस में समय, मार्ग, गति आदि के बारे में समझौते कर लेती है और किराए निश्चित कर दिये जाते हैं। जहाँ तक कैबिन के किराए का प्रश्न है वह तो प्रतिस्पर्धियों के पारस्परिक समझौते द्वारा निश्चित हो जाता है। परन्तु डेक और तृतीय श्रेणी के यात्रियों के किराए के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। सबसे अधिक लाभ डेक और तृतीय श्रेणी में ही होता है। इसलिए इसमें काफी स्पर्द्धा रहती है। माल ढोने में यात्रियों से भी अधिक स्पर्द्धा होती है। इसका कारण यह है कि सवारियां ले जाने का अधिकार कुछ सीमित जहाज़ लाइनों के हाथ में रहता है जब कि माल ढोने का काम स्टीमरों द्वारा होता है।

समुद्री माल गमनागमन दो प्रकार का होता है (१) उन जहाजों द्वारा जिनमें केवल माल ढोया जाता है और (२) उन जहाज़ों द्वारा जिनमें माल और सवारियां दोनों ले जाए जाते हैं। जब पूरे जलयान में वस्तुएँ ही लादी जाती हैं तब शुल्क जलयान के किराए के अनुसार निश्चित होता है। एक यात्रा या निश्चित समय के लिए जलयान ले लिया जाता है। प्रति टन माल के गमनागमन के हिसाब से किराया तय हो जाता है। यदि निश्चित काल के लिए जलयान किराए पर लिया जाता है तो उसकी भार वहन (tonnage) सामर्थ्यानुसार किराया प्रति मास तय किया जाता है। इस प्रकार की चार्टर-दर को निश्चित करने में मुक्त स्पर्द्धा का सिद्धान्त लागू होता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि दर माँग और पूर्ति की दशाओं पर निर्भर है।

साधारण माल जो छोटी यात्राओं में भेजा जाता है लाइनों के नियमित मार्गों और समय पर चलने वाले जलयानों द्वारा ले जाया जाता है। लाइनों की दर समान नहीं होती। वस्तुओं का वर्गीकरण कर डाला जाता है और वर्गानुसार दर निश्चित की जाती है। बहुमूल्य वस्तुओं का किराया अधिक पड़ता है। लाइन के जलयान अपनी तीव्रगति और नियमितता के कारण चार्टर दर से अधिक वसूल कर सकते हैं, यद्यपि कभी कभी लाइनर की दर चार्टर दर से कम भी होती है। जब किसी जलयान पर कीमती माल लदा हुआ हो उस दशा में वह सस्ते माल को सामान्य दर से कम पर भी लाद सकता है। सस्ते माल के गमनागमन के लिए कभी कभी लाइनों को कुछ बन्दरगाहों के उपयोग का एकान्त अधिकार दे दिया जाता है।

अंतर्देशीय जल-यातायात—रेलों से पहले उत्तर भारत की नदियाँ अच्छे मार्ग थीं। अब तो बंगाल और आसाम को छोड़कर नदियों में यातायात का कारबार लगभग बन्द हो गया है। ब्रह्मपुत्र और हुगली पर अब भी अच्छा गमनागमन होता है। गंगा नदी यद्यपि कानपुर तक यातायात के योग्य है तथापि केवल बंगाल और बिहार में ही उसमें स्टीमर आदि चलते हैं। घाघरा नदी जिस पर फ़ैजाबाद तक स्टीमर चलते थे अब खाली पड़ी रहती है। नदी यात्रा की बंगाल और बिहार की विभिन्न कम्पनियों में जनरल नैविगेशन रेलवे कम्पनी सर्वप्रमुख है। सिन्ध नदी में डेरा इस्माइल खां तक स्टीमर चल सकते हैं। यह विस्तार लगभग ८०० मील का है। सिन्ध की सहायक नदियों और चिनाब नहर में वर्ष भर नौगमन हो सकता है।

इनके अतिरिक्त कुछ छोटी नदियों में वर्ष भर नौगमन हो सकता है। दक्षिण भारत की नदियों में केवल गोदावरी और कृष्णा नदियाँ कुछ दूर तक वर्ष के कुछ अंश में नौगमनीय रहती हैं। दक्षिण भारत की नदियों में यह दोष है कि उनका प्रवाह चट्टानों के ऊपर से होता है, उनकी धारा बहुत तेज़ होती है और वे गर्मियों में सूख जाती हैं। मानसून काल में इन नदियों में इतनी भयंकर बाढ़ आती है कि नौगमन असम्भव हो जाता है।

भारत में केवल नौगमन के लिए बहुत थोड़ी नहरें हैं उनमें से प्रमुख हैं बंगाल की पूर्वीय और वृत्तात्मक नहरें, उड़ीसा तट-नगर, और बकिंहम नहर। बकिंहम नहर कृष्णा नदी के डेल्टा से मद्रास तक समुद्र तट के समानान्तर बहती है। कुछ प्रान्तों में सिंचाई और नौगमन सम्मिलित कर लिए गए हैं: उदाहरणार्थ मद्रास के गोदावरी और कृष्णा डेल्टा के सिंचाई की व्यवस्थाएँ उत्तर प्रदेश में गंगा की हरद्वार-कानपुर नहर, उड़ीसा की नहरें और बंगाल की कुछ नहरें आदि।

सन् १९३८-३९ में भारत में कुल नौगमनीय नहरों का विस्तार ४,३०० मील था। मद्रास और बंगाल प्रत्येक में १४०० मील और अन्य प्रान्तों में कुल १५०० मील। इन पर लगभग बीस लाख नावें चलती हैं जिनमें ९०% माल ढोने वाली नावें हैं।

भारत में रेलों ने जल यातायात के विकास को कुंठित कर दिया है। इसका सस्तापन और सिंचाई के लिए उपादेयता इसे भारत के लिए काफी उपयोगी प्रमाणित करते हैं, परन्तु रेलों की स्पर्द्धा ने इनके विस्तार को रोक रखा है। बम्बई-बड़ौच-स्टीमर-सर्विस (१९०८ में स्थापित) का बी० बी० एण्ड सी० आई० आर के किराए की दर घटने के कारण बन्द हो जाना एक दुख जनक कथा है। इसी प्रकार कम करके रेलों ने बकिंहम नहर के सारे यात्रियों को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है।

जलयान-यातायात—भारत का समुद्रतट लगभग ४००० मील लम्बा है। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत एक मल्लाही देश माना जाता था। अकबर के मृत्युकालीन भारत का वर्णन करते हुए अंग्रेज इतिहासकार मोरलैंड ने लिखा है कि उस समय भारत का वाणिज्य व्यवसाय भारत में निर्मित जलयानों द्वारा चलता था। भारतीय यात्री जलयान पुर्तगाल के अतिरिक्त अन्य योरोपीय जलयानों से कहीं बड़े थे। लौह-जलयानों, यान्त्रिक यातायात, ब्रिटिश जलयान कम्पनियों के एकाधिकार और ब्रिटिश नौगमन विधान के भारत में आरोपण आदि के परिणामस्वरूप भारतीय जल-यातायात का ह्रास हुआ। पिछले पचास वर्षों के भीतर लगभग १०२ भारतीय जलयान कम्पमियाँ खुलीं परन्तु उनमें से लगभग दस के अतिरिक्त सब नष्ट हो गई। ब्रिटिश जलयान कम्पनियों ने किराए की दर घटा कर भारतीय कम्पनियों को धूल में मिला दिया। बहुत दिनों से भारत की अपने निजी व्यापारिक जलयान रखने की लालसा रही है। सन् १९२३ में इण्डिया मरकेंटाइल मैरीन कमेटी (भारतीय व्यापारिक जलयान समिति) बनाई गई। उसने यह सुझाव रखा कि व्यापारिक जलयानों की उन्नति करने के लिए भारत सरकार को चाहिए कि तद्विषयक शिक्षा देने के लिए एक शिक्षण-शिविर जलयान बनाए और जलयान के निर्माण में आर्थिक सहायता भी दे। सरकार ने इनमें से किसी सुझाव को नहीं माना। हाँ शिक्षा के लिए एक 'डफरिन' नामक जलयान अवश्य बना है।

सन् १९२४ में श्री एस० एन० हाजी ने भारतीय विधान सभा में एक इस आशय का बिल पेश किया कि भारत का तट भारतीय जलयानों के लिए सुरक्षित कर दिया जाए। उसमें यह दलील दी गई थी कि संयुक्तराष्ट्र अमेरिका, आस्ट्रेलिया और जापान में समस्त तटवर्ती जल-यात्रा स्वदेशी कम्पनियों के अधिकार में थी। फिर भी बिल पास न हो सका क्योंकि उसमें ब्रिटेन की बड़ी बड़ी कम्पनियों का स्वार्थ निहित था। १९३५ के गवर्नमेन्ट ऑव इण्डिया ऐक्ट के अनुसार भारतीय और बृटिश कम्पनियों में किसी भी प्रकार का भेदभाव वर्जित था।

भारतीय तट पर दर कम करने जैसे स्पर्द्धा के विभिन्न अनुचित उपायों को रोकने के लिए सर ए० एच० गजनवी ने भारतीय विधान सभा में एक बिल पेश किया। भारत सरकार ने उक्त बिल को अव्यावहारिक कह कर रद कर दिया परन्तु तटीय जलयात्रा को व्यवस्थित करने का वचन दिया। इस वचन को पूरा करने के लिए भारत सरकार ने बृटिश जलयान-कम्पनियों से सहायता मांगी। बाद में सरकार ने भारतीय व्यापारिक जल-सेवा का एक विशिष्ट विभाग के अन्तर्गत विकास करने की घोषणा की।

द्वितीय महायुद्ध में देश के अपने जलयान होने का महत्व स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ। श्री वालचन्द हीराचन्द के प्राथमिक प्रयत्नों द्वारा विजगापट्टम में एक भारतीय जलयान निर्माण-यार्ड स्थापित हुआ। विजगापट्टम ऐसा बन्दरगाह है जो इस दृष्टि से बम्बई और कलकत्ते से भी अधिक सुविधापूर्ण है क्योंकि वहाँ कि चट्टानी तह, सस्ता श्रम, पत्थर और लकड़ी निर्माण के कार्य में बहुत सहायक हैं। भारत सरकार ने रेल बिजली और मशीन की सुविधाएँ प्रदान की हैं। यार्ड कायम हो गया है और कुछ जलयान बन भी चुके हैं।

सन् १९४७ में जल-यातायात की युद्धोत्तर पुनर्निर्माण समिति ने भारत सरकार के सम्मुख अपनी रिपोर्ट पेश की :—

इस समिति के सुझाव संक्षेप में इस प्रकार थे :—

(१) भारतीय जल-यातायात भारतीयों के स्वामित्व, में उन्हीं के द्वारा नियंत्रित एवं व्यवस्थित होना चाहिए।

(२) आगामी पांच से सात वर्षों में भारत का सम्पूर्ण तटीय व्यापार, ब्रह्मा और लंका से होने वाला ७५% व्यापार; सुदूर देशों से होने वाला ५०% व्यापार और धुरी राष्ट्रों का पूर्वीय देशों से होने वाला ३०% व्यापार अगले ५–७ वर्षों में भारतीय जल यातायात के हाथों में चला जाना चाहिए।

(३) इस प्रकार भारतीय व्यापारिक वस्तुओं का बोझ लगभग १ करोड़ टन और यात्रियों की संख्या ३० लाख होगी। इसके लिए भारत को देशी नावों को छोड़ कर दो लाख टन बोझा ढोने के लिए जलयानों की आवश्यकता पड़ेगी।

(४) यद्यपि अभी भारतीय जलयान कम्पनियों की टन-शक्ति या उनके वैत्तिक विनियोग पर कोई नियंत्रण करने की आवश्यकता नहीं है तथापि किसी भी प्रकार के एकाधिकारी शोषण को रोकने के लिए सचेत रहना ही चाहिए।

(५) भारतीय जलयानों के लिए जितना भी नया व्यापार सुलभ हो सके उसे विभिन्न कम्पनियों में समानतापूर्वक विभाजित कर देना चाहिए।

(६) आंकड़ों के एकत्र करने और प्रकाशित करने के वर्तमान दोषों को दूर कर देना चाहिए।

(७) वाणिज्य विभाग को पोर्ट-ट्रस्टों की व्यवस्था को यातायात विभाग से अपने हाथ में ले लेना चाहिए।

समिति ने अपने सुझावों को चरितार्थ करने के लिए निम्नलिखित उपाय बताए :—

(१) जलयात्रा बोर्ड की स्थापना। समिति के अनुसार जब तटीय जलयात्रा भारतीय हाथों में आ जायगी तब किसी प्रकार की लाइसेन्स प्रणाली की आवश्यकता अवश्य पड़ेगी। जलयात्रा बोर्ड द्वारा यह काम सुगम हो जायगा और तटीय व्यापार की सुव्यवस्था की जा सकेगी। न्यायशास्त्र में पारंगत एक स्वतंत्र व्यक्ति बोर्ड का अध्यक्ष होगा और जलयानों के स्वामियों और सरकार के प्रतिनिधि उसके सदस्य। इनके कार्य निम्न प्रकार होंगे:—

(अ) भारतीय जलयात्रा के लिए समस्त वैत्तिक एवं अन्य प्रकार की सहायतार्थ जो आवेदन पत्र आए हैं उन पर विचार करना, और सरकार के समक्ष उस सहायता का रूप, प्रकार और सीमा का एक स्वरूप रखना, और इसके अतिरिक्त यह भी निर्धारित करना कि इस प्रकार की सहायता प्राप्त कम्पनियों पर सरकार का किस प्रकार का और कितना प्रतिबंध रहेगा।

(ब) एकाधिकारी शोषण की खराबियों को दूर करने के लिए सरकार के समक्ष प्रस्ताव रखना।

(२) अतिरिक्त टन-शक्ति की उपलब्धि। समिति की सम्मति के अनुसार लगभग २० लाख अतिरिक्त टन-शक्ति उन उपायों को चरितार्थ करने के लिए होनी चाहिए। उसके अनुसार उक्त टन-शक्ति की प्राप्ति के उपाय निम्नानुसार है :—

(अ) बृटिश सरकार या बृटिश कम्पनियों या दोनों से ही इस विषय में बातचीत करके कोई समझौता कर लेना चाहिए क्योंकि इनका भारत के विभिन्न व्यापारों पर आधिपत्य है।

(ब) भारत को भारतीय जलयानों द्वारा ही बाहर से अनाज मँगाना चाहिए। इस प्रकार भारतीय कम्पनियों को टन-शक्ति बढ़ाने में प्रोत्साहन मिलेगा।

(स) भारतीय कम्पनियों को संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के अतिरिक्त जलयान खरीदने में सहायता देनी चाहिए।

(द) भारतीय कम्पनियों को भारत और इंग्लैंड में जलयान बनाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

सरकार ने उक्त समिति के सुझावों को कार्यान्वित करने के लिए नवम्बर सन् १९४७ में यह घोषणा की कि उसका इरादा जलयातायात संघों का निर्माण करने का है जिसमें ५१ % पूँजी सरकारी होगी और उसी अनुपात में सरकार द्वारा मनोनीत संचालक भी होंगे। भारतीय कम्पनियाँ उसके हिस्से खरीद सकती हैं और मैनेजिंग एजेन्सियों की भाँति उसका प्रबन्ध भी कर सकती हैं। इसके अनुसार सन् १९४९ में पहला जल-यातायात संघ बना और उसकी मैनेजिंग एजेन्सी बनी सिन्धिया स्टीम नैविगेशन कम्पनी। इस संघ का उद्देश्य भारत के सुदूर पूर्व और आस्ट्रेलिया से होने वाले जल व्यापार को विकसित करना है।

बन्दरगाह

जल-यातायात के लिए अच्छे बन्दरगाहों का होना नितान्त आवश्यक है। विभाजन के पश्चात् भारत के पास पाँच बड़े-बड़े बन्दरगाह रह गए हैं—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, विजगापट्टम और कोचीन।

बम्बई—बम्बई भारत का सर्वप्रधान प्राकृतिक बन्दरगाह है, इसलिए भारत का सबसे अधिक आयात और निर्यात यहीं से होता है। इसका घाट तो अच्छा है ही, इसकी भौगोलिक स्थिति भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। एक तो यह योरोप से निकटतम बन्दरगाह है, दूसरे इसके पृष्ठप्रदेश में दकन के कपास-उपजाऊ प्रदेश हैं, तीसरे इसकी जलवायु की नमी ने इसे सूत कातने और कपड़ा बुनने का केन्द्र बना दिया है। बम्बई के निर्यात का ४८ % रुई और २० % रुई का माल होता है।

कलकत्ता—समुद्र से ७२ मील दूर हुगली के किनारे बसा हुआ कलकत्ता एक नदी के किनारे का बन्दरगाह है। यह भी निस्संदेह एक विशाल बन्दरगाह है। कलकत्ता और समुद्र के बीच के नदी के पानी की सतह में जो मिट्टी बैठती रहती है उसे काफी खर्च करके बराबर साफ किया जाता है। ज्वार युक्त लहरों के कारण भी रास्ता साफ होता रहता है। कलकत्ते का बन्दरगाह रेलों सड़कों और नदियों द्वारा भली भाँति सम्बद्ध है। इसका पृष्ठप्रदेश भारत के अन्य सब बन्दरगाहों के पृष्ठप्रदेशों से बड़ा है जिसमें बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, आसाम, और सुदूर पंजाब के कुछ भाग सम्मिलित हैं। इसका मुख्य निर्यात जूट है।

मद्रास—मद्रास में आधुनिक ढंग का कृत्रिम घाट है। इसलिए बड़े जलयानों का मार्ग प्रशस्त रखने के लिए बराबर सफाई करानी पड़ती है। बन्दरगाह पर सामान रेलों और बकिंघम नहर द्वारा लाया जाता है। यह नहर वर्ष भर देशीय नावों के लिए नौगमनीय बनी रहती है।

मद्रास का पृष्ठप्रदेश कलकत्ता या बम्बई के पृष्ठप्रदेशों जैसा समृद्ध और विस्तृत नहीं है इसका मुख्य निर्यात चमड़ा है ।

विज़गापट्टम—हाल में यह तट-स्थित नगर एक अच्छा बन्दरगाह बन गया है । मध्य प्रदेश और उड़ीसा के खनिज एवं कृषि पदार्थ जो पहले कलकत्ते से निर्यात होते थे अब यहीं से होते हैं । यह रेलों द्वारा भी सुसम्बद्ध है । इसका घाट सागर-यात्री जलयानों के लिए सबसे पहले सन् १९३३ में खुला । अब जलयान निर्माण यार्ड खुल जाने के कारण इसका महत्व बढ़ गया है । इस बन्दरगाह का भविष्य उज्जवल है ।

कोचीन—यह पश्चिमी योरप से सुदूर पूर्व और आस्ट्रेलिया के रास्ते पर पड़ता है । पहले कुछ गड़बड़ी के कारण जलयानों को काफी दूर रुकना पड़ता था परन्तु केन्द्रीय, मद्रास, कोचीन और त्रावणकोर सरकारों के सम्मिलित प्रयत्नों द्वारा इंजीनियरिंग कौशल से यह बाधा अब दूर हो गई है, और अब इसे एक प्राकृतिक बन्दरगाह बना दिया गया है । कोचीन सन् १९३६ में एक प्रधान बन्दरगाह घोषित कर दिया गया था । इसका पृष्ठदेश काफी सम्पन्न है । इसमें कोचीन, त्रावणकोर, और मद्रास के कुछ दक्षिणी ज़िले हैं । यह दक्षिण भारत का सर्वाधिक सुरक्षित बन्दरगाह है । इसके मुख्य निर्यात हैं—रबड़, चाय, कहवा, इलायची, अदरक और मसाले ।

छोटे बन्दरगाह—भारत में कई छोटे छोटे बन्दरगाह भी हैं जैसे मंगलोर, कालीकट, तूतीकोरिन, और नेगापट्टम ।

अलेप्पी, किलन और कोलाचेल—त्रावणकोर में हैं और नगण्यप्राय हैं । इनमें घाट नहीं हैं परन्तु विकास द्वारा ये उपयोगी बनाए जा सकते हैं । कुछ और निर्माण करने से ये इस लायक बन सकते हैं कि यहाँ जलयानों पर सामान उतारा चढ़ाया जा सके इसके लिए कुछ देशी नावों के निर्माण की आवश्यकता पड़ेगी क्योंकि जलयान ठीक तट तक नहीं आ सकते । इस दृष्टि से ये देशी नावें जितना अच्छा काम करेंगी उतना ही जलयानों का इनकी ओर आकर्षण बढ़ेगा ।

वायु-यातायात

वायु-यातायात का महत्व—वायु-यातायात से निम्नांकित फायदे हैं :—

१—यह अब तक के समस्त यातायात के साधनों में सर्वाधिक तीव्र गतिशील है ।

२—वायुयान नदियों पहाड़ों को बिना रुके हुए पार करते चले जाते हैं, इसलिए बहुत समय और खर्च की बचत हो जाती है और आसानी भी रहती ही है ।

वायु-यातायात दूरस्थित स्थानों के लिए और पहाड़ी पथों को पार करने के लिए बड़ा सुविधापूर्ण है । ऐसी यात्राओं में जिनमें तीव्रगति की अधिक जरूरत होती है वायु-यातायात ही उपयुक्त सिद्ध होता है । यात्रियों के गमनागमन के लिए भी यह बहुत सुविधापूर्ण होता है । हीरे जवाहरात , बहुमूल्य धातुओं , रत्नों और वैज्ञानिक औजारों को ले जाने के लिए भी वायु-यातायात ही उपयुक्त है ।

वायुयात्रा में चोरी आदि का डर भी अत्यंत कम होता है इसलिए बीमा का शुल्क कम रहता है ।

वायु-यातायात की सीमाएँ :—

(१) इसे चलाने का खर्च बहुत अधिक होता है इसलिए कम्पनियाँ अधिक किराया भी वसूल करती है और इसलिए केवल ऐसी वस्तुएँ ही, जिन पर इस प्रकार अधिक किराया खर्च किया जा सकता है, वायु यातायात का विषय बन सकती हैं।

(२) यात्रियों का किराया भी बहुत होता है इसलिए उच्च वर्ग वाले ही, जिनके लिए समय रुपए से अधिक मूल्यवान होता है, वायु यात्रा कर सकते हैं।

(३) वायुयानों की भार वहन शक्ति भी थोड़ी ही होती है और केवल हल्की फुल्की चीजें ही भेजी जा सकती हैं; परन्तु अब वायुयानों के आकार और सामर्थ्य दोनों में उन्नति और वृद्धि हो रही है।

(४) वातावरण की दशाओं पर निर्भर करने के कारण वायु-यातायात धरती पर के यातायात की भाँति सुनिश्चित नहीं हो सकता। अकसर कुहरा और खराब मौसम के कारण उड़ानों को स्थगित कर देना पड़ता है, इस दशा में यात्रियों को होटलादि में ठहरना पड़ता है और खर्च और भी बढ़ता है। परन्तु हाल में वायु-यातायात में बहुत उन्नति हुई है और-और भी उन्नति होने की सम्भावना है। जब तक वायु-यातायात मौसम के अधीन रहेगा तब तक वह रेलों या जलयानों से सफलतापूर्वक स्पर्द्धा नहीं कर सकता।

(५) वायु-यातायात में जोखिम सबसे अधिक है, अक्सर इंजन फेल हो जाते हैं और मशीन में आग लग जाती है। विशिष्ट सुधारों के फलस्वरूप अब वायु द्वारा ठंडे किए हुए इंजन और सर्वधातु वायुयानों का निर्माण किया जा रहा है।

दर और किराया—वायु-यातायात में दर और किराया निश्चित करने में सेवा की लागत के सिद्धान्त का विशेष हाथ रहता है। स्पर्द्धा के कारण दर और किराया सेवा की लागत के बराबर ही रहते हैं। यातायात के अन्य साधनों की अपेक्षा वायु-यातायात बहुत मँहगा है। हाल में विशिष्ट सुधारों द्वारा इसकी लागत को काफी कम करने की चेष्टा की गई है परन्तु फिर भी धरातल के यातायातों की अपेक्षा यह यह बहुत मँहगा है। बिना और सस्ता हुए वायु-यातायात कभी लोकप्रिय नहीं हो सकता।

लागत कम करने के लिए यह परम आवश्यक है कि वायुयान का पूरा पूरा उपयोग किया जाय। वायुयानों पर काफी व्यय होता है और इसीलिए जब तक उनकी सब सीटों का उपयोग नहीं होता, लागत अधिक ही लगती है। आजकल वायु-यातायात की स्थायी लागत कुल लागत की तीन चौथाई है। शेष एक चौथाई अस्थायी अर्थात् विमान चलाने की लागत है। दोनों लागतों को एक स्तर पर लाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि गमनागमन में वृद्धि करके अस्थायी लागत को बढ़ाया जाय। इसका आशय यह है कि मशीन का उसकी सामर्थ्य भर पूरा-पूरा उपयोग हो सके। अनुमानतः ड्रैगन फ्लाई (एक विशिष्ट प्रकार का वायुयान) के प्रथम छः घंटे की उड़ान की लागत १० पौं० ३ शि० ६ पेंस प्रति घंटा होती है और बारह घंटों की उड़ान में केवल ६ पौं० १० पेंस प्रति घंटा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वायुयान का पूरा उपयोग करने से लागत घट सकती है। इस सम्पूर्ण उपयोग के लिए स्थल संगठन और सामान अत्यंत आवश्यक है, और गमनागमनार्थ यात्री भी पर्याप्त संख्या में होने चाहिए। वायुयानों को भरे रखने के लिए पर्याप्त गमनागमन अत्यंत आवश्यक है और गमनागमन, जब तक किराया नहीं घटता तब तक, नहीं बढ़ सकता। किराया

घटाने के दो उपाय हैं (१) किरायों को बरबस कम करके यात्रियों को आकृष्ट करने की सुदृढ़ नीति और (२) राज्य की सहायता द्वारा यातायात को प्रोत्साहित करना। लगभग सब देशों की सरकारें इस प्रकार की सहायता देती हैं क्योंकि वायु-यातायात द्वारा उन्हें अच्छे विमान, विमान चालक और यंत्रकुशल व्यक्ति प्राप्त होते हैं।

सहायताएँ प्राप्त होने पर कम्पनियाँ शुल्क घटा भी सकती हैं। शुल्क घटने से गमनागमन की मात्रा बढ़ेगी और तब लागत भी कम हो जाएगी क्योंकि उस दशा में उतनी ही अपरिवर्ती लागत द्वारा अधिक गमनागमन सम्भव हो सकेगा। सेवा की लागत घटा कर शुल्कों को और भी कम किया जा सकता है।

भारत में वायु-यातायात—भारत में नागरिक-वायुयात्रा का विकास हाल में ही हुआ है। सर जार्ज ल्वाएड ने जब वे बम्बई के गवर्नर थे, बम्बई से कराची तक वायुयात्रा प्रारम्भ करके इस दिशा में प्रथम प्रयास किया था। वह प्रयास केवल वायु-यात्रा की लागत का अनुमान भर करने के लिए किया गया था और उस उद्देश्य के पूर्ण होते ही उसे स्थगित कर दिया गया।

अन्य देशों में वायु-यातायात की जो उन्नति हुई उसकी प्रतिक्रिया भारतवर्ष में भी हुई। सन् १९२८ में विमान चालकों की शिक्षा के लिए केन्द्रीय सरकार ने कुछ उड्डयन संघ बनाए। प्रमुख केन्द्रों में हवाई अड्डे बनाने की भी व्यवस्था की गई। अंग्रेज़ सरकार द्वारा रजिस्टर्ड 'इम्पीरियल एयरवेज़' नामक एक बृटिश लिमिटेड कम्पनी ने सरकारी संरक्षकत्व में सन् १९२९ में लन्दन कराची वायु-यात्रा का प्रारम्भ किया। सन् १९३० में यह दिल्ली तक विस्तृत कर दी गई। कराँची और दिल्ली के बीच डाक भेजने का काम भारत सरकार ने इम्पीरियल एयरवेज़ को एक विशेष समझौते द्वारा सौंप दिया जिससे कम्पनी के कर्मचारियों और सामान का उपयोग सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। यह समझौता सन् १९३१ में खत्म कर दिया गया और सरकार ने राजकीय वायुयात्रा की योजना बनाई। परन्तु धनाभाव के कारण यह विचार छोड़ देना पड़ा और व्यक्तिगत साहसोद्यमों की शरण लेनी पड़ी।

सन् १९३३ में बृटिश सरकार और बृटिश एयरवेज़ लिमिटेड में परस्पर एक समझौता हुआ जिसके अनुसार लन्दन-कराची वायुयात्रा भारत के आर-पार सिंगापुर तक विस्तृत कर दी गई। इस प्रकार यह इंग्लैंड-आस्ट्रेलिया वायुयात्रा की एक कड़ी बन गई। इंडियन ट्रांस-कान्टीनेन्टल एयरवेज़ नामक एक कम्पनी बनी जिसमें पचास प्रतिशत हिस्से बृटिश एयरवेज़ लिमिटेड, पचीस प्रतिशत हिस्से इंडियन नेशनल एयरवेज़ लिमिटेड और शेष पचीस प्रतिशत हिस्से भारत सरकार के थे। यह कम्पनी बृटिश एयरवेज़ के साथ साथ कराँची और सिंगापुर के बीच की यात्रा का प्रति सप्ताह प्रबन्ध करती थी। उसने कलकत्ता और ढाका के बीच द्वि-साप्ताहिक यात्रा का भी प्रबन्ध किया। भारत सरकार से एक दसवर्षीय समझौते के अनुसार कम्पनी ने कराँची लाहौर वायु यात्रा का प्रबन्ध भी किया, जो बृटिश एयरवेज़ को सम्बद्ध करने वाली एक कड़ी के सदृश था।

भारत में व्यवसायिक वायु-यातायात का प्रारम्भ सन् १९३२ में बम्बई में टाटा एयर लाइन्स लिमिटेड के खुलने से हुआ। उसके बाद सन् १९३३ में दिल्ली में इंडियन नेशनल एयरवेज़ लिमिटेड की स्थापना हुई। टाटा ने एक मामूली शुरुआत की थी; उनके पहले वायुयान में एक विमान चालक और केवल एक यात्री बैठ सकता था। सन् १९३६ तक उसके वायुमार्गों का विस्तार कराँची से बम्बई होते हुए कोलम्बो तक हो गया। सन् १९३८ में 'सम्पूर्ण

इम्पायर एयरमेल स्कीम' का उद्घाटन हुआ ; यह भारतीय वायु-यातायात के लिए एक महत्वपूर्ण वर्ष था। टाटा को सबसे अधिक डाक ढोने को मिली और उसने कराँची-बम्बई की डाक ढोकर लगभग साढ़े चौदह लाख रुपए की वार्षिक आय की। इंडियन नेशनल एयरवेज़ ने क्वेटा, पंजाब और सीमा प्रान्त में वितरणार्थ कराँची से लाहौर तक डाक ढोकर केवल साढ़े तीन लाख रुपया की वार्षिक आय की।

द्वितीय महायुद्ध छिड़ने के समय दोनों कम्पनियाँ इम्पायर एयरमेल स्कीम के अन्तर्गत कार्य करके समुचित आय कर रही थीं। सन् १९४२ में जब जापान भी लड़ाई के मैदान में उतर पड़ा तब भारत और लंका के बीच में वायुयात्रा सम्बन्ध कायम रखना बड़ा ज़रूरी हो गया। इसके लिए दोनों कम्पनियों को अपने मार्गों को विस्तृत करने के लिए प्रत्येक प्रकार की सहायता दी गई। कम्पनियों को वायुयान किराए पर दिए गए और प्रत्येक सीट का किराया सरकार देने लगी चाहे वह सीट खाली ही क्यों न हो। दोनों कम्पनियाँ वस्तुतः सरकारी यातायात निर्देश (ट्रांसपोर्ट कमांड) के अन्तर्गत आ गईं।

महायुद्ध के अंत तक दोनों कम्पनियों की आर्थिक दशा इतनी सुधर गई जितनी शायद सामान्यतः १५ वर्ष से कम में नहीं ठीक हो सकती थी। उन्नत-वित्त व्यवस्था, सरकार से बढ़े चढ़े सम्बन्ध और आधुनिकतम वायुयानों के प्रयोग के अनुभव के कारण (जो समझौतों के अनुसार उन्हें प्राप्त हुए थे) ये कम्पनियाँ नई कम्पनियों के तुलना में कहीं अच्छी स्थिति में हो गई हैं।

अपने बढ़े हुए अनुभवों के बल पर टाटा कम्पनी ने काफी उन्नति कर ली है। उसने सात अन्तर्देशीय वायुमार्गों के लिए एयर इंडिया लिमिटेड नाम की कम्पनी खोली है। सन् १९४८ में उसने एयर इण्डिया इण्टरनेशनल लिमिटेड की स्थापना की है। यह कम्पनी बम्बई-लन्दन लाइन पर साप्ताहिक यात्रा का प्रबन्ध करती है।

इंडियन नेशनल एयरवेज़ ने अपना काम बढ़ाया है। कुछ मार्गों की लम्बाई और संख्या बढ़ी है।

सन् १९३६ में बम्बई-काठियावाड़ के लिए एयर सरविसेज़ ऑव इंडिया लिमिटेड की स्थापना हुई। शीघ्र ही यह कम्पनी समूचे देश के ७० % वायुयात्रियों के काम आने लगी परन्तु कुछ आर्थिक परिस्थितियों के कारण सन् १९४० में बन्द हो गई, सन् १९४६ से इसका काम फिर शुरू हो गया है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद वायु-यातायात की धूम मच गई; कई कम्पनियाँ खुलीं। पूँजी इस ओर खिचीं और हिस्से काफी मंहगे हो गए। नई कम्पनियों में बिड़ला द्वारा स्थापित भारत एयरवेज़ लिमिटेड और डालमिया द्वारा स्थापित डालमिया-जैन एयरवेज़ लिमिटेड प्रमुख हैं।

द्वितीय महायुद्ध का अंत होते-होते भारत सरकार ने अन्तर्देशीय यातायात के मार्गों के लाइसेन्स नियत करने के लिए एक एयर ट्रांसपोर्ट लाइसेन्सिंग बोर्ड की स्थापना कर दी।

पूंजी का कुछ इतना ज़ोर ब ा और जल्दी जल्दी इतनी कम्पनियों का निर्माण हुआ कि मार्ग-लाइसेन्सों के लिए बड़ी तीव्र स्पर्द्धा हुई। परिणामस्वरूप सरकार ने अपनी युद्धोत्तर कालीन सहायता-योजना को रद कर दिया।

विशेषज्ञों की राय में एक वायुयात्रा कम्पनी को काफी मील यात्रा करने का अवसर मिलना चाहिए तभी उसका काम किफायत से हो सकता है; चूँकि उसी दशा में वह आवश्यक संख्या में वायुयान रख सकती है। यह संख्या आठ से दस तक होनी चाहिए और इसका उपयोग कम से कम १५०० घंटे प्रतिवर्ष होना चाहिए। आजकल भारत में गमनागमन के मार्ग का विस्तार लगभग ७००० मील है। अधिकतर ये मार्ग पाकिस्तान, ब्रह्मा, और लंका जैसे विदेशों में खत्म होते हैं। ऐसे मार्गों पर उन देशों की वायुयात्रा कम्पनियों को भी यात्रा का अधिकार रहता है। इस प्रकार भारतीय कम्पनियों के गमनागमन में आधे की कटौती हो जाती है। इस दृष्टिकोण से भारत में जितनी कम्पनियाँ हैं वे मार्गों के विस्तार के विचार से अधिक हैं। यह सच है कि अभी और निकट भविष्य के लिए भी यहाँ की जनता की वायुयात्रा की ओर विशेष प्रवृत्ति नहीं है।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि व्यवसायिक वायु-यातायात में किसी प्रकार की कमी रक्षा के लिए अहितकर होगी। राष्ट्रों की वायुशक्ति उनकी सशस्त्र वायुसेना तक ही परिमित नहीं होती। वह बहुत कुछ उसके व्यापारिक वायुयानों, वायुयान उत्पादक और दोनों के संचालन और संगठन पर निर्भर रहती है। भारत में इन तीनों आवश्यक वस्तुओं का अभाव है।

पिछले युद्ध द्वारा यह प्रकट हो चुका है कि आधुनिक युद्ध में वायुशक्ति सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। वायु पर मनुष्य की विजय अभी अपनी शैशवावस्था में ही है। समयानुसार यह अंग अधिक विस्तृत और सशक्त होगा और जो भी राष्ट्र इसकी अवहेलना करेगा वह निश्चय ही संकट का आवाहन करेगा।

विदेशी कम्पनियाँ—अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण भारत अन्तर्राष्ट्रीय और अंतर्महाद्वीपीय वायु-यातायात में महत्वपूर्ण है। योरोप की तीन साम्राज्यवादी शक्तियों के लिए, जिनके उपनिवेश पूर्व में हैं, वायु-यातायात के सम्बन्ध में भारत अनिवार्य है। द्वितीय महायुद्ध के पहले बृटिश ओवरसीज़ एयरवेज़ कारपोरेशन की एक लाइन लन्दन से आस्ट्रेलिया तक थी। कराँची, जोधपुर, इलाहाबाद और कलकत्ता उसके बीच में पड़ने वाले स्टेशनों में से थे। एयर फ्रांस नामक एक फ्रांसीसी कम्पनी की लाइन जो फ्रांसीसी हिन्द-चीन तक थी, भारत होकर जाती थी। हालैंड से जावा की यात्रा की रायल डच एयरलाइन्स नामक एक डच कम्पनी की इसी प्रकार भारत से होकर कार्य करती थी। ये सब यात्राएँ युद्ध-काल में स्थगित हो गई थीं; अब फिर से शुरू हो गई हैं। इसके अतिरिक्त भारत की महत्वपूर्ण स्थिति के कारण विदेशी, विशेषकर अमरीकी कम्पनियों की संख्या जो भारत से होकर कार्य करती है, आश्चर्यजनक रूप से बढ़ गई हैं।

भारत में जो युद्धोत्तर कालीन नागरिक वायु यात्रा की विकास योजना है उसके अनुसार दस वर्ष में साढ़े पाँच करोड़ रुपए के खर्च से हवाई अड्डे बनेंगे। १११ हवाई अड्डे और वायु-यानों के उतरने के स्थानों का निर्माण किया जाएगा जिनमें ७८ में रात्रि यात्रा की सुविधाएँ रहेंगी।

वायुयान निर्माण—द्वितीय महायुद्ध में वायुयानों की बड़ी माँग हुई। परिणाम स्वरूप चालीस लाख रुपए की पूँजी से, जो बाद में पचहत्तर लाख रुपए हो गई, बंगलौर में

हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट कम्पनी की स्थापना हुई। इस कम्पनी के हिस्सेदार थे श्री० वालचन्द हीराचन्द, भारत सरकार और मैसूर सरकार। युद्धकाल में कम्पनी की फैक्टरी और समस्त सामग्री भारत सरकार ने ले रखी थी। यह कम्पनी अधिकतर बाहर से आए हुए पुर्जों को फिट करके वायुयान बनाने का और मरम्मत करने का काम करती है। इसने सन् १९४१ में भारत का प्रथम वायुयान निर्मित किया था।

यातायात का सहयोजन

पिछले सालों में विभिन्न प्रकार के यातायातों में, विशेषकर रेल और सड़क में कड़ी स्पर्द्धा रही है। सड़क-यातायात की वृद्धि के कारण कुछ तो हम पहले बता आए हैं और कुछ यह भी है अब अधिक मोटर गाड़ियों का प्रयोग होने लगा है।

एक सीमा के बाद स्पर्द्धा का परिणाम हानि और आर्थिक अपव्यय होता है। एक ही लाइन पर दो दो यातायातों का होना अनुत्पादक सिद्ध होता है क्योंकि इसका अर्थ यह होता है उस लाइन पर दोहरी पूंजी का प्रयोग किया जा रहा है। इस प्रकार के दोहरे यातायात का परिणाम यह होता है कि गाड़ियाँ खाली चलती हैं। इस प्रकार की स्पर्द्धा के फलस्वरूप प्रतिस्पर्धियों में यात्रियों की सुविधा और सुरक्षा का ध्यान कम होता जाता है और नाममात्र के लाभ या कभी कभी हानि के कारण यातायात के स्थायित्व को हानि होती है। यह सब समाज के लिए अहितकर है।

इसमें सन्देह नहीं कि स्पर्द्धा से लाभ भी हैं पर अतिशय स्पर्द्धा, विशेषकर रेल और सड़क की, तो कभी भी जनता के लाभ की नहीं होती। अतः यातायात के साधनों का सहयोजन एक आर्थिक आवश्यकता है। इससे दो प्रकार के स्पर्द्धात्मक अपव्यय का निराकरण हो जाता है :—

(१) विभिन्न ढंग के यातायातों की पारस्परिक स्पर्द्धा—उदाहरणार्थ रेलों और सड़कों की।

(२) विभिन्न कम्पनियों की पारस्परिक स्पर्द्धा जो एक ही प्रकार के यातायात में संलग्न होती हैं, उदाहरणार्थ दो रेल कम्पनियों या दो बस कम्पनियों या दो जलयान कम्पनियों के दरों को कम करना।

जैसा पहले ही कहा जा चुका है विभिन्न प्रकार के यातायातों के विभिन्न क्षेत्र होते हैं। यही विभिन्नता सहयोजन का आधार बननी चाहिए। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि यदि एक ही क्षेत्र में दो यातायात होते हैं और एक निश्चित रूप से दूसरे से अधिक लाभपूर्ण है तब उन दोनों में सहयोजन सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ लम्बी दूरियों पर भारी वस्तुओं को ढोने के लिए रेलें बसों से अधिक उपयोगी हैं, अतः ऐसे गमनागमन में उनके सहयोजन का प्रश्न नहीं उठता यह एक विशेष प्रकार का गमनागमन है जिसके लिए रेल ही सबसे अधिक उपयुक्त है। सहयोजन की आवश्यकता तो तब होती है जब एक ही क्षेत्र में दो विभिन्न यातायातों में या एक ही यातायात की दो कम्पनियों में परस्पर बहुत तीव्र स्पर्द्धा हो। सहयोजन का सिद्धान्त यह है कि यातायात के विभिन्न प्रकार परस्पर पूरक होते हैं और उनका उचित क्षेत्र निर्धारित कर दिया जाना चाहिए।

सहयोजन के प्रकार

(१) **स्वैच्छिक सहयोजन**—यह कई यातायात की कम्पनियों में परस्पर समता के आधार पर होता है और प्रत्येक इकाई अपनी पृथक स्वतंत्रता सुरक्षित रखती है। इस ढंग से

लाभ यह है कि यह यातायातों के पूरकत्व को पुष्ट करता है और अस्वस्थ स्पर्द्धा का निराकरण करता है ; इसके अनुसार कम से कम खर्च में पारस्परिक सुविधाएँ प्राप्त हो सकती है , जैसे टिकट घरों, स्टेशनों, विश्रामगृहों और टाइम टेबुलों का पारस्परिक प्रबन्ध हो सकता है । इस ढंग में एक दोष भी है कि पारस्परिक संशय और ईर्ष्या के स्वाभाविक कारणों से यह ठीक ठीक चल नहीं पाता ।

(२) **आधीन सहयोजन**—एक यातायात द्वारा अन्य यातायातों को वश में करके सहयोजन किया जा सकता है । उदाहरणार्थ, रेलें यातायात के अन्य साधनों को भी अपने अधिकार में कर सकती हैं । इसके अनुसार समस्त अन्तर्देशीय यातायात एक प्रकार के यातायात द्वारा शासित हो जायगा । ऐसे में एकाधिकार की खराबियों का आविर्भाव हो जाना स्वाभाविक है । इससे जनसाधारण का अवश्य ही अहित होगा ।

(३) **वैधानिक सहयोजन**—इसके अनुसार कानून द्वारा निर्मित किसी संस्था द्वारा विभिन्न यातायातों में संलग्न व्यक्तियों और कम्पनियों के कार्यों को नियमित कर दिया जाता है । इसके द्वारा स्पर्द्धा का पूर्णतः निराकरण हो जायगा और वस्तुतः एकाधिकार हो जाएगा और परिणामतः ग्राहकों का भी शोषण होगा । हाँ यदि राज्य इस एकाधिकारात्मक प्रवृत्ति को रोक सके तो वैधानिक सहयोजन का ढंग अन्य ढंगों से अच्छा है ।

भारत में रेल-सड़क सहयोजन का इतिहास—सन् १९३९ के पूर्व भारत में रेल और सड़क यातायातों में काफी पारस्परिक स्पर्द्धा थी । सन् १९३३ में सर्व श्री मिचेल और कर्कनेस के अनुमान के अनुसार रेलों को स्पर्द्धा के कारण १९० लाख रुपए की वार्षिक हानि होती थी । सन् १९३७ में वेजवुड कमेटी का इस हानि का अनुमान साढ़े चार करोड़ रुपया था । इस हानि का मुख्य कारण यह था कि लगभग ४०% रेलों के समानान्तर सड़कें थीं । यह प्रतिशत सीमाप्रान्त में ९४ और मध्य प्रान्त में ७३ है ।

इस रेल-सड़क स्पर्द्धा के कारण भारत सरकार ने अपने दो अफसरों की एक कमेटी बनाई । यह कमेटी सन् १९३२ में बनी और इसके सदस्य थे श्री० के० जी० मिचेल और श्री एल० एच० कर्कनेस । इसका कार्य समस्या का कोई हल खोज निकालना था । उक्त कमेटी ने चार सुझाव पेश किए (१) छोटी दूरी के गमनागमन को कटिबन्धों में विभाजित करना (२) सुविधाएँ प्रदान करने और दर व किराया कम करने के क्षेत्र में सक्रिय प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन देना । (३) रेलों द्वारा मोटर यातायात चलाना । (४) प्रत्येक प्रकार की यातायात सम्बन्धी कार्रवाई के लिए एक केन्द्रीय बोर्ड का निर्माण करना । इन सुझावों पर व्यवहार करने के लिए भारत सरकार ने सन् १९३३ में प्रान्तीय सरकारों के प्रतिनिधियों की एक कान्फ्रेंस बुलाई । उस कान्फ्रेंस के मुख्य निर्णय इस प्रकार हैं:—

(१) जनता के हित में विभिन्न यातायातों का युक्तियुक्त सहयोजन होना चाहिए जिससे अपव्ययपूर्ण स्पर्धा का निराकरण किया जा सके ।

(२) कुछ श्रेणियों की रेलों को मोटरें चलाने का अधिकार दे दिया जाय ।

(३) किराए पर चलने वाली लाइसेन्स प्राप्त गाड़ियों की संख्या को निश्चित कर देना चाहिए और जनता की सुरक्षा और सुविधा के लिए मोटरों पर और अधिक प्रतिबन्ध लगाना चाहिए ।

(४) गांवों में मोटर-यात्रा के विकास को अधिक से अधिक प्रोत्साहन देना चाहिए।

(५) समस्त प्रान्तों में मोटर-कर और मोटर सम्बन्धी नियम एकरूप होने चाहिए।

(६) केन्द्र और प्रान्तों में कुशल शासन यंत्रों द्वारा यातायात के सहयोजन के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

केन्द्रीय यातायात परामर्श दात्री परिषद् की स्थापना द्वारा रेल-सड़क यातायात के सहयोजन की दिशा में एक और कदम बढाया गया। परिषद् की प्रथम सभा सन् १९३५ में हुई थी। सन् १९३७ में वेजवुड कमेटी के समक्ष अन्य समस्याओं के साथ रेल-सड़क यातायात सहयोजन की समस्या भी विचारार्थ प्रस्तुत की गई। कमेटी ने रिपोर्ट दी कि प्रान्तीय सरकारों द्वारा जो यातायात का नियमन होता है वह अपर्याप्त है; यातायात का नियमन केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार होना चाहिए,। मोटर गाड़ियों को लाइसेन्स देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कितनी गाड़ियों की आवश्यकता है। यात्रियों के लिए मोटरों के मार्ग और गमनागमन का समय निर्धारित होना चाहिए और किराया सरकार द्वारा निर्धारित होना चाहिए। कमेटी की राय में मोटर कर और मोटर गमनागमन पर प्रतिबन्ध लगा कर रेल और मोटर को एक ही स्तर पर ला देना चाहिए और इस प्रकार दो प्रकार के यातायातों के सहयोजन को प्रोत्साहन देना चाहिए। कमेटी ने यह सुझाव भी दिया कि रेलें सड़क यातायात में भाग लें और रेलों को तद्विषयक अधिकार प्राप्त हों। सन् १९३७ के मोटर वेहिकिल्स ऐक्ट इस प्रकार संशोधित किया गया कि सरकार को मोटर गाड़ियों, उनके मार्गों, क्षेत्रों, आने जाने के समयों, दर व किरायों पर अधिकार मिल गए।

संशोधित ऐक्ट के व्यवहार में आने के कुछ ही समय पश्चात् द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया और देश का यातायात विश्रृंखल हो गया। सरकार ने सारी मोटर बसें सैनिक कार्यों के लिए ले लीं और इसलिए जनसाधारण के लिए मोटर यातायात बन्द हो गया। ऐसे में ऐक्ट के लिए कोई भी काम न रह गया।

अक्टूबर सन् १९४५ में यातायात-परामर्शदात्री परिषद ने प्रान्तों को यह सुझाव पेश किया कि रेल-सड़क सहयोजना के अनुसार प्रत्येक प्रकार के यातायात को उसका उचित क्षेत्र काम करने के लिए दे देना चाहिए। मोटरों में यात्रियों के गमनागमन के लिए पचास मील की यात्रा को मुक्त कटिबन्ध मानना चाहिए और वस्तुओं के गमनागमन के लिए सौ मील की यात्रा को। मोटरों के लाइसेन्स यदि इस सीमा का अतिक्रमण करें तो रेलें और स्टीमर इसका विरोध कर सकते हैं।

यात्रियों के गमनागमन के क्षेत्र में रेल-सड़क यातायात के सफल सहयोजन के लिए यातायात परामर्शदात्री परिषद ने यह सुझाव दिया कि प्रान्तीय सरकारों के सहयोग से संयुक्त रेल-सड़क कम्पनियों की स्थापना हो। अधिकांश प्रान्तों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया है और बहुतों में तदनुसार कार्य भी होने लगा है।

अभी तक वायु-यातायात और जल-यातायात को किसी व्यापक यातायात नीति के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं किया गया है। इसका कारण यह हो सकता है कि इनमें तीव्र स्पर्धा के लक्षण नही प्रकट हुए हैं। परन्तु फिर भी कालान्तर में जब कोई बड़ी सहयोजना बने तब इनकी अवहेलना नहीं की जा सकेगी।

भाग—५

विनिमय-सिद्धान्त

अध्याय ३०

विनिमय-सिद्धान्त की मूल धारणाएँ

अन्य विषयों की भाँति विनिमय में भी हमें बहुत से पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना होता है। किसी विज्ञान में प्रत्येक शब्द का अपना विशेष अर्थ होता है। उदाहरण के लिए 'बाज़ार' शब्द का साधारण भाषा में कुछ अर्थ है, अर्थशास्त्र में कुछ और न्याय-शास्त्र में शायद कुछ और। अर्थशास्त्र में हमारी कनिाठइयाँ तथा ग़लत समझे जाने की सम्भावनाएँ और भी अधिक होती हैं क्योंकि हम बहुधा साधारण बोल-चाल के शब्दों का प्रयोग करते हैं। अन्य विज्ञानों में जब भी यह डर होता है कि सामान्य शब्द से वैज्ञानिक अर्थ का बोध नहीं हो सकता, तब नए शब्द गढ़ लिए जाते हैं। अर्थशास्त्र में भी कुछ शब्द गढ़े गए हैं, मगर बहुत कम। अधिकतर हम बोल-चाल के शब्दों से ही काम चलाते हैं। इससे गड़बड़ी पैदा होती है। अर्थशास्त्र में अनेक मतभेदों का यही कारण है कि भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्री एक ही शब्द का अलग-अलग अर्थों में प्रयोग करते हैं। यदि अर्थशास्त्री शब्दों के प्रयोग में अधिक सतर्कता से काम लेते तो द्रव्य के सिद्धान्त अथवा भाटक और व्याज के सिद्धान्तों के विषय में इतने मतभेद न होते।

किसी पारिभाषिक शब्द की सही तार्किक परिभाषा करना सम्भव न[illegible]
ज्ञान सीमित है और प्रायः भाषा हमारा साथ नहीं दे पाती। किन्तु यदि [illegible]
है कि हम शब्दों की बिल्कुल सही परिभाषा दे सकें तो कम से कम यह [illegible]
हम उनकी परिभाषा की अस्पष्टता को कम कर सकें। उदाहरण के लिए इकाई के उत्पादन
लीजिए। इसका अर्थ 'खर्च' नहीं हैं। खर्च के अन्तर्गत नियोक्ता द्वारा कि[illegible]त्पादित इकाइयों
प्रतिफल नहीं आता, लागत के अन्तर्गत वह भी आता [illegible]
लागत' का अर्थ उसके निर्माण की [illegible]त स्पष्ट होती है वह है उत्पादन की सीमान्त
सृजन का ही बोध होता है, अत: [illegible]ध। आरम्भ में वे दोनों गिरती हैं किन्तु सीमान्त लागत
आ सकती। उत्पादन की लागत [illegible] गिरती है। जब पाँचवीं इकाई का उत्पादन किया जाता
की लागत का यह तात्प[illegible] दोनों लागतें बराबर हैं। उसके बाद दोनों बढ़ने लगती हैं किंतु
कीमत हमेशा उत्पाद[illegible] बढ़ने की दर औसत लागत के बढ़ने की दर से अधिक है। सीमान्त
को भ्रम हो जात[illegible]
की लागत क[illegible]
यह कथन [illegible]
कुछ प्र[illegible]
इसका[illegible]
इस[illegible]

[illegible]त्र में औ औ औसत लागत तथा सी सी [illegible]लागत वक्र हैं। जहाँ ये एक दूसरे को काटते हैं [illegible]न्दु के बाद सीमन्त लागत वक्र औसत [illegible] वक्र की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ता है।]
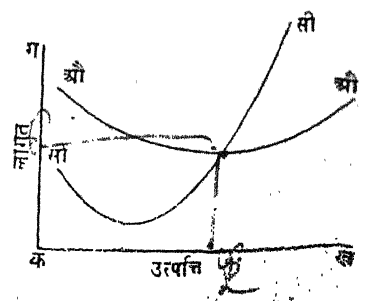
कि[illegible]ागत और औसत लागत के सम्बन्ध को ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है। उपरोक्त चित्र [illegible]नके पारस्परिक सम्बन्ध को दिखाता है।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सीमान्त लागत वक्र औसत लागत वक्र के निम्नतम विन्दु में से गुजरता है। ऐसा हमेशा होता है और ऊपर के चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है।

साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जब भी लाभ तथा हानि को मापना होता है तब मूल्य वक्र तथा औसत लागत वक्र के सम्बन्ध पर दृष्टि रखनी होती है। सीमान्त लागत वक्र से लाभ या हानि का निर्णय करने में कोई प्रत्यक्ष सहायता नहीं मिलती।

उत्पादन की लागत और निर्माण की लागत—कुछ अर्थशास्त्री निर्माण की लागत और उत्पादन की लागत में भेद करते हैं। किसी वस्तु की निर्माण लागत उसकी परिवर्ती और अपरिवर्ती लागतों का योग है। उत्पादन की लागत के
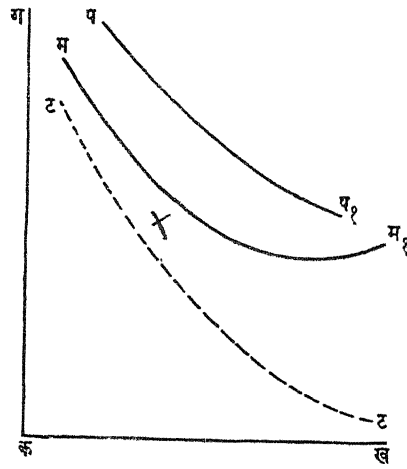
[इस चित्र में म म१ = निर्माण की लागत ट ट = यातायात की औसत लागत और म म१ + ट ट = प प१ = उत्पादन की औसत लागत]

अन्तर्गत केवल निर्माण की लागत—अर्थात् परिवर्ती और अपरिवर्ती लागतें—ही नहीं वस्तु को निर्माण स्थान से बाजार तक ले जाने की लागत भी आती है। उत्पादन तथा निर्माण की लागत का यह भेद अल्पकाल की बाजार कीमत के अध्ययन में बहुत सहायक होगा। ऊपर के चित्र से यह भेद स्पष्ट हो जाता है।

अपरिवर्ती और परिवर्ती लागत—इन लागतों को अचल और चल या अनुपरक और प्राथमिक लागतें भी कहते हैं।

कुल अपरिवर्ती लागत, जैसे यंत्रादि, टिकाऊ मशीनों या प्रबन्धकर्ताओं की लागत उत्पत्ति के प्रसार के साथ बदलती नहीं। उदाहरण के लिए यंत्रादि या टिकाऊ मशीनों पर किए गए विनियोग पर जो कुल ब्याज लिया जाता है वह बदलता नहीं—चाहे यंत्रादि से अधिक काम लिया जाय या कम। इसका यह अर्थ हुआ कि जैसे जैसे उत्पत्ति बढ़ती जाती है प्रति इकाई औसत अपरिवर्ती लागत कम होती जाती है अर्थात् ये लागत उत्पत्ति की वृद्धि से प्रतिकूल अनुपात में है। इस प्रकार यदि उत्पत्ति दुगनी कर दी जाय तो प्रति इकाई

श्रपरिवर्ती लागत आधी हो जायगी और यदि उत्पत्ति को चौगुना कर दिया जाय तो श्रपरिवर्ती लागत एक चौथाई रह जाती है। क्योंकि उत्पत्ति के बढ़ने के साथ साथ श्रपरिवर्ती लागत नहीं बढ़ती, या दूसरे शब्दों में, क्योंकि उत्पत्ति की प्रति इकाई श्रपरिवर्ती लागत बराबर गिरती जाती हैं, इसलिए इस कारण से उद्योगपतियों को उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा मिलती है।

श्रौसत परिवर्ती लागत, जैसे श्रम तथा कच्चे माल की लागत, उत्पत्ति के परिमाण के साथ घटती बढ़ती है। लेकिन ऐसा बहुत कम होता है कि ये उसी दर पर घटे बढ़े जिस पर कि उत्पत्ति घटती बढ़ती है। यदि यंत्रादि से उसको यथासामर्थ्य उत्पत्ति से कम उत्पादन किया जाय तो साधारणतया उत्पत्ति की प्रति इकाई परिवर्ती लागत बहुत अधिक होगी। कम उत्पत्ति को बढ़ाने से परिवर्ती लागत तब तक कम होती जायगी जब तक कि वह निम्नतम बिन्दु तक नहीं पहुँच जाती। इस बिन्दु से आगे जैसे जैसे अधिकाधिक श्रमिकों को लिया जाता है और यंत्रादि से अधिकाधिक काम लिया जाता है, उत्पत्ति की प्रति इकाई परिवर्ती लगात काफी तेज़ी से बढ़ेगी।

श्रौसत कुल लागत औसत श्रपरिवर्ती और औसत परिवर्ती लागतों का योग है। क्योंकि शुरू में उत्पत्ति की प्रति इकाई श्रपरिवर्ती लागत बहुत तेज़ी से घटती है और श्रौसत परिवर्ती लागत कुछ कम तेज़ी से, इसलिए औसत कुल लागत का वक्र नीचे की ओर श्रौसत श्रपरिवर्ती लागत के वक्र से कम तेजी से और श्रौसत परिवर्ती लागत के वक्र से अधिक तेज़ी से ढालू होता है।

[इस चित्र में
फ फ = श्रौसत श्रपरिवर्ती लागत वक्र
व व = श्रौसत परिवर्ती लागत वक्र
म म = श्रौसत कुल निर्माण लागत वक्र
जैसे जैसे अधिक उत्पादन किया जाता है श्रौसत श्रपरिवर्ती लागत कम होती जाती है।
श्रौसत परिवर्ती लागत पहले घटती है फिर बढ़ती है। श्रौसत कुल लागत इन दो लागतों का योग है।]
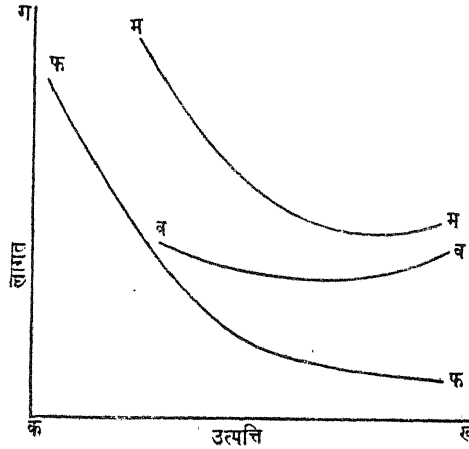
लागत के उपयुक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु के निर्माण की श्रौसत लगत, श्रौसत परिवर्ती लागत और श्रौसत श्रपरिवर्ती लागत का योग है यदि निर्माण की श्रौसत लागत में यातायात की श्रौसत लागत जोड़ दी जाय तो उनके योग को उत्पादन

की औसत लागत कहा जाता है। जैसा कि चित्र में दिखाया गया है सीमान्त लागत वक्र, औसत लागत वक्र के निम्नतम विन्दु में से होकर गुजरता है।
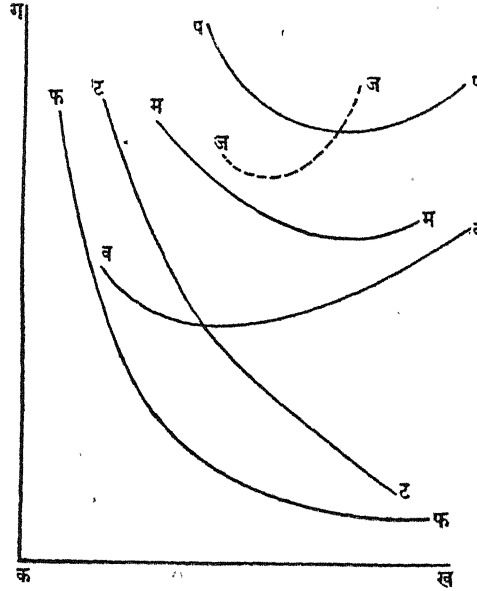
इस चित्र में **व व** प्रति इकाई परिवर्ती लगात वक्र है, **फ फ** औसत अपरिवर्ती लागत है, **ट ट** प्रति इकाई यातायात की लागत है, **म म** निर्माण की औसत लागत है, **प प** उत्पादन की औसत लागत है और **ज ज** उत्पादन की सीमान्त लागत है।

सीमान्त आय, औसत आय और मूल्य—सीमान्त आय किसी वस्तु की एक और अधिक इकाई के विक्रय से कुल आय में होने वाली वृद्धि है। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु की पचास इकाइयों का विक्रय करता है और दो सौ रुपए पाता है और जब वह इक्यावन इकाइयों का विक्रय करता है और दो सौ पाँच रुपए पाता है तब पाँच रुपए कुल आय में होने वाली वृद्धि है और इसलिए यह सीमान्त आय है।

यदि किसी वस्तु के विक्रय से प्राप्त कुल आय को उसकी बेची गई कुल इकाइयों से विभाजित किया जाय तो प्राप्त भजनफल को **औसत आय** कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी वस्तु की सौ इकाइयों का विक्रय करने से किसी व्यक्ति को दस हजार रुपए मिलते हैं तो औसत आय सौ रुपए है।

मूल्य किसी वस्तु के अर्घ का द्राव्यिक माप है। उदाहरण के लिए यदि आप किसी वस्तु के लिए दस रुपए देने को प्रस्तुत हैं तो उस वस्तु का द्राव्यिक अर्घ दस रुपए हुआ और इसलिए दस रुपए को उस वस्तु का मूल्य कहा जायगा। यह याद रखना चाहिए कि औसत आय और मूल्य में कोई अन्तर नहीं है।

जैसा कि हम पहले ही कह आए हैं, यह याद रखना चाहिए कि लाभ और हानि को औसत आय और लागत के अंतर द्वारा मापा जाता है, सीमान्त आय और सीमान्त

लागत द्वारा नहीं। पूर्ण स्पर्धा में औसत आय और सीमान्त आय वक्र एक ही होगा और वह वक्र, जैसा कि निम्नांकित चित्र में दिखाया गया है, एक अनुभूमिक सरल रेखा होगा।
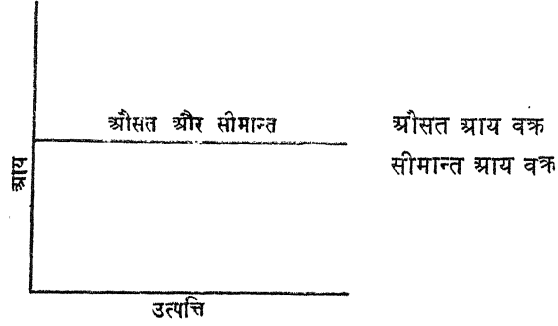
ऐसा होने का कारण यह है कि पूर्ण-स्पर्धा में उत्पादक को न हानि हो सकती है न लाभ ही। उसकी वस्तु का मूल्य उत्पादन की औसत लागत के बराबर होगा और उस मूल्य पर वह उस वस्तु की जितनी चाहे उतनी इकाइयों का विक्रय कर सकता है। इसका यह अर्थ है कि प्रत्येक इकाई का विक्रय करने पर उसे वही मूल्य मिलेगा। और यदि उसे वस्तु की प्रत्येक इकाई के लिए वही मूल्य मिलता है तो औसत आय और सीमान्त आय में कोई अंतर न होगा और एक ही वक्र इन दोनों आयों का निरूपण करेगा। क्योंकि प्रत्येक इकाई के लिए उसे समान मूल्य मिलता है इसलिए वक्र अनुभूमिक होगा। इसी कारण यह कहा जाता है कि पूर्ण स्पर्धा में औसत और सीमान्त वक्र एक अनुभूमिक सरल रेखा के रूप में होता है।

किंतु अपूर्ण स्पर्धा में औसत और सीमान्त आय वक्र दोनों नीचे की ओर गिरते हुए होंगे किन्तु सीमान्त आय वक्र अधिक ढालू होगा (जैसा कि अगले पृष्ट पर दिये चित्र में दिया गया है)। ऐसा होने का कारण यह है कि जब कोई एकाधिकारी अधिक विक्रय करता है तब उसे अपनी वस्तु की सब इकाइयों का मूल्य कम करना पड़ता है। इस प्रकार केवल अधिक बेची गई इकाइयों पर ही नहीं वरन बेची गई सभी इकाइयों पर हानि उठानी पड़ेगी। मान लीजिए एक एकाकिधारी २०० रु० प्रति इकाई के दर से किसी वस्तु की १००० इकाइयाँ बेचता है। उसकी कुल आय २००,००० रुपए होगी। अब वह ११०० इकाइयाँ बेचने का निश्चय करता है और उसको मूल्य घटा कर १९० रु० प्रति इकाई कर देना पड़ता है। उसकी कुल आय केवल २०९,००० रु० होगी। इसका यह अर्थ है कि वस्तु को १९० रु० प्रति इकाई की दर से बेचने पर भी उसे अपनी अतिरिक्त १०० इकाइयों के लिए केवल ९,००० रु० मिल रहे हैं। ऐसा होने का कारण यह है कि उसे अपनी पहली १००० इकाइयों पर भी प्रति इकाई दस रुपए की दर से नुकसान उठाना पड़ रहा है। इसी कारण से सीमान्त आय वक्र औसत आय वक्र से अधिक ढालू है और इस प्रकार यह दिखाता है कि जब एकाधिकार में किसी वस्तु की अधिक इकाइयों का विक्रय किया जाता है तब सीमान्त आय औसत आय से अधिक तीव्र दर से घटती है।

इस चित्र में औ औ औसत आय वक्र है और सी सी सीमान्त आय वक्र।
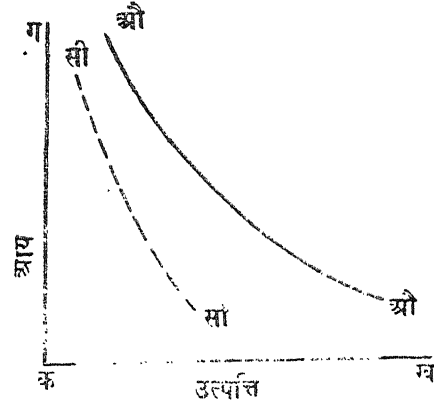
अल्प तथा दीर्घकाल—पूर्ति के माँग से समायोजन के आधार पर कालों को साधारणतया दो वर्गों—अल्प और दीर्घ—में विभाजित किया जाता है। उदाहरण के लिए प्रो० जे०के० मेहता दीर्घ काल की यह परिभाषा करते हैं—"समय की वह अवधि जिसमें कोई उत्पादन इकाई उन सब समायोजनों को पूरा कर पाती है जिनकी उस उत्पादन इकाई पर किसी एक समय कार्यशील शक्तियों के कारण आवश्यकता हो जाती है।" इस अवधि से छोटी प्रत्येक अवधि को वे अल्प काल कहते हैं। दूसरे शब्दों में श्री मेहता के अनुसार अल्प काल में किसी वस्तु की पूर्ति अपने को माँग से समायोजित नहीं कर सकती। जब यह समायोजन पूरे हो जाते हैं तब वह काल दीर्घ काल कहलाता है। उदाहरण के लिए यदि किसी काल में किसी वस्तु की माँग और पूर्ति दोनों सौ हैं तो वे संस्थिति पर हैं। अब मान लीजिए कि माँग बढ़कर दो सौ हो जाती है। अल्प काल में वस्तु की पूर्ति को उसकी माँग के बराबर नहीं किया जा सकता। जिस काल में पूर्ति बढ़ कर दो सौ हो जाती है उसे दीर्घ काल कहा जायगा और उससे कम प्रत्येक काल को अल्प काल। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि अर्थशास्त्र में इस धारणा का समय की किसी निश्चित अवधि विशेष से कोई सम्बन्ध नहीं है। भिन्न भिन्न वस्तुओं तथा भिन्न भिन्न उत्पादन विधियों के अनुसार दीर्घ तथा अल्प काल भी भिन्न होते हैं। हो सकता है कि कुछ वस्तुओं के लिए दीर्घ काल केवल कुछ ही दिनों का हो जब कि कुछ वस्तुओं के लिए अल्प काल ही वर्षों का हो सकता है।

किंतु कुछ अर्थशास्त्री* कालों का तीन वर्गों में वर्गीकरण करते हैं (१) अल्प काल (२) अल्पावधि साधारण काल (short run normal period) या मध्यवर्तीय काल और (३) दीर्घावधि साधारण काल (long run normal period)। अल्प काल वह है जिसमें माँग और पूर्ति का समायोजन पूरी तरह नहीं हो सकता। मध्यवर्तीकाल वह है जिसमें पूर्ति बढ़ तो सकती है किंतु केवल वर्तमान यंत्रादि और प्रबन्धक कार्यकर्त्ताओं की सामर्थ्य की सीमा तक ही। दीर्घावधि साधारण काल वह है जिसमें पूर्ति किसी भी सीमा तक

*देखिए जोन आइस—'इकनामिक्स'

बढ़ सकती है और वर्तमान यन्त्रादि तथा प्रबन्धक कार्यकर्त्ता भी घट बढ़ सकते हैं। इस वर्गीकरण में दीर्घ काल के दो विभाजन करने का प्रयत्न है। इससे व्यापार-जगत की कुछ व्यावहारिक समस्याओं को समझने में सहायता मिलती है। फिर भी आगामी पृष्ठों में प्रो० मेहता के वर्गीकरण का प्रयोग किया गया है। इस वर्गीकरण में यह सुविधा है कि आवश्यकता होने पर हम दीर्घ को कई कालों में विभाजित कर सकते हैं।

स्पर्धा—चेम्बरलेन (Chemberlain) (१) शुद्ध स्पर्धा और (२) पूर्ण स्पर्धा में भेद करते हैं। शुद्ध स्पर्धा वह स्पर्धा है जिसमें एकाधिकार का कोई भी तत्व नहीं है और निम्न दशाओं में होती है:—

(१) क्रय विक्रय की जाने वाली वस्तु प्रमापित (standardized) होनी चाहिए अर्थात् वह प्रत्येक विक्रेता के लिए एकसी होनी चाहिए जिससे मूल्य में ज़रासा भी परिवर्तन होने पर क्रेता भिन्न विक्रेताओं के पास जा सकें।

(२) बाजार में इतने अधिक क्रेता और विक्रेता होने चाहिएँ कि उनमें से किसी एक के क्रय विक्रय से बाजार मूल्य पर कोई प्रभाव न पड़े।

(३) विक्रेताओं के बीच वस्तु मूल्य या गुण के विषय में कोई सहमति न होनी चाहिए।

संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका का गेहूँ बाज़ार, किसानों की दृष्टि से, शुद्ध प्रतियोगिता का एक उदाहरण है क्योंकि उसमें गेहूँ पूरी तरह प्रमापित है और विक्रेता लाखों हैं।

पूर्ण स्पर्धा में, चेम्बरलेन के अनुसार, "घर्षण की अनुपस्थिति होती है (अर्थात् साधनों का ऐसा आदर्श प्रवाह या गतिशीलता) जिससे कि परिवर्तनशील दशाओं के साथ समायोजन, जिनमें कि वास्तव में समय लगता है, सिद्धान्त में तत्क्षण हो जाते हैं।" स्पर्धा के लिए निम्न दशाओं की आवश्यकता होती है:—

(१) शुद्ध स्पर्धा की वे सब दशाएँ जिन्हें हम पहले बता आए हैं।

(२) फिर क्रेता और विक्रेताओं को वस्तु का तथा पूर्ति और माँग की दशाओं का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है।

(३) बाजार में ऐसी दशाएँ होनी चाहिए कि कीमतें पूर्ति और माँग में होने वाले वास्तविक या पूर्वाधिकारित (anticipated) परिवर्तनों से फौरन प्रभावित हों।

(४) विक्रेता अनेक होने चाहिए जिससे माँग और पूर्ति का शीघ्रता से समायोजन हो सके।

(५) पूँजी के एक उद्योग से दूसरे उद्योग, एक उत्पत्ति विशेष से दूसरी उत्पत्ति विशेष या एक फर्म से दूसरी फर्म की ओर जाने के मार्ग में वाधा पहुँचाने वाले कोई

घर्षण न होने चाहिए। असफल उद्योगों से विनियोग को तुरन्त हटा लिया जाना चाहिए और उसे ऐसे उद्योगों में लगा लिया जाना चाहिए जिनमें लाभ की आशा हो। बाजार में प्रवेश करने में कोई बाधा न होनी चाहिए, सब क्रेताओं और विक्रेताओं को प्रवेश की सुविधा होनी चाहिए।

(६) बाजार छोड़ कर जाने में किसी फर्म के मार्ग में कोई बाधा न होनी चाहिए; जिन फर्मों में जीवित रहने की शक्ति नहीं है उनको दिवालिया होने से रोकना न चाहिए।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पूर्ण स्पर्धा और शुद्ध स्पर्धा का एक महत्वपूर्ण भेद है—प्रथम में उत्पादन के साधनों की स्वतंत्र गतिशीलता का होना और द्वितीय में उसका न होना*।

स्थिर और प्रवैगिक दशाएँ—स्थिर दशा की परिभाषा इस प्रकार की जाती है—वह दशा जिसमें कि उपभोक्ताओं, अभिमान्यताएँ, उत्पादन विधि और उद्योग में साधनों का प्रवाह अपरिवर्ती होते हैं। यह स्थिर दशा की परिभाषा करने का सबसे सही तरीका है। जे० बी० क्लार्क ने स्थिर दशा की परिभाषा यों की है—वह दशा जिसमें जनसंख्या, उपभोक्ताओं की इच्छाएँ, औद्योगिक संगठन, पूंजी की पूर्ति, साधन और कच्चा पदार्थ तथा उत्पादन कुशलता अपरिवर्ती होती हैं। यह धारणा बहुत कृत्रिम है क्योंकि निरपेक्ष दृष्टि से जनसंख्या कभी भी अपरिवर्ती नहीं हो सकती। जन्म और मृत्यु होती ही रहेगीं।

मार्शल की परिभाषा क्लार्क की परिभाषा से अच्छी है। मार्शल के अनुसार स्थिर दशा वह दशा है जिसमें 'समय की प्रति इकाई साधनों के प्रवाह की दर' समान होती है। परिवर्तन होते तो हैं किन्तु वे इस प्रकार होते हैं कि स्थिति ज्यों की त्यों रहती है। यदि सौ पैदायशें होती हैं तो सौ मृत्युएँ भी होतीं हैं जिससे कुल जनसंख्या उतनी की उतनी ही रहती है। इसलिए मर्शल की परिभाषा क्लार्क की परिभाषा से श्रेष्ठतर है। फिर भी आरम्भ में दी गई परिभाषा को स्वीकार कर लेना ही अच्छा होगा क्योंकि उसमें दोनों परिभाषाओं की प्रमुख बातें आ जाती हैं।

प्रवैगिक दशा वह दशा है जिसमें परिवर्तन होते रहते हैं। जनसंख्या, इच्छाएँ या उपभोक्ताओं की अभिमान्यताएँ, साधनों का प्रवाह, उत्पादन-विधि आदि सब बदलती रहती हैं। यह दशा वास्तविक जीवन की दशाओं के सदृश हैं।

स्थिर और प्रवैगिक दशाएँ तथा लाभ—क्योंकि स्थिर दशा में उपभोक्ताओं की अभिमान्यताएँ अपरिवर्ती होती हैं इसलिए माँग वक्र भी अपरिवर्ती होता है। साधनों

---

*इस सम्बन्ध में प्रो० जे० के० मेहता का मत देखिए। वे केवल पूर्ण स्पर्धा की ही बात करते हैं और उनकी पूर्ण स्पर्धा वही है जो प्रो० चेम्बरलेन की शुद्ध स्पर्धा। देखिये प्रो० मेहता की पुस्तक 'एडवान्स्ड इकनामिक थियोरी' पृष्ठ ७६-७७।

का प्रवाह और उत्पादन विधि समान रहती हैं और इसलिए पूर्ति वक्र भी अपरिवर्ती होता है। क्योंकि ऐसी दशा में पूर्ण ज्ञान* होता है इसलिए आरम्भ ही से माँग और पूर्ति की संस्थिति रहती है। यह समायोजन कभी बदलता नहीं क्योंकि वे दशाएँ जो समायोजन की इस स्थिति को जन्म देती हैं स्वयं अपरिवर्ती होती हैं। फल यह होता है कि स्थिर दशा में हानि और लाभ होते ही नहीं। दूसरी ओर, क्योंकि प्रवैगिक दशा में सब कुछ बदलता रहता है इसलिए समायोजन किसी एक पूरी समयावधि तक नहीं चलता। फलस्वरूप आकस्मिक लाभ और हानियाँ होती हैं। आकस्मिक लाभ और हानियों का होना, प्रवैगिक दशा का स्थिर दशा से एक प्रमुख अंतर है।

हम पहले ही कह आए हैं कि लाभ और हानियों को उत्पादन की औसत लागत से मापते हैं। जब हानि लाभ नहीं होते तब मूल्य उत्पादन की औसत लागत के बराबर होता है। किन्तु जब हानि और लाभ होते हैं तब मूल्य केवल सीमान्त लागत के बराबर होता है औसत लागत के बराबर नहीं। यही कारण है कि प्रवैगिक स्थिति में संस्थिति का विंदु वहाँ होता है जहाँ सीमान्त लागत और मूल्य बराबर होते हैं; जब कि स्थिर दशा में औसत लागत सीमन्त लागत के बराबर होती है जो मूल्य के भी बराबर होती है। यह बात बहुत महत्वपूर्ण है और इससे हमें अर्घ-सिद्धान्त को, जिसका कि हम आगामी अध्यायों में अध्ययन करेंगे, समझने में बहुत सहायता मिलेगी।

स्थैतिक और प्रवैगिक संस्थितियाँ—किसी समयावधि विशेष में प्रसरण या संकोचन का अभाव ही संस्थिति का द्योतक है। कोई फर्म तब संस्थिति पर कहलाएगी जब किसी समयावधि विशेष में उसमें प्रसरण या संकुचन की प्रवृत्ति न हो। संस्थिति की धारणा सदैव किसी समयावधि विशेष से सम्बन्धित होती है। यह समयावधि कितनी भी हो सकती है—समय का एक विंदु मात्र या अनन्त। किन्तु ये तो उनकी सीमाएँ हैं और जो बात ध्यान में रखने की है वह यह कि संस्थिति का सदैव किसी समयावधि विशेष से सम्बन्ध होता है।

संस्थिति दो प्रकार की होती हैं (१) स्थैतिक और (२) प्रवैगिक। जब कोई सस्थिति किसी समयावधि-विशेष के बाद भी बनी रहती हैं तब उसे स्थैतिक संस्थिति कहते हैं। किन्तु यदि वह उस समयावधि-विशेष के बाद बनी नहीं रह पाती तब उसे प्रवैगिक संस्थिति कहा जाता है।

उदाहरण के लिए मान लीजिए कि हम एक दिन को समयावधि-विशेष मानते हैं। उस दिन माँग और पूर्ति की कुछ शक्तियाँ किसी उत्पादन इकाई पर कार्यशील होती है और वे संस्थिति पर हैं। यदि यह संस्थिति केवल उसी दिन नहीं बल्कि अगले दिन भी बनी रहती तो यह दृष्टान्त स्थैतिक संस्थिति का हुआ। किन्तु यदि उसी दिन के भीतर-भीतर सस्थिति बदल जाती है तब उसे प्रवैगिक संस्थिति कहा जायगा।

यह कहना अप्रासांगिक न होगा कि किसी एक समयावधि के लिए जो स्थैतिक

* पूर्ण ज्ञान से तात्पर्य है—जो परिवर्तन हो रहे हैं उनका पूरा ज्ञान।

संस्थिति है वही किसी दूसरी समयावधि के लिए प्रवैगिक संस्थिति बन सकती है। यदि हम एक दिन को समयावधि मान कर विचार करें तो जो संस्थिति दूसरे दिन भी बनी रहती है उसे स्थैतिक संस्थिति कहा जायगा। किन्तु यदि हम दो दिन को समयावधि मानकर विचार करें तो वही संस्थिति (यदि तीसरे दिन नहीं बनी रहे) प्रवैगिक संस्थिति हो जायगी। इसलिए संस्थिति के अध्ययन में समयावधि का बहुत महत्व है।

संस्थितियाँ और दशाएँ—हम जानते हैं कि दशाएँ दो होती हैं (१) स्थिर दशा और (२) प्रवैगिक दशा । संस्थितियाँ भी दो होती हैं—(१) स्थैतिक और (२) प्रवैगिक। तो क्या यह कहना ठीक होगा कि स्थैतिक संस्थिति स्थिर दशा में और प्रवैगिक संस्थिति प्रवैगिक दशा में पाई जाती है ? यह विचार ग़लत है। कुछ अर्थशास्त्री इस मत को स्वीकार करते हैं किन्तु वे भ्रम में हैं।

जैसा हम कह आए हैं एक स्थिर दशा में, जहाँ ज्ञान पूर्ण होता है, संस्थिति स्थैतिक होती है और कभी बदलती नहीं। **इसलिए हम कह सकते हैं कि स्थिर दशा में सदैव स्थैतिक संस्थिति पाई जाती है।** किन्तु प्रवैगिक दशा में स्थैतिक और प्रवैगिक दोनों संस्थितियाँ हो सकती हैं। प्रवैगिक दशा में अल्पकाल में प्रवैगिक संस्थिति होती है क्योंकि अल्प काल में पूरे समायोजन सम्भव नहीं होते। किन्तु प्रवैगिक दशा और बहुत दीर्घकाल में हम ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकते हैं जिसमें उत्पादन इकाई इतनी विकसित हो गई हो कि स्थैतिक संस्थिति हो सके। किन्तु प्रवैगिक दशा में स्थैतिक संस्थिति एक मानसिक कल्पना मात्र है जो वास्तविक जीवन में कभी नहीं पाई जाती।

बाजार—बोलचाल की भाषा में बाजार शब्द का अर्थ है वह स्थान जहाँ क्रय-विक्रय करने के लिए क्रेता और विक्रेता एकत्रित होते हैं। किन्तु अर्थशास्त्री इस शब्द का एक भिन्न अर्थ में प्रयोग करते हैं। दुर्भाग्य से इसके सही अर्थ के विषय में अर्थशास्त्रियों में कोई एक मत नहीं है और इस शब्द की विभिन्न परिभाषाएँ हैं। उदाहरण के लिये कूर्नो (Cournot) के अनुसार बाजार का तात्पर्य "किसी स्थान विशेष से नहीं है जहाँ वस्तुएँ खरीदी और बेची जाती हैं किन्तु (बाजार का तात्पर्य) उस पूरे प्रदेश से है जिनमें क्रेता और विक्रेता एक दूसरे से ऐसे स्वतन्त्र संयोग में होते हैं कि एक ही प्रकार की वस्तुओं के मूल्यों में शीघ्रता और सरलता से बराबर होने की प्रवृत्ति होती है।"* जेवन्स (Jevons) का मत है कि बाजार शब्द को "इस प्रकार साधारणीकृत कर दिया गया है कि उसका तात्पर्य व्यक्तियों के किसी समूह से है जिनमें व्यापारिक सम्बन्ध होते हैं और जो किसी वस्तु का विशद व्यापार करते हैं†। सिजविक (Sidgwick) बाजार की यह परिभाषा करते हैं—"व्यक्तियों का कोई समूह जिसमें ऐसे पारस्परिक व्यापारिक सम्बन्ध हों कि प्रत्येक व्यक्ति उन दरों से अवगत हो सके जिन पर दूसरे व्यक्ति समय समय पर वस्तुओं और सेवाओं के कुछ प्रकारों के विनिमय किया करते हैं।" ऐली (Ely) के अनुसार बाजार का अर्थ है "वह क्षेत्र जिसके अन्तर्गत किसी वस्तु-विशेष का मूल्य निर्धारित करने वाली शक्तियाँ कार्यशील

---

*मार्शल द्वारा उद्धृत, देखिये प्रिंसिपिल्स ऑव इकनामिक्स पृ० ३२४—३२८

†जेवन्स—'थियोरी ऑव पोलिटिकल इकनॉमी—पृ० ४८४-८५

होती हैं"। मार्शल स्वयं अपनी कोई परिभाषा नहीं देते और प्रो० पीगू, जेवन्स की परिभाषा को स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।

इन परिभाषाओं से हमें ज्ञात होता है कि बाजार शब्द के क्या क्या अर्थ किए गए हैं ? सिजविक के मतानुसार क्रेताओं में पूर्ण-ज्ञान का होना आवश्यक है, चाहे उनमें स्पर्धा न हो, ऐली के अनुसार स्पर्धा होना नितांत आवश्यक है। फिर सीजर (Seager) एक 'स्थान' की बात, करते हैं और कूर्नो एक 'प्रदेश' की। किन्तु जेवन्स केवल क्रेताओं और विक्रेताओं का ही जिक्र करते हैं। ये अन्तर इतने विशद हैं कि इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती और इसलिए यह आवश्यक है कि हम बाजार शब्द की परिभाषा के प्रमुख तत्वों को मालूम करें, एक एक करके उन पर विचार करें और यह निश्चय करें कि उनमें से कौन कौन बाजार की हमारी परिभाषा के लिए आवश्यक हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं से प्राप्त होने वाले प्रमुख तत्व ये हैं—(१) स्थान या प्रदेश (२) क्रेता और विक्रेता (३) वस्तु या वस्तुएँ (४) स्पर्धा (५) एक मूल्य और (६) पूर्ण ज्ञान। हम इन सब तत्वों को एक एक करके लेंगे और विचार करेंगे कि वे बाजार की हमारी परिभाषा के लिए आवश्यक हैं या नहीं।

(१) **स्थान या प्रदेश**—बोलचाल की भाषा में जब भी हम बाजार की बात करते हैं तब हमारा तात्पर्य एक ऐसे स्थान से होता है जहाँ वस्तुओं के क्रय विक्रय के लिए क्रेता और विक्रेता एकत्रित होते हैं।

एक स्थान या प्रदेश बाजार का आवश्यक तत्व नहीं है। आधुनिक समय में श्रेणी-करण और निदर्शन की प्रक्रियाएँ इतनी विकसित हो गई हैं कि क्रेता और विक्रेता किसी एक स्थान पर बहुत कम मिलते हैं। उदाहरण के लिए भारतीय व्यापारी इँगलैंड से माल मँगाते हैं किंतु इंगलैंड के विक्रेता और भारत के क्रेता किसी एक स्थान पर बहुत कम मिलते हैं। इसलिए बाज़ार की परिभाषा के लिए स्थान की आवश्यकता नहीं है।

(२) **क्रेता और विक्रेता**—बाजार के लिए इन दोनों की आवश्यकता होती है। इनके बिना कोई व्यापार नहीं किया जा सकता।

किन्तु कभी कभी क्रेताओं और विक्रेताओं की संख्या तथा उनकी स्थिति के विषय में प्रश्न उठते हैं। किसी बाजार की रचना के लिए कितने क्रेता और विक्रेता होने चाहिए ? क्या एक क्रेता और विक्रेता मिलकर बाजार की रचना कर सकते हैं ? फिर ये क्रेता और विक्रेता कहाँ स्थिति हों ? क्या उन्हें एक देश या एक प्रदेश विशेष में स्थित होना चाहिए ? उत्तर ये हैं कि क्रेताओं और विक्रेताओं की संख्या का कोई महत्व नहीं है। किसी बाजार में एक क्रेता और विक्रेता भी हो सकते हैं और अधिक भी। फिर स्थान का भी इस विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। किसी वस्तु के क्रेता और विक्रेता कहीं भी हों वे एक बाजार की रचना कर लेते हैं।

(३) **वस्तु**—इस विषय पर बहुत विवाद है। क्या हम यह मानें कि एक बाजार में एक ही वस्तु होनी चाहिए या हम उस वस्तु के प्रतिस्थापियों को भी उसमें सम्मिलित कर लें ? उदाहरण के लिए क्या यह कहना ठीक होगा कि चाय के सब भिन्न भिन्न प्रकार एक

बाजार की रचना करते हैं ? या फिर यह कहा जाय कि अलग अलग प्रकार अलग अलग बाजारों की रचना करते हैं ? इसका सही उत्तर यह है कि वैसे तो यह मानना चाहिए कि चाय के दो भिन्न प्रकार दो भिन्न बाजार की रचना करते हैं, किंतु यदि उनको एक दूसरे के लिए पूर्ण रूप से प्रतिस्थापित किया जा सकता है अर्थात् उपभोक्ता उनमें से किसी का भी उपभोग करने को प्रस्तुत हैं तो वे एक ही बाजार की रचना करते हैं । बेन्हम का यही मत है जो इस कथन से स्पष्ट है —"यदि दो इकाइयाँ पूर्ण प्रतिस्थाप्य नहीं हैं अर्थात् यदि प्रत्येक सम्भावी क्रेता इस विषय में बिलकुल उदासीन नहीं है कि उसे अपने द्रव्य के बदले में दोनों में से कौन सी इकाई मिल रही है, तो वे इकाइयाँ एक ही वस्तु की नहीं हैं *।"

(४) **स्पर्धा**—बाजार के लिए स्पर्धा आवश्यक नहीं है। बाजार में वह चाहे हो और चाहे न हो । एक पूर्ण बाजार में स्पर्धा शत प्रतिशत होगी । एक अपूर्ण बाजार में स्पर्धा पूर्ण न होगी और एकाधिकार होने पर तो वह शून्य होगी। इसलिए बाजार के लिए स्पर्धा का होना अनिवार्य नहीं है ।

(५) **एक मूल्य**—यह आवश्यक है कि बाजार में केवल एक ही मूल्य हो । माँग के स्थानांतर के कारण क्रेताओं को भिन्न भिन्न मूल्य नहीं देने पड़ते । इसी प्रकार पूर्ति के स्थानांतर के कारण क्रेता, विक्रेताओं को भिन्न भिन्न मूल्य नहीं देंगे । एकाधिकार में भी एकाधिकारी एक बाजार में एक ही मूल्य लेता है । इसलिए बाजार में एक ही मूल्य होगा ।

(६) **पूर्ण ज्ञान**—बाजार के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वहाँ पूर्ण ज्ञान हो। प्रवैगिक दशा में क्रेताओं को पूर्ण ज्ञान नहीं होता, किंतु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उस दशा में बाजार ही नहीं ।

इस विचार विमर्श से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाजार एक ऐसी दशा है जिसमें किसी वस्तु के क्रेता और विक्रेता होते हैं और उस वस्तु का केवल एक ही मूल्य होता है †

विस्तृत और संकीर्ण बाजार—कुछ अर्थशास्त्री इन शब्दों का प्रयोग करते हैं और विस्तृत बाजार होने के लिए आवश्यक किसी वस्तु की विशेषताओं का उल्लेख भी करते हैं । किन्तु यह पूरा विवाद अनावश्यक है क्योंकि बाजार शब्द का क्षेत्रफल से कोई सम्बन्ध नहीं है । बाजार "एक दशा विशेष है और किसी दशा को विस्तृत या संकीर्ण कहना वास्तव में निरर्थक है ।‡"

---

*देखिए बेन्हम की 'इकनामिक्स' पृ० २४ ।

†प्रो० जे० के० मेहता ने बाजार शब्द की एक ऐसी ही परिभाषा की है। उनके अनुसार "बाजार शब्द एक ऐसी दशा का द्योतक है जिसमें किसी वस्तु की किसी ऐसे स्थान पर माँग होती है जहाँ वह विक्रय के लिए प्रस्तुत की जाती है ।" देखिए उनकी 'एडवान्स्ड इकनामिक्स थियोरी' पृ० ७२ । क्रेता और विक्रेता शब्दों के स्थान पर वे 'माँग' और 'विक्रय' शब्दों का प्रयोग करना पसन्द करते हैं क्योंकि वे कहते हैं कि "बहुत से अर्थशास्त्री पुस्तकों के क्रेता और विक्रेता होते हैं किंतु वे बाजार कहलाना पसंद न करेंगे ।" किंतु उनकी परिभाषा और जो परिभाषा हमने ली है उसमें कोई तात्विक अंतर नहीं है ।

‡देखिए प्रो० मेहता की उपयुक्त पुस्तक, पृष्ठ ७३ ।

अयाध्य ३१

पूर्ण स्पर्धा में अर्घ-सिद्धान्त की सामान्य व्याख्या

बाजार में वस्तु का मूल्य माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। माँग से हमारा अर्थ वस्तु की माँग है और पूर्ति से, वस्तु की पूर्ति। वस्तु की माँग उपभोक्ता के अभिरुचि की माप है और इसलिए वह उस संतुष्टि या उपयोगिता पर निर्भर रहती है जो वस्तु के उपयोग से उपभोक्ता को मिलती है। दूसरी ओर वस्तु की पूर्ति उसके उत्पादन लागत पर निर्भर रहती है और यह उत्पादक द्वारा किये त्याग की द्योतक है। माँग और पूर्ति की शक्तियाँ 'कैंची की दोनों धारों' की भाँति हैं जिनका कोई वस्तु काटने के लिए होना आवश्यक है।

उपभोक्ता वस्तु के लिए यथासम्भव कम मूल्य देने का प्रयत्न करता है और वह किसी हालत में उस वस्तु से मिलने वाली तृप्ति के द्रव्य-माप से अधिक मूल्य नहीं देगा। तृप्ति का द्रव्य-माप वह उच्चतम सीमा है जिससे मूल्य अधिक नहीं हो सकता। इसके विपरीत उत्पादक वस्तु का अधिकतम मूल्य लेने का प्रयत्न करता है। अतः मोल-तोल होता है और अंत में वही मूल्य निर्णय होता है जिस पर माँग और पूर्ति की संस्थिति होती है अर्थात् जिस पर वस्तु की माँग की मात्रा वही होती है जितनी विक्रेता बेचने को तैयार होते हैं।

संस्थिति मूल्य से अधिक मूल्य पर वस्तु की पूर्ति अधिक होगी और माँग कम, जिससे बाजार में वस्तु का आधिक्य होगा। इसके विपरीत संस्थिति-मूल्य से कम मूल्य पर वस्तु की माँग अधिक हो जाएगी और पूर्ति कम जिससे उपभोक्ताओं की माँग की पूर्ण संतुष्टि नहीं होगी। अतः अंततः वस्तु का मूल्य उसी विन्दु पर निर्णय होता है जिस पर वस्तु की माँग और पूर्ति की संस्थिति होती है।

उदाहरण के लिए मान लीजिए कि किसी बाजार में एक निश्चित तिथि और समय पर गेहूँ की माँग और पूर्ति निम्नांकित तालिकानुसार है :—

मूल्य (प्रति मन रूपए में)	माँग	पूर्ति
६	५०	३००
५	१००	२००
४	१५०	१५०
३	२००	१००
२	५००	७०

यहाँ जब मूल्य चार रुपया प्रति मन है, तब गेहूँ की माँग और पूर्ति दोनों ही १५० मन हैं। अतः गेहूँ का मूल्य चार रूपया प्रति मन ही निश्चित होगा। यदि मूल्य चार रूपये से कम हो तो माँग अधिक होगी और पूर्ति कम जिससे उपभोक्ताओं की माँग का एक अंश अतृप्त रह जाएगा। इस कारण उपभोक्ताओं में वस्तु प्राप्त करने के लिए प्रतियोगिता होगी, वस्तु का मूल्य ऊपर चढ़ेगा और अंत में वह चार रूपए प्रति मन हो जायगा जिस पर उपभोक्ताओं की माँग पूर्णतः पूरी हो जाएगी। इसी प्रकार यदि गेहूँ का मूल्य चार रूपए से अधिक हो तो वस्तु की माँग से पूर्ति अधिक होगी और बाजार में उसका आधिक्य हो जाएगा [illegible] माल को बेच डालने के लिए चिंतित उत्पादकों में अधिक

तीव्र स्पर्धा होगी । परिणामस्वरूप मूल्य तब तक गिरेगा जब तक वह चार रूपए प्रति मन नहीं हो जाता और इस पर पूर्ति अधिक न रहेगी क्योंकि अब वह माँग के बराबर होगी । अतः अंततः मूल्य चार रूपए प्रति मन निश्चित होगा ।

उपर्युक्त उदाहरण चित्र द्वारा निम्न प्रकार से निरूपित किया जा सकता है :
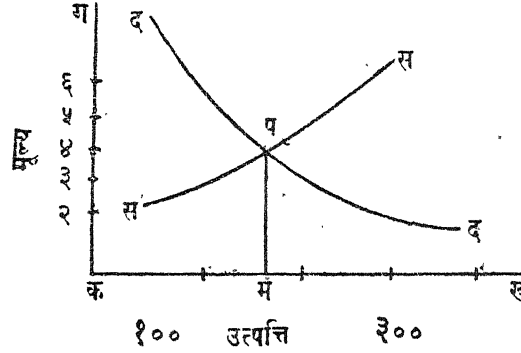
यहाँ द द माँग-वक्र है और स स पूर्ति-वक्र है । वे 'प' विन्दु पर मिलते हैं । अतः प म मूल्य है और क म माँग की मात्रा ।

उपर्युक्त उदाहरण का निरूपण सीमान्त आय-वक्रों का उपयोग करके निम्नांकित चित्रों द्वारा हो सकता है :—
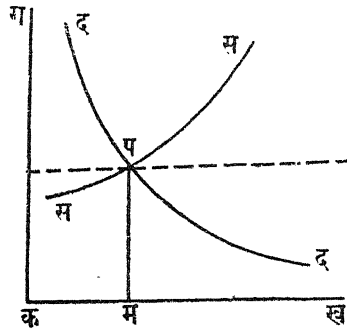
बाज़ार की स्थिति

द द = पूरे बाजार का माँग वक्र है ।
स स = पूरे बाजार का पूर्ति-वक्र है ।
प म = बाजार-मूल्य ।
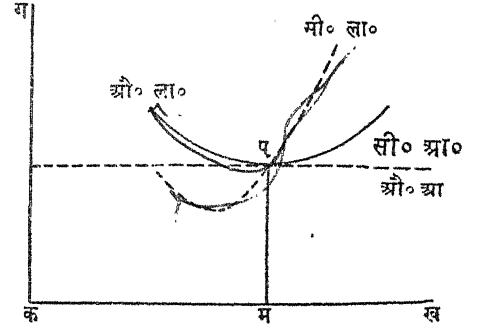
एक उत्पादक की उत्पत्ति का मूल्य के साथ नियोजन

औ० ला० = औसत लागत ।
सी० ला० = सीमान्त लागत ।
सी० आ०, औ० आ० = सीमान्त और औसत आय वक्र ।
प म = वस्तु का प्रति इकाई मूल्य जो उसके उत्पादक को मिलेगा ।

यहाँ पहले चित्र में माँग और पूर्ति की बाज़ार-अवस्था दिखलाई गई है । दूसरे चित्र में एक उत्पादक की दशा निरूपित की गई है । ध्यान रहे कि पूर्ण स्पर्धा में एक उत्पादक की औसत लागत और सीमान्त लागत संस्थिति विन्दु पर क्रमशः औसत आय और सीमान्त आय के बराबर होती हैं । अतः उत्पादक को न लाभ होता है न हानि । वह बाज़ार मूल्य पर अपनी वस्तु बेचता है और इसलिए दोनों चित्रों में '**प म**' की

अध्याय ३२

अल्पकालीन स्थैतिक दशा और पूर्ण स्पर्धा में अर्घ

अल्प कालीन मूल्य, जिसे बाजारी-मूल्य कहते हैं, वह मूल्य है जो किसी समय में चालू रहता है। पहले हमारी परिभाषा के अनुसार अल्पकाल वह 'काल' है जिसमें पूर्णतः नियोजन नहीं हो पाता और वस्तु की पूर्ति किसी दिये मूल्य पर उसकी माँग के बराबर नहीं बदल सकती। फलतः इस अवस्था में पूर्ति-वक्र या उत्पादन लागत-वक्र का मूल्य-निर्णय में गौण महत्व होता है, और माँग का ही प्रभाव प्रमुख होता है। इसलिए यदि वस्तु की माँग अधिक है तो उसका मूल्य भी अधिक होगा और यदि माँग कम हो, तो मूल्य भी कम होगा।

स्थैतिक दशा में, जिसकी परिभाषा हम दे चुके हैं, माँग और पूर्ति वक्र अपरिवर्ती होते हैं। पूर्ण ज्ञान* के कारण आरम्भ से ही माँग और पूर्ति की संस्थिति होती है और यह बदलती नहीं, क्योंकि इस स्थिति को निश्चित करने वाली शक्तियाँ स्वयं अपरिवर्ती होती हैं।

स्थैतिक स्थिति की इस विशेष प्रकृति के कारण अल्पकाल में संस्थिति की दशा वही रहती है जो समान दशाओं के होने पर दीर्घकाल में होती है। ये निम्नलिखित हैं:—

१—बाजार में एक मूल्य ही चालू होगा और सभी उत्पादक वस्तु की प्रत्येक इकाई को उसी मूल्य पर बेचेंगे।

२—उत्पादक न लाभ उठायेंगे और न हानि।

३—प्रत्येक फर्म एक ही लागत पर वस्तु तैयार करेंगी और प्रतिस्थापन्न नियम के अनुसार चल कर अनुकूलतम फर्म बन जाएँगी।

४—यद्यपि बाजारी-मूल्य प्रत्येक फर्म की उत्पादन-लागत के बराबर होगा, फिर भी कोई फर्म मूल्य-निर्णय नहीं करेगी। मूल्य का निर्णय तो सभी फर्मों के संयुक्त उत्पादन और उपभोक्ताओं की कुल माँग की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा होगा।

अतः व्यवहार में, स्थैतिक दशा की अल्पकालीन और दीर्घकालीन परिस्थितियों में कोई अंतर नहीं किया जा सकता, परन्तु प्रवैगिक दशा में यह अंतर अवश्य करना पड़ेगा। वास्तव में स्थैतिक दशा में कोई काल-भेद किया ही नहीं जा सकता।

बाजार-मूल्य तथा प्रत्येक फर्म की संस्थिति दशा के उदाहरण और चित्र निर्माण के लिए पिछले अध्याय में दिए उदाहरण और चित्रों का अध्ययन किया जा सकता है।

*पूर्ण ज्ञान से हमारा तात्पर्य यह है कि उत्पादकों को उपभोक्ताओं की तथा उद्योग में साधनों के प्रवाह का पूर्ण रूपेण ज्ञान है।

अध्याय ३३

अल्प कालीन प्रवैगिक दशा का पूर्ण स्पर्धा में अर्थ

अल्प कालीन पूर्ण स्पर्धा परन्तु प्रवैगिक दशा में संस्थिति स्थैतिक दशा से काफी भिन्न होगी। प्रवैगिक दशा में माँग और पूर्ति की आधार शक्तियाँ बदल सकती हैं, अतः संस्थिति स्थैतिक न होकर प्रवैगिक होगी। इसका एक कारण अवधि की अल्पता भी होगी। प्रवैगिक दशा की पूर्ण स्पर्धा में यदि अवधि दीर्घ हो, तो प्रवैगिक संस्थिति के अतिरिक्त स्थैतिक संस्थिति भी पाई जा सकती है। परन्तु अवधि अल्प होने पर केवल प्रवैगिक संस्थिति ही सम्भव है।

प्रवैगिक संस्थिति की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

१—इस स्थिति में उत्पादकों को लाभ भी हो सकता है और हानि भी।

२—यह आवश्यक नहीं है कि सभी उत्पादक एक ही मूल्य पर विक्रय करें, यद्यपि साधारणतः वे एक ही मूल्य पर वस्तु बेचेंगे।

३—यह आवश्यक नहीं है कि किसी उत्पादक की औसत आय उसके औसत उत्पादन लागत के बराबर हो ही। यह निष्कर्ष उपर्युक्त पहली विशेषता से निकलता है।

उत्पादन लागत और मूल्य—अल्प कालीन प्रवैगिक दशा में यह सम्भव है कि किसी उत्पादक को लाभ हो या हानि। क्योंकि पूर्ति में पर्याप्त परिवर्तन नहीं किया जा सकता और माँग का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, अतः माँग की वृद्धि होने पर मूल्य बढ़ेगा और माँग घटने पर, घटेगा। इसलिये यदि उत्पादक अपनी लागत से अधिक मूल्य चालू होने के समय वस्तु बेचेगा तो उसे लाभ होगा और लागत से कम-मूल्य पर बिक्री करने पर उसे हानि होगी।

यदि कोई उत्पादक अपनी लागत से कम मूल्य पर वस्तु बेचकर हानि उठाता है, तो यह विचार करना वांछनीय है कि वह लागत से कितने कम मूल्य तक जा सकता है। उत्पादक को होने वाली हानि वस्तु की प्रकृति पर निर्भर होगी। यदि वस्तु नाशवान हैं
पजैसे दूध) और यदि वह उसे संचय करके नहीं रख सकता, तो वह पूर्ण निर्माण-व्यय
यमिक और अनुपूरक लागत भर), तक की हानि उठा सकता है। परन्तु उसको
अवश्य मिलना चाहिये अन्यथा वह दूध को ग्राहकों तक पहुँचाने का कष्ट न -
उसको फेंक देना पसन्द करेगा। मान लीजिये कि दूध की एक ही मात्रा
करने में चार आने प्रति इकाई प्राथमिक लागत है और तीन आने प्रति इकाई
यहाँ प
त लगती है। इस प्रकार निर्माण-लागत सात आने प्रति इकाई हुई। अब
में एक उत्पाद
कि विपणन-व्यय एक आना प्रति इकाई है, तो कुल उत्पादन-लागत आठ
की औसत ला
इकाई हुई। यदि दूध की माँग गिर जाय और मूल्य प्रतिकूल पड़े तो उत्पादक
आय के बरा
को एक आना प्रति इकाई तक बेचने को तैयार होगा। यहाँ यह मान लिया है
पर अपनी व
ण-व्यय समान है। परन्तु यदि दूध का मूल्य एक आना प्रति इकाई से अर्थात्

विपणन-व्यय से भी नीचे गिर जाए तो वह दूध बेचना बन्द करके उसे फेंक देगा। यह उदाहरण नीचे के चित्र में निरूपित किया गया है :
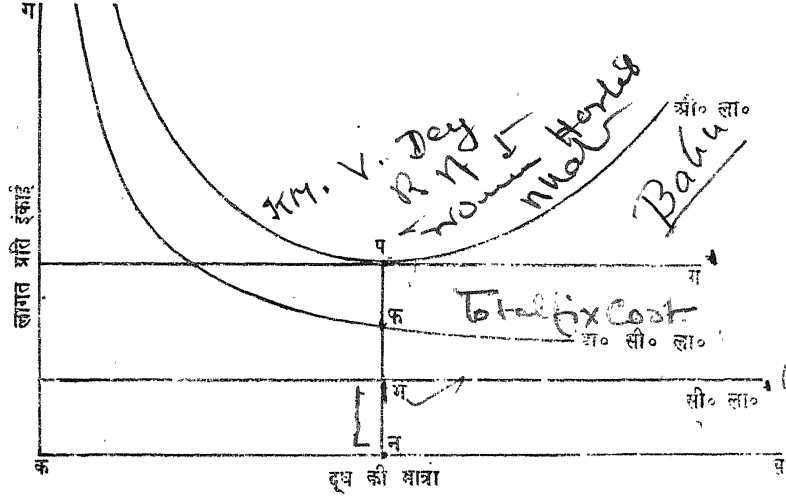
सी० ला०—विपणन-व्यय वक्र है।

अ० सी० ला०—विपणन-व्यय तथा निश्चित लागत की संयुक्त वक्र है।

औ० ला०—कुल-लागत वक्र है।

म म—माँग-वक्र है।

संस्थिति में मूल्य प न होगा जिसका भ न अंश विपणन-व्यय के फ भ अंश निश्चित लागत के और प फ अंश परिवर्ती लागत के बराबर होगा। माँग-वक्र म म के अर्थात् विपणन-व्यय वक्र के स्तर तक गिर सकती है। यदि वह उससे नीचे गिरेगी तो दूध नहीं बेचा जायेगा।

कपड़ा जैसे अ-नशवान वस्तुओं में उत्पादक केवल अपरिवर्ती लागत तक ही घाटा उठाने के लिये तैयार होगा : यहाँ वह निर्माण-व्यय तथा विपणन-व्यय दोनों ही निकालेगा। अल्पकाल में उत्पादक अपरिवर्ती लागत के घाटे को नहीं बचा सकता : अपने उत्पादन को बनाये रखने के लिये उसे अपरिवर्ती लागत तो लगानी ही पड़ेगी। परन्तु यदि वस्तु का मूल्य कम है और उत्पादक को घाटा उठाना पड़ता है तो वह अवश्य आगे उत्पादन बन्द कर देगा और इस प्रकार अपनी प्राथमिक लागत के घाटे को बचा लेगा।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अल्पकाल में लाभ भी होंगे और हानि भी। परन्तु यह वस्तु विशेष पर निर्भर है कि उत्पादक कहाँ तक हानि उठाने के लिये तैयार होगा। गणित की भाषा में, संस्थिति वहीं होगी जहाँ सीमान्त लागत मूल्य के बराबर होगी। औसत लागत सीमान्त लागत के बराबर नहीं होगी। हानि की दशा में औसत लागत सीमान्त लागत

से अधिक होगी और लाभ में, कम। यह बात निम्नांकित चित्रों में विकसित की गई है :—
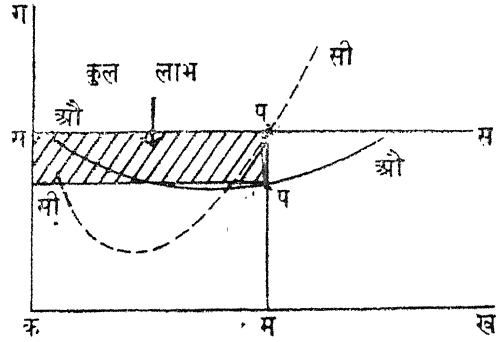
'औ औ' औसत लागत वक्र है और 'सी सी' सीमान्त लागत वक्र स स औसत आय या मूल्य वक्र है। मूल्य वक्र और सीमान्त लागत वक्र प विन्दु पर कटते हैं। अतः मूल्य प म होगा और प्रति इकाई लाभ प प होगा। चित्र में कुल लाभ रेखांकित क्षेत्र द्वारा दिखाया गया है।
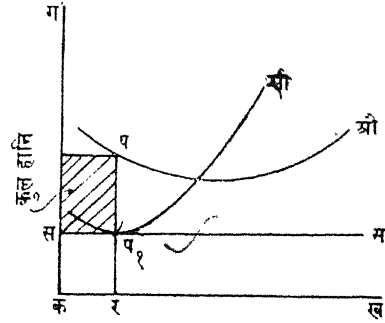
उपरोक्त चित्र में हानि की स्थिति निरूपित की गई है। यहाँ मूल्य 'प, र' है और लागत 'प र'। अतः प्रति इकाई हानि प प, हुई और कुल हानि रेखांकित क्षेत्र द्वारा दिखाई गई है।

अध्याय ३४
दीर्घ कालीन पूर्ण स्पर्धा में अर्घ

सामान्य मूल्य क्या है ?—दीर्घ कालीन मूल्य (या सामान्य मूल्य) वह मूल्य है जो दीर्घ कालीन बाजार में पाया जाता है। साधारण काल में यह कई अल्पकालीन मूल्यों के औसत के लगभग बराबर होता है। यथा यदि हम किसी स्थान पर गेहूँ के साल भर के बारह मासिक भावों का औसत निकालें तो यह औसत मूल्य सामान्य या दीर्घ कालीन मूल्य हो सकता है। मान लीजिये सन् १९४७ में इलाहाबाद में प्रत्येक मास की अन्तिम तिथि पर प्रति मन गेहूँ का मूल्य निम्नांकित था :—

मास	प्रति मन मूल्य (रुपये में)
जनवरी	२०
फरवरी	२१
मार्च	२२
अप्रेल	२२
मई	२१
जून	२०
जुलाई	१८
अगस्त	१८
सितम्बर	१९
अक्टूबर	१९
नवम्बर	२०
दिसम्बर	२०
	२४०

सामान्य मूल्य = २४०/१२ = २०

इसलिये सामान्य मूल्य बीस रुपया प्रति मन होगा।

दीर्घकालीन लागत वक्र कैसे खींचें ?—दीर्घकालीन औसत लागत वक्र अल्प-कालीन औसत लागत वक्रों के निम्नतम विन्दुओं का विन्दुपथ है। हम पहले कई अन्य कालों की अलग-अलग औसत लागत वक्र निकालते हैं और तब इनके निम्नतम विन्दुओं को जोड़ने से जो वक्र प्राप्त होगा वही दीर्घ कालीन औसत लागत वक्र होगा*। यह नीचे के चित्र में निरूपित किया गया है।

---

*इधर प्रो० जे०के० मेहता ने दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की इस परिभाषा का विरोध किया है। उनके मत के लिए देखिए उनकी पुस्तक 'एडवान्स इकनामिक थियरी' पृष्ठ १२६—१३१ प्रथम संस्करण

चित्र में अ, ब, स, द, प, फ, भ, न, य, र अल्पकालीन वक्र हैं 'ल ल' वक्र इन वक्रों के निम्नतम विन्दुओं को मिलाता है और यही दीर्घकालीन औसत लागत वक्र है।
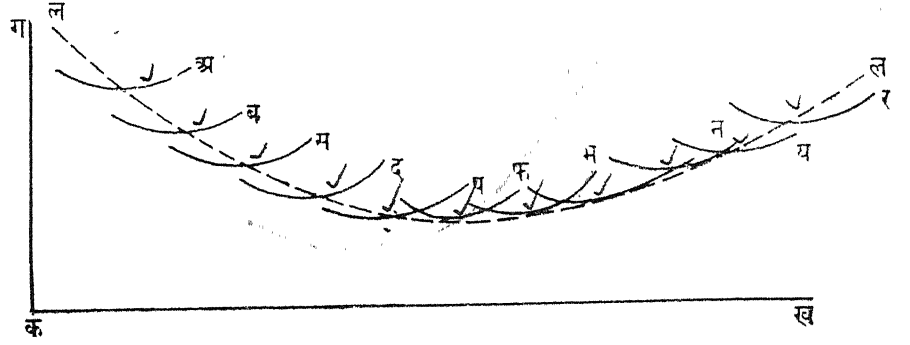
दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र के सम्बन्ध में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये क्योंकि यह सदैव औसत लागत वक्र के निम्नतम विन्दु से गुजरता है। प्रस्तुत उदाहरण में भी यह ल ल वक्र के निम्नतम विन्दु से गुजरेगा

स्थैतिक संस्थिति

दीर्घकाल की विभिन्न दशाओं में विभिन्न संस्थितियाँ होंगी। स्थैतिक दशा में केवल स्थैतिक संस्थिति होगी परन्तु प्रवैगिक दशा में स्थैतिक तथा प्रवैगिक दोनों संस्थितियाँ हो सकती हैं। प्रवैगिक दशा में स्थैतिक संस्थिति अति दीर्घकाल में उत्पन्न हो सकती है; यह एक बिरली घटना है। प्रस्तुत पुस्तक में हम इस पर विचार नहीं करेंगे; हम केवल स्थैतिक संस्थिति का अध्ययन करेंगे। दीर्घकालीन स्थैतिक संस्थिति की विशेषताएँ निम्नांकित हैं:—

१—प्रत्येक फर्म न्यूनतम लागत पर उत्पादन करेगी और अनुकूलतम फर्म होगी।

२—प्रत्येक फर्म की उत्पादन लागत समान होगी।

३—किसी फर्म को न लाभ होगा न हानि। प्रत्येक फर्म की औसत लागत औसत आय के बराबर होगी।

अब हम इन पर खुल कर विचार करेंगे।

दीर्घकालीन स्थैतिक दशा तथा उत्पादन लागत—दीर्घकालीन पूर्ण स्पर्धा तथा स्थैतिक संस्थिति में यह अनिवार्य है कि वस्तु का मूल्य उसकी औसत और सीमान्त दोनों लागतों के बराबर हो। इसका अर्थ यह होगा कि उत्पादक को न लाभ होगा, न हानि। यदि उसे अधिक लाभ मिलेगा तो अन्य उत्पादक उस क्षेत्र में आएँगे। फलतः उत्पादन बढ़ जाएगा तथा उसके साथ—माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार मूल्य घटेगा। मूल्य तब तक घटता जायगा जब तक वह औसत और सीमान्त लागतों के बराबर न हो जाएगा। इसी प्रकार यदि उत्पादक को हानि होती है तो वह उत्पादन बन्द करके किसी अन्य क्षेत्र में चला जाएगा। फलतः वस्तु की पूर्ति कम होगी, साथ में मूल्य बढ़ेगा और ऐसा तब तक होगा जब तक मूल्य औसत तथा सीमान्त लागतों के बराबर नहीं हो जाता।

इस तरह दीर्घकाल में वस्तु का मूल्य औसत और सीमान्त उत्पादन लागतों के बराबर होगा। नीचे दिए चित्र में यह बात निरूपित की गई है:—
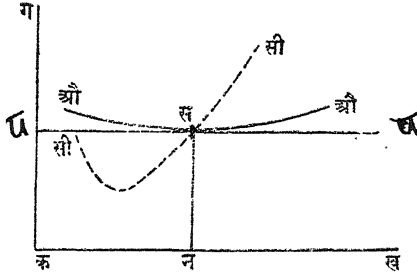
चित्र में **सी सी** सीमाँत लागत वक्र **औ औ** औसत लागत वक्र और **प प** मूल्य (या औसत आय) वक्र है। तीनों '**स**' विन्दु पर मिलते हैं। अतः **क न** मात्रा के बराबर माँग होगी और मूल्य **स न** के बराबर होगा।

फर्म का आकार दीर्घकालीन पूर्ण स्पर्धा में प्रत्येक फर्म अनुकूलतम आकार की होगी और उसकी उत्पादन लागत न्यूनतम होगी। जब तक सीमान्त लागत औसत लागत से कम होगी तब तक अधिक उत्पादन करना फर्म के ही हित में होगा। उत्पान वृद्धि के साथ शनैः शनैः सीमान्त लागत और औसत लागत का अंतर घटेगा और अन्त में वह गायब हो जाएगा। इस अन्तिम स्थिति में फर्म की उत्पादन लागत न्यूनतम होगी क्योंकि हम पहले बता चुके हैं कि सीमान्त लागत वक्र औसत लागत वक्र के निम्नतम (लागत) विन्दु से ही गुजरता है। अतः इस विंदु पर फर्म का आकार सर्वोत्तम होगा। इसके बाद सीमान्त लागत औसत लागत से अधिक होगी। अतएव इससे आगे उत्पादन बढ़ाना उत्पादक के हित में न होगा। अतः अन्त में हमारा निष्कर्ष यह है कि दीर्घकालीन स्थैतिक संस्थिति में प्रत्येक फर्म सर्वोत्तम और न्यूनतम लागत रखती है। यह स्थिति ऊपर दिए चित्र में ही निरूपित है।

गणितात्मक भाषा में इसी बात को इस प्रकार कहते हैं कि दीर्घकालीन मूल्य रेखा औसत लागत वक्र को स्पर्श करती है।

दीर्घकालीन स्थैतिक संस्थिति और उद्योग—दीर्घकालीन पूर्ण स्पर्धा और स्थैतिक दशा में उद्योग भी संस्थिति में होगा।* **यहाँ भी संस्थिति विंदु वही होगा**

चित्र में **सी सी** उद्योग की सीमान्त लागत वक्र, **औ औ** औसत लागत वक्र और **प प** मूल्य वक्र हैं। ध्यान रहे कि **प प** की आकृति नीचे की ओर गिरती हुई है। '**स**' संस्थिति विन्दु है। **स न** मूल्य है और **क न** माँग की मात्रा।
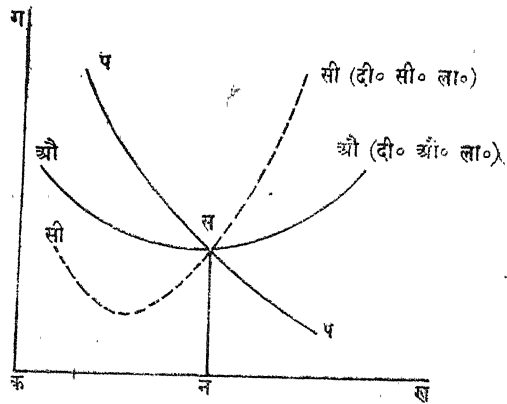
*अधिक स्पष्टता की दृष्टि से यह ज्ञातव्य है कि जब फर्म संस्थति पर होती है तो यह आवश्यक नहीं है कि उद्योग भी संस्थति पर हो।

जहाँ उद्योग की औसत लागत और सीमान्त लागत उसके औसत आय (या मूल्य) के बराबर होंगी। यह पृष्ट २७७ पर नीचे दिए गए चित्र में निरूपित किया गया है।

हम पहले देख चुके है कि उद्योग की संस्थिति विन्दु वही है जो फर्म का अर्थात् दोनों में औसत आय और सीमान्त लागत बराबर होते है।

परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि उद्योग और फर्म दोनों की सस्थितियों में कोई अन्तर नहीं है। वास्तव में दोनों की वक्रों में कई भिन्नताएँ हैं। फर्म की दीर्घकालीन औसत आय वक्र अनुभूमिक है। उद्योग की नीचे गिरती है। फर्म की दीर्घकालीन औसत आय वक्र अल्पकालीन औसत लागत वक्रों के संग्रथन से बनी है, परन्तु उद्योग की दीर्घकालीन औसत लागत वक्र सभी फर्मों की दीर्घकालीन औसत लागत वक्रों के संग्रथन से बनती है, अतः यह पहली के अपेक्षाकृत चपटी होती है। इसी प्रकार फर्म की दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्रों के संग्रथन से बनती है परन्तु उद्योग की दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र फर्मों के दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्रों का संग्रथन है।

औसत लागत का सूक्ष्मतर विश्लेषण—यह बताया जा चुका है कि दीर्घकालीन स्थैतिक दशा में उद्योग की संस्थिति पर मूल्य-वक्र औसत लागत वक्र को स्पर्श करता है। परन्तु उद्योग की औसत लागत वक्र किस प्रकार निकाली जाय? प्रत्येक फर्म की प्रत्येक औसत लागत पर होने वाले उत्पादन को जोड़ कर उस लागत पर उद्योग का उत्पादन निकालते हैं और इस प्रकार उद्योग की औसत लागत वक्र निकाल लेते हैं।
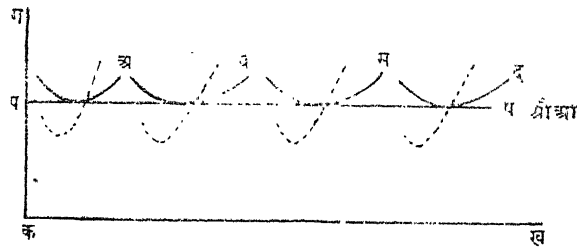
चित्र में **प प** औसत आय वक्र है। **अ,ब,स,द,** विभिन्न फर्मों की औसत लागत वक्र है: प्रत्येक की सीमान्त लागत वक्र एक खडित रेखा द्वारा दिखाया गया है।

दीर्घकालीन स्थैतिक संस्थिति में प्रत्येक फर्म अनुकूलतम (या सर्वोत्तम) आकार की होगी और उनकी लागत समान होगी। मान लीजिए किसी कारण वश एक फर्म की उत्पादन लागत औरों की लागत से कम है। तब या तो यह फर्म अन्य प्रतिस्पर्धी फर्म को क्षेत्र से भगा देगी और एकाधिकार प्राप्त कर लेगी या अपना उत्पादन यहाँ तक बढ़ाएगी कि उसकी उत्पादन-लागत दूसरी फर्मों की लागत के बराबर हो जाए। चाहे जो हो यह अनिवार्य है कि संस्थिति पर प्रत्येक फर्म अनुकूलतम आकार और समान लागत वाली हो। जैसा अर्थशास्त्री स्राफा (Sraffa) ने बताया है ये लागत वक्र अविच्छेद वक्र परिवार

(family of hyperbolic)* की भाँति होंगी। यह नीचे चित्र में निरूपित किया गया है।
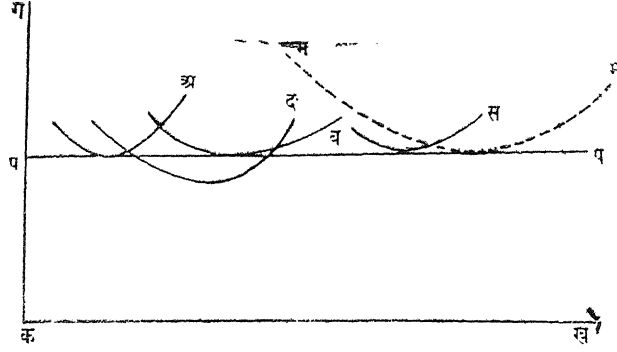
चित्र में **अ,ब,स,** तीन अनुलकूतम आकार वाली फर्म हैं। मान लीजिए एक नई फर्म **द** की उत्पादन लागत सब से कम है। अब या तो **'द'** फर्म आंशिक रूप से एकाधिकारी हो जाएगी और कुछ लाभ उठाएगी या वह अपने उत्पादन को बढ़ाएगी जिससे उसकी लागत वक्र **म म** बन जाएगी और उसकी औसत लागत भी अन्य फार्मों की लागत के बराबर हो जाएगी।

प्रवैगिक संस्थिति

प्रवैगिक दशा में संस्थिति के प्रवैगिक होने के कारण मूल्य-निर्धारण करना कठिन हो जाता है। इस दशा में विभिन्न फर्मों का विभिन्न आकार होता है और विकास स्तर भी भिन्न होता है। कुछ का विस्तार होता रहता है तथा कुछ अधोन्मुख होती हैं। कुछ को लाभ होता है, कुछ को हानि। ऐसी दशा में मूल्य सीमान्त फर्म की उत्पादन लागत के बराबर नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा होने का तात्पर्य यह होगा कि प्रत्येक फर्म को लाभ हो रहा है। मूल्य सर्वाधिक क्षमता वाली फर्म की लागत के बराबर भी नहीं हो सकता अन्यथा अन्य सभी फर्मों को घाटा होगा। न मूल्य किसी औसत फर्म के लागत के बराबर हो सकता है क्योंकि हमको औसत फर्म का कोई ज्ञान नहीं है। तब फिर किसकी लागत से मूल्य निर्धारित होगा ?

प्रतिनिध फर्म—मार्शल ने उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि मूल्य प्रतिनिधि फर्म की उत्पादन लागत के बराबर होगा। उनकी दी हुई परिभाषा के अनुसार प्रतिनिधि फर्म वह फर्म है "जो काफी लंबी अवधि से चालू है, जिसे साधारण सफलता मिली है और एक दी उत्पादन मात्रा के लिए जिसकी व्यवस्था सामान्य योग्यता से की जाती है तथा जिसको बाह्य और आंतरिक मितव्ययताएँ सामान्यतः प्राप्त हैं†" अन्य फर्मों का उत्पादन भले ही घटता बढ़ता हो परन्तु प्रतिनिधि फर्म का न विस्तार होता है, न ह्रास।

---

*अधिच्छेद वक्र अंग्रेजी शब्द U के आकार का होता है और फर्म के औसत लागत को दिखाता है।

† देखिए मार्शल द्वारा लिखित 'प्रिन्सिपुल्स आव इकनामिक्स' पृष्ट ३१८।

प्रतिनिधि फर्म की अपनी धारणा प्रतिपादित करते समय मार्शल ने प्राकृतिक बन के वृक्षों का दृष्टान्त दिया। किसी भी समय वन में कुछ वृक्ष अंकुरित होते रहते हैं, कुछ पूरी ऊँचाई तक बढ़ चुकते हैं और कुछ पुराने पड़ कर जीर्ण शीर्ण होते रहते हैं। यह बात फर्मों के आकार के सम्बन्ध में लागू है। कुछ फर्म नई और विकासोन्मुख होती है, कुछ बढ़ कर बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की मितव्ययताओं को अधिकाधिक प्राप्त करती रहती हैं, कुछ परिपक्वावस्था में पहुँच कर सामान्य मितव्ययता तथा क्षमता प्राप्त करती ह और कुछ पुरानी पड़ चुकी होती हैं तथा उनकी क्षमता अधोन्मुख होती है। मोटे तौर पर फर्मों को तीन वर्ग में विभाजित कर सकते हैं:—

(१) "नवीन फर्म" वे फर्म होती हैं जिनकी क्षमता बढ़ रही है, जिन्हें मितव्ययताएं उत्तरोत्तर अधिक प्राप्त हो रही हैं तथा जिनका आकार बढ़ रहा है।

(२) "परिपक्व फर्म" वे फर्म हैं जो न नवीन हैं न पुरानी, जो अनुभवी हो चुकी हैं, जिन्होंने कुछ साख बना ली है और जिन्हें सामान्य मितव्ययताएं प्राप्त हैं।

(३) "जीर्ण फर्म" वे फर्म हैं जो क्षमता की सीमा पार कर चुकी हैं और अधोन्मुख हैं।

इनमें से प्रत्येक वर्ग में कुछ अति क्षमता वाली फर्म होती हैं, कुछ कम क्षमता वाली और कुछ सामान्य क्षमता वाली। मार्शल ने सामान्य क्षमता वाली फर्म को चुना। उनके मत में यही सर्व प्रकार से औसत फर्म है। यही उनकी प्रतिनिधि फर्म है।

प्रतिनिधि फर्म की मुख्य विशेषताएँ निम्नांकित हैं:—

(१) यह एक औसत फर्म है—ऐसी औसत फर्म जिसका अध्ययन करके ही हम यह जान सकते हैं कि देश और उद्योग में बड़ी मात्रा के उत्पादन की वाह्य और आंतरिक मितव्ययताएं कहाँ तक उपलब्ध हो चुकी हैं।

(२) यह न बढ़ती है, न घटती।

(३) इसको न हानि होती है, न लाभ।

(४) यह न नवीन है, न जीर्ण।

(५) ऐसी कई औसत फर्म हो सकती हैं।

संस्थिति फर्म—अर्थशास्त्री पीगू (Pigou) जो मार्शल के शिष्य थे, ने "संस्थिति फर्म" के रूप में एक नई धारणा का प्रतिपादन किया। यह मार्शल की प्रतिनिधि फर्म का संशोधित रूप है और औसत फर्म की खोज पूरी करने के लिए अविष्कृत हुई। पीगू के अनुसार उद्योग की संस्थिति पर यह सम्भव है कि कोई फर्म संस्थिति पर न हो, अर्थात प्रत्येक फर्म या तो विस्तृत बन रही हो या अधोन्मुख हो। परन्तु तब भी ऐसी फर्म की कल्पना की जा सकती है जो संस्थिति पर हो। उदाहरणार्थ, दशा निम्न प्रकार हो सकती है:—

फर्म	प्रथम वर्ष में उत्पादन	द्वितीय वर्ष में उत्पादन
अ	१००	५०
ब	१५०	१००
स	२००	२५०
द	३००	३००
य	४००	४५०
	११५०	११५०

मार्शल तथा पीगू के मत—यदि हम मार्शल और पीगू के मतों का समायोजन करलें तो एक औसत फर्म के लक्षण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं:—

(१) ऐसी फर्म न घटती है, न बढ़ती।

(२) ऐसी फर्म को न हानि होती है, न लाभ

(३) ऐसी फर्म वास्तव में पाई जाय या न पाई जाय। परन्तु हम ऐसी फर्म की कल्पना तो कर ही सकते हैं।

(४) ऐसी एक या कई फर्में हो सकती हैं।

प्रतिनिधि फर्म की आलोचना

मार्शल द्वारा प्रतिपादित प्रतिनिधि फर्म की धारणा की कई अर्थशास्त्रियों ने आलोचना की है। प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) यह धारणा कोरी कल्पना है। ऐसी फर्म कहीं नहीं पाई जाती। मार्शल ने केवल अंधेरे में टटोला है।

(२) यदि धारणा वास्तविक भी हो तब भी तर्क में वृत्तात्मक मूल निहित है। संक्षेप में यह तर्क इस प्रकार है :—

सामान्य मूल्य प्रतिनिधि फर्म की लागत के बराबर होता है। यह ऐसी फर्म है जिसकी लागत सामान्य मूल्य के बराबर होती है। इस प्रकार मार्शल जो सिद्ध करना चाहते थे वही उन्होंने उपपत्ति रूप में मान लिया है।

(३) "प्रतिनिधि" शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है। क्या प्रतिनिधि फर्म प्रतिनिधि यंत्रादि वाली है अथवा प्रतिनिधि तांत्रिक उत्पादन इकाई या प्रतिनिधि व्यवसायिक संगठन वाली? फिर यह लागत का प्रतिनिधित्व करती है अथवा आकार का? मार्शल ने इन बातों को स्पष्ट नहीं किया है।

(४) यदि हम उस दीर्घकालीन पूर्ण स्पर्धी उत्पादन का विचार करें जिसमें वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि मिलती है, तो एक से अधिक ऐसी फर्म हो ही नहीं सकतीं। सर्वाधिक क्षमता वाली फर्म एकाधिकारी अवस्था को प्राप्त होगी और वह अन्य फर्मों को बाजार से भगा देगी।

(५) दीर्घकाल में ऐसी कोई फर्म नहीं होती जो लाभ न उठाती हो।

आलोचना की समीक्षा—उपर्युक्त कोई भी आलोचना सही नहीं है। वे मार्शल के मत को गलत रूप से समझने के कारण ही की गई हैं। परन्तु प्रतिनिधि फर्म की धारणा में कुछ अन्य दोष हैं जिन्हें हम आगे बताएंगे। यहाँ हम उपर्युक्त आलोचना की गलतियाँ बताएंगे :—

(१) यह कहना गलत है कि प्रतिनिधि फर्म की धारणा काल्पनिक है। सर सिडनी चैपमेन (Sir Sydney Chapman) और एश्टन (Ashton) ने सन् १९१४ में फर्मों के अकार संम्बंधी खोज की और यह निष्कर्ष निकाला कि प्रतिनिधि फर्म वास्तविक में होती है।

(२) "वृत्तात्मक तर्क" की आलोचना तभी सही हो सकती थी जब प्रतिनिधि फर्म की कल्पना आलोचना से बताई रीति में की गई होती। परन्तु प्रतिनिधि फर्म की धारणा बनाने की सीढ़ियाँ भिन्न तथा निम्नलिखित हैं :—

(अ) प्रवैगिक संस्थिति में मूल्य औसत लागत के बराबर होता है।

(ब) परन्तु किस फर्म की औसत लागत? यह औसत लागत फर्म की नहीं वरन् संपूर्ण उद्योग की होती है।

(स) संपूर्ण उद्योग की औसत लागत कैसे निकाली जाए? इसे प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत देखकर जान सकते है।

(द) प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत किस प्रकार निर्धारित होती है? यह प्रतिनिधि फर्म के उत्पादन की मात्रा पर निर्भर रहता है।

(थ) प्रतिनिधि फर्म के उत्पादन की मात्रा कैसे निर्धारित होती है? यह उद्योग के बाहर और भीतर स्थित फर्मों की आशा और निराशा पर निर्भर रहता है।

(र) उत्पादक की आशा और निराशा किस पर निर्भर रहती है?

इस पर कि प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत मूल्य से अधिक है या कम, अर्थात् उसको लाभ हो रहा या हानि। इस प्रकार हम देखते हैं "वृत्तात्मक तर्क" की आलोचना ग़लत है।

(३) "प्रतिनिधि" शब्द का अर्थ अस्पष्ट है, यह आलोचना अवश्य कुछ महत्व रखती है। उत्तर में हम कह सकते है कि हमारा आशय 'लागत के प्रतिनिधित्व' से है।

(४) यह सोचना ग़लत है कि पूर्ण स्पर्धा में संस्थिति पर किसी फर्म को वृद्धिमान या ह्रासमान प्रत्युपलब्धि प्राप्त हो सकती है। उसे केवल समान प्रत्युपलब्धि ही मिल सकती है। अकेली फर्म को वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि तो मिल ही नहीं सकती। ऐसी प्रत्युपलब्धि मिलेगी भी तो संपूर्ण उद्योग को मिलेगी और इस कारण वह सभी फर्मों को प्राप्त होगी।

(५) यह कहते समय कि दीर्घकाल में किसी फर्म को न लाभ होता है न हानि, हम लाभ को इसके वास्तविक अर्थ में प्रयोग नहीं करते। यहाँ लाभ से हमारा अर्थ "असामान्य लाभ" या 'अतिरिक्त लाभ' से होता है। यह सामान्य लाभ से अधिक और परे है। सामान्य लाभ की गणना तो उत्पादन-लागत में हो जाती है। अतः पाँचवी आलोचना भी निरर्थक है।

इसलिए हम कह सकते हैं कि प्रतिनिधि फर्म की धारणा उपर्युक्त दोषों से मुक्त हैं।

वास्तविक दोष—इससे यह न समझिये कि मार्शल द्वारा प्रतिपादित "प्रतिनिधि फर्म" की धारणा सर्व दोषों से मुक्त है। इस सम्बंध में दो दोषों पर विचार करना संगत है :—

(१) मार्शल ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि उसकी यह धारणा प्रवैगिक दशा के लिए है, अथवा स्थैतिक दशा के अथवा दोनों के लिए। इससे भ्रम उत्पन्न होना सम्भव है।

(२) यह सोचना 'ग़लत' है कि प्रतिनिधि फर्म सदैव संस्थिति पर होती है। यह उद्योग का प्रतिनिधित्व करती है। अतः यदि उद्योग का विस्तार हो रहा हो तो प्रतिनिधि फर्म भी बढ़ेगी और यदि उद्योग ह्रास पर है तो प्रतिनिधि फर्म भी ह्रास पर होगी। पीगू ने मार्शल की धारणा की इस कमज़ोरी को समझकर ही कहा था कि मार्शल की प्रतिनिधि फर्म वास्तव में प्रतिनिधि फर्म नहीं वरन् संस्थिति फर्म है। परन्तु पीगू इससे अधिक स्पष्ट न हो सके।

प्रतिनिधि फर्म की नई परिभाषा

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि मार्शल की 'प्रतिनिधि फर्म' की धारणा बहुत उपयोगी और स्पष्ट नहीं है। अतः प्रतिनिधि फर्म की एक नई परिभाषा की आवश्यकता है।

प्रो० जे० के० मेहता ने उक्त धारणा को एक नया अर्थ दिया है और उसको मान लेने से उपर्युक्त दोनों दोष दूर हो जाते हैं।

प्रो० मेहता के अनुसार प्रतिनिधि फर्म वह फर्म है जो उद्योग का पूर्णरूपेण प्रतिनिधित्व करती है। अर्थात् उद्योग के विस्तार के साथ यह बढ़ती है और ह्रास के साथ घटती है। मार्शल की प्रतिनिधि फर्म की भाँति यह सदैव संस्थिति पर नहीं होती। '**यह सदैव सम्पूर्ण उद्योग की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है।**

दूसरी बात जिसे स्मरण रखना महत्वपूर्ण है यह है कि प्रतिनिधि फर्म केवल दीर्घकालीन प्रवैगिक दशा के मूल्य-निर्धारण में सहायता देती है। दीर्घकालीन स्थैतिक दशा में इसका कोई महत्व नहीं है।

प्रो० मेहता के मत की अधिक व्याख्या—प्रवैगिक दशा और पूर्ण स्पर्धा में कोई उद्योग विभिन्न कारणों से घट-बढ़ सकता है। जब उद्योग में प्रसार या संकुचन होता है तब उसमें स्थिति फर्मों में भी प्रसार या संकुचन हो सकता है। यह भी सम्भव है कि कुछ फर्म उत्पादन क्षेत्र से बिदा ले रही हों और कुछ उसमें अवतरित हो रही हों। जब उद्योग का प्रसार होता है तब साधनों का उद्योग की ओर प्रवाह बढ़ जाता है। परन्तु जब उद्योग का ह्रास होता है तब साधनों का नया प्रवाह नहीं होता। क्योंकि उद्योग के प्रसार और ह्रास के साथ प्रतिनिधि फर्म का भी प्रसार और ह्रास होता है, अतः हम कह सकते हैं कि प्रतिनिधि फर्म के प्रसार पर साधनों का उद्योग की ओर प्रवाह बढ़ जाता है और ह्रास के समय वास्तव में साधनों का प्रवाह उद्योग से बाहर की ओर होता है। जब प्रतिनिधि फर्म का न प्रसार होता है, न ह्रास, तो उद्योग संस्थिति पर होता है और साधनों का प्रवाह प्रायः बंद रहता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि प्रतिनिधि फर्म की ओर केवल उद्योग की अन्य फर्मों का ही ध्यान केन्द्रित नहीं रहता है वरन् उत्पादन क्षेत्र में अवतरित होने वाली नई फर्मों का भी, और प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत ही मूल्य निर्धारित करती है।

जब प्रतिनिधि फर्म का प्रसार होता है तब नई फर्म के अवतरित होने की प्रवृत्ति होती है और उद्योग का प्रसार होता है। इससे मूल्य में कमी होगी। फर्मों के प्रसारित होने की प्रवृत्ति कमज़ोर पड़ेगी। क्रमशः स्थिरता आएगी और प्रतिनिधि फर्म में प्रसार की प्रवृत्ति न रहेगी। तब मूल्य प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत के बराबर होगा। जब प्रतिनिधि फ़र्म का संकुचन होगा तो विपरीत अवस्था होगी। परन्तु यह फर्म तभी घटेगी जब मूल्य

इसकी औसत लागत से कम होगा। कुछ फर्म उत्पादन क्षेत्र छोड़ देंगी, मूल्य बढ़ेगा और अंत में प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत के बराबर हो जाएगा। इस दशा में प्रतिनिधि फर्म संस्थिति पर होगी और उद्योग भी। इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल्य बढ़ेगा, घटेगा परन्तु उसकी प्रवत्ति सदैव प्रतिनिधि फर्म की लागत के बराबर होने की होगी।

फिर भी यह बताना वांछनीय है कि सम्भव है प्रतिनिधि फर्म और उसकी औसत लागत सदैव अपरिवर्ती न बनी रहें। वे बदल सकती हैं। तब भी और सदैव ही मूल्य की प्रवृति प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत के बराबर होने की होगी। अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत ही मूल्य निर्धारित करती है।

इस बात को गणितात्मक भाषा में कह सकते हैं। माँग और पूर्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा मूल्य निर्धारित होता है। माँग को स्थिर मान कर, पूर्ति लागत पर निर्भर रहेगी। यह लागत किसी फर्म नहीं वरन् सम्पूर्ण उद्योग की होगी। विभिन्न फर्मों की औसत लागत उद्योग की औसत लागत से कम या अधिक हो सकती है, परन्तु उनमें ऐसी भी फर्म हो सकती है जिसकी औसत लागत उद्योग की औसत लागत के बराबर हो। इसको प्रतिनिधि फर्म कहते हैं। क्योंकि इसकी लागत उद्योग की लागत के बराबर होती है, हम कह सकते हैं कि इसकी लागत मूल्य निर्धारित करती है।

नीचे दिये चित्र में यह बात भलीभाँति निरूपित की गई है। चित्र में **द द** उद्योग की माँग वक्र और **स स** पूर्ति वक्र तथा **प प** मूल्य-वक्र है। **प, फ, भ, न** विभिन्न फर्म हैं। 'भ' फर्म की उत्पादन लागत वही है जो उद्योग की। अतः यह प्रतिनिधि फर्म है।

परन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रतिनिधि फर्म सदैव व्यवहार में पाई जाय। इसलिए हम उद्योग की लागत और एक फर्म की लागत में सादृश्य नहीं बता सकते। "तब भी यदि हम फर्म की लागत की बात करना ही चाहते हैं तो हम प्रतिनिधि फर्म की बात कर सकते हैं। इससे हमारा अभिप्राय किसी एक फर्म से नहीं वरन् उद्योग के एक छोटे चित्र से होगा"*।

कुछ आलोचकों का यह मत है कि दीर्घकाल और प्रवैगिक संस्थिति में मूल्य प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत के बराबर तो होता है परन्तु उसके द्वारा निर्धारित नहीं होता।

*देखिये प्रो० जे० के० मेहता की 'एडवान्स इकनामिक थियोरी' पृष्ठ १४२

अर्थात् दीर्घकाल और प्रवैगिक संस्थिति के मूल्य और प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत में कोई हेतुक सम्बध नहीं है।

यह तर्क सही नहीं है। कुछ लोग सोच सकते हैं कि एक फर्म की लागत वस्तु का मूल्य निर्धारित नहीं कर सकती। सभी फर्म के उत्पादन लागत अथवा सभी फर्मों की कुल माँग और पूर्ति ही मूल्य निर्धारित करेंगी। परन्तु इतने से ही प्रतिनिधि फर्म की धारणा को ग़लत नहीं मान सकते।

प्रवैगिक दशा में कुछ फर्म को लाभ होता है, कुछ को हानि। तब भी सम्भव है कि न नई फर्म अवतरित हों न पुरानी फर्म बिदा लें। साधारणतः जब लाभ होता है तब नई फर्म अवतरित होती हैं और हानि के समय उद्योग से साधनों का प्रवाह बाहर की ओर होता है। 'परन्तु ऐसा न होने का कारण यह है कि लाभ की आशा घाटे की आशा को निष्क्रिय बना देती है'। इसका अर्थ यह हुआ कि उद्योग में न लाभ होता है, न हानि। ऐसी स्थिति में एक फर्म ऐसी है जिसकी लागत उद्योग की लागत के बराबर है। इस फर्म को न हानि होगी, न लाभ। क्योंकि यह फर्म उद्योग की दशाओं का प्रतिनिधित्व करती है, अतः हम इसको प्रतिनिधि फर्म कह सकते हैं। इसकी लागत उद्योग की लागत के बराबर होती है, अतः हम यह भी कह सकते हैं कि इस फर्म के उत्पादन की लागत मूल्य निर्धारित करती है।

अध्याय ३५

प्रत्युपलब्धि नियम और अर्घ

कुछ पुस्तकों में मूल्य पर पड़ने वाले प्रत्युपलब्धि नियमों के प्रभाव की व्याख्या की जाती है। यह पता लगाने की चेष्टा की जाती है कि यदि कोई वस्तु का उत्पादन वृद्धिमान, ह्रासमान या समान प्रत्युपलब्धि नियम के अन्तर्गत होता है तो उसके मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इससे यह भ्रम होता है कि पूर्ण स्पर्धा तथा संस्थिति पर उत्पादन वृद्धिमान या ह्रासमान प्रत्युपलब्धि के अनुसार हो सकता है। यह गलत है। पूर्ण स्पर्धा में संस्थिति पर उत्पादन केवल समान प्रत्युपलब्धि नियम के अनुसार हो सकता है। उस स्थिति में कोई अन्य नियम लागू ही नहीं हो सकता है। इसलिये प्रत्युपलब्धि नियमों और मूल्य पर उनके पड़ने वाली प्रभाव सम्बन्धी व्याख्या ही निरर्थक है।

किसी फर्म की लागत वक्र अंग्रेजी अक्षर U के समान होती है। इसका यह अर्थ हुआ कि आरम्भ में उत्पादन वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि (या ह्रासमान लागत) के आधार पर होता है, कालांतर में समान प्रत्युपलब्धि (या समान लागत) नियम लागू होता है और अंत में ह्रासमान प्रत्युपलब्धि (या वृद्धिमान लागत) प्राप्त होने लगती है। यह सार्वभौमिक सत्य है और यही कारण है कि फर्म की औसत लागत वक्र U रूपी मानी जाती है जैसा नीचे के चित्र में निरूपित किया गया है।
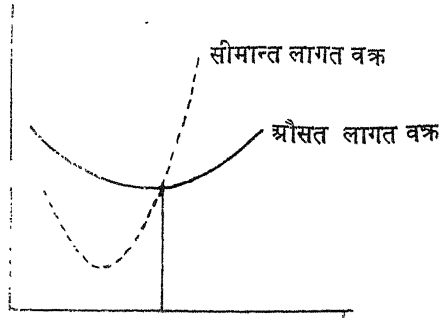
(औसत और सीमान्त लागत वक्रों में सम्बन्ध)

हम यह भी जानते हैं कि पूर्ण स्पर्धा में प्रत्येक फर्म अनुकूलतम आकार की होगी। अनुकूलतम आकार और निम्नतम मूल्य वाली होने के लिये यह आवश्यक है कि फर्म तब तक उत्पादन करती जाए जब तक सीमान्त लागत औसत लागत से कम है। जहाँ दोनों लागतें बराबर होंगी वहीं उत्पादन बन्द कर दिया जायेगा क्योंकि अधिक उत्पादन करने पर सीमान्त लागत औसत लागत से अधिक होगी और उत्पादक को हानि होगी। जहाँ औसत लागत और सीमान्त लागत बराबर होंगी, उत्पादक को समान प्रत्युपलब्धि प्राप्त होगी। यह नीचे के चित्र में निरूपित किया गया है।

चित्र में 'सी ला' सीमान्त लागत वक्र है और 'औ' औसत लागत वक्र। ब स' से उत्पादक को प्राप्त होने वाली प्रत्युपलब्धि ज्ञात होती है। वक्र 'ब' के 'म' विन्दु तक वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि प्राप्त होती है और बाद में ह्रासमान प्रत्युपलब्धि मिलती है। 'ग' विन्दु पर उत्पादक को समान प्रत्युपलब्धि मिलती है। चित्र से स्पष्ट है कि जहाँ उत्पादक को समान प्रत्युपलब्धि मिलती है वहीं औसत लागत सीमान्त लागत के बराबर होती है। यही उसके लिये आदर्श-स्थिति है।
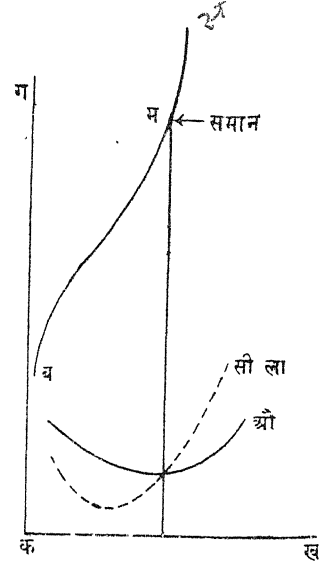
उस विन्दु पर जहाँ औसत लागत और सीमान्त लागत वक्र मिलते हैं समान प्रत्युपलब्धि मिलने लगती है जब औसत लागत सीमान्त लागत से अधिक होती है तब वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि मिलती है, तथा कम होने पर ह्रासमान प्रत्युपलब्धि प्राप्त होती है। क्योंकि उत्पादक उसी स्थिति पर उत्पादन बंद कर देगा जहाँ सीमान्त लागत और औसत लागत बराबर होती हैं, अतः हम कह सकते हैं कि उस स्थिति पर समान प्रत्युपलब्धि मिलेगी। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पूर्ण स्पर्धा में संस्थिति पर केवल समान प्रत्युपलब्धि नियम लागू होता है। अतएव हम कह सकते हैं कि मूल्य निर्धारण पर प्रत्युपलब्धि नियमों के प्रभाव की व्याख्या निरर्थक है।

अध्याय ३६

एकाधिकार अर्घ

अँग्रेजी शब्द मोनोपोली* दो शब्दों से मिलकर बना है : 'मोनो' का अर्थ होता है 'अकेला' और 'पोली' का विक्रेता। इस प्रकार 'मोनोपोली' अथवा एकाधिकार का शाब्दिक अर्थ हुआ 'अकेला विक्रेता'। पूर्ण स्पर्धा में बहुत से उत्पादक होते हैं। परन्तु एकाधिकार में केवल एक ही उत्पादक होता है। अतएव एकाधिकार पूर्ण स्पर्धा का ठीक उल्टा है।

एकाधिकार की परिभाषा एक दूसरे अधिक अच्छे ढंग से की जा सकती है। वह स्पर्धा के पूर्ण अभाव का द्योतक है। जब पूर्ण स्पर्धा में उत्पादक का मूल्य पर नियंत्रण नहीं होता, एकाधिकार में उत्पादक अपनी वस्तु का मूल्य नियंत्रित कर सकता है।

चूंकि एकाधिकार का अर्थ होता है मूल्य पर पूर्ण नियंत्रण अतः इससे स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि एकाधारी का माँग—वक्र शीर्ष सरल रेखा ही होना चाहिये। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पूर्ण स्पर्धा की भांति ही व्यवहारिक जीवन में एकाधिकार भी नहीं पाया जाता। यह एक काल्पनिक धारणा है।

परन्तु क्योंकि एकाधिकार एक काल्पनिक धारणा है इसलिये यह आवश्यक नहीं है कि हम† इसका अध्ययन बिल्कुल ही न करें। यदि हम पूर्ण स्पर्धा का, जो स्वयं काल्पनिक ही है, अध्ययन कर सकते हैं तो एकाधिकार का अध्ययन न करने का कोई कारण नहीं हो सकता है। वस्तुतः एकाधिकार और पूर्ण स्पर्धा दो ध्रुवों की भाँति हैं और दोनों ही काल्पनिक हैं। इन दोनों के बीच की दशा अपूर्ण स्पर्धा की दशा है और केवल इसी दशा का अध्ययन यथार्थवादी अध्ययन होगा।

यहाँ एक प्रश्न और उठता है। क्या हमें एकाधिकार में मूल्य-निर्धारण पर विचार करते समय माँग वक्र निश्चित करने के लिये शीर्ष सरल रेखा (अर्थात् पूर्णतः बे-लोचदार माँग वक्र) खींचनी चाहिये या नीचे की ओर गिरती हुई माँग-वक्र जो बे-लोचदार माँग वक्र का द्योतक है।

---

*monopoly = Mono + poly

†देखिये प्रो० जे०के० मेहता की 'एडवान्स इकौनौमिक थिओरी' पृ० ७७

यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि मार्शल के अनुसार एकाधिकारी का वस्तु की 'अधिकांश' मात्रा पर नियन्त्रण होना चाहिये। परन्तु 'अधिकांश' शब्द का कोई निश्चित अर्थ नहीं है। एकाधिकार का अपूर्ण प्रतियोगिता से भेद करते समय इससे भ्रम और भी अधिक हो जाता है।

तर्क से माँग-वक्र निरूपित करने के लिये हमे शीर्ष सरल रेखा ही खींचनी चाहिए। परन्तु पूर्णतः बेलोचदार माँग-वक्र कभी नहीं पाया जाता। अतएव बहुत से अर्थशास्त्री नीचे की ओर गिरता हुआ माँग-वक्र खींचते हैं। परन्तु अपूर्ण स्पर्धा का प्रदर्शन करने के लिये भी नीचे की ओर गिरती हुई सरल रेखा खींची जाती है। तब एकाधिकार और अपूर्ण स्पर्धा में क्या अन्तर है ?

वस्तुतः श्रीमती जोन रॉबिन्सन कोई अन्तर नहीं मानतीं क्योंकि उनके अनुसार अपूर्ण-बाजार में प्रत्येक उत्पादक एकाधिकारी (हमारे अर्थ में आंशिक-एकाधिकारी) है। प्रो० चेम्बरलिन का मत बहुत कुछ ऐसा ही है। अपूर्ण स्पर्धा की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि वह एकाधिकारियों में स्पर्धा की ही एक दशा है। परन्तु यह माना जाता है कि ज्यों ज्यों एकाधिकार का अंश बढ़ता जाता है, माँग-वक्र अधिक शीर्ष और अक्षांशों से दूर होता जाता है।

एकाधिकार और पूर्ण स्पर्धा की तुलना—एकाधिकार और पूर्ण स्पर्धा में बहुत अन्तर है। निम्नांकित भेद प्रमुख हैं :—

(१) पूर्ण स्पर्धा में उत्पादक की माँग-वक्र अनुभूमिक होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह दिये हुए मूल्य पर वस्तु की कोई भी मात्रा बेच सकता है और थोड़े से (तनिक से) अधिक मूल्य पर कुछ भी नहीं। कारण यह है कि मूल्य थोड़ा सा भी अधिक होने पर उसके सब ग्राहक दूसरे उत्पादकों के पास चले जायगें। इसी प्रकार यदि वह मूल्य में थोड़ी सी भी कमी करता है तो दूसरे उत्पादकों के ग्राहक उसके पास आ जायेंगे जिससे अन्य उत्पादक बाजार में न रह पायेंगे और वह एकाधिकारी रह जायगा प्रतिस्पर्धी नहीं। परन्तु एकाधिकारी का माँग वक्र नीचे की ओर गिरता हुआ होगा।

(२) पूर्ण स्पर्धा में उत्पादक विभिन्न ग्राहकों में भेद नहीं कर सकता। अपने ग्राहकों को खो देने के भय से उसे सभी से एक ही मूल्य लेना होगा। परन्तु इसके विपरीत, एकाधिकारी विभिन्न ग्राहकों में भेद कर सकता है। उसे इस बात का कोई डर नहीं है कि कोई अन्य उत्पादक उसके ग्राहकों को ले लेगा।

(३) पूर्ण स्पर्धा में प्रचलित मूल्य पर उत्पादक अपनी वस्तु कितनी ही मात्रा में बेच सकता है जब कि एकाधिकारी ऐसा नहीं कर सकता। यदि वह अपनी वस्तु को अधिक मात्रा में बेचना चाहता है तो उसे मूल्य में कमी करनी होगी। इस प्रकार जब एकाधिकारी वस्तु की अधिक मात्रा घटित मूल्य पर बेचता है तो उसे हानि केवल अधिक बेची हुई इकाइयों पर ही नहीं वरन् सभी बेची हुई इकाइयों पर होती है।

४—पूर्ण स्पर्धा में उत्पादन के प्रत्येक साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता के मूल्य के बराबर प्रतिफल दिया जाता है। परन्तु एकाधिकार में प्रत्येक साधन का प्रतिफल

उसकी सीमान्त आय-उत्पत्ति के बराबर होता है। सीमान्त-आय-उत्पत्ति सीमान्त-उत्पत्ति के मूल्य से कम होती है।*

एकाधिकार-मूल्य का निर्धारण

वास्तविक एकाधिकार आय—एकाधिकारी का ध्येय वास्तविक एकाधिकार आय को अधिकतम करना है। लागत से (जिसमें प्रबन्ध के साधारण व्यय भी सम्मलित हैं) आय की अधिकता को ही वास्तविक एकाधिकार आय कहते हैं। पूर्ण स्पर्धा तथा दीर्घकाल में उत्पादक को प्राथमिक (prime) और अनुपूरक (supplementary) लागत तथा साधारण लाभ प्राप्त होते हैं। इन सब को मिलाकर उत्पादन की लागत होती है। एकाधिकार के कारण इस लागत के अतिरिक्त जो कुछ भी प्राप्त होता है, उसे वास्तविक एकाधिकार आय कहते हैं। यह एक प्रकार का अतिरेक है। एकाधिकारी का ध्येय इस अतिरेक को अधिकतम बनाना अथवा जितनी सम्भव हो सके उतनी एकाधिकार आय प्राप्त करना है।

एकाधिकारी किस प्रकार मूल्य निर्धारित करता है—सम्भवतः मार्शल सर्व-प्रथम अंग्रेज अर्थशास्त्री थे जिन्होंने एकाधिकार अर्घ के सिद्धान्त का व्यापक रूप से प्रतिपादन किया। उनका प्रतिपादन 'भूल और सुधार' की प्रणाली पर आधारित है। उन्होंने कहा कि एकाधिकार आय को अधिकतम बनाने के लिये एकाधिकारी को दो बातों पर विचार करना होगा (१) अपनी वस्तु की माँग की लोच (२) अपने उत्पादन की लागत अर्थात् उसका उत्पादन वृद्धिमान, ह्रासमान या सम-प्रत्युपलब्धि के नियमों में किसके अनुसार हो रहा है।

मूल्य और माँग की लोच—यदि एकाधिकारी को प्रतीत होता है कि उसकी वस्तु की माँग की लोच इतनी अधिक है कि मूल्य में थोड़ी सी भी वृद्धि होने पर वस्तु की माँग में पर्याप्त कमी हो सकती है तो यह उसके हित में ही होगा कि वह मूल्य को बहुत अधिक न बढ़ाये। दूसरी ओर, यदि उसकी वस्तु की माँग बहुत ही बेलोच है तो वह अपनी एकाधिकार आय पर कोई कुप्रभाव डाले बिना मूल्य में पर्याप्त वृद्धि कर सकता है।

मूल्य और उत्पादन की लागत—एकाधिकार को इस बात पर भी विचार करना है कि वह अपनी वस्तु का उत्पादन प्रत्युपलब्धि ह्रासमान नियम के अनुसार कर रहा है या वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि नियम के। यदि उसे वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि हो रही है तो बाजार में वस्तु की अधिक मात्रा रखना हितकर होगा। क्योंकि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होने के साथ ही लागत में कमी हो जाती है। दूसरी ओर यदि वह ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियमों से उत्पादन कर रहा है तो उत्पादन में वृद्धि होने के साथ ही उत्पादन-लागत बढ़ जाती है। अतएव बाजार में वस्तु की कम मात्रा रखना ही उसके हित में। यदि वह सम-प्रत्युपलब्धि के नियम से उत्पादन कर रहा है तो प्रत्येक अवस्था में उत्पादन की लागत भी समान रहेगी और उसे केवल अपनी वस्तु की माँग की लोच पर ही ध्यान केन्द्रित करना होगा।

* इस सम्बन्ध में मजदूरी का अध्याय देखिए।

मूल्य निर्धारण—इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए एकाधिकारी बहुत से प्रयोग करेगा। पहले वह अपनी वस्तु की मात्रा बढ़ा कर एकाधिकार लाभ मालूम करेगा। फिर वह वस्तु की मात्रा को कम कर के एकाधिकार लाभ (monopoly gain) मालूम करेगा। वह अपनी वस्तु की मात्रा में पुनः थोड़ी सी वृद्धि करके एकाधिकार लाभ मालूम करेगा और यह क्रम ऐसे ही चलता जायगा। इस प्रकार बहुत से प्रयोगों के पश्चात् 'भूल और सुधार' क्रम द्वारा वह ऐसी स्थिति पर पहुँच जायगा जहाँ कि उसका एकाधिकार लाभ अधिकतम होगा। यही स्थिति उसके मूल्य को निश्चित करती है।
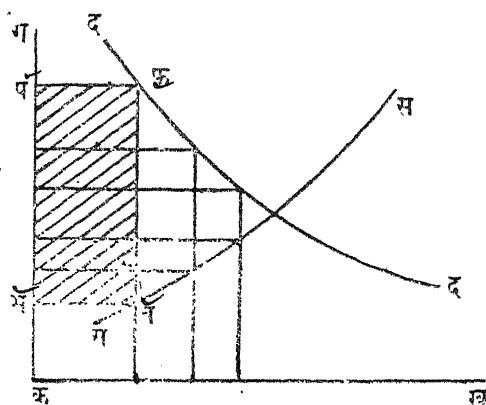
यहाँ क्षेत्र प फ ब भ अधिकतम सम्भव वास्तविक एकाधिकार आय का प्रदर्शन करता है। अतएव वह (एकाधिकारी) क प मूल्य लेगा और प फ इकाइयाँ बेचेगा।

उसे अपने अनुभव से ज्ञात होगा कि अधिकतम एकाधिकार आय न तो बहुत अधिक मूल्य से और न बहुत कम मूल्य द्वारा प्राप्त की जा सकती है। उसे बहुत ध्यान पूर्वक उत्पादन-लागत की दशाओं तथा माँग की लोच का अध्ययन करके ठीक उसी स्थिति को ज्ञात करना होगा जहाँ कि उसकी एकाधिकार आय अधिकतम हो। यह ऊपर के चित्र में प्रदर्शित किया जा चुका है।

उत्पादन की लागत और एकाधिकार—यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि जब स्पर्धा के अन्तर्गत दीर्घकाल में मूल्य की प्रवृति उत्पादन की लागत के बराबर हो जाने की होती है (वह कभी भी उत्पादन की लागत से कम अथवा अधिक नहीं हो सकता), एकाधिकार में उत्पादन की लागत एक निम्नतम सीमा ही है जिसके नीचे मूल्य कभी नहीं गिर सकता। परन्तु यहाँ वह पूर्ण स्पर्धा की भाँति, उच्चतम सीमा नहीं है। यही कारण है कि एकाधिकारी एकाधिकार-आय उपार्जित कर सकता है।

हम इस बात को अगले पृष्ठ पर दिए गए चित्र द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं। यह चित्र मार्शल द्वारा दिए हुए चित्र से अच्छा है। इस चित्र में **र र** कुल आय वक्र है जो प्रारम्भ में उठता, फिर समान रहता और तत्पश्चात् गिरने लगता है। इस प्रकार यह

वक्र क्रमशः वृद्धिमान, सम तथा ह्रासमान प्रत्युपलब्धि करता है। स स कुल लागत-वक्र या पूर्ति-वक्र है। एकाधिकारी उस मात्रा का उत्पादन करेगा जिस पर कुल आय तथा कुल लागत का अन्तर अधिकतम हो। चित्र में प म इन दोनों के अधिकतम अन्तर का द्योतक है। यहीं पर उसकी एकाधिकार आय अधिकतम होगी।
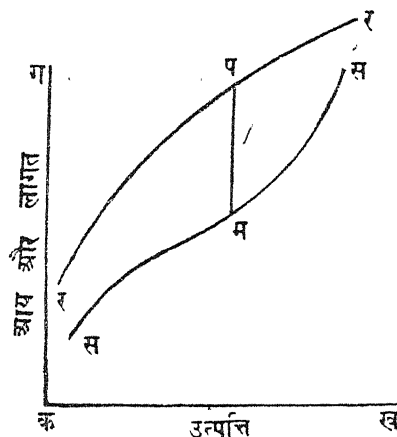
मार्शल के विश्लेषण की त्रुटियाँ—मार्शल के विश्लेषण की सब से बड़ी त्रुटि यह है कि हम ठीक उसी स्थिति का पता नहीं लगा सकते जहाँ कि वास्तविक एकाधिकार आय अधिकतम होती है। भूल और सुधार पद्धति द्वारा सब कुछ अस्पष्ट ही रह जाता है।

विवेचनात्मक एकाधिकार (Discriminating Monopoly)—जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं कि मूल्य-नियंत्रण के विशेषाधिकार के कारण एकाधिकारी विभिन्न ग्राहकों से विभिन्न मूल्य ले सकता है। विभिन्न ग्राहकों से विभिन्न मूल्य लेने को ही मूल्य-विवेचन कहते हैं। यदि एकाधिकार में मूल्य-विवेचना की जाती है तो उसको विवेचनात्मक एकाधिकार कहते हैं।

मूल्य-विवेचन के लिए आवश्यक दशाएँ—सफल मूल्य विवेचन के लिए निम्न दो दशाएँ आवश्यक हैं।

(१) विभिन्न जन समुदायों की माँग की लोच विभिन्न होनी चाहिए—यह इसलिए आवश्यक है कि जो मूल्य उपभोक्ता किसी वस्तु के लिए देता है, वह उस वस्तु की माँग की लोच पर ही निर्भर है। यदि दो बाजारों में माँग की लोच समान है तो मूल्य को भी समान रहना होगा और इस दशा में कोई विवेचना सम्भव नहीं होगी। विवेचना तभी सम्भव होगी जब कि विभिन्न बाजारों में उस वस्तु के लिए उपभोक्ताओं की माँग की लोचें भी विभिन्न हों।

(२) दोनों बाजारों को पृथक होना चाहिए—यह इसलिए आवश्यक है कि कहीं वे उपभोक्ता जिनसे अधिक मूल्य लिया जा रहा है उस वस्तु को कम मूल्य वाले बाजार से न खरीद सकें। यदि ऐसा सम्भव हो तो मूल्य-विवेचन नहीं हो सकता।

मूल्य-विवेचन के लिये अनुकूल दशाएँ—उत्पादक की एकाधिकारी स्थिति के अतिरिक्त निम्नलिखित दशाएँ मूल्य-विवेचन में सहायक होती हैं।

(१) वस्तु की प्रकृति—वस्तु अथवा सेवा की प्रकृति ऐसी हो सकती है कि वह किसी अन्य उपभोक्ता तक पहुँचाई ही न जा सके जैसे चिकित्सक द्वारा रोगी की प्रत्यक्ष सेवा। यहाँ पर यह सम्भव नहीं है कि चिकित्सक की फीस बचाने के लिए एक रोगी के स्थान पर कोई अन्य रोगी आ जाय।

(२) सरकारी नियम—जैसा कि युद्धकाल में होता है, सम्भव है कि सरकार एक स्थान से दूसरे स्थान तक माल का यातायात रोक दे। इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि सरकार जनोपयोगी उद्योगों जैसे बिजली, डाकघर इत्यादि की भाँति किसी विशेष व्यापार को दूसरों द्वारा प्रारम्भ करने पर प्रतिबन्ध लगा दे।

(३) यातायात व्यय—एकाधिकारी विभिन्न बाजारों का ऐसा भौगोलिक विभाजन कर सकता है कि किसी वस्तु को एक बाजार से दूसरे बाजार तक ले जाने की लागत काफी अधिक हो।

(४) पृथक वस्तुओं के लिये समान सेवा—जब उपभोक्ता बिल्कुल पृथक वस्तुओं के साथ समान सेवा चाहते हैं तब मूल्य विवेचन बहुत सरल हो जाता है। उदाहरण के लिए रेलवे कम्पनी विभिन्न वस्तुओं में विवेचन करके उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान तक विभिन्न दरों पर ले जा सकती है। समान दूरी रहने पर भी विभिन्न वस्तुओं के लिए विभिन्न दरें हो सकती हैं। यह वस्तुओं की प्रकृति पर निर्भर है।

(५) श्रीमती जोन रॉबिन्सन के अनुसार एक प्रकार का थोड़ा-बहुत विवेचन उस स्थिति में भी सम्भव है जब कि वस्तुएँ उपभोक्ताओं के विशेष आदेशों पर बेची जाती है। इस दशा में उपभोक्ता यह नहीं जान सकता है कि अन्य उपभोक्ताओं से क्या मूल्य लिया गया है।

विवेचन के प्रकार—बहुत से लेखकों ने मूल्य-विवेचन के वर्गीकरण का प्रयास किया है। परन्तु प्रो० ए० सी० पीगू का वर्गीकरण ही सर्वोपयुक्त समझा जाता है। वे मूल्य विवेचन को तीन श्रेणियों में विभाजित करते हैं। यह श्रेणियाँ इस प्रकार हैं।

(१) प्रथम श्रेणी का मूल्य-विवेचन, (२) द्वितीय श्रेणी का मूल्य-विवेचन और (३) तृतीय श्रेणी का मूल्य-विवेचन। इनकी व्याख्या नीचे दी हुई है।

प्रथम श्रेणी का मूल्य-विवेचन—यह विवेचन सब से अधिक प्रभावपूर्ण है। इसमें वस्तु की प्रत्येक इकाई के लिये विभिन्न मूल्य लिया जाता है। उदाहरण के लिये यह डाक्टरों तथा वकीलों के लिये सम्भव है। वे प्रत्येक ग्राहक से विभिन्न मूल्य ले सकते हैं।

द्वितीय श्रेणी का मूल्य-विवेचन—इसमें बाजारों को विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता है। एक वर्ग के प्रत्येक सदस्य से वह न्यूनतम मूल्य लिया जाता है जो उस वर्ग का कोई भी सदस्य देने को तैयार हो। रेल के डिब्बों का प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणियों में विभाजन इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

तृतीय श्रेणी का मूल्य-विवेचन—यह सर्वाधिक प्रचलित विवेचन है। इसमें बाजारों का विभाजन अविवेचनात्मक होता जाता है और प्रत्येक बाजार में माँग की लोच के आधार पर मूल्य लिया जाता है।

परन्तु जैसा कि श्रीमती जोन रॉबिन्सन ने भी संकेत किया है, प्रो० पिगू के इस वर्गीकरण में एक बड़ी त्रुटि है। उन्होंने केवल वस्तु को विभिन्न बाजारों में विभक्त करने पर ध्यान दिया है और क्रेताओं के विभाजन पर कोई ध्यान नहीं दिया। वे स्पष्ट नहीं करते कि यह विभाजन कैसे होगा। परन्तु इसके अतिरिक्त अच्छे वर्गीकरण के अभाव में हम प्रो० पिगू के वर्गीकरण को ही स्वीकार करते हैं।

मूल्य विवेचन का वर्गीकरण इस प्रकार भी हो सकता है—(१) वैयक्तिक, (२) भौगोलिक तथा (३) व्यापारिक। जब विभिन्न व्यक्तियों से विभिन्न मूल्य लिये जाते हैं (जैसे, डाक्टरों और वकीलों द्वारा) तो उसे वैयक्तिक विवेचन कहा जायगा। यदि विभिन्न देशों में विभिन्न मूल्य लिये जायं तो वह भौगोलिक मूल्य विवेचन होगा। इसी प्रकार जब विभिन्न व्यापारों में विवेचन किया जाता है, जैसे कि रेलवे कम्पनियाँ विभिन्न भाड़े लेकर करती है, तो वह व्यापारिक मूल्य विवेचन होता है।

मूल्य-विवेचन सिद्धान्त

एकाधिकारी मूल्य विवेचन इसलिए करता है कि वह जानता है कि विभिन्न बाजारों में विभिन्न मूल्यों पर वस्तु की विभिन्न मात्राएँ बेचने पर वह अपना एकाधिकार लाभ बढ़ा सकेगा। जब तक कि वह अपना लाभ नहीं बढ़ा सकता, उसके लिये मूल्य विवेचन निरर्थक ही है।
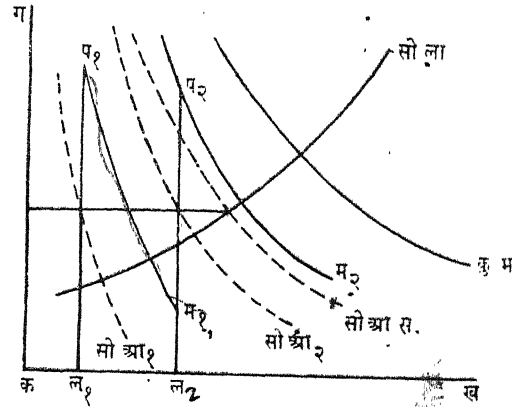
अपने लाभ को अधिकतम करने के लिये वह अपने क्षेत्र को वस्तु की माँग की लोच के अनुसार विभिन्न बाज़ारों में विभाजित कर देगा। उन बाजारों में जहाँ माँग की लोच और सीमान्त आय कम है, वह वस्तु की कम तथा उन बाजारों में जहाँ माँग की लोच और सीमान्त आय अधिक है, अधिक मात्रा बेचेगा। वह अपने विक्रय को इस प्रकार नियोजित करेगा कि एक और इकाई बेचने से प्रत्येक बाज़ार में उसे समान सीमान्त-आय प्राप्त हो। "और जब सीमान्त आय कुल उत्पत्ति की सीमान्त लागत के बराबर होगी तब उसका लाभ अधिकतम होगा"*। गणित की भाषा में यह वह स्थिति है जहाँ

* देखिये श्रीमती जोन रॉबिन्सन 'इकनौमिक्स आव इम्परफेक्ट कम्पटीशन' पृ० १८१

सीमान्त लागत वक्र सीमान्त-आय-संयोग वक्र को काटता है। इसे पृष्ठ (२६४) के चित्र द्वारा निरूपित किया गया है।*

चित्र में

म१ एक बाज़ार का माँग वक्र है

सी०आ०१ उसी बाजार का सीमान्त आय वक्र है

म२ दूसरे बाजार का माँग वक्र है

सी०आ०२ उस दूसरे बाजार का सीमान्त आय वक्र है

सी०आ०स० दोनों बाजारों की सीमान्त आय संयोग वक्र है

कु०म ,, ,, कुल माँग वक्र है

सी०ला० सीमान्त लागत वक्र है

प२ल२ दूसरे बाजार का मूल्य है

प१ल१ पहले ,, ,, ,,

कल१ मात्रा पहले बाजार में बेची जायगी

ल१ल२ ,, दूसरे ,, ,,

---

* वही, पृ० १८१

अध्याय ३७

अपूर्ण स्पर्धा में अर्घ

हम पिछले अध्यायों में कह आये हैं कि वास्तविक जीवन में न तो पूर्ण स्पर्धा ही पाई जाती है और न पूर्ण एकाधिकार ही। दैनिक जीवन में हम जो दशाएँ देखते हैं वे अपूर्ण स्पर्धा की हैं। अपूर्ण स्पर्धा, पूर्ण स्पर्धा और पूर्ण एकाधिकार के बीच की स्थिति है। अर्थात् प्रत्येक उत्पादक के कुछ ऐसे ग्राहक होते हैं जो सदैव उसी के पास जाते हैं, परन्तु अन्य बहुत से ग्राहक ऐसे हैं जो सबसे ज्यादा सस्ते बाजार में वस्तु खरीदते हैं और किसी भी दुकान से बंधे नहीं हैं। एक ही बाज़ार में विभिन्न उत्पादक एक ही वस्तु को विभिन्न मूल्य पर बेचते हैं। इसका अर्थ हुआ कि बाज़ार में कोई एक मूल्य प्रचलित नहीं हो पाता। किसी समय पर जब कि विभिन्न उत्पादक एक वस्तु को समान मूल्य पर बेचते हैं, दूसरे समय पर कोई एक उत्पादक विभिन्न ग्राहकों से एक वस्तु का विभिन्न मूल्य लेता है। जब कि कुछ उत्पादकों को लाभ अथवा हानि होती है, कुछ ऐसे भी हैं जो उत्पादन लागत पर ही बेचते हैं और उन्हें कोई लाभ नही होता। संक्षेप में, अपूर्ण स्पर्धा में एकाधिकार और पूर्ण स्पर्धा की मिली जुली अवस्था पाई जाती है।

मूल्य निर्धारण—अपूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत उत्पादक अपनी वस्तुओं को उत्पादन लागत पर नहीं बेचते। वे एकाधिकार की भाँति कुछ अतिरेक पाने का प्रयास करते हैं। श्रीमती जोन रॉबिन्सन इस अतिरेक को 'वास्तविक एकाधिकार आय' कहती हैं। अपूर्ण स्पर्धा में यह अतिरिक्त-लाभ इसलिये होता है क्योंकि इस दशा में वस्तु के उत्पादक थोड़े ही होते हैं और प्रत्येक का वस्तु की पूर्ति के पर्याप्त भाग पर नियन्त्रण रहता है जिससे बाज़ार का मूल्य प्रभावित होता है। पूर्ण स्पर्धा में प्रत्येक उत्पादक कुल पूर्ति के बहुत ही नगण्य भाग का उत्पादन करता है। अतएव बाज़ार मूल्य पर उसका कोई प्रभाव नही पड़ता। एकाधिकार में उत्पादक अकेला ही है। अतएव वह वस्तु के बाज़ार मूल्य को पूर्णतः प्रभावित कर सकता है। अपूर्ण स्पर्धा बीच की स्थिति है जिसमें उत्पादकों की संख्या थोड़ी ही रहती है और चूंकि प्रत्येक उत्पादक कुल उत्पत्ति के पर्याप्त भाग का उत्पादन करता है अतः उसका वस्तु के बाजार मूल्य पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य रहता है। दूसरा कारण यह भी है कि उपभोक्ता अनभिज्ञ होते हैं और उन्हें इस बात का पूर्ण ज्ञान नहीं होता कि अन्य उत्पादक उसी वस्तु को किस मूल्य पर बेच रहे हैं। अतः बाज़ार अपूर्ण ही रहता है। इस पूर्ण ज्ञान के अभाव के कारण वे एक ही उत्पादक के ग्राहक बने रहते हैं और उसे मुँह-माँगा मूल्य देते रहते हैं। इस प्रकार उत्पादक को अतिरिक्त लाभ मिल जाता है।

अपूर्ण स्पर्धा के अन्तर्गत उत्पादक अपने अतिरिक्त लाभ को जिसे वास्तविक एकाधिकारी आय कहते हैं अधिकतम बनाने का प्रयास करेगा। इस ध्येय को ध्यान में रखकर वह अपनी वस्तु का उत्पादन और विक्रय तब तक करता रहेगा जब तक कि वस्तु की एक और अधिक इकाई के उत्पादन से कुल लागत में हुई वृद्धि वस्तु की एक और अधिक इकाई

बेचने से कुल आय में हुई वृद्धि से कम हो। पूर्ण स्पर्धा में उत्पादक बाजार में प्रचलित मूल्य पर अपनी वस्तु की कितनी भी मात्रा बेच सकता है। परन्तु अपूर्ण स्पर्धा में यदि उत्पादक अपनी वस्तु की अधिक मात्रा बेचना चाहे तो वस्तु के मूल्य में कमी करनी होगी। और जब वह अपनी वस्तु के मूल्य में कमी करता है तो उसे कम मूल्य केवल अन्तिम अथवा सीमान्त इकाई के लिए ही नहीं वरन् सभी इकाइयों के लिए (जिन्हें वह बेच रहा है) लेना होगा। इस प्रकार प्रत्येक बार जब उत्पादक अपनी वस्तु की एक और अधिक इकाई बेचे तो उसे मूल्य में कमी होने से अन्य सभी इकाइयों पर हुई हानि और अंतिम इकाई बेचने से हुई अतिरिक्त आय का पता लगाना पड़ेगा। यदि वास्तविक फल से उसे ज्ञात होता है कि एक ओर अधिक इकाई के उत्पादन तथा विक्रय से उसे हानि नहीं होती, तभी वह उसका उत्पादन और विक्रय करेगा, अन्यथा नहीं।

वास्तविक एकाधिकार आय किस विशेष (exact) स्थान पर अधिकतम होगी, इस प्रश्न के उत्तर में नवीन अर्थशास्त्रियों ने दो नए शब्द गढ़े हैं। वस्तु की एक और अधिक इकाई बेचने से जो कुल आय में वृद्धि होती है, उसे वे सीमान्त आय कहते हैं। वस्तु की एक और अधिक इकाई के उत्पादन से जो कुल लागत में जो वृद्धि होती है उसे वे सीमान्त लागत कहते हैं। उत्पादक का प्रयास सीमान्त आय और सीमान्त लागत को बराबर करना होगा क्योंकि तभी उसकी वास्तविक एकाधिकार आय अधिकतम होगी। अतएव यही संस्थिति की दशा है। इसका रेखाचित्र द्वारा भी निरूपण किया जा सकता है जैसा कि चित्र में किया गया है।
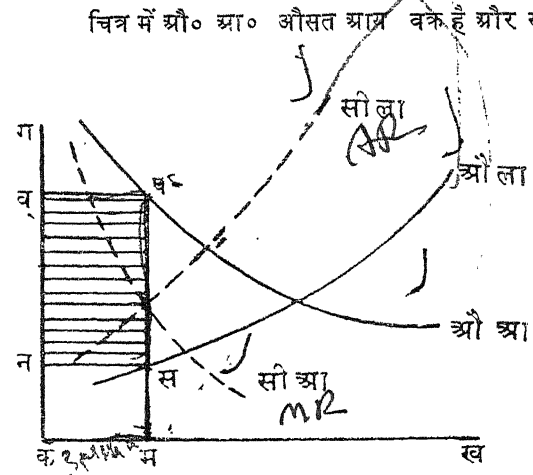
चित्र में औ० आ० औसत आय वक्र है और सी० आ० सीमान्त आय वक्र। इस प्रकार सी० ला० सीमान्त लागत वक्र है और औ० ला० औसत लागत वक्र। **प म** उत्पादक द्वारा लिया हुआ मूल्य तथा **क म** उसके द्वारा उत्पादित मात्रा है। क्षेत्र **व प स न** उसकी वास्तविक एकाधिकार आय का निरूपण करता है। यह क्षेत्र लाभ प्रति इकाई और कुल बेची हुई इकाइयों की संख्या का गुणनफल है। **प म** प्रति इकाई का मूल्य और **स म** उसकी लागत है। अतएव **प स** प्रति इकाई पर एकाधिकार लाभ हैं।

क म बेची हुई इकाइयों की कुल संख्या है इस प्रकार वास्तविक एकाधिकार लाभ **स न** × **प स** = **स न व प** है।

मत का स्पष्टीकरण—परन्तु इसका क्या प्रमाण है कि जब सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर हो तब वास्तविक एकाधिकार आय अधिकतम होगी ? प्रमाण बहुत सरल है तथा वह ऊपर दिए गए चित्र की भाँति सीमान्त आय और सीमान्त लागत के वक्रों को खींचने से स्पष्ट हो जाता है।

यह वक्र एक दूसरे को **स** विन्दु पर काटते हैं। विन्दु **स** तक सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आय वक्र से नीचे रहती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक उत्पादक विन्दु **स** तक न पहुँच जाय, उत्पादन करते रहना उसके हित में ही है। परन्तु विन्दु **स** तक पहुँचने के बाद स्थिति बदल जाती है। तत्पश्चात् सीमान्त लागत सीमान्त आय से अधिक हो जाती है। यह इस बात की द्योतक है कि सीमान्त इकाई की लागत उसकी आय से अधिक है और उसके उत्पादन में उसे हानि होगी। यह प्रदर्शित करता है कि उत्पादक जब तक विन्दु **स** पर नहीं पहुँच जाता, उसे उत्पादन करने में लाभ होता है। तत्पश्चात् उसे हानि होने लगती है। स्वभावतः वह विन्दु **स** पर (जो सीमान्त आय और सीमान्त लागत वक्रों का मिलन विन्दु है) उत्पादन रोक देगा क्योंकि इसी विन्दु पर उसका कुल लाभ अधिकतम होगा।

———
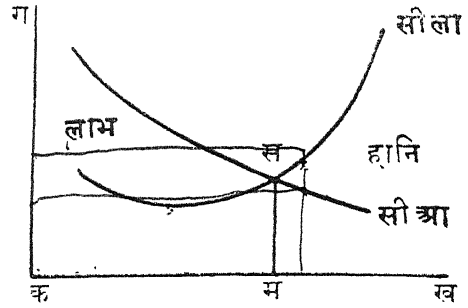
अध्याय ३८

परस्पर-सम्बन्धित अर्घ

अपने विश्लेषण को सुबोध बनाने के लिए अब तक हम यह मानते आए हैं कि एक उत्पादक केवल एक ही वस्तु अथवा सेवा का उत्पादन करता है। परन्तु वास्तव में अधिकांश व्यापारी एक से अधिक, और कभी कभी कई वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। कदाचित ही इन वस्तुओं का उत्पादन अलग-अलग होता हो अन्यथा दो अथवा अधिक वस्तुओं का उत्पादन एक साथ ही होता है। इन सम्मिलित वस्तुओं का अर्घ असम्मिलित वस्तुओं के अर्घ की भाँति ही निर्धारित होता है परन्तु उन के सम्बन्ध में कुछ नयी समस्याएँ उठती हैं अतएव हम उनके अर्घ-निर्धारण पर अलग से विचार करेंगे।

सम्मिलित उत्पत्ति या पूर्ति का अर्घ

सम्मिलित वस्तुओं का अर्थ—मार्शल के अनुसार सम्मिलित वस्तुएँ वे वस्तुएँ हैं जिनका अलग-अलग उत्पादन सरलतापूर्वक नहीं हो सकता परन्तु जिनका उद्गम एक ही है, जैसे मांस और खाल, गेहूँ और भूसी।* सम्मिलित वस्तुओं में संनिहित विशेषता यह है कि उनका उत्पादन साथ ही साथ तथा निश्चित अनुपात में होता है ताकि एक वस्तु की निश्चित मात्रा का उत्पादन अवश्य ही दूसरी उत्पत्ति की किसी निश्चित मात्रा के उत्पादन का कारण हो सके।

कुछ अर्थशास्त्री सम्मिलित वस्तुओं को दो वर्गों में विभाजित करते हैं। (१) वे वस्तुएँ जिनके सापेक्ष समानुपात परिवर्तित किए जा सकते हैं, और (२) वे वस्तुएँ जिनके सापेक्ष समानुपात नहीं बदले जा सकते। परन्तु यह वर्गीकरण सही नहीं है क्योंकि जैसे ही सम्मिलित वस्तुओं के सापेक्ष समानुपात बदले जा सकते हैं वे वस्तुएँ वस्तुतः सम्मिलित वस्तुएँ न रहकर पृथक वस्तुएँ हो जाती हैं। यह हमारी सम्मिलित की परिभाषा का स्वाभाविक निष्कर्ष है परंतु हमें यह स्वीकार करना पड़गा कि वैज्ञानिक उन्नति के कारण अधिकतर सम्मिलित वस्तुओं के सापेक्ष समानुपात बदले जा सकते हैं और शुद्ध सम्मिलित वस्तु का उदाहरण पा सकना असम्भव है। उदाहरण के लिए पशुओं के मांस का सापेक्ष अनुपात अच्छी नस्ल के पशु उत्पन्न करने से बदला जा सकता है। अमरीका में अब यह सम्भव हो गया है। इसी प्रकार पौधों को ठीक ढंग से नस्ल करके गेहूँ और भूसे का अनुपात बदला जा सकता है। कपास के बीज का महत्व बढ़ने के साथ ही बड़े और अधिक बीज वाले कपास के पौधे शीघ्र ही उन्नति करेंगे। "द्वितीय विश्व युद्ध काल में कपास के तेल का बीज इतना महत्वपूर्ण हो गया कि इस सम्भावना पर भी कुछ विचार किया गया"। † अतएव यह विचार कि कपास के पौधे में कपास के बीज का अनुपात नहीं बदला जा सकता, गलत है।

सम्मिलित वस्तुओं का मूल्य—सम्मिलित वस्तुओं का अर्थ स्पष्ट करने के पश्चात् हमारे लिए उनके मूल्य निर्धारण पर विचार करना सम्भव है।

---

*अलफ्रेड मार्शल, "प्रिंसपिल्स् आव इकनामिक्स्" पृ० ३८८।

†जॉन आइस, 'इक्नामिक्स' पृ० २४३।

सम्मिलित वस्तुएँ और बाजार-मूल्य—सम्मिलित-वस्तुओं का बाजार अथवा अल्पकालीन मूल्य निर्धारण करना सरल है। अल्प-कालीन मूल्य बाजार में सम्मिलित उत्पत्ति की पूर्ति और माँग की सामान्य दशाओं द्वारा निर्धारित होता है। अल्प काल में वस्तुओं का उत्पादन तो हो ही चुकता है और उत्पादन-लागत का महत्त्व (माँग की अपेक्षा) गौण (secondary role) हो जाता है। उत्पादक वस्तु की विभिन्न इकाइयों को विभिन्न मूल्य पर बेचेंगे और क्रमशः उन वस्तुओं की माँग उनका मूल्य निर्धारण करेगी। उत्पादक वस्तु के निर्माण की लागत (Cost of manufacture) के बराबर हानि सह सकता है परन्तु उसे यातायात लागत और विक्रय-सम्बन्धी अन्य व्यय तो मिल ही जाना चाहिए।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि अल्पकाल में बहुत कठिनाई नहीं होती। परन्तु जब हम दीर्घकाल और उत्पादन की लागत पर विचार करते है तो वास्तविक कठिनाई उपस्थित होती है।

सम्मिलित उत्पत्ति और दीर्घकालीन अर्घ सिद्धान्त—यहाँ कोई निश्चित मूल्य-सिद्धान्त देना कठिन है। परन्तु फिर भी मूल्य निर्धारण के कुछ आधारभूत स्थूल सिद्धान्त नीचे दिये जाते हैं।

(१) हम को यह ध्यान रखना चाहिए कि दोनों उत्पत्तियों का कुल मूल्य मूल-उत्पत्ति की औसत लागत के बराबर होना चाहिए। दोनों के मूल्यों का योग मूल-उत्पत्ति की औसत उत्पादन लागत से न तो कम हो सकता है और न अधिक। यह बात इसी सामान्य नियम पर आधारित है कि पूर्ण स्पर्धा में मूल्य उत्पादन लागत से न तो कम होता है और न अधिक। उदाहरण के लिए यदि हम मान लें कि कपास से केवल रुई और बिनौला ही उत्पन्न हो तो रुई और बिनौले का कुल मूल्य कपास की उत्पादन लागत के बराबर होना चाहिए।

(२) दूसरे, सम्मिलित वस्तुओं में से किसी एक का सामान्य अर्घ (normal value) मूल-उत्पत्ति की लागत से अधिक नहीं हो सकता। उपयुक्त उदाहरण में केवल रुई या केवल बिनौला का सामान्य अर्घ कपास की उत्पादन लागत से अधिक नहीं हो सकता। कारण यह है कि यह मान लेने पर भी कि बिनौलों का कोई मूल्य नहीं मिलता और वे फेंक दिये जाते हैं, रुई का मूल्य कपास की उत्पादन-लागत से अधिक नहीं हो सकता क्योंकि यदि ऐसा हो तो इस व्यापार के लाभ को देख कर अन्य उत्पादक आकर्षित होंगे और उत्पादन बढ़ जायगा। परिणामतः मूल्य कम होकर कपास की उत्पादन लागत के बराबर हो जायगा।

(३) तीसरे, किसी सम्मिलित उत्पत्ति का मूल्य चाहे उसका उत्पादन स्पर्धा में हुआ हो अथवा नहीं, उसके निर्माण की प्रत्यक्ष लागत से कम न होना चाहिए। यदि ऐसा है तो वह पदार्थ जिससे वह वस्तु बनाई जाती है, फेंक दिया जायगा। उदाहरण के लिए यदि बिनौले का तेल, तेल निकालने की प्रत्यक्ष लागत से कम में बिकता है, तो तेल नहीं निकाला जायगा और बाजार में केवल बिनौले ही बच जायंगे।

इस प्रकार हमने सम्मिलित वस्तुओं के मूल्य की उच्चतम और निम्नतम सीमाएँ निर्धारित कर लीं। उच्चतम सीमा मूल उत्पत्ति के उत्पादन की औसत लागत और निम्नतम सीमा वस्तु के निर्माण की प्रत्यक्ष लागत द्वारा निर्धारित होती है। व्यवहार में, मूल्य इन दो सीमाओं के बीच में ही होगा।

माँग पक्ष के बारे में हम एक दूसरा सिद्धान्त बना सकते हैं जो हमें सम्मिलित वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में बहुत सहायक होगा। प्रत्येक वस्तु का मूल्य उपभोक्ताओं के लिए उसकी सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित होता है।

सम्मिलित माँग

सम्मिलित माँग का अर्थ—जब किसी इच्छा की सन्तुष्टि के लिए एक ही साथ दो वस्तुओं की माँग की जाती है तो उन वस्तुओं की माँग को सम्मिलित माँग कहते हैं। उदाहरण के लिए मोटर पर घूमने की इच्छा की तृप्ति के लिए एक साथ ही मोटर और पेट्रोल की माँग की जाती है। इसी प्रकार ऐनक की इच्छा को सन्तुष्ट करने के लिए फ्रेम और शीशों की एक साथ माँग की जाती है। इसी प्रकार उत्पादन करते समय बहुत सी वस्तुओं की एक साथ माँग की जाती है। ऐसी वस्तुओं को, जिनकी माँग सम्मिलित होती है, पूरक वस्तुएँ भी कहते हैं।

अर्घ और सम्मिलित माँग—उन वस्तुओं के, जिनकी माँग मिश्रित होती है, मूल्य निर्धारण में कुछ कठिनाइयाँ पड़ती हैं। कारण यह है कि हम इन वस्तुओं की अलग अलग माँग की सारणियाँ नहीं बना सकते। उदाहरण के लिये किसी व्यक्ति को ऐनक से मिली उपयोगिता जान लेना सरल है परन्तु यह जान लेना सरल नहीं है कि उसे फ्रेम और शीशों से अलग-अलग कितनी उपयोगिता मिलती है। यहाँ हमारे सामने मुख्य समस्या यह है कि उनकी अलग-अलग उपयोगिताओं को किस प्रकार जाना जाय।

सीमान्त-पद्धति द्वारा हम प्रत्येक वस्तु की अलग-अलग उपयोगिता निकाल सकते हैं। यदि दो वस्तुओं के किसी निश्चित संयोजन को बदला जाय अर्थात् स्थिर रखकर उसके साथ की दूसरी वस्तु की मात्रा को थोड़ा घटाया बढ़ाया जाय तो इस प्रकार उपभोक्ता को उस वस्तु से मिलने वाली उपयोगिता का पता लगाना सम्भव है। मान लीजिए किसी रुई की मिल में हम एक मशीन को स्थिर मान कर १०० मजदूरों द्वारा हुई उत्पत्ति का पता लगाते हैं। फिर मान लीजिए कि १० और मजदूरों की नियुक्ति से मशीन और श्रम का अनुपात बदल दिया जाता है। अब यदि उत्पत्ति में कुछ वृद्धि हो तो उसका कारण यही १० मजदूर होंगे। इस प्रकार हम मजदूरों की उपयोगिता जान सकते हैं और इसी ढंग से मशीन की उपयोगिता भी जानी जा सकती है। अतएव वस्तुओं के संयोजन के अनुपातों को बदल कर प्रत्येक वस्तु की अलग-अलग सीमान्त उपयोगिता निकाली जा सकती है।

मूल्य का निर्धारण—अब मूल्य का निर्धारण कठिन न होना चाहिए। हम प्रत्येक वस्तु की उत्पादन लागत को अलग-अलग जानते ही हैं। हमें उनकी उपयोगिताओं या माँग-वक्रों को भी अलग-अलग जानते हैं। मूल्य माँग और पूर्ति वक्रों के पारस्परिक व्यवहार द्वारा निर्धारित होता है।

संग्रथित पूर्ति (Composite Supply) की दशा में अर्घ

संग्रथित पूर्ति का अर्थ—जब किसी वस्तु की माँग अनेक साधनों से सन्तुष्ट की जा सकती है तो हम कह सकते हैं कि उस वस्तु की पूर्ति संग्रथित पूर्ति है। उदाहरण के लि गाय का माँस और भेड़ का माँस, चाय और कहवा एक दूसरे के लिए प्रतिस्थापित किये जा

सकते हैं। इन वस्तुओं में एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है जिससे यदि एक वस्तु की पूर्ति बढ़ जाय और उसका मूल्य कम हो जाय तो दूसरी वस्तु की माँग कम हो जाती है। अतः इन वस्तुओं को प्रतियोगी वस्तुएँ भी कहते हैं।

अर्घ और संग्रथित पूर्ति—चूँकि संग्रथित पूर्ति वाली वस्तुएँ एक दूसरे परस्पर के लिए प्रतिस्थापित हो सकती है, इसलिए प्रत्येक का मूल्य वहाँ निर्धारित होता है जहाँ कि प्रत्येक की सीमान्त उपयोगिता उसके मूल्य के बराबर हो। दोनों का एक ही मूल्य होना आवश्यक नहीं है। यह तभी हो सकता है जब कि वे एक दूसरे के लिए पूर्णतः प्रतिस्थापित हो सकें। परन्तु वस्तुओं का पूर्णतः प्रतिस्थापित हो सकना बहुत ही कम दशाओं में सम्भव है। एक वस्तु किसी अन्य वस्तु के लिए एक सीमा तक ही प्रतिस्थापित की जा सकती है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उनके मूल्य साथ ही साथ घटते और बढ़ते हैं। इस प्रकार यद्यपि उनकी सीमान्त उपयोगिताएँ शायद ही कभी बराबर होती हों वे एक ही दिशा में घटती-बढ़ती हैं।

संग्रथित माँग (Composite Demand)

संग्रथित माँग का अर्थ—जब किसी वस्तु के अनेक प्रयोग हो सकते हैं तो हम कह सकते हैं कि वस्तु की माँग संग्रथित है। उदाहरण के लिए लोहे का उपयोग कारखाने में, मशीनों में, तथा पुल, जूते की कीलें और नाल, रेल की पटरी इत्यादि बनाने में किया जा सकता है। किसी मज़दूर की माँग कई कारखानों में विभिन्न कामों के लिए हो सकती। ऐसी वस्तुओं को जिनकी माँग संग्रथित माँग होती है कभी-कभी प्रतियोगी लागत की वस्तुएँ (competing cost goods) कहते हैं।

अर्घ और संग्रथित माँग—हम प्रतिस्थापन या सम-सीमान्त उपयोगिता नियम से भली भाँति परिचित हैं। यह नियम हमें बताता है कि एक वस्तु के विभिन्न प्रयोग इस प्रकार किए जाते हैं कि विभिन्न प्रयोगों पर किये गए व्यय की अन्तिम इकाई से लगभग समान उपयोगिता प्राप्त हो। यदि उपभोक्ताओं को किसी वस्तु के विशेष उपयोग से अधिक उपयोगिता मिलती है तो वस्तु की अधिक मात्रा उस उपयोग में व्यवहृत होगी। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि संस्थिति वह अवस्था है जिसमें वस्तु का मूल्य उसके प्रत्येक उपयोग से मिली सीमाँन्त उपयोगिता के बराबर हो।

अध्याय ३९

विषय-प्रवेश

उत्पादन के सभी साधनों के सहयोग बिना कुछ भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता। अतएव प्रत्येक साधन को कुल उत्पत्ति में से अपने भाग पर दावा करने का अधिकार है। वितरण के सिद्धान्त इन भागों के निर्धारण से ही सम्बन्धित हैं। यह उस रीति या सिद्धान्त का अध्ययन है जिसके अनुसार उत्पादन के प्रत्येक साधन को, उत्पादन क्रिया में भाग लेने के बदले, मिलने वाला प्रतिफल निर्धारित किया जाता है।

क्लासिकल सिद्धान्त—क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने इन भागों के निर्धारण की अपने ढंग से व्याख्या की है। आजकल उनका ढंग अवैज्ञानिक समझा जाता है। उनकी व्याख्या के दोषों पर हम आगे विचार करेंगे। पहले तो हम उनकी व्याख्या को ही देखेंगे। उनके अनुसार जब उत्पादन के विभिन्न साधन मिल कर किसी वस्तु को उत्पादित करते हैं, तो उत्पत्ति पर सब से पहला दावा 'भूमि' का होता है। मान लीजिए उस वस्तु के उत्पादन में तीन खेत जिनकी उपज क्रमशः ५०, ३० और २० इकाइयाँ हैं, प्रयोग में लाये जाते हैं। इस प्रकार कुल उपज १०० है। यहाँ पहले खेत के लिए, जो सबसे अधिक उपजाऊ है, भूमि पति ३० इकाइयाँ और दूसरे खेत के लिए १० इकाइयाँ चाहेगा। अतः कुल उत्पत्ति में से ४० इकाइयाँ उसके भाग में आती हैं और इन पर उसका दावा है। भूमिपति के इस भाग को भाटक कहते हैं। अन्तिम खेत जो सीमान्त खेत है उसकी उपज का कोई दावा नहीं किया जा सकता। अतः सीमान्त भूमि पर भाटक नहीं होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि भूमिपति का भाग अर्थात् भाटक एक प्रकार का अतिरेक है जो विभिन्न खेतों की उर्वरताओं के अन्तर से प्राप्त होता है। यदि प्रत्येक खेत में बराबर ही इकाइयाँ उत्पन्न होतीं तो कुछ भी अतिरेक न होता और इसलिए भाटक भी नहीं होगा। यहाँ भूमिपति का भाग शून्य होगा।

भूमि का भाग निर्धारित हो जाने के पश्चात् उत्पादन के अन्य साधनों के भाग का प्रश्न उठता है। हमारे उदाहरण में ४० इकाइयाँ तो भूमि की हो गई। शेष ६० इकाइयों को शेष साधनों में बाँटना है। इन शेष साधनों में से सबसे पहले हमें श्रम के भाग पर विचार करना है। कुछ क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की राय में मज़दूरों का भाग जीवन-निर्वाह मज़दूरी के सिद्धान्त द्वारा निर्धारित होता है। मज़दूरों को कुल उत्पत्ति का वही भाग मिलना चाहिए जो उन्हें जीवित रख सके। यदि उन्हें इससे अधिक दिया जायगा तो वे उच्छृंखल हो जायँगे और सन्तान उत्पत्ति अधिक होगी। फलस्वरूप मज़दूरों की संख्या बढ़ेगी और उनकी मज़दूरी घट कर जीवन-निर्वाह स्तर पर ही आ जायगी। यदि उन्हें जीवन-निर्वाह-मज़दूरी से कम मज़दूरी दी जाती है तो वे जीवित न रह सकेंगे। उनकी संख्या कम होगी और मज़दूरी बढ़कर जीवन-निर्वाह-स्तर पर आ जायगी। इस भूल और सुधार विधि से उत्पादक जीवन-निर्वाह की मज़दूरी का पता लगा सकेगा। प्रारम्भ में, चूँकि उत्पादक को जीवन-निर्वाह की मज़दूरी नहीं मालूम रहती है, इसलिए वह स्वेच्छा से ही शेष उत्पत्ति का कुछ भाग मज़दूरों के लिए अलग रख लेता है। इसे मज़दूरी-निधि कहते हैं। यदि किसी उत्पादक की मज़दूरी-निधि में ३५ इकाइयाँ हैं और उसके मज़दूरों की संख्या ५ है तो प्रत्येक को ७ इकाइयाँ मज़दूरी

मिलेगी। सम्भव है कि आरम्भ में यह मज़दूरी जीवन-निर्वाह की मज़दूरी से कम या अधिक हो परन्तु अन्ततः यह मज़दूरी-निधि ऐसी होनी चाहिए कि यदि उसमें मज़दूरों की संख्या से भाग दिया जाय तो प्रत्येक मज़दूर के हिस्से में आयी हुई मज़दूरी जीवन-निर्वाह की मज़दूरी के बराबर ही हो।

अब कुल उत्पत्ति में से जो १०० इकाइयाँ हैं, सबसे पहले भूमि को अपना भाग ४० इकाइयाँ मिल जाता है। उसके पश्चात् श्रम को ३५ इकाइयाँ मिलती हैं। शेष २५ इकाइयाँ उत्पादक के पास लाभ के रूप में रह जाती हैं। इस प्रकार भाटक और मज़दूरी निर्धारित हो जाने के पश्चात् लाभ (जिसमें क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार व्याज भी सम्मिलत है) स्वतः ही निश्चित हो जाता है और उसके निर्धारण के लिए किसी अलग व्याख्या की आवश्यकता नहीं होती। लाभ कुल उत्पत्ति, भाटक और मज़दूरी के योग का अन्तर होता है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने व्याज को अलग भाग मान कर उस पर विचार नहीं किया। इसका कारण किसी अंश तक यह भी है कि उनके समय में पूँजी कम मात्रा में ही प्रयोग की जाती थी। उनके समय में बड़े पैमाने के उद्योग धन्धे जिनमें कि पूँजी की बहुत बड़ी मात्रा में आवश्यकता पड़ती है, नहीं थे। अतः वह पूँजी को उत्पादन के स्वतंत्र साधन के रूप में नहीं देख सके।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है यदि हम क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की उत्पादन के साधनों के भाग निर्धारण की व्याख्या को वितरण के नवीन सिद्धान्तों की दृष्टि से देखें तो वह अवैज्ञानिक सी लगेगी। इस व्याख्या से मालूम होता है जब कि भाटक सीमान्त भूमि से निर्धारित होता है, मज़दूरी का निर्धारण श्रम की सीमान्त इकाई द्वारा नहीं होता। वह कदाचित् न्यूनतम जीवन-निर्वाह के सिद्धान्त से निर्धारित होती है। इस प्रकार भाटक-निर्धारण सिद्धान्त और मज़दूरी-निर्धारण के सिद्धान्त में कुछ भी समानता नहीं है। पहले का निर्धारण एक आधार पर होता है, दूसरे का दूसरे पर। यदि पाँच लेखक मिलकर पाँच अध्याय की एक पुस्तक लिखें जिसमें प्रत्येक ने एक अध्याय लिखा हो, तो पहले लेखक को भाषा, दूसरे को तर्क तथा अन्य शेष लेखकों को विषय-सामग्री के आधार पर प्रतिफल देना भूल होगी। सभी को एक ही माप-दंड के अनुसार प्रतिफल देना चाहिये। जो इन लेखकों के बारे में सच है, वही उत्पादन के साधनों पर भी लागू होता है। कुल उत्पत्ति में से प्रत्येक साधन का भाग निर्धारण करने के लिए एक ही नियम अथवा सिद्धान्त होना चाहिए।

क्लासिकल व्याख्या का दूसरा दोष यह है कि वह भाग-निर्धारण की समस्या को ग़लत ढंग से समझती है। भाटक एक अतिरेक है और इसलिए उत्पत्ति पर उसका दावा अन्तिम ही हो सकता है। अतिरेक कुल उत्पत्ति में अन्य भागों को घटाए बिना नहीं जाना जा सकता। उत्पादक के सामने पहली समस्या श्रम पूँजी इत्यादि के भागों के निर्धारण की ही होनी चाहिए।

क्लासिकल सिद्धान्त का तीसरा दोष श्रम के भाग की उनकी व्याख्या में है। उनके अनुसार उत्पादक प्रारम्भ में स्वेच्छा से ही मज़दूरी-निधि बना लेता है और यह बाद में निश्चित होता है कि प्रति मज़दूर कितनी मज़दूरी मिलेगी। यह ढंग बिल्कुल ही उल्टा है। सही ढंग से हम पहले प्रति मज़दूर मज़दूरी निकालते हैं और फिर उत्पादन में लगे हुए सभी मज़दूरों का कुल भाग निकालने के लिए कुल मज़दूरी निधि बनाते हैं।

वितरण का नवीन सिद्धान्त इन दोषों से मुक्त है। वह ठोस (compact) तथा वैज्ञानिक है और भाग-निर्धारण की समस्या का सही ढंग से अध्ययन करता है। परन्तु प्रश्न उठता है कि नवीन

सिद्धान्त है क्या ? यह नवीन सिद्धान्त हमारा सुपरिचित पूर्ति और माँग का ही सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी, व्याज और लाभ क्रमशः श्रम, पूँजी और साहसोद्यम के मूल्य ही हैं। जिस प्रकार जब हम आम खरीदना चाहते हैं तो बाजार से किसी मूल्य पर खरीद लेते हैं, इसी प्रकार जब उत्पादक को मजदूर की आवश्यकता होती है तो वह उसकी सेवाओं को श्रम के बाजार से खरीद लेता है। वह जिस कीमत पर इन सेवाओं को खरीदता है, उसे मजदूरी कहते हैं। सेवाएँ वस्तुओं ही की तरह हैं और बाजार में अपनी अपनी कीमतों पर बेची जा सकती हैं। प्रत्येक कीमत—मजदूरी, व्याज और लाभ—किसी वस्तु के मूल्य के भाँति ही पूर्ति और माँग की शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है। अतः उत्पादन के विभिन्न साधनों के भागों को निर्धारण करने की समस्या उन साधनों के पूर्ति और माँग के सिद्धान्तों द्वारा मूल्य निर्धारण करने की समस्या ही है। प्रत्येक साधन का भाग निर्धारण करने का एक ही सिद्धान्त है पूर्ति और मांग का सिद्धान्त। इसी सिद्धान्त से विभिन्न साधनों के भाग निर्धारित होते हैं और क्लासिकल विचार धारा की भाँति विभिन्न सिद्धान्तों की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की मजदूरी की व्याख्या की भाँति नवीन सिद्धान्त पहले किसी साधन के कुल भाग और बाद में प्रति इकाई भाग को निश्चित करने का प्रयास नहीं करता। जिस प्रकार हम पहले पूर्ति और माँग की सहायता से किसी वस्तु की एक इकाई का मूल्य निर्धारित कर लेते हैं और बाद में इस मूल्य की सहायता से यह निकालते हैं कि हमें दूकानदार को कुल कितना रुपया देना है, इसी प्रकार पूर्ति या माँग की सहायता से उत्पादक साधन की प्रति इकाई मजदूरी, व्याज या लाभ निकाल लेता है। प्रत्येक साधन को उसे कुल कितना भाग देना है यह स्वतः ही निर्धारित हो जाता है। नवीन सिद्धान्त यह भी नहीं कहता कि भूमि का सबसे पहला दावा है, बाद में श्रम का और अन्त में पूँजी का।

अब प्रश्न उठता है कि माँग और पूर्ति की शक्तियों के पीछे कौन कौन से तत्व हैं जो मूल्य निर्धारण में सहायक होते हैं। हम कह सकते हैं कि यहाँ पर भी वही तत्व हैं जो वस्तु के मूल्य निर्धारण में पाये जाते हैं। माँग निर्धारण करने में हमें उपयोगिता पर विचार करना होता है और पूर्ति निर्धारण में उत्पादन की लागत पर। मूल्य उपयोगिता-और लागत वक्रों के एक दूसरे को काटने पर निर्धारित किया जाता है। साधन के मूल्य निर्धारण में भी यही तत्व काम करते हैं। नियोक्ता की माँग उस उपयोगिता पर निर्भर है जिसे वह साधन की सेवाओं से मिलने की आशा करता है, साधन की पूर्ति, साधक की उस लागत या त्याग पर निर्भर है जो सेवाएँ प्रदान करते समय उसे करना पड़ता है। साधन का मूल्य इस प्रकार का होगा कि उस पर नियोक्ता के लिए उसकी उपयोगिता और साधक का त्याग बराबर हो। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संस्थिति पर जब पूर्ति माँग के बराबर होती है, साधन का मूल्य नियोक्ता को प्राप्त उपयोगिता और साधक के त्याग के बराबर होता है।

नियोक्ता के लिए किसी साधन की कितनी उपयोगिता है यह उस साधन की कार्य क्षमता से जिससे वह कुल उत्पत्ति में अपना भाग प्रदान करता है, मापी जा सकती है। संक्षेप में यह उपयोगिता साधन की उत्पादकता से मापी जा सकती है। अतः उत्पादक की माँग के पीछे वस्तुतः प्रयोग में लाए गए साधन की उत्पादकता ही होती है। अतएव उसकी दृष्टि से, साधन का मूल्य उसकी उत्पादकता से अधिक न होना चाहिए। परन्तु जैसे जैसे हम उसी काम में साधन की अधिक इकाइयाँ लगाते हैं, वैसे ही उसकी उत्पादकता भी बदलती जाती है। मान

लीजिये कि उत्पादक एक साधन की आठ इकाइयाँ काम में लगाता है। यदि साधन की छठवीं इकाई १० ख और आठवीं इकाई ७ ख उत्पन्न करती है तो प्रश्न है कि साधन की एक इकाई का क्या मूल्य होगा—७ ख या १० ख। और चूंकि उत्पादक साधन से अधिक से अधिक फ़ायदा उठाना चाहता है इस लिए वह ७ ख मूल्य देने के लिए तैयार हो जायगा। परन्तु वह १० ख मूल्य देने के लिए तैयार न होगा क्योंकि उस दशा में हानि होगी। अतः मूल्य साधन की सीमान्त इकाई की उत्पादकता के बराबर होना चाहिए, या यदि हम इसी बात को सुपरिचित शब्दों में कहें, साधन का मूल्य उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होता है। अतएव संस्थिति में किसी साधन का मूल्य उसकी सीमान्त उत्पादकता (जो साधक द्वारा किये गये त्याग के बराबर है) के बराबर होता है।

इस प्रकार किसी साधन का मूल्य एक ओर तो उसकी सीमान्त उत्पादकता और दूसरी ओर साधक के त्याग द्वारा निर्धारित होता है। उस पर दोनों ही बराबर होते हैं।

यह कहना कि किसी साधन का मूल्य मज़दूरी, ब्याज या लाभ केवल उसकी सीमान्त उत्पादकता द्वारा ही निर्धारित होता है, गलत होगा। सीमान्त उत्पादकता तो चित्र का एक ही पहलू है। वह माँग का ही निरुपण करती है। साथ ही साथ चित्र में दूसरा और उतना ही महत्वपूर्ण पहलू पूर्ति का भी है जिसका निरूपण कार्य करते समय साधक की लागत या त्याग द्वारा होता है। अतः साधन का मूल्य उसकी सीमान्त उत्पादकता और साधक का त्याग दोनों ही के द्वारा निर्धारित होता है। इन दो में से कोई अकेले ही मूल्य निर्धारण नहीं कर सकता। पूर्ति में साधक के त्याग का तात्पर्य उसके सीमान्त त्याग से है। पाँच घंटे काम करने वाला मज़दूर इतनी मज़दूरी चाहेगा जो पाँचवें घंटे में काम करने से हुए त्याग के बराबर हो, न कि पहले या तीसरे घंटे के त्याग से और यदि वह पहले या तीसरे घंटे के त्याग के बराबर मज़दूरी स्वीकार कर लेता है तो उसे हानि होगी। मान लीजिये कि उसे पहले घंटे में ५ ग के बराबर त्याग करना पड़ता है और पांचवें घंटें में १० ग (ध्यान रहे कि काम के घंटों में वृद्धि के साथ ही उसे करने की अनेच्छा भी बढ़ती जाती है और इसीलिए त्याग भी अधिक हो जाता है)। प्रश्न है कि क्या वह चाहेगा कि उसे केवल ५ ग के बराबर ही मज़दूरी दी जाय? वह शायद चाहेगा कि उसे १० ग मज़दूरी दी जाय जिससे कि वह पहले घंटों से जिनमें काम करने से उसे कम त्याग करना पड़ता है, कुछ अतिरेक प्राप्त कर सके। अतएव उत्पादन के साधन का मूल्य एक ओर तो उसकी सीमान्त उत्पादकता और दूसरी ओर उसके सीमान्त त्याग द्वारा निर्धारित होती हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि त्याग उत्पादकता के बराबर कैसे हो सकता है। त्याग एक भावना है और कोई भावना गज या सेरों में कैसे मापी जा सकती है? हम यह समानता तभी ला सकते हैं जब कि त्याग को गज़ों या सेरों में माप सकें। परन्तु आज कल तो साधन अथवा वस्तु सभी की कीमत द्रव्य में ही दी जाती है। अतः त्याग को गजों या सेरों में न माप कर द्रव्य में ही मापा जाता है और इसी प्रकार उत्पादकता को भी हम द्रव्य में ही मापते हैं। साधन की सीमांत उत्पत्ति को पहले द्रव्य में परिवर्तित कर लिया जाता है और फिर उसे साधन को उसके त्याग के प्रतिफल के रूप में दे दिया जाता है। संस्थिति पर सीमान्त उत्पत्ति का द्राव्यिक अर्घ, उसकी सीमान्त त्याग के द्राव्यिक अर्घ के बराबर होता है।

नवीन अर्थशास्त्री त्याग को मापने के लिए 'अवसर लागत' की विधि का प्रयोग करते हैं। भाटक के अध्याय में अवसर-लागत और वितरण में उसके महत्व पर कुछ प्रकाश डाला गया है।

अध्याय ४०

व्याज

व्याज उत्पादन में पूँजी का प्रयोग करने का मूल्य है। दूसरे मूल्यों की भाँति, यह भी माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित किया जाता है। संस्थिति पर व्याज की दर ऐसी होती है कि उस पर पूँजी की पूर्ति उसकी माँग के बराबर हो।

कुल व्याज और वास्तविक व्याज—मार्शल व्याज को दो भागों में विभाजित करते हैं। पहले भाग में (earnings) केवल पूँजी की अर्जन' अथवा 'केवल प्रतीक्षा का प्रतिफल' ही होता है और इस भाग को वास्तविक व्याज कहते हैं। दूसरे भाग में जोखिम के लिये बीमा, प्रबन्धकों की आय जैसे 'दूसरे तत्व' भी सम्मिलित होते हैं और इस भाग को कुल व्याज कहा जाता है।

जैसे-जैसे व्यापारिक सुरक्षा की दशा खराब होती जाती है और साख का संगठन अपूर्ण होता जाता है, वैसे-ही इन 'दूसरे तत्वों' का महत्व भी बढ़ता जाता है। ऐसी परिस्थितियों में रुपया उधार देने में जोखिम और ऋण-वसूली की लागत दोनों ही अधिक होती है। मार्शल के अनुसार उधार देने की जोखिम दो प्रकार की होती है, व्यापारिक जोखिम और वैयक्तिक जोखिम। व्यापारिक जोखिम "बाजार की घट-बढ़, फ़ैशन में अ-पूर्वदर्शीय परिवर्तन, नये आविष्कार नए तथा शक्तिशाली प्रतियोगियों के आ जाने इत्यादि से उत्पन्न होती है"। वैयक्तिक अथवा व्यक्तिगत जोखिम "उधार लेने वाले के व्यक्तिगत चरित्र या योग्यता में कुछ दोष या कमी" से सम्बन्धित है। चूँकि जोखिम विभिन्न उधार लेने वालों के साथ विभिन्न होती है, इसलिए उनके लिये कुल व्याज भी विभिन्न होते हैं।

इस प्रकार रुपया उधार देने वाले को दो प्रकार के अर्जन होते हैं—उधार दी हुई पूँजी के प्रयोग से और उधार देने में जोखिम उठाने तथा सम्बन्धित खाते रखने से। मार्शल के अनुसार "उधार देने वाले के दृष्टिकोण से" जोखिम उठाने व खाते रखने के अर्जन को 'लाभ समझना अधिक उचित होगा।" समान स्पर्द्धा की दशा में वास्तविक व्याज की प्रवृति उन सभी उधार लेने वालों के लिए जो लगभग बराबर समय के लिए ही उधार लेते हैं, समान होने की होती है। जैसा हम आगे देखेंगे अल्पकालीन ऋणों पर वास्तविक व्याज भी दीर्घकालीन ऋणों की अपेक्षा बहुत घटता-बढ़ता है क्योंकि विशेष प्रकार के ऋण के लिए उपलब्ध पूँजी भी पूँजी की कुल मात्रा से अधिक परिवर्तनशील है। परन्तु जैसा कि मार्शल ने कहा है, कुल व्याज चाहे, बाज़ार में स्पर्द्धा हो या नहीं, सभी के लिए समान नहीं होता। इसका कारण यह है कि कुल व्याज उधार लेने वालों के व्यक्तिगत गुणों और दोषों पर आधारित होता है और इन गुणों और दोषों का प्रत्येक दशा में समान रहना आवश्यक नहीं है। यदि स्पर्धी बाजार के विभिन्न भागों में वास्तविक व्याज बराबर नहीं है तो पूँजी कम व्याज वाले भागों से अधिक व्याज वाले भागों में जाने लगेगी। फलस्वरूप कम व्याज वाले क्षेत्रों में पूँजी की पूर्ति में कमी हो जायगी और व्याज बढ़ जायगा। इसी प्रकार उन भागों में जहाँ व्याज अधिक है पूँजी की पूर्ति बढ़कर व्याज को कम कर देगी। इस तरह सभी जगह व्याज में समानता रहने की प्रवृत्ति होगी; परन्तु कुल व्याज के बराबर न होने पर ऐसी कोई प्रवृति नहीं होगी। कुल व्याज के अधिक होने पर

पूँजीपति पूँजी की पूर्ति को नहीं बढ़ाते क्योंकि वहाँ उधार देने में जोखिम भी अधिक हो सकता है। इस प्रकार पूर्ण स्पर्धा की दशा में भी कुल व्याज बराबर न हो सकेगा। व्याज के विभिन्न सिद्धान्तों का विश्लेषण करते हुए हम उत्पत्ति के उस भाग को जो पूँजी के लिए मिलता है वास्तविक व्याज न कहें और केवल व्याज ही कहेंगे।

व्याज का क्लासिकल सिद्धान्त—क्लासिकल सिद्धान्त के अनुसार व्याज बचत की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। यह सिद्धान्त व्याज का सही सिद्धान्त है। बचत और पूँजी का अर्थ एक ही है। हमने इस अध्याय के आरम्भ में कहा था कि व्याज पूँजी की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। हमारा यह कथन क्लासिकल विचारों से पूर्णतः मिलता जुलता है। बचत या पूँजी की माँग केवल विनियोग के लिए ही होती है। इस प्रकार व्याज एक ओर तो विनियोग की इच्छा और दूसरी ओर बचाने की इच्छा से निर्धारित होता है। संस्थिति पर विनियोग की इच्छा बचाने की इच्छा के बराबर होती है और इसलिये विनियोग भी बचत के बराबर होता है। केन्स के शब्दों में जो बाद में क्लासिकल सिद्धान्त के घोर विरोधी हो गए थे "जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य अनिवार्यतः वहीं स्थित हो जाता है जहाँ उसकी माँग और पूर्ति बराबर होती है, इसी प्रकार व्याज की दर भी बाजार की शक्तियों के कारण उस विन्दु पर ठहर जायगी जहां उसी दर पर विनियोग और बचत की मात्राएँ बराबर होंगी।"

मार्शल ने अपनी पुस्तक में क्लासिकल सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा है अतः व्याज की जो पूँजी के उपयोग का ही मूल्य है, संस्थिति की ओर इस प्रकार प्रवृत्ति होती है कि उस व्याज की दर पर पूँजी की कुल माँग उसी दर पर प्राप्त पूँजी की कुल पूर्ति के बराबर हो। पूँजी और बचत के एक ही होने का कारण स्पष्ट है। बचत आय का वह भाग है जिसे उपभोग की वस्तुओं पर व्यय नहीं किया जाता है। इस बचत का जो सम्भवतः धीरे-धीरे ही एकत्रित की जाती है, कुछ भाग द्रव्य में ही रक्खा जा सकता है और शेष में से शेयर, स्टाक और सिलाई की मशीन जैसे पूँजीगत वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं। अतएव जो कुछ भी हम अपनी आय में से बचाते हैं, वह हमारे उपभोग को कुछ समय के लिए कम कर देता है। और चूँकि उसका किसी न किसी रूप में विनियोग होता ही है, इसलिए वह पूँजी बन जाता है। वहाँ हमें इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि आय के केवल दो उपयोग हो सकते हैं या तो उसका उपयोग कर लिया जाय या उसे किसी अन्य उपयोग के लिए रख छोड़ा जाय। जब उसे उपभोग की वस्तुओं पर व्यय कर दिया जाता है, तो इस क्रिया को उपभोग कहते हैं। यदि आय को उपभोग की वस्तुओं पर व्यय न करके उसे बचा लिया जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि आय का उपयोग किया गया है। इस प्रकार जो कुछ भी बचाया जाता है वह उत्पादन का साधन बन जाता है और उसे पूँजी कहना चाहिये। यहाँ कुछ भ्रम इसलिए हो सकता है कि अर्थशास्त्र में "आसंचयन" (Hoardings) शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है। बहुत से अर्थशास्त्री बचाए और 'आसंचित' द्रव्य को पूँजी नहीं मानते। लेकिन परिभाषिक अर्थ में जो आसंचित है उसे बचत नहीं कहा जा सकता। आसंचित से हमें वैसी ही प्रत्यक्ष तृप्ति मिलती है जैसी कि उपभोग से। बचत से हमें परोक्ष तृप्ति मिलती है। यदि बचाया हुआ धन पूँजी नहीं है तो उससे मिली तृप्ति को प्रत्यक्ष तृप्ति ही समझना चाहिए और परिणामतः उसे बचत नहीं समझना चाहिए।

यह दृष्टिकोण केवल पूँजी और बचत के निजत्व को ही स्पष्ट नहीं करता वरन् इसकी विशेषता यह है कि इससे हम वस्तुओं को दो भागों में उपभोग के साधन और उत्पादन के साधन

में बाँट सकते हैं। अर्थशास्त्र में हम दो क्रियाओं से ही परिचित हैं—उपभोग और उत्पादन। वितरण, विनिमय और अन्य क्रियाएँ तो केवल उपविभाग ही हैं। अतएव आसंचित (hoard) को यों तो उपभोग से सम्बन्धित होना चाहिए या उत्पादन से। यदि आप उसे बचत कहते हैं तो उसे उत्पादन से सम्बन्धित होना चाहिए और परिणामतः वह पूँजी कहलाएगी। यदि आप उसे पूँजी नहीं कहते तो आप उसे उत्पादन से सम्बन्धित नहीं कर सकते और परिणामतः वह उपभोग से ही सम्बन्धित हो जायगा। उस दशा में हम उसे बचत नहीं कह सकते।

अतएव हम कह सकते हैं कि पूँजी की पूर्ति और माँग का वही अर्थ है जो बचत की पूर्ति और माँग का।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त—सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अनुसार, जिसका समर्थन अन्य अर्थशास्त्रियों के अतिरिक्त जर्मनी के सबसे बड़े क्लासिकल अर्थशास्त्री वॉन थ्युनेन ने भी किया है, ब्याज उत्पादन में लगी पूँजी की सीमान्त इकाई की उत्पादकता द्वारा निर्धारित होता है। संस्थिति पर उत्पादक पूँजी के लिए जो ब्याज देता है, वह उसी पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति के ठीक बराबर होता है। यदि ब्याज की दर सीमान्त उत्पत्ति से कम है, तो अन्य उत्पादक उस उद्योग में आने लगेंगे और पूँजी की अधिकाधिक इकाइयाँ प्रयोग में लाई जायेंगी। पूँजी की इकाइयों का प्रयोग तब तक बढ़ता ही जायगा जब तक कि उसकी सीमान्त उत्पत्ति घट कर ब्याज की दर के बराबर न हो जाय। जब ब्याज की दर पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति से अधिक होती है तो उत्पादक उद्योग को छोड़ देते हैं अर्थात् वे अपनी पूँजी की इकाइयों का उपयोग तब तक कम करते जाते हैं जब तक कि उसकी सीमान्त उत्पादकता बढ़कर ब्याज की दर के बराबर न हो जाय।

इस सिद्धान्त का सब से बड़ा दोष यह है कि यह पूँजी की पूर्ति पर बिल्कुल ही विचार नहीं करता। इस बात से किसी को भी मतभेद न होगा कि उत्पादकता पूँजी के मूल्य को प्रभावित करती है। और हम इस कथन में भी सन्देह नहीं कर सकते कि स्पर्धी बाजार में संस्थिति पर ब्याज की दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होनी चाहिए। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि केवल पूँजी की उत्पादकता ही ब्याज की दर निर्धारित करती है। सीमान्त उत्पादकता वह अधिकतम मूल्य है जो साहसोद्यमी पूँजी के उपयोग के लिए देगा। जबकि सीमान्त त्याग वह न्यूनतम मूल्य है जो पूँजी बचाने वाला स्वीकार करेगा। ब्याज की दर के निर्धारण में ऋणदाता द्वारा किये हुये त्याग का भी स्थान है और सीमान्त उत्पादकता के साथ-साथ इस त्याग पर भी विचार करना होगा। ब्याज पूँजी की पूर्ति और माँग द्वारा निर्धारित होता है। पूँजी की माँग उसकी सीमान्त उत्पादकता और पूर्ति उसे बचाने वालों के सीमान्त त्याग पर निर्भर है। संस्थिति पर विनियोग की सीमान्त उत्पादकता ब्याज की दर के बराबर होती है और ब्याज की दर बचत करने में हुए सीमान्त त्याग के भी बराबर होती है। स्पष्ट है कि सीमान्त त्याग का महत्व कम नहीं है।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का एक गुण यह है कि इस सिद्धान्त से हम ब्याज की नकारात्मक दर की सम्भावना पर विचार करने से बच जाते हैं। यह सच है कि 'ब्याज' का प्रयोग बहुत से लोग जिस अर्थ में करते हैं, उस अर्थ में वह ऋणात्मक भी हो सकता है। इस बात की ओर सबसे पहले फ़ाक्सवैल और फिर मार्शल ने भी संकेत किया। तब से बहुत

से अर्थशास्त्रियों ने उन परिस्थितियों की बात की है जिनमें कि व्याज की दर ऋणात्मक हो सकती है। उदाहरण के लिए जब द्रव्य को घर में रखने में अधिक जोखिम होती है तो हम उसे बैंक में जमा कर देते हैं और उस दशा में बैंक से कुछ मांगने के स्थान पर हम उसे अपने पास से ही कुछ रुपया देते हैं। ऐसी परिस्थितियाँ असाधारण समय में सम्भव है। मंदी (depression) और दूसरे असाधारण समय में जब कि व्याज की दर घट कर लगभग शून्य हो जाती है, ऋणात्मक व्याज की परिस्थितियों की कल्पना करना कठिन नहीं है। इस बात में कुछ भी मतभेद नहीं हो सकता। यहाँ इतना ही कहना आवश्यक है कि 'व्याज' शब्द का अधिक समयक (precise) और पारिभाषिक अर्थ भी हो सकता है। सभी वैज्ञानिक विवेचनाओं में हमें अन्युक्तियों (inconsistencies) से बचना चाहिए। यदि हम सभी अर्थ-शास्त्रियों की भाँति यह कहें कि व्याज की दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है तो जब तक सीमान्त उत्पादकता नकारात्मक न हो जाय हम यह नहीं कह सकते कि व्याज की दर ऋणात्मक होगयी है। कोई भी उत्पादक पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को नकारात्मक नहीं होने देगा। चूंकि सीमान्त उत्पादकता सदैव ही धनात्मक होगी, इसलिए व्याज की दर भी धनात्मक होनी चाहिए। प्रश्न है कि हम उस व्यक्ति के लिए क्या कह सकते हैं जो बैंक से कुछ लेने के स्थान पर उसे कुछ देता ही है? उस व्यक्ति के विचार में, जो बैंक को प्रभार देने के लिए तैयार है, किसी अन्य स्थान की अपेक्षा बैंक में उसका धन अधिक सुरक्षित रहेगा। इसलिए वह बैंक को अपनी बचत को अधिक सुरक्षित रखने के लिए प्रभार देता है। यह व्याज नहीं है, यद्यपि इसे सुगमता के लिए प्रायः व्याज ही कहा जाता है।

परिवर्जन-सिद्धान्त (Abstinence Theory)—जब सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त केवल माँग पक्ष पर ही विचार करता है, परिवर्जन सिद्धान्त केवल पूर्ति पक्ष पर ही अपना ध्यान देता है। सीनियर (Senior) की राय में, जिन्हें अर्थशास्त्रीय साहित्य में इस सिद्धान्त का प्रवर्तक माना जाता है, व्याज का कारण यह है कि ऋणदाता को अपनी पूँजी के उपभोग के परिवर्जन में त्याग करना पड़ता है। व्याज इस प्रकार उपभोग के त्याग के लिये, जो पूँजीपति को पूँजी उधार देने के लिये करना पड़ता है, प्रतिफल है। वाल्टेयर ने यह कह कर की धनी किसी भी उपयोग का परिवर्जन नहीं करता और न कभी अपनी इच्छा को सन्तुष्ट करने कि प्रतीक्षा ही करता है, इस सिद्धान्त की अवहेलना की है। मार्शल ने परिवर्जन के स्थान पर प्रतीक्षा को अधिक उपयुक्त समझा है क्योंकि 'परिवर्जन' शब्द के अर्थ में उस कठिन त्याग का भाव निहित है जो धनी ऋणदाता प्रायः नहीं करते हैं। उपभोग प्रायः स्थगित ही कर दिया जाता है। मार्शल के अनुसार निर्धन ऋणदाताओं को या उनको जिन्होंने बचत करना आरम्भ ही किया है, ऋण देने में कुछ परिवर्जन करना पड़ता है। ऐसे ही लोगों का त्याग वास्तव में कठिन त्याग होता है। कुछ अर्थशास्त्रियों की राय में त्याग की सम्पूर्ण धारणा केवल हानि को भावी लाभ के लिए स्वीकार करने की पूर्वदृष्टि है और व्याज इसी पूर्वदृष्टि का प्रतिफल है। कुछ लोग समझते हैं कि ऋणदाता ऋण देता है तो उसे इस बात की जोखिम लेनी होती है कि वह या उसके बच्चे एक साल बाद भविष्य का लाभ उठाने के लिये जीवित रहें या न रहें। उनके अनुसार व्याज जोखिम का प्रतिफल है। यह सभी धारणाएँ परिवर्जन की भाँति ही किसी न किसी प्रकार के त्याग से ही सम्बन्धित हैं। व्याज का कारण

समझने के लिए त्याग का भाव ही आवश्यक है, उसकी मात्रा नहीं। प्रतीक्षा, परिवर्जन या सहनशीलता (जिसका सेलिगमैन ने परिवर्जन के स्थान पर प्रयोग किया है) सभी इसी बात की ओर संकेत करते हैं कि व्याज किसी न किसी प्रकार के त्याग का प्रतिफल है। यह सब हमको समानतः स्वीकार हैं।

जैसा हम पहले ही कह चुके हैं, यह सिद्धान्त उतना ही एक-पक्षीय है जितना कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ हमारा ध्यान पूँजी की माँग की अपेक्षा उन बातों पर केन्द्रित हो जाता है जिन पर कि पूँजी की पूर्ति निर्भर है। यह एक आँशिक सत्य ही है।

परन्तु फिर भी यह सिद्धान्त उस धारणा के विरुद्ध, जो व्याज को उत्पादन की लागत मानना अनुचित समझती है, एक जोरदार युक्ति है। उदाहरण के लिए मार्क्स ने ही कहा था कि पूँजीपतियों को दिया गया व्याज किसी भी प्रकार उचित नहीं है। हम मार्क्स के अनुयायियों को सिद्ध कर सकते हैं कि उनकी धारणा गलत है। पूँजीपति वह है जो पूँजी उधार देता है और इसीलिए उसका वर्तमान उपभोग नहीं करता। हमें उसके परिवर्जन और त्याग का कुछ प्रतिफल देना ही चाहिए अन्यथा वह पूँजी उधार नहीं देगा और उत्पादन असम्भव हो जायगा। समाजवादी राष्ट्र को भी प्रतीक्षा करनी ही पड़ती है और यदि वह मज़दूरों को उपभोक्ता पदार्थ के लिए प्रतीक्षा करने को वाध्य करता है तो उसके लिए व्याज देना आवश्यक है।

व्यन्तर (Agio) या समय अधिमान सिद्धान्त—समय अधिमान सिद्धान्त व्याज का दूसरा एक पक्षीय सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तकों के विचार कुछ भी रहे हों परन्तु तत्व में यह परिवर्जन सिद्धान्त से मिलता जुलता है। समय अधिमान सिद्धान्त के अनुसार व्याज का कारण यह है कि ऋणदाता को भविष्य की अपेक्षा वर्तमान अधिमान्य होता है। बॉम बावर्क (Bohm-Bawerk) का जिन्होंने इस सिद्धान्त को सब से पहले प्रचलित किया था विश्वास था कि यदि किसी मनुष्य से पूछा जाय कि वह कुछ वस्तुओं को वर्तमान समय में उपभोग करना पसन्द करेगा या भविष्य में तो वह वर्तमान समय में उपभोग को ही अधिमान्यता देगा।

अतएव वर्तमान पदार्थ उसी प्रकार तथा परिमाण के भावी पदार्थों की अपेक्षा अधिक मान्य होगा। इसी को व्याज का व्यन्तर (Agio) सिद्धान्त कहते हैं। व्यन्तर (Agio) का अर्थ अधिमान्यता से है। अतः बॉम बावर्क के अनुसार व्याज का कारण यह है कि पूँजीपति को वर्तमान वस्तुओं का उपभोग, जो भावी वस्तुओं की अपेक्षा अधिमान्य है, छोड़ना पड़ता है। व्याज की दर अधिमान्यता त्याग से हुई हानि के बराबर होनी चाहिए। वर्त्तमान वस्तुओं का भावी वस्तुओं से अधिमान्य होने का कारण यह है कि भविष्य पूर्णतः निश्चित नहीं होता और इसीलिए वर्तमान भविष्य से अधिक आकर्षक लगता है। वर्त्तमान इच्छाएँ अधिक तीव्र मालूम होती हैं और वर्त्तमान वस्तुओं की माँग भावी वस्तुओं की माँग से अधिक हो जाती है। अतएव माँगों को देखते हुए वर्त्तमान वस्तुएँ अधिक दुर्लभ हो जाती हैं और इसीलिए उनका मूल्य भावी वस्तुओं के मूल्य से अधिक हो जाता है।

बॉम बावर्क के शिष्य फ़िशर ने उसके सिद्धान्त की आलोचना की और व्यन्तर सिद्धान्त के स्थान पर समय-अधिमान सिद्धान्त प्रतिपादित किया। यह कहना आवश्यक नहीं कि

फ़िशर का सिद्धान्त बॉम बावर्क के सिद्धान्त का एक संशोधित पुनर्कथन मात्र है। बाम बावर्क ने 'व्यन्तर (Agio) के, जिसके द्वारा व्याज निर्धारित होता है, सम्पूर्ण विश्लेषण में समय-अधिमान को व्यक्ति से ही सम्बन्धित माना है। बॉम बावर्क और फ़िशर दोनों के ही अनुसार व्याज समय-अधिमान की अनुपस्थिति में नहीं हो सकता। अतएव दोनों के ही अनुसार व्याज का निर्धारण एक ही बात पर निर्भर है।

अब आप पूछना चाहेंगे कि समय-अधिमान का ठीक-ठीक क्या अर्थ है? समय अधिमान का तात्पर्य केवल इतना ही है कि यदि किसी व्यक्ति को वर्त्तमान समय में १०ख आय दी जाय और यही भविष्य में भी, तो वह भविष्य की अपेक्षा वर्तमान समय में ही उतनी आय लेना अधिक पसन्द करेगा। जब उसे भविष्य में १०ख दिये जाते हैं तो इस समय उसके लिए १०ख का अर्थ १०ख से कम, मान लीजिए, ८ख होगा। अतएव हम कह सकते हैं कि यह व्यक्ति अपनी भावी आय को वर्त्तमान आय से २ख कम मान रहा है। इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि यह व्यक्ति वर्त्तमान आय को भावी आय की अपेक्षा २ख के बराबर अधिमान्यता देता है। यदि यह व्यक्ति वर्त्तमान समय में १०ख आय का उपभोग नहीं करता और उसे उत्पादक को पूँजी के रूप में दे देता है तो व्याज की दर उसके समय-अधिमान के त्याग के बराबर होनी चाहिए। यदि भविष्य में उसे आय १०ख + २·५ख = १२·५ इकाइयाँ मिल सकें तो वह वर्त्तमान आय की १०ख इकाइयाँ छोड़ने के लिये तत्पर हो जायगा। इस दशा में यदि उसकी समय अधि-मान दर प्रति ८ख के ऊपर २ख हो तो उसे भावी आय की १२·५ख इकाइयाँ का इतना ही अर्थ मालूम होगा जितना कि वर्त्तमान समय में आय की १०ख इकाइयों का। लेकिन वह वर्त्तमान आय की १०ख इकाइयों के बदले में भावी आय की केवल १०ख इकाइयाँ नहीं स्वीकार करेगा।

यह व्याख्या दो उपपत्तियों पर आधारित है। पहली तो यह कि द्रव्य की क्रय-शक्ति समान रहती है और दूसरी यह कि ऋणदाता की परिस्थितियों में कोई परिवर्त्तन नहीं होता।

यदि यह आशा है कि द्रव्य भविष्य में वर्त्तमान की अपेक्षा बहुत अधिक वस्तुएँ व सेवाएँ खरीद सकेगा, तो १०ख आय वर्तमान की अपेक्षा भविष्य में अधिक अधिमान्य होगा। इसी प्रकार यदि ऋणदाता भविष्य में सादा जीवन बिताने की आशा करता है तो उसे १०ख आय से वर्तमान की अपेक्षा भविष्य में अधिक तृप्ति मिलेगी। ऊपर कही गई दो उपपत्तियों के लागू होने पर ही यह कहा जा सकता है कि १०ख आय भविष्य की अपेक्षा वर्त्तमान में ही अधिमान्य है। परन्तु यदि आय का तात्पर्य वास्तविक आय से हो तो हम इन उपपत्तियों को भी छोड़ सकते हैं। उस दशा में द्रव्य की क्रय-शक्ति और ऋणदाता की परिस्थितियों पर स्वतः विचार हो जाता है।

व्याज की दर प्रत्येक स्थिति में धनात्मक होगी—फ़िशर ने कुछ ऐसी परि-स्थितियों का उदाहरण दिया है जहाँ व्याज की दर शून्य या ऋणात्मक हो सकती है। पहले तो वे यह सिद्ध करते हैं कि संस्थिति पर व्याज की दर और समय अधिमान बराबर होना चाहिए। इस कथन में सन्देह नहीं किया जा सकता। फिर वे यह सिद्ध करते हैं कि जब समय-अधिमान शून्य हो जाता है तो व्याज की दर भी स्वतः शून्य हो जायगी। इसे सिद्ध करते समय फ़िशर का शून्य समय-अधिमान से तात्पर्य उस स्थिति से है जिसमें कोई व्यक्ति किसी वस्तु या द्रव्य को वर्तमान और भविष्य में पाने के प्रति तटस्थ है। ऐसी परिस्थितियों की निश्चय ही कल्पना

की जा सकती है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि समय-अधिमान नकारात्मक भी हो सकता है। फ़िशर ने अपनी पुस्तक के पहले अध्याय में स्वयं कहा है कि किसी व्यक्ति को समय-अधिमान तभी हो सकता है जब उसे वर्तमान समय में प्राप्त सन्तोष की कुछ मात्रा भविष्य में प्राप्त संतोष की उसी मात्रा से अधिमान्य है। सभी लोग किसी न किसी प्रकार से यह मानते हैं कि मनुष्य भविष्य की अपेक्षा वर्त्तमान को अधिमान्यता देते हैं। मनोविज्ञान भी यही मानता है। यह शुद्ध समय अधिमान तभी व्यक्त होता है जब कोई व्यक्ति भविष्य में प्राप्त संतोष की कुछ मात्रा के अपेक्षा वर्तमान में प्राप्त सन्तोष की उसी मात्रा को अधिक मान्यता देता है। व्याज की दर इस शुद्ध समय-अधिमान के ही बराबर होती है; और यदि समय-अधिमान का यही अर्थ समझा जाय तो वह हमेशा धनात्मक होगा और इसलिए व्याज की दर भी हमेशा धनात्मक होगी।

यह दुर्भाग्य की बात है कि फ़िशर ने समय-अधिमान शब्द का ऊपर दिए हुए दोनों अर्थों में प्रयोग किया है। यह भ्रम मूलक है। जब कोई व्यक्ति समय-अधिमान के विपरीत कोई कार्य करता है तो उसे त्याग करना होता है। व्याज इसी त्याग का प्रतिफल है। जब किसी व्यक्ति को भविष्य में कुछ द्रव्य वर्त्तमान समय में उतने ही द्रव्य से अधिमान्य होता है तो इसका कारण यही है वह भविष्य में उससे अधिक उपयोगिता प्राप्त करने की आशा करता है। यदि यह बात सच न होती तो वह आय वर्त्तमान समय में ही पाना चाहता। ऐसी वस्तुओं के उपभोग की प्रतीक्षा में जिनकी उपयोगिता प्रतीक्षा काल में बढ़ जाती है, कुछ त्याग नहीं होता। यदि आप प्रतीक्षा करने से उपयोगिता को १०० से बढ़ा कर १५० कर सकते हैं, तो आप निश्चय ही प्रतीक्षा करना चाहेंगे। परन्तु यहाँ आप ५० अतिरिक्त उपयोगिता के लिए ही प्रतीक्षा करेंगे। यदि आप को वर्त्तमान समय में एक साथ ही १५० उपयोगिता मिल सके तो यह आपको अधिमान्य होगा। किसी भी सन्तोष के तात्कालिक मान का हमेशा कम होना ही यह प्रदर्शित करता है कि समय-अधिमान हमेशा धनात्मक ही होगा। अतएव व्याज की दर भी हमेशा धनात्मक ही होनी चाहिए। परन्तु जैसा हम पहले ही कह चुके हैं, यदि व्याज शब्द का अधिक प्रचलित् अर्थ में प्रयोग किया जाय तो वह ऋणात्मक भी हो सकता है।

मार्शल ने भी कहा है कि व्याज की दर ऋणात्मक हो सकती है। उदाहरण के लिए मार्शल ने अपनी पुस्तक 'प्रिन्सपल्स' में कहा है कि जब "किसी भी रूप में संचित धन के नए लाभप्रद उपयोग इतने कम हो जाते हैं कि धन की वह मात्रा जिसे सुरक्षित रखने के लिए लोग अपनी ओर से कुछ देने को तैयार हैं उस मात्रा से अधिक हो जाती है जो दूसरे लोग उधार लेना चाहते हैं" और तब वे लोग भी जो पूँजी के उपयोग से लाभ उठाने की बात सोचते थे, उसे रखने के लिए कुछ द्रव्य ले लेंगे। ऐसी सभी स्थितियों में व्याज की दर ऋणात्मक होगी। "यहाँ मार्शल का तात्पर्य द्रव्य की उस मात्रा से है जिसे लोग अपनी वृद्धावस्था और अपने बच्चों के लिये अलग रख लेते हैं। वे कहते हैं कि कभी कभी द्रव्य को इस प्रकार अलग रखने की इच्छा इतनी प्रबल होती है कि वे उसकी सुरक्षा के लिए प्रभार (charges) देने को भी तत्पर हो जाते हैं। इस दशा में द्रव्य बचाने वालों को बचत के लिए कुछ मिलने को बजाय उन्हें उसकी सुरक्षा के लिए कुछ प्रभार देना पड़ता है और इस प्रकार व्याज की दर ऋणात्मक हो जाती है।" यहाँ हम मार्शल से यह पूँछना चाहेंगे" क्या इस दशा में हुई बचत को उचित अर्थ में बचत कहा जा सकता है? बचत में हमेशा कुछ त्याग निहित होता है। वे जिन लोगों की बात

करते हैं, उन्होंने त्याग किया ही कहां। यदि उन्हों ने त्याग किया होता तो वे अपनी ओर से कुछ देने के बजाय कुछ लेना ही चाहते। उनके द्वारा कुछ प्रभार दिया जाने में यह निहित है कि उन्हें आसंचित धन से कुछ प्रत्यक्ष तृप्ति मिलती है। यदि ऐसा नहीं हो तो वे क्यों प्रभार देते हैं? 'आसंचन' और 'बचत' का यह भ्रम केन्स के व्याज के सिद्धान्त में भी पाया जाता है। हम उचित स्थान पर उस पर विचार करेंगे। अभी हम केन्स के व्याज के सिद्धान्त का केवल समझने का ही प्रयत्न करेंगे।

तरलता-अधिमान सिद्धान्त—केन्स (Keynes) के अनुसार व्याज तरलता-अधिमान द्वारा निर्धारित होता है। जब किसी व्यक्ति को आय मिलती है तो उसे सर्वप्रथम यह निर्णय करना पड़ता है कि कितनी आय उपभोग पर व्यय करे और कितनी नहीं। मान लीजिए उसकी आय १०**ग** है और उसने निर्णय कर लिया है कि ६**ग** आय व्यय करेगा और ४**ग** नहीं व्यय करेगा। यहाँ उसके सामने एक और भी समस्या भी उपस्थित हो जाती है। क्या वह अपनी ४**ग** आय तरल द्रव्य के रूप में रखे (जिसे वह किसी भी समय अपनी इच्छाओं को सन्तुष्ट करने के लिए व्यय कर सकता है) या उसे किसी को उधार दे दे और कुछ समय के पश्चात् उसे वापस ले ले। यदि वह अपनी ४ग आय को तरल द्रव्य के रूप में रखना चाहता है तो वह उसे उधार नहीं दे सकता और यदि वह उसे उधार देना चाहता है तो वह तरल द्रव्य के रूप में नहीं रक्खी जा सकती। उधार न देने का तात्पर्य होगा कि ऋणदाता के लिये तरल द्रव्य अधिमान्य है। उधार देने में यह निहित है कि ऋणदाता अपनी उस आय को (जिसे वह अपने पास तरल द्रव्य के रूप में रख सकता था) दे देना चाहता है। केन्स कहते हैं कि सभी मनुष्य स्वभावतः वस्तुओं और सेवाओं पर तात्कालिक अधिकार रखना चाहते हैं और इस लिए द्रव्य को उधार देने की अपेक्षा उसे तरल रूप में ही रखना अधिक पसन्द करते हैं। और चूंकि यह प्रवृति उनके स्वभाव में ही निहित है, इसलिए हम कह सकते हैं कि उनके लिए तरलता अधिमान्य होती है। तरलता अधिमान्य से ही व्याज की उत्पत्ति होती है। परन्तु क्योंकि ऋण तभी दिया जा सकता है जब कि ऋणदाता अपने तरलता अधिमान का व्याज करे (अर्थात वह अपनी शेष आय को पूँजी के रूप में उधार देने के बजाय तरल द्रव्य में रखने की स्वाभाविक इच्छा को जान बूझ कर दबाए)। इसीलिए व्याज का आविर्भाव भी तभी होगा जब तरलता-अधिमान का त्याग कर दिया जाय। इस प्रकार केन्स के शब्दों में व्याज "निश्चित समय के लिए तरलता के त्यागने का प्रतिफल है।" दूसरे शब्दों में वह तरलता की स्वाभाविक इच्छा को दबा देने अथवा तरलता-अधिमान को त्याग देने का प्रतिफल है। किसी व्यक्ति की द्रव्य को तरल रखने की इच्छा अर्थात् तरलता जितनी ही प्रबल होगी, उसका तरलता-अधिमान भी उतना ही अधिक होगा। और यदि यह व्यक्ति ऋण देता है अर्थात् तरलता को छोड़ता है तो उसका तरलता-अधिमान का त्याग भी अपेक्षाकृत होगा और वह अपने ऋण पर भी अपेक्षा कृत अधिक व्याज चाहेगा। केन्स के शब्दों में "किसी समय पर व्याज की दर जो तरलता छोड़ने का प्रतिफल है, द्रव्य रखने वालों की अपने तरल द्रव्य पर से नियंत्रण हटा लेने की अनिच्छा का भाव है।" इस प्रकार व्याज की दर तरलता-अधिमान से प्रभावित होती है।

द्रव्य को तरल रूप में रखने की इच्छा की प्रबलता अर्थात् तरलता-अधिमान की मात्रा उन प्रेरकों पर निर्भर है जिनके लिए हम यह द्रव्य चाहते हैं। यह प्रेरक तीन प्रकार

के होते हैं (१) लेन-देन या व्यापारिक प्रेरक (transaction motive) जिसके कारण हम व्यक्तिगत तथा व्यापार से सम्बन्धित चालू क्रय-विक्रय के लिए कुछ द्रव्य रखना चाहते हैं; (२) पूर्वोपाय प्रेरक (precautionary motive) जो भविष्य में कुल साधनों के एक निश्चित भाग के बराबर द्रव्य को सुरक्षित रखने की इच्छा से उत्पन्न होता है। उधार देने वालों को भय रहता है कि द्रव्य की क्रयशक्ति में परिवर्तन हो जाने के कारण भुगतान के समय उनके ऋणों का अर्घ कहीं कम न हो जाय; और (३) पूर्वकल्पी प्रेरक (speculative motive) जो अधिक लाभ (जो भविष्य के बारे में बाजार भर से अधिक जानने के कारण प्राप्त होता है) उठाने के उद्देश्य से उत्पन्न होता है। हम प्रायः किसी विशेष दिन इसलिए उधार नहीं देते और इसलिए अपना तरल द्रव्य अपने ही पास छोड़ते हैं कि शायद दूसरे दिन व्याज की दर अधिक हो जाय और हमें अपने ऋणों पर अधिक प्रत्याय मिले।

जब लोग तरलता को अधिक मात्रा में छोड़ने का निर्णय कर लेते हैं तो उनके पास तरल द्रव्य की मात्रा कम हो जाती है और इसलिए समाज में भी तरल द्रव्य की मात्रा कम ही हो जाती है। जब कम द्रव्य उधार दिया जाता है और लोगों के पास तरल द्रव्य अधिक मात्रा में होता है तो स्थिति विपरीत होती है। इस प्रकार "तरलता का त्यागना अथवा न त्यागना (तरल) द्रव्य की वर्तमान मात्रा को घटाता बढ़ाता है।" जब किसी दी हुई व्याज की दर पर लोग अपना तरलता का अधिमान नियोजित कर लेते हैं और यह निर्णय कर लेते हैं कि कितनी तरलता रक्खेंगे और कितनी नहीं रक्खेंगे तो तरल द्रव्य की मात्रा भी स्वतः निश्चित हो जाती है। अतएव किसी दी हुई व्याज की दर पर तरलता अधिमान ही द्रव्य की मात्रा निर्धारित करता है। आर्थिक क्रम में द्रव्य की मात्रा इस स्थान पर और इस प्रकार ही हमारे सामने आती है।

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के विरुद्ध, जिनके अनुसार व्याज बचत की पूर्ति और माँग द्वारा निर्धारित होता है, केन्स ने कहा कि वह तरलता की पूर्ति और माँग द्वारा ही निर्धारित किया जाता है। बचत की माँग उसकी सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर है। और उसकी सीमान्त उत्पादकता पर ही ऋण की माँग भी निर्भर है। इस प्रकार जहाँ तक व्याज निर्धारित करने वाली शक्तियों के चित्र में माँग पक्ष का प्रश्न है, क्लासिकल अर्थशास्त्री और केन्स दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि यहाँ सीमान्त उत्पादकता ही महत्वपूर्ण है। केन्स के शब्दों में "संस्थिति तभी आती है जब पूँजी की सीमान्त क्षमता साधारणतया व्याज की बाजार दर के बराबर होती है। यहाँ पूँजी की सीमान्त क्षमता का अर्थ उधार दी हुई तरलता की सीमान्त उत्पादकता अथवा क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की बचत की सीमांत उत्पादकता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

मतभेद तब उत्पन्न होता है जब केन्स व्याज-निर्धारण की शक्तियों के पूर्तिपक्ष की व्याख्या करना आरम्भ करते हैं। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार पूँजी की पूर्ति इस बात पर निर्भर है कि व्याज की दर बचत करने के त्याग से किस प्रकार सम्बन्धित है। यदि बचत करने में हुआ त्याग व्याज की दर से अधिक है तो बचत घट जायगी और पूँजी की पूर्ति भी कम हो जायगी। यदि बचत करने में हुआ त्याग व्याज की दर से कम है तो बचत बढ़ेगी और पूँजी की पूर्ति भी उसी अनुपात से बढ़ जायगी। उनके अनुसार संस्थिति पर व्याज की दर बचत करने के सीमान्त त्याग के बराबर होनी चाहिए।

केन्स को इस व्याख्या से आपत्ति है। उदाहरण के लिए उन्होंने कहा "यदि व्याज की दर बढ़ जाय तो यह निश्चित नहीं है कि दी हुई आय का बचाया हुआ भाग भी अनिवार्यत: बढ़ जायगा।" वे व्याज की दर और बचत करने में हुए त्याग में कोई सम्बन्ध नहीं पाते। हो सकता है कि व्याज की दर शून्य होने पर भी, कुल आय खर्च न हो सकने के कारण कुछ बचत हो।

अतः बचत व्याज की दर पर निर्भर नहीं है। व्याज की दर पर उधार देना निर्भर है बचत नहीं। व्याज की दर बचत के उसी भाग को प्रभावित करती है जो उधार दिया जाता है। यदि व्याज की दर ऊँची है तो वह व्यक्ति अपनी ४ **ग** बचत में से ३½ **ग** बचत उधार दे सकता है। परन्तु व्याज की दर कम होने पर सम्भव है कि वह केवल १ **ग** ही उधार दे। व्याज की दर में परिवर्तन होते रहने पर भी उसकी बचत ४ **ग** ही रहती है परन्तु उधार दी जाने वाली मात्राएँ अवश्य बदल जाती हैं। इस प्रकार केन्स के विचार में यह कहना कि बचत की पूर्ति किसी तरह व्याज की दर से सम्बन्धित है, गलत होगा। व्याज की दर का ऐसा सम्बन्ध तो उधार दी जाने वाली मात्रा की पूर्ति से है। संस्थिति पर व्याज की दर उधार देने में किए गए सीमान्त त्याग के ही बराबर होनी चाहिए, बचत करने में किए गए त्याग के बराबर नहीं। पूर्ति पक्ष से व्याज ३ **ग** या १ ग (जैसी परिस्थिति हो) से ही निर्धारित होगा ४ **ग** से नहीं। उसे ४ **ग** के सीमान्त त्याग के बराबर नहीं वरन् ३ **ग** या १ **ग** के सीमान्त त्याग के बराबर होना चाहिए।

यहाँ यह साफ़ साफ़ कहा जा सकता है कि केन्स ने क्लासिकल अर्थशास्त्रियों को 'बचत' का ग़लत अर्थ लगाया है। क्लासिकल अर्थशास्त्री ४ **ग** को पूँजी की बचत कभी नहीं कहेंगे। उनके अनुसार तो बचत या पूँजी आय का वही भाग है जिसका उपभोग नहीं किया गया है। यदि कोई व्यक्ति अपनी शेष आय ४ **ग** में से ½ या ३ ग अपने ही पास रखने का निर्णय करता है तो हम कह सकते हैं चूंकि यह दोनों मात्राएँ उसकी तरलता की इच्छा को प्रत्यक्षत: सन्तुष्ट करती हैं, इसलिए वह उनका उपभोग ही कर रहा है। ३½ **ग** या १ ग को ही जिसे वह उधार दे देता है और अपनी तरलता की इच्छा की प्रत्यक्ष संतुष्टि के लिए नहीं रखता, ठीक अर्थ में उसकी 'अनुपभुक्त आय' अथवा बचत कहा जा सकता है। इस प्रकार केन्स की उधार दी हुई तरलता क्लॉसिकल अर्थशास्त्रियों की 'बचत' से भिन्न नहीं है। चाहे हम यह कहें कि पूर्ति-पक्ष से केन्स की उधार दी हुई तरलता व्याज को निर्धारित करती है या क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की बचत से ही व्याज प्रभावित होता है तो हम एक ही बात को दो विभिन्न ढंगों से कह रहे है। व्याज के पूर्तिपक्ष में भी केन्स और क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की व्याख्या एक ही है।

परन्तु केन्स और क्लॉसिकल अर्थशास्त्रियों में एक महत्वपूर्ण मतभेद है। केन्स का सिद्धान्त उस बचत या पूँजी पर ही घटता है जो द्रव्य के रूप में हो जब कि क्लासिकल सिद्धान्त उस पूँजी पर भी लागू होता है जो अ-द्राव्यिक हो। केन्स के अनुसार व्याज केवल तरल पूँजी छोड़ने का प्रतिफल है; क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार वह किसी भी प्रकार की पूँजी छोड़ने का प्रतिफल है। केन्स का व्याज सिद्धान्त उसी समाज में लागू होगा जहाँ द्रव्य का प्रयोग किया जाता है; क्लासिकल सिद्धान्त ऐसे समाज में भी घट सकता है जहाँ द्रव्य का प्रयोग नहीं होता। केन्स का सिद्धान्त यह उपपत्ति मान लेता है कि व्यक्ति को अपने अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति को ही ऋण देना चाहिये क्योंकि उसी दशा में वह अपनी तरलता को छोड़ेगा।

क्लासिकल अर्थशास्त्री इस तरह की कोई उपपत्ति नहीं मानते । उनके अनुसार यदि कोई व्यक्ति अपनी बचत को दूसरों को न देकर अपने ही उत्पादक कार्यों में लगाता है, तो भी उसे ब्याज मिलेगा। केन्स का सिद्धान्त रोबिन्सन क्रूसो की क्रियाओं की व्याख्या नहीं कर सकता, जब कि क्लासिकल सिद्धान्त कर सकता है । उसके अनुसार चाहे तरलता हो या न हो, उधार दिया जाय या न दिया जाय, रोबिन्सन क्रूसो को उपभोग की बहुत सी वस्तुओं का उत्पादन करना ही पड़ेगा। इसके लिए उसे बचत करनी ही पड़ेगी और बचत करने में हुआ त्याग करना पड़ेगा। उसे इस त्याग के बराबर प्रतिफल मिलना ही चाहिए और इस प्रतिफल को क्रूसो की पूँजी पर मिला व्याज कहा जायगा ।

केन्स के व्याज सिद्धान्त के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि वह ग़लत नहीं है क्योंकि उसकी आधारभूत व्याख्या क्लासिकल सिद्धान्त की व्याख्या की तरह ही है, परन्तु उसका क्षेत्र निश्चय ही संकुचित है और वह उस सम्पूर्ण क्षेत्र में लागू नहीं हो सकता, जहाँ क्लासिकल सिद्धान्त लागू होता है ।

प्रो० ओहलिन (Prof. Ohlin) के अनुसार व्याज बचत की अपेक्षा साख की पूर्ति और माँग से निर्धारित होता है । उनके विचार में हम अपनी बचत से भी अधिक ऋण दे सकते हैं और उत्पादक भी वास्तविक विनियोग से अधिक साख की माँग कर सकते हैं। उन्हें उपभोग के कार्यों के लिए भी साख की आवश्यकता पड़ सकती है। यहाँ हम केन्स के सिद्धान्त की भाँति फिर कह सकते हैं कि ओहलिन की 'साख' का अर्थ 'बचत' के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस प्रकार ओहलिन के सिद्धान्त और क्लासिकल सिद्धान्तों में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं है।

व्याज के विभिन्न सिद्धान्तों में विरोध नहीं है—यहाँ हम एक रोचक बात देखते हैं। ऊपर दिये गए व्याज के सिद्धान्तों में से कोई भी सिद्धान्त क्लासिकल सिद्धान्त के, जो अर्थशास्त्र सम्बन्धी साहित्य में व्याज का एक ही सही सिद्धान्त है, विरुद्ध नहीं है। यह बात दूसरी है कि कोई विशेष सिद्धान्त एक पक्षीय या सत्य का आंशिक कथन ही हो। परन्तु उनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जो पूर्णतः ग़लत हो या क्लासिकल सिद्धान्त से मेल न खाते हों। यदि हम केन्स के सिद्धान्त के संकुचित क्षेत्र पर विचार न करें तो वह लगभग क्लासिकल सिद्धान्त के समान ही हो जाता है। सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त को हम क्लासिकल सिद्धान्त के दो आधारों में से एक आधार कह सकते हैं। क्लासिकल अर्थशास्त्री भी मानते हैं कि माँग-पक्ष से ब्याज बचत की सीमान्त उत्पादकता द्वारा ही निर्धारित होता है। समय-अधिमान सिद्धान्त त्याग की व्याख्या करता है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार यह त्याग प्रत्येक बचत में करना पड़ता है। समय-अधिमान के बिना त्याग न होगा और त्याग के बिना क्लासिकल अर्थशास्त्री पूँजी के पूर्ति-पक्ष की व्याख्या नहीं कर सकते। इस प्रकार बचत की क्लासिकल धारणा (जिस पर ब्याज निर्भर है) के मूल में समय-अधिमान सिद्धान्त ही है।

इन सिद्धान्तों में आपस में भी कोई विरोध नहीं है। परिवर्जन-सिद्धान्त का आधार वही है जो कि समय अधिमान या तरलता अधिमान सिद्धान्त का। वर्तमान समय में उपयोग परि-वर्जित करने में क्यों त्याग होता है ? इस त्याग का कारण यही है कि हम चाहते हैं कि हमें जो कुछ तृप्ति मिलती है, कल की अपेक्षा आज ही मिल जाय। दूसरे शब्दों में हमें भविष्य

की अपेक्षा वर्त्तमान अधिमान है। यदि वह अधिमान न होता तो हमें अपनी तृप्ति को भविष्य के लिए स्थगित करने में हिचकिचाहट ही क्यों होती ?

तरलता-अधिमान के पीछे भी समय का वही अधिमान होता है। जब कोई व्यक्ति कहता है कि वह अपने पास कुछ नकदी रखना चाहता है तो वह यही सोचता है कि तब वह बिना प्रतीक्षा किए हुए तत्काल ही अपनी इच्छाओं को सन्तुष्ट कर सकेगा। वह तरलता को केवल तरलता के लिए ही नहीं चाहता। वह तरलता को इसलिए चाहता है कि बिना प्रतीक्षा किए ही उसे शीघ्र तृप्ति मिल सके। प्रतीक्षा की अनिच्छा उस स्वाभाविक भावना के अतिरिक्त और क्या है कि भविष्य में प्राप्त तृप्ति से वर्तमान तृप्ति अधिक मान्य है।

अध्याय ४१

मज़दूरी

वास्तविक और द्राव्यिक मज़दूरी—मज़दूरी उत्पादन में श्रम साधन के उपयोग का मूल्य है। वह दो प्रकार की होती है, वास्तविक मज़दूरी और द्राव्यिक मज़दूरी। वास्तविक मज़दूरी में मज़दूर को मिली हुई कुल मानसिक तृप्ति सम्मिलित है जब कि द्राव्यिक मज़दूरी का तात्पर्य मज़दूर की द्रव्य-आय से है। एडम स्मिथ के शब्दों में "श्रम की वास्तविक मज़दूरी के अन्तर्गत हम श्रम की प्राप्त आवश्यकताओं तथा सुविधाओं की मात्रा रख सकते हैं, उसकी द्राव्यिक मज़दूरी उनका द्रव्य में माप है..........मज़दूर धनी है अथवा निर्धन, उसे अधिक प्रतिफल मिलता है या कम यह उसके श्रम के वास्तविक, द्राव्यिक नहीं, मूल्य के अनुपात पर निर्भर है।" यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि किसी मज़दूर की वास्तविक मज़दूरी के अन्तर्गत वे सुगमताएँ भी जो उसे मेहनत के बदले में नहीं दी जाती (जैसा शायद एडम स्मिथ का विचार है) वरन् उस काम को करने में स्वतः प्राप्त हो जाती हैं सम्मिलित करनी चाहिए।

वास्तविक मज़दूरी बहुत सी बातों पर निर्भर है। इनमें से पहली बात तो द्रव्य की क्रय शक्ति है जिस पर आवश्यकता की वस्तुओं और सुगमताओं की वे मात्राएँ निर्भर हैं जिन्हें मज़दूर खरीद सकता है। परन्तु यह क्रय-शक्ति निकालने के लिए मज़दूरों के बजटों में दी गई उपयोग की विभिन्न मदों पर भी ध्यान रखना चाहिए, द्रव्य की सामान्य क्रय-शक्ति समाज के ऊँचे वर्गों के उपभोग की मंदी के मूल्य में बहुत अधिक कमी होने से अधिक हो सकती है। इस दशा में यह कहना कि मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी भी उतनी ही बढ़ गई है स्पष्टतः गलत होगा क्योंकि मज़दूर की द्रव्य-आय से तो अब पहले जितना ही चना और जौ खरीदा जा सकेगा।

वास्तविक मज़दूरी के बारे में विचार करते समय एक दूसरी बात जो हमें ध्यान में रखना चाहिए वह मज़दूर का चालू व्यापारिक व्यय है। मार्शल के शब्दों में "वकील की कुल आय में से हमें उसके दफ्तर का किराया और मुहर्रिर का वेतन घटा देना चाहिए; बढ़ई की कुल आय में से उसके द्वारा औजारों पर हुआ खर्च घटा देना चाहिए" इत्यादि।

फिर हमें इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि कभी-कभी मज़दूर को नियोक्ता द्वारा दिये गये भोजन और घर से उनके मूल्य के अनुपात में तृप्ति नहीं मिलती। ऐसी दशा में नियोक्ता अपने विचार में मज़दूर को अधिक वास्तविक मज़दूरी दे रहा है जबकि मज़दूर की दृष्टि से उसे कम वास्तविक मज़दूरी मिलती है। यदि उसे द्रव्य में ही मज़दूरी दी जाती तो वह सस्ते भोजन और कम किराये के मकान से काम चला लेता। अपने खर्च में इस तरह कमी करके वह दूसरी वस्तुएँ खरीद सकता और अपनी कुल तृप्ति और अतएव वास्तविक मज़दूरी बढ़ा सकता था। हमें मज़दूर की दृष्टि से ही वास्तविक मज़दूरी का अनुमान लगाना चाहिए न कि नियोक्ता द्वारा उस पर किये गये वास्तविक व्यय से।

यह भी सम्भव है कि कोई नियोक्ता मज़दूर को १००० रु० मज़दूरी दे परन्तु वृत्ति-काल अनिश्चित और जोखिम से पूर्ण हो। यहाँ नियोक्ता मज़दूर को इतनी वास्तविक मज़दूरी नहीं

देता जितनी वह सोचता है। इसका कारण वही है जो ऊपर वाली स्थिति का है। सतर्क मनोवृति वाले मज़दूर को चाहे २०० रु० ही मज़दूरी मिलती है लेकिन यदि उसका काम नियमित या स्थायी है तो उसे उस स्थिति से कहीं अधिक वास्तविक मज़दूरी मिलगी जिसमें उसकी मज़दूरी तो १००० रु० हो लेकिन वृत्ति के नियमित होने का कोई आश्वासन नहीं है।

यदि उसका स्वभाव साहसी है तो सम्भव है दूसरी स्थिति में उसे अधिक वास्तविक मज़दूरी मिले। इस प्रकार वास्तविक मज़दूरी निकालने में मज़दूर के स्वभाव और वृत्ति के नियमित होने के सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक है।

प्रायः मज़दूर को अतिरिक्त अर्जन की आशा होने पर अपनी मज़दूरी से अधिक तृप्ति होती है। अतिरिक्त-अर्जन की आशा के अभाव में उसे अपनी मज़दूरी से उतनी तृप्ति नहीं मिलती जितनी पहली स्थिति में। इसी प्रकार यदि कोई मज़दूर ऐसा काम करता है जिसमें उसके परिवार के दूसरे सदस्यों को भी काम मिल सके तो उसकी मानसिक तृप्ति अधिक होगी और इसलिए उसकी वास्तविक मज़दूरी भी, जैसा दिखाई पड़ता है, उससे अधिक होगी। कृषि को छोड़ कर जहाँ मज़दूर के परिवार को भी काम मिल जाना अब भी सम्भव है, ऐसे कामों का क्षेत्र तेजी से कम होता जा रहा है।

वास्तविक मज़दूरी के निर्धारण में मज़दूर की काम करन की दशा भी महत्वपूर्ण है। मज़दूरों द्वारा काम की अधिक अच्छी दशाओं की प्राप्ति के लिए की गई हड़तालों में वृद्धि इन दशाओं के महत्त्व का पर्याप्त सबूत है। काम की दशाओं का तात्पर्य काम के भेंट, मज़दूर को नियोक्ता से प्राप्त मनोरंजन, शिक्षा और अन्य सुविधाओं से है। जब किसी मज़दूर को ऐसी फ़ैक्टरी में काम करना पड़ता है जिसमें रोशनी नहीं आती, और गर्मी तथा स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाली अन्य चीजें रहती हैं, तो उसकी तृप्ति अधिक मात्रा में कम हो जाती है। इस प्रकार काम की दशाएँ उसकी वास्तविक मज़दूरी के अनुमान को प्रभावित करती हैं।

स्पष्ट है कि वे सब बातें जिन पर हमें वास्तविक मज़दूरी निकालने के लिए विचार करना पड़ता है, मज़दूर के व्यक्तित्व से अवश्य ही सम्बन्धित हैं। अन्तिम विश्लेषण में उसका व्यक्तित्व ही उसकी मानसिक तृप्ति के निर्धारण को प्रभावित करता है। मानसिक तृप्ति वास्तविक मज़दूरी से सम्बन्धित है। और चूंकि विभिन्न व्यक्तियों के व्यक्तित्व भी विभिन्न होते हैं, इसलिए उनकी द्राव्यिक मज़दूरी में किसी असानता के बिना ही उनकी वास्तविक मज़दूरी बहुत विभिन्न हो सकती है।

एक ही व्यक्ति को दो वृत्ति-कालों में या दो स्थानों पर प्राप्त वास्तविक मज़दूरी की तुलना करना कठिन है। इसी प्रकार एक ही समय में एक ही स्थान पर काम करते हुए दो मज़दूरों की वास्तविक मज़दूरी की तुलना करना भी सरल नहीं है। परन्तु दूसरी स्थिति में जहाँ काम की वाह्य परिस्थितियाँ और द्रव्य की क्रय शक्ति लगभग समान ही रहती है, केवल व्यक्तित्व पर ही विचार करना पड़ता है जबकि पहली स्थिति में दोनों बातें ध्यान में रखनी होंगी। किसी व्यापार का आकर्षण मुख्यतः उनकी सफलता के लिए काम करने वालों की वास्तविक मज़दूरी पर निर्भर है। अतएव किसी विशेष व्यवसाय में श्रम की पूर्ति पर हुए प्रभावों को जानने के लिए हमें वास्तविक मज़दूरी को ही ध्यान में रखना होगा।

माँग और पूर्ति की शक्तियाँ जो किसी अन्य वस्तु की भाँति ही श्रम का मूल्य भी निर्धारित करती हैं, श्रम के विशेष लक्षणों से जो अन्य वस्तुओं में या तो बिलकुल ही नहीं पायी

जातीं या अस्पष्ट रूप में ही पाये जाते हैं, प्रभावित होती है। इन लक्षणों को श्रम की विशेषताएँ कहते हैं। मार्शल ने इस प्रकार की पाँच विशेषताएँ बताई हैं। पहली विशेषता यह है कि "मज़दूर अपना श्रम ही बेचता है; लेकिन स्वयं अपनी ही सम्पत्ति रहता है।" उन लोगों को जो मज़दूर के पालन-पोषण और उसकी शिक्षा का व्यय उठाते हैं उसकी सेवाओं के मूल्य का बहुत कम भाग ही मिल पाता है। घर बनाने में रुपया लगाने वाले व्यक्ति का उस घर पर अधिकार है परन्तु यदि कोई व्यक्ति अपने लड़के को तांत्रिक प्रशिक्षा देने में रुपया व्यय करता है तो उसे लड़के की पूरी आय नहीं मिलती। इस विशेषता का परिणाम यह है कि मज़दूरों की पूर्ति दूसरी बातों के साथ ही उनके माता-पिता तथा संरक्षकों की पूर्व दृष्टि और निस्वार्थ भावना पर निर्भर है।

श्रम की दूसरी विशेषता यह है कि "जब कोई व्यक्ति अपनी सेवाएँ बेचता है तो उसे स्वयं उस स्थान पर जहाँ सेवाएँ दी जाती हैं उपस्थित होना पड़ता है।" अतएव वह वातावरण जिसमें मज़दूर काम करता है, उसकी पूर्ति निर्धारण में महत्व का हो जाता है। इस विशेषता का दूसरा परिणाम गतिशीलता की कठिनाइयों के कारण मज़दूरों की पूर्ति और उनकी माँग के नियोजन में रूकावट पड़ जाना भी है।

तीसरी विशेषता, जो अन्य भौतिक वस्तुओं में भी पाई जाने के कारण पहली दो विशेषताओं से कम महत्वपूर्ण लगती है, निम्नलिखित सम्बन्धित बातों से उत्पन्न होती है। श्रम नाशमान होता है, उसके बेचने वाले अधिकांशतः निर्धन होते हैं और उनके पास कोई संचित निधि (Reserve fund) नहीं होती, और इस कारण वे घर पर बेकार नहीं बैठे रह सकते। यदि कोई मज़दूर आज काम नहीं करता तो उसे यह खोये हुए घंटे भविष्य में कभी नहीं मिलते और वह इन घंटों के श्रम को खो बैठता है। इसीलिए वह समय न खोने के लिए चिन्तित रहता है और प्रतीक्षा न करके कम मज़दूरी पर ही काम करने को तैयार हो जाता है। मोल-तौल की कमज़ोर शक्ति से उत्पन्न हुई कठिनाई का दूसरा कारण यह है कि मज़दूर के पास प्रायः असंचित निधियाँ जिन पर वह बेकारी के समय में रह सके, नहीं होती। मज़दूर की मोल-तौल करने की कठिनाई के दो परिणाम होते हैं; उसकी मज़दूरी कम हो जाती है और उसकी क्षमता पर भी प्रभाव पड़ता है। और ऐसा होने पर उसकी मोल-तौल की शक्ति और भी कम हो जाती है।

श्रम की चौथी विशेषता यह है कि मज़दूर को तैयार करने और काम सिखाने में पर्याप्त समय लगता है और जब वह काम सीख लेता है, तो उससे उपयोग से प्रत्याय धीरे-धीरे ही प्राप्त होती है। एडम स्मिथ एक मज़दूर की तुलना जिसकी प्रशिक्षा पर बहुत रुपया व्यय किया गया हो एक बहुत लागत वाली बड़ी मशीन से करते हैं। जिस प्रकार मशीन के उपयोग से उसके स्वामी को उस पर व्यय किये गये रुपये ही नहीं वरन् घिसाई और कुछ लाभ भी प्राप्त हो जाता है इसी प्रकार जब कोई मज़दूर काम करता है तो उसे अपनी प्रशिक्षा की प्रारम्भिक लागत और अतिरिक्त लाभ भी मिल जाता है। इस दृष्टि से मशीन और श्रम लगभग एक से ही प्रतीत होते हैं। परन्तु जैसा मार्शल ने बताया है, वह समय जिसमें अर्जन प्रसरित होता है, मशीन की अपेक्षी मज़दूरों की स्थिति में अधिक लम्बा होता है। अतएव श्रम की पूर्ति और उसकी माँग का नियोजन, मशीन की पूर्ति और उसकी माँग के नियोजन की अपेक्षा अधिक धीरे-धीरे और अपूर्ण ही होता है। इसीलिए सम्भव है कि लोग, उदाहरण के

लिये, क्लर्क होने की शिक्षा दस वर्ष तक लेते रहें और जब वे उस पद के लिए तैयार हो जायँ तो उनकी माँग बहुत मात्रा से कम हो जाय।

इन सब बातों का अभिप्राय केवल यह बताने का है कि श्रम की विशेषताएँ उसकी पूर्ति और माँग की समायोजना की सरलता या कठिनाई पर गहरा प्रभाव डालती हैं। यहाँ इस प्रकार का कोई भ्रम न होना चाहिए कि क्योंकि श्रम की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो उत्पादन के अन्य साधनों में नहीं पाई जातीं, इसीलिए उसके मूल्य का निर्धारण भी भिन्न प्रकार होता है।

मज़दूरी के पुराने सिद्धान्त—मज़दूरी के पुराने सिद्धान्त अंशतः अवैज्ञानिक होने के कारण गलत हैं परन्तु उनके गलत होने का कुछ अंश तक यह भी कारण है कि पहले के अर्थशास्त्रियों ने श्रम की विशेषताओं पर बहुत अधिक ध्यान दिया। उदाहरण के लिए कुछ अर्थशास्त्रियों ने कहा कि यदि मज़दूरों को अधिक मज़दूरी दी जायगी तो वे उच्छृंखल हो जायँगे और जन संख्या तब तक बढ़ती जायगी जब तक मज़दूरी जीवन-निर्वाह के स्तर के बराबर न रह जाय। इस प्रकार मज़दूरी को प्रत्येक स्थिति में न्यूनतम जीवन-निर्वाह के बराबर ही होना चाहिए। मूल्य-निर्धारण के लिए, हम पुनः कह सकते हैं कि अन्य स्थितियों की भाँति पूर्ति और माँग का सिद्धान्त यहाँ भी लागू होगा। परन्तु इस सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या आगे की जायगी। यहाँ हम अब तक दिये गए मज़दूरी के प्रमुख सिद्धान्तों को ही देखेंगे।

मदूज़री का "लौह" अथवा प्राकृतिक नियम—मज़दूरी का "लौह" (brazen) नियम जिसकी ओर हमने अभी-अभी संकेत किया था, इस विश्वास पर आधारित है कि मज़दूरी एक प्राकृतिक नियम द्वारा, जो उसे जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं के बराबर कर देता है, निर्धारित होती है। इस सिद्धान्त को सबसे पहले कृषिवादी अर्थशास्त्रियों ने प्रतिपादित किया था। इन अर्थशास्त्रियों ने फ्रान्स के मज़दूरों को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं पर रहता हुआ देखकर यह निष्कर्ष निकाला कि प्रकृति स्वयं ही मज़दूरी को जीवन-निर्वाह स्तर पर ला देती है। रिकार्डो ने यह कह कर कि यदि मज़दूरी जीवन-निर्वाह के इस न्यूनतम स्तर से अधिक होगी तो मज़दूरों के अधिक बच्चे होंगे, जन-संख्या बढ़ेगी और मज़दूरों की पूर्ति को बढ़ाकर मज़दूरी कम कर देगी, इसका समर्थन किया है। विपरीत दशा में मज़दूर जीवित न रह सकेंगे। उनकी पूर्ति कम हो जायगी और मज़दूरी बढ़ कर पुनः जीवन-निर्वाह स्तर के बराबर हो जायगी। रिकार्डो के इस कथन का यह अर्थ निकाला गया कि श्रम का खाद्य पदार्थ और आवश्यकता की वस्तुओं में निकाला हुआ मूल्य कदाचित पूर्णतः समान रहेगा और इस प्रकार हर समय मज़दूरी पूर्णतः स्थायी रहेगी। इसी कारण जर्मन अर्थ-शास्त्रियों ने इस सिद्धान्त को 'लौह नियम' का नाम दे दिया। मार्शल के अनुसार 'रिकार्डो यह तो जानता ही था कि कोई भी लौह नियम मज़दूरी की आवश्यक या प्राकृतिक सीमा नहीं निर्धारित करता और मज़दूरी स्थानीय दशाओं और प्रत्येक स्थान और समय में प्रचलित आदतों द्वारा निर्धारित होती हैं, वरन वह रहन-सहन के ऊँचे दर्जे के महत्व के प्रति भी पूर्णतः जागरूक था।

इस विवाद में न पड़ कर हम यह निश्चय ही कह सकते हैं कि यह मत कि मज़दूरी में न्यूनतम जीवन-निर्वाह के बराबर होने की प्रवृत्ति होती है पूर्णतः गलत है। ~~यह स्वपूर्ति~~ कि मज़दूरी में वृद्धि के साथ जन-संख्या का बढ़ना स्वाभाविक है (जिससे इस नियम को मज़-दूरी का प्राकृतिक नियम कहा जाता है) गत दो शताब्दी में हुई जन-संख्या की वृद्धि के इतिहास

के अनुसार गलत सिद्ध हो चुकी है। वस्तुतः प्रायः प्रतिकूल प्रवृति ही पाई जाती है। जब रहन-सहन का स्तर ऊँचा होता है तो विचारों में परिवर्तन और 'बच्चा और मोटर' में से प्रायः मोटर अधिक प्रिय होने के कारण जन-संख्या कम ही होती जाती है।

और फिर स्वयं श्रम की ही क्षमता का प्रश्न उठता है। यह मान लेना कि मजदूरी जीवन-निर्वाह स्तर से कभी-अधिक नहीं होगी, मजदूर की कार्य क्षमता को कुछ स्थान देने के बराबर है। यह निर्विवाद है कि यदि मजदूरी बहुत समय तक जीवन-निर्वाह स्तर पर रहे तो अधिकांश दशाओं में इस प्रकार की क्षमता नहीं रहेगी और इसलिए उस पर विचार करना आवश्यक नहीं है। परन्तु कम से कम कुछ स्थितियों में या तो मजदूरों के विशेष गुणों से या उनके दूसरों की अपेक्षा अधिक संलग्न और कार्यशील होने के कारण क्षमता का स्थान महत्त्वपूर्ण हो जाता है। कुछ आविष्कार ही उत्पादन में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर सकते हैं तथा कुल उत्पत्ति और मजदूरों के भाग को जो कुछ समय पहले जीवन-निर्वाह स्तर के बराबर ही था, कई गुना बढ़ा सकते हैं।

मजदूरी का प्राकृतिक नियम यह नहीं बता पाता कि संसार भर के मजदूरों की आय विभिन्न क्यों है ? वह यह भी नहीं बता पाता कि एक ही स्थान और समय पर काम करने वाले मजदूरों की आय क्यों विभिन्न है। समाज कितना ही पिछड़ा हुआ क्यों न हो, उसमें भी ऊँची मजदूरी वाले मजदूर होते ही हैं। यदि सभी मजदूरों को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की वस्तुएँ मिलती हैं, तो सभी की मजदूरी एक ही होनी चाहिए। परन्तु व्यवहार में यह नहीं होता। वहाँ मजदूरी किसी प्राकृतिक नियम की अपेक्षा परिस्थितियों से प्रभावित होती है।

प्राकृतिक नियम का प्रमुख दोष यह है कि वह उत्पादकता पर, जो मजदूरी की सही सिद्धान्त के अनुसार श्रम की माँग की नियंत्रक है और इसलिए श्रम का मूल्य निर्धारण करने वाली दो बातों में से एक है, विचार ही नहीं करता। यह नियम पूर्ति पक्ष पर ही विचार करता है और इसलिए एक पक्षीय है।

रहन-सहन स्तर सिद्धांन्त—ऊपर दी गई आलोचनाओं के कारण कुछ अर्थ-शास्त्रियों ने कहा है कि मजदूरी मजदूरों के रहन-सहन के स्तर से निर्धारित होती है। इस तरह निर्धारित मजदूरी न तो समान ही होगी और न मजदूरों की क्षमता से स्वतंत्र ही। इस सिद्धान्त के समर्थन में कहा जाता है कि जब मजदूरों को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से अधिक मजदूरी दी जाती है (यहाँ यह उपपत्ति मान ली गई है कि मजदूर के रहन-सहन का स्तर जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से इतना ऊँचा है कि वह अपनी और अपने परि-वार की शिक्षा इत्यादि के लिए भी कुछ रुपया निकाल सकता है) तो उनकी क्षमता बढ़ जाती है। इस प्रकार नियोक्ता द्वारा मजदूर को दिये गये अधिक प्रतिफल से उत्पादन कहीं अधिक हो सकता है। इस दिशा में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात मजदूर की बढ़ी हुई मोल-तौल करने की शक्ति है। जब मजदूरों को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से अधिक मिलता है तो सम्भव है कि वे अपने अर्जन का कुछ भाग बचा सकें। अपने अधिकार में इस निधि के कारण वे अपने नियोक्ता के विरुद्ध उस मजदूरी के लिए अधिक अच्छी तरह से लड़ सकते हैं जिससे वे अपने रहन-सहन के स्तर के अनुसार रह सकें।

इस बात पर मतभेद नहीं हो सकता कि रहन-सहन का स्तर श्रम की माँग और पूर्ति को कुछ न कुछ प्रभावित करता है। परन्तु यह प्रभाव अवश्य ही परोक्ष और दूर का है।

यदि यह प्रभाव प्रत्यक्ष ही होता, तो भी हम यह कह न पाते कि मज़दूरी रहन-सहन के स्तर द्वारा निर्धारित होती है। मज़दूरी श्रम की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। हम इतना ही कह सकते हैं कि श्रम की माँग और पूर्ति की दशाएँ उन मज़दूरों के रहन-सहन के स्तर से अनेक प्रकार से प्रभावित होती हैं।

यदि मज़दूरी रहन-सहन के स्तर द्वारा निर्धारित होती है तो उसे शीघ्र ही न बदलना चाहिए क्योंकि रहन-सहन का स्तर कुछ समय तक वही रहता है। परन्तु प्रायः देखा जाता है कि कुछ वर्षों के अल्प काल में ही एक व्यक्ति की मज़दूरी उसके रहन सहन के स्तर में बिना किसी परिवर्तन के ही बहुत अधिक घट-बढ़ जाती है।

इस कथन के साथ ही कि मज़दूरी रहन सहन के स्तर से निर्धारित होती है हम यह भी कह सकते हैं कि मज़दूरी मज़दूरों के रहन-सहन के स्तर को निर्धारित करती है। और यदि यह सच है तो सिद्धान्त जिसका अभी हमने विश्लेषण किया आंशिक रूप से ही सही है। वस्तुतः वह एक ऐसा प्रश्न उपस्थिति करता है जिसका उत्तर कठिन है—इन दो घटनाओं में से किसे कारण और किसे परिणाम समझा जाय ?

जे० एस० मिल और मज़दूरी-निधि—जान स्टुअर्ट मिल ने मज़दूरी की व्याख्या करते हुए कहा कि वह उस निधि पर निर्भर है जिसे नियोक्ता ने स्वेच्छा से मज़दूरों को देने के लिए अलग रख छोड़ी है। नियोक्ता या उत्पादकता स्वेच्छा से ही निर्णय कर लेता है कि वह अपनी बची हुई पूँजी का जिसे वह अपनी भूतकालीन आय (past incomes) में से बचाता है कितना भाग मज़दूरों पर व्यय करेगा। बची हुई पूँजी की यह मात्रा जो अलग रख ली जाती है मज़दूरी-निधि कहलाती है। और क्योंकि बचत में प्रायः धीरे-धीरे ही वृद्धि होती है, इसलिए नियोक्ता द्वारा एक बार निश्चित हो जाने पर मज़दूरी-निधि भी जो बचत में से ही बनाई जाती है लगभग समान ही रहती है। कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि मज़दूरी-निधि का अन्तिम निश्चय जीवन-निर्वाह मज़दूरी के सिद्धान्त पर किया जाता है और संस्थित मज़दूरी-निधि वह मात्रा होगी जिसे यदि मज़दूरों की संख्या से भाग दिया जाय तो प्रत्येक के हिस्से में आई हुई मज़दूरी उसे और उसके परिवार को केवल जीवित रखने के लिए ही पर्याप्त हो। और चूंकि मज़दूरी-निधि लगभग समान ही रहती है, इसलिए मज़दूरी जनसंख्या के विपरीत दिशा की ओर बदलेगी। यदि जनसंख्या बढ़ती है (और उसके साथ श्रम की पूर्ति भी बढ़ती है) तो, क्योंकि निधि समान ही रहती है, प्रति मज़दूर मज़दूरी कम हो जायगी। जनसंख्या के कम होने पर दशा विपरीत होगी।

इस प्रकार मज़दूरी एक ओर तो मज़दूरी-निधि की मात्रा और दूसरी ओर मज़दूरों की संख्या द्वारा निर्धारित होती है। परन्तु चूंकि मज़दूरी-निधि की मात्रा नियोक्ता की पूँजी की मात्रा पर और मज़दूरों की संख्या जनसंख्या पर निर्भर है, इसलिए मज़दूरी "जनसंख्या और पूँजी के अनुपात" द्वारा निर्धारित होती है। मिल के शब्दों में "यहाँ जन-संख्या का अर्थ मज़दूर वर्ग की संख्या या किराए पर काम करने वालों की संख्या है; और पूँजी का अर्थ है केवल चालू पूँजी और वह भी पूरी न होकर उसका वही भाग जो श्रम को प्रत्यक्ष खरीदने पर व्यय किया जाय।"

इस सिद्धान्त का तात्पर्य हुआ कि मज़दूर के काम का मूल्य उसकी मज़दूरी को प्रभावित नहीं करता। उसकी क्षमता, चाहे कुछ भी हो, उसकी मज़दूरी को किसी प्रकार प्रभावित नहीं

करेगी; कम से कम उसका प्रत्यक्ष प्रभाव कुछ न होगा। सम्भव है कि भूतकाल में कार्य कुशल श्रम नियोक्ता के लाभ को बढ़ा दे जिसका कुछ भाग चालू पूँजी के रूप में प्रयोग किया जाय और मज़दूरी-निधि बढ़ जाय। इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि मज़दूर की क्षमता मज़दूरी को प्रभावित करती है। मिल भी इसे स्वीकार करते हैं। परन्तु उनके विचार में यह प्रभाव इतने दूर का है कि हम इसे सरलता पूर्वक छोड़ सकते हैं। कोई भी व्यक्ति जो अर्थ के नवीन सिद्धान्त से परिचित है, यह नहीं सोच सकता कि मज़दूर की क्षमता का उसकी मज़दूरी पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त के कथन और उसकी व्याख्या में भ्रम है। उदाहरण के लिए मिल ने कहा है कि मज़दूरी श्रम की पूर्ति और माँग द्वारा निर्धारित होती है और स्वयं श्रम की माँग पूँजी की मात्रा पर निर्भर है। यहाँ पूछा जा सकता है कि एक बार मान लेने पर कि मज़दूरी-निधि लगभग समान ही रहती है, क्या पूँजी का भाग महत्वपूर्ण हो सकता है? ऐसी स्थिति में स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि मज़दूरी केवल श्रम की पूर्ति द्वारा ही निर्धारित होती है? वस्तुतः हम पूछ सकते हैं कि यदि दीर्घकाल में मज़दूरी न्यूनतम जीवन-निर्वाह के बराबर होनी चाहिए तो मज़दूरी-निधि से उसकी व्याख्या करने की क्या आवश्यकता है?

इस प्रकार यह सिद्धान्त भ्रम उत्पन्न करता है। यदि इसकी भद्दे और भौंड़े ढंग से व्याख्या की जाय तो यह सिद्धान्त बताता है कि मजदूरी पूँजी (श्रम की माँग) द्वारा ही निर्धारित होती है क्योंकि पूँजी द्वारा ही श्रम को प्रत्यक्षतः काम पर लगाया जा सकता है। भद्दे रूप में इस सिद्धान्त से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मज़दूरी श्रम की पूर्ति से निर्धारित होती है और जब न्यूनतम जीवन-निर्वाह की बात कही जाती है तब तो सिद्धान्त का अस्तित्व ही अनावश्यक लगने लगता है।

इसके अतिरिक्त पहले मज़दूरी-निधि बना लेना और फिर उससे प्रति-मज़दूर मज़दूरी निकालना अवैज्ञानिक है। हमें पहले प्रति मज़दूर को मिलने वाली मज़दूरी का पता लगा लेना चाहिए और बाद में मज़दूरी-निधि का।

कहा जा सकता है कि नियोक्ताओं में प्रतियोगिता होने के कारण प्रायः मज़दूरी बढ़ जाती है। मज़दूरी-निधि सिद्धान्त ऐसे परिवर्तनों की व्याख्या किस प्रकार करेगी? हर्ष की बात है कि स्वयं मिल ने बाद में मज़दूरी-निधि सिद्धान्त को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया था।

अवशिष्ट स्वत्व सिद्धान्त—प्रो० वाकर (Walker) मज़दूरी की व्याख्या दूसरे ढंग से करते हैं। वे कहते हैं कि उद्योग की उत्पत्ति को चार भागों में विभाजित करना चाहिये। यह चार भाग भाटक, ब्याज, लाभ और मज़दूरी होंगे। उनके अनुसार पहले तीन भाग उद्योग की उत्पत्ति से स्वतन्त्र आर्थिक कारणों द्वारा निश्चित होते हैं। अन्त में उत्पत्ति में श्रम का ही अवशिष्ट स्वत्व रह जाता है। यदि किसी खेत में वस्तु की ५० इकाइयाँ उत्पन्न होती हैं, और सीमान्त खेत की उपज २० इकाइयाँ है तो ३० इकाइयाँ भाटक के रूप में भूमिपति को मिलेंगी। यदि सीमान्त खेत की उपज ४० होती तो भाटक ३० के स्थान पर १० ही होता। इस प्रकार भाटक उत्पत्ति पर निर्भर नहीं है। ब्याज भी उत्पत्ति से स्वतंत्र है। ब्याज की दर "इतनी ऊँची होनी चाहिए कि वह धन के उत्पादकों को धन बचाने के लिए प्रेरित कर

सके ।" मान लीजिए बचत को प्रेरित करने के लिए ५ इकाइयाँ पर्याप्त हैं । अब केवल १५ इकाइयाँ ही रह गई जो साहसोद्यमी और मजदूर को दी जायँगी । वाकर के अनुसार लाभ भाटक की भाँति ही निर्धारित होता है । जैसे भाटक के निर्धारण में सीमान्त भूमि होती है वैसे ही लाभ के निर्धारण में सीमान्त साहसोद्यमी होता है । यदि सीमान्त साहसोद्यमी १० इकाइयों के उत्पादन में सहायक होता है , तो मजदूर के लिए (१५—१०) इकाइयाँ अर्थात् ५ इकाइयाँ शेष बच रहेंगी। हम कुल उत्पत्ति में से भूमि, पूँजी और साहसोद्यम के भागों का योग घटा देते हैं और जो कुछ शेष बचता है, वह श्रम को मिलता है । वाकर के अनुसार मजदूरी का निर्धारण इसी प्रकार होता है । अवशिष्ट स्वत्व सिद्धान्त भी गलत है । यदि लाभ सीमान्त साहसोद्यमी द्वारा निर्धारित हो सकता है तो मजदूरी भी इसी ढंग से क्यों नहीं निर्धारित हो सकती ? वाकर की व्याख्या में हम उनकी जैसी युक्तियों से ही कुल उत्पत्ति के किसी भी भाग को अवशिष्ट सिद्ध कर सकते हैं । हम कह सकते हैं कि पहले सीमान्त की सहायता से भाटक लाभ और मजदूरी का निर्धारण होना चाहिए और बाद में जो कुछ बचेगा, वह पूँजीपति को मिलेगा । यह बात प्रत्येक साधन के भाग पर लागू होती है।

इसके अतिरिक्त उनके इस कथन से कि भाटक लाभ और व्याज उत्पत्ति से स्वतन्त्र आर्थिक कारणों द्वारा निश्चित होते हैं, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उत्पत्ति के बढ़ जाने पर श्रम को छोड़ कर उत्पादन के अन्य साधनों के भाग लगभग समान ही रहेंगे ।

इस सिद्धान्त का प्रमुख दोष यह है कि यह मजदूरी निर्धारण में श्रम की पूर्ति के महत्वपूर्ण भाग पर बिल्कुल विचार नहीं करता और जहाँ तक यह सिद्धान्त श्रम की माँग पर उसकी उत्पादकता के प्रत्यक्ष प्रभाव को नहीं मानता, जैसा कि नवीन सिद्धान्त मानता है, वहाँ तक यह मजदूरी के निर्धारण में श्रम की माँग पर भी विचार नहीं करता ।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त—मजदूरी का एक अन्य सिद्धान्त सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त भी है । इसके अनुसार मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित होनी चाहिए और संस्थिति पर उसे उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होना चाहिए । स्पष्ट है कि सिद्धान्त बिल्कुल एक पक्षीय है क्योंकि उत्पादन करने से मजदूरों को जो त्याग करना पड़ता है उसे यह बिल्कुल महत्वपूर्ण नहीं समझता । और सिद्धान्तिक दृष्टि से भी हम इस सिद्धान्त से मजदूरी नहीं निकाल सकते । यदि हम इस सिद्धान्त के आधार पर रेखा चित्र में मजदूरी निकालें तो चूँकि रेखा चित्र मे एक ही वक्र (मजदूर की सीमांत उत्पादकता वक्र) ही होगा, हम यह नहीं जान सकते कि किस विन्दु पर रुक जाय । दूसरे शब्दों में यदि नियोक्ता सीमान्त उत्पादकता के ही बराबर मजदूरी दे तो भी वह यह नहीं जान सकता कि उसे कितने मजदूर काम पर लगाने चाहिए । इस प्रकार सम्भव है कि वह संस्थिति पर पहुँच ही न सके । यह कथन कि संस्थिति पर मजदूरी मजदूर की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है पूर्णतः सत्य है । परन्तु यह संस्थिति कैसे मालूम हो ? यहाँ यह सिद्धान्त निरुपाय हो जाता है ।

अपहरित सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त—टासिग (Taussig) ने मजदूरी की व्याख्या और भी दूसरे ढंग से की है । उनकी व्याख्या इस उपपत्ति पर आधारित है कि मजदूर को उत्पादन करने में समय लगता है । यदि ऐसा हो तो उत्पादक को उस वस्तु से , जिसके उत्पादन में मजदूर ने भाग लिया है, आय कुछ समय के बाद ही प्राप्त होगी। मजदूर को मज-

दूरी साधारणतः उसके बाद मिलनी चाहिए जब उत्पादन को मज़दूर द्वारा उत्पादित वस्तु से आय मिल चुकी हो। परन्तु मज़दूर को तो उसी समय मज़दूरी दे दी जाती है अन्यथा उसका जीवित रहना कठिन हो जायगा।

अतएव टासिग के अनुसार प्रचलित व्यवहार में नियोक्ता, जो पूँजीपति भी होता है, मज़दूर को अपनी पूँजी में से समय से पहले ही मज़दूरी दे देता है। यह अग्रिम मज़दूरी उस मज़दूरी के बराबर नहीं होती जो मज़दूर को, उदाहरण के लिए दो महीने की प्रतीक्षा करने के बाद, मिलती है। दोनों मज़दूरियों का अन्तर उस ब्याज की मात्रा के बराबर होगा जो पूँजीपति को मज़दूरी में दी रकम को उधार देने से मिलती। टासिग के अनुसार दो महीने बाद मज़दूरी माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होगी और यह मज़दूरी उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगी। चूंकि पूँजीपति पहले दिये हुए धन से यह ब्याज घटा लेता है इसलिए संस्थिति की दशाओं में यथार्थ मज़दूरी मज़दूर की सीमान्त उत्पादकता के बराबर नहीं होगी। वह सीमान्त उत्पादकता से उस मात्रा से कम होगी जो उस पर उपलब्ध ब्याज है। इस प्रकार मज़दूर को कम की हुई या अपहरित सीमान्त उत्पति ही मिलती है। अतएव संस्थिति पर मज़दूरी मज़दूर की अपहरित सीमान्त उत्पत्ति (discounted marginal product) के बराबर होती है।

यह व्याख्या जहाँ तक यह बताती है कि संस्थिति पर मज़दूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है, वहाँ तक बिल्कुल ठीक है। परन्तु जब वह उधार देने और उत्पत्ति को अपहरित करने की बात करने लगती है तब यह गलत हो जाती है। यदि कोई अपहार (बट्टा) किया जाता है या कोई अग्रिम दिया जाता है तो हम कहेंगे कि मज़दूर की मज़दूरी उसकी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर रहती है; वह अपनी मज़दूरी में से केवल कुछ ब्याज दे देता है जो नियोक्ता को, यदि वह उसे समय के पहले मज़दूरी न देता तो कहीं और से मिल सकता था। कारण यह है कि यदि राम अपनी ५००) की आय में से २००) किसी ऋण पर ब्याज दे देता है तो हम यह नहीं कहेंगे कि उसकी आमदनी केवल ३००) रु० ही है। यही बात मज़दूरों के बारे में भी है। मज़दूर के ब्याज देने का अर्थ यह नहीं कि उसकी मज़दूरी उसकी सीमान्त उत्पत्ति से कम है। टासिग इस अपहार की क्रिया की व्याख्या बेकार में ही करते हैं; उससे उत्पादन में मज़दूर के उचित भाग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

यह प्रक्रिया श्रम के अतिरिक्त अन्य सभी साधनों के सम्बन्ध में भी पाई जाती है। उदाहरण के लिए क्या साहसोद्यमी लाभ लेने के लिए दो महीने नहीं रुका रहेगा? क्या वह इस काल में भोजन नहीं करेगा और पूँजी नहीं उधार लेगा? क्या वह उसके बाद अपने लाभ में से पूँजीपति को ब्याज नहीं देगा? क्या मज़दूर की भाँति उसका लाभ भी स्थिति वश घट न जाएगा।

पूर्ति और माँग का नवीन सिद्धान्त—यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मज़दूरी श्रम का मूल्य होने के कारण ही अन्य मूल्यों की भाति ही माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है। संस्थिति पर मज़दूरी ऐसी होती है जो इन दोनों शक्तियों को एक दूसरे के बराबर कर सके। इस स्थिति में श्रम के खरीदने वाले को श्रम के लिए दिए गए मूल्य के बराबर फायदा होता है; श्रम के बेचने वाले अर्थात् मज़दूर को उसके त्याग को पूरा करने के लिए पर्याप्त प्रतिफल मिल जाता है। क्योंकि श्रम के खरीदने वाले को फायदा

श्रम की सीमान्त उत्पादकता से ही मिलता है, इसलिए वह इस सीमान्त उत्पादकता से अधिक मूल्य नहीं देगा। यदि वह सीमान्त उत्पादकता से अधिक मूल्य देता है तो वह सीमान्त मज़दूर को उसके द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है उससे अधिक मज़दूरी देगा। यह उसके हित के विरुद्ध होगा। वह ऐसे मज़दूरों को रखकर हानि उठाने की अपेक्षा उन्हें हटा देगा। जब वह उन्हें हटाता है तो दो प्रवृतियाँ काम करने लगती हैं एक ओर तो उसके द्वारा काम पर लगाए गए श्रमिकों की माँग घट जाती है और, पूर्ति समान रहने पर मज़दूरी कम होने लगती है। दूसरी ओर जब पहले से कम मज़दूर काम करते हैं तो सीमान्त उत्पादकता बढ़ने लगती है। इस प्रकार श्रम के मूल्य और उसकी सीमान्त उत्पादकता का अन्तर तब तक धीरे धीरे कम होता जाता है जब तक वे बराबर न हो जायँ और संस्थिति न स्थापित हो जाय। यदि मज़दूरी सीमान्त उत्पत्ति से कम हो तो नियोक्ता तब तक अधिकाधिक मज़दूर लगाता जायगा जब तक कि माँग में वृद्धि के कारण मज़दूरी बढ़ न जाय और अधिक मज़दूर काम पर लग जाने के सीमान्त उत्पत्ति कम न हो जाय और इस प्रकार वह अन्तर जिससे यह दो प्रवृत्तियाँ आरम्भ हुई थीं, पूरा होकर संस्थिति न स्थापित हो जाय। संस्थिति पर मज़दूरी श्रम की सीमांत उत्पादकता के ही बराबर होनी चाहिये; नियोक्ता को जो कुछ मिले वह उसे मज़दूरी के रूप में श्रम को दे देना चाहिए। परन्तु नियोक्ता को भौतिक उत्पति मिलती है और मज़दूर द्रव्य में मज़दूरी चाहता है। इसलिए नियोक्ता को यह भौतिक उत्पत्ति द्रव्य में परिवर्तित कर लेनी चाहिए और द्रव्य की मात्रा मज़दूर को दे देनी चाहिए।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि नियोक्ता मज़दूरी को द्रव्य में कैसे आँकता है। द्रव्याकन का सिद्धान्त इस बात को स्वीकार कर लेने पर आधारित है कि यदि सीमान्त पर सीमान्त उत्पत्ति **ख** के बराबर आय मिलती हो तो उत्पादक सीमान्त उत्पत्ति को एक* मान कर मज़दूर को **ख** रु० से अधिक मज़दूरी नहीं देगा। मज़दूर को सीमान्त उत्पादकता के सीमान्त आय से गुणा करके आंकी जाती है। यदि सीमान्त उत्पादकता एक है और सीमान्त आय **ख** है तो **ख** और १ का गुणनफल नियोक्ता द्वारा मज़दूर को दी गई मज़दूरी का द्रव्यांकन होगा। प्रश्न है कि उसे **ख** से अधिक मज़दूरी क्यों न देनी चाहिए ? यदि वह देता है तो स्पष्ट है कि उसे सीमान्त इकाई पर हानि होगी। सीमान्त इकाई से उसे ख आय ही मिलती है (इस कथन का कि सीमन्त आय अर्थात् सीमान्त इकाई को बेचने से मिली आय **ख** है, यही अर्थ है)। परन्तु यदि वह मज़दूर को **ख** से अधिक मज़दूरी देगा तो यह निश्चय ही उसके हित के विपरीत होगा। वह या तो मज़दूरी इतनी कम कर देगा कि वह सीमान्त इकाई से मिली आय, अर्थात **ख** के बराबर हो जाय या कुछ मज़दूरों को हटा देगा और तब तक हटाता रहेगा जब तक कि सीमान्त मज़दूर से उसे इतनी आय न मिले जितनी वह मज़दूरी दे रहा है। यदि मज़दूरी **ख** से कम है (अर्थात् सीमान्त आय और सीमान्त उत्पत्ति के गुणनफल से कम है) तो नियोक्ता को लाभ होगा। यहाँ सीमान्त मज़दूर से उसे **ख** आय मिलेगी जबकि वह उसे **ख** से कम मज़दूरी देगा। इसलिए जब तक यह लाभ बन्द नहीं हो जायगा, नियोक्ता की प्रवृत्ति अधिकाधिक मज़दूर लगाने की ही रहेगी। लाभ बन्द होने पर वह मज़दूर को उतनी ही मज़दूरी देगा जितनी उस मज़दूर की उत्पत्ति की सीमान्त इकाई से उसे आय के रूप में मिलेगी।

---

*यह उपपत्ति केवल सरलता के लिए ही है।

सीमान्त-आय उत्पत्ति और सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य में भेद—प्रश्न उठता है कि नियोक्ता को अपने मज़दूर को सीमान्त उत्पत्ति और मूल्य के गुणनफल के बराबर मज़दूरी क्यों न देनी चाहिए ? हम ऊपर देख चुके हैं कि मज़दूर को वही मज़दूरी देनी चाहिए जो सीमान्त उत्पत्ति ×सीमान्त आय के बराबर हो, अन्यथा नियोक्ता संस्थिति पर नहीं होगा। यदि उसे सीमान्त उत्पत्ति×मूल्य के बराबर मज़दूरी दी जाती है तो यह मज़दूरी सीमान्त उत्पत्ति ×सीमान्त आय के बराबर भी हो सकती है और कम या अधिक भी। यदि वह उस मात्रा से अधिक है तो नियोक्ता मज़दूर को ख से अधिक दे रहा है—यह वह संस्थिति की दृष्टि से नहीं करेगा। यदि वह उस मात्रा से कम है तो नियोक्ता मज़दूर को ख से कम मज़दूरी दे रहा है। वह यह भी नहीं करेगा। परन्तु यदि उत्पत्ति × मूल्य ख, जो हमारे उदाहरण में सीमान्त उत्पत्ति और सीमान्त आय का गुणनफल है, के बराबर है तो नियोक्ता मज़दूर को वह मात्रा देने के लिए फौरन तैयार हो जायगा क्योंकि यही मात्रा वह मात्रा है जो उसे मज़दूर को देनी चाहिये। इसके कारणों की व्याख्या हम ऊपर कर आये हैं। इस प्रकार कह हम सकते हैं कि नियोक्ता मज़दूर को सीमान्त आय ×मूल्य के बराबर मज़दूरी तभी तक देगा जब तक कि वह मात्रा सीमान्त उत्पत्ति ×सीमांत आय के बराबर रहे। जब दोनों में अन्तर होता है तो मज़दूरी सीमान्त उत्पत्ति ×सीमान्त आय के ही बराबर होगी, सीमान्त उत्पत्ति × मूल्य के बराबर नहीं। मज़दूरी के नवीन सिद्धान्त में सीमान्त-आय-उत्पत्ति और सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य इन मात्राओं के पारिभाषिक नाम हैं। सीमान्त-आय-उत्पत्ति (marginal revenue product) सीमान्त आय और सीमान्त उत्पत्ति के गुणनफल को कहते हैं और सीमान्त उत्पत्ति × मूल्य सीमांत उत्पत्ति का मूल्य (value of marginal product) है। प्रत्येक दशा में मज़दूरी सीमान्त-आय-उत्पत्ति के बराबर होनी चाहिए; वह कुछ स्थितियों में सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य के बराबर भी हो सकती है। परन्तु यह स्थितियाँ वही हैं जहाँ सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य सीमान्त आय उत्पत्ति के बराबर है।

अतएव जहाँ तक श्रम की माँग का प्रश्न है नियोक्ता की दृष्टि द्रव्यांकित सीमान्त उत्पादकता अथवा सीमान्त आय उत्पत्ति पर रहती है। उसका श्रम का माँग वक्र सीमान्त उत्पादकता या सीमान्त आय उत्पत्ति जो उसे संस्थिति में रहने के लिये मज़दूर को अनिवार्यतः देनी पड़ेगी, निरूपित किया जायगा। परन्तु केवल माँग वक्र के ज्ञान से वह यह निश्चित नहीं कर सकता कि उसे कितने मज़दूर रखना चाहिए। श्रम के बाजार में जहाँ वह खरीददार है विभिन्न मूल्यों पर श्रम की पूर्ति उपलब्ध होती है। सम्भव है यह मूल्य सर्वत्र एक ही हो। इन मूल्यों या मज़दूरियों की (जो उसे बाजार की दशाओं से विवश होकर मज़दूर को देना पड़ता है) श्रम की सीमान्त उत्पादकता या सीमान्त आय उत्पत्ति से तुलना करनी पड़ेगी। यदि सीमान्त आय उत्पत्ति बाजार के प्रचलित मज़दूरी के बराबर है तो वह अधिक मज़दूर लगाना बन्द कर देगा; यदि वह मज़दूरी से कम है तो वह तब तक अधिकाधिक मज़दूर लगाता जायगा (क्योंकि ऐसा करने में उसे लाभ होगा) जब तक सीमान्त आय उत्पत्ति मज़दूरी के बराबर न हो जाय। सीमान्त आय उत्पत्ति के मज़दूरी से अधिक होने पर स्थिति विपरीत होगी।

बाजारी अथवा औद्योगिक मज़दूरी को जिस पर श्रम की पूर्ति निर्भर है और जिस के अनुसार नियोक्ता अपनी श्रम की माँग नियोजित करता है, मज़दूर के त्याग का पर्याप्त प्रतिफल होना चाहिए। यदि यह त्याग बाज़ारी अथवा औद्योगिक मज़दूरी से अधिक है तो श्रम की पूर्ति तब तक कम होती जायगी जब तक मज़दूरी बढ़कर मज़दूर के त्याग का पर्याप्त प्रतिफल न हो

जाय। पूर्ति तब तक बढ़ती जायगी जब तक मज़दूरी कम होकर त्याग के बराबर न हो जाय। इस प्रकार सम्पूर्ण उद्योग की दृष्टि से, जिसका एक अंश उपर्युक्त उत्पादक है, मज़दूरी श्रम के सीमान्त त्याग के बराबर होनी चाहिए। एक ओर तो मज़दूरी वह प्रतिफल है जिसके अनुसार श्रम की पूर्ति इस प्रकार नियोजित हो जाती है कि संस्थिति पर मज़दूर का सीमान्त त्याग मज़दूरी के बराबर होता है। दूसरी ओर वह एक तल है जिसके अनुसार किसी एक उत्पादक या फर्म को अपनी श्रम की माँग इस प्रकार नियोजित करनी पड़ती है कि मज़दूरी उत्पादन में लगे हुए मज़दूरों की सीमान्त उत्पादकता या उनके सीमान्त आय उत्पत्ति से कम या अधिक न होकर बराबर ही हो। मान लीजिये यदि श्रम का सीमान्त त्याग **घ** है; औद्योगिक मज़दूरी **ग** और नियोक्ता की सीमान्त आय-उत्पत्ति **ख** है, तो पूर्ण संस्थिति तभी होगी जब **ख = ग = घ** हो। यदि **ख = ग** है परन्तु **घ, ग** से अधिक है तो **घ** भी **ख** से अधिक होगा अर्थात् श्रम का सीमान्त त्याग सीमान्त-आय-उत्पत्ति (जो मज़दूर को मज़दूरी के रूप में दे दी जाती है) से अधिक है और श्रम की पूर्ति कम होने लगेगी। यदि **ख = ग** है और **घ, ग** से कम है तो **ख, घ** से अधिक होगा, मज़दूर का सीमान्त त्याग मज़दूरी से कम होगा और उनकी पूर्ति बढ़ने लगेगी। यदि **ग = घ** है परन्तु **ख, ग** से अधिक है तो **ख, घ** से अधिक होगा, उत्पादक मज़दूर को उसके त्याग से अधिक मज़दूरी देगा और उसे ऐसा लगेगा कि उसका शोषण हो रहा है। यदि **ग = घ** है परन्तु **ख, ग** से कम है तो **ख, घ** से कम होगा, श्रम का सीमान्त त्याग अधिक होगा और नियोक्ता यह सोचकर कि वह श्रम से अब भी लाभ उठा सकता है, उसकी अधिक माँग करेगा। इस प्रकार इन सभी स्थितियों में श्रम की माँग और पूर्ति में घट-बढ़ के कारण संस्थिति कभी स्थिर न रह सकेगी। **ख = ग = घ** की दशा में ही माँग और पूर्ति में घटने बढ़ने की प्रवृति नहीं होगी और पूर्ण संस्थिति स्थापित हो सकेगी। **ख** दर पर नियोक्ता श्रम की जो मात्रा चाहेंगे उतने ही मज़दूर स्वयं काम करने के लिए इच्छुक होंगे। उतने मज़दूरों के काम करने से उन्हें अपने त्याग पर न तो हानि होगी और न लाभ ही। ऐसी दशा में नियोक्ताओं को भी कुछ हानि या लाभ न होगा। इस प्रकार नियोक्ता के लिए संस्थिति की मज़दूरी श्रम की पूर्ति और माँग, जो बाज़ार में प्रचिलित उद्योग-मज़दूरी की सहायता से एक दूसरे के अनुसार नियोजित हो जाती है, द्वारा ही निश्चित होती है।*

पूर्णतः स्पर्धी बाजार में मज़दूरी—यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि क्या यह आवश्यक है कि एक समय पर किसी उद्योग में एक ही औद्योगिक मज़दूरी प्रचलित हो? यह एक उचित प्रश्न है। उद्योग या बाजार में एक मज़दूरी तभी हो सकेगी जब वहाँ पूर्ण स्पर्धा हो और प्रत्येक नियोक्ता या उत्पादक जो श्रम खरीदता है, उस प्रकार के श्रम की मज़दूरी को प्रभावित न कर सके। यदि बाजार में पूर्ण या आंशिक एकाधिकार है तो मज़दूरी एक ही न रह सकेगी। यहाँ हम पहले यह देखेंगे कि उन बाजारों में जहाँ पूर्ण स्पर्धा की दशाओं के कारण एक ही मज़दूरी होती है, नियोक्ता संस्थिति पर पहुँचने के लिए अपनी श्रम की माँग को प्रचलित मज़दूरी के अनुसार किस तरह नियोजित करता है। उन बाजारों पर जहाँ

---

*यहाँ त्याग का तात्पर्य सीमान्त त्याग अर्थात् सीमान्त इकाई के त्याग से है। यह त्याग आरम्भिक इकाइयों के त्याग से अधिक होगा। अतः इन इकाइयों पर श्रम को अतिरेक या भाटक मिलेगा।

एकाधिकार पाया जाता है और इसलिए विभिन्न मज़दूरियाँ प्रचलित होती हैं, आगे विचार किया जायगा।

पहले हम यह मान लेते हैं कि नियोक्ताओं में स्पर्धा केवल श्रम को खरीदने के लिए ही नहीं वरन् उसकी सहायता से उत्पादित वस्तुओं को बेचने के लिए भी है। जब किसी वस्तु के बाज़ार में पूर्ण स्पर्धा होती है तो उस वस्तु का मूल्य

=सीमांत आय
=उस वस्तु की औसत उत्पादन लागत
=उसकी सीमान्त लागत के भी

हम ऊपर देख चुके हैं कि नियोक्ता को मज़दूर को उसकी सीमान्त उत्पादकता और सीमान्त आय के, जो नियोक्ता के वस्तु की (बाज़ार में) सीमान्त इकाई बेचने से मिलती है, गुणनफल के बराबर अर्थात् सीमान्त-आय-उत्पत्ति के बराबर मज़दूरी देना चाहिए। परन्तु इस विशेष स्थिति में, जिस पर हम विचार कर रहे हैं, मूल्य सीमान्त आय के बराबर है और इसलिए सीमान्त-आय-उत्पत्ति सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य के बराबर हो जाती है। अतएव हम कह सकते हैं कि जब वस्तु-बाज़ार में पूर्ण स्पर्धा होती है तो श्रम का नियोक्ता (जो उसी वस्तु का उत्पादक भी होता है) सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य को जिसमें वह अपनी श्रम की माँग भी निकालता है, मज़दूरी के रूप में दे सकता है। वह श्रम की माँग निकालने के लिए सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य को ही प्रचलित मज़दूरी के अनुसार नियोजित करता है।

श्रम के पूर्णतः स्पर्धी बाज़ार में किसी एक नियोक्ता का मज़दूरी पर कुछ नियंत्रण नहीं होता और उसे प्रचलित मज़दूरी पूर्व निश्चित माननी पड़ती है। ऐसी दशा में मज़दूरी को निरूपित करने वाला वक्र अनुभूमिक होना चाहिए। क्योंकि उस उद्योग में श्रम पूर्ति प्रचलित मज़दूरी पर निर्भर है इसलिए वह वक्र जो मज़दूरी का द्योतक है, श्रम की पूर्ति का भी द्योतक होगा। श्रम का यह (स्थिर) मज़दूरी वक्र या पूर्ति वक्र उठता गिरता वक्र नहीं हो सकता अन्यथा उसका तात्पर्य होगा कि एक नियोक्ता मज़दूरी को घटा-बढ़ा सकता है। पूर्ण स्पर्धा में किसी एक नियोक्ता की ओर से ऐसी कोई घट-बढ़ नहीं होती। अतः श्रम की पूर्ति वक्र को अनुभूमिक सरल रेखा होना ही पड़ेगा। श्रम का माँग वक्र भी गिरता हुआ ही होना चाहिए क्योंकि तभी वह इस बात का द्योतक हो सकता है कि सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य या सीमान्त-आय-उत्पत्ति से मज़दूरी कम होने पर श्रम की माँग अधिक होगी और विपरीत दशा में परिणाम उल्टा होगा इस प्रकार श्रम के माँग और पूर्ति वक्र निर्धारित कर लेने के बाद नियोक्ता इन दोनों के एक दूसरे के काटने के बिन्दु पर संस्थिति में होगा क्योंकि वहीं श्रम की माँग और पूर्ति बराबर होंगे। यहाँ सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य बाजारी अथवा औद्योगिक मज़दूरी-दर के बराबर होगा। किसी अन्य स्थिति पर दोनों में अन्तर होगा और इसलिए संस्थिति न हो सकेगी।
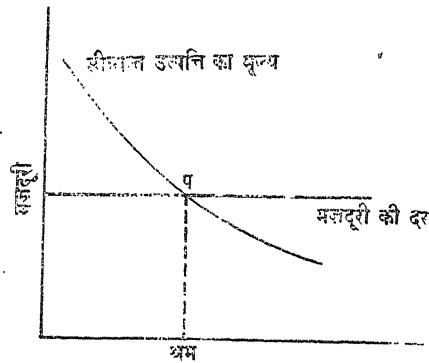
अपूर्ण स्पर्धा में मज़दूरी—यदि नियोक्ता की वस्तु अपूर्ण स्पर्धा की दशाओं में बेची जाती है, तो सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य वस्तु के मूल्य और उससे प्राप्त सीमान्त आय के अन्तर के कारण सीमान्त-आय-उत्पत्ति से भिन्न होगा ।

ऐसी स्थिति में नियोक्ता का माँग वक्र सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य का द्योतक न होकर सीमान्त-आय-उत्पत्ति का द्योतक होगा । परन्तु माँग वक्र पहले की तरह ही गिरता हुआ होगा । और यदि हम अब भी यह उपपत्ति मान लें कि श्रम बाज़ार में पूर्ण स्पर्धा है तो पूर्ति वक्र के आधार में भी कुछ परिवर्तन नहीं होगा । संस्थिति पहले की भाँति ही माँग और पूर्ति वक्रों के मिलन बिन्दु पर निर्धारित होगी ।

प्रायः उत्पादक, जो वस्तु-बाज़ार में एकाधिकारी है, श्रम-बाजार में भी एकाधिकारी होता है । श्रम का नियोक्ता बाज़ार की मज़दूरी को वैसे ही प्रभावित कर सकता है जैसे अपनी वस्तु के मूल्य को । पहले के स्थितियों में हमने मान लिया था कि वह मज़दूरी नहीं बदल सकता; अब हम उन दशाओं पर विचार करेंगे जहाँ वह मज़दूरी बदल सकता है ।
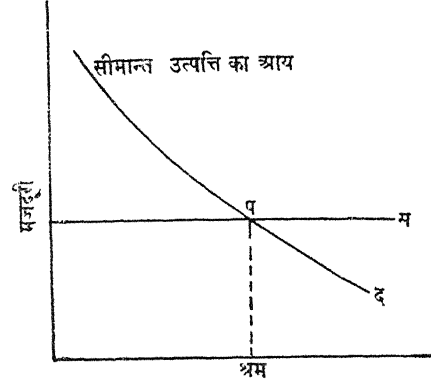
एसी स्थितियों में निम्न दो सम्भावनाओं में से एक हो सकती है (१) उत्पादक या नियोक्ता पूर्ण एकाधिकारी हो और उद्योग के सभी फर्मों पर उसका नियंत्रण हो और इसलिए श्रम के खरीदने में किसी प्रतियोगी का प्रश्न ही न उठता हो । ऐसी दशा में वह किसी भी तरह मज़दूरी को प्रभावित कर सकता है । मज़दूरों का शोषण होने पर भी वे दूसरे नियोक्ताओं के पास नहीं जा सकते क्योंकि दूसरे नियोक्ता हैं ही नहीं । (२) उत्पादक या नियोक्ता का मज़दूरी पर ऐसा आंशिक नियंत्रण हो कि एक सीमा के बाद शोषण के दबाव के कारण मज़दूर उसके प्रतियोगियों के पास चले जायँ । यहाँ हम इस दूसरी सम्भावना पर—जब श्रम बाजार में आंशिक एकाधिकार होता है—पहले विचार करेंगे । वस्तु-बाज़ार में हम पूर्ण स्पर्धा मान लेते हैं (यद्यपि व्यवहार में प्रायः अपूर्ण स्पर्धा ही होती है) और इसलिए नियोक्ता का माँग वक्र सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य निरुपित करता है ।

अपूर्ण स्पर्धा के कारण बाज़ार में स्थिर मज़दूरी न होने से श्रम का पूर्ति वक्र अनुभूमिक नहीं होगा । वह टेढ़ा और आरम्भ से ही उठता हुआ होगा । पूर्ति वक्र गिरता हुआ नहीं हो सकता क्योंकि ऐसे वक्र का यह अर्थ होगा कि मज़दूरी में प्रत्येक बार कमी करने से मज़दूर अधिकाधिक संख्या में काम करने को तत्पर हैं । अतः श्रम का पूर्ति वक्र अनिवार्यतः उठता हुआ होगा । इस प्रकार माँग और पूर्ति वक्र मालूम कर लेने के पश्चात नियोक्ता दोनों के मिलन बिन्दु पर संस्थिति पर होगा । यहाँ श्रम की पूर्ति उसकी माँग के बराबर होगी ।

यदि वस्तु-बाजार में अपूर्ण स्पर्धा है और पहले की तरह श्रम बाजार भी अपूर्ण रहता है तो रेखाचित्र में माँग वक्र सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य के स्थान पर सीमान्त-आय-उत्पत्ति निरुपित करने लगेगा । इसके अतिरिक्त रेखा चित्र में कोई परिवर्तन न होगा ।

रेखा चित्र में जो श्रम बाजार में अपूर्ण स्पर्धा की दशा में संस्थिति निरूपित करता है **प न** वह मज़दूरी है जो **क न** मज़दूरों को दी जायगी। **प** से नीचे की ओर सभी मज़दूर **प न** से कम मज़दूरी पाने के अधिकारी हैं। चित्र में स्पष्ट है कि श्रम की **म** इकाई **प₁ म** मज़दूरी पर ही मिल सकती थी। परन्तु क्योंकि मज़दूरी **प₁ म** के स्थान पर **प न** है इसलिए **म** इकाई के मज़दूर को (**प न—प₁ म**) अतिरेक मिलता है; इसी प्रकार **भ** इकाई पर भी श्रम को अतिरेक मिलता है; वस्तुतः **भ** इकाई का अतिरेक **म** इकाई के अतिरेक से अधिक है क्योंकि वह अपेक्षाकृत कम मज़दूरी पर मिल सकती थी। **न** इकाई को कुछ भी अतिरेक नहीं मिलता क्योंकि उसे उतनी ही मज़दूरी मिलती है जितनी पर वह काम करने के लिए मिल सकती है। **न** के अतिरिक्त सभी इकाइयों को अतिरेक मिलता है और जब तक सभी इकाइयों को एक ही मज़दूरी दी जायगी, स्पष्ट है कि यह अतिरेक मिलता ही रहेगा। हमारे उदाहरण में नियोक्ता आंशिक एकाधिकारी ही है और इसलिये वह मज़दूरों को यह अतिरेक पाने से नहीं रोक सकता। यदि नियोक्ता पूर्ण एकाधिकारी होते तो वह प्रत्येक मज़दूर को उतना ही देता जिस पर वह काम करन के लिए तैयार हो जाते।
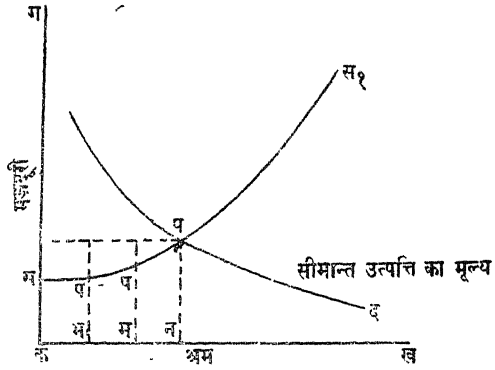
पूर्ण एकाधिकार में मज़दूरी—इस प्रकार हम ऊपर दी गई पहली सम्भावना पर जहाँ नियोक्ता पूर्णतः मज़दूरी प्रभावित कर सकता है, आते हैं। मज़दूरों को वही मज़दूरी स्वीकार करनी पड़ेगी जो नियोक्ता उन्हें देगा। परन्तु यह मज़दूरी दूसरे उद्योगों की मज़दूरी से या मज़दूरों की क्षमता को बनाए रखने के लिए न्यूनतम बिल्कुल आवश्यक मज़दूरी से कम न होनी चाहिए। इन सीमाओं के अन्दर एकाधिकारी श्रम का जितना चाहे उतना शोषण कर सकता है। जैसे जैस उसकी एकाधिकारी शक्ति पूर्ण होती जाती है, वैसे ही वह श्रम की प्रत्येक इकाई को अतिरेक जो पहिली स्थिति में उसे मिलता नहीं लेने देगा। जब एकाधिकारी शक्ति पूर्ण हो जाती है तो श्रम की प्रत्येक इकाई को उतना ही मिलता है जितना उसे काम करने की प्रेरणा देने के लिए पर्याप्त हो—उसे या तो न्यूनतम जीवन-निर्वाह के बराबर मज़दूरी मिलेगी या किसी दूसरे उद्योग में काम करने से प्राप्त मज़दूरी के बराबर।

अतएव श्रम बाजार में पूर्ण एकाधिकार की स्थिति में एक ही नियोक्ता एक ही समय पर श्रम की विभिन्न इकाइयों को इस तरह विभिन्न मज़दूरी देगा कि किसी इकाई को कुशल जीवन-निर्वाह के न्यूनतम या दूसरे उद्योगों में जाने से प्राप्त अवसर-आय से अतिरेक न मिल सके। परन्तु इस बात का अर्थ यह नहीं है कि श्रम की किसी भी इकाई को सीमान्त-आय-उत्पत्ति के बराबर मज़दूरी नहीं मिलेगी। सीमान्त-आय-उत्पत्ति तो होगी ही और वह एकाधिकारी की उच्चतम सीमा, जहाँ तक वह जा सकता, निर्धारित करेगी। एकाधिकारी उन सभी मज़दूरों को जो इस सीमान्त-आय-उत्पत्ति से अधिक मज़दूरी चाहते हैं नहीं लगायेगा (क्योंकि केवल अधिक मज़दूरी ही उनकी क्षमता को बनाए रखेगी या उन्हें दूसरे उद्योगों

में जाने से रोकेगी)। इस प्रकार पहले की भाँति यहाँ भी श्रम की कुल-पूर्ति की सीमा उसी विन्दु द्वारा निर्धारित होती है जहाँ एक निश्चित मज़दूरी पर जो सीमान्त-आय-उत्पत्ति के बराबर है, श्रम की माँग और पूर्ति बराबर हों। इस स्थिति के आगे श्रम की पूर्ति नहीं मिलेगी और इसलिए संस्थिति भी नहीं होगी। पूर्ण एकाधिकार की इस दशा और अपूर्ण और पूर्ण स्पर्धा की दशाओं में अन्तर यही है कि जब आंशिक एकाधिकार और पूर्ण स्पर्द्धा में श्रम को एक ही अधिकतम मज़दूरी मिलेगी जो सीमान्त-आय-उत्पत्ति के बराबर होगी, पूर्ण एकाधिकार में सीमान्त अथवा अन्तिम मजदूर को ही सीमान्त-आय-उत्पत्ति के बराबर मज़दूरी मिलेगी और पहले के मज़दूरों को कम। पहले के मजदूरों की यह मज़दूरी उनके न्यूनतम जीवन-निर्वाह या न्यूनतम अवसर आय पर निर्भर है। परन्तु अधिकतम मज़दूरी प्रत्येक स्थिति में सीमान्त-आय-उत्पत्ति के अनिवार्यतः बराबर होनी चाहिए।

उचित मज़दूरी की समस्या

हम देख चुके हैं कि संस्थिति पर पहुँचने के लिए श्रम-बाज़ार में कितनी मज़दूरी दी जा सकती है और कितनी दी जायगी। सभी स्थितियों से यही निष्कर्ष निकलता है कि संस्थिति मज़दूरी या तो सीमान्त उत्पादकता के मूल्य के बराबर होती है या उसके किसी अन्य अनुपात के। परन्तु यह प्रश्न अब भी रह जाता है कि संस्थिति मज़दूरी उचित मज़दूरी भी है या नहीं। यह वस्तुतः उचित मूल्य के विस्तृत विषय से ही उत्पन्न होने वाली समस्या है। इधर इस प्रश्न के पूँछने की आवश्यकता पर कुछ मतभेद हो गया है। बहुत से अर्थशास्त्रियों ने अनेक बार कहा है कि अर्थशास्त्र औचित्य और अनौचित्य जैसे नैतिक प्रश्नों से सम्बन्धित नहीं है। परन्तु यह मतभद होने पर भी इस प्रश्न को छोड़ना उचित न होगा, चाहे हम उस पर बहुत ही प्रारम्भिक और सरसरी दृष्टि से विचार करें।

जे० बी० क्लार्क के अनुसार श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर संस्थिति मज़दूरी उचित मज़दूरी भी है। यहाँ मज़दूर को ठीक उतना ही मिलता है जितना उसकी सहायता से उत्पादित किया जाता है। यहाँ शोषण नहीं होता। जे० बी० क्लार्क की आर्थिक औचित्य की धारणा इस सिद्धान्त पर कि प्रत्येक को उतना ही प्रतिफल मिले जितना उत्पादन में उसका योग है, आधारित मालूम होती है।

परन्तु फिर भी यह वह आर्थिक औचित्य नहीं है जो हमारे मस्तिष्क में प्रायः रहन सहन के ऊँचे स्तर धन के समान वितरण आदि पर विचार करते समय रहता है। साधारण व्यक्ति के लिए आर्थिक औचित्य की धारणा जे० बी० क्लार्क के धारणा से कहीं गहरी और आदर्शवादी है। यह कुछ भी उत्पादन न करने वालों को भी प्रतिफल देने की बात करती है। एकसा ही काम करने वाले छोटे या बड़े परिवार के मज़दूर को एक ही मज़दूरी देने की अपेक्षा दूसरे को पारिवारिक भृति देना आर्थिक औचित्य का प्रायः अधिक अच्छा प्रमाण समझा जाता है। यही बात वृद्धावस्था में पेन्शन और युद्ध में अपंग हुए सैनिकों की भृति के बारे में भी लागू होती है।

यदि हम आर्थिक औचित्य की यह धारणा स्वीकार करें तो क्लार्क के कथन की संस्थिति मज़दूरी उचित मज़दूरी भी है इस पर सरलतापूर्वक सन्देह किया जा सकता है। उसके अनुसार तो परिवार के लिए भृति या सैनिकों को अपंगता के लिए कुछ भी देने का कोई कारण नहीं हो सकता। कम प्रतिफल पाने वालों का प्रतिफल बढ़ाने का जिससे वे रहन-सहन के ऊँचे स्तर से रह सकें, प्रश्न ही नहीं उठता। एक सुस्त, अकुशल और बेईमान मज़दूर को जो कम काम करने

और इसलिए कम उत्पादन करने के कारण कम मज़दूरी ही पाता है, अधिक मज़दूरी नहीं हो जायगी और इसलिए अच्छे रहन सहन, अधिक क्षमता की प्रेरणा नहीं होगी और इसलिए अधिक प्रतिफल द्वारा अधिक उत्पादन भी नहीं होगा। आर्थिक औचित्य की प्रचलित धारणा की दृष्टि से संस्थित मज़दूरी अनिवार्यतः उचित मज़दूरी नहीं होगी। वह उचित मज़दूरी तभी होगी जब उससे मज़दूर के लिए समाज के अन्य वर्गों की भाँति ही क्षमता वाला और अच्छा जीवन सम्भव हो सके। जे० बी० क्लार्क की धारणा में ऐसी कोई शर्त नहीं है। उनके अनुसार जब तक मज़दूर को, या उत्पादन के किसी अन्य साधन को उतना प्रतिफल मिलता है जितनी उसने उत्पादन में सहायता प्रदान की है तब तक वह आर्थिक औचित्य से मान्य है—उनका प्रतिफल उचित प्रतिफल है। वे कहते हैं कि संस्थिति में यही होता है; मज़दूर को मज़दूरी के रूप में वही प्रतिफल मिल जाता है जिसके उत्पादन में उसने सहायता दी है।

हम यहाँ उत्पादन के साधनों की उत्पादकता के ठीक-ठीक अर्थ पर विचार कर सकते हैं। हम मानते हैं कि श्रम को उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर मज़दूरी मिलती है। सीमान्त उत्पादकता को हम एक मज़दूर कम करने से उत्पत्ति में हुई कमी द्वारा मापते हैं। और क्योंकि किसी भी समान क्षमता के मज़दूर को काम से हटा देने से उत्पत्ति में बराबर ही कमी होगी इसलिए हम मानते हैं कि मज़दूरी इस प्रकार निकाली गई सीमान्त उत्पादकता के बराबर ही होना चाहिए। ध्यान रहे कि यह मात्रा उत्पादन में श्रम का स्वतंत्र और विशेष देन नहीं है। कोई भी व्यक्ति उत्पादन के दूसरे साधनों के सहयोग के बिना कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकता। अन्तिम मज़दूर को काम पर लगाने से हुई उत्पत्ति में वृद्धि भी उत्पादन के सभी साधनों की संयुक्त उत्पत्ति है। यदि आप किसी वस्तु के उत्पादन में लगे हुए मज़दूरों की संख्या में एक मज़दूर और जोड़ दें तो उसे उत्पादन के अन्य साधनों का सहयोग मिलेगा और उत्पत्ति में वृद्धि, जिसका कारण हम केवल वही मज़दूर मानते हैं, सभी साधनों के संयुक्त कार्य का फल होगा। इस प्रकार अतिरिक्त उत्पत्ति के कुछ भाग का कारण अन्य साधनों के प्रयत्न भी हैं। परन्तु फिर भी एक अर्थ में हम सीमान्त उत्पत्ति को सीमान्त मज़दूर द्वारा ही उत्पादित मान सकते हैं। यदि वह इस अतिरिक्त उत्पत्ति का एक मात्र उत्पादक नहीं है तो कम से कम वह निश्चय ही इस वृद्धि के लिए जिम्मेदार है। उसकी उपस्थिति ही वृद्धि में हुई सीमान्त वृद्धि का एक मात्र कारण है। उसकी उपस्थिति से ही अन्य साधन सहयोग देते हैं। हम इसी अर्थ में कहते हैं कि श्रम की सीमान्त उत्पादकता निर्धारित की जा सकती है और उसकी मज़दूरी उसके अनुसार नियोजित की जा सकती है।

प्रश्न है कि यदि मज़दूरों को वही दिया जाय जो वे उत्पादित करते हैं तो क्या यह कहा जा सकता है कि उन्हें उचित मज़दूरी मिल रही है?

एक अर्थ में हम ऐसा कह सकते हैं। कम से कम उन दशाओं अथवा उप्पत्तियों में, जिनमें संस्थिति मज़दूरी निकाली जा सकती है, वह अनिवार्यतः आदर्श मज़दूरी है। और क्योंकि प्रत्येक आदर्श ठीक होता है इसलिए संस्थित मज़दूरी ठीक प्रतिफल है। और क्योंकि प्रत्येक ठीक प्रतिफल किसी न किसी अर्थ में उचित प्रतिफल होता ही है, इसलिए संस्थित मज़दूरी उचित मज़दूरी भी होगी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संस्थिति में जब मज़दूर को सीमान्त उत्पति या उसके किसी अन्य अनुपात के बराबर प्रतिफल मिलता है, उसे मिले हुए प्रतिफल को पूर्णतः 'अनुचित' नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत व्याख्या के बाद में क्या होगा, यह इस पुस्तक के क्षेत्र के परे है।

अध्याय ४२

भाटक

भाटक (Rent)*की सबसे अच्छी व्याख्या यह हो सकती है कि वह उत्पत्ति का वह भाग है जो भूमिपति को मिलता है। हम देख चुके हैं कि किसी वस्तु के उत्पादन या सेवा करने में बहुत से साधनों को एक साथ काम करना पड़ता है। अतएव प्रत्येक साधन उत्पादित अर्घ में से कुछ भाग पर दावा करता है। उत्पत्ति का वह भाग जिस पर भूमिपति दावा करता है भाटक कहलाता है।

यहाँ हमारे सामने दो कठिनाइयाँ आती हैं। पहले तो हमें 'भूमि' शब्द की परिभाषा करनी होगी और दूसरे हमें देखना होगा कि इस प्रकार परिभाषित 'भूमि' किस अर्थ में, यदि किसी भी अर्थ में सम्भव हो, उत्पादन का साधन हो सकती है। पहले हम पहली समस्या पर विचार करेंगे।

अर्थशास्त्र में उपयोग किये गये अन्य शब्दों की भाँति, 'भूमि' शब्द भी जनपद से लिया गया है। साधारण व्यक्ति के लिये 'भूमि' का अर्थ ज़मीन या मिट्टी है। परन्तु रिकार्डो के समय से ही अर्थशास्त्री इस शब्द का प्रयोग धन के उत्पादन में सहायक सभी प्राकृतिक साधनों के लिये करते आये हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्री के लिए भूमि शब्द के अन्तर्गत मिट्टी, जल, सूर्य का प्रकाश और गर्मी इत्यादि सभी शामिल हैं। रिकार्डो ने भाटक की परिभाषा करते हुए कहा है कि वह मिट्टी की स्थायी और अनश्वर शक्तियों का प्रतिफल है। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि उनके लिए भूमि का ठीक अर्थ मिट्टी की स्थायी और अनश्वर शक्तियाँ थीं। और चूंकि मिट्टी के गुण तापक्रम, प्रकाश और पानी इत्यादि पर निर्भर हैं, इसलिए हम 'भूमि' की परिभाषा में यह सब भी सम्मिलित मान सकते हैं।

रिकार्डो के बाद के मार्शल और अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी 'भूमि' शब्द का अर्थ उत्पादन में सहायक सभी प्राकृतिक साधन ही माना है। अतः भूमि को प्रायः 'प्रकृति के निःशुल्क देन' कहा जाता है। भूमि के इस विवरण से उसकी और पूँजी की तुलना का प्रश्न उठता है। दोनों ही उत्पादन में सहायक होते हैं: परन्तु जब कि पूँजी मनुष्य निर्मित साधन है, भूमि प्राकृतिक है। मनुष्य निर्मित सभी वस्तुएँ नश्वर होने कारण पूँजी भी नश्वर है। परन्तु भूमि नश्वर नहीं है। वह एक मौलिक, स्थायी और अनश्वर साधन है।

भाटक कुल उत्पति का वह भाग है जिस पर ऐसे मौलिक और अनश्वर साधन देने वाले व्यक्ति का दावा है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों को भी ज्ञात था कि ठीक अर्थ में भूमि का कोई भाग न तो मौलिक है और न उसकी उर्वरता ही अनश्वर है। ज़मीन के पहले या प्रयोग काल में मनुष्य उसके भौतिक और रासायनिक गुणों को हमेशा बदल देता है। इस प्रकार ज़मीन जिसका वह प्रयोग करता है पूर्णतया मौलिक नहीं होती। इसी कारण से उसकी उर्वरता भी

---

*अन्य पुस्तकों में Rent शब्द को 'लगान' कहा गया है। परन्तु 'लगान' शब्द का अर्थ उस निधि से है जो भूमि जोतने के बदले में काश्तकार जमींदार को देते हैं। क्योंकि पाठकों को यह भ्रम न हो कि Rent भूमि से ही विशेषतः सम्बन्धित है, इसी कारण हमने एक कम प्रचलित परन्तु अधिक उचित शब्द 'भाटक' का प्रयोग किया है।

पूर्णतया अनश्वर नहीं होती। अतएव रिकार्डो तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने कहा है कि भूमि-पति को मिले हुए सम्पूर्ण भाग को भाटक नहीं कहना चाहिए। उसका कुछ भाग ब्याज है। यह भाग वह है जो भूमि को अधिक उपयुक्त बनाने के लिए उसके द्वारा लगायी गई पूँजी का प्रतिफल है। दूसरे शब्दों में क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार तथाकथित भूमि का भाग पूर्णतया भूमि नहीं है। उसके उसी भाग को ही जो मौलिक और अनश्वर हो, भूमि समझना चाहिए। यह कहना कठिन है कि किसी भूमि का कितना भाग ठीक आर्थिक अर्थ में 'भूमि' है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह अंशतः भूमि है और अंशतः नहीं। यदि भूमिपति उत्पत्ति में से अपने भाग के २० प्रतिशत को अपने पूँजी पर ब्याज मानता है तो कहा जा सकता है कि भूमि का टुकड़ा आर्थिक अर्थ में ८० प्रतिशत ही भूमि है।

इस प्रकार भाटक वह है जो प्राकृतिक, मौलिक और अनश्वर साधक को मिलता है। यदि भाटक उत्पत्ति का वह भाग है जो ऐसे मौलिक साधन के स्वामी को मिलता है तो यह उसके त्याग का प्रतिफल नही माना जा सकता। जो मौलिक है और किसी भी अर्थ में आय के द्वारा नहीं निर्मित हुआ है, उसमें कुछ भी त्याग नहीं होता। यदि आपने किसी खेत को ठीक करने में कुछ समय और शक्ति लगाई है, अर्थात् कुछ समय और शक्ति का त्याग किया है तो जो कुछ आपको मिलेगा, उसका कुछ भाग मजदूरी होगा और शेष भाटक। अतएव जो वास्तव में भाटक है, वह त्याग का प्रतिफल नहीं है।

यहाँ हमारे सामने ऊपर बतायी गयी दूसरी कठिनाई आ खड़ी होती है। यदि भाटक प्रकृति की निःशुल्क देन के उपयोग से मिलता है, यदि भूमिपति को उत्पादक कार्यों के लिए इस देन की पूर्ति में कुछ त्याग नहीं करना पड़ता, तो क्या भूमि को उत्पादन का साधन या भूमिपति को उत्पादन का साधक कहा जा सकता है? इसमें मतभेद नहीं हो सकता कि उत्पादन में भूमि-भाग महत्त्वपूर्ण होता है। उसके बिना कोई भी उत्पादन सम्भव ही नहीं है। परन्तु इसी समस्या को उसके स्वामी की दृष्टि से देखिए। क्या वह उत्पादन का साधक है? क्या वह ठीक अर्थ में उत्पादन की क्रिया करता है? उत्पादन क्या है: वह इच्छा को सन्तुष्ट करने की परोक्ष क्रिया है। वह सन्तुष्टि प्रत्यक्षतया नहीं देती। वह एक तात्कालिक कष्टदायक परिश्रम है। दूसरे शब्दों में वह एक ऐसी क्रिया है जो भावी लाभ के लिए त्याग स्वरूप की जाती है। यदि उत्पादन में त्याग अनिवार्य है तो क्या भूमिपति को जो कुछ त्याग नहीं करता, उत्पादन का साधक माना जा सकता है? भूमि भाग को इस अर्थ में कि वह उत्पादन के लिए आवश्यक वस्तुओं में एक है, उत्पादन का साधन माना जा सकता है। परन्तु भूमिपति निश्चय ही उत्पादन का साधक नहीं है। ठीक इसी कारण से भूमिपति की आय अतिरेक (surplus) होती है। अतिरेक शब्द से ऐसी वस्तु का आभास होता है जो लागत से अधिक और परे है। अतएव वह त्याग का प्रतिफल नहीं है; और इसका कारण यही है कि भूमिपति को कुछ त्याग नहीं करना पड़ता।

हम कह आये हैं कि तथाकथित भूमि के अधिकांश, शायद सभी टुकड़े पूर्णतया प्रकृति की निःशुल्क देन नहीं है। यदि एक भूमि भाग अंशतः निशुल्क-देन है और इसलिए अंशतः भूमि है तो हम उसे क्या कहेंगे? भूमि, या पूँजी, या दोनों का सम्मिश्रण। कदाचित् अन्तिम शब्द सब

से अधिक उपयुक्त लगता है। परन्तु यदि ऐसा हो तो यंत्र, मशीन या ईंट क्या हैं? क्या ईंट अंशतः निःशुल्क देन और अंशतः पूँजी नहीं है? क्या वह उसी प्रकार प्राकृतिक देन पर किये गये मानव प्रयत्नों का फल नहीं है जिस प्रकार कोई भी तथाकथित भूमि-भाग। तो यदि हम किसी भूमि-भाग को भूमि और पूँजी का समिश्रण कहें तो हमें उन सभी भौतिक वस्तुओं को जो उत्पादन में काम आती हैं, भूमि और पूँजी का समिश्रण कहना पड़ेगा। परन्तु यह कोई भी नहीं कहता कि मशीन को भूमि या पूँजी का समिश्रण कहना चाहिए। अतएव हम तथाकथित भूमि-भाग को पूँजी ही कहेंगे परन्तु यह ध्यान में रक्खेंगे कि उसमें भूमिपक्ष भी है। इसका अर्थ हुआ कि हम उत्पादन में उपयोग की गई प्रत्येक भौतिक वस्तु को पूँजी, जिसमें उसके निःशुल्क-देन-पक्ष के रूप में भूमि निहित है, कहेंगे।

यदि हम यह दृष्टिकोण स्वीकार कर लेते हैं तो ज़मीन का कोई टुकड़ा जो तथाकथित भूमि है, पूँजी हो जाता है। भूमि उत्पादन का स्वतंत्र साधन नहीं रह जाती। और जहाँ तक भूमि स्वतंत्र साधन नहीं है, वहाँ तक उसे उत्पादन का साधन नहीं कहा जा सकता। अतएव यह दृष्टिकोण इस कथन का कि भूमि उत्पादन का साधन नहीं है, समर्थन करता है।

यहाँ तक हमने भूमि की क्लासिकल परिभाषा और "प्रकृति की निःशुल्क देन" वाक्यांश के पूरे तात्पर्य या रिकार्डो के भूमि के वर्णन—मिट्टी की मौलिक, स्थायी और अनश्वर शक्तियाँ—पर विचार किया। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने इस बात को इतने शब्दों में नहीं कहा कि भूमि-भाग पूँजी है और उसका भूमिपक्ष भी है। परन्तु उनके 'भूमि' शब्द के अर्थ और उसकी व्याख्या में यह दृष्टिकोण स्पष्टतः निहित है।

अतएव नवीन अर्थशास्त्रियों का 'भूमि' शब्द का अर्थ कि उत्पादन में उपयोग की गई कोई भी वस्तु, जहाँ तक वह किसी विशेष उपयोग के लिए विशिष्टतः है, भूमि है, कोई अपनी महत्व-पूर्ण देन नहीं है। अतः यहाँ हम भूमि शब्द की नवीन व्याख्या का कुछ विस्तृत अध्ययन करेंगे।

भाटक की नवीन परिभाषा

कुछ नवीन अर्थशास्त्री विशिष्टता के आधार पर भूमि और पूँजी में भेद करते हैं। वे कहते हैं कि किसी वस्तु का या तो एक विशिष्ट उपयोग हो सकता है या एक से अधिक। जब उसके एक से अधिक उपयोग सम्भव होते हैं तो उसे पूँजी कहते हैं, और जब उसका एक ही उपयोग हो सकता है तो उसे 'भूमि' कहते हैं। यहाँ कुछ समय के लिए इस बात को छोड़ते हुए कि ऐसी कोई भी वस्तु नहीं होती जिसके अनेक उपयोग सम्भव न हों, इस भेद के विभिन्न तात्पर्यों पर विचार करेंगे। आर्थिक व्यवहार का अर्थ है चुनाव करना। किसी विशेष वस्तु की दशा में, जो उत्पादन में प्रयोग की जा सकती है, चुनाव करने का अर्थ होगा कि उसकी कितनी मात्रा का एक उपयोग किया जाय और कितनी मात्रा के दूसरे वैकल्पिक उपयोगों के लिये रक्खी जाय। इस प्रकार हम तभी चुनाव कर सकते हैं जब किसी वस्तु के विभिन्न उपयोग सम्भव हों। अतः पूँजी आर्थिक व्यवहार की वस्तु हो जाती है। परन्तु भूमि का परिभाषा के अनुसार एक ही उपयोग हो सकता है, इसलिये चुनाव करने की समस्या ही नहीं उठती। अतएव उचित अर्थ में वह आर्थिक व्यवहार की वस्तु नहीं होती।

तब पूँजी और भूमि में क्या अन्तर है? पूँजी उस व्यवहार में आ जाती है जिसे आर्थिक व्यवहार कहा जा सकता है, परन्तु भूमि नहीं आती। और क्योंकि आर्थिक व्यवहार का उद्देश्य लागत को कम से कम करना है इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पूँजी की लागत का अनुगणन किया जा सकता है और परिणामतः वह कम भी की जा सकती है, परन्तु भूमि की लागत का अनुगणन और उसे कम करना सम्भव नहीं है। अतएव भूमि से जो कुछ भी मिलता है वह केवल देन है—बिना लागत की आय। अतः विशिष्ट पदार्थ वह है जिसे बिना लागत के ही आय मिलती है। इस प्रकार भूमि की नवीन परिभाषा और क्लासिकल धारणा में कोई अन्तर नहीं रह जाता। नवीन अर्थशास्त्री कहते हैं कि भूमि विशिष्ट साधन है; उससे लागत के बिना ही आय मिलती है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार भूमि प्रकृति की निःशुल्क देन है। भूमि की परिभाषा करने के दोनों ढंग एक ही बात की ओर संकेत करते हैं—भूमि निःशुल्क देन है। वह मनुष्य निर्मित नहीं है। उससे आय बिना लागत के ही मिलती है और शुद्ध अतिरेक है।

अब हम अतिरेक के रूप में 'भाटक' शब्द पर विचार करेंगे। हम जानते हैं कि रिकार्डों ने भाटक की व्याख्या उसे लागत पर अतिरेक कह कर की है। यहाँ लागत सीमान्त भूमि की उपज के मूल्य के बराबर है। वे कहते हैं कि कम घने देश में सबसे पहले सबसे उर्वर भूमि जोती जाती है और जो उपज होती है वह सब मनुष्यों द्वारा उपभोग करली जाती है। क्योंकि इस प्रकार की भूमि बहुतायत से मिलती है इसलिए निम्न श्रेणी की भूमि नहीं जोती जाती। अतः भाटक नहीं होता। जब जनसंख्या बढ़ती है तो उपज प्रचलित मूल्य पर माँग को पूरा करने के लिए अपर्याप्त हो जाती है। उपज का मूल्य बढ़ जाता है और परिणामतः उससे लागत पर अतिरेक मिलने लगता है। यह अतिरेक भूमिपति को मिलता है। परन्तु जब मूल्य बढ़ जाता है तो कुछ कम उपजाऊ खेत जोतना भी लाभप्रद हो जाता है क्योंकि अब इस 'दूसरी श्रेणी की भूमि' के स्वामी भी अपनी उपज को अधिक मूल्य पर बेच कर उत्पादन की लागत पा सकते हैं। क्योंकि इस भूमि की उपज केवल लागत के ही बराबर होती है इसलिए इस भूमि पर भाटक नहीं होता। परन्तु यदि जनसंख्या और भी अधिक बढ़ती है तो मूल्य फिर बढ़ेगा और इस दूसरी श्रेणी की भूमि को भी अतिरेक मिलेगा। इस दशा में और भी कम उपजाऊ भूमि जोती जायगी। इस प्रकार जनसंख्या के प्रत्येक वृद्धि पर एक को छोड़ कर अन्य सभी श्रेणियों की भूमि को अतिरेक मिलेगा। सबसे अन्तिम श्रेणी की भूमि जिसे सीमान्त भूमि कहते हैं, पर ही भाटक नहीं मिलेगा।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सीमान्त भूमि पर उत्पन्न की हुई उपज का मूल्य उसे उत्पन्न करने की लागत के ठीक बराबर होता है। अतएव यहाँ लागत पर अतिरेक नहीं मिलता और परिणामतया भाटक नहीं होता। अन्य सभी श्रेणियों के भूमि पर, जिन पर उपज अधिक होती है, अतिरेक मिलता है। प्रत्येक स्थिति में भूमिपति अतिरेक को भाटक के रूप में ले लेता है। अतः हम कह सकते हैं कि भाटक लागत पर आय का अतिरेक है। यदि हमें भाटक को वस्तु में व्यक्त करना है तो हम कहेंगे कि किसी भूमि-भाग का वस्तु में भाटक उसकी और सीमान्त भूमि-भाग की—जब दोनों एक ही प्रकार के है और दोनों में एक ही ढंग से खेती की जाती है—उपज का अन्तर है।

अब हम देखेंगे कि नवीन परिभाषा के अनुसार भी भाटक को लागत पर आय का अतिरेक समझा जा सकता है या नहीं।

हम कह आये हैं कि नवीन परिभाषा के अनुसार भूमि एक विशिष्ट साधन है। वह एक ऐसी वस्तु है जिसका एक ही उपयोग हो सकता है। यदि किसी वस्तु का एक ही उपयोग हो सकता है तो इसका अर्थ होगा कि जब उसका वही उपयोग किया जाता है तो हमें उसका कोई अन्य उपयोग नहीं छोड़ना पड़ता। और यदि हमें कोई अन्य उपयोग नहीं छोड़ना पड़ता तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमें किसी वस्तु का केवल वही उपयोग करने में, जो उसका हो सकता है, कुछ त्याग नहीं करना पड़ता। और क्योंकि कुछ त्याग नहीं करना पड़ता इसलिए कुछ लागत भी नहीं होती। जब हम पाँच रुपये में कोई पुस्तक खरीदते हैं तो हम कहते हैं कि पुस्तक पाने की लागत पाँच रुपये है। दूसरे शब्दों में पाँच रुपये के इस विशेष उपयोग (उनसे पुस्तक खरीदना) की लागत हमारे लिये पाँच रुपये (की उपयोगिता) के बराबर है। परन्तु यदि पाँच रुपयों का दूसरा उपयोग सम्भव ही न होता, अर्थात् आप उनसे कोई अन्य वस्तु नहीं खरीद सकते, तो क्या आप कहेंगे कि पुस्तक खरीदने की लागत पाँच रुपये या पाँच रुपये के बराबर उपयोगिता है? यदि कोई चाहे तो वह ऐसा कह सकता है, परन्तु यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि यदि पाँच रुपये से किताब के अतिरिक्त कुछ भी न खरीदा जा सके तो दूसरी स्थिति में पाँच रुपये बेकार हो जायेंगे और कोई भी व्यक्ति पुस्तक खरीदने में यह नहीं समझेगा कि उसे कुछ लागत लगानी पड़ी।

अतएव हम देखते हैं कि किसी वस्तु का, जिसका एक ही उपयोग सम्भव हो, वही उपयोग करने में वस्तुतः कुछ लागत नहीं होती। और यदि कुछ लागत नहीं है तो सम्पूर्ण आय भाटक हो जायगी क्योंकि वह (सम्पूर्ण आय) लागत पर अतिरेक है। यदि कोई वस्तु पूर्णतया विशिष्ट नहीं है, अर्थात् उसका केवल एक ही उपयोग न होकर दो उपयोग सम्भव हैं जिनमें से एक में वह दूसरे की अपेक्षा कहीं अधिक उत्पादन करता है तो हम कह सकते हैं कि वह अधिक अंश तक उस उपयोग के लिए जिसमें वह अधिक उत्पादन करता है, विशिष्ट है। उदाहरण के लिए यदि वस्तु के किसी उपयोग से १००रु० प्राप्त होते हैं और दूसरे से केवल १०रु० तो हम कहेंगे कि वस्तु पहले उपयोग के लिए ९०%विशिष्ट है। इस दशा में भाटक ९०रु०, अर्थात् १००रु० —१० रु० होगा। क्योंकि इस दशा में १०० रु० पाने के लिए १०रु० छोड़ना पड़ते हैं, इसलिए कहा जा सकता है कि १०० रु० अर्जित करने की लागत १०रु० है। इस प्रकार ९०रु० लागत पर अतिरेक है। अतः भाटक हमारी नवीन परिभाषा के अनुसार भी एक प्रकार का अतिरेक है। हम कह सकते हैं कि यह अवसर-लागत पर अतिरेक है। अतएव यदि हम भाटक को लागत पर अतिरेक मान कर भी देखें तो क्लासिकल और नवीन परिभाषाएँ एक ही निष्कर्ष पर पहुँचती हैं।

उर्वरता और स्थिति भाटक

अब हम अधिक व्यवहारिक समस्याओं पर आते हैं। हम देख चुके हैं कि किस प्रकार तथाकथित भूमि वस्तुतः पूँजी है और किस प्रकार उससे मिली आय ब्याज है जिसमें भाटक का कुछ भाग मिला रहता है। यहाँ हम कम से कम कुछ समय के लिए इस सिद्धान्तिक दृष्टि से सही धारणा को छोड़कर 'भूमि' का अर्थ उत्पादक क्रियाओं में लगी हुई मिट्टी या जमीन ही समझेंगे। यह कुछ व्यवहारिक समस्याओं पर सुपरिचित शब्दों में विचार करने के लिए आवश्यक है। अतएव नीचे दी गई व्याख्या में हम 'भूमि' से तथाकथित भूमि ही समझेंगे और

अ-खेत	ब-खेत	स-खेत	द-खेत	इ-खेत
उपज १०० मन	उपज ८० मन	उपज १०० मन	उपज ६० मन	उपज ८० मन
यातायात-लागत १० रु०	यातायात-लागत ५० रु०	यातायात-लागत ५० रु०	यातायात-लागत ५० रु०	यातायात-लागत ५० रु०
उत्पादन-लागत ५० रु०	उत्पादन-लागत ५० रु०	उत्पादन-लागत ५० रु०	उत्पादन-लागत ५० रु०	उत्पादन-लागत ५० रु०
बाजार में प्रति-मन मूल्य १ रु०	वही	वही	वही	वही
द्रव्य में भाटक ४० रु०	२० रु०	शून्य	शून्य	शून्य
वस्तु में भाटक ४० मन	२० मन	शून्य	शून्य	शून्य

यहाँ **स**, **द** और **इ** खेत सीमान्त भूमि-भाग हैं और इन पर कोई भाटक नहीं होता। **अ**, **ब** और **द** भूमि-भाग बाजार से बराबर दूर हैं। **स** भूमि-भाग की स्थिति सब से खराब है। **द** भूमि-भाग उर्वरता की सीमा पर है; **स** भूमि-भाग की सीमान्त स्थिति है और **इ** भूमि-भाग संयुक्त सीमा पर है। सारिणी से निकाला जा सकता है कि पाँचों भूमि-भागों से उत्पादित वास्तविक अर्घ क्रमशः ९० रु०, ७० रु०, ५० रु०, ५० रु० और ५० रु० हैं। क्योंकि उत्पादन की लागत ५० रु० है इसलिए **अ** और **ब** भूमि-भागों पर क्रमशः ४० रु० और २० रु० भाटक मिलता है।

यदि हम भाटक की परिभाषा यों करें कि वह किसी भूमि-भाग और सीमन्त भूमि-भाग की उपज का अन्तर है तो **अ** भूमि-भाग का भाटक **स** भूमि-भाग को सीमान्त भूमि-भाग मान लेने पर शून्य तथा **द** और **इ** भूमि-भाग को सीमान्त भूमि-भाग मान लेने पर क्रमशः ४० मन और २० मन होगा। जैसा हम पहले भी कह आए हैं इस कठिनाई को उपज का अर्थ बाजार में उपज अर्थात् यातायात लागत घटा देने के बाद जो उपज रह जाती है, मान कर दूर किया जा सकता है। अतः इस अर्थ में **ब**, **स**, **द** और **इ** भूमि-भगों की उपज क्रमशः ७०, ५०, ५० और ५० मन रह जाती है। और क्योंकि अन्तिम तीन भूमि-भाग सीमान्त भूमि-भाग हैं इसलिए **अ**-भूमि-भाग का भाटक इनमें से किसी भी भूमि-भाग की तुलना में ४० मन हो जाता है।

भाटक को द्रव्य में परिभाषित करना और निकालना सर्वोत्तम और कम भ्रममूलक है। द्रव्य में **अ** भूमि-भाग का भाटक निश्चित रूप से ४० रु० है। वस्तु में वह तभी ४० मन है जब वह बाजार में दिया जाता है। यदि भाटक भूमि-भागों पर ही दिया जाय तो वह ५० मन होगा। यह अतिरिक्त १० मन गेहूँ को बाजार तक लाने की यातायात लागत के बराबर होगा। यदि भाटक द्रव्य में दिया जाय तो

बाजार में और भूमि-भाग पर ही दिए गए भाटक में ऐसा कोई अन्तर नहीं होताक्योंकि द्रव्य की यातायात लागत नहीं होती ।

भाटक का कारण—दुर्लभता या उर्वरता

हम अभी अभी देख चुके हैं कि अधिक उपजाऊ भूमि पर अधिक भाटक मिलता है। उन भूमि-भागों में से जिन्हें बाज़ार की सुविधाएँ समानतः प्राप्त हैं, सबसे कम उपजाऊ भूमि-भाग पर भाटक नहीं मिलेगा। अतएव कहा जा सकता है कि भूमि की उर्वरता के कारण ही भाटक मिलता है। परन्तु यदि भाटक का कारण भूमि का उपजाऊ होना है तो यह भी सच है कि सभी भूमि-भाग समानतया उर्वर होने पर भाटक नहीं मिलेगा। रिकार्डो की भाटक की व्याख्या इस निष्कर्ष को पूर्णतः स्पष्ट कर देती है। उन्होंने दिखाया है कि किस प्रकार सर्वोत्तम भूमि पर भाटक तभी मिलेगा जब जनसंख्या इतनी बढ़ जाय कि उपज दुर्लभ हो जाय और दूसरी श्रेणी के खेत जोतना लाभप्रद और आवश्यक हो जाय। दूसरे शब्दों में सर्वोत्तम भूमि दुर्लभ हो जाने पर ही उसे भाटक मिलता है। भाटक के कारण को इस दृष्टि से समझना अर्थ के सामान्य सिद्धान्त से पूर्णतया संगत है। जो दुर्लभ नहीं है उसका कुछ भी अर्घ नहीं होता। जब तक पानी दुर्लभ नहीं है, उसका कोई अर्घ नहीं होगा। यही बात भूमि पर भी लागू होती है। यदि भाटक भूमि के उपयोग का मूल्य है तो वह भूमि के दुर्लभ होने पर ही मिल सकता है।

तो भाटक का अधिक सही कारण क्या है—उर्वरता या भूमि की दुर्लभता? एक प्रकार से दोनों ही कथन समानतया सत्य हैं। परन्तु ध्यान रहे कि पहली बात अधिक सावधानी से कहना चाहिए क्योंकि सीमान्त भूमि भी कुछ उर्वर होती ही है परन्तु उसके स्वामी को कुछ भी भाटक नहीं मिलता। अतएव यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि भाटक का कारण किसी भूमि-भाग और सीमान्त भूमि-भाग की उर्वरता का अन्तर है। इस प्रश्न पर विचार करते हुए भाटक अर्न्तजन्य आय है या दुर्लभता-जन्य, मार्शल कहते हैं कि "एक अर्थ में सभी भाटक अन्तर्जन्य और दुर्लभता भाटक भी हैं। कुछ स्थितियों में किसी विशेष साधक के भाटक का अनुमान उसकी और निम्न श्रेणी के (कदाचित सीमान्त) साधक की जो उपयुक्त पत्रों की सहायता से एक ही तरह काम करते हैं, उत्पत्ति की तुलना करके लगाना सुगम होता है। दूसरी दशाओं में माँग और वस्तु के उत्पादन में उपयोगी साधन की दुर्लभता या आधिक्य के आधारभूत सम्बन्धों को देखना ही सर्वोचित है।"

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि भाटक के अन्तर्न्जय पक्ष और दुर्लभता-पक्ष का भेद ऊपरी है। क्योंकि साधन की कोई भी इकाई यदि वह दूसरी इकाइयों से अधिक उत्पादक नहीं है, दुर्लभ नहीं हो सकती (जिस अर्थ में हमने यहाँ दुर्लभ शब्द का प्रयोग किया है)। इसी प्रकार कोई साधन बिना दुर्लभ हुए दूसरे साधनों से अधिक उत्पादक नहीं हो सकता। खेत का ही उदाहरण लीजिए। यदि किसी देश की सभी भूमि समानतः उपजाऊ हो तो वहाँ भाटक नहीं होगा क्योंकि उस दशा में सीमान्त भूमि ही नहीं होगी। यहाँ हम दोनों ही बातें कह सकते हैं—या तो हम कहेंगे कि विभिन्न खेतों की उर्वरता में अन्तर न होने के कारण वहाँ भाटक नहीं होगा या क्योंकि भूमि दुर्लभ नहीं है इसलिए भाटक नहीं है। सम्भव है कि गहरी खेती के बिना

देश की सभी भूमि समानतया उपजाऊ होने पर भी जनसंख्या की भोजन की आवश्यकताओं को न पूरा कर सकें। उस दशा में भूमि दुर्लभ हो जायगी और उसके उपयोग के लिए भाटक देना पड़ेगा। अतएव ऐसा मालूम पड़ता है कि भूमि की उर्वरता में अन्तर न होने पर भी, दुर्लभता ही भाटक का कारण हो जाती है। परन्तु हमें यहाँ रिकार्डो और उसके अनुयायियों की बात पर ध्यान देना चाहिए। यहाँ खेतों की उर्वरता में अन्तर नहीं है परन्तु उनमें लगाए गए साधनों की मात्राओं में अन्तर है। 'श्रम और पूँजी' की अन्तिम मात्रा लागत के ठीक बराबर ही उत्पन्न करती है। सीमान्त मात्रा की उत्पादकता में कुछ भाटक भी होता है। विभिन्न मात्राओं की उत्पादकताओं में अन्तर होता है; हम इन अन्तरों को विभिन्न मात्राओं की उर्वरता का अन्तर कह सकते हैं। इस प्रकार उर्वरता में अन्तर होना ही चाहिए अन्यथा भूमि दुर्लभ नहीं होगी। यदि एक खेत में लगाई गई 'श्रम और पूँजी' की सभी मात्राएँ बराबर प्रत्युपलब्धि देतीं तो देश की सभी भूमि जोतने की कभी आवश्यकता न पड़ती। उस दशा में भूमि दुर्लभ नहीं होती। अतएव हम कह सकते हैं कि यदि उर्वरता-अन्तर नहीं है तो दुर्लभता नहीं होगी और यदि दुर्लभता नहीं है तो उर्वरता में अन्तर नहीं होंगे। इसलिए भाटक को यदि दुर्लभता-जन्य कहा जाय या अन्तर्जन्य, बात एक ही है।

भाटक और मूल्य में सम्बन्ध

भाटक मूल्य द्वारा निर्धारित होता है या मूल्य भाटक द्वारा—यह किसी समय विवाद-ग्रस्त प्रश्न था। रिकार्डो तथा उनके अनुयायियों ने कहा कि मूल्य ही भाटक का निर्धारण करता है। यह ठीक भी है। भाटक "इसलिए दिया जाता है क्योंकि अनाज का मूल्य अधिक है—विपरीत कथन सत्य नहीं है। यह बात कि भाटक का कारण मूल्य है अनेक ढंगों से दिखाया जा सकता है। इसे दिखाने का क्लासिकल ढंग निम्न प्रकार है। अनाज का मूल्य सीमान्त भूमि पर की उत्पादन लागत द्वारा निर्धारित होता है। सीमान्त भूमि पर भाटक नहीं मिलता। अतएव अनाज का मूल्य भाटक से स्वतंत्र ही निर्धारित होता है। यह शायद इस बात को सिद्ध करने का कि मूल्य भाटक **द्वारा निर्धारित** नहीं होता वरन् उसे **निर्धारित** करता है, सबसे सरल ढंग है।

परन्तु उपर्युक्त प्रश्न की इस व्याख्या की आलोचना की जा सकती है। सीमान्त भूमि न होने पर इस युक्ति का क्या रूप होगा? यदि सीमान्त भूमि पर भी भाटक मिलता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि मूल्य भाटक से स्वतन्त्र ही निर्धारित हो जाता है। परन्तु रिकार्डो के अनुयायियों ने इस प्रश्न का उत्तर यह कह कर दिया है कि यदि सीमान्त भूमि नहीं है तो भूमि में लगाये गए 'श्रम और पूँजी' की सीमांत मात्रा होगी ही। सीमान्त मात्रा की लागत सीमान्त उपज के ठीक बराबर होती है। अतएव अनाज का मूल्य सीमांत उपज और सीमान्त लागत के सम्बन्ध द्वारा निर्धारित होता है। परन्तु सीमान्त उत्पत्ति में भाटक नहीं होता (क्योंकि वह लागत के ही बराबर होती है)। अतः पहले की भाँति हम कह सकते हैं कि मूल्य भाटक से स्वतन्त्र ही निर्धारित होता है।

इसी सम्बन्ध को सिद्ध करने का दूसरा ढंग इस प्रकार है। परिभाषा से भाटक आय और लागत का अन्तर है और आय मूल्य पर निर्भर है। अतः भाटक प्राप्त मूल्य और लागत का अन्तर है। वह लागत पर मूल्य का अतिरेक है। अतएव तर्क से मूल्य और लागत दोनों ही भाटक से पहले आने चाहिये। भाटक लागत पर मूल्य के आधिक्य के कारण प्राप्त होता है। जब तक

पहले ही मूल्य निर्धारित न हो जाय और लागत न मालूम हो जाय तब तक यह नहीं बताया जा सकता कि भाटक कितना होगा।

यदि हम भाटक को भूमि के (उपयोग के) मूल्य के रूप में देखें तो उसका और मूल्य का सम्बन्ध स्वतः स्पष्ट हो जाता है। हम भूमि के उपयोग का मूल्य इसलिए देते हैं कि वह उत्पादक है। वह इस अर्थ में उत्पादक है कि उससे कुछ उत्पन्न होता है, हम उसे बेच सकते हैं और मूल्य प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि भूमि की उपज को मूल्य मिलता है इसलिए हम उसके उपयोग के लिए कुछ देने को तत्पर हैं। अतः भूमि के मूल्य का कारण उसकी उपज का मूल्य है। यदि उपज का मूल्य बढ़ जाता है तो भूमि का मूल्य भी बढ़ जायगा। अतएव भाटक का कारण भूमि की उपज का मूल्य है—विपरीत नहीं।

यह सब सरलता से समझा जा सकता है। मूल्य भाटक द्वारा निर्धारित होता है। भाटक लागत का भाग नहीं है। वह लागत पर अतिरेक है। परन्तु कभी कभी प्रश्न उठता है कि क्या भाटक , जो उत्पादक भूमिपति को देता है, उसकी उत्पादन की लागत में नहीं आता? और क्या मूल्य, जो वह अपनी वस्तुओं के लिए लेता है , लागत की अन्य मदों के साथ ही भाटक के भी बराबर नहीं होता? क्या वह यह प्रयत्न नहीं करता कि उसे ऐसा मूल्य मिले जो उसकी लागत , जिसमें भाटक भी सम्मिलित है, से कम न हो? यदि भाटक मूल्य नहीं निर्धारित करता है तो यह कहना कि मज़दूरी भी मूल्य निर्धारित नहीं करती , या इसी प्रकार , ब्याज और अन्य प्रतिफल भी मूल्य निर्धारित नहीं करते, उतना ही सही न होगा? क्या किसी वस्तु का मूल्य मज़दूरी , ब्याज इत्यादि के अधिक होने से अधिक नहीं होता? और यदि यह सही है, तो क्या यह कथन कि भाटक अधिक होने के कारण मूल्य अधिक है, उतना ही सही न होगा? और हमने भाटक और मूल्य के सम्बन्ध के बारे में जो पहले कहा था यदि वह सही है तो यह सब ग़लत होना चाहिये। एक समय पर दोनों ही युक्तियाँ सही नहीं हो सकतीं। परन्तु क्या हम इन दो ऊपरी दृष्टि से विपरीत धारणाओं में किसी भी तरह समन्वय स्थापित नहीं कर सकते?

कुछ अर्थशास्त्रियों ने कहा है जब सामान्य सामाजिक दृष्टि से भाटक मूल्य द्वारा ही निर्धारित होता है, (और स्वयं मूल्य निर्धारित नहीं करता), एक व्यक्ति की दृष्टि से मूल्य भाटक द्वारा निर्धारित होता है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ एक व्यक्ति द्वारा दिया गया भाटक उसकी लागत में सम्मिलित होता है परन्तु समाज को मिला भाटक सामाजिक लागत में नहीं आता। सम्पूर्ण समाज के लिए भाटक अतिरेक है; व्यक्ति के लिए वह अतिरेक नही है: वह उसकी लागत का एक भाग है।

सामाजिक दृष्टिकोण से भाटक और व्यक्तिगत दृष्टिकोण से भाटक में भेद करना बहुत सही है और भूमि के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के भेद से भी मेल खाता है। उदाहरण के लिए कहा जाता है कि जब भूमि, समाज के लिए प्रकृति की निशुल्क देन है, किसी एक भूमिपति के लिए निशुल्क देन नहीं है। आजकल प्रत्येक भूमिपति को भूमि पाने के लिए कुछ त्याग करना पड़ता है परन्तु प्रकृति नें समाज को भूमि निःशुल्क दी है। जब मनुष्य ने सबसे पहले भूमि पर रहना शुरू किया था तो व्यक्तियों को भी भूमि प्राकृतिक देन के रूप में ही मिली थी। उस समय उत्पादक कार्यों के लिए भूमि पाने में उन्हें कुछ भी त्याग नहीं करना पड़ा।

भूमि की यह धारणा सभी व्यवहारिक बातों के लिए सही है। परन्तु शुद्ध सिद्धान्तिक दृष्टि से ऊपर किया हुआ भेद सही नहीं है। समाज के लिए भी भूमि पूर्णतया निःशुल्क देन नहीं है। आदिम निवासियों को भी भूमि का, जो अन्यथा प्रकृति की निःशुल्क देन थी, अपनी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए उपयोग करने के पहले कुछ त्याग करना पड़ा होगा। परन्तु भूमि पर अधिकार करने और फिर उसका उत्पादक कार्यों में उपयोग करने के लिए किये गए प्रयत्नों की मात्रा अवश्य बहुत कम थी। आज भूमि पाने के लिए व्यक्ति को अधिक त्याग करना पड़ता है। उसे दूसर व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह से भूमि खरीदनी पड़ती है। परन्तु उसका त्याग दूसरे पक्ष का लाभ है। वस्तुनिष्ठ अर्थ में, सम्पूर्ण समाज को इस क्रय-विक्रय से कुछ भी हानि नहीं होती। इसी कारण तो हम साधारणतया मानते हैं कि आज भी समाज के लिए भूमि निःशुल्क देन है, यद्यपि व्यक्तियों के लिये नहीं।

अपने प्रश्न पर––भाटक मूल्य द्वारा निर्धारित होता है या मूल्य भाटक द्वारा––लौटते हुए हम ऊपर के दृष्टिकोण के बार में संक्षेप में कुछ और कहना चाहेंगे। ऊपर कहा गया है कि सामाजिक दृष्टिकोण से भाटक मूल्य द्वारा निर्धारित होता है जब कि व्यक्तिगत दृष्टिकोण से मूल्य भाटक द्वारा। यह वस्तुतः सच है कि जब कोई व्यक्ति भूमिपति को उसकी भूमि के उपयोग के लिए प्रभार देता है तो वह उसकी लागत है। परन्तु यह लागत किसी अन्य व्यक्ति का लाभ है। वह भूमिपति के लिए जिसे यह आय के रूप में प्राप्त होती है लागत नहीं है। यह शुद्ध अतिरेक (भाटक) है। अतएव यह स्वाभाविक है कि जो अतिरेक होगा वह लागत का भाग नहीं हो सकता और परिणामतया मूल्य नहीं निर्धारित कर सकता। परन्तु क्योंकि एक व्यक्ति के लिए वह लागत की मद है अतः उसे लागत की अन्य मद्दों के साथ ही मूल्य निर्धारण में सहायक होना चाहिए। इस बात पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती, परन्तु यह पूछना अनुचित न होगा कि क्या लागत की मद को भाटक कहा जा सकता है? तार्किक दृष्टि से क्या यह कहना ठीक होगा कि एक व्यक्ति जो कुछ दूसरे व्यक्ति को देता है, वह पहले व्यक्ति का अतिरेक और इसलिए भाटक है? जब हम कहते हैं कि कोई व्यक्ति भाटक देता है तो क्या हम 'भाटक' शब्द का गलत प्रयोग नहीं करते? वास्तविक स्थिति इस प्रकार है। वस्तु के उत्पादन में व्यक्ति को जो कुछ त्याग करना पड़ता है। उसकी लागत है। क्योंकि संस्थिति में लागत मूल्य के बराबर होनी चाहिये, इसलिये कहा जा सकता है कि मूल्य-निर्धारण में इन त्यागों में से प्रत्येक का अपना भाग होता है। परन्तु यह त्याग है क्या? एक त्याग उसके द्वारा भूमिपति को दिया गया प्रतिफल है। हमें इस त्याग को क्या कहना चाहिए? हम इसे, निश्चय ही, भाटक नहीं कह सकते क्योंकि भाटक परिभाषा से ही अतिरेक (लागत के ऊपर) है। वह देने वाले की दृष्टि से भाटक नहीं है। पाने वाले की दृष्टि से वह निश्चय ही भाटक है। उसे भाटक कहना पाने वाले की दृष्टि से देखना है। अतएव हम यह नहीं कह सकते कि व्यक्तिगत दृष्टिकोण से भाटक मूल्य निर्धारित करता है क्योंकि व्यक्तिगत दृष्टिकोण से तो वह भाटक है ही नहीं। उस व्यक्ति के दृष्टिकोण से जिसे वह मिलता है, निश्चय ही वह भाटक है। परन्तु उसके लिए वह लागत की मद नहीं है और यह युक्ति क्योंकि भाटक लागत का भाग है इस लिए वह मूल्य निर्धारित करता है, लागू नहीं होती।

भाटक की धारणा का विस्तारपूर्ण विवरण

यदि भाटक अतिरेक है तो क्या सभी अतिरेक भाटक नहीं हैं? हम देख चुके हैं कि किस प्रकार प्रकृति की सभी निःशुल्क देन, चाहे वह मिट्टी, पानी या प्रकाश के रूप में हो, भूमि,

कहलाती है। यदि हम 'प्रकृति की निशुल्क देन' शब्दों के अर्थ की विस्तारपूर्ण व्याख्या करें तो हम 'भूमि' में उत्पादन के मानवीय साधन भी सम्मिलित कर सकते हैं। नवीन आर्थिक सिद्धान्त में मनुष्य को, या अधिक सही शब्दों में, उत्पादन-साधक रूपी मनुष्य के किसी निश्चित पक्ष को, भूमि के अन्तर्गत मानना साधारण सी बात हो गई है। परन्तु यह बात मार्शल के मस्तिष्क में भी स्पष्ट रूप से थी क्योंकि वे योग्यता के भाटक की बात करते हैं और जब तक योग्यता को एक प्रकार की भूमि न माना जाय तब तक उसको भाटक प्राप्त हो ही नहीं सकता। अतएव यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हम किसी भी अतिरेक को भाटक मान सकते हैं। 'भूमि' के भाटक के अतिरिक्त मार्शल अन्य दो प्रकार के भाटकों की बात भी करते हैं। प्रथम तो योग्यता का भाटक जिसके बारे में हम अभी-अभी बता चुके हैं, और दूसरा अभास भाटक (quasi-rent)। मार्शल ने उपभोक्ता के अतिरेक (consumer's surplus) को भी उपभोक्ता का भाटक कहा है। पहले हम योग्यता के भाटक के बारे में विचार करेंगे।

योग्यता का भाटक

उत्पादक की आय, अन्य बातों के साथ-साथ उसकी क्षमता पर भी निर्भर है। और उसकी क्षमता अंशतः उसके उत्पादन साधक के रूप में मानव प्रयत्नों के विनियोग का फल है। उन विभिन्न कारणों की जिन पर व्यक्ति की आय निर्भर रहती है, व्याख्या करते हुए मार्शल कहते हैं "यह खोज बड़ी रोचक है कि सफल मनुष्यों की आय का कितना भाग दैव, अवसर अनुमान और सफल प्रारम्भ के कारण होता है; कितना उसके प्रशिक्षण में लगाई गई पूँजी पर लाभ है, कितना अत्यन्त कठिन श्रम का प्रतिफल है और कितना अलभ्य प्राकृतिक गुणों के कारण उत्पादक का अतिरेक या भाटक है।" साधारण परिस्थितियों में किसी व्यक्ति की आय में योग्यता का भाटक बहुत कम होता है। परन्तु ऐसी स्थितियों की भी कल्पना की जा सकती है जिनमें व्यक्ति की आय का अधिकांश भाग उसकी अलभ्य योग्यता के कारण है। किसी व्यक्ति की आय का वही भाग जो उसकी स्वाभाविक योग्यता पर निर्भर है, भाटक कहलाता है। 'भाटक' शब्द को सही अर्थ में समझने पर प्रशिक्षण से प्राप्त योग्यता निःशुल्क नहीं कही जा सकती क्योंकि वह प्रकृति की निःशुल्क देन नहीं है। अतएव, मार्शल कहते हैं कि किसी व्यक्ति की आय को जिसे वह अपने अलभ्य गुण और स्वाभाविक योग्यता के कारण प्राप्त करता है, उसकी योग्यता का भाटक कहा जा सकता है। 'योग्यता' शब्द के दो विशेषण हैं, स्वाभाविक और अलभ्य। यदि योग्यता अलभ्य नहीं है, अर्थात् वह दुर्लभ नहीं है तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं हो सकता। हम देख चुके हैं कि भाटक पाने के लिए भूमि को दुर्लभ होना चाहिए। वस्तुतः किसी भी वस्तु का, जो दुर्लभ नहीं है, कुछ भी विनिमय अर्घ नहीं होगा। अतएव योग्यता का भाटक अलभ्य और स्वाभाविक योग्यता का भाटक है। परन्तु फिर भी यहाँ अलभ्य शब्द इतना महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि संसार में शायद ही कोई ऐसी वस्तु हो जो अलभ्य न हो। प्रत्येक प्रकार की योग्यता अलभ्य है। हमारे लिये 'स्वाभाविक' शब्द अधिक महत्त्वपूर्ण है। योग्यता या तो स्वाभाविक हो सकती है या सीखी हुई। पहली प्रकार की योग्यता भूमि की प्रकृति की है और दूसरी पूँजी की प्रकृति की। सीखी हुई योग्यता की प्रत्याय या तो ब्याज की तरह है या मजदूरी की तरह। स्वाभाविक योग्यता से प्राप्त आय ही भाटक है।

'योग्यता के भाटक' का महत्व

योग्यता के भाटक का महत्व यह है कि वह हमारा ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करता है कि मनुष्य में 'भी 'भूमि' का अंश है। यह सिद्धान्त हमें बताता है कि केवल तथाकथित भूमिपतियों को ही अतिरेक नहीं मिलता। कृषिवादी अर्थशास्त्रियों का विश्वास था कि केवल कृषि ही उत्पादक उद्यम है। क्योंकि उनके अनुसार केवल भूमि ही उत्पादन का एक मात्र साधन है जिसे शुद्ध अतिरेक मिलता है इसी कारण उनका यह कहना भी था कि केवल भूमि पर ही कर (tax) लगाया जाय। उनका यह विश्वास था कि जब तक 'अतिरेक-आय' न मिलेगी उत्पादन न होगा। अतएव कोई साहसोद्यमी तभी उत्पादन करता है जब उससे अतिरेक आय मिले। और क्योंकि कर अतिरेक में से ही दिया जा सकता है, इसलिए यह सच है कि यदि केवल भूमि पर ही कर लगाया जाय तो कर-विचालन (shifting of taxes) बहुत कुछ रोका जा सकता है। उनकी भूल यह थी कि वे केवल भूमि अर्थात्, मिट्टी (क्योंकि उनमें से अधिकांश के लिए भूमि का यही अर्थ था) को ही अतिरेक उत्पन्न करने वाली वस्तु मानते थे। योग्यता के भाटक का सिद्धान्त हमारा ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करता है कि मनुष्य को भी अतिरेक मिल सकता है। व्यापारी, मज़दूर और साहसोद्यमी भी अतिरेक प्राप्त कर सकते हैं। अतएव वह सभी उत्पादक हैं। उन्हें भी भाटक मिल सकता है। उत्पादन के इन साधनों पर भी कर लगाया जा सकता है और वे कर दे सकते हैं।

इस सिद्धान्त से हम यह भी जान सकते हैं कि किसी उद्योग में लोगों की आय अधिक होने पर भी उसमें पर्याप्त मात्रा में साधन क्यों नहीं उपलब्ध होते। यह इस सिद्धान्त की दूसरी महत्ता है। साधारणतया यह आशा की जाती है कि अधिक आय वाले उद्योगों में साधन पर्याप्त मात्रा में होंगे। यदि संयोग से किसी उद्योग में अधिकांश लोगों की आय उनकी अलभ्य स्वाभाविक योग्यता के कारण अधिक है तो यह आवश्यक नहीं है कि उसमें साधन अधिक मात्रा में हों। इसका कारण यह है कि वहाँ विनियोग पर असाधारणतया अधिक प्रत्युपलब्धि नही मिलती। आय योग्यता के भाटक के कारण अधिक होती है। योग्यता के भाटक की धारणा से हम यह भी जान सकते हैं कि एक ही व्यवसाय में लगे विभिन्न व्यक्तियों की आय में असमानता क्यों होती है।

भाटक और समय का सम्बन्ध—आभास-भाटक की धारणा

हम देख चुके हैं कि किस प्रकार लागत पर प्रत्येक अतिरेक को भाटक कहा जा सकता है। हम यह भी देख चुके हैं कि जो एक व्यक्ति के लिए अतिरेक है वह दूसरे के लिए लागत होगी। इस बात को समझ लेना या इसकी कल्पना करना कठिन नहीं है। हमें केवल इतना ही ध्यान रखना चाहिए कि 'अतिरेक' शब्द सापेक्ष है। वह किसी व्यक्ति और समय से सम्बन्धित होता है। यहाँ हम उसके और समय के सम्बन्ध पर विचार करेंगे।

कभी-कभी किसी व्यक्ति की आय उसकी लागत से अधिक हो सकती है अर्थात् समय की एक इकाई पर उसकी आय उसकी लागत से अधिक हो सकती है। मान लीजिये एक व्यक्ति किसी वस्तु के उत्पादन में प्रति मास १०० रु० व्यय करता है और उससे प्रति मास १२०

रुपया अर्जित करता है। हम कहेंगे कि उसे प्रतिमास २० रु० भाटक मिलता है। यदि किसी विशेष महीने में उसकी आय १३० रुपया हो जाती है और क्योंकि उसकी लागत समान रहती है, उस महीने में उसका भाटक ३० रु० हो जायगा। हम यह नहीं कह सकते कि उसका भाटक ३० रु० है। यह कथन निरर्थक होगा। हमें जब तक यह नहीं मालूम हो जाता कि भाटक कितने समय में या किस विशेष समय के लिए मिला है, तब तक हमारे लिए यह कथन निरर्थक है। यदि यह मालूम है कि किसी व्यक्ति को कितने समय में कितना भाटक मिलता है तो यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि भूतकाल में भी उतने ही समय में उसे उतना ही भाटक मिला होगा, या भविष्य में उतने ही समय में उसे उतना ही भाटक मिलेगा। यह निष्कर्ष उसी परिकल्पिक स्थैतिक स्थिति में, जहाँ संस्थिति स्थापित हो चुकी है, निकाला जा सकता है। व्यवहार में, जहाँ की दशाएँ परिकल्पिक, स्थैतिक स्थिति के आदर्श से मेल नहीं खातीं, वर्तमान से भविष्य या भूत का पता नहीं लग सकता। किसी व्यक्ति को किसी महीने में आय पर अतिरेक मिल सकता है और दूसरे महीने में कमी हो सकती है या भाटक घट-बढ़ सकता है।

परन्तु साधन जितने गतिशील और स्पर्धा जितनी पूर्ण होती है, भाटक में घट-बढ़ उतनी ही कम मात्रा में होगी। इसका अर्थ हुआ कि जब अतिरेक बढ़ता है और आशा की जाती है कि वह ऊँचे स्तर पर ही रहेगा, तब उस उद्योग में साधन आने लगते हैं। किसी एक उद्योग में साधनों के विनियोग में वृद्धि अस्थाई रूप से दुर्लभता को कम करके आय कम कर देती है और साथ ही भाटक भी कम हो जाता है। इस प्रकार भाटक में स्थिरता आ जाती है। परन्तु बहुत दीर्घकाल में भाटक स्थिर नहीं रह सकता। साधनों की गतिशीलता अल्पकाल में भाटक की घट-बढ़ को कम कर देती है।

मान लीजिए किसी विशेष प्रकार की मशीन की अस्थाई दुर्लभता के कारण उसे प्रयोग करने वाले साहसोद्यमियों की आय बढ़ जाती है। उन्हें अधिक मात्रा में भाटक मिलता है। कुछ समय बाद और भी मशीन बन जायेंगी और आय का लागत पर अतिरेक कम हो जायगा। परन्तु जब तक मशीन की दुर्लभता कम या अधिक मात्रा में रहती है तब तक साहसोद्यमियों को असाधारण भाटक मिलता रहेगा। यह अतिरेक, जिसे हम भाटक कहते हैं एक स्थायी घटना है। मार्शल इसे आभास-भाटक कहते हैं। अतिरेक होने के कारण वह भाटक है और अस्थायी होने के कारण आभास-भाटक। इसका कारण यह है कि पूँजी में कुछ समय के लिए भूमि की विशेषताएँ आ जाती हैं। हम देख चुके हैं कि भूमि प्रकृति की निःशुल्क देन है। उसकी मात्रा मनुष्य के नियंत्रण से परे है इस कारण वह बढ़ाई नहीं जा सकती। ऊपर के दृष्टान्त में पूँजी दुर्लभ थी। उसकी पूर्ति सीमित और स्थिर थी और वह मानव प्रयत्नों से तुरन्त नहीं बढ़ाई जा सकती थी। अतएव कुछ समय के लिए पूँजी ने भूमि का रूप ले लिया था।

अतएव हम कह सकते हैं कि लागत दर किसी भी प्रकार के अतिरेक को जो किसी उत्पादन के साधन की पूर्ति में अस्थायी कमी से उत्पन्न होता है, आभास-भाटक कहलाता है।

आभास-भाटक, जिसकी हमने यहाँ व्याख्या की है, पूर्ति को माँग के अनुसार समायोजित करने की कठिनाई से उत्पन्न होता है। माँग में परिवर्तन होने पर पूर्ति को भी उचित रूप से नियोजित करना पड़ता है। एसे नियोजन में समय लगता है। इस बीच में आभास-भाटक हो जाता है।

अब हम भाटक और समय के सम्बन्ध पर कुछ थोड़े से भिन्न दृष्टिकोण से विचार कर सकते हैं। किसी वस्तु की उत्पादन लागत में अपरिवर्ती और परिवर्ती भेद होता है। अर्थशास्त्र में इन दो वर्गों को अनुपूरक और प्राथमिक लागत कहते हैं। अनुपूरक लागत उत्पादन की प्रत्येक वृद्धि पर नहीं बदलती। परन्तु प्राथमिक लागत उत्पत्ति मात्रा में परिवर्तन होने पर बदलती रहती है—वह उसके साथ घटती-बढ़ती है और उत्पादन रोक देने पर शून्य हो जाती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब तक किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन की प्राथमिक लागत से कम नहीं होता, तब तक उत्पादक को चालू उत्पादन पर हानि नहीं होती क्योंकि वस्तु के उत्पादन में उत्पादक जो अधिक लागत लगाता है वह परिभाषा से ही, प्राथमिक लागत होती है। और जब तक मूल्य इस अधिक लागत के बराबर होता है तब तक उसे उतनी मात्रा उत्पादित करने में कुछ भी हानि नहीं उठानी पड़ती। इस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य उसकी प्राथमिक लागत के बराबर हो सकता है या उससे अधिक—इस स्थिति में कुछ अतिरेक मिलेगा-सम्भव है इस मूल्य से उसकी अनुपूरक लागत न निकले। इस प्रकार किसी विशेष महीने में उत्पादक की आय उसकी लागत से अधिक हो सकती है। अतः उसे भाटक के प्रकार का अतिरेक मिल सकता है। परन्तु यदि हम इतना लम्बा समय लें जिसमें मशीनों के खरीदने और कारखाने के निर्माण के प्रारम्भिक व्यय भी शामिल हों तो सम्भव है इस काल में मिली आय लागत से अधिक न हो। इस प्रकार यह अस्थायी अतिरेक अनुपूरक लागत को ही पूरा करते हैं। हो सकता है कि दीर्घकाल में यह अस्थायी अतिरेक उत्पादन की कुल लागत के बराबर हो जाय। परन्तु यह स्पष्ट है कि अल्प काल में मिले अतिरेक की कुल मात्रा दीर्घकालीन दृष्टिकोण से भाटक जैसी नहीं है। इस प्रकार यहाँ एक दूसरे प्रकार का अतिरेक मिलता है। मार्शल इस अतिरेक को भी आभास-भाटक कहते हैं। यह अतिरेक होने के कारण भाटक है और अल्पकालीन दृष्टिकोण से अस्थायी होने के कारण आभास-भाटक। यह अतिरेक पहले की भाँति पूँजी की दुर्लभता से नहीं मिलता। परन्तु यहाँ वे मदें जिनसे अनुपूरक लागत बनती है, कुछ समय के लिए स्थिर रहती हैं। इमारत और मशीनें प्रतिदिन या प्रतिमास नहीं बढ़ायी जातीं। अतएव उन पर नया और चालू व्यय नहीं किया जाता। यह अचल पूँजी कुछ समय तक स्थिर ही रहती है। अतएव उसे मासिक उत्पादन-लागत पर अतिरेक मिलता है। इस प्रकार इस अतिरेक (जिसे आभास-भाटक कहा जाता है) का कारण पूँजी का अस्थाई रूप से भूमि की विशेषताएँ अपना लेना है। अन्तर केवल इतना ही है कि पहली स्थिति में पूँजी की स्थिरता का कारण यह था कि नियोजन में समय लगता है, जबकि इस स्थिति में उसका कारण यह है कि प्रत्येक बार नियोजन करना आवश्यक नहीं है।

आभास-भाटक की महत्ता

प्रायः किसी व्यक्ति का आर्थिक स्तर उसकी वास्तविक आय से निर्धारित होता है। क्योंकि भाटक वास्तविक आय से लागत घटाकर निकाला जाता है, वह किसी व्यक्ति की आर्थिक दशा का द्योतक समझा जाता है। कर-व्यवस्था में उसका भाटक उसकी कर देने की क्षमता का सूचक समझा जाता है। यह निर्णय करने के लिए कि अमुक व्यक्ति की आय पर्याप्त है, या दूसरे व्यक्ति की आय से अधिक है, उसकी लागत पर आय के आधिक्य, अर्थात् उसके भाटक पर ही विचार किया जाता है।

क्योंकि भाटक अतिरेक है, इसलिए वह निश्चय ही किसी व्यक्ति की आर्थिक दशा का ठीक द्योतक है। परन्तु ध्यान रहे कि हम भाटक को आभास-भाटक न समझ बैठें। हम देख चुके हैं कि आभास-भाटक किस प्रकार अल्पकालीन घटना है और दीर्घकालीन दृष्टिकोण से वास्तविक अतिरेक नहीं है। यदि हम किसी व्यक्ति को मिले आभास-भाटक के आधार पर अनुगणन करें तो हम उसकी आर्थिक दशा को बहुत बढ़ा देंगे। अधिकांश स्थितियों में आभास-भाटक का महत्वपूर्ण भाग भूतकाल की लागत के ही बराबर होता है। डाक्टर, वकील और शिक्षक की मासिक आय उसके मासिक व्यय से अधिक होती है। परन्तु यह अन्तर वास्तविक अतिरेक नहीं है। यह आभास-भाटक है, भाटक नहीं। हमें उसके इस मासिक अतिरेक में से उसके द्वारा स्वयं पर किए गए विनियोग पर ब्याज घटाना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में हमें उसके मासिक अतिरेक में से उसकी प्रशिक्षा पर किए गए व्यय पर मासिक ब्याज घटा देना चाहिए। फिर हमें इस अतिरेक में से उसकी पूँजी की मासिक घिसावट भी निकालनी पड़ेगी।

प्राय: धनी आदमियों की आय या आय का लागत पर आधिक्य, वास्तविक आधिक्य की अपेक्षा अधिक लगता है। परन्तु निर्धनों की आय का उनके व्यय पर अतिरेक उनकी आर्थिक दशा का अधिक अच्छा द्योतक है क्योंकि उनकी स्थिति में पूँजी का विनियोग बहुत कम मात्रा में होता है और परिणामतया शुद्ध भाटक निकालने के लिए मासिक अतिरेक से बहुत छोटी मात्रा घटानी पड़ती है।

भाटक पर सुधार के प्रभाव

यह एक रोचक प्रश्न है कि खेती की पद्धति में किए गए सुधारों का भाटक पर क्या प्रभाव पड़ता है। पहले तो मालूम होता है कि भूमि-सुधार भूमि की उत्पादक शक्तियों को बढ़ाएगा और इसलिए स्वभाविक है कि भाटक भी बढ़ जायगा। क्योंकि भाटक भूमि के प्रयोग के लिए दिया गया मूल्य है (साधारण भाषा में) इस कारण भूमि की उत्पादकता बढ़ने के साथ साथ इसका बढ़ना भी आवश्यक है। अन्य बातें समान रहने पर, एक अधिक उत्पादक मशीन कम उत्पादक मशीन की अपेक्षा अधिक मूल्य पर बिकनी चाहिए। और यदि सभी मशीनों की सीमान्त उत्पादकता बढ़ जाय तो मशीन को मिलने वाला कुल भाग अवश्य बढ़ जायगा। परन्तु ऐसा तभी होगा जब मशीनों की संख्या न बढ़े। यह सोचा जा सकता है कि जो बात मशीनों के बार में सच है वह भूमि के बार में भी सही घटेगी। परन्तु यह सोचना ठीक नहीं है।

बहुत पहले ही रिकार्डो ने यह बताया था कि यदि खेती की पद्धति में इस प्रकार उन्नति हो कि सभी श्रेणियों की भूमि की उत्पादकता समान मात्रा में बढ़ जाय, तो भाटक कम हो जायगा। उसने दो बातों की मान्यता की—(१) सभी श्रेणियों की भूमि का उत्पादन समान मात्रा में बढ़ता है और (२) कुल उत्पादन की वृद्धि समान रहती है। उसने कहा कि यदि खेती की पद्धति में उन्नति इस प्रकार होती है कि उर्वर भूमि का उत्पादन अधिक बढ़ता है तो भाटक बढ़ जायगा और यदि सबसे निम्न भूमि का उत्पादन अधिक बढ़ता है तो भाटक कम हो जायगा।

आइये हम रेखाचित्रों की सहायता से इन दृष्टान्तों का ध्ययन करें। नीचे चार रेखाचित्र दिये गये हैं जिनमें भूमि का उत्पादन चार विभिन्न प्रकारों में प्रभावित होता है। वक्र **अ ब**, जैसे-जैसे हम कम उर्वर भूमि की ओर आते जाते हैं, घटते हुए उत्पादन का निरूपण करता है। वक्र **स द** भूमि पर हुई उन्नति के बाद का उत्पादन दिखाता है। रेखाचित्र को सरल बनाने

के लिये आइये हम देश भर के भूमि क्षेत्र को एक खेत मान लें। ऐसी स्थिति में वक्र **अ ब** तथा **स द** श्रम तथा पूँजी की अधिक इकाइयाँ लगाने पर घटती हुई सीमान्त उत्पादकता का निरूपण करेंगे। यदि म क मात्राएँ लगाई जाँय तो यह स्वभाविक है कि कुछ क्षेत्र बिना जोते-बोए ही छूट जाँयगे। **क ट** उन्नति के पहले लगाई गयी मात्राओं को बताता है। सीमान्त उत्पत्ति **न ट** से प्राप्त मूल्य उसकी लागत के ठीक बराबर होता है। **अ म न** भाटक बताता है। भूमि की उन्नति हो जाने पर और
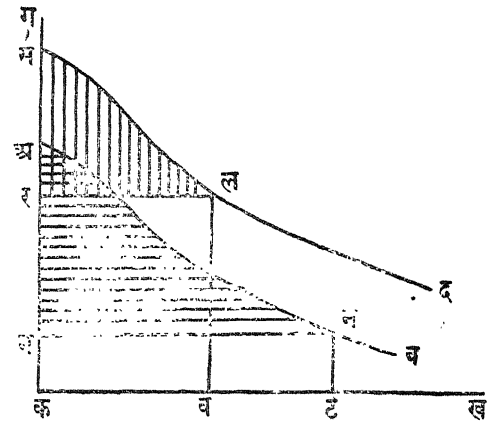
चित्र १

उत्पादन वक्र के बढ़कर **स द** स्थान पर आ जाने पर केवल **क व** इकाई की मात्राओं को ही लगाया जायगा। इसके कारण कुल उत्पत्ति **स क व ल** उन्नति के पहले की कुल उत्पत्ति **अ क ट न** के बराबर हो जाती है। भाटक बदल कर **स र ल** हो जाता है।

चित्र २   चित्र ३
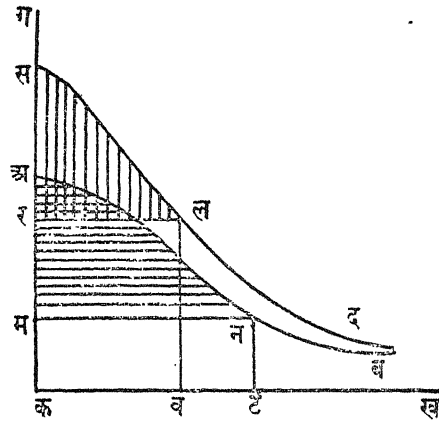
पहले, दूसरे और चौथे रेखाचित्रों में उन्नति के बाद भाटक कम हो गया है। तीसरे रेखाचित्र में दशा विपरीत है।

पहला रेखाचित्र उस दशा को बताता है जहाँ उन्नति के कारण सभी इकाइयों का उत्पादन बराबर बढ़ता है। दूसरे और तीसरे रेखाचित्र उस दशा को बताते हैं जहाँ प्रारम्भिक इकाइयों की उत्पत्ति बाद की इकाइयों की अपेक्षा (अर्थात् जहाँ अच्छे भूमि-

चित्र ४
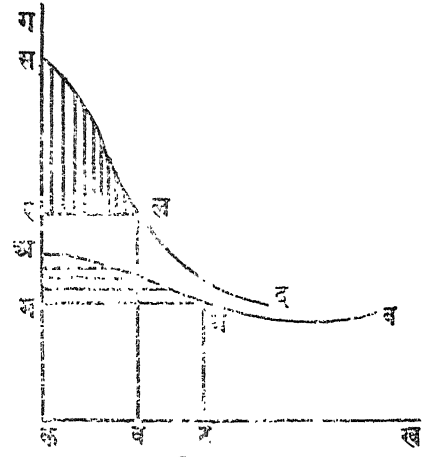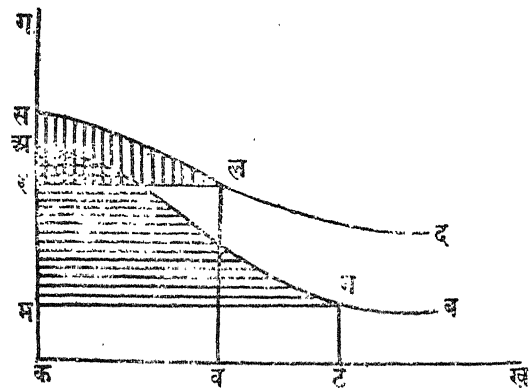
भागों की उर्वरता कम उपजाऊ भूमि-भागों की उर्वरता की अपेक्षा) अधिक बढ़ती है। चौथा रेखाचित्र उस दशा को बताता है जहाँ कम उपजाऊ भूमि अधिक उपजाऊ भूमि की अपेक्षा उन्नति से अधिक फायदा उठाती है।

इन रेखाचित्रों से यह सुगमता से देखा जा सकता है कि वक्र का कोई भी रूप हो, जब भी उन्नति इस प्रकार की है कि सभी इकाइयों का उत्पादन बराबर मात्रा में बढ़ता है तो भाटक (अनाज में) कम हो जायगा। परन्तु यदि उन्नति का प्रभाव अधिक उर्वर भूमि पर अपेक्षाकृत अधिक पड़ता है तो भाटक (अनाज में) कम या अधिक हो सकता है। यह इस बात पर निर्भर है कि उन्नति के पहले और बाद में वक्र का क्या रूप था।

इन सब दृष्टान्तों में यह मान लिया गया है कि भूमि से प्राप्त कुल उत्पत्ति बराबर रहती है। परन्तु अल्पकाल में भी ऐसा होना बड़ा अस्वाभाविक है। प्रत्येक दशा में सीमान्त उत्पत्ति बढ़कर **ब ल** हो गई है और इस कारण इसका अर्घ श्रम तथा पूँजी की एक इकाई की लागत से कहीं अधिक है। अतः यह स्वाभाविक है कि अधिक इकाइयों का प्रयोग किया जाय। अधिक इकाइयों के प्रयोग से कुल उत्पादन बढ़ जायगा और उत्पादित वस्तु की कीमत घट जायगी। अन्त में एक ऐसी स्थिति आयेगी जहाँ सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य एक इकाई की लागत के बराबर हो जायगा। अतः यह निश्चित है कि इन सभी दशाओं में उन्नति के पश्चात् **क ब** से अधिक इकाइयों का प्रयोग किया जायगा। अतः उन्नति के पश्चात् भाटक प्रत्येक दशा में चित्र में दिखाई गई मात्रा से कुछ अधिक होगा। इससे पहले और तीसरे रेखाचित्रों से निकाले गए निष्कर्ष में कोई भी परिवर्तन नहीं आता। दूसरे रेखाचित्र में यह सम्भव है कि उन्नति के बाद भाटक पहले से अधिक हो। चौथे दृष्टांत में इस बात की काफी सम्भावना है कि हमारा निष्कर्ष वही रहे।

भाटक तथा ब्याज

इस अध्याय के आरम्भ में इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ जो उत्पादन कार्य में लगाया जाता है पूँजी कहलाता है। इसी भाँति इस प्रकार के पदार्थों के उपयोग से प्राप्त आय ब्याज कही जा सकती है और उसमें कुछ भाटक भी रहता है। आगे यह भी बताया गया था कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ में एक भूमि-पक्ष होता है और परिणामतः उनसे प्राप्त आय में भाटक का कुछ अंश भी। इस मत के अनुसार यह कहा जा सकता है कि भूमि से मिलने वाला भाटक पूँजी पर मिलने वाले ब्याज की भाँति है। परन्तु ऐसा कहना केवल इस मत की सचाई पर ही निर्भर नहीं है। इससे मिलता-जुलता एक अन्य कारण भी है। अधिकांश भूमि-भाग (यदि सभी नहीं) जो अपने स्वामी के लिए आय का अर्जन कर रहे हैं, उनके पुराने स्वामियों से किसी मूल्य पर खरीदे गए हैं। अर्थात् भूमि एक से दूसरे के पास आती-जाती रही है। अतः वर्तमान स्वामी के लिए उससे प्राप्त आय ब्याज है, इस कारण नहीं कि उसके गुण और उर्वरता उसके पहले वाले स्वामी ने बदल दिये थे, परन्तु इसलिए कि उसके वर्तमान स्वामी को उसे प्राप्त करने के लिए कुछ द्राव्यिक त्याग करना पड़ा था। अतः उसके लिए यह भूमि-भाग निःशुल्क देन नहीं है। वह पूँजी है। पुराने स्वामी को मिलने वाली आय में भाटक का जो भी अंश था, क्रय करते समय उसका मूल्य द्रव्य में दिया गया। विक्रेता को

एक समूची द्रव्य-राशि के रूप में उतना भाटक (ब्याज घटाकर) मिल जाता है जितना उसे प्रतिवर्ष भूमि का स्वामी बने रहने पर मिलता। इसलिए खरीदने वाला भूमि-क्षेत्र से सम्भावित आय का पूरा मूल्य चुकाता है। यही कारण है कि भूमि के इस स्वामी को मिलने वाली आय में भाटक का अंश उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार किसी मशीन के स्वामी की आय में। यदि भाटक का कोई अंश है तो केवल उस अन्तर के रूप में जो इस आय, और किसी अन्य सर्वोत्तम कार्य में वह द्रव्य (जो उसने भूमि के क्रय में लगाया है) लगाने पर मिलने वाली आय के बीच होता।

साधारणतः 'भाटक' कही जाने वाली आय के विषय में इस बात को याद रखना बड़ा ज़रूरी है। यह सोचना बड़ी भूल होगी कि (तथाकथित) भूमि के प्रत्येक स्वामी की आय में अतिरेक का काफी बड़ा अंश रहता है जिस पर भारी कर लगाना उचित होगा। फिर भी यह अवश्य कहा जा सकता है कि ज्योंही भूमि खरीदी जाती है, उसका मूल्य फिर बढ़ने लगता है। पूर्ति की न्यूनता के कारण, जनसंख्या और राष्ट्रीय आय की प्रत्येक अभिवृद्धि भूमि के मूल्य को बढ़ा देती है। इसलिये प्रायः हस्तान्तरित होने के कुछ ही समय बाद, भूमि की आय में अनार्जित अतिरेक का अंश उत्पन्न होने लगता है। क्योंकि इन सब अतिरेकों का पूर्वानुमान असम्भव है, इसलिए भूमि के वर्तमान स्वामी को भी, उसके पुराने स्वामियों की भाँति, भाटक प्राप्त होता है। भूमि के स्वामित्व की अवधि जितनी बड़ी होगी, भूमि द्वारा मिलने वाली आय में भाटक का अंश भी उतना ही अधिक होगा।

अध्याय ४३

लाभ

जनसाधारण की भाषा में लाभ व्यवसायी की वह आय है जो उसकी कुल आमदनी और कुल खर्चे के अन्तर के बराबर होती है। किन्तु इस आमदनी में व्यवसाय में लगी हुई पूंजी का भी भाग होता है; और इसका तात्पर्य यह हुआ कि लाभ के वास्तविक परिमाण का पता लगाने के लिए कुल आमदनी से पूंजी पर बाजार दर से अनुगणित ब्याज घटाया जाता है। 'लाभ' शब्द का प्रयोग व्यवसाय के प्रसंग में ही होता है। जब तक इसका प्रयोग मनमाने अर्थों में न किया जाय, स्वतंत्र पेशे वालों या श्रमिकों की वास्तविक आय को कोई लाभ नहीं कहता और जनसाधारण यह भी नहीं सोचते कि ऐसे लोगों की आय का कोई भाग भी 'लाभ' हो सकता है।

परन्तु अर्थशास्त्री के समक्ष 'लाभ' शब्द का यह अर्थ उसके लिए बहुत ही संकुचित है। फिर भी पुराने अर्थशास्त्रियों ने इस शब्द का प्रयोग कुछ इसी से मिलते-जुलते, संकुचित अर्थ में किया है। 'लाभ' की व्यापक परिभाषा तो अर्थशास्त्रियों ने अपेक्षाकृत हाल ही में दी है; इनके अनुसार 'लाभ' साहसोद्यमी की आय है। यह सच है कि साहसोद्यमी की आय की व्याख्या भी सब अर्थशास्त्री एक सी नहीं करते; पर उनमें इतना मतैक्य तो है ही कि वे लाभ की धारणा को और किसी शब्द के स्थान पर 'साहसोद्यम' शब्द से ही सम्बद्ध करते हैं।

'साहसोद्यमी की आय' को ठीक से समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह देख लें कि साहसोद्यम है क्या? क्योंकि यह जाने बिना हम 'साहसोद्यमी कौन है' इसका पता नहीं लगा सकते। हो सकता है कि स्वयं अपने में साहसोद्यमी का कहीं अस्तित्व न हो; सम्भव है कि कोई व्यक्ति संगठनकर्ता हो, या पूंजीपति, और साथ ही साथ साहसोद्यमी का कार्य भी संभालता हो। ऐसी स्थितियों में यदि हम यह समझ लें कि किस प्रकार के कार्य को साहसोद्यम का नाम दिया जाता है, तो उस व्यक्ति की आय में 'लाभ' कहाँ और कितना है, यह पता लगाना सम्भव होगा। इसके बाद तो फिर इतना ही और रह जायगा कि हम यह पता लगाएँ कि साहसोद्यमी अपनी आय का अर्जन क्यों और किस भाँति करता है, और यह किस प्रकार अनुगणित होती है।

साहसोद्यम शब्द का अर्थ—यह शब्द बहुत पुराना नहीं है। मार्शल ने उत्पादन के साधनों में साहसोद्यम की गणना नहीं की। उन्होंने 'संगठन' की बात कही और उसे उत्पादन का चौथा साधन माना। किन्तु संगठनकर्ता के कार्यों की सूची में उन्होंने वह सब कुछ रख दिया है जिसे आजकल साहसोद्यमी का कार्य माना जाता है। मार्शल के बाद के अर्थशास्त्रियों ने इस शब्द का बहुधा प्रयोग किया है किन्तु इसके अर्थ के विषय में उनमें मतैक्य नहीं है। कुछ तो संगठन और साहसोद्यम में कुछ भी अन्तर करते नहीं दीखते। उदाहरणार्थ बेनहम (Benham) के अनुसार "हम साहसोद्यमी उस व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को कहेंगे जो किसी फर्म की नीति का नियंत्रण करता है।" आगे बेनहम कहते हैं कि साहसोद्यमी को जो निर्णय करने होते हैं वे ये हैं: वह किस व्यवसाय में जायगा? वह किन वस्तुओं या सेवाओं का उत्पादन करेगा? उसके कारखाने का आकार-प्रकार क्या होगा? उसके उत्पादन का ढंग क्या होगा? कहाँ और किस मूल्य पर वह अपनी वस्तुओं को बेचेगा? सम्भव हो तो

क्या वह मूल्य-विवेचन भी करेगा ? उत्पत्ति का कितना भाग वह बाज़ार-भाव पर बेचेगा, और कितना भविष्य में बेचने के लिए रख छोड़ेगा, आदि।

यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि इस प्रकार के कार्यों का उत्तरदायित्व संगठनकर्ता पर है; और हो सकता है कि इन निर्णयों में उसके लिए जोखिम उठाने का कुछ भी प्रश्न न हो। अगर संगठनकर्ता एक वेतन भोगी कर्मचारी हो, और यह जिम्मेदारियाँ उसको दे दी जाएँ, तो स्पष्टतः वह कोई जोखिम नहीं उठाता। उसे तो एक नियमित वेतन मिलता ही है। किन्तु यदि वह व्यापार का स्वामी भी हो, और यह सब काम करे, तो निश्चय ही उसे कुछ जोखिम उठाना पड़ेगा।

क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि संगठन और जोखिम उठाने के काम सदैव एक साथ जुड़े हुए हों, इसलिए संगठनकर्ता और साहसोद्यमी के कार्यों को अलग रखना ही उचित है। अन्यथा यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि साहसोद्यमी की आय अनिवार्यतः अनिश्चित होती है, और यह जोखिम उठाने का प्रतिफल है।

बेनहम की ही भाँति कुछ अन्य अर्थशास्त्री भी संगठन और साहसोद्यम में स्पष्ट भेद नहीं करते। उदाहरणार्थ मैकाइज़क (McIssac) और स्मिथ (Smith) के अनुसार "साहसोद्यम व्यक्तियों या समूहों के उस प्रयत्न को कहते हैं जिससे आर्थिक साधनों के उपयोग को इस प्रकार निर्दिष्ट किया जाता है कि वर्तमान और सम्भावी मूल्यों में दृष्टिगत लाभ-प्रद अवसरों से एक आय की प्राप्ति हो सके।" आर्थिक क्रिया का समारम्भ एक बहुत ही विस्तृत क्षेत्र है–और इसको साहसोद्यम का समानार्थी नहीं कहा जा सकता। किन्तु, ये अर्थशास्त्री 'लाभ' के उचित अर्थ के अधिक निकट आ जाते हैं जब वे यह कहते हैं कि सहसोद्यमी लाभ-प्रद अवसरों से फायदा उठाते हैं। फिर भी—क्योंकि वे यह स्पष्ट नही करते कि साहसोद्यमी वह व्यक्ति है जो स्वयं जोखिम उठाता है, अथवा वह जो दूसरे के लाभ के लिए प्रयत्न करता है—ये अर्थशास्त्री 'लाभ' की ठीक ठीक व्याख्या नहीं कर सके हैं।

'साहसोद्यम' शब्द की परिभाषा की यह अस्पष्टता ही 'लाभ' की परिभाषा की अस्पष्टता का कारण है। यह हर्ष की बात है कि कुछ थोड़े से व्यक्तियों ने संगठन और साहसोद्यम में प्रभेद करने का अथक प्रयत्न किया है, और 'लाभ' को केवल साहसोद्यम से सम्बद्ध बताया है।

व्यवसाय का स्वामी प्रायः दो कार्य करता है। पहला तो यह, कि वह अपने पूरे व्यवसाय को संगठित या आयोजित करता है, अर्थात् वह उत्पादन के साधनों को संयोजित करता है और निर्णय करता है कि वह किस उत्पादन को कहाँ और कैसे करेगा, और उसे कहाँ और कैसे बेचेगा। दूसरे, वह व्यवसाय में असफलता की आशंका का जोखिम उठाता है। सम्भव है कि वह अपने व्यवसाय में बिलकुल असफल सिद्ध हो, या उसे इतनी सफलता न मिल सके जितनी उसे आशा थी; दोनों हालतों में उसे हानि होगी, क्योंकि ऐसी परिस्थितियों में वह व्यवसाय में अपनी मेहनत और परेशानियों के अनुरूप द्रव्य का अर्जन नहीं कर पायेगा और यहाँ तक सम्भव है कि उसे क्रीत साधनों को देने के लिए कोष से भी कुछ निकालना पड़े।

व्यवसायी के इन दोनों कार्यों में से पहले को हम साधारणतः निर्णय करना कह सकते हैं। और दूसरे को जोखिम उठाना। निर्णय करने का तात्पर्य है जो कुछ करना है उसका निश्चय। एक श्रमिक को, श्रमिक के रूप में ऐसा कोई निर्णय नहीं करना होता। वह जा

कुछभी करता है, वह दूसरों से निर्णीत होता है। दूसरा कार्य है जोखिम उठाना—जिसका तात्पर्य है व्यवसाय में होने वाली हानि के लिए अपने को उत्तरदायी बनाना। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस उत्तरदायित्व को संभालने वाले को सदैव हानि ही नहीं होती; क्योंकि यदि लाभ हो तो वह भी उसी को मिलता है।

प्राय: बड़े व्यवसायी निर्णय के कार्य को वेतनभोगी कर्मचारियों को सौंप देते हैं, और स्वयं केवल कभी कभी ही, बहुत ही महत्वपूर्ण मामलों पर निर्णय देते हैं। एक मामूली व्यवसायी ऐसा करने की सामर्थ्य नहीं रखता। इसके विपरीत, वह तो एक तीसरा कार्य भी स्वयं करता है—अपने कर्मचारियों के काम का निरीक्षण।

इस प्रकार यद्यपि एक व्यवसायी ये सब कार्य—या सम्भवत: और भी कई—स्वयं सँभाल सकता है, वस्तुत: वह ये सब कार्य पृथक पृथक रूपों में करता है। यदि वह दो कार्य करे, तो इसका अर्थ यह है कि वह उत्पादन के दो साधनों का मिलकर काम करता है। निर्णय और निरीक्षण का कार्य वह संगठनकर्ता के रूप में करता है, और जोखिम उठाने का कार्य साहसोद्यमी के रूप में। यह कहना गलत है कि साहसोद्यमी के रूप में ही वह निर्णय या निरीक्षण करता है; साहसोद्यमी के रूप में तो वह केवल जोखिम उठाने का ही कार्य कर सकता है।

जब कोई व्यवसायी संगठन का कार्य भी करता हो तो वह अपने उत्पादन की लागत में बाज़ार-दर पर अनुगणित इस कार्य का प्रतिफल भी सम्मिलित कर लेता है। इस धन का स्वीकरण, या इसकी प्राप्ति वह अन्य सभी क्रीत साधनों की भाँति ही करता है। जिस प्रकार क्रीत साधनों की आय निश्चित होती है, उसी प्रकार संगठन-कार्य के लिए व्यवसायी का वेतन भी। यह सच है कि यदि व्यवसाय बुरी तरह असफल रहे तो, कभी कभी, क्रीत साधनों को अपना पूरा प्रतिफल नहीं मिल पाता और व्यवसायी को भी अपने संगठन कार्य का पूरा वेतन नहीं प्राप्त होता। किन्तु इससे यही सिद्ध होता है कि श्रमिकों और अन्य क्रीत साधनों को भी कुछ न कुछ जोखिम उठाना पड़ता है। इसलिए, हम कह सकते हैं कि वे सब भी कुछ सीमा तक साहसोद्यमी हैं।

संगठन का कार्य चाहे कोई व्यवसायी करे या न करे, जोखिम उठाने का कार्य तो उसे करना ही पड़ता है। उत्पादन की हर क्रिया में जोखिम है। यह जोखिम मात्रा में कम हो सकता है, परन्तु रहता अवश्य है। इसलिए किसी न किसी को यह जोखिम उठाना ही पड़ता है। स्वभावत: व्यवसाय का स्वामी ही जोखिम उठाता है। या हम यह कह सकते हैं कि जोखिम उठाने वाले को ही स्वामी कहा जाता है। उदाहरणार्थ संयुक्त पूंजी संगठन में हिस्सेदार ही स्वामी कहे जाते हैं क्योंकि वे ही जोखिम उठाते हैं। यह दूसरी बात है कि सब हिस्सेदार इस उत्तर-दायित्व को बराबर-बराबर न उठाएँ। यह भी हो सकता है कि सबका उत्तरदायित्व निश्चित रूप से सीमित हो। फिर भी, वे ही व्यवसाय का जोखिम उठाने वाले कहे जाएँगे।

इस प्रकार साहसोद्यमी ही स्वामी होता है (या स्वामी ही साहसोद्यमी होता है) और यद्यपि उसे कभी-कभी हानि उठानी पड़ती है, उसे अतिरेक भी प्राप्त होता है, क्योंकि अंतत: स्वामी ही सब शेष आयों का अधिकारी है। किन्तु लाभ की सम्भावना सदैव ही इतनी नहीं होती कि हानि की आशंका का संतुलन हो सके, और इसलिए जोखिम उठाने में सदैव ही मानसिक शान्ति का थोड़ा-बहुत बलिदान करना पड़ता है, और बिना प्रतिफल पाए यह बलिदान

करने को कोई भी प्रस्तुत नहीं हो सकता। इसलिए जोखिम उठाने के लिए भी कुछ भुगतान करना पड़ता है। क्योंकि केवल स्वामी ही व्यवसाय का जोखिम उठाता है, उसे स्वयं ही इसका प्रतिफल मिलता है, उसी प्रकार जैसे अपने संगठन कार्य के लिए वह वेतन भी स्वयं पाता है। जोखिम उठाने के लिए मिले इस प्रतिफल को 'लाभ' कहते हैं। इस प्रकार यह भी, मजदूरी और व्याज की भाँति ही, एक आवश्यक और निश्चित आय है, और उन्हीं की भाँति उत्पादन की लागत के अन्तर्गत है। 'लाभ' एक आवश्यक कार्य के लिए मिला प्रतिफल है।

जोखिम की प्रकृति

अब हम यह देखें कि साहसोद्यमी द्वारा उठाए जाने वाले इन जोखिमों की सच्ची प्रकृति क्या है। सारतः, सम्भावनाओं के ठीक न उतरने की आशंका ही जोखिम है। यदि आप को किसी फल की प्राप्ति या भविष्य की घटनाओं का पूर्ण निश्चय है, तो आप कोई जोखिम नहीं उठा रहे हैं। और यदि वस्तुतः भविष्य वैसा न भी सिद्ध हो जैसी आपको आशा थी, तो भी यह बात सत्य है। जब तक आप ऐसा सोचते या समझते हैं कि भविष्य निश्चित है, आपके लिए कोई जोखिम नहीं है। इसके विपरीत, यदि आपको भविष्य के विषय में संदेह हो तो आप जोखिम उठाते हैं। भविष्य का आशा के अनुरूप सिद्ध होना या न होना महत्वपूर्ण नहीं है। और इसलिए जोखिम की उपस्थिति तो भविष्य के आशानुसार न होने की आशंका की अनुभूति पर ही निर्भर है।

उपर्युक्त से यह भी इंगित होता है कि जोखिम की उपस्थिति कई बातों पर निर्भर है। पहले तो, उद्योग का रूप ऐसा होना चाहिए कि भविष्य का प्रश्न उसमें अनिवार्यतः सन्निहित हो; क्योंकि वर्तमान के विषय में तो कोई संदेह हो ही नहीं सकता। दुर्भाग्य से उत्पादन की हर क्रिया में भविष्य का प्रश्न निहित है। उत्पादन की क्रिया कालांतर में प्रसरित रहती है। कुछ दशाओं में यह काल अल्प होता है, और कुछ में पर्याप्ततः दीर्घ। इस प्रकार उत्पादन की क्रिया का फल भविष्य में ही प्राप्त होता है। इसलिए साहसोद्यमी को, जो उत्पादन के शेष सब साधनों को सुनिश्चित भुगतान की गारंटी देता है, भविष्य के बारे में अनुमान लगाने पड़ते हैं। साधारणतः बुद्धि, अनुभव, और उपलब्ध आंकड़ों के कारण ये अनुमान बहुत गलत नहीं होते। किन्तु फिर भी, इन सब सहायताओं के होते हुए भी, प्रायः ये अनुमान बहुत ही गलत सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि उत्पादन जोखिम का काम है।

जोखिम के लिए दूसरी शर्त यह है कि, कम से कम कुछ अर्थों में, भविष्य को वर्तमान से भिन्न होना ही चाहिए, क्योंकि यदि भविष्य बिल्कुल वर्तमान जैसा ही हो तो अनुमान लगाने की कोई आवश्यकता ही न होगी। जो भी हो, भविष्य को सदैव ही वर्तमान के सदृश नहीं होना चाहिए, और न ही इस असादृश्य में कोई निश्चित क्रमिकता होनी चाहिए। वास्तविक जगत में परिस्थिति ऐसी ही होती है। संसार परिवर्तनशील है; अर्थशास्त्री इसे प्रवैगिक संसार या प्रवैगिक स्थिति कहते हैं। प्रवैगिक स्थिति में भविष्य किस प्रकार बदलता है, इसके बारे में कोई निश्चितता नहीं होती।

जोखिम के लिए तीसरी शर्त है—मनुष्य की पूर्वदृष्टि और दूरदर्शिता अपूर्ण ही होनी चाहिए। यदि ऐसा न हो, तो भविष्य का उसे सदैव सही अनुमान रहेगा। अपूर्ण पूर्वदृष्टि इस

बात का द्योतक है कि उनकी भविष्य की सम्भावनाएँ पूरी तरह ठीक नहीं उतरेंगी। कभी कभी भाग्यवश भविष्य आशानुसार भी निकल सकता है; किन्तु ऐसे चमत्कारों की पुनरावृत्ति न तो होती है, न हो सकती है।

'पूर्वदृष्टि की अपूर्णता' को व्यापक अर्थ में ही समझना चाहिए। इसका यह तात्पर्य नहीं कि व्यक्ति की पूर्वदृष्टि अपूर्ण हो। यह सच है कि यदि साहसोद्यमी की पूर्वदृष्टि अपूर्ण हो, और वह जानता हो कि वह अपूर्ण है, तो भी जोखिम रहेगा ही। किन्तु यदि पूर्वदृष्टि केवल अपूर्ण ही हो, तो इन जोखिमों से बचा जा सकता है। आवश्यक तो यह है कि साहसोद्यमी के पास अपनी पूर्वदृष्टि को पूर्ण बनाने का कोई साधन नहीं होना चाहिए। आँकड़े, अपनी या दूसरों से प्राप्त बुद्धि और अनुभव—सभी का पूर्वदृष्टि की अपूर्णता का उपचार करने में असफल सिद्ध होना आवश्यक है।

अंत में, जैसा कि कहा जा चुका है, केवल यही आवश्यक नहीं कि पूर्वदृष्टि अपूर्ण हो, यह भी आवश्यक है कि साहसोद्यमियों को यह ज्ञान हो कि उनकी पूर्वदृष्टि अपूर्ण है; अन्यथा उनको यही पता नहीं होगा कि वे कौन सा जोखिम उठा रहे हैं।

भविष्य की कुछ घटनाओं की, कुछ सीमा तक, पूर्वदृष्टि सम्भव है। कुछ क्षेत्रों में, अंकशास्त्र भविष्यवाणी करने में सहायक होता है। इसलिए ऐसे क्षेत्रों में परिवर्तनों की न्यूनाधिक ठीक ठीक पूर्वदृष्टि सम्भव है, और उनके विरुद्ध बीमा कराया जा सकता है। प्रोफेसर नाइट (Knight) जैसे कुछ अर्थशास्त्रियों ने इन्हें बीमा-योग्य (insurable) जोखिम कहा है। साथ ही उनका यह तर्क भी ठीक ही है कि बीमा-योग्य जोखिम वस्तुतः जोखिम नहीं है। उदाहरणार्थ, बीमा-कम्पनियाँ, जो मनुष्य के जीवन का बीमा करती है, वस्तुतः कोई जोखिम नहीं उठाती। कब कोई बीमा कराने वाला मर जाएगा, और कब उन्हें कितना द्रव्य देना पड़ जायगा इसके विषय में तो कोई निश्चितता नहीं रहती; किन्तु एक सुदीर्घ कालांतर में, प्रतिवर्ष उनका कुल दायित्व कितना है, इसका निश्चय उन्हें अवश्य रहता है। फिर भी, कुछ छोटे-मोटे जोखिम उन्हें उठाने ही पड़ते हैं—उनको इस बारे में कोई निश्चय नहीं रह सकता कि पाँच वर्ष बाद उनका लाभ क्या होगा। बीमा-कम्पनियों का यह उदाहरण हमें जोखिमों के दो वर्गों में भेद करने में सहायता देता है: वे जिनका बीमा हो सकता है, और वे जिनका बीमा नहीं हो सकता। सच्चे आर्थिक अर्थ में, दूसरे प्रकार का जोखिम ही जोखिम है।

ऊपर हमने उन विभिन्न परिस्थितियों पर विचार किया है जिनमें उत्पादन में जोखिम उत्पन्न हो जाता है। हमारे लिए इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रवैगिक स्थिति की शर्त है। जब तक संसार प्रवैगिक नहीं है, तब तक जोखिम उत्पन्न ही नहीं हो सकता। यह सच है कि जोखिम की उपस्थिति के लिए यह शर्त ही पर्याप्त नहीं; किन्तु यह आवश्यक और महत्वपूर्ण तो है ही।

अन्य बातें यदि समान बनी रहें, तो संसार जितना ही कम प्रवैगिक होगा, उत्पादन का जोखिम भी कम होगा। फिर, हमारी पूर्वदृष्टि जितनी पूर्ण होगी, जोखिम भी उतना ही कम होगा; और फिर, जितना ही जोखिम कम होगा, उतना ही कम यह आभास होगा कि हमारी पूर्व दृष्टि अपूर्ण है।

लाभ तथा जोखिम उठाने की माँग और पूर्ति—हम देख आए हैं कि लाभ जोखिम उठाने का प्रतिफल है। इसलिए, यह प्रतिफल कम है या अधिक यह जोखिम उठाने की माँग और पूर्ति पर निर्भर है। जोखिम उठाने की पूर्ति साहसोद्यमियों या उन व्यक्तियों से उद्भूत होती हैं जो जोखिम उठाने के लिए तत्पर है; और उसकी माँग करने वाले होते हैं श्रमिकों और पूंजीपतियों की भाँति उत्पादन के अन्य साधन जो उत्पादन की क्रिया में सन्निहित जोखिम उठाने के लिए स्वयं राजी नही होते। इस प्रकार लाभ जोखिम उठाने की, जिसका किसी अन्य सेवा की भाँति ही क्रय-विक्रय हो सकता है, माँग और पूर्ति पर निर्भर है। जिस प्रकार श्रम की पूर्ति श्रम के उत्पादन की लागत से निश्चित होती है, उसी प्रकार जोखिम उठाने की पूर्ति जोखिम उठाने की लागत से। श्रमिक के लिए श्रम-पूर्ति की लागत उसके शारीरिक परिश्रम का कष्ट है। वह ऐसा कष्ट उठाना पसंद नहीं करता, और इसलिए जब तक उसको इसके पर्याप्त प्रतिफल का आश्वासन न मिले वह अपनी सेवाओं का विक्रय नहीं करेगा। इस प्रकार उसके द्वारा पूर्त श्रम की मात्रा मज़दूरी और कार्य के सीमान्त त्याग के सन्तुलन से निश्चित होती है। यदि श्रम के बाजार की स्थिति अपूर्ण स्पर्धा की हो, श्रम की पूर्ति श्रमिक की सीमान्त आय और श्रम के सीमान्त त्याग के सन्तुलन से निश्चित होगी।

जो श्रम के विषय में ठीक है, वही जोखिम के बारे में भी। साहसोद्यमी जोखिम उठाता है और जोखिम उठाना कष्टप्रद भी होता है। इसके लिए उसे प्रतिफल की आवश्यकता पड़ती है। यह प्रतिफल जितना अधिक होगा, उतना ही अधिक जोखिम उठाने के लिए वह प्रस्तुत होगा। यहाँ पूर्ति, जोखिम उठाने की प्रति इकाई से प्राप्त लाभ, और जोखिम उठाने के कष्ट के सन्तुलन से निश्चित होती है। जैसा हम देख चुके हैं, जोखिम का कारण है भविष्य की संदिग्धता। साहसोद्यमी को कभी इस बात का पूर्ण निश्चय नहीं होता कि अपनी वस्तुओं के विक्रय से उसे क्या मिलेगा? आय के विषय में यह अनिश्चितता कष्टप्रद होती है। जितना अधिक वह जोखिम उठाता है, उतना ही अधिक उसका त्याग होता है। जोखिम की सीमान्त इकाई में सन्निहित मानसिक-शान्ति का त्याग लाभ के रूप में मिले इस इकाई के प्रतिफल के बराबर होना ही चाहिए।

यदि लोग बड़े सावधान हों, और उनमें साहसिकता का अभाव हो, तो जोखिम उठाने की लागत अधिक होती है। यदि लोग बहुत ही सावधान रहें और किसी प्रकार की भी आकस्मिकता का सामना करने से घबराते हों, तो उत्पादन के जोखिम उठाने के लिए कोई भी सन्नद्ध न होगा। ऐसी दशा में, जोखिम उठाने का मूल्य (लाभ) बहुत अधिक बढ़ जायगा। इस प्रकार जब लोग कायर और सावधान मनोवृत्ति के होते हैं, जोखिम उठाने की लागत अधिक होती है। इसी प्रकार श्रमिक जब शरीर से दुर्बल और मन से आलसी हों, तो श्रम-पूर्ति की लागत भी अधिक होती है, और तब मज़दूरी की दर पर्याप्ततः ऊँची होनी चाहिए। बड़ी सावधानी बरतने वाले मनुष्य को जोखिम का काम करने में अधिक कष्ट होता है। उसकी मानसिक अशान्ति ही जोखिम उठाने की लागत है। इस प्रकार जोखिम उठाने की पूर्ति समाज के साहसी व्यक्तियों की संख्या पर निर्भर रहती है। प्रतिफल में वृद्धि होने के साथ यह संख्या भी बढ़ती है।

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जोखिम उठाने की पूर्ति केवल साहसिकता की भावना पर ही निर्भर नहीं; उत्पादन के जोखिमों के विषय में लोगों के अज्ञान पर भी निर्भर है।

उत्पादन में निहित जोखिम का जितना अधिक उन्हें ज्ञान होता है उतना ही कम वे साहसोद्यमी का काम करने के लिए प्रस्तुत होते हैं। जिस देश में जोखिम की मात्रा के विषय में लोगों का अज्ञान बहुत अधिक हो या (यह कहना अधिक उचित होगा) जहाँ अज्ञान के कारण लोग भविष्य के विषय में अनुचित रूप से आशावादी हों वहाँ लाभ कम होते हैं; क्योंकि ऐसी दशा में कम लाभ पर भी साहसोद्यमियों की काफी पूर्ति रहती है।

इस भाँति, प्रतिफल की विभिन्न दरों पर किसी निश्चित मात्रा के जोखिम उठाने के लिए प्रस्तुत व्यक्तियों की संख्या दिखाने वाला जोखिम उठाने का पूर्ति-वक्र उपर्युक्त दो बातों पर निर्भर रहता है। अन्य बातें समान रहने पर, यदि लोग बड़े सावधान रहने वाले हों, और उत्पादन में सन्निहित जोखिम का उन्हें पूरा ज्ञान हो (या उसके विषय में उनके अनुमान उचित से अधिक हों) तो हमें अधिक लाभ की आशा करनी चाहिए। जोखिम उठाने की पूर्ति केवल साहसोद्यमी बनने को तत्पर व्यक्तियों की संख्या पर ही नहीं, वरन् जोखिम की उस मात्रा पर भी निर्भर है जिसे उठाने के लिए प्रत्येक साहसोद्यमी सन्नद्ध हो। अन्य साधनों की भाँति ही, यहाँ भी आन्तरिक और बाह्य सीमायें होती हैं। इन दो प्रकारों के प्रसार के कारण, जब जोखिम उठाने की पूर्ति में वृद्धि होती है तब उत्पादन भी बढ़ता है। जिस प्रकार, अन्य बातें समान रहने पर, श्रम-पूर्ति की वृद्धि के साथ उत्पादन बढ़ता है, उसी प्रकार साहसोद्यम की पूर्ति में वृद्धि होने से भी।

यह तो जोखिम उठाने की पूर्ति की बात हुई। अब उसकी माँग पर विचार करें। श्रम की पूर्ति श्रमिक करता है, और माँग नियोक्ता, अर्थात् साहसोद्यमी। जोखिम उठाने की पूर्ति साहसोद्यमी द्वारा होती है, और उसकी माँग श्रमिकों, पूंजीपतियों और संगठनकर्ताओं जैसे नियुक्त साधनों द्वारा। वे जोखिम उठाने की माँग इसलिए करते हैं, कि वे स्वयं जोखिम नहीं उठाना चाहते। साहसोद्यमी श्रम की माँग इसलिए करता है कि वह स्वयं श्रम नहीं करना चाहता। इसी भाँति श्रमिक (या पूंजीपति और संगठनकर्ता) जोखिम उठाने की माँग इसलिए करता है कि वह स्वयं जोखिम नहीं उठाना चाहता। विश्लेषण की सरलता के लिए हम यहाँ यह मान लें कि श्रम ही एक मात्र क्रीत साधन है। इससे विचाराधीन आर्थिक समस्या में कोई बाधा या संकीर्णता नहीं आती। अब, हम यह कह सकते हैं कि श्रमिक ही जोखिम उठाने की माँग करता है। साहसोद्यमी द्वारा पूर्त जोखिम उठाने के इस कार्य के लिए उसे मूल्य देना पड़ेगा। इसके बदले में जोखिम न उठाने की निश्चिन्तता मिलती है। यदि यह निश्चिन्तता (जोखिम उठाने के) मूल्य से अधिक हो, तो वह साहसोद्यमी की सेवाएँ स्वीकार कर लेगा। संस्थिति की दशा वह होती है जहाँ साहसोद्यमी की सेवाओं की अन्तिम इकाई से प्राप्त निश्चिन्तता उनके मूल्य के बिल्कुल बराबर हो। वैज्ञानिक भाषा में हम कहेंगे कि संस्थिति में सीमान्त हित और सीमान्त लागत बराबर होते हैं। साहसोद्यमी द्वारा जोखिम उठाने की इस सेवा से श्रमिक का जो हित होता है, उसे साहसोद्यमी या जोखिम उठाने की उत्पादकता कहा जा सकता है। इस कथन से हमको यह फायदा होता है कि यहाँ, और अन्यत्र भी, हम यह कह सकते हैं कि जोखिम उठाने का प्रतिफल (लाभ) जोखिम उठाने की सीमान्त उत्पादकता के बराबर है। जब एक श्रमिक (यदि हम ऐसा कहना चाहें) जोखिम उठाने की एक और इकाई की नियुक्ति करता है, उत्पादन में कुछ वृद्धि होती है। यह सीमान्त उत्पादकता निम्न प्रकार से अनुगणित हो सकती है :—

मान लीजिए कि एक श्रमिक को १०) प्रति घंटे की दर से मज़दूरी दी जाती है। यदि वह दस घंटे काम करे, तो उसे १००) मिलेंगे। यह भी मान लीजिए कि साहसोद्यमी को लाभ (जोखिम उठाने के प्रतिफल) के रूप में ५०) मिलते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि दस घंटों में १५०) के मूल्य की वस्तु का उत्पादन होता है, जिसमें से श्रमिक को अपने श्रम के लिए १००) और साहसोद्यमी को उत्पादन का जोखिम उठाने के लिए ५०) मिलते हैं। अब, यह मान लीजिए कि श्रमिक एक घंटा अधिक काम करने का निश्चय करता है, और इस प्रकार ग्यारह घंटे काम करके वह १६५) के मूल्य की वस्तुएँ उत्पन्न करता है। यदि साहसोद्यमी को पहले की दर पर ही प्रतिफल मिले, तो उसे अब ५५) मिलने चाहिए। ऐसी दशा में श्रमिक के लिए ११०) बच रहेंगे। वह यह सोचेगा कि ग्यारह घंटे काम करने से उसे ११०) मज़दूरी में मिले हैं, अर्थात् १०) प्रति घंटे की पुरानी दर पर ही। यहाँ जोखिम उठाने की सीमान्त उत्पादकता क्या है? श्रमिक ने जोखिम उठाने की एक अधिक इकाई (हम इसे इकाई ही कहें) का उपयोग किया है, और ऐसा करने में एक घंटा अधिक श्रम करना पड़ा है। उत्पादन में १५) मूल्य की वृद्धि हुई है, क्योंकि कुल उत्पादन का मूल्य १५०) से बढ़कर १६५) हो गया है। इसमें से श्रम पर व्यय हुई अतिरिक्त लागत, अर्थात् १०), साहसोद्यमी घटा देता है। अब उसके पास ५) बच रहते हैं। ५) ही यहाँ जोखिम उठाने की (वास्तविक) सीमान्त उत्पादकता है। इसलिए लाभ इस वास्तविक उत्पादकता के बराबर होता है। यह प्रति घंटे के हिसाब से अनुगणित पांच रुपया लाभ उतना ही है जितना तब था जब श्रमिक दस घंटे काम कर रहा था।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संस्थिति में लाभ की दर जोखिम उठाने की सीमान्त (वास्तविक) उत्पादकता के बराबर होती है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि बिना उत्पादन के अन्य साधनों में वृद्धि किए जोखिम उठाने की मात्रा में वृद्धि भी सम्भव नहीं है। इस भाँति जोखिम उठाने की सीमान्त उत्पादकता क्रीत साधनों की मात्रा में वृद्धि करके, और कुल उत्पादन की अभिवृद्धि में से अतिरिक्त उत्पादन में क्रीत साधनों पर हुए व्यय को घटा कर अनुगणित हो सकती है। संक्षेप में, हम साहसोद्यम की केवल वास्तविक सीमान्त उत्पादकता (net marginal productivity) का ही अनुगणन कर सकते हैं।

किन्तु यह बात केवल साहसोद्यम के लिए ही हो, ऐसा नहीं है। श्रम भी, जब तक उसे अन्य साधनों का सहयोग न मिले, किसी प्रकार का उत्पादन नहीं कर सकता। यदि आप एक और श्रमिक की नियुक्त करें, तो काम करने के लिए उसे कच्चा माल भी देना होगा। यदि ऐसा न किया जाए तो इस अतिरिक्त श्रमिक की उत्पादकता कुछ भी नहीं होगी।

लाभ की उपर्युक्त व्याख्या यह पूर्णतः स्पष्ट कर देती है कि वह उसी प्रकार वस्तु के उत्पादन की लागत का अंश है जिस प्रकार मज़दूरी, वेतन या व्याज आदि। इसलिए जब वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन की औसत लागत के बराबर हो तो साहसोद्यमी को जोखिम उठाने का प्रतिफल उपर्युक्त वर्णित ढंग से ही मिलता है। किन्तु, यदि (प्राप्त) मूल्य आशा से अधिक हो, तो क्रीत साधनों के भुगतान और साहसोद्यमी को जोखिम उठाने के लिए मिले प्रतिफल की प्राप्ति के बाद भी एक अतिरेक बच रहता है। इस आकस्मिक अतिरेक (accidental gain) को 'लाभ' समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। साधारणतः ये दोनों एक साथ मिला दिए जाते है, और फिर उन्हें 'लाभ' कहा जाता है। किन्तु सैद्धान्तिक समीचीनता के लिए यह आवश्यक है

कि इन दोनों को पृथक् रखा जाए, और उनका नाम भी भिन्न हो। लाभ उत्पादन के जोखिम के लिये मिला एक आवश्यक प्रतिफल है। वह उत्पादन की लागत का एक अंश है। इसलिये लागत के किसी अन्य अंश के समान ही सदैव धनात्मक (positive) होता है। जिस प्रकार मज़दूर को मज़दूरी और पूंजीपति को व्याज मिलता है, उसी प्रकार साहसोद्यमी को लाभ मिलना ही चाहिए। इस लाभ की प्राप्ति के बाद भी यदि कुछ बच रहे, तो उसे आकस्मिक अतिरेक कहना ही ठीक होगा। और यदि, मूल्य के आशा से कम होने के कारण, अतिरेक के स्थान पर हानि हो तो उसे आकस्मिक हानि कहेंगे इस 'हानि' को भी 'लाभ' से पृथक् रखना चाहिए, और इसके कारण लाभ को घटने देना नहीं चाहिए। 'लाभ' सदैव एक धनात्मक आय के रूप में निरूपित होना चाहिए। और आकस्मिक हानि का निरूपण तभी होना चाहिए जब लाभ निकाल लिए गये हों। नीचे की तालिका में लाभ एवं आकस्मिक अतिरेक और हानियों के अनुगणन की विधि दिखाई गई है।

लाभ और आकस्मिक अतिरेक का अन्तर

(स्पर्द्धापूर्ण बाज़ार के एक उत्पादक का लेखा)

	सम्भावित मूल्य १)	वास्तविक मूल्य १)	वास्तविक मूल्य ।।।=)।।।
	रु० आ० पा०	रु० आ० पा०	रु० आ० पा०
उत्पत्ति (१८०० इकाइयाँ)	१८०० ००	१६१२ ८ ०	१७४३ १२ ०
मज़दूरियाँ	१३०० ००	१००० ० ०	१००० ० ०
व्याज (और घिसावट तथा किराया आदि)	५०० ० ०	५०० ० ०	५०० ० ०
संगठनकर्ताओं के वेतन	२०० ० ०	२०० ० ०	२०० ० ०
लाभ (जोखिम उठाने का प्रतिफल)	१०० ० ०	१०० ० ०	१०० ० ०
कुल लागत	१८०० ० ०	१८०० ० ०	१८०० ० ०
आकस्मिक अतिरेक	—	११२ ८ ०	
आकस्मिक हानि	—		५६ ४ ०
लागत+अतिरेक (या लागत —हानि)	१८०० ० ०	१९१२ ८ ०	१७४३ १२ ०

प्राचीन सिद्धान्तों की आलोचना—ऊपर हमने लाभ के सही सिद्धान्त का वर्णन किया है। अब हमें लाभ के कुछ अन्य सिद्धान्तों की परीक्षा करनी है, और देखना है कि वे हमारे अपने सिद्धान्त के अनुकूल कहाँ तक सिद्ध होते हैं। आइए, हम लाभ पर मार्शल के विचारों से यह परीक्षा प्रारम्भ करें।

मार्शल का सिद्धान्त—मार्शल कुल (gross) और वास्तविक (net) लाभ में अन्तर करते हैं। पहले में श्रम की मज़दूरी और पूंजी का व्याज भी सम्मलित है, दूसरे में नहीं। साहसोद्यमी के अर्जन में श्रम की मज़दूरी, पूंजी का व्याज, भूमि का भाटक (यदि वह अपनी भूमि का उपयोग करे), संगठन कार्य का वेतन और योग्यता-भाटक सम्मिलित है। मार्शल पहले दो (और संभवतः अंतिम) प्रकार के अर्जन को वास्तविक लाभ के अन्तर्गत नहीं मानते।

मार्शल के विचार से प्रबन्ध का अर्थ है संगठन, नई विधियों का आविष्कार, और जोखिम उठाना। इन दो कार्यों में पहला तो जोखिम को कम करना है और दूसरा जोखिम उठाना। पहले का अर्थ है मानसिक परिश्रम, दूसरे का चिन्ता और भय। मार्शल के विचार में ये दोनों कार्य एक दूसरे से पृथक् नहीं रखे जा सकते। इसलिए लाभ प्रबन्ध के इस संयुक्त कार्य का प्रतिफल है।

लाभ के विषय में मार्शल की यह धारणा हमारी धारणा से इस अर्थ में भिन्न है कि वे जोखिम उठाने के प्रतिफल के अतिरिक्त, संगठन-कार्य के वेतन को भी लाभ के अन्तर्गत मानते हैं। दूसरा अन्तर यह है कि मार्शल लाभ और आकस्मिक अतिरेक में स्पष्ट भेद नहीं करते। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि उनके विचार से दीर्घकाल में किसी साधारण साहसोद्यमी के अर्जन में आकस्मिक अतिरेक का कोई भी अंश नहीं होता।

इसके विपरीत, लाभ पर हमारे और मार्शल के विचारों में दो समानताएँ भी हैं। एक तो यह है कि दोनों विचारों में लाभ लागत का अंश है; और दूसरे यह, कि लाभ श्रम की मज़दूरी और पूंजी के व्याज से अलग होता है।

यह पहली समानता मार्शल के साथ कुछ क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के विचारों में भी है। एडम स्मिथ, माल्थस, रिकार्डो और मिल सभी का यह मत था कि लाभ उत्पादन की लागत के अन्तर्गत आता है। एडम स्मिथ के अनुसार लाभ साहसोद्यमी को उत्पादन में जोखिम उठाने और अन्य सेवाओं के लिए प्राप्त प्रतिफल है। रिकार्डो की व्याख्या में भी लाभ श्रम की मजदूरी के ऊपर मिलने वाला वह अतिरेक है जो नियोक्ता को पूंजी के उत्पादक उपयोग में साधारणतः रहने वाले जोखिम और परेशानी के लिए मिलता है। मिल ने भी इस बात पर जोर दिया है कि जोखिम उठाना साहसोद्यमी का एक विशेष कार्य है; उनके अनुसार उत्पादन में न लगाई गई पूंजी (idle capital) के कारण उत्पन्न जोखिम के ऊपर भी जो जोखिम रहता है उसके लिए लाभ एक पर्याप्त प्रतिफल है।

इस प्रकार लाभ को लागत का अंश समझने वाली क्लासिकल धारणा इस अध्याय में वर्णित हमारे अपने विचारों के अनुकूल ही है। जो थोड़ा-बहुत परिमार्जन आवश्यक है, वह यही कि अपने संगठन कार्य (जो वह लगभग सदैव ही करता है) के लिए साहसोद्यमी को मिले प्रतिफल को जोखिम उठाने के लिए मिले प्रतिफल से पृथक ही रखना चाहिए। सच तो यह है कि कोई साहसोद्यमी, मात्र साहसोद्यमी के रूप में, उत्पादन का जोखिम उठाने के अतिरिक्त और कोई कार्य कर ही नहीं सकता। फिर लाभ और आकस्मिक अतिरेक में भी कुछ प्रभेद करना चाहिए। कदाचित् क्लासिकल अर्थशास्त्री यह समझते थे कि दीर्घकाल में आकस्मिक लाभों की प्रवृत्ति आकस्मिक हानियों में खो जाने की होती है। यह ठीक हो भी सकता है, और नहीं भी; पर यह अन्तर है महत्वपूर्ण और लाभ के किसी भी सिद्धान्त के स्पष्टतर विश्लेषण में सहायक होता है।

वाकर का सिद्धान्त—लाभ के इस लागत-सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत प्रेसिडेन्ट वाकर (Walker) का अतिरेक-सिद्धान्त है। कदाचित् उनका ध्यान साहसोद्यमियों की आयों में आकस्मिक अतिरेकों के महत्व पर था। उत्पादकों को प्रायः होने वाले आशातीत लाभों की समुचित व्याख्या केवल जोखिम उठाने के लिए मिले प्रतिफल से ही नहीं हो पाती। इसलिए

वे लाभ को उत्पादक की लागत के बाहर रखते हैं, और उसको दिए हुए साहसोद्यमी और सीमान्त साहसोद्यमी की आयों का अन्तर मानते हैं। भाटक की भाँति ही लाभ को वे साहसोद्यमी की सीमान्त अ-लाभ (no-profit) आय से ही मापते हैं। उनका तर्क था कि साहसोद्यमियों में एक सहज योग्यता होती है जो दुर्लभ है। इस योग्यता के उपयोग से किसी आय की उत्पत्ति होती है। किन्तु जो साहसोद्यमी सीमान्त पर हो, इस योग्यता का कोई मूल्य पा सकने में असमर्थ रहता है। या यह कहना अधिक ठीक होगा कि 'लाभ' शब्द का प्रयोग इस योग्यता के मूल्यों के अन्तरों का निर्देश करने में होना चाहिए। सीमान्त साहसोद्यमी को जो कुछ मिले, वह उसकी लागत का अंश है। स्पष्ट है, कि वाकर के समक्ष लाभ संगठन-कर्ताओं की आय में भाटक का अंश है। उत्पादन के संगठनकर्ता के रूप में साहसोद्यमी जो कार्य करता है (पूँजी का उत्पादक विनियोग, और इसमें सन्निहित जोखिम को कम करना) वह हर साहसोद्यमी के लिए भिन्न होता है। जिसमें यह सहज योग्यता अधिक होगी, वह कम योग्यता वाले साहसोद्यमी से अधिक अर्जन करेगा। इस प्रकार लाभ सहज संगठन योग्यता का भाटक है।

एन्ड्रयू का सिद्धान्त—यह स्पष्ट नहीं है कि वाकर के मत में आकस्मिक अतिरेक लाभ के अन्तर्गत आते हैं या नहीं। सम्भवतः वे आकस्मिक अतिरेक, जो शून्य लाभ वाले साहसोद्यमी को मिले आकस्मिक अतिरेकों के ऊपर हों, लाभ में सम्मिलित हैं। इस प्रश्न पर प्रेसिडेन्ट एन्ड्रयू (Andrew) अधिक स्पष्ट हैं। अधिकांश तो उनके विचार वाकर जैसे ही हैं। किन्तु वे भाग्यवश मिलने वाले आकस्मिक अतिरेकों और सहज योग्यता द्वारा प्राप्त आय में स्पष्ट भेद करते हैं।

वालरस और जीड के मत—यह मत, कि लाभ उत्पादन की लागत के ऊपर मिलने वाला अतिरेक है, यूरोपीय अर्थशास्त्रियों का भी है। उदाहरणार्थ, वालरस (Walras) के अनुसार पूर्ण स्पर्द्धा में, जब वस्तु का मूल्य उत्पादन की लागत के बिलकुल बराबर होता है, लाभ की सामान्य दर शून्य होती है। जीड (Gide) के अनुसार भी लाभ लागत के ऊपर प्राप्त अतिरेक है। उनका कथन है कि यह अतिरेक तभी संभव होता है जब साहसोद्यमी को किसी प्रकार का एकाधिकार प्राप्त हो। साहसोद्यमी द्वारा बेचे जाने वाली वस्तु दुर्लभ होनी चाहिए; अन्यथा (जीड के मत से) लाभ नहीं होगा। उनका वर्णन बहुत अधिक स्पष्ट भले न हो, किन्तु यह तो है ही कि वे लाभ को उत्पादन की लागत के ऊपर मिलने वाला अतिरेक समझते हैं।

क्लार्क का सिद्धान्त—क्लार्क (Clark) का सिद्धान्त लाभ के प्रवैगिक सिद्धान्त के नाम से प्रचलित है। उनका मत है, और ठीक ही, कि लाभ केवल प्रवैगिक स्थिति में ही प्रकट होते हैं। स्थैतिक स्थिति में जब न किसी प्रकार का जोखिम रहता है और न महत्वपूर्ण निर्णयों की आवश्यकता, लाभ नहीं होते। लाभ पर उनके विचार हमारे विचारों से यहाँ तक तो समान हैं कि वे भी परिवर्तनों (और इसलिए अनिश्चितता) को लाभ की उपस्थिति की आवश्यक शर्त मानते हैं। किन्तु जहाँ हमने लाभ को जोखिम उठाने का प्रतिफल कह कर परिभाषित किया है, क्लार्क इसमें व्यवसायी के संगठन कार्य का प्रतिफल भी सम्मिलित कर लेते हैं। उदाहरणार्थ वे कहते हैं कि "हम देखेंगे कि प्रवैगिक उद्योग में एक साधारण ढंग होता है जिसके द्वारा व्यवसायी श्रम और पूँजी की आयों में से (जो, जब वह अपना काम न करे, तो उन्हें मिलती) कुछ भी निकाले बिना ही आय का उपार्जन कर सकता है। उसकी अपनी आय उसके प्रोत्साहक-कार्य

(enabling-act) के फल स्वरूप प्राप्त होती है। इस प्रोत्साहक कार्य से किसी विशेष उपसमूह के श्रम और पूँजी अन्य स्थानों के श्रम और पूँजी से अधिक उत्पादक हो जाते हैं, और यदि यह प्रोत्साहक कार्य न किया जाता, उस स्थिति की अपेक्षा तो कहीं अधिक"।

इस प्रकार, क्लार्क के अनुसार, साहसोद्यमी की आय का कारण यह है कि वह श्रमिकों और पूँजीपतियों के प्रयत्नों को अधिक उत्पादक बनाता है। उसकी अनुपस्थिति में श्रमिक और पूँजीपतियों के प्रयत्न इतने उत्पादक न होते। इसलिये, जोखिम उठाने के अतिरिक्त साहसोद्यमी अन्य कार्य भी करता है। किन्तु, आश्चर्य है कि एक दूसरे स्थान पर क्लार्क ने ठीक उल्टी बात कही है। कोई व्यक्ति केवल साहसोद्यमी कैसे हो सकता है, यह समझाते हुए वे कहते हैं "यदि कोई व्यक्ति अपने व्यवसाय की आवश्यकता के अनुसार सब श्रम, सब पूँजी, और कर्मचारियों आदि नियुक्त कर लेने के बाद किसी दूर देश में जाकर रहने लगे, और अपने प्रबन्धकों से कुछ भी सम्पर्क न रखे, तो जो भी आय उसे प्राप्त होगी वह शुद्ध साहसोद्यम की आय होगी।" यहाँ साहसोद्यमी से क्लार्क का तात्पर्य केवल जोखिम उठाने वाले से है। वह कुछ भी काम नहीं करता, क्योंकि उसका अपने प्रबन्धकों से कुछ भी सम्पर्क नहीं है। इस प्रकार यह आश्चर्य की बात है कि प्रवैगिक अवस्था में लाभ की उपस्थिति का वर्णन करते हुए वे साहसोद्यमी को सहयोगी साधनों की उत्पादकता में वृद्धि करने का कार्य भी सौंप देते हैं। शब्दशः और सारतः उनका विचार सुसंगत तभी होता जब वे पहले आए हुए 'प्रोत्साहक-कार्य' शब्द को ही चलाए रखते।

साथ ही, यह भी स्पष्ट नहीं कि क्लार्क के अनुसार आकस्मिक अतिरेक लाभ के अन्तर्गत हैं या नहीं। शायद वे उन्हें लाभ के अन्तर्गत ही मानते हैं क्योंकि वे कुल आमदनी और कुल लागत के अन्तर को ही लाभ समझते हैं।

नाइट का सिद्धान्त— अब हम प्रोफेसर नाइट (Knight) के सिद्धान्त का विश्लेषण करें। लाभ पर उनके विचार १९२१ में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'रिस्क, अनसर्टेन्टी एन्ड प्राफ़िट' में विस्तारपूर्वक वर्णित हैं। आज कल उनका मत क्या है, हम ठीक ठीक नहीं जानते; किन्तु १९२१ में जो उनका मत था, वह लगभग १९३३ तक परिवर्तित नहीं हुआ। तत्पश्चात् जैसा कि उनके कुछ लेखों, और उनकी पुस्तकों की समालोचनाओं से पता लगता है, ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने विचारों में कुछ सुधार किए हैं। यहाँ हम केवल उक्त ग्रंथ में वर्णित विचारों तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

प्रोफेसर नाइट के अनुसार अपरिवर्तनशील अर्थ-व्यवस्था में लाभ नहीं हो सकता। ऐसी व्यवस्था में निर्णय करने और उनका उत्तरदायित्व सम्भालने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती, और इसलिए कोई साहसोद्यमी भी नहीं होता। परिवर्तनशील व्यवस्था में भविष्य का अनुमान लगाने की, और इसलिए महत्वपूर्ण निर्णय करने की आवश्यकता पड़ती है। क्योंकि भविष्य के ये अनुमान सदैव सच नहीं उतर सकते, इसलिए जो भी यह कार्य करता है अच्छी तरह जानता है कि अनुमानों पर अपने निर्णयों को आधारित करने में वह जोखिम उठा रहा है। अन्य नियुक्त साधनों को साहसोद्यमी एक नियमित भुगतान की गारंटी देता है, और उनको मिले ये प्रतिफल ठीक ठीक निर्दिष्ट और निश्चित होते हैं। स्वयं साहसोद्यमी की आय निर्दिष्ट नहीं हो पाती, क्योंकि वह एक शेष आय है। जो अन्य साधनों की आयों का निश्चय हो जाने के बाद बच जाए, वही उसकी आय है।

नाइट के और हमारे सिद्धान्त के बीच यह पहला महत्वपूर्ण अन्तर है। हमारे मत से लाभ जोखिम उठाने के कार्य का प्रतिफल है और किसी अन्य आय की भाँति ही इसका भी निश्चय होता है। नाइट के मत से लाभ शुद्ध शेष आय मात्र है। इस प्रकार, जिसे हमने आकस्मिक अतिरेक (या हानि) कहा है वह भी इसमें सम्मिलित है। हमारे लिए साहसोद्यमी केवल जोखिम उठाने वाला है और इसके प्रतिफल के अतिरिक्त यदि उसे कुछ और भी ऊपर से मिलता है तो वह जोखिम उठाने वाले के रूप में नहीं, किसी अन्य रूप में ही।

इन दो विचारों के अन्तर का उद्‌गम इस भाँति 'साहसोद्यम' शब्द के अर्थ के अन्तर में ढूंढा जा सकता है। हमारे लिए साहसोद्यमी का कार्य अपने आप को एक अनिश्चित मानसिक दशा में रखना है—एक ऐसी मानसिक दशा जिसमें किसी क्रिया के वैत्तिक फलों का ठीक ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। दूसरी ओर, नाइट के अनुसार साहसोद्यमी का कार्य उत्पादन की क्रियाओं का संचालन और नियंत्रण करना, भविष्य का अनुमान लगाना, और इन अनुमानों पर आधारित निर्णयों का उत्तरदायित्व संभालना है। जैसा नाइट ने स्वयं स्वीकार किया है, उत्पादन-क्रियाओं का संचालन और नियंत्रण ऐसा कार्य है जो अपरिवर्तनशील अर्थ-व्यवस्था में भी किसी न किसी को करना पड़ता है। इसलिए, शब्द के सही अर्थों में, उत्पादक उद्योग का संचालन और नियंत्रण साहसोद्यम नहीं है। हमारी भाषा में ऐसे कार्य को संगठन कहा जा सकता है। किन्तु, जैसा नाइट ने ठीक ही कहा है, ऐसी अर्थव्यवस्था में जहाँ अनिश्चितता नहीं है, क्रियाओं का संचालन और नियंत्रण एक नित्यक्रम मात्र बन जाता है। यह संदिग्ध है कि ऐसी व्यवस्था में बुद्धि के उपयोग का कोई क्षेत्र रहता भी है या नहीं। और, जहाँ तक संगठन स्वयं एक ऐसा मानसिक परिश्रम है जिसमें बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है, यह भी संदिग्ध है कि इस काल्पनिक अपरिवर्तनशील अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधन के रूप में संगठन का अस्तित्व रह सकता है। जो भी हो, इस प्रश्न के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अनिश्चितता-रहित समाज में हमारी कोई व्यवहारिक दिलचस्पी नहीं हो सकती।

इस तरह नाइट इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि साहसोद्यमी द्वारा उपार्जित आय को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले तो, वह किसी भी अन्य कार्यकर्ता की भाँति आर्थिक क्रियाओं के संचालन और नियंत्रण के लिए प्रतिफल पाता है। इसके अतिरिक्त शुद्ध साहसोद्यमी के रूप में भी निर्णय करने, उनका उत्तरदायित्व संभालने, और अपनी विवेक बुद्धि का उपयोग करने के लिए भी एक आय का अर्जन करता है। संक्षेप में, उसकी आय का यह दूसरा भाग निर्णय लेने और जोखिम उठाने का प्रतिफल है। नाइट का विचार है कि इन दो प्रकार के कार्यों की आय का ठीक ठीक पृथक्करण संभव नहीं है। सच तो यह है कि उनके मतानुसार उसकी आय के पहले भाग का भी—जिसका अर्जन वह अपने संचालन और नियंत्रण कार्य के प्रतिफल के रूप में करता है—ठीक ठीक निश्चय नहीं हो सकता। इस विषय में वे कहते हैं: "यह प्रतिफल तो केवल योग्यता की श्रेणी अथवा विचाराधीन सम्पत्ति के प्रकार के लिए प्राप्त भुगतान की स्पर्द्धा-अनिश्चितरित दर है। हो सकता है कि व्यवहार में यह कहना सम्भव न हो कि यह दर है क्या? न केवल हमारे जीवन की परिवर्तनमय परिस्थितियों में वस्तुओं और सेवाओं का पूर्ण रूपेण प्रमापीकरण ही असंभव है, वरन साहसोद्यमी के कार्य की विशेषताओं के कारण यह भी हो सकता है लगभग समान परिस्थितियों में भी साहसोद्यमी और गैर-साहसोद्यमी

सोद्यमी गैर-साहू एक ही जैसा कार्य न करें। इसलिए शुद्ध मजदूरी या भाटक के अंश को अनिश्चितता से उद्भूत अंश से साधारण तया बिल्कुल ठीक ठीक अलग नहीं किया जा सकता।"

यह संभवतः सच है। वास्तविक संसार की परिस्थितियों में साहसोद्यमी की आय के इन दो तत्वों का सही पृथक्करण सम्भव नहीं है। फिर भी इस कठिनाई को तभी दूर किया जा सकता है जब सचमुच ही साहसोद्यमी की आय के विभिन्न तत्वों को पृथक् करने का प्रयत्न किया जाय। सिद्धान्त में, आय के इन दोनों भागों की पृथक् कल्पना करना, और उनकी निर्धारक-शक्तियों को समझना आसान ही है। यह कठिनाई और भी कम हो जाती है यदि हम 'साहसोद्यमी' शब्द को इस प्रकार परिभाषित करें कि केवल उसके जोखिम उठाने वाले पक्ष की ही ओर संकेत हो।

यदि यह मान भी लिया जाय कि आय का एक भाग, जिसे प्रबन्ध-कार्य की मजदूरी कह सकते हैं, पृथक् रूप से निश्चित होता है, तो भी यह देखना शेष रहता है कि लाभ निर्णय करने के कार्य का प्रतिफल है, या उनमें निहित जोखिम उठाने के कार्य का। इस प्रश्न पर नाइट का मत विचारणीय है। स्मरण रहे, हमारे लाभ-सिद्धान्त के अनुसार केवल जोखिम उठाने के कार्य का प्रतिफल ही लाभ है। निर्णय करने के कार्य से प्राप्त आय को हमने संगठन-कार्य के वेतन के अन्तर्गत रखना ही अधिक उचित समझा है। इसके विपरीत नाइट के मतानुसार यह लाभ का ही एक भाग है। उनके मत में साहसोद्यमी निर्णय करने का कार्य किसी अन्य व्यक्ति पर नहीं छोड़ सकता; या यह कह सकते हैं कि यह कार्य भी जोखिम उठाने के अन्तर्गत ही आता है। इस प्रकार उनके विचार से 'लाभ' शब्द के अर्थ को इतना व्यापक बनाना आवश्यक है कि उसमें निर्णय करने के कार्य का प्रतिफल भी आ जाए। वे कहते हैं: "मूलतः साहसोद्यम आर्थिक जीवन के दायित्वपूर्ण संचालन के कार्य का विशेषीकृत रूप है। आर्थिक जीवन के इन दो तत्वों—दायित्व और नियंत्रण—की अभिन्नता पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है।...........एक स्वतंत्र समाज में, विवेक का प्रभावी उपयोग और निर्णय लेने का कार्य, चाहे वह कितना ही कम या अधिक क्यों न हो, अनिवार्यतः अनिश्चितता के जोखिम और उन निर्णयों के उत्तरदायित्व की एक समान मात्रा में संबद्ध रहता है।"

इन दो कार्यों के पृथक्करण की सैद्धान्तिक सम्भावना पर विचार करते हुए नाइट कहते हैं कि हो सकता है कि एक व्यक्ति केवल निर्णय करे और दूसरा केवल जोखिम उठाए। किन्तु उनके मत से इस प्रकार का पृथक्करण वास्तविकता से इतना दूर है कि उस पर गंभीरता पूर्वक विचार करना व्यर्थ है। वे कहते हैं कि निर्णय करने का नित्य-कार्य यदि साहसोद्यमी स्वयं न करे, तो भी इस महत्वपूर्ण प्रश्न का निर्णय तो उसे करना ही होता है कि नित्य प्रति निर्णय का कार्य करने के लिए कौन व्यक्ति सर्वाधिक उपयुक्त होगा। यह कहना कठिन है कि नाइट का यह कथन बिल्कुल ठीक है। फिर भी, हमारे विचार से तो इन दो कार्यों की प्रवृत्ति इतनी भिन्न है कि यह मान लेने से कि एक ही व्यक्ति दो रूपों में दो प्रकार की आयों का अर्जन करता है, सिद्धान्त को कोई क्षति नहीं पहुँचती। इस तरह, जहाँ नाइट के लिए लाभ में जोखिम उठाने के प्रतिफल के साथ ही निर्णय करने के संगठनात्मक कार्य का प्रतिफल भी सम्मिलित है, हमारे लिए लाभ केवल पहले प्रकार का प्रतिफल है।

लाभ के विषय में नाइट की और हमारी धारणाओं में एक शायद इतना ही महत्वपूर्ण अंतर और भी है। नाइट के अनुसार लाभ एक शेष आय है। अन्य साधनों का भुगतान करने

के बाद जो कुछ बच रहे वह साहसोद्यमी की आय है, और इसी को वे लाभ कहते हैं। इस भाँति यह स्पष्ट है कि लाभ में उपर्युक्त दो प्रकार की आयों (निर्णय करने और जोखिम उठाने की) के अतिरिक्त अन्य आकस्मिक और अप्रत्याशित अतिरेक भी सम्मिलित हैं। और यदि कोई अप्रत्याशित हानि हो, तो लाभ उतने परिमाण में कम हो जाता है। लाभ के विषय में नाइट की इस धारणा में इस बात की सम्भावना निहित है कि कभी कभी अपने कार्य के लिए साहसोद्यमी को मिली सारी की सारी आय लुप्त हो जा सकती है। इस प्रकार लाभ कुछ स्थितियों में शून्य या ऋणात्मक भी हो सकता है। इस सम्भावना का कारण यह है कि लाभ में तीन पृथक तत्व सम्मिलित हैं। तीन विभिन्न वस्तुओं के संयोजन को इस प्रकार एक ही नाम से निरूपित करना विचार की स्पष्टता में सहायक नहीं होता।

नाइट ने जोखिम उठाने की आय को आकस्मिक अतिरेकों और हानियों से जोड़ दिया है। इस विषय में वे कहते हैं : "स्पष्टतः साहसोद्यमी की आय प्रकृति में बड़ी जटिल है, और इसके विभिन्न अंशों का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत ही बारीक है। इसका एक अंश तो व्यवसाय को साहसोद्यमी द्वारा अर्पित नैत्तिक सेवाओं के लिए (मजदूरी या वेतन) या अपनी सम्पत्ति के लिए (भाटक या व्याज) प्राप्त सम्विदित आय है। दूसरा अंश—जो अतिरेक का अंश है—भी बड़ा जटिल होता है क्योंकि यह स्पष्ट है कि इसका कुछ भाग तो ठीक ठीक अनुगणित हो सकता है, किन्तु कुछ केवल भाग्य पर निर्भर है।"

इस प्रकार लाभ के कुछ प्राचीन सिद्धान्तों की परीक्षा समाप्त हुई। अब हम भाटक और लाभ के अन्तर पर विचार करेंगे।

भाटक और लाभ में भेद—प्रायः यह सोचा जाता है कि अधिकांशतः भाटक और लाभ दोनों एक ही प्रकार के अतिरेक हैं। और प्रायः यह भी कहा जाता है कि दोनों के बीच एक मात्र अन्तर यही है कि जब कि भाटक उत्पादन की दर स्थिति में प्राप्त होने वाला अतिरेक है, लाभ के अतिरेक की प्राप्त केवल प्रवैगिक स्थिति में ही होती है। जिन्होंने ऊपर के पृष्ठों का सही अध्ययन किया है उनको ऐसे मत की दोषपूर्णता स्पष्ट होगी। ऊपर हम कह आए हैं कि किसी भी अर्थ में लाभ को अतिरेक रूप नहीं कहा जा सकता। मज़दूरी और व्याज की भाँति ही वह भी लागत का ही अंश है। लाभ और मज़दूरी (या व्याज) में एकमात्र अन्तर यही है कि लाभ केवल प्रवैगिक स्थिति में ही प्रकट होता है, मज़दूरी (या व्याज) स्थैतिक और प्रवैगिक दोनों ही स्थितियों में रहती है। इसलिए भाटक और लाभ की तुलना के लिए हमारे पास कोई भी आधार नहीं है।

किन्तु यदि हम लाभ का अर्थ प्रवैगिक स्थिति में प्राप्त होने वाले आकस्मिक अतिरेकों से लें, तो लाभ और भाटक दोनों ही अतिरेक हो जाते हैं, और तब उनमें एक समान विशेषता दृष्टिगोचर होने लगती है। किन्तु इन दो अतिरेकों की प्रकृतियों में अन्तर है। भाटक स्थैतिक और प्रवैगिक दोनों स्थितियों में मिलने वाला अतिरेक है; लाभ (इस नए अर्थ में) केवल प्रवैगिक स्थिति में ही प्रकट होता है। भाटक के अतिरेक का कारण है दुर्लभता या विशिष्टता या यह कि भाटक पाने वाला साधन प्रकृति की निःशुल्क देन है। ध्यान रहे कि यहाँ, जैसा कि भाटक वाले अध्याय में समझाया जा चुका है, विशिष्टता और निःशुल्कता आदि शब्दों का प्रयोग व्यापकतम अर्थों में करना चाहिए। दूसरी ओर लाभ के अतिरेक का कारण है भविष्य-विषयक

अनुमान की त्रुटियाँ, या पूर्वदृष्टि की अक्षमता और अपूर्णता। आपको भाटक इसलिए मिलता है कि आप एक दुर्लभ वस्तु के स्वामी हैं; लाभ आप को इसलिए मिलता है कि आप की पूर्वदृष्टि अपूर्ण है (और नाइट के अनुसार वह उतना ही अधिक होगा जितना आपकी तुलना में औरों की पूर्वदृष्टि अपूर्ण हो)। अवसर-लागत के ऊपर अतिरेक के व्यापक अर्थ में भाटक की प्राप्ति तब होती है जब किसी साधन का कई दिशाओं में उपयोग नहीं हो सकता। अर्थात् जब कोई साधन सच्चे अर्थ में विभाज्य और चलिष्णु नहीं होता)। लाभ का अतिरेक तब प्रकट होता है जब अपूर्ण पूर्वदृष्टि के कारण आप फल-प्राप्ति का अनुमान वास्तविकता से कम लगाते हैं। भाटक प्रत्याशित, और लाभ अप्रत्याशित अतिरेक है। भाटक धनात्मक होता है; लाभ ऋणात्मक भी हो सकता है, और इस दशा में उसे हानि कहा जाता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि हम लाभ शब्द का प्रयोग आकस्मिक अतिरेक के (गलत) अर्थ में कर रहे हैं। लाभ जोखिम उठाने का फल है—जो जोखिम उठाता है उसे लाभ भी हो सकता है और हानि भी। इस भांति लाभ भविष्य पर दाँव लगाने का फल है। भाटक के विषय में ऐसा नहीं। यहाँ फिर इस बात को दुहराया जा सकता है कि अपूर्ण पूर्व-दृष्टि वाले मनुष्यों द्वारा चलाए गए किसी भी आर्थिक कार्य में इस प्रकार के दाँव—जिनका परिणाम लाभ भी हो सकता है और हानि भी—अनिवार्य हैं।

भाग—७

द्रव्य तथा विदेशी विनिमय

अध्याय ४४

द्रव्य

द्रव्य की उत्पत्ति—अदला-बदली की कठिनाइयों के कारण ही द्रव्य का उपयोग आरम्भ हुआ। प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छित सभी वस्तुएँ नहीं बना सकता था; अतएव उसे ऐसों को ढूँढ़ निकालना पड़ता था जो उसकी वस्तुओं के बदले में उसकी इच्छित वस्तुएँ दे सकें। अदला-बदली की मुख्य कठिनाई ऐसे व्यक्तियों को पाने की है जो अपनी वस्तुओं को देकर दूसरों की वस्तुएँ ले सकें। यह इच्छाओं के पूरक न होने के कारण उठती है। यदि एक व्यक्ति दूध और मक्खन देकर टोपी जूते लेना चाहता है तो बहुत सम्भव है कि जो व्यक्ति टोपी जूते दे सकते हैं उन्हें दूध और मक्खन की इच्छा न हो। ऐसी परिस्थिति में अदल-बदल नहीं हो सकती। परन्तु ऐसे व्यक्तियों के मिल जाने से भी समस्या हल नहीं हो जाती। 'दूध और मक्खन' तथा 'टोपी जूते' का अदल-बदल करने वालों को एक का दूसरे में अलग अलग और मिलकर अर्थ निश्चय करना पड़ेगा। फिर बाद में जब टोपी जूतों की अन्य कई वस्तुओं से अदला-बदली होगी तब टोपी जूतों की प्रत्येक अन्य वस्तु में अलग अलग कीमत निकालनी होगी। टोपी की कीमत मिट्टी से लेकर स्वर्ण तक की सभी वस्तुओं में निर्धारित करनी पड़ेगी। ऐसा ही टोपी से बदली जाने वाली सभी वस्तुओं की टोपी में कीमत निर्धारित करनी पड़ेगी। यदि यह मान लें कि इन सैकड़ों वस्तुओं में टोपी की कीमत निर्धारित हो गई तब भी कठिनाई का अंत नहीं होगा। मान लीजिए एक टोपी के बदले एक सेर दूध मिलेगा, तब प्रश्न उठता है कि डेढ़ सेर दूध के बदले टोपी देने वाले कितने व्यक्ति हैं और कितनी टोपियाँ देंगे। यदि अब टोपी के टुकड़े कर दिए जाएँ तो वह एक झाड़न से शायद ही अधिक महत्व रखे और हो सकता है कि ऐसे रूप में उसे कोई न लेना चाहे। यदि टोपी के टुकड़े नहीं करना है तो या तो अधिक दूध दिया जाए जिसके बदले में दो टोपियाँ दी जा सकें या फिर एक टोपी खरीदी जाए जिससे टोपी वाले को सेर भर दूध मिल जाए। अतः या तो दूध बेचने वाले अधिक टोपियाँ लें या टोपी देने वाले ज़रूरत से अधिक दूध लेने को तैयार हों।

इस प्रकार अदला-बदली में तीन कठिनाइयाँ उठती हैं:—(१) ऐसे व्यक्तियों का उपलब्ध होना जो एक दूसरे की वस्तु लेना चाहें, (२) प्रत्येक विक्रित वस्तु की उसके बदले में दी जाने वाली प्रत्येक वस्तु में कीमत निर्धारण करना, तथा (३) आवश्यकता होने पर वस्तुओं का विभाजन।

द्रव्य ने मनुष्यों की उपर्युक्त असुविधाओं और कठिनाइयों को दूर कर दिया है। फलतः उसका विस्तृत रूप से उपयोग होता है। वर्तमान विश्व अर्थव्यवस्था में तो द्रव्य अनिवार्य प्रायः है।

द्रव्य की परिभाषा—आइए द्रव्य की परिभाषा करें और देखें कि मानव समाज में इसके क्या विशिष्ट कार्य हैं। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने द्रव्य की भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। हम उन सब का विश्लेषण करके सही परिभाषा चुनने का प्रयत्न नहीं करेंगे। हम तो अधिकांश अर्थशास्त्रियों द्वारा स्वीकृत प्रो० राबर्टसन की परिभाषा को ही मान लेंगे। उनके अनुसार द्रव्य वह (कोई भी) वस्तु है जो किसी वस्तु की कीमत की अदाएगी या अन्य व्यापारिक देनी के भुगतान में विस्तृत रूप में स्वीकार कर ली जाती है। वे कहते हैं—"यदि वे वस्तुएँ, (जैसे सरकारी पत्रमुद्रा) जो द्रव्य बनाई गई हैं, देनी के भुगतान में नहीं स्वीकृत की जातीं

तो वे द्रव्य के कार्य नहीं करतीं और द्रव्य नहीं हैं। दूसरी ओर, यदि वे वस्तुएँ जो अभी तक द्रव्य नहीं समझी जातीं, जैसे तम्बाकू, सिगरेट या मांस के डिब्बे, देनी के भुगतान में विस्तृत रूप से स्वीकार कर ली जाती हैं तो वे द्रव्य बन जाती हैं।

द्रव्य के कार्य—कोई वस्तु विस्तृत रूप से स्वीकृत हो सके इस हेतु यह आवश्यक है कि वह सामान्यतः वस्तुओं के अर्घ के किसी प्रमाण या माप में बताई जा सके। चेक विस्तृत रूप से स्वीकृत है क्योंकि इस देश में वह रुपए, आने, पाई में लिखा जा सकता है जिनकी सहायता से हम उत्पादित तथा उपभोग के लिए विनिमित वस्तुओं का अर्घ मापते हैं। यदि चेक रुपयों का प्रतिनिधित्व न करें तो उनकी विस्तृत स्वीकृति नहीं रहेगी, क्योंकि तब वे अर्घ के एक सामान्य माप नहीं रहेंगे। मनुष्य चेक इसलिए ले लेते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि उन्हें भुनाने के बाद वे अपनी संतुष्टि के लिए वस्तुएं क्रय कर सकेंगे। चेक की भाँति अन्य वस्तुएँ भी सामान्यतः स्वीकृत न होंगी यदि वे अर्घ के सामान्य माप में नहीं हैं। अतः द्रव्य वह वस्तु है जो अर्घ के सामान्य प्रमाण या माप में बताई जा सकती है।

द्रव्य की विशेषता यह है कि यह सामान्यतः वस्तुओं के ऊपर अधिकार स्वरूप है और इसीलिए वह अपने बताए कार्यों को करता है। कहा जाता है कि द्रव्य विनिमय का माध्यम है और वस्तुओं तथा सेवाओं के क्रय विक्रय को सुलभ बनाता है। चाहे दूध बेचने वाला हो या टोपियों का विक्रेता, वह अपने माल की विक्री से प्राप्त रुपयों से अपनी माँग पूरी कर सकता है और उसे ऐसे व्यक्तियों की खोज नहीं करनी पड़ती है जो उसकी वस्तुएँ लेकर उसकी इच्छित वस्तुएँ दे सकें। यदि टोपी वाले को दूध की आवश्यकता है तो वह पहले टोपी बेचकर रुपए प्राप्त करेगा और रुपए देकर दूध खरीदेगा। दूध वाले को टोपियों की आवश्यकता हो या न हो वह दूध के बदले में द्रव्य ले लेगा क्योंकि वह जानता है कि द्रव्य देकर वह कभी भी इच्छित वस्तु खरीद सकता है। इस प्रकार उन दो पक्षों में, जिन्हें एक दूसरे की वस्तु की आवश्यकता नहीं है, द्रव्य के कारण विनिमय होता है।

हिसाब की इकाई होने के कारण (अर्थात् ऐसी वस्तु होने के कारण जिसमें हम सब वस्तुओं के अर्घ के हिसाब रख सकें) बिना कठिनाई वस्तुओं को चुनने और उनकी मात्रा निर्धारित करने में द्रव्य हमारी सहायता पहुँचाता है। इस प्रकार उसके कारण मानव व्यवहार के आर्थिक ध्येय में अर्थात् अधिकतम संतुष्टि प्राप्ति की सुविधा मिलती है।

द्रव्य का एक अन्य कार्य यह है कि वह टाले भुगतान (deferred payment) का मान है। जब भुगतान तुरन्त किए जाते हैं तब तो द्रव्य ऐसे भुगतान का मान होता ही है। परन्तु जब भुगतान कुछ समय पश्चात होंगे (यथा, लेने के महीनों बाद ऋण या वस्तुओं की कीमत की अदाएगी) तब भी अर्घ का द्रव्य में ही हिसाब रखते हैं। यहाँ यह जानना महत्वपूर्ण है कि द्रव्य की इकाई (जैसे रुपया) जो तात्कालिक भुगतान की मान है भावी भुगतान की भी मान होती है और यह मान लिया जाता है कि उसकी भावी क्रय शक्ति वही रहेगी जो वर्तमान में है। वर्तमान संविदे (जिनके भावी भुगतान होंगे) करते समय द्रव्य की भावी क्रय-शक्ति का प्रश्न नहीं उठाया जाता। यदि आप साल भर के लिए आज सौ रुपए ऋण लेते हैं तो साल भर बाद सौ रुपया ही देना पड़ेगा, भले ही उस समय द्रव्य की क्रय-शक्ति गिर जाए। इसी प्रकार यदि आज पाँच रुपए कीमत वाली किसी वस्तु की ५० इकाइयाँ क्रय की जाती हैं तो भुगतान में २५० रुपए देने पड़ेंगे, भले ही भुगतान के समय उस वस्तु की कीमत चार रुपए हों।

द्रव्य का चौथा कार्य अर्घ के सुलभ भंडार रूप में है। हम ऊपर देख चुके हैं कि अर्घ का सामान्य माप होने के कारण द्रव्य अपने बदले में अन्य वस्तुओं पर अधिकार दान करता है। जब मनुष्य द्रव्य का संचय करते हैं तो उन्हें यह संतोष रहता है कि अपने संचित द्रव्य या उसके एक अंश से वे अपने उपभोग की कोई भी वस्तु खरीद सकेंगे। यदि कपड़े का संचय किया जाए तो उससे वे कोई भी इच्छित वस्तु न क्रय कर सकेंगे। अर्घ संचय के लिए द्रव्य का उपयोग करने का एक अन्य लाभ यह है कि अन्य वस्तुओं की अपेक्षा यह कम नाशवान है। कपड़े को दीमक चाट सकती है परन्तु सिक्का को नहीं। फिर कपड़े की एक इकाई एक निश्चित संतुष्टि देने की उतनी सामर्थ्य नहीं रखती जितनी द्रव्य की इकाई। यद्यपि पिछले २० वर्षों के मूल्य में होने वाले घोर परिवर्तन के अनुभव द्रव्य की इस सामर्थ्य की आशा नहीं दिलाते तथापि द्रव्य अब भी अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक स्थायी अर्घ वाला माना जाता है।

संक्षेप में द्रव्य के प्रमुख कार्य इस प्रकार बताए जा सकते हैं :—
द्रव्य के यथार्थतः कार्य हैं चार।
माध्यम, मापक, मान, भंडार॥

द्रव्य का वर्गीकरण—द्रव्य के अनेक प्रकार हैं। अब हम साधारणतया उपर्युक्त द्रव्य के प्रकारों का वर्गीकरण करेंगे। दो वर्गीकरण मुख्य हैं और हम यहाँ उन्हीं पर विचार करेंगे। एक तो वह है जो लार्ड केन्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ट्रीटीज़ ऑफ मनी' में दिया है, और दूसरा प्रो० राबर्टसन का है। हम देखेंगे कि स्पष्टता की दृष्टि से केन्स वाले की अपेक्षा राबर्टसन का वर्गीकरण अधिक श्रेष्ठ है।

अपने वर्गीकरण का वर्णन करने से पहले लार्ड केन्स ने द्रव्य और लेखा-द्रव्य (Money of Account) में सूक्ष्म भेद दिखाया है। लेखा-द्रव्य वह है जिसमें ऋण, मूल्य और सामान्य क्रय-शक्ति का उल्लेख करते हैं, जब कि द्रव्य वह है जिसको देने से ऋण, मूल्यादि का **भुगतान** हो जाता है तथा जिसमें क्रय-शक्ति संचय की जाती है। अधिक स्पष्टता के लिए उन्होंने फिर कहा है कि "लेखा-द्रव्य अधिकार का वर्णन है और द्रव्य इस वर्णन के अनुरूप वस्तु है।" उदाहरणार्थ, यदि हम यह कहें कि इतने रत्ती चाँदी का रुपया होता है तो यह लेखा-द्रव्य हुआ परन्तु उस वर्णन के अनुसार जो वस्तु है वह रुपया है। यह राज्य का कर्तव्य है कि वह देखे कि जो वस्तु द्रव्य के नाम से चलती है वह लेखा द्रव्य के वर्णन के अनुरूप है।

द्रव्य के दो मुख्य भेद हैं :—द्रव्य-विशेष और बैंक-द्रव्य। "बैंक-द्रव्य वैयक्तिक ऋण की लेखा-द्रव्य में वर्णित एक स्वीकृति मात्र है (यथा, एक चेक जिसमें बैंक पर रुपयों में एक सौ की माँग की गई है) जो द्रव्य-विशेष के साथ एक हाथ से दूसरे हाथ में गुजरता हुआ लेन-देन का भुगतान करने के उपयोग में आता है।" द्रव्य-विशेष राज्य-द्वारा निकाला द्रव्य है; अतः इसे राज-द्रव्य (state money) भी कहते हैं। केन्स राज-द्रव्य के अंतर्गत कानूनी-ग्राह्य द्रव्य के अतिरिक्त बैंक-पत्रमुद्रा तथा केन्द्रीय-बैंक-जमा की भी गणना करते हैं। बैंक द्रव्य में मुख्यतः सदस्य बैंकों की जमा की गणना होती है।

जैसा हम देखेंगे अंत में विनिमय व्यापार के लिए चार प्रकार के द्रव्य का उल्लेख होगा। इनमें से तीन—वस्तु-द्रव्य (commodity money), नियंत्रित-द्रव्य (managed money) तथा प्रादिष्ट-द्रव्य (fiat money) 'द्रव्य-विशेष' वर्ग के अन्तर्गत हैं और चौथा अर्थात्

बैंक-द्रव्य ऋण-स्वीकृति वर्ग के अंतर्गत है। किसी समय जनता के पास जो द्रव्य होता है वह इन्हीं चारों के रूप में होता है।

नीचे केन्स के वर्गीकरण का चार्ट दिया है :—
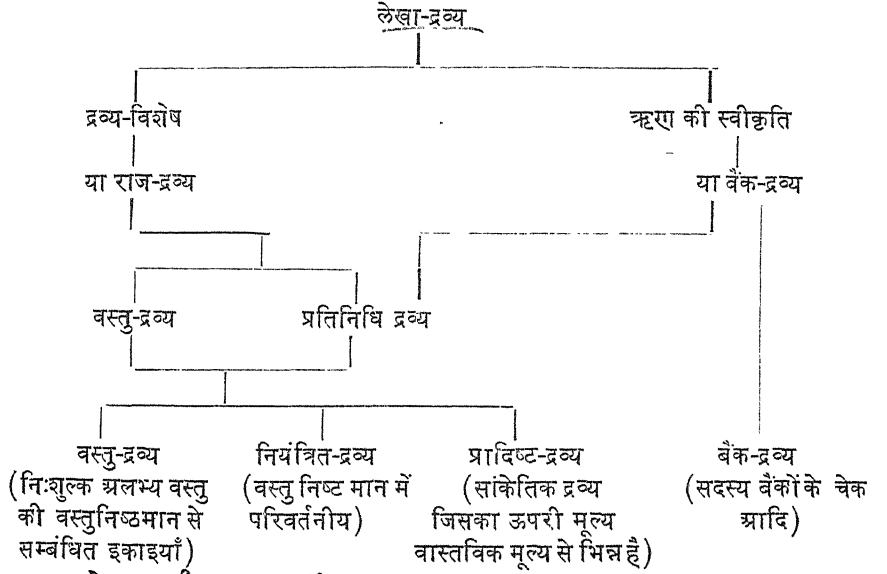
प्रो० राबर्टसन का वर्गीकरण—यह वर्गीकरण केन्स के वर्गीकरण से अधिक विस्तृत है। केन्स की भाँति प्रो० राबर्टसन भी द्रव्य को दो मुख्य वर्गों में बाँटते हैं—सामान्य द्रव्य और बैंक-द्रव्य। बैंक-द्रव्य-वर्ग तो केन्स के वर्गीकरण में भी आता है, परन्तु प्रथम वर्ग का नाम केन्स ने साधारण-द्रव्य न रख कर द्रव्य-विशेष रखा था। राबर्टसन के अनुसार साधारण द्रव्य वह है "जो एक दिए राज्य में सर्वमान्य है।" बैंक-द्रव्य वह है जिसके लिए विशेष प्रबन्ध और पाने वाले को विशिष्ट ज्ञान होना चाहिए ?

राबर्टसन ने साधारणद्रव्य को तीन उपवर्गों में बाँटा है—वैकल्पिक-द्रव्य (optional money), सहायक-द्रव्य (subsidiary money) और कानूनी-ग्राह्य-द्रव्य (legal tender money)। पूर्ण कानूनी ग्राह्य-द्रव्य (या जिसे हम संक्षेप में कानूनी ग्राह्य द्रव्य कहते हैं) वह द्रव्य है "जो राजनियम के अनुसार एक नागरिक द्वारा दूसरे नागरिक से ऋण के अंतिम भुगतान में ग्राह्य है"। सहायक द्रव्य भी इसी प्रकार कानूनी ग्राह्य द्रव्य है परन्तु केवल एक निश्चित सीमा तक के छोटे ऋणों के लिए। वैकल्पिक द्रव्य किसी भी मात्रा में कानूनी ग्राह्य नहीं है।

वे कानूनी ग्राह्य और वैकल्पिक द्रव्य को अन्य उपवर्गों में बाँटते हैं। कानूनी-ग्राह्य द्रव्य के दो उपवर्ग हैं—परिवर्तनीय कानूनी ग्राह्य द्रव्य तथा प्रमाणिक कानूनी मान-द्रव्य। पहला वह द्रव्य है "जो एक नागरिक को दूसरे नागरिक से ऋण के भुगतान में लेना ही पड़ेगा परन्तु माँगने पर जिसके बदले में किसी अन्य प्रकार का द्रव्य देने के लिए एक केन्द्रीय संस्था बाध्य रहती है"। प्रमाणिक द्रव्य वह है "जिसको केन्द्रीय संस्था न केवल परिवर्तनीय द्रव्य वरन् अपने किसी भी दायित्व के अंतिम और पूर्ण भुगतान में दे सकती है।" वैकल्पिक द्रव्य के दो उपवर्ग हैं—पूर्ण वैकल्पिक द्रव्य और सांकेतिक वैकल्पिक द्रव्य। पूर्ण वैकल्पिक द्रव्य वह है जिसका ऊपरी-मूल्य वास्तविक मूल्य के बराबर होता है जैसे, बैल, परन्तु जिसकी स्वीकृत राजनियम द्वारा बाध्य

नहीं है। सांकेतिक वैकल्पिक द्रव्य का ऊपरी मूल्य वास्तविक मूल्य से भिन्न होता है और स्पष्टतः कानूनी ग्राह्य तो यह भी नहीं होता।

हम कहते हैं कि परिवर्तनीय कानूनी ग्राह्य द्रव्य की भाँति कानूनी ग्राह्य द्रव्य भी दो प्रकार के हो सकते हैं—पूर्ण-द्रव्य और सांकेतिक द्रव्य। राबर्टसन के अनुसार "सांकेतिक द्रव्य का अर्घ स्वभावतः उस पदार्थ के अर्थ से जिसका वह बना है अधिक होता है।" पूर्ण द्रव्य वह है जिसका अर्घ स्वभावतः अपने पदार्थ के अर्घ से अधिक नहीं होता।

प्रो० राबर्टसन का वर्गीकरण जो नीचे दिखाया गया है केन्स के वर्गीकरण से अच्छा है क्यों उनके वर्गों का क्षेत्र पृथक् है, मिला जुला (overlapping) नहीं। उदाहरणार्थ, पाँच रुपए का नोट सामान्य परिवर्तनीय सांकेतिक कानूनी ग्राह्य द्रव्य कहलाएगा, अन्य कुछ नहीं। केन्स के वर्गीकरण में यह प्रादिष्ट द्रव्य या नियंत्रित द्रव्य दोनों में से किसी वर्ग में रखा जा सकता है। उचित वर्गीकरण के लिए यह आवश्यक है कि वर्ग ऐसे हों कि किसी प्रकार का द्रव्य एक ही समय एक से अधिक वर्गों में न गिना जा सके। अन्यथा वर्गों का क्षेत्र मिला-जुला होगा—वही वस्तु एक वर्ग में भी रखी जा सकेगी और उसी समय एक दूसरे वर्ग में भी।

प्रो० राबर्टसन का वर्गीकरण
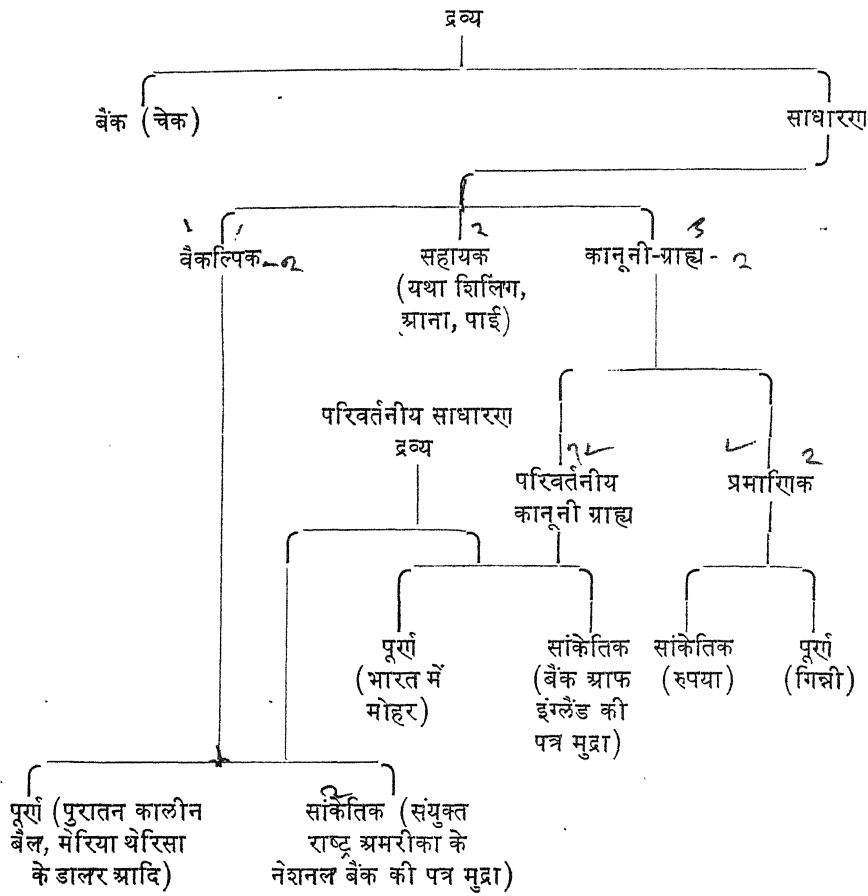
जैसा हम पहले कह चुके हैं, राबर्टसन का वर्गीकरण विस्तृत भी है। केन्स ने द्रव्यों के चार वर्ग बनाए हैं, रार्बटसन ने सात और हम जानते हैं कि इसके (अर्थात् अधिक वर्गों के) कारण द्रव्य को अधिक पूर्णत: तथा वैज्ञानिक ढंग से बाँट सकते हैं और वर्गों के क्षेत्र के मिल-जुल जाने की संभावना भी कम हो जाती है।

केन्स की अपेक्षा राबर्टसन के वर्गों के नाम भी साधारण बोल चाल की भाषा के निकट हैं, अतः अपेक्षाकृत वे सरलता से बोधगम्य तथा स्पष्ट हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, "परिवर्तनीय कानूनी-ग्राह्यद्रव्य" अधिक सुगमता से समझ में आ जाता है न कि "प्रतिनिधि द्रव्य।" साधारण मनुष्य के लिए "सांकेतिक द्रव्य" अधिक आकर्षक तथा स्पष्ट है न कि "प्रादिष्ट द्रव्य"।

अध्याय ४५

द्रव्य का अर्घ

कुछ समय से सभी द्रव्यशास्त्रियों के विवाद का एक ही विषय—एक ही समस्या है और अब हम इस पर ही विचार करेंगे। यह द्रव्य के अर्घ, उसकी मापन-विधि तथा आधुनिक अर्थ व्यवस्था में उसके महत्वपूर्ण स्थान की समस्या है।

द्रव्य के कार्यों का महत्व—समाज में किए द्रव्य के कार्यों का विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि द्रव्य महत्वहीन है क्योंकि यह केवल विनिमय करने और ऋण लेने का सुलभ साधन ही तो है। यदि यह न हो, तब भी विनिमय और ऋण का लेन-देन बंद थोड़े ही हो जाएगा। वे तो पहले की भाँति चलते रहेंगे, यद्यपि कठिनाइयाँ अवश्य होंगी। इस प्रकार द्रव्य का ऐसा स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है कि वह मानव-अर्थ व्यवस्था पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सके। क्लासिकल अर्थ-शास्त्रियों के यही मत थे और तभी उनके लिए द्रव्य की समस्या अत्यंत महत्वपूर्ण नहीं बनी। वर्तमान द्रव्य शास्त्रियों ने द्रव्यार्घ के परिवर्तन के फलस्वरूप मनुष्यों की आर्थिक दशा में अत्यधिक उतार-चढ़ाव अनुभव किया है, अतः उनके लिए उक्त समस्या अब शून्य प्रायः महत्व की नहीं है। उनकी दृष्टि में द्रव्य जन-सुविधा का केवल एक खिलौना नहीं है: वरन् समयापन के साथ मनुष्य स्वयं इसके खिलौने बनते जा रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में, अर्थ-शास्त्री जे० एस० मिल का यह मत कि "समाज की अर्थव्यवस्था में द्रव्य से अधिक महत्वहीन कोई वस्तु नहीं है" सर्वथा अमान्य है।

यदि समाज की अर्थ-व्यवस्था में द्रव्य सुचारु रूप से अपना कार्य कर पाता तो हम इसे महत्वहीन कहते। तब हम इसे मानव श्रम बचाने वाले औजार से अधिक महत्व नहीं देते। परन्तु अभाग्यवश स्थिति यह नहीं है। जब द्रव्य अ-नियमित हो उठता है तब मानव अर्थ-व्यवस्था पर महत्वपूर्ण और कभी कभी विकट प्रभाव पड़ता है। इस बात को ही समझकर अर्थशास्त्री मिल ने कहा है: "अन्य यंत्रों की भाँति यह (द्रव्य) तभी अपना स्पष्ट और स्वतंत्र प्रभाव डालता है जब वह अनियमित हो जाता है।" परन्तु मिल यह नहीं जानते थे कि भयंकर उथल-पुथल इतनी बार होगी कि उसे महत्वपूर्ण कहना ही पड़ेगा।

द्रव्य के महत्व का आरम्भ इस बात से होता है कि उसके अर्घ में तीव्रता से घट बढ़ होती है अर्थात् उसकी क्रय-शक्ति समान नहीं रहती। इसका कारण तब स्पष्ट होगा जब हम अगले अध्याय में द्रव्यार्घ के सिद्धान्त पर विचार करेंगे। यहाँ हम विषय से हट कर यह विचार करेंगे कि द्रव्यार्घ या उसकी क्रय-शक्ति के परिवर्तन को कैसे मापा जाए। इससे भी पूर्व हम "द्रव्य के अर्घ" के अर्थ की व्याख्या करेंगे।

द्रव्य के अर्घ का अर्थ—जब हम किसी कलम के अर्घ की बात करते हैं, तब हमारा तात्पर्य यह होता है कि कलम विक्रेता को उपयुक्त समय और बाजार में एक मात्रा, उदाहरणार्थ, कुछ रुपयों पर अधिकार प्रदान करेगा। जब हम एक रुपए के अर्घ की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य यह नहीं रहता कि इसके बदले एक रुपया मिलेगा वरन् यह कि एक दिए समय और बाजार में इससे इतना दूध, मक्खन या मोटर की सवारी करने को मिलेगी। इसलिए द्रव्य के अर्घ से हमारा तात्पर्य द्रव्य की क्रय-शक्ति अर्थात् अपने बदले में द्रव्य की एक इकाई की वस्तुओं तथा सेवाओं पर अधिकार करने की सामर्थ्य से होता है। यदि मूल्य कम हैं, तो द्रव्य की इकाई अधिक वस्तुओं और

सेवाओं पर अधिकार प्रदान करेगी : यदि मूल्य अधिक है, तो कम पर। अतः द्रव्य के अर्घ और मूल्य में सम्बन्ध है। जब सामान्य मूल्य स्तर ऊंचा होता है तो द्रव्यार्घ कम होता है और जब सामान्य मूल्य-स्तर नीचा होता है तो अधिक।

हम अब द्रव्य के अर्घ के माप के प्रश्न पर आते हैं। क्योंकि द्रव्य का अर्घ से उसकी क्रय-शक्ति का तात्पर्य है और क्योंकि दी परिस्थिति में क्रय-शक्ति उन वस्तुओं और सेवाओं पर निर्भर है जिन्हें द्रव्य की इकाई क्रय करेगी, इन वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों से द्रव्य का अर्घ निकाला जा सकता है। स्वभावतः इन वस्तुओं और सेवाओं के विभिन्न मूल्य हैं। द्रव्य के अर्घ को मापने के लिए हमको एक मूल्य चाहिए ; कई मूल्यों से गड़बड़ी होगी। यदि एक रुपए से गेहूँ तो अधिक मिले परन्तु कपड़ा कम, तो गेहूँ की दृष्टि से रुपए का अर्घ अधिक होगा, परन्तु कपड़े की दृष्टि से कम। जब तक एक मूल्य न मानें तो हम यह नहीं कह सकते कि द्रव्य का अर्घ बढ़ या घट गया है।

देशनाङ्क की विधि—केन्स के अनुसार इस हेतु एक संग्रथित वस्तु का मूल्य निकालना चाहिए। यह संग्रथित वस्तु उन सब वस्तुओं का समिश्रण है जो समाज में किसी समय उपभोग हेतु क्रय की जाती है, यथा, गेहूँ, कपड़ा, ईंधन आदि। हम इन सब वस्तुओं के औसत निकाल लेते हैं। स्वभावतः यह ऐसा मूल्य होगा जिसमें होने वाले परिवर्तन से इस द्रव्य के अर्घ के परिवर्तन को माप सकते हैं। निःसंदेह औसत निकालने की विभिन्न विधियों के साथ यह औसत भी विभिन्न निकलेगा। यदि हम ज्यामितिक औसत निकालेंगे तो मूल्य कुछ निकलेगा; यदि हरात्मक औसत लें तो मूल्य कुछ और निकलेगा; और समानांतर औसत लेने से एक तीसरा ही मूल्य आएगा। साधारणतः समानांतर औसत निकाला जाता है।

यदि हम समानांतर औसत निकालें तब भी उसी संग्रथित वस्तु के कई औसत मूल्य निकल सकते हैं। यदि हम सभी वस्तुओं को समान महत्व वाली मान लें, तो सभी मूल्यों को केवल जोड़कर वस्तुओं की संख्या से भाग देने से औसत मूल्य निकल आएगा। परन्तु सम्भव है कि हम उसी संग्रथित वस्तु में किसी वस्तु को कम महत्वपूर्ण समझें, किसी को अधिक। तब संग्रथित वस्तु का औसत मूल्य पहले से भिन्न होगा। मान लीजिए संग्रथित वस्तु में दो वस्तुएँ हैं तथा, एक का महत्व दूसरी के महत्व से दूगुना है। तब औसत मूल्य इस प्रकार निकाला जाएगा। हम पहली वस्तु के मूल्य को २ से गुणा करेंगे और दूसरी के मूल्य को १ से। फिर दोनों गुणनफल को जोड़कर तीन (२+१) से भाग देंगे। यदि वस्तुओं का महत्व समान हो तो न तो मूल्यों को २ तथा १ से गुणा करते न ३ से भाग देते। केवल दोनों मूल्यों को जोड़कर २ से भाग दे देते। इस प्रकार औसत विधि वही रहने पर भिन्न महत्व भारों के कारण विभिन्न औसत मूल्य निकलेंगे। ध्यान रहे कि वस्तुओं के विभिन्न महत्व रहने पर उनके मूल्यों को क्रमशः उनके महत्व के भार (माप) से गुणा करना पड़ता है और गुणनफलों के योग को महत्व-भारों के योग से भाग देते हैं, न कि उनके मूल्यों की संख्या से। यह तो रहा एक समय पर द्रव्य के अर्घ को मापने की विधि।

समय समय पर द्रव्यार्घ में होने वाले परिवर्तनों को मापने के लिए हम प्रत्येक समय पर महत्व-भार को ध्यान में रखकर तत्कालीन उपयोग पर आधारित संग्रथित वस्तु का मूल्य स्तर (या औसत मूल्य) को निकालते हैं। जब किसी स्थान पर इन मूल्य-तलों की शृंखला तैयार हो जाती है तब इन्हें देशनांक कहते हैं। इसलिए देशनांक द्रव्यार्घ-परिवर्तन जानने के लिए

उसी संग्रथित वस्तु के समय समय पर निकाले मूल्य-तलों की श्रृंखला होते हैं। स्पष्ट है कि संग्रथित वस्तु क्यों अवश्य वही होनी चाहिए। यदि आप 'ब' वस्तु के मूल्य के दो वर्ष के परिवर्तन को जानना चाहते तो स्वभावतः आप 'ब' के एक वर्ष के मूल्य की दूसरे वर्ष के मूल्य से तुलना करेंगे। एक वर्ष ब का मूल्य लें और उसकी किसी अन्य वर्ष के ख के मूल्य से तुलना करना पूर्णतः निरर्थक ही होगा।

जिस वर्ष के आधार पर हम मूल्य-तल (अतः द्रव्यार्घ) में परिवर्तन मापते हैं उसे आधार वर्ष (base year) कहते हैं। यदि हम आज के द्रव्यार्घ की तुलना सन् १९३९ के द्रव्यार्घ से करें तो हमारे देशनांक का आधार-वर्ष १९३९ होगा। आधार-वर्ष के मूल्य को १०० मान कर अन्य मूल्यों को आधार वर्ष के मूल्य के प्रतिशत अनुपात रूप में रखते हैं। यदि एक ही किस्म के गेहूँ का सन् १९३९ में मूल्य तीन रुपए मन था और आज बारह रुपए मन है तो उसका मूल्य सन् १९३९ में १०० कहा जाएगा और आज ४००।

देशनाङ्क निकालने की कठिनाइयाँ—देशनांक निकालने की कुछ बातों को ध्यान में रखना अच्छा है।

1. प्रथम, आधार-वर्ष का चुनाव कैसे किया जाय? यदि हम असाधारण समय (यथा, तेजी या मंदी का समय) के वर्ष को आधार मानें तो स्पष्टतः हमारे निष्कर्ष भ्रमात्मक और ग़लत निकलेंगे। यदि आज के मूल्यों की हम सन् १९३० के तेज़ी के समय के मूल्यों से तुलना करें तो वे थोड़े ही बढ़े मालूम पड़ेंगे और हम कहेंगे कि द्रव्य वास्तव में उतना सस्ता नहीं हुआ है जितना सन् १९३९ की तुलना में प्रतीत होता है। द्रव्यार्घ की घट-बढ़ को सही सही आंकने के लिए सामान्य आधार-वर्ष को चुनना चाहिए—न तेजी का वर्ष, न मंदी का वर्ष वरन् दोनों के बीच का कोई वर्ष।

ऐसे आधार वर्ष को चुनना एक समस्या है क्योंकि हम सुगमता से नहीं जान सकते हैं कि किस वर्ष तेजी है, किस वर्ष मंदी और कौन सा वर्ष सामान्य है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से संग्रथित वस्तु की सभी वस्तुओं का औसत मूल्य ही सर्वोत्तम मूल्य-तल है। परन्तु व्यवहार में समाज द्वारा उपभोग्य सभी वस्तुओं की गणना करना कठिन है। वे इतनी अधिक और इतने प्रकार की होती हैं कि उन सब की गणना सम्भव नहीं है। इसलिए हम तत्कालीन विस्तृत उपभोग की यथासम्भव अधिक वस्तुओं की गणना करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। यदि हम ऐसी वस्तुओं के मूल्य लें जिनका समाज में व्यापक उपयोग नहीं होता तो निकाला मूल्य-तल उन वस्तुओं के उपभोक्ताओं की दशा तो बताएगा परन्तु अन्यथा अनुपयोगी होगा। हमारी दृष्टि तो पूरे समाज पर पड़नी चाहिए; जन समुदाय के एक अंग पर नहीं।

2. एक अन्य ध्यान में रखने योग्य बात यह है कि अनुगणन के लिए किस प्रकार के मूल्य एकत्र करने चाहिए। फुटकर मूल्यों का औसत कुछ होगा, थोक-मूल्यों का कुछ और, क्योंकि फुटकर और थोक मूल्यों में साधारणतः अंतर होता है। यह जानने के लिए कि श्याम का रुपया क्या खरीद सकेगा हमको वास्तव में श्याम द्वारा दिए बाजार-मूल्यों को लेना चाहिए और ये अधिकांशतः फुटकर होते हैं, थोक नहीं। अतः यह पता लगाने के लिए कि समाज के लिए द्रव्य की इकाई क्या खरीद सकेगी हमको समाज के सदस्यों (यथा श्याम) द्वारा दैनिक उपभोग्य वस्तुओं के लिए दिए फुटकर मूल्यों का पता लगाना चाहिए।

परन्तु फुटकर भावों को एकत्र करना कठिन है। यदि वे किसी प्रकार एकत्र भी कर लिए जाएँ तो वे इतने अधिक और भिन्न होंगे कि जोड़ने और औसत निकालने के लिए उनमें से किसको चुनें। इसके विपरीत थोक मूल्य प्राय: समाज भर में वही होते हैं कम से कम फुटकर भावों की अपेक्षा अधिक समान होते हैं। थोक मूल्यों को एकत्र करना भी सरल होता है। व्यापार की बड़ी मंडियों में, जहाँ बड़ी मात्रा में क्रय-विक्रय होता है, जाकर फुटकर मूल्यों की अपेक्षाकृत अधिक सरलता से थोक-मूल्यों का पता लगा सकते हैं। परन्तु स्वभावतः फुटकर मूल्यों की अपेक्षा थोक-मूल्यों के देशनांक द्रव्यार्घ मापने के लिए कम सही होते हैं।

जैसा हम आरम्भ में संकेत कर चुके हैं एक दूसरी शक्ति जिसका प्रभाव मूल्य-तलों के सही आंकन पर पड़ता है औसत निकालने की विधि है। सर्व साधारण निधि तो समानांतर औसत निकालने की है जिसमें मूल्यों को जोड़कर वस्तुओं की संख्या से भाग दे देते हैं। ज्यामितिक औसत निकालने के लिए मूल्यों को गुणा करके गुणनफल का वही धन-मूल निकालते हैं जितनी वस्तुओं की संख्या होती है। हरात्मक औसत निकालने के लिए मूल्यों के व्युतक्रम पदों (reciprocals) को जोड़ कर वस्तुओं की संख्या से भाग देते हैं। भाज्यफल का व्युतक्रम ही हरात्मक औसत होता है। गणितात्मक भाषा में यदि अ तथा ब दो संख्याएं हों तो उनका सामानांतर औसत $\frac{अ+ब}{२}$, ज्यामितिक औसत $\sqrt{अ ब}$ और हरात्मक औसत $\frac{२ अ ब}{अ+ब}$ हुआ। अन्तिम औसत निकालने के लिए हम पहले 'अ' तथा ब के व्युतक्रम पद जोड़ते हैं। इस प्रकार $\frac{१}{अ}$ और $\frac{१}{ब}$ का जोड़ हुआ $\frac{अ+ब}{अ ब}$। इससे दो (क्योंकि वस्तुओं की संख्या २ है) से भाग देकर $\frac{अ+ब}{२ अ ब}$ आता है। इसका व्युतक्रम $\frac{२ अ ब}{अ+ब}$ है जो हरात्मक औसत है।

ज्यामितिक औसत प्राय: अधिक सही फल देता है परन्तु उसका प्रयोग करना कठिन है। अतः सामान्यतः समानांतर औसत निकालने का प्रचलन है।

जहाँ तक महत्व के भार का प्रश्न है हम पहले ही कह चुके हैं कि द्रव्य की क्रय-शक्ति के वास्तविक माप के लिए भार अनिवार्य है। अ-भारित (unweighted) देशनांक द्रव्यार्घ मापने का अवास्तविक साधन है।

अब तक हम देशनांक की जो बात करते रहे हैं उसमें वे समस्त समाज द्वारा उपभुक्त संग्रथित वस्तु के औसत मूल्य को सूचित करते थे। हम समाज के विभिन्न वर्गों के लिए भी देशनांक बना सकते हैं। विधि पूर्ववत होगी। अंतर केवल यह होगा कि अब निकाले देशनांकों द्वारा सूचित औसत मूल्य समस्त समाज के द्रव्यार्घ का सीधा माप न होगा। समाज की अपेक्षा समाज के किसी वर्ग के लिए द्रव्यार्घ निकालना स्पष्टतः अधिक सरल है। प्राय: ऐसा मूल्यांकन आवश्यक भी होता है, यथा, जब श्रमिक-वर्ग की मजदूरी घटाने-बढ़ाने की समस्या उठती है।

देशनाङ्क के भेद—देशनांक कई प्रकार के हो सकते हैं। भिन्न भिन्न हेतु के लिए भिन्न देशनांक बनाए जा सकते हैं। यदि हम समस्त समाज की दृष्टि में द्रव्यार्घ अर्थात् द्रव्य की सामान्य क्रय-शक्ति मापना चाहते हैं तब हम सामाजिक उपभोग पर आधारित संग्रथित वस्तु के देशनांक बनाएँगे। श्रमिक-वर्ग के लिए हम श्रमिक वर्गीय देशनांक बनाएँगे। यदि हम श्रमिक की प्रति घंटा मजदूरी निकालना चाहते हैं तो हम अर्जन-मान निकालेंगे। यदि हम

कुछ प्रमुख वस्तुओं के थोक-मूल्यों के परिवर्तन दिखाना चाहते हैं तो हम थोक-विक्रय देशनांक (wholesale index number) बनाएंगे। यदि हम मूल्यों को स्थिर करने के ध्येय से देशनांक बनाते हैं तो मुख्य वस्तुओं के थोक मूल्यों को लेंगे। इसी प्रकार अन्य ध्येय के लिए अन्य देशनांक बनाएँगे। स्पष्टत: ये देशनांक भिन्न होंगे क्योंकि वे भिन्न संग्रथित वस्तु, भिन्न भार और भिन्न मूल्यों पर आधारित होंगे।

मूल्यार्घ-परिवर्तन का प्रभाव

जब द्रव्य की इकाई पहले की अपेक्षा कम या अधिक क्रय करती है तो समाज में रहने वालों को क्रमश: और उसी हद तक हानि या लाभ होता है। यदि अन्य मूल्यों के साथ प्रत्येक मूल्य बढ़े घटे, और उसी मात्रा में बढ़े घटे, तो उपर्युक्त हानि लाभ स्पष्ट है। सामान्यत: घटनाएँ कुछ भिन्न ही होती हैं। कुछ मूल्य दूसरों से अधिक बढ़ते हैं और कुछ अपेक्षाकृत अधिक तीव्रता से घटते हैं। फलत: समाज के कुछ व्यक्तियों को अधिक लाभ होता है, कुछ को अधिक हानि। यह बताना उचित होगा कि मूल्यों के परिवर्तन का समाज के विभिन्न वर्गों के हानि-लाभ पर क्या प्रभाव पड़ता है? ये लाभ-हानि वृत्ति और उत्पादन की मात्रा की घट-बढ़ या वास्तविक धन तथा आय के स्थानांतरण के रूप में हो सकती है। इसलिए हम यह अध्ययन करेंगे कि मूल्यार्घ के परिवर्तन का (१) वास्तविक धन और आय के वितरण तथा (२) वृत्ति और उत्पादन की मात्रा पर क्या प्रभाव पड़ता है।

हम पहले वास्तविक धन और आय के वितरण पर पड़ने वाले प्रभाव को देखेंगे। ये प्रभाव (अ) द्रव्य में लिए ऋण और (ब) समाज के सदस्यों द्वारा अर्जित विभिन्न द्रव्य-आय से सम्बन्धित हैं। जब किसी दिए समय की अपेक्षा अन्य समय में मूल्य बढ़ जाते हैं, तब यदि पूर्व-समय में दिए ऋण का दूसरे समय में भुगतान किया जाए तो ऋण दाता को हानि होती है क्योंकि वापस मिले द्रव्य से वह पहले की अपेक्षा कम वस्तुएँ और सेवाएँ खरीद सकेगा। यदि श्याम ने सन् १९३९ में मोहन को १०० रुपए ऋण दिए थे और यदि मोहन वे रुपए आज लौटाए, तो सन् १९३९ की अपेक्षा आज मूल्यों के अधिक होने के कारण श्याम उन रुपयों से आज पहले की अपेक्षा बहुत कम वस्तुएँ खरीद सकेगा। अत: श्याम को हानि होगी, परन्तु मोहन को नहीं। वस्तु और सेवा की दृष्टि से मोहन को सन् १९३९ के १०० रुपयों के रूप में जो क्रय-शक्ति मिली थी उससे कहीं कम वह आज १०० रुपयों के रूप में श्याम को दे रहा है। जब भी मूल्य बढ़ते हैं, तब मूल्य वृद्धि से पूर्व के ऋण दाता को हानि होती है और ऋणी को लाभ। मूल्य गिरने पर इसका विपरीत होता है, क्योंकि अब ऋणदाताओं को पहले की क्रय-शक्ति की अपेक्षा अधिक क्रय-शक्ति वापस मिलती है, जब कि ऋणी को पहले से अधिक क्रय-शक्ति भुगतान में देनी पड़ती है।

जिनकी आय समान है अथवा जिनकी आय में जल्दी जल्दी परिवर्तन नहीं होता, उनको मूल्य-वृद्धि से हानि पहुँचती है और मूल्य ह्रास से लाभ। व्याज, किराया, पेन्शन, वार्षिकी सरकारी नौकरों के वेतन और एक हद तक प्राइवेट उद्योगों में काम करने वालों की मजदूरी और वेतन भी इसके उदाहरण हैं। इनमें बहुत घट-बढ़ नहीं होती। अत: स्पष्टत: द्राव्यिक आय समान रहने से द्रव्यार्घ घटने पर हाथ में प्राप्त क्रय-शक्ति बढ़ जाती है और उन्हें फायदा होता है। विपरीत दशा में क्रय-शक्ति घट जाती है और इन आय वालों को हानि होती है। साहसोद्यम के कारण लाभ पाने वालों को इतना घाटा नहीं होता है। मूल्य-

वृद्धि के समय उनके लाभ की द्राव्यिक आय भी प्रायः बढ़ जाती है और इस प्रकार सम्भव रहता है कि उनकी कुल वास्तविक क्रय-शक्ति बढ़ जाए। अतः मूल्य वृद्धि के समय पूंजीपति, भूमिपति और सरकारी कर्मचारियों की वास्तविक आय सामान्यतः घट जाती है और उन्हें घाटा होता है परन्तु साहसोद्यमी की वास्तविक आय या तो बढ़ जाती है या समान बनी रहती है और उसे घाटा नहीं लगता।

मूल्य-परिवर्तनों का सामाजिक वृत्ति और उत्पादन पर अधिक विस्तृत और भयंकर प्रभाव पड़ता है। आइए इन प्रभावों को समझने के लिए साहसोद्यमी के व्यवहार का अध्ययन करें। मूल्य-वृद्धि पर वह अधिक फैक्टरियाँ खोलेगा, अधिक साधन और कच्चे माल का उपयोग करेगा, अधिक व्यक्तियों को काम पर लगाएगा और अधिक वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करेगा। इस सीमा तक समाज की वास्तविक आय में वृद्धि (अतः फायदा) होगी। जब लाभ के नकारात्मक या शून्य होने की सम्भावना होगी तब कारखाने बंद करे जाएंगे, साधन बेकार हो जाएंगे, मज़दूर निकालें जाएंगे और उत्पादन कम होगा। इस दशा में समाज की वास्तविक आय में कमी आएगी।

साहसोद्यमी की आय और लागत का अंतर ही उसका लाभ है और लागत कम होने से लाभ अधिक होते हैं। आय कम और लागत अधिक होने से लाभ घटते हैं। जब लागत आय से अधिक होती है तो साहसोद्यमी को घाटा होने लगता है। मूल्य वृद्धि के समय हम देख चुके हैं कि व्याज, किराया आदि लगभग समान रहते हैं परन्तु साहसोद्यमी की आय बढ़ जाती है। अतः उसके लाभ की भी बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। फलतः अधिक उत्पादन और वृत्ति तथा समाज की आय भी अधिक होती है। मूल्य-ह्रास के समय फल विपरीत होते हैं। कम लाभ की प्रवृत्ति के कारण साहसोद्यमी की आय घटती है, फैक्टरियाँ बंद की जाती हैं, मज़दूर निकाले जाते हैं, बेकारी फैलती है, कर्मचारियों की आय शून्य-प्राय हो जाती है और वस्तुओं की माँग घटती है। पहले से उत्पादित वस्तुएँ ही नहीं वरन् चालू उत्पादन से प्राप्त वस्तुएं भी बिना बिकी पड़ी रहती हैं। कभी कभी तो पूंजीपति और भूमिपति भी, जिन्हें (जैसा हम देख चुके हैं) मूल्य-ह्रास से फायदा होता है, घाटा उठाते हैं क्योंकि अत्यधिक हानि और दिवालों के कारण साहसोद्यमी से उनको भुगतान नहीं मिलता।

मूल्य-परिवर्तनों के फलस्वरूप समाज की अर्थ-व्यवस्था में होने वाले विकट ज्वार भाटे के अनुभव के कारण हम यह विश्वास सा करने लगते हैं कि द्रव्य के अर्घ को यथासंभव समान रखा जाए। जब साहसोद्यमी की आय बढ़ती है परन्तु मज़दूरों को पूर्ववत मज़दूरी मिलती है तब श्रमिक-मालिक संघर्ष होते हैं, कभी कभी लोगों का नैतिक स्तर गिर जाता है और कभी तो फलस्वरूप ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं जो समाज के तत्कालीन आर्थिक ढांचे को ही तोड़ मरोड़ कर फेंक सकती हैं।

काफी हद्द तक इस परिस्थिति के फलस्वरूप ही जनता द्वारा यह माँग की जाती है कि सरकार अर्थ-विषयक उत्तरदायित्व उत्तरोत्तर अधिक उठावे। साहसोद्यमियों के असंबद्ध कार्य के कारण ही द्राव्यिक आय और मूल्यों की अनियमित घट-बढ़ तथा अन्य दशाएँ उत्पन्न होती हैं। जब राज्य अधिक कार्यों का भार उठा लेगा तब यह गड़बड़ी कम (या कुछ कम) हो जाएगी। घटते-बढ़ते मूल्यों पर होने वाले विवादों में दिये मतों में कम से कम यह भी एक मत है—एक अति महत्वपूर्ण मत।

अध्याय ४६

द्रव्य का अर्घ

द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त

इतिहासिक पृष्ठ-भूमि*—पर्याप्त दीर्घकाल से अर्थशास्त्री जानते हैं कि द्रव्य और वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य में एक प्रकार का सम्बन्ध है, किन्तु अभी तक उनमें इस सम्बन्ध की प्रकृति के बारे में पूर्ण एक मत नहीं है। अधिकांश अर्थशास्त्री, जिनमें प्रो० फिशर प्रमुख हैं, इस मत के पोषक हैं कि अन्य वस्तुएँ समान हों, तो जब द्रव्य की चालू मात्रा बढ़ती है तब द्रव्य का अर्घ घटता है: इसी प्रकार द्रव्य की चालू मात्रा घटने से द्रव्य का अर्घ बढ़ता है। साधारणतया इसी को द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त कहते हैं।

परिमाण सिद्धान्त के प्रारम्भिक और मोटे रूप में द्रव्य के परिचलन को महत्व नहीं दिया जाता था। उसके पोषकों के विचार में द्रव्य की मात्रा स्वयं ही मूल्य-स्तर निर्णय के लिए पर्याप्त थी। द्रव्य की मात्रा बढ़ने से मूल्य गिर जाते थे, और मात्रा कम होने से मूल्य बढ़ जाते थे। परन्तु शीघ्र ही यह ज्ञात हो गया कि मूल्य निर्णय में द्रव्य की चालू मात्रा का हाथ रहता है, गाड़े द्रव्य का नहीं। अर्थशास्त्री "मिल" (Mill) के शब्दों में "यदि चालू सम्पूर्ण द्रव्य दुगना हो जाए तो कीमतें दुगुनी हो जायेंगी। यदि द्रव्य में केवल चतुर्थांश वृद्धि हो तो कीमतें भी चतुर्थांश से ही बढ़ेंगी।" इस प्रकार धीरे धीरे "द्रव्य की चालू मात्रा" को मान्यता मिली और अब तो परिमाण सिद्धान्त के नवीन रूप की व्याख्या के लिए यह अनिवार्य सी है।

द्रव्य की चालू मात्रा के महत्व का कारण स्पष्ट प्रायः है। यदि द्रव्य की एक एकाई दस हाथों से गुजरे तो उसके कारण वस्तुओं की माँग भी दस गुना बढ़ जाएगी। द्रव्य हाथ में आते ही उसको किसी वस्तु पर व्यय करन की इच्छा होती है। जितनी बार द्रव्य किसी हाथ में जाता है उतनी बार यह इच्छा उठती है। अतः यदि एक मनुष्य दस बार रुपया पाता है तो उसको जो माँग अनुभव होती है वह उस माँग की दस गुनी होगी जो उसको केवल एक बार रुपया प्राप्त होने पर अनुभव होगी। जब रुपया दस व्यक्तियों के हाथ से गुजरता है तब भी माँग-वृद्धि का यही रूप होता है। दसों में से प्रत्येक व्यक्ति को एक रुपया व्यय करने की इच्छा होती है। अतः उस स्थिति की माँग की अपेक्षा, जब कि रुपया एक व्यक्ति के हाथ में एक बार जाता, अब कुल माँग दस गुनी होगी। माँग की इस वृद्धि का स्वभावतः मूल्य पर प्रभाव पड़ता है। अतः द्रव्य के परिचलन (अर्थात् जितनी बार द्रव्य हाथों से गुजरता है) की ओर से हम आँख नहीं फेर सकते।

द्रव्य के परिमाण सिद्धान्त की नवीन व्याख्या के तीन आधार हैं—(१) द्रव्य की मात्रा (२) द्रव्य के हाथ बदलने की संख्या अर्थात् द्रव्य का परिचलन प्रवेग (Velocity of circulation) और (३) बाजार में क्रय-विक्रय होने वाली वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा। याद रहे कि उक्त सिद्धान्त की नवीन व्याख्या में यह नहीं कहा जाता है कि केवल

*प्रस्तुत व्याख्या प्रो० चेन्डलर लिखित पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन टू मॉनेट्री थियरी' में दी व्याख्या के आधार पर है।

द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन होने के साथ मूल्य स्तर में परिवर्तन होता है। परिचलन-प्रवेग में अथवा द्रव्य की मात्रा और परिचलन-प्रवेग दोनों में एक साथ परिवर्तन होने पर भी मूल्य-स्तर बदल सकता है।

परिमाण-सिद्धान्त की यह नवीन व्याख्या है क्या? एक ही नाम से द्रव्य के अर्घ को समझाने की दो भिन्न विधियाँ अपनाई गई हैं। एक को लेन-देन विधि (Transaction Approach) कहते हैं और दूसरी को नकद-शेष विधि (Cash Balance Approach)। इन्हीं के अनुरूप परिमाण सिद्धांत का क्रमशः एक "लेन-देन रूप" है और दूसरा "नकद-शेष-रूप।"

हम परिमाण सिद्धान्त के लेन-देन रूप को पहले समझाएंगे। इसके अनुसार अन्य वस्तुओं को समान मानकर जन समुदाय के नकद लेन-देन (Cash Transactions) में परिवर्तन होने के साथ द्रव्य के अर्घ में भी परिवर्तन होता है। यदि समाजगत लेन-देन बढ़ जाता है तो द्रव्य का अर्घ गिर जाता है और वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है। लेन-देन घटने से इसका विपरीत होता है।

द्रव्य या नकदी की सहायता से किए गए क्रय ही नकद लेन-देन हैं। मान लीजिए किसी समाज में द्रव्य की केवल पाँच इकाइयाँ हैं और प्रत्येक इकाई दस बार हाथ बदलती है जिससे मनुष्य दस बार लेन-देन कर सकता है। तब उक्त समाज में कुल नकद लेन-देन ५ × १० = ५० हुआ और इसी से उस समाज में कुल वस्तुओं और सेवाओं की खरीद होगी। स्पष्ट है कि इस समाज में वस्तु तथा सेवाओं की बिक्री से होने वाली आय उतनी ही होगी जो उस समाज के व्यक्ति खरीद में दे सकें और यह ५० है। अतः वस्तुओं तथा सेवाओं की बिक्री का मूल्य भी ५० ही होगा। यह तभी होगा जब वस्तुओं तथा सेवाओं की इकाई का औसत मूल्य इतना हो कि उसको विक्रित मात्रा से गुणा करने पर गुणनफल ५० हो। अन्यथा कुल विक्रय-मूल्य और जो कुछ (५०) जनता देती है उनमें अन्तर होगा।

सामान्य रूप में कह सकते हैं कि यदि किसी समय समाज के पास औसत द्रव्य की 'म' इकाइयाँ हों और प्रत्येक इकाई की औसत परिचलन-प्रवेग 'त' हो तो 'मत' कुल नकद लेन-देन हुआ; और यदि समाज के नकद लेन-देन के बदले विक्रित समाज की वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा 'त्र' तथा 'त्र' की प्रत्येक इकाई का औसत मूल्य "प" हो तो हम कहेंगे कि उस समय उस समाज में मत = पत्र। इसी को द्रव्य शास्त्री विनिमय का समीकरण (Equation of Exchange) कहते हैं और इसी की सहायता से वे परिमाण सिद्धांत को समझते हैं। उनका कथन है कि दीर्घकाल में द्रव्य की मात्रा वृद्धि के कारण मूल्य-स्तर में लगभग आनुपातिक वृद्धि होती है, भले ही अल्पकाल में मूल्य स्तर की वृद्धि आनुपातिक न हो।

आइए, कुछ क्षण के लिए हम प्रधान विषय से हट कर, किसी समय **म, त, त्र** में परिवर्तन करने वाले विभिन्न कारणों का विश्लेषण करें अर्थात् हम पता लगाएं कि **म, त, त्र** किन शक्तियों पर आधारित हैं।

म नकद तथा चेक द्वारा निकाली जाने वाली बैंक-जमा का योग है और निम्नलिखित मुख्य शक्तियों पर निर्भर है :—

१—द्रव्य-आधार की मात्रा

(अ) द्राव्यिक स्वर्ण-निधि की मात्रा

(ब) राज्य द्वारा जारी किए धात्विक मुद्रा तथा पत्र-मुद्रा की मात्रा

२—नकद तथा चेक द्वारा निकाली जाने वाली जमा की सापेक्षिक मात्राओं के सम्बन्ध में (जिन्हें समाज हाथ में रखना चाहता है) समाज का निश्चय

३—बैंक के सुरक्षित कोष तथा चेक द्वारा निकाली जाने वाली जमा का अनुपात

द्रव्य-आधार वह निधि है जिसके आधार पर नकद का निर्गमन होता है। इस नकद का या तो परिचलन होता है या इसको कोष में रखकर उसके आधार पर नोट और सांकेतिक द्रव्य जारी किए जाते हैं। यह स्पष्ट ध्यान रहे कि द्रव्य-आधार में घट-बढ़ होने पर द्रव्य में भी क्रमशः घट-बढ़ होती है। द्रव्य-आधार साधारणतया स्वर्ण होता है, जिसकी देश के अंदर की मात्रा देशी स्वर्ण-उत्पादन तथा स्वर्ण-निर्यात स्थिति पर निर्भर रहती है। यदि स्वर्ण की मात्रा पर्याप्त हो तो प्रमाणिक तथा सांकेतिक द्रव्य (पत्र-मुद्रा भी ले कर) की अधिक मात्रा परिचलन के लिए उपलब्ध की जा सकती है।

द्रव्य की मात्रा पर प्रभाव रखने वाली दूसरी शक्ति जनता का यह निर्णय है कि वह सरकार द्वारा जारी द्रव्य तथा बैंक द्रव्य की कितनी मात्रा पर अधिकार रखेगी। यदि जनता अपने हाथ में अधिक द्रव्य रखने का निर्णय करती है तो बहुत सम्भव है कि मुद्रास्फीति की स्थिति आ जाए। यदि जनता कम द्रव्य हाथ में रखती है तो द्रव्य की मात्रा घट जायगी।

द्रव्य की मात्रा पर प्रभाव रखने वाली तीसरी शक्ति बैंक का सुरक्षित कोष और बंक जमा का आपसी अनुपात है। इस अनुपात का बैंक द्रव्य पर अतिपरोक्ष प्रभाव पड़ता है। सभी जगह यह कहा जाता है कि यदि बैंक को 'ख' निधि सुरक्षित कोष में रखनी है तो वह अपने यहां जमा की निधि को 'ख' के एक निश्चित गुणन से अधिक न बढावें। उदाहरणार्थ, यदि बैंक को २०० रुपए सुरक्षित कोष में रखना है तो हम कह सकते हैं कि उसके पांच गुने अर्थात १००० रुपए से अधिक की जमा-निधि न हो। इससे स्पष्ट है कि बैंकें अपरिमित मात्रा में जमा निधि नहीं रख सकतीं अर्थात वे जनता को अत्यधिक बैंक-द्रव्य नहीं जारी कर सकतीं। व्यापार की तेजी के समय उधार देने के लालच में बैंकें अत्यधिक द्रव्य जारी कर सकती हैं। सुरक्षित कोष और अधिकतम जमा का अनुपात इस लालच पर नियंत्रण रखता है, क्यों इस अनुपात की सीमा के आगे बैंक-द्रव्य जारी नहीं किया जा सकता। अनुपात द्वारा निर्देशित बैंक-द्रव्य की मात्रा से कम द्रव्य जारी करने की बैंक को स्वतंत्रता है। उक्त अनुपात क्या हो इसका निर्णय कानून या रिवाज पर निर्भर रहता है।

अब हम 'त' को लें। यह निम्नलिखित मुख्य शक्तियों पर निर्भर है:—

(१) साख की विकास स्थिति, अर्थ-प्रणाली तथा समाज द्वारा उसका उपयोग।
(२) समाज की अपनी आय का उपभोग तथा बचत करने की आदत।
(३) समाज में प्रचलित हिसाब चुकाने की अवस्थाएँ।
(४) यातायात के साधन तथा
(५) जनसंख्या

अधिक विकसित बैंक तथा साख प्रणाली वाले समाज में (उस समाज की अपेक्षा जहां ऐसी प्रणाली नहीं है) द्रव्य का अपेक्षाकृत अधिक उपयोग होता है। वहां यह डर न होगा कि यदि अपना सब द्रव्य व्यय हो जाएगा तो ऋण नहीं मिलेगा। स्वभावतः वहां द्रव्य का परिचलन प्रवेग भी अधिक होगा। परन्तु विकसित द्रव्य तथा साख प्रणाली के कारण द्रव्य का परिचलन प्रवेग तभी बढ़ सकता है जब जनता उस प्रणाली का अधिक प्रयोग करे।

द्रव्य का परिचलन प्रवेग इस बात पर भी पर्याप्त निर्भर है कि समाज मितव्ययी है और अधिक बचत करना चाहती है, अथवा अपनी आय का अधिकांश उपभोग पर व्यय करना चाहती है। स्पष्टतः, यदि व्यक्ति अधिक बचत करना चाहते हैं तो वे आसानी से द्रव्य हाथ से न निकालेंगे। अतः द्रव्य हाथ से कम निकलेगा और उसका परिचलन प्रवेग घट जाएगा। यदि व्यक्ति अधिक उपभोग करेंगे तो वे सरलता से अधिक द्रव्य व्यय करेंगे, द्रव्य तेजी से हाथों से गुजरेगा और उसका परिचलन प्रवेग बढ़ जाएगा।

3- द्रव्य के परिचलन प्रवेग के सम्बन्ध में हिसाब चुकाने की पद्धति भी महत्वपूर्ण है। यदि हिसाब बराबर चुकाए जाते हैं तो, विपरीत स्थिति की अपेक्षा, द्रव्य का व्यय अपेक्षाकृत अधिक खुल कर होगा। यदि किसी श्रमिक को यह संदेह हो कि उसकी मजदूरी अगले सप्ताह मिलेगी अथवा अगले महीने, तो वह द्रव्य का उपयोग सावधानी और सतर्कता से करेगा। परन्तु यदि ऐसी कोई आशंका नहीं है, तो वह उतना सावधान न होगा। इस दूसरी स्थिति में अधिक स्वच्छंद व्यय के कारण अवश्य ही द्रव्य का परिचलन-प्रवेग बढ़ जाएगा। इसी प्रकार साप्ताहिक के स्थान पर मासिक मजदूरी वितरण की स्थिति में पहले की अपेक्षा मजदूर के व्यय कम फुर्ती और वारंवारता से किए जाएंगे। जितनी जल्दी जल्दी (अर्थात कम अवधि में) मज़दूरी बँटेगी, उतनी ही जल्दी जल्दी मज़दूर द्रव्य व्यय करेगा और द्रव्य का परिचलन-प्रवेग तीव्र होता जाएगा।

यातायात के साधनों का भी द्रव्य के परिचलन-प्रवेग पर प्रभाव पड़ता है। अधिक यातायात सुविधाओं वाले बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में रुपया अधिक तेजी से हाथों से गुजरेगा, यदि हम यह मान लें कि तीन स्थानों में समान व्यवसायिक जनसंख्या है। इस प्रकार द्रव्य का परिचलन-प्रवेग इस बात पर भी निर्भर है कि वह किस तेजी से जन समुदाय के मध्य विचरण कर सकता है।

जन संख्या का परिचलन-प्रवेग पर इस अर्थ में प्रभाव पड़ता है कि यदि अधिक जन हैं तो वही रुपया अधिक तेजी से हाथ बदलेगा। अधिक जन संख्या के कारण परिचलन-प्रवेग बढ़ जाएगा, कम जनसंख्या होने पर यह घट जाएगा।

अब हम त्र को लेते हैं। यह निम्नलिखित शक्तियों द्वारा प्रभावित होता है :-

(१) देश की जनसंख्या तथा प्राकृतिक साधन।
(२) उत्पादन के साधनों का कहां तक उपयोग किया जाता है।
(३) समाज की व्यवसायिक स्थिति
(४) विनिमय की विकास-स्थिति

यदि जनसंख्या अधिक है तो मानवीय शक्ति अधिक होगी और यदि प्राकृतिक साधनों की भी मात्रा पर्याप्त हुई तो संभवतः समाज वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन को पर्याप्त अधिक बनाए रख सकेगा। कम जनसंख्या और प्राकृतिक साधनों के अभाव में विपरीत स्थिति होगी। यहां प्राकृतिक साधनों में पूंजीगत वस्तुएँ और समाज में उपलब्ध तांत्रिक ज्ञान की गिनती की जाती है।

वस्तुओं और सेवाओं के व्यापार की मात्रा अधिक या कम होने की संभावना इस बात पर भी निर्भर होती है कि उत्पादन के साधनों का किस सीमा तक उपयोग हो रहा है। यदि

काफी मात्रा में साधन बेकार पड़े हैं तो त्र में तीव्र वृद्धि होगी। यदि ये साधन उत्पादन हेतु कम उपलब्ध हैं तो त्र में वृद्धि तो होगी, परन्तु कम।

व्यापारियों की संख्या बढ़ जाने पर भी वस्तुओं की व्यापार-मात्रा बढ़ जाती है। व्यापारियों की संख्या-वृद्धि समाज में व्यवसाय के स्वरूप पर निर्भर रहती है। यदि व्यवसाय थोड़े से एकाधिकारियों के हाथ में हैं तो स्वभावतः व्यापारियों की संख्या कम होगी और फलतः व्यापार भी कम होगा। यदि व्यवसाय अधिक लोगों के हाथ में चला जाय तो सामान्यतः त्र में भी प्रसार होगा।

उपर्युक्त विचार के पश्चात अब हमको उन शक्तियों को समझने में सहायता मिलती है जिन पर अंततोगत्वा मूल्य-स्तर के परिवर्तन यथार्थतः निर्भर रहते हैं। **म** केवल एक ऊपरी साधन है। इसका महत्व यही है कि इसमें उन सब शक्तियों का निरूपण निहित है जिन पर **म** स्वयं अंततः निर्भर रहता है।

परिमाण सिद्धान्त के अनुसार दीर्घकाल में जब सब नियोजन पूरे हो जाते हैं, मूल्य-स्तर में परिवर्तन द्रव्य की मात्रा के परिवर्तन के अनुपात में ही होता है। उदाहरण के लिए यदि द्रव्य की मात्रा दुगुनी हो जाए तो मूल्य-स्तर भी दुगुना हो जाएगा ; यदि द्रव्य की मात्रा आधी हो जाए तो मूल्य-स्तर आधा होगा। ऐसा इसी कारण होता है क्योंकि "**मत-पत्र**" में **त** और **त्र** द्रव्य की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों से स्वतंत्र हैं। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं वे अधिकांशतः ऐसी शक्तियों द्वारा निर्धारित होते हैं जिनका द्रव्य की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः यह स्वाभाविक है कि जब **म** बढ़ कर **२म** हो जाता है, **त** और **त्र** पूर्ववत बने रहते हैं और फलतः उक्त समीकरण के अनुसार **प** को **२प** बनना ही पड़ेगा, अर्थात, जब द्रव्य की मात्रा **म** दुगुनी हो जाए तो कुल वस्तुओं और सेवाओं (**त्र**) की इकाई के औसत मूल्य **प** को भी दुगुना होना पड़ेगा।

उपर्युक्त विश्लेषण केवल दीर्घकाल (ऐसा काल जिसमें सब अल्प-कालीन उतार-चढ़ाव का नियोजन पूरा हो जाता है) के लिए सही है। वास्तव में दीर्घकाल में भी कभी-कभी द्रव्य की मात्रा के परिवर्तन स्वरूप होने वाले अल्पकालीन तीव्र घट-बढ़ के कारण **त** और **त्र** में स्थायीरूप से परिवर्तन हो सकता है। परन्तु मोटे तौर पर यह माना जा सकता है कि दीर्घ-काल में **त** और **त्र** अधिकांशतः द्रव्य की मात्रा से स्वतंत्र रहते हैं।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है परिमाण सिद्धान्त का नवीन रूप इस बात का निरोध नहीं करता कि अल्प काल में द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन होने पर मूल्य-स्तर में अनु-पात से अधिक या कम वृद्धि की संभावना है। अब हम देखेंगे कि किस प्रकार ये अ-आनुपातिक परिवर्तन होते हैं।

आइए पहले यह विचार करें कि द्रव्य की मात्रा बढ़ने से क्या होता है? मान लीजिए कि किसी समाज के सदस्य कई बातों को सोचकर अपने पास द्रव्य की **ख** मात्रा रखने का निश्चय करते हैं। यदि द्रव्य **ख** से अधिक हो जाए तब सदस्यों के पास इच्छा से अधिक द्रव्य होगा और स्वभावतः वे उसे व्यय करना चाहेंगे। वस्तुओं की मांग बढ़ेगी, और उनके मूल्य भी। जब मनुष्य खुलकर द्रव्य व्यय करेंगे तो द्रव्य का परिचलन-प्रवेग भी बढ़ जाएगा। मूल्य वृद्धि के साथ यह धारणा बढ़ेगी कि लाभ में वृद्धि होगी; फलतः कुछ लोग अधिक खुलकर

द्रव्य व्यय करेंगे जिससे द्रव्य का परिचलन प्रवेग और अधिक बढ़ेगा। दूसरी ओर उपभोक्ता भावी मूल्य वृद्धि के भय से अधिक तेजी से वस्तुएँ खरीद कर संचय करेंगे। उनके व्यय भी बढ़ जाएंगे जिससे द्रव्य के परिचलन-प्रवेग में और अधिक वृद्धि होगी। इस प्रकार द्रव्य की मात्रा वृद्धि के कारण द्रव्य के परिचलन-प्रवेग में अत्यधिक वृद्धि हो सकती है। प्रवेग वृद्धि में कुल लेन देन की मात्रा में भी काफी वृद्धि होगी।

परन्तु इन वृद्धियों के कारण मूल्य-स्तर में आनुपातिक वृद्धि होगी या नहीं यह **त्र** अर्थात नकद लेन देन द्वारा किए कुल व्यापार की मात्रा पर निर्भर होगा। यदि **त्र** भी बढ़कर उतना ही हो जाता है जितने नकद लेन देन तो मूल्य-स्तर में आनुपातिक वृद्धि होगी, अन्यथा वृद्धि अ-आनुपातिक होगी। **त्र** में हुई वृद्धि इस बात पर निर्भर होगी कि परिचलन प्रवेग के कारण होने वाले नकद लेन देन की वृद्धि के समय साधन कितनी मात्रा में बेकार हैं। यदि बेकार साधन अधिक हुए तो संभव है कि **त्र**, **त** से अधिक अनुपात में बढ़े। तब मूल्य वृद्धि **म** की वृद्धि के अनुपात से कम होगी। यदि कम साधन बेकार हैं, तो संभव है, **त्र**, **त** से कम अनुपात में बढ़े और तब मूल्य वृद्धि **म** से अधिक अनुपात में होगी। '**त्र**' और बेकार साधनों का सम्बन्ध स्पष्ट है। जब तक साधन न होंगे उत्पादन कैसे बढ़ेगा? जब तक उत्पादन न बढ़ेगा, वस्तुओं और सेवाओं का कुल व्यापार कहाँ से बढ़ेगा?

इस प्रकार अल्प काल में द्रव्य और मूल्य वृद्धियों में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। आरम्भ में जब **त्र**, **त** की अपेक्षा अधिक तीव्रता से बढ़ता है तो मूल्य कम अनुपात में बढ़ सकते हैं; और बाद में जब **त्र** अपेक्षाकृत कम तीव्रता से बढ़ेगा (क्योंकि आरम्भ में व्यापार वृद्धि के लिए साधनों के अधिकांश का उपयोग हो जाने के कारण अब उपलब्ध साधन कम हो सकते हैं।) तब मूल्य अधिक अनुपात में बढ़ेगा। अल्पकालीन मूल्य निर्धारण में **त** के महत्व को मानना अनिवार्य है। द्रव्य की मात्रा में एक बार परिवर्तन हो जाने पर त और **त्र** की वृद्धि की सापेक्ष दरें ही अल्पकालीन मूल्य निर्धारित करनें में योग देती हैं।

जब द्रव्य की मात्रा में कमी की जाती है, अल्पकाल में इसके विपरीत प्रक्रिया होती है। समाज के सदस्य यह अनुभव करते हैं कि उनके पास **ख** से कम द्रव्य है और उन्हें अधिक बिक्री करनी चाहिए जिससे उनकी आय (अतः **ख** भी) बढ़े। वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति बढ़ जाती जाती है; मांग वही रहती है; अतः मूल्य गिरने लगते हैं। उत्पादक उत्पादन पर अधिक व्यय नहीं करना चाहते। उपभोक्ता भी मूल्य गिरने की आशा में हाथ रोक कर व्यय करते हैं। फलतः द्रव्य का परिचलन प्रवेग घटने लगता है। प्रत्येक मूल्य ह्रास के साथ परिचलन प्रवेग में अधिक ह्रास होता है। ह्रास के कारण मूल्य और घटते हैं। फलतः कुल नकद लेन देन की मात्रा पहले धीरे धीरे कम होती है और फिर तेजी से।

एक बार **म** के बदल जाने पर मूल्य में होने वाली कमी **त** और **त्र** के सापेक्षिक परिवर्तन पर निर्भर होगी। यदि **त** की अपेक्षा **त्र** अधिक तीव्रता से बढ़ता है तो मूल्य में **म** के ह्रास के अनुपात से कम ह्रास होगा: यदि **त्र** अपेक्षाकृत कम तीव्रता से बढ़ता है तो मूल्य **म** से अधिक अनुपात में बढ़ेगा।

परिमाण सिद्धान्त का दूसरा रूप नकद शेष से सम्बन्धित है जो मूल्य निर्धारण की समस्या सुलझाने का दूसरा आधार है। इससे द्रव्य के अर्थ का समाज में नकद शेष की माँग और पूर्ति के आधार पर निर्धारण करते हैं। यह नकद शेष—कुछ अन्य नहीं वरन् किसी

समयावधि में समाज में रहने वालों की क्रय हेतु द्रव्य की माँग है। नकद-शेष द्रव्य की मात्रा का दूसरा नाम है। नकद-शेष की मांग और पूर्ति का वही अर्थ है जो द्रव्य-मात्रा की मांग और पूर्ति का। प्रस्तुत मत के समर्थक कहते हैं कि द्रव्य का अर्घ द्रव्य की मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है।

यह तो स्पष्ट है कि द्रव्य की मांग का तभी कोई अर्थ है जब हम द्रव्य से वस्तुएँ और सेवाएँ क्रय करना चाहें। द्रव्य की द्रव्य के लिए ही कोई मांग नहीं करता। अतः द्रव्य की मांग को हम उन वस्तुओं और सेवाओं की मांग के रूप में देख सकते हैं जिन्हें समाज क्रय करेगा। जहां एक बार समाज द्वारा क्रय की जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा निश्चित हुई, द्रव्य की मांग उस मात्रा के बराबर होगी जिससे समाज वस्तुओं और सेवाओं की निश्चित मात्रा क्रय कर सके। यदि समाज **ख** वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदना चाहता है तो द्रव की मांग वह मात्रा होगी जिससे **ख** खरीदा जा सके। जब मूल्य बढ़ते हैं और द्रव्य की क्रय शक्ति घट जाती है तब **ख** को खरीदने के लिए पहले से अधिक द्रव्य की मांग होगी। इसी प्रकार मूल्य घटने से द्रव्य की क्रय-शक्ति बढ़ेगी और **ख** की खरीद के लिए पहले से कम द्रव्य की मांग होगी। अतः द्रव्य की मांग मूल्य स्तर के साथ बदलती है।

यहां मूल्य कारण है और द्रव्य की मांग फल। अब हमको द्रव्य की मांग को मूल्य-परिवर्तन का कारण मान कर विचार करना है। अतः हम द्रव्य की मांग में होने वाले उन परिवर्तनों को लेंगे जो मूल्य-स्तर से स्वतंत्र हैं और तब मूल्यों पर पड़ने वाले उनके प्रभावों का अध्ययन करेंगे।

द्रव्य की मांग निम्नांकित दो कारणों में से किसी एक या दोनों के कारण बदल सकती है:—(१) प्रति समय-इकाई वस्तुओं, सेवाओं और सिक्यूरिटियों के व्यापार में परिवर्तन तथा (२) जिस समयावधि में क्रय करने के लिए समाज द्रव्य की मांग करता है उस अवधि में परिवर्तन (या घट-बढ़)। अन्य बातें समान हों तो जितनी अधिक मात्रा में व्यापार होगा उतनी ही अधिक द्रव्य की मांग होगी। इसी प्रकार जितनी लम्बी समयावधि के लिए समाज द्रव्य हाथ में रखना चाहेगा, द्रव्य की मांग उतनी ही अधिक होगी। प्रति मास के आधार पर द्रव्य व्यय करने वाला समाज जितने द्रव्य की मांग करेगा उससे अधिक मांग उस हालत में होगी जब वह द्वि-मास (दो महीने) के आधार पर द्रव्य व्यय करें। प्रतिमास के आधार पर व्यय जल्दी जल्दी किए जाएंगे अर्थात् द्रव्य की गति दो महीनों वाली स्थिति की गति से तीव्र तर होगी। यदि द्रव्य की मांग की समयावधि **क** मान लें तो **क** जितना अधिक होगा **त** उतना ही कम होगा और ऐसा ही विपरीत भी। यह भी स्पष्ट है कि '**क**' जितना अधिक होगा, द्रव्य की मांग भी उतनी ही अधिक होगी। अतः हम कह सकते हैं कि द्रव्य की मांग '**क**' के अनुपात में बदलती है परन्तु द्रव्य का परिचलन प्रवेग **क** के विपरीत अनुपात में बदलता है।

मान लीजिए कि समाज में द्रव्य की पूर्ति-मात्रा **म** है, **त्र** का औसत-मूल्य **प** है (यहां **त्र** वस्तुओं तथा सेवाओं का वार्षिक कुल व्यापार है) और **क** द्रव्य के मांग की समयावधि है। तब **पत्र** पूरे वर्ष की द्रव्य की मांग होगी और **प त्रक** अथवा **प त्रक** द्रव्य की उस मांग को बताएगा जो **क** समयावधि में होगी। (यहां **क** वर्षों में है परन्तु साधारणतः यह वर्ष का एक अंश यथा, कुछ महीने या सप्ताह ही होता है)। द्रव्य की पूर्ति **म** है; द्रव्य की मांग **प त्रक** है। संस्थिति पर द्रव्य का अर्घ ऐसा होगा कि पूर्ति और मांग बराबर हों।

अतः संस्थिति पर

$$म = प त्र क$$

मूल्य (प) म या त्रक में परिवर्तन होने के कारण बदल सकता है। त्रक उन वस्तुओं और सेवाओं का प्रतिनिधित्व करता है जिनके लिए क समयावधि में समाज द्रव्य की मांग करता है। इस प्रकार 'त्रक' समाज की द्रव्य की मांग का सूचक है। द्रव्य की मांग (त्रक) या पूर्ति (म) में परिवर्तन होने से मूल्य बदल सकता है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि जब क बढ़ता है तब त घटता है और ऐसा ही विपरीत दशा में। अतः हम कह सकते हैं कि $क = \frac{१}{त}$। और उपर्युक्त समीकरण में क के स्थान पर १/त रखने से

$$म = प \frac{१}{त} त्र$$

अथवा **मत = पत्र**

जो कि वही समीकरण है जिसका परिमाण सिद्धांत में भी उल्लेख करते हैं। परिमाण सिद्धान्त के लेन-देन रूप और नकद शेष-रूप का समान सिद्ध करने का यह भी एक ढंग है।

अब हम नकद-शेष सिद्धान्त पर कुछ विस्तार पूर्वक विचार करेंगे। हम पहले द्रव्य की पूर्ति के प्रभाव का अध्ययन करेंगे। जब द्रव्य की पूर्ति बढ़ जाती है तब समाज सोचता है कि मांग से अधिक नकदी उसके हाथ में है। (हम यहां मान लेते हैं कि संस्थिति थी जिस पर द्रव्य की पूर्ति = द्रव्य की मांग)। फलतः समाज में रहने वाले अधिक स्वच्छंदता से द्रव्य व्यय करते हैं; उनकी वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है; मूल्य बढ़ते हैं; द्रव्य का अर्घ घटता है और तब तक कि समाज में वस्तुओं और सेवाओं की उन्हीं मात्राओं के लिए पहले से अधिक द्रव्य की मांग होने लगती है। इस प्रकार द्रव्य की पूर्ति वृद्धि से द्रव्य की मांग में भी तब तक वृद्धि होती है जब तक दोनों (मांग और पूर्ति) पुनः बराबर नहीं हो जाते।

जब द्रव्य की पूर्ति घटाई जाती है तब समाज के रहनेवाले यह अनुभव करते हैं कि उनके हाथ में मांग से कम द्रव्य है। अतः वे अपने व्यय कम करते हैं और अनेक वस्तुओं के मांग तथा मूल्य घटने लगते हैं। इससे द्रव्य का अर्घ बढ़ जाता है और वस्तुओं तथा सेवाओं की उन्हीं मात्रा के लिए पहले की अपेक्षा कम द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार द्रव्य की मांग तब तक घटती है जब तक वह द्रव्य की घटी पूर्ति के बराबर नहीं हो जाती।

उपर्युक्त दोनों दशाओं में यदि किसी कारणवश द्रव्य की पूर्ति के साथ उसकी मांग नहीं बदलती तो मूल्य द्रव्य की पूर्ति के अनुपात में ही बदलेगा।

अब द्रव्य की मांग के परिवर्तन को लें। जब त्र या क के बदलने के कारण द्रव्य की मांग घटती है तब समाज यह अनुभव करता है कि उसके पास पहले से अधिक द्रव्य है जिसे वह अधिक वस्तुएँ और सेवाएँ क्रय करके व्यय कर सकता है। अतः जनता के व्यय बढ़ते हैं और मूल्य भी। यह क्रम तब तक चलता है जब तक वर्तमान द्रव्य पूर्ति की क्रय-शक्ति समाज की मांग के बराबर नहीं हो जाती। ध्यान रहे कि यहां मूल्य स्तर की वृद्धि मांग की कमी के अनुपात में होगी अन्यथा पूर्ववत द्रव्य की पूर्ति से समाज की पहली मांग से कम या अधिक वस्तुएँ और

सेवाएँ क्रय की जा सकेंगी। संस्थिति पर ऐसा होना असंभव है। संस्थिति के लिए द्रव्य की पूर्ति समान रहने पर मूल्य की घट-बढ़ क्रमशः मांग की बढ़ घट के अनुपात में होगी। द्रव्य की मांग वृद्धि पर इसका विपरीत फल होगा।

यह सब दीर्घकालीन बातें हैं। अंतः काल में मूल्य परिवर्तन द्रव्य की पूर्ति (या मांग) के के अनुपात में हो या न हो। मूल्य में होने वाले परिवर्तन की मात्रा, त्र और **क** के सापेक्षिक परिवर्तन पर निर्भर होगी। (परिमाण सिद्धान्त के लेन-देन सम्बन्धी रूप में यह **म**, **त** और **त्र** के सापेक्षिक परिवर्तन पर निर्भर था)। क्योंकि $\text{क} = \frac{1}{\text{त}}$ परिमाण सिद्धान्त के पहले रूप पर विचार करते समय किया विश्लेषण यहां भी काम आएगा। अंतर केवल '**क**' और '**त**' के संबन्ध में मानी गई उपपत्तियों के कारण होगा।

परिमाण सिद्धान्त के नकद-शेष वाले रूप के समर्थकों का कथन है कि द्रव्य के अर्घ निर्धारण की प्रक्रिया की जो व्याख्या उन्होंने दी है वह लेन-देन वाले रूप में दी व्याख्या से उत्तम है, और इसके दो कारण हैं। प्रथम, उनका सिद्धान्त अर्घ के उस सामान्य सिद्धान्त के अनुरूप है जिसमें यह व्याख्या की जाती है कि अर्घ का निर्धारण पूर्ति और मांग की शक्तियों की क्रिया प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होता है। दूसरा कारण यह है कि वे द्रव्य के अर्घ निर्धारण समस्या को आत्मनिष्ट अर्घनिर्धारण की शक्ति से प्रत्यक्ष संबंधित मानते हैं। द्रव्य कितना क्रय कर सकेगा यह भावी (या दूर के) व्यापारिक लेन-देन पर नहीं निर्भर रहता। यह तो इस पर निर्भर रहता है कि जनसमुदाय के अपने हाथ में एक निश्चित वास्तविक आय रखने के तात्कालिक निश्चय किया है।

हम इन समर्थकों की इन बातों का भले ही विरोध न करें परन्तु हम इतना तो उनसे स्पष्ट ही कह सकते हैं कि जो कुछ वह कहते हैं उसमें तत्त्व की बातें यथार्थ में वही हैं जो नकद लेन देन रूपी परिमाण सिद्धान्त के समर्थकों की बातों में हैं।

बचत तथा विनियोग सिद्धान्त

कतिपय नवीन द्रव्यशास्त्रियों का मत है कि द्रव्य के अर्घ की समस्या पर इस प्रकार विचार करना स्पष्ट और अव्यवहारिक है। द्रव्य जो कुछ खरीद सकता है वह समाज में मुद्रा तथा मुद्रापत्रों की किसी निश्चित मात्रा पर ही नहीं (यद्यपि ये भी कुछ प्रभाव रखते हैं) वरन् उस पर निर्भर रहता है कि उस समाज के रहनेवालों की आय कितनी है और उस आय का कितना अंश वस्तु और सेवाओं पर व्यय करते हैं। अन्य शब्दों में द्रव्य का अर्घ समाज के द्राव्यिक आय और द्राव्यिक व्यय—इन्हीं दो शक्तियों पर निर्भर रहता है।

समयावधि विशेष में समाज की द्राव्यिक आय समाज में उसी अवधि में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन पर व्यय होने वाली द्राव्यिक लागत होती है। यदि **ख**-समाज **ग** द्रव्य व्यय करके **क** समय में **त्र** वस्तु और सेवाएँ उत्पन्न करता है तो **क** समय में **ग** उसकी द्राव्यिक आय होगी। **त्र** वस्तु और सेवाओं के अर्घ का **क** समय के बाद आने वाले समय की द्राव्यिक आय पर प्रभाव पड़ेगा परन्तु जहां तक **क** समय का प्रश्न है द्राव्यिक आय **ग** ही रहेगी।

हम विचार करें कि इस द्राव्यिक आय का क्या होता है? हम यह मान लेते हैं जिस समय में द्राव्यिक आय का अर्जन होता है उसका उसी में व्यय नहीं होता वरन् वह उस समयावधि के बाद व्यय की जाती है। होना भी यही चाहिए। जब तक **त्र** का उत्पादन हो रहा है तब तक

उस (क) अवधि में द्राव्यिक लागत लगती जाती है और इस प्रकार समाज द्राव्यिक आय का अर्जन करता जाता है। जब समाज त्र भाग का उत्पादन कर चुकता है उसके बाद ही (या वैसे ही) वह कुल उत्पादन लागत (अर्थात अपनी कुल आय) को ठीक ठीक निर्धारित कर सकता है। जब आय मालूम हो जायगी तभी तो समाज उसके व्यय की बात सोचेगा। अतः यह तर्क पूर्वक कहा जा सकता है किसी क समयावधि की द्राव्यिक आय उस अवधि के बाद ही व्यय की जा सकती है। उससे पहले उस द्राव्यिक आय की मात्रा ही अनिश्चित रहेगी।

अब मान लीजिए कि उत्पादित त्र वस्तु और सेवाओं में से त्र_1 उपभोग्य वस्तु और सेवाओं की मात्रा है और त्र_2 उत्पादन वस्तुओं और सेवाओं की। तब $\text{त्र} = \text{त्र}_1 + \text{त्र}_2$। यदि त्र_1 की कीमत प_1 हो तो समाज त्र_1 की खरीद पर अपनी ग आय में से $\text{प}_1\,\text{त्र}_1$, व्यय करेगा। इसी प्रकार यदि त्र_2 की कीमत प_2 है तो ग आय में से $\text{प}_2\,\text{त्र}_2$ उस पर व्यय किया जाएगा। इस प्रकार त्र वस्तु और सेवाओं पर $\text{प}_1 + \text{प}_2$ द्राव्यिक आय व्यय होगी। यदि त्र_2 वस्तु का विपणन मूल्य प हो तो समाज द्वारा त्र पर किया व्यय होगा पत्र। व्यय के ये दोनों माप बराबर होंगे क्योंकि दोनों एक ही वस्तुओं और सेवाओं पर किए व्यय के माप हैं। अतः $\text{प}\,\text{त्र} = \text{प}_1\,\text{त्र} + \text{प}_1\,\text{त्र}_2$।

अब यदि न द्रव्य की वह मात्रा है जो बचाई गई है (अर्थात इन द्रव्यशास्त्रियों के अनुसार आय का वह भाग जो उपभोग्य वस्तुओं और सेवाओं पर नहीं व्यय होता बचत है) तब (ग—न) स्पष्टतः वह द्रव्य है जो उपभोग्य वस्तुओं और सेवाओं के क्रय पर व्यय किया गया है।

अतः $\text{प}\,\text{त्र} = \text{ग} - \text{न} + \text{प}_2\,\text{त्र}_2$ अथवा $\text{प} = \frac{\text{ग}}{\text{त्र}} + \frac{\text{प}_2\,\text{त्र}_2 - \text{न}}{\text{त्र}}$ (१)

क्योंकि त्र के उत्पादन की द्राव्यिक लागत ग है अतः $\frac{\text{ग}}{\text{त्र}}$, त्र की प्रति इकाई की लागत है अर्थात क समयावधि में समाज द्वारा किए उत्पादन की प्रति इकाई लागत है।

यदि $\text{न} = \text{प}_2\,\text{त्र}_2$ तो $\frac{\text{प}_2\,\text{त्र}_2 - \text{न}}{\text{त्र}} = ०$ और समीकरण (१) से यह निष्कर्ष निकलता है कि $\text{प} = \frac{\text{ग}}{\text{त्र}}$

यदि $\text{न} < \text{प}_2\,\text{त्र}_2$ तो $\frac{\text{प}_2\,\text{त्र}_2 - \text{न}}{\text{त्र}} > ०$ अर्थात वह धनात्मक होगा और $\text{प} > \frac{\text{ग}}{\text{त्र}}$।

यदि $\text{न} > \text{प}_2\,\text{त्र}_2$ तो $\frac{\text{प}_2\,\text{त्र}_2 - \text{न}}{\text{त्र}} < ०$ अर्थात वह ऋणात्मक होगा और $\text{प} < \frac{\text{ग}}{\text{त्र}}$।

$\text{प}_2\,\text{त्र}_2$ उत्पादन की वस्तुओं और सेवाओं पर व्यय की गई द्रव्य-मात्रा है और न बचाई मात्रा है। उपर्युक्त गणितात्मक निष्कर्षों को शब्दों में यों कहेंगे—यदि संपूर्ण बचत उत्पादन की वस्तुओं और सेवाओं पर व्यय होती है तो त्र का प्रति इकाई मूल्य उसकी प्रति इकाई लागत के बराबर होगा। तब न लाभ होगा, न हानि और उत्पादन संस्थिति पर होगा। यदि संपूर्ण बचत नहीं वरन् उसका एक अंश उत्पादन की वस्तुओं और सेवाओं पर व्यय किया जाता है तो त्र का प्रति इकाई मूल्य उसकी प्रति इकाई लागत से कम होगा और फलतः हानि होगी। उत्पादन घटेगा और अगली समयावधियों में उत्पादन लागत भी। यह प्रक्रिया तब तक जारी रहेगी जब तक मूल्य और कीमत का अंतर शनैः शनैः शून्य होकर पुनः संस्थिति नहीं स्थापित हो जाती।

जब समाज अपनी बचत से अधिक द्रव्य उत्पादन वस्तुओं और सेवाओं पर व्यय करता है तब फल विपरीत होता है अर्थात ग्र की प्रति एकाई मूल्य उसकी प्रति इकाई लागत से अधिक होगा। अतः लाभ होगा, और उत्पादन की वृद्धि की प्रवृत्ति रहेगी। बाद की समयावधियों में यह प्रक्रिया तब तक होगी जब तक उत्पादन लागत के बढ़ने से मूल्य और लागत का अंतर शून्य और संस्थिति पुनः स्थापित नहीं हो जाती है। यदि उत्पादन की वस्तुओं और सेवाओं पर किए व्यय को हम 'विनियोग' कहें तो उपर्युक्त निष्कर्ष बचत और विनियोग के आधार पर बताए जा सकते हैं। जब बचत विनियोग के बराबर होती है तब संस्थिति रहती है, मूल्य अपरिवर्ती बने रहते हैं और अर्थ व्यवस्था सुचालित रहती है। जब बचत और विनियोग में अन्तर पड़ जाता है असंस्थिति आरम्भ हो जाती है, मूल्य बदलते हैं, आने वाली समयावधियों में आय और लागत में भी परिवर्तन होते हैं और नई संस्थिति स्थापित करने के लिए शक्तियां फिर कार्यशील हो उठती हैं।

इस प्रकार द्रव्य का अर्घ बचत और विनियोग पर निर्भर रहता है। यह दोनों शक्तियां जनसमुदाय की द्राव्यिक आय के फल भी हैं और उसके घट-बढ़ के कारण भी। तेजी के समय में बचत से विनियोग अधिक होता है और मूल्य बढ़ते हैं। मंदी के समय इससे विपरीत फल होता है।

द्रव्य के मात्रा सिद्धान्त द्वारा दी व्याख्या कि मूल्य द्रव्य की मात्रा के अनुपात में बढ़ता है मुख्यतः दीर्घकालीन स्थिति के अनुरूप है। तेजी मंदी अल्पकालीन आर्थिक घटनाएँ हैं। मंदी के समय द्रव्य का आधिक्य होने पर भी मूल्य नहीं बढ़ते क्योंकि शायद द्रव्य की गति बहुत कम हो जाती है।

प्रश्न यह नहीं है कि मात्रा सिद्धान्त उन बातों के सम्बन्ध में नहीं लागू होता जिन्हें समझाने के लिए वह बनाया ही नहीं गया। प्रश्न तो यह है कि क्या इसमें कुछ ऐसे कथन आते हैं जो गलत हैं। तत्संबन्धी विवाद में उक्त सिद्धान्त के प्रतिपादक ही विजयी होंगे क्योंकि दीर्घकाल में मूल्य द्रव्य की मात्रा के अनुपात में ही तो बढ़ते हैं।

नवीन सिद्धान्त के मूल्यों सम्बन्धी कथन सत्य हो सकते हैं परन्तु उनकी यह आलोचना सही नहीं है कि द्रव्य का परिमाण सिद्धान्त सभी दशाओं में लागू नहीं होता। ऐसे काल्पनिक भूत द्वारा चोट करना किस काम का!

अध्याय ४७

स्वर्ण मान

इसके पहले कि हम स्वर्ण मान का अध्ययन करें आइये हम सिक्का ढलाई और उससे संबंधित बातों पर विचार करें।

सिक्का ढलाई के अन्तर्गत हम उन विभिन्न तरीकों का अध्ययन करते हैं जिनके द्वारा वह वस्तु, जो द्रव्य के लिए चुनी गई है, उस रूप में ढाल दी जाती है, जिससे जनसाधारण उसे सुगमता से पहिचान सकें कि यह द्रव्य है। दूसरे शब्दों में हम यह अध्ययन करते हैं कि एक रुपए को ऐसा किस प्रकार बनाया जाता है कि वह सुगमता से पहिचाना जा सके कि वह रुपया है।

सिक्का ढलाई के सम्बन्ध में सर्वप्रथम समस्या यह है कि सिक्के में कितनी मात्रा में मूल्यवान धातु हो और कितनी मिलावट। दो व्यवहारिक कठिनाइयों के कारण शुद्ध धातु के साथ मिलावट का होना आवश्यक है :—

(अ) रासायनिक तरीके से शुद्ध धातु को बनाना अत्यन्त कठिन है। यदि इसको प्राप्त भी किया जाय तो उसकी लागत बहुत पड़ेगी जिसके कारण अन्य जटिल समस्यायें उत्पन्न हो जायगीं।

(ब) सिक्के को कड़ा करने के लिए, जिससे चलन में उसका रूप शीघ्र ही खराब न हो जाय, कम मूल्यवान धातुओं का मिलाना आवश्यक है। साथ ही सिक्के का उत्काचन (abrasion) कम करने के लिए उसका कड़ा होना आवश्यक है।

अतः मूल्यवान धातुओं के साथ कम मूल्यवान धातुओं को मिलाना आवश्यक है। परन्तु दोनों प्रकार की धातुओं को किस मात्रा में मिलाया जाय ? इसका निर्णय सरकार को देश की विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में रख कर करना पड़ता है। एक बार मिलावट का अनुपात निर्धारित हो जाने पर उसमें तब तक परिवर्तन नहीं किया जाता जब तक उसको बहुत आवश्यक नहीं समझा जाता।

दूसरी समस्या जो इस सम्बन्ध में उत्पन्न होती है वह धातु को सिक्के में परिणित करने में हुए व्यय की है। टकसाल में सिक्के ढालने में कुछ व्यय होता है। यह व्यय सरकार उठाती है। इस प्रकार तैयार सिक्के का अर्घ उसके धात्विक मूल्य के बराबर ही नहीं वरन् उसके ढालने में व्यय भी जोड़कर निकाला जाता है। इस व्यय को पूरा करने के लिए कुछ सरकारें स्वर्ण या रजत पाट में से सिक्का ढालते समय कुछ मात्रा में धातु (ढलाई में हुए ठीक वास्तविक व्यय के बराबर) निकाल लेते हैं। इसे मुद्रण व्यय (brassage) कहा जाता है। दूसरी प्रणाली के अनुसार टकसाल वाले ढलाई के लिए कुछ भी नहीं लेते। इसे निःशुल्क (gratuitous) मुद्रण कहते हैं। इसके पक्ष में यह कहा जाता है कि अन्य जनोपयोगी कार्यों की भाँति सरकारी टकसालों को भी यह कार्य जनता के हित के लिए करना चाहिए।

कभी-कभी सरकार सिक्के ढालने में हुए वास्तविक व्यय से भी कुछ अधिक ले लेती है। यह एक प्रकार का कर है जो सरकार सिक्का ढलाई से एकाधिकार के कारण लेती है। इसे मुद्रण लाभ (seigniorage) कहते हैं।

ग्रेशम का नियम

हम पहले ही सिक्के की घिसावट के बारे में कह आए हैं जिसे अर्थशास्त्र में उत्काचन (abrasion) कहते हैं। कुछ समय तक चलने के पश्चात् सिक्कों का वज़न प्रायः कुछ कम हो जाता है क्योंकि उन्हें सभी प्रकार की कठोर वस्तुओं से रगड़ खानी पड़ती है। इसका परिणाम यह होता है कि नये सिक्कों की अपेक्षा वह कम वज़न वाले और इस कारण कम आंतरिक अर्घ वाले हो जाते हैं। पुनः, यदि मान लीजिए स्वर्ण तथा चांदी के सिक्के साथ-साथ चलन में हैं और किसी कारण स्वर्ण का मूल्य चांदी की तुलना में बढ़ जाता है। ऐसी स्थिति में यदि स्वर्ण तथा चांदी के सिक्कों का विनिमय-अनुपात वही रहता है जो पहले था और स्वर्ण के मूल्य-परिवर्तन के अनुसार परिवर्तित नहीं होता, तो स्वर्ण के सिक्कों का आंतरिक अर्घ उससे कहीं अधिक होगा जो उन दोनों सिक्कों के विनिमय-अनुपात से पता चलता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य अधिक मूल्यवान सिक्कों को या तो गाड़ कर रखेंगे या उसे गलाकर और फिर बेच कर या किसी अन्य प्रकार से उसे अधिक लाभप्रद प्रयोग में लाने लगेंगे। इन सबका परिणाम यह होता है कि अधिक मूल्यवान सिक्के चलन से निकल जाते हैं। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में इंगलैण्ड में सर टामस ग्रेशम ने इस प्रवृत्ति को देखा क्योंकि उस समय हेनरी अष्टम् तथा अन्य राजाओं द्वारा सिक्कों के निकृष्टिकरण (debasement) के कारण एक ही साथ दो प्रकार की मुद्राएँ चलन में थीं। उसने प्रवृत्ति का अध्ययन किया और फिर एक नियम का प्रतिपादन किया जो 'ग्रेशम के नियम' के नाम से विख्यात है। यह नियम यह बताता है कि जब दो प्रकार की मुद्रायें एक साथ चलन में है, तो खराब मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर कर देगी। इस नियम के लागू होने का उदाहरण द्वितीय महासमर के आरम्भ के वर्षों से सुगमता से लिया जा सकता है जब भारत में सिक्कों की एकाएक कमी हो गई थी। भारत की सीमा के पास ही जापानी फौजों की उपस्थिति के कारण लोगों के मन में यह भय उत्पन्न हो गया था कि कहीं सरकार फेल न कर जाय। इस कारण वह कागज के नोटों के स्थान पर सिक्कों को अधिक पसन्द करने लगे क्योंकि सिक्कों का कुछ आंतरिक अर्घ भी था। परिणाम यह हुआ कि सिक्कों को सभी गाड़ कर रखने लगे। पत्र-मुद्रा ने जो कम मूल्यवान समझी जाती थी उसने सिक्कों को (जो अधिक मूल्यवान मुद्रा थी) चलन से बाहर कर दिया। इस नियम के सम्बन्ध में एक और बात ध्यान में रखने की है। इस नियम की उस समय अधिक लागू होने की प्रवृत्ति है जब मुद्रा उत्पादन की आवश्यकता से अधिक होती है। अन्य शब्दों में इसकी मुद्राप्रसार (inflation) की स्थिति में न कि मुद्रा-संकुचन (deflation) की स्थिति में लागू होने की संभावना है। इसका कारण स्पष्ट है। मुद्रा-संकुचन की स्थिति में, मुद्रा गाढ़ने से मुद्रा की मात्रा और भी कम हो जायगी जिससे वस्तुओं के मूल्य गिरने लगेंगे, उत्पादन कम हो जायगा और बेकारी बढ़ जायगी। अंतिम बात से ही मुद्रा की मात्रा को कोई कम नहीं करना चाहता। इसके विपरीत मुद्राप्रसार की स्थिति में मुद्रा कम करने से अच्छा ही प्रभाव पड़ेगा क्योंकि बढ़ती हुई कीमतें कम हो जायगीं।

स्वर्ण मान

आइये अब हम स्वर्ण मान की बात करें। इस दशा में हमें सर्वप्रथम यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि मान या कहिये द्राव्यिक मान क्या है ?

कोई भी वस्तु जो विनिमय का साधन है साधारणतया द्रव्य कहलाती है। हम सुगमता से इस प्रकार की परिभाषा में दोष निकाल सकते हैं, परन्तु अपने वर्तमान कार्य के लिए हम इसे मोटे रूप से सही तथा मान्य मानेंगे। विनिमय के साधन का कार्य करने के लिये एक उपयुक्त वस्तु को ही साधारणतया चुना जाता है। जब इस प्रकार की वस्तु का चुनाव हो जाता है और वह व्यक्तियों को साधारणतया मान्य हो जाती है और वह उसे विनिमय के साधारण माध्यम तथा अर्घ के माप के रूप में व्यवहार करने को तैयार हो जाते हैं, तब वह वस्तु 'माप' हो जाती है। अधिकांशतः इस कार्य के लिए बहुमूल्य धातुओं को ही चुना गया है और कुछ अर्थशास्त्री तो यहाँ तक आगे बढ़ गए हैं कि वह धात्विक मुद्रा को किसी एक नैतिक सिद्धान्त को पालने की भाँति ही आवश्यक समझते हैं मानो बिना धात्विक मुद्रा को कोई निष्कपट लेन-देन हो ही नहीं सकता। चुनी जानी वाली धातुएँ प्रायः स्वर्ण या रौप्य हैं। अधिकांश पश्चिमी देशों ने स्वर्ण को चुना और अधिकांश पूर्वी देशों ने, जैसे चीन, रौप्य को। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण स्वर्ण ही है। अब हम इस बात का वर्णन करेंगे कि स्वर्ण मान की कार्य-विधि क्या है ?

आधारभूत रूप से स्वर्ण मान विनिमय दर स्थाई रखने की एक विधि है। इसका आधार द्राव्यिक इकाई का अर्घ स्वर्ण के अर्घ से जोड़ देना है। स्वर्ण का मूल्य निर्णित कर ऐसा किया जाता है। क्योंकि स्वर्ण एक ऐसी वस्तु है जिसकी माँग संसार भर में है इसका अर्घ भी संसार भर में सभी जगह है और इस कारण स्वर्ण पर आधारित एक माप, द्राव्यिक इकाई को संसार भर का अर्घ प्रदान कर देता है। बहुत ही सूक्ष्म में यह स्वर्ण मान का उल्लेख है। परन्तु इसे अच्छी तरह समझने के लिए विस्तार में जाना आवश्यक है।

हमने कहा है कि स्वर्ण मान विनिमय दर स्थाई रखने की एक विधि है। इससे यह समझ लेने की आशंका है कि स्वर्ण मान इसी कार्य के लिए बहुत सोच विचार करने के पश्चात् निकाला गया था। वास्तव में स्वर्ण मान के कुछ अंध अनुयायी हमें इसका विश्वास दिलाना चाहेंगे। परन्तु स्वर्ण मान किसी भी व्यक्ति द्वारा किसी भी कार्य के लिए नहीं निकाला गया। यह द्रव्य के इतिहासिक विकास के साथ स्वतः बढ़ता गया। प्रारम्भ में केवल सिक्के ही मुद्रा के अन्तर्गत आते थे और वह व्यवहारिक कारणों से धातुओं के होते थे। कुछ समय के पश्चात् कुछ यांत्रिक तथा रासायनिक कारणों से स्वर्ण प्रधान धातु बन बैठा। इसके बाद कुछ समय बीत जाने पर धात्विक सिक्कों में से पत्र-मुद्रा का विकास हुआ। आधुनिक जटिल प्रणाली उस समय से आरम्भ हुई जब पत्र-मुद्रा (जो बैंकों की आई० ओ० यू० (*I. O. U.*) के समान है) स्वर्ण में परिवर्तनीय मान ली गई। करेंसी में विश्वास उत्पन्न कराने के लिए यह आवश्यक था। इसके पश्चात् बैंक-जमा तथा चेक (जो आरम्भ के दिनों में स्वर्ण में पूर्णतः परिवर्तनीय थे जिससे जनता का उन पर विश्वास जम जाय) का क्रमिक विकास हुआ। प्रारम्भ में बैंक पत्र-मुद्रा तथा बैंक-जमा सम्पूर्ण करंसी का एक सूक्ष्म भाग था, परन्तु धीरे-धीरे वह बढ़कर एक बहुत महत्वपूर्ण भाग बन गया। परन्तु जब तक पत्र-मुद्रा तथा स्वर्ण सिक्के साथ साथ-चलन में रहे तब तक पत्र-मुद्रा स्वर्ण में पूर्णतः परिवर्तनीय रही, अन्यथा इसका अर्थ यह होता कि दो प्रकार के द्रव्य जिनका अर्घ भी भिन्न-भिन्न है एक साथ चलन में हैं। परन्तु जब से स्वर्ण सिक्के चलन से बाहर हो गए हैं तब से बैंक को यह आवश्यक नहीं रहा है कि वह पत्र-मुद्रा को स्वर्ण में परिवर्तित करें। परन्तु यह काम में न लाए गए अधिकार की भाँति हमेशा सम्भव है। आजकल संसार की अधि-

कांश करेंसियाँ (गौड़ सिक्कोंको छोड़ कर) पूर्णतः पत्र-मुद्रा में हैं। जब यह पत्र-मुद्रा (विधान द्वारा) स्वर्ण में एक निश्चित दर पर अप्रतिबन्धित परिवर्तनीय मान ली जाती है, तब यह कहा जाता है कि देश में स्वर्ण मान है। परन्तु पत्र-मुद्रा को एक निश्चित दर पर स्वर्ण में परिवर्तित करने की विधि किसी एक व्यक्ति की खोज नहीं है, यह शदियों के विकास का फल है।

आगे बढ़न से पहले हमें यहाँ स्वर्ण मान के विभिन्न प्रकारों का भेद बता देना चाहिए। स्वर्ण मान के निम्न प्रकार हैं:—

(१) पूर्ण स्वर्ण मान
(२) स्वर्ण पाट मान
(३) स्वर्ण-विनिमय मान

पूर्ण स्वर्ण मान—स्वर्ण मान के यह प्रकार स्वर्ण मान के विकास की विभिन्न दशाओं को बताते हैं। करेंसी की उस प्रणाली को जहाँ चलन की सम्पूर्ण करेंसी स्वर्ण सिक्कों की है या जहाँ वह पत्र-मुद्रा के साथ-साथ ही चलती है 'पूर्ण स्वर्ण मान' कहते हैं। विकास के प्रारम्भ के दिनों में स्वर्ण मान का यही रूप था।

स्वर्ण पाट मान—दूसरी दशा में स्वर्ण के सिक्के चलन में नहीं रहते और सम्पूर्ण करेंसी बैंक पत्र-मुद्रा तथा बैंक-जमा की होती है। परन्तु केन्द्रीय बैंक करेंसी को स्वर्ण में एक निश्चित दर पर तथा असीमित मात्रा तक परिवर्तित करने के लिए कानूनन बाध्य है। बैंक एक निश्चित दर पर करेंसी के बदले में स्वर्ण क्रय तथा विक्रय करने से इन्कार नहीं कर सकता चाहे खरीदी तथा बेची जाने वाली करंसी की मात्रा कुछ भी क्यों न हो। जहाँ इस प्रकार की प्रणाली होती है उसे 'स्वर्ण पाट मान' कहा जाता है।

स्वर्ण विनिमय मान—स्वर्ण मान के विकास की तीसरी दशा में चलन में आई हुई करेंसी तथा स्वर्ण में अधिक विकास हो जाता है। यहाँ बैंक स्वर्ण पाट मान की भाँति करेंसी को स्वर्ण में परिवर्तित करने के लिये कानूनन बाध्य नहीं है। परन्तु फिर भी वह करेंसी के बदले किसी अन्य करेंसी को जो स्वर्ण में परिवर्तित हो, देने के लिए वाध्य है ही। जो देश इस प्रणाली को अपनाता है वह प्रायः निर्धन या छोटा होता है। वह प्रायः किसी बड़े देश (जहाँ स्वर्ण मान है) की करेंसी को अपने देश की करेंसी से एक निश्चित दर पर परिवर्तित करने के लिए चुनता है। किसी भी व्यक्ति को अपनी पत्र-मुद्रा के बदले स्वर्ण प्राप्त करने के लिए पहिले उस दूसरे देश की करेंसी में उन्हें परिवर्तित करना होगा और फिर उसके बदले में स्वर्ण प्राप्त करना होगा। इस प्रणाली को 'स्वर्ण विनिमय मान' कहते हैं।

जैसा स्पष्ट है इन तीनों प्रकारों में एक बात समान है और वह है स्वर्ण से गठबन्धन। या तो करेंसी स्वर्ण की मात्रा या अर्घ से सीधी ही मिली होती है या किसी अन्य करेंसी द्वारा। स्वर्ण मान के किसी भी रूप का यह प्रधान लक्षण है।

स्वर्ण मान के कार्य—स्वर्ण मान के दो कार्य हैं:—

(१) यह करेंसी की मात्रा नियंत्रित करने का एक तरीका है।
(२) यह विनिमय दरों को स्थिर रखने की एक विधि है।

प्रत्येक देश में कुछ करेंसी सम्बन्धी नियम होते हैं। यह नियम यह कहते हैं कि पत्र-मुद्रा उसी समय निकाली जा सकती है जब उनके पीछे स्वर्ण का कोई कोप हो। उनके पीछे

स्वर्ण कोष कितने अनुपात में रखा जाय इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नियम हैं। उनमें अनुपात ही भिन्न-भिन्न नहीं हैं वरन् वह तरीका भी भिन्न है जिसके द्वारा यह सम्बन्ध निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए ब्रिटिश प्रणाली, अमरीकी प्रणाली से इस बात में भिन्न है कि जब ब्रिटिश प्रणाली एक निश्चित विश्वसनीय चलन प्रथा (fixed fiduciary issue system) पर आधारित है, अमरीकी प्रणाली प्रतिशत कोष प्रथा (percentage reserve system) पर। निश्चित विश्वसनीय चलन-प्रथा में एक निश्चित मात्रा की पत्र-मुद्रा बिना स्वर्ण-कोष रखे निकालने की आज्ञा रहती है; परन्तु इसके ऊपर जितनी भी पत्र-मुद्रा निकाली जाती है उसके पीछे शत-प्रतिशत स्वर्ण-कोष रखना अनिवार्य है। सन् १९३९ तक बैंक आफ इंगलैण्ड ४० करोड़ पौंड तक की पत्र-मुद्रा बिना किसी स्वर्ण कोष के निकाल सकता था; परन्तु इसके ऊपर प्रति पौण्ड के पत्र-मुद्रा के बदले उतना ही स्वर्ण रखना आवश्यक था। अमरीका की प्रतिशत कोष प्रथा भिन्न है। वहाँ, 'फेडरल रिजर्व बैंक' को अपनी सम्पूर्ण पत्र-मुद्रा के बदले कम से कम ४० प्रतिशत स्वर्ण या स्वर्ण-सर्टीफिकेट रखने पड़ते हैं। एक दूसरे नियम के अनुसार फेडरल रिजर्व बैंक को अपनी जमा-देनी के बदले उसका ३५ प्रतिशत भाग एक कोष में रखना पड़ता है। उक्त बैंक की जमा-देनी सदस्य बैंकों की जमा के कारण उत्पन्न होती है। यह जमा चाहे स्वर्ण में और चाहे पत्र-मुद्रा में रखी जा सकती है। परन्तु यदि यह पत्र-मुद्रा में रखी जाती है तो उसके बदले ४० प्रतिशत भाग स्वर्ण में रखना अनिवार्य है। उपर्युक्त दो प्रथाएँ सबसे महत्वपूर्ण हैं, यद्यपि अन्य देश इससे कुछ भिन्न प्रणाली का अनुसरण करते हैं। परन्तु किसी भी देश में कोई भी प्रथा हो, एक बात सभी में समान है कि केन्द्रीय बैंक की पत्र-मुद्रा निकालने की जिम्मेदारी सीमित है। यदि यह चाहे तो स्वर्ण-कोष के आधार पर जितनी पत्र-मुद्रा निकल सकती है उससे कम मात्रा में ही पत्र-मुद्रा निकाले परन्तु किसी भी समय बैंक अपने स्वर्ण कोष के आधार से अधिक पत्र-मुद्रा नहीं निकाल सकता। प्रायः बैंक कम पत्र-मुद्रा ही निकालते हैं और अपने स्वर्ण का कुछ भाग आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अलग रखे रहते हैं। इस प्रकार स्वर्णमान का महत्वपूर्ण कार्य मुद्रा का आकस्मिक तथा अप्रतिबन्धित निर्गम रोकना है। यदि ऐसा न किया जाय तो देश की अर्थ व्यवस्था सुचारु रूप से न चल सके। स्वर्ण मान का पहलू जो इस कार्य से सम्बन्धित है 'घरेलू स्वर्ण मान' कहलाता है। हम इसका सविस्तार अध्ययन नीचे करेंगे।

स्वर्णमान का दूसरा कार्य विनिमय दरों का स्थिर रखना है। एक देश में जहाँ स्वर्ण मान है केन्द्रीय बैंक के ऊपर अपरिमित मात्रा में स्वर्ण के क्रय-विक्रय का उत्तरदायित्व रहता है। उदाहरण के लिए जब इंगलैण्ड में स्वर्ण मान था उस समय बैंक आफ इंगलैण्ड पर ३ पौण्ड १७ शिलिंग तथा ९ पेंस की दर से स्वर्ण क्रय करने तथा ३ पौंड १७ शिलिंग १०½ पेंस की दर से उसे बेचने का कानूनी उत्तरदायित्व था। लन्दन के पाट बाजार में स्वर्ण का मूल्य १½ पेंस के भीतर-भीतर ही घट-बढ़ सकता था। इसका अर्थ यह हुआ कि लन्दन में स्वर्ण का मूल्य लगभग स्थिर था। अन्य देशों में इसी प्रकार का प्रबन्ध था। इसका निष्कर्ष स्पष्ट है। यदि स्वर्ण की कुछ मात्रा का मूल्य एक पौण्ड है और स्वर्ण की उसी मात्रा के बदले कुछ डालर भी मिल सकते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि एक पौण्ड का वही अर्घ है जो स्वर्ण के बदले मिलने वाले डालरों का। उदाहरण के लिये मान लीजिए यदि १०० ग्रेन स्वर्ण का मूल्य एक पौण्ड है और यदि उतने ही स्वर्ण का मूल्य ४½ डालर भी है तो यह स्पष्ट है कि एक पौण्ड

४$\frac{1}{2}$ डालर के बराबर है। फिर, यदि स्वर्ण का मूल्य पौण्ड में तथा डालर में भी स्थिर है तो स्पष्ट है कि पौण्ड का मूल्य डालर में भी स्थिर है। परन्तु क्योंकि इंगलैण्ड तथा अमरीका में समय तथा स्थान का भेद है जिन्हें दूर करने के लिए द्रव्य की आवश्यकता है अतएव यह आवश्यक नहीं है कि एक पौण्ड ४$\frac{1}{2}$ डालर के ठीक बराबर हो। दोनों का अन्तर १०० ग्रेन स्वर्ण इंगलैण्ड से अमरीका भेजने के जहाजी-व्यय के बराबर होगा। जहाजी-व्यय के अन्तर्गत भाड़ा, बीमा तथा स्वर्ण को एक देश से दूसरे देश तक पहुँचने में लगे समय की ब्याज आते हैं। परन्तु जहाजी-व्यय कभी भी बहुत अधिक नहीं हो सकता। १९२५ में एक पौण्ड मूल्य के स्वर्ण का जहाजी-व्यय १$\frac{3}{4}$ सेन्ट (Cent) था। जो हमने उदाहरण लिया है यदि उसमें यह मान लिया जाय कि जहाजी-व्यय एक सेन्ट है, तब पौण्ड तथा डालर की 'टकसाली दर' (Mint Parity) १ पौण्ड = ४·५१ डालर होगी। अब मान लीजिए बाजार में पौण्ड तथा डालर की विनिमय दर घट कर १ पौण्ड = ४·३ डालर रह जाती है तो अमरीका की अपेक्षा इंगलैंड में स्वर्ण खरीदना सस्ता हो जाएगा। उस समय इंगलैण्ड में स्वर्ण खरीदकर तथा उस पर एक सेन्ट जहाजी-व्यय देकर उसे अमरीका में बेचना लाभप्रद रहेगा। इसी प्रकार यदि दर बढ़कर ४·८ डालर = १ पौण्ड हो जाती है तो अमरीका में स्वर्ण खरीदना सस्ता रहेगा। वह विन्दु जिस पर स्वर्ण का आयात या निर्यात लाभप्रद हो जाता है उन्हें क्रमशः 'स्वर्ण आयात विन्दु तथा 'स्वर्ण निर्यात विन्दु' कहते हैं। जब विनिमय दर १ पौण्ड = ४$\frac{1}{2}$ डालर से बदलकर १ पौण्ड = ४·३ डालर रह जाती है, इसका अर्थ यह होता है कि स्वर्ण की माँग उसकी पूर्ति से अधिक है। इस दशा में स्वर्ण इंगलैण्ड से खरीदा जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि डालर की अत्यधिक माँग इंगलैण्ड से स्वर्ण खरीदने में लग जाती है। जैसे ही यह अत्यधिक माँग समाप्त हो जाती है, बाजार में माँग तथा पूर्ति में संतुलन हो जाता है और वही पुरानी विनिमय दर (१ पौण्ड = ४·५ डालर) पुनः आ जाती है। इसी प्रकार विनिमय दर १ पौण्ड = ४·८ डालर हो जाने पर अमरीका से स्वर्ण का आयात पौण्ड की अत्यधिक माँग को समाप्त कर देगा और पुनः संतुलन स्थापित हो जायगा। इस प्रकार स्वर्ण मान एक ऐसा साधन प्रदान करता है जिससे विनिमय दरें स्थिर रहती हैं। ऐसा करेंसी की माँग तथा पूर्ति विनिमय-बाजार में घट-बढ़ जाने से होता है। व्यवहार में विनिमय दर सदैव एक नहीं रह सकती—वह सीमित मात्रा के भीतर (कहिए एक प्रतिशत) घट-बढ़ होती रहती है। यही 'स्वर्ण निर्यात विन्दु' तथा 'स्वर्ण आयात विन्दु' के परिवर्तन की सीमा है। एक प्रतिशत घट-बढ़ इतनी कम है कि यह कहा जा सकता है कि स्वर्ण मान से विनिमय दर एक तल पर स्थिर हो जाती है। यह स्वर्ण मान का दूसरा कार्य है और साधारणतया इसे 'अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान' कहा जाता है।

स्वर्ण मान के यह दो कार्य प्रमुख हैं और एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते। एक देश में 'घरेलू स्वर्ण मान' हो सकता है और फिर भी वह 'अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान' का त्याग कर सकता है। इसका विपरीत भी सम्भव है। १९३१ में जब इंगलैण्ड ने स्वर्ण मान त्याग दिया उस समय उसके ऊपर किसी भी मूल्य पर स्वर्ण के क्रय-विक्रय का प्रतिबन्ध नहीं था। परन्तु फिर भी यह अपनी करेंसी की मात्रा एक निश्चित स्वर्ण कोष के आधार पर करता रहा। इसी प्रकार यह सम्भव है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान' पर चला जाय और 'घरेलू स्वर्ण मान' त्याग दिया जाय। ऐसा केवल सम्भव ही नहीं है वरन् कभी-कभी होता भी है कि स्वर्ण मान के दो कार्यों में पारस्परिक मतभेद हो जाय। ऐसा तब होता है जब मुद्रा के बदले रखे

गए स्वर्ण के निर्यात की आवश्यकता पड़ जाती है। इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ देश दो कोषों को रखते हैं—एक मुद्रा रखने के लिए और दूसरा निर्यात के लिए।

आइए अब हम घरेलू स्वर्ण मान का सविस्तार अध्ययन करें। जैसे हमने पहले बताया है घरेलू स्वर्ण मान का कार्य घरेलू मुद्रा के अत्यधिक प्रसार को रोकना है। अब हम यह देखेंगे कि घरेलू स्वर्ण मान का यह कार्य पूरा हो जाता है या नहीं।

(१) क्या करेंसी को नियंत्रण में रखने की यही एक विधि है? सरकार पत्र-मुद्रा निकालने की एक सीमा निर्धारित क्यों नहीं कर देती (स्वर्ण कोष रखना बिना आवश्यक बनाये) जैसा फ्रांस ने १९१४ में किया था और इस प्रकार स्वर्ण की बहुत बड़ी मात्रा को बेकार पड़े रहने से बचा सकती है? या इससे यह कहीं अच्छा हो यदि कोई सीमा निश्चित न की जाय परन्तु अधिकारी यह निर्धारित कर दें कि देश के लिए कितनी मुद्रा की आवश्यकता है। मुद्रास्फीत, जिसको स्वर्ण मान बचाना चाहता है, वह वास्तव में केवल करेंसी की मात्रा पर ही निर्भर नहीं है। मुद्रा का प्रसार मुद्रास्फीत की बाद की दशा है। जब कुछ समय तक मुद्रास्फीत रहती है तब मुद्रा की मात्रा कम करके उसे रोकना भारी भूल है क्योंकि उसका परिणाम भयंकर होगा और मुद्रास्फीत की दशा का भी अंत न होगा। यदि अधिकारियों पर इतना विश्वास है कि उन्हें समय पर मुद्रास्फीत रोकने या उसे लाने का उत्तरदायित्व सौंप दिया गया है, तो उन्हें देश में आवश्यक मुद्रा की मात्रा निश्चित करने का काम क्यों नहीं दे दिया जाता? यह तरीका किसी भी प्रकार कम कुशल न होगा। परन्तु साथ ही लाभ यह है कि यह कम खर्चीला होगा क्योंकि इसमें यह आवश्यक नहीं रहेगा कि स्वर्ण को अलमारियों में बन्द रखा जाय।

(२) वास्तव में घरेलू स्वर्ण मान करेंसी की मात्रा को स्थिर नहीं करता वरन् स्वर्ण कोष और निर्गम की जाने वाली करेंसी की मात्रा के अनुपात को ही वह स्थिर करता है। करेंसी की मात्रा तभी स्थिर रह सकेगी जब स्वर्ण की मात्रा स्थिर रहे। परन्तु जब स्वर्ण की मात्रा बदलती रहती है तब स्वभावतः करेंसी की मात्रा भी उसके साथ बदलेगी। इस प्रकार करेंसी की मात्रा नहीं वरन् स्वर्ण और करेंसी का अनुपात स्थिर होता है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि यद्यपि किसी एक देश में स्वर्ण की मात्रा घटती-बढ़ती रहती है, परन्तु संसार के सभी देशों के स्वर्ण कोषों की संयुक्त मात्रा अधिक घट-बढ़ नहीं सकती क्योंकि अल्पकाल में संसार भर में जितना स्वर्ण खोदा जा सकता है वह सम्पूर्ण स्वर्ण कोष का एक न्यूनतम भाग ही होगा। परन्तु यह कथन भ्रमात्मक है। पहले तो यह बात सम्पूर्ण स्वर्ण-मात्रा के बारे में लागू होती है। जहाँ तक मुद्रा के बदले में रखे गये स्वर्ण का प्रश्न है उसकी मात्रा गाड़कर रखे गये स्वर्ण को चलन में लाकर बढ़ाई जा सकती है। यदि स्वर्ण का उत्पादन बिना बढ़े ही ऐसा होता है, तो कोष की मात्रा बढ़ जाएगी और फलतः करंसी की मात्रा भी बढ़ेगी। दूसरे, एक उत्तरोत्तर विकासमान संसार में, करेंसी की मात्रा भी बढ़ती रहनी चाहिए; और यदि स्वर्ण की वार्षिक वृद्धि करेंसी की माँग की वार्षिक वृद्धि के बराबर नहीं है तो करेंसी की माँग तथा पूर्ति में अन्तर आ जायगा और परिणामतः मूल्य या घटेंगे या बढ़ेंगे। तीसरे, स्वर्ण के मूल्य में वृद्धि से (जो स्वर्ण की माँग उसकी पूर्ति की अपेक्षा कम होने के कारण हुई है) स्वर्ण की पूर्ति बढ़ने के कुछ ऐसे साधन उपस्थित हो जाएंगे। यह दो प्रकार से होगा। एक तो बढ़े हुए मूल्यों के प्रलोभन तथा करेंसी के मूल्य ह्रास के कारण स्वर्ण की पूर्ति बढ़ेगी जिससे खानों में काम करने वालों की मज़दूरी कम हो जायगी और फलतः लागत भी। इस प्रकार

अभी तक जो स्वर्ण की कमी दिखाई पड़ती थी वह वास्तव में आधिक्य हो जायगी। यही सन् १६३१ में हुआ। इससे स्थिरता न रह सकेगी।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि जो भी देश करेंसी को स्थिर रखना चाहता है वह तभी सफल हो सकता है जब वह स्वर्ण तथा करेंसी की मात्रा में एक अनुपात निश्चित कर दे। यदि करेंसी की मात्रा को सफलतापूर्वक स्थिर रखना है तो स्वर्ण की पूर्ति से सम्बन्धित बातों के लिए भी कुछ करना होगा। स्वर्ण की माँग द्रव्य की माँग है (जब तक स्वर्ण कोष रखा जाता है) और द्रव्य की माँग भी स्वर्ण की माँग है। स्वर्ण की पूर्ति उसके वर्तमान स्टाक तथा वार्षिक उत्पादन पर निर्भर है। यदि आर्थिक प्रगति स्वर्ण की पूर्ति की अपेक्षा अधिक द्रुतगामी है तो स्वर्ण की माँग उसकी पूर्ति से अधिक होगी और फलतः स्वर्ण का मूल्य बढ़ जायगा। जब तक स्वर्ण का मूल्य कानूनन निश्चित है, बाजार में इसमें कोई भी परिवर्तन सामान्य मूल्य तल में परिवर्तन के रूप में दृष्टिगत होगा। इसको दूर करने के लिए नीचे दो में से कोई भी तरीका अपनाया जा सकता है :—(१) या तो स्वर्ण की पूर्ति को उसकी माँग में हुए परिवर्तनों के बराबर रखा जाय जिससे स्वर्ण के मूल्य में कोई परिवर्तन न हो और संस्थिति बने रहे, या (२) यदि पूर्ति को उक्त प्रकार नियंत्रित नहीं किया जा सकता और स्वर्ण का मूल्य बढ़ना अनिवार्य है तो इस परिवर्तन को स्वर्ण के मूल्य को, न कि स्वर्ण के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं के मूल्यों को, प्रभावित करने से नहीं रोकना चाहिए। इस प्रकार वह सब योजनायें जो स्वर्ण मान के दोषों को दूर करना चाहती हैं इन्हीं दो में से किसी उपाय का अनुसरण करती हैं। इस प्रकार की कई योजनाएँ हैं। हम उनमें से कुछ का अध्ययन करेंगे।

(१) पहली योजना का ध्येय स्वर्ण की पूर्ति नियंत्रित करना है। स्पष्ट है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ही हो सकता है। परन्तु स्वर्ण के उत्पादन पर नियंत्रण रखना असम्भव ही है। अतः यह सुझाव दिया जाता है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को स्थापित किया जाय जो संसार की सभी केन्द्रीय बैंकों के स्वर्ण कोषों को अपने पास रखले और बदले में 'स्वर्ण-सर्टीफिकिट' दे दे। इन सर्टिफिकेटों को बैंक अपने पास कोष में रखे और स्वर्ण के स्थान पर यही हस्तांतरित किये जायँ। अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के लिए यह सम्भव होगा कि जितना स्वर्ण उसके पास है उससे कम या अधिक सर्टीफिकेट वह निकाले और इस प्रकार मौद्रिक कार्यों के लिए स्वर्ण की पूर्ति नियंत्रित कर दे। परन्तु जैसा स्पष्ट है यह योजना स्वर्ण की कमी को दूर कर सकती है, परन्तु स्वर्ण की अत्यधिक पूर्ति की स्थिति को सफलतापूर्वक नहीं सुलझा सकती।

(२) दूसरी योजना स्वर्ण की पूर्ति को इसके मूल्य के अनुसार परिवर्तित करने का प्रयास करती है। इसका कहना है कि यदि मूल्य-तल में दो प्रतिशत परिवर्तन हो जाता है तो इसका अर्थ यह है कि स्वर्ण के मूल्य में भी उसी अनुपात से परिवर्तन हो गया है। मूल्य-तल में दो प्रतिशत कमी स्वर्ण के मूल्य में दो प्रतिशत वृद्धि के बराबर है। इस प्रकार जब मूल्यों में दो प्रतिशत कमी होती है तो स्वर्ण के मूल्य में दो प्रतिशत की वृद्धि कर उन्हें पुराने स्तर पर लाया जा सकता है। इस योजना के पीछे यह विचार है कि स्वर्ण के अर्घ के परिवर्तन का प्रभाव स्वर्ण की कीमत पर ही पड़े, अन्य सभी वस्तुओं की कीमतों पर नहीं।

यह योजना बड़ी सरल तथा पसन्द आने वाली है। परन्तु कार्य रूप में परिणित करते समय इसको एक बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। यह इस उपपत्ति पर आधारित है

कि मूल्य-तल स्वर्ण के अर्घ से सीधे सम्बन्धित हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मूल्यों की कमी वही बात है जो स्वर्ण के अर्घ का बढ़ना। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि स्वर्ण के अर्घ की वृद्धि मूल्यों की कमी का कारण है। कीमतों की घट-बढ़ बचत तथा विनियोग से सम्बंधित कई कारणों पर निर्भर रहती है। इस प्रकार वह योजना जो मूल्य-तल के प्रत्येक परिवर्तन को स्वर्ण के मूल्य में नियोजन कर ठीक करना चाहती है कभी भी सफल नहीं हो सकती, विशेषतः अल्पकाल में जब मूल्यों के परिवर्तन का सम्बंध द्रव्य की पूर्ति से नहीं होता। अमरीका द्वारा स्वीकृति 'वस्तु डालर योजना' इसी प्रकार की थी और ऊपर बताई कठिनाई के कारण ही वह सफल न हो सकी।

(३) एक अन्य योजना जो काफी दिनों की है द्वि-धातुमान (Bimetallism) की है। जिसके अन्तर्गत स्वर्ण तथा रौप्य दोनों ही द्राव्यिक मान के रूप में साथ-साथ चलते हैं। इस योजना में देश की करेंसी स्वर्ण या रौप्य में एक निश्चित दर पर परिवर्तनीय होती है। करेंसी के निर्गम के पीछे रखा गया न्यूनतम कोष स्वर्ण या रौप्य में रह सकता है। जैसा स्पष्ट है यह योजना स्वर्ण की कमी की कठिनाई को दूर करने का प्रयास करती है। निसंदेह इस कठिनाई को तो यह सुगमता से दूर कर सकती है, परन्तु इसे चलाने में कई भारी कठिनाइयाँ हैं जिन पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

(अ) स्वर्ण तथा रौप्य का अनुपात (जो इसे निश्चित करना अनिवार्य है) एक निश्चित तल पर नहीं रखा जा सकता क्योंकि इनमें से प्रत्येक धातु की माँग तथा पूर्ति विभिन्न दशाओं पर निर्भर है। यदि इस अनुपात को स्थिर रखा जाय तो परिणाम यह होगा कि एक धातु का अर्घ अधिक और दूसरी का कम रह जायगा। यदि किसी देश में द्वि-धातुमान है और निश्चित दर के अनुसार चांदी सस्ती है तो संसार के अन्य सभी देश इस देश से चांदी खरीदते रहेंगे जब तक कि चांदी समाप्त नहीं हो जाती। स्वर्ण का भी यही हाल होगा यदि वह अन्य सभी देशों की अपेक्षा किसी एक देश में अधिक सस्ता है। परन्तु यदि संसार के सभी देशों में द्वि-धातुमान हो तो यह कठिनाई दूर हो सकती है। परन्तु एक दूसरी कठिनाई उपस्थित हो जायगी।

(ब) क्योंकि दोनों धातुओं की विनिमय दर निश्चित है इस कारण किसी भी समय किसी एक धातु का खोदना दूसरी से अपेक्षाकृत अधिक लाभप्रद होगा। परिणामतः किसी एक धातु की पूर्ति अपेक्षाकृत अधिक हो जायगी और उसका परिणाम मूल्य पर अवश्य पड़ेगा।

(स) फिर, द्वि-धातुमान में करेंसी स्वर्ण तथा रौप्य दोनों पर आधारित न होकर किसी एक पर आधारित होती है। यह दोनों स्थितियाँ विभिन्न हैं। स्वर्ण तथा रौप्य पर आधारित होने पर भी जहाँ तक स्थिरता का प्रश्न है यह कहना कठिन है कि स्थिति उससे भिन्न होगी जहाँ केवल एक धातु का ही चलन है। स्थिरता की वाधक शक्तियाँ जो उस समय लागू होती हैं जब करेंसी केवल स्वर्ण पर आधारित होती है, उस समय भी उसी प्रकार लागू होंगी जब वह स्वर्ण तथा रौप्य पर अलग अलग आधारित है।

इन कठिनाइयों को दूर करने के ध्येय से ही मार्शल ने मिश्रित धातुमान (Sym metallism) का सुझाव रखा। इस प्रणाली में करेंसी स्वर्ण या रौप्य में परिवर्तनीय न होकर स्वर्ण तथा रौप्य में (जो एक विशेष अनुपात में मिले रहते हैं) परिवर्तनीय होती है। केन्द्रीय बैंक स्वर्ण या रौप्य अलग अलग नहीं वरन् उसके इस मिश्रण के क्रय-विक्रय के लिए कानूनन

जिम्मेदार होगा। अधिकारी यह निर्णय करेंगे कि इन दोनों धातुओं को किस अनुपात में मिलाया जाय। कोष भी इसी मिश्रण में रहेगा। इस योजना के अनुसार स्वर्ण तथा रौप्य के सापेक्षिक मूल्यों में बिना रोक-टोक परिवर्तन हो सकता है, परन्तु आवश्यक है कि उनके मिश्रण का मूल्य समान रहे। इस प्रकार स्वर्ण तथा रौप्य दोनों की पूर्ति को, दोनों धातुओं के मूल्यों में गठबंधन रखे बिना ही, काम में लाया जा सकता है। निःसंदेह यह योजना स्वर्ण मान से उस समय तक अच्छी है जब तक स्वर्ण की कमी है। परन्तु स्वर्ण के आधिक्य के समय यह बेकार हो जाती है क्योंकि ऐसी स्थिति के निवारण का इसके पास कोई उपाय नहीं है।

हमने विभिन्न योजनाओं का अलग अलग अध्ययन किया है और प्रत्येक की कमियों को भी बताया है। यह सब के सब इस विश्वास पर आधारित हैं कि व्यापार-चक्र (Trade Cycles) द्रव्य के परिमाण में परिवर्तनों के कारण होते हैं और यदि द्रव्य के परिमाण को स्थिर रखा जा सके तो व्यापार-चक्र भी नियंत्रित किये जा सकते हैं। परन्तु यह विश्वास गलत है। यह उन विभिन्न कारणों को भूल जाता है जिनके कारण तेजी तथा मंदी आते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि द्रव्य की कमी के कारण मंदी आ सकती है, परन्तु मंदी का यही एक कारण नहीं है। पुनः जब हम करेंसी की कमी की बात करते हैं (उपर्युक्त योजनाओं के द्वारा हम यही कर सकते है) हम आवश्यक रूप से द्रव्य की कमी की बात नहीं करते। हमारा तात्पर्य यही होता है, परन्तु हो सकता है वास्तव में ऐसा न हो। यह हो सकता है कि किसी समय करेंसी की मात्रा वढ़ जाय और फिर भी द्रव्य की मात्रा घट जाय। इसका विपरीत भी सम्भव है। उदाहरण के लिए मंदी के समय जहाँ करेंसी की मात्रा में कमी होती है वहाँ बैंकों पर से विश्वास भी उठ जाता है। मनुष्य अपने पास अधिक मात्रा में द्रव्य रखना चाहेंगे जिससे चलन में आई हुई करेंसी का अर्घ भी बढ़ जायगा। इससे यह स्पष्ट है कि कोई भी योजना जिसका एक मात्र उद्देश्य करेंसी के परिमाण को नियंत्रित करना है, आर्थिक या द्राव्यिक स्थिरता करने में सफल नहीं हो सकता क्योंकि यह विभिन्न जटिल कारणों पर निर्भर हैं।

अतः घरेलू स्वर्ण मान और इसके विभिन्न परिवर्तन तथा संशोधन उस कार्य को जिसे इसे करना है, पूर्ण करने में सफल नहीं होते। केवल यह सुरक्षा का एक वातावरण तैयार कर देता है। जब मनुष्यों को यह पता रहता है कि करेंसी के पीछे स्वर्ण-कोष है तो उनका उस पर अधिक विश्वास हो जाता है। धीरे-धीरे, जैसे इंगलैण्ड में स्वर्ण-कोष घटा कर लगभग शून्य तक लाया जा रहा है। जैसे ही मनुष्य यह समझने लगेंगे कि अच्छे द्रव्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह स्वर्ण हो या उसके पीछे एक स्वर्ण कोष हो, वैसे ही घरेलू स्वर्णमान का स्वाभाविक अंत हो जायगा।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान—आइये अब हम स्वर्ण मान के दूसरे कार्य का—विनिमय दरें स्थिर रखने का—अध्ययन करें। यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान से सम्बंधित है। विनिमय दरें जिस प्रकार स्थिर रखी जाती हैं वह विधि पहले ही बताई जा चुकी है। जैसे ही विनिमय बाजार में करेंसी की माँग अधिक हो जाती है, उसे विदेशी विनिमय-बाज़ार से हटा कर स्वर्ण बाज़ार में कर दिया जाता है। यह तभी सम्भव है जब इस बात का आश्वासन हो कि स्वर्ण-बाज़ार में स्वर्ण एक निश्चित मूल्य पर प्राप्त है। यदि यह आश्वासन न होगा तो कोई भी स्वर्ण बाज़ार के लिए विनिमय बाज़ार छोड़ने को तत्पर न होगा। यह आश्वासन स्वर्ण का द्रव्य में तथा द्रव्य का स्वर्ण में अप्रतिबन्धित परिवर्तन द्वारा प्रदान किया जाता है। इस प्रकार

अप्रतिबन्धित परिवर्तन के बिना विनिमय दरों की स्थिरता स्थापित नहीं की जा सकती। इस प्रकार विनिमय दरों को स्थिर रखने की समस्या अप्रतिबन्धित परिवर्तन स्थापित करने की समस्या बन जाती है।

यदि करेंसी की माँग तथा पूर्ति का अंतर अधिक बड़ा या अधिक समय तक न रहे तो यह परिवर्तनशीलता स्थापित की जा सकती है। परन्तु यदि लेन-देन की यह विषमता अधिक बड़ी या बार बार होती है तो एक देश को स्वर्ण का निर्यात और दूसरे को आयात करते रहना पड़ेगा। इन दोनों स्थितियों की हानियाँ ऐसी हैं कि कोई भी देश ऐसी स्थिति में रहना पसन्द नहीं करेगा। इस प्रकार स्वर्ण के आयात-निर्यात द्वारा करेंसी की माँग तथा पूर्ति की अस्थाई विषमता ही दूर की जा सकती है।

यदि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान की विनिमय दरें स्थिर रखने का कार्य ठीक-ठीक पूरा करना है तो इसके पास ऐसी विधियों का होना आवश्यक है जिससे करेंसी की माँग तथा पूर्ति का असंतुलन तुरन्त ठीक हो जाय। किसी एक देश की करेंसी की माँग तथा पूर्ति उस देश के मूल्य तथा लागतों पर तथा अन्य देशों के मूल्य तथा लागतों पर निर्भर है। यदि **अ** देश में ब देश की अपेक्षा मूल्य अधिक है तो **अ** देश की करेंसी की माँग कम हो जायगी और उसकी पूर्ति बढ़ जायगी। यदि **अ** देश स्वर्ण मान पर है तो इसका परिणाम यह होगा कि **अ** देश से **ब** देश की ओर स्वर्ण का निर्यात होने लगेगा। इसके विपरीत यदि **अ** देश में ब देश की अपेक्षा मूल्य कम होंगे तो वहाँ स्वर्ण का आयात होने लगता। प्रत्येक स्थिति में स्वर्ण का आयात या निर्यात उस समय चलता रहेगा जब तक उस देश के मूल्य अन्य देशों के मूल्यों के बराबर नहीं आ जाते। क्योंकि किसी भी देश के लिये यह सम्भव नहीं है कि वह असीमित समय तक स्वर्ण का आयात या निर्यात करता रहे, इस कारण स्वर्ण के निर्यात होने पर मूल्य कम करने तथा स्वर्ण के आयात होने पर मूल्य बढ़ाने की कोई विधि निकालना आवश्यक हो जाता है।

परन्तु मूल्यों को अल्पकाल में घटने या बढ़ने नहीं दिया जा सकता। अतः स्वर्ण के निर्यात-आयात को कुछ सीमा तक रोकने के लिए (जब तक मूल्यों में पर्याप्त परिवर्तन न हो जायँ) किसी एक विधि की आवश्यकता पड़ती है। ऐसा पूँजी की गति द्वारा हो सकता है। पूँजी की गति का प्रभाव स्थाई नहीं हो सकता, परन्तु अल्पकाल में इसका प्रभाव काफी पड़ता है।

परन्तु पूँजी की गति तथा मूल्य तल के परिवर्तनों के यह सब ध्येय साख तथा बैंक पर नियंत्रित कर प्रभावित किये जा सकते हैं। यदि देश से मुद्रा का निर्यात हो रहा है तो दीर्घ-काल में मूल्यों को कम करना चाहिये और अल्पकाल में देश में पूंजी को आकर्षित करना चाहिए। यदि बैंक-दर बढ़ा दी जाय और साख कम कर दिया तो यह दोनों ध्येय पूरे हो सकते हैं। बैंक दर अधिक होने से विदेशों में विनियोजित पूंजी आकर्षित होगी और दूसरे देश भी यहाँ विनियोग कर अधिक लाभ प्राप्त कर सकेंगे। इस देश की करेंसी की माँग बढ़ जायगी और इस प्रकार पूंजी का निर्यात रुक जायगा। बैंक दर बढ़ जाने का दूसरा परिणाम यह होगा कि देश में ब्याज की दर बढ़ जायगी। इससे विदेशी उधार लेने वाले उधार लेना कम कर देंगे और परिणामतः पूंजी का निर्यात कम हो जायगा।

इसी प्रकार बैंक-दर की वृद्धि से विनियोग कम हो जाएंगे और बचतें बढ़ेंगी। विनियोग कम हो जाने से कीमतें कम होने लगेंगी। इसका विपरीत भी इतना ही सही होगा। बैंक-दर कम

हो जाने से विनियोग बढ़ेंगे जिससे मूल्य बढ़ने लगेंगे । व्यक्ति विनियोग के लिए उसी समय उधार लेते हैं जब उन्हें यह विश्वास होता है कि विनियोग से प्राप्त लाभ ऋण पर दी गई ब्याज से तो कम से कम अधिक होगा ही । यदि बैंक दर अधिक है तो बहुत से उधार लेने वाले जो विनियोग का जोखिम उठाना नहीं चाहेंगे उधार नहीं लेंगे क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि लाभ बैंक दर से अधिक हो ही जाय । इस कारण जहां तक कुल विनियोग का प्रश्न है वह अवश्य कम हो जायगा । विनियोग में कमी का अर्थ होगा बचत में वृद्धि । जब बचत अधिक होगी तो पूंजी की मांग कम होगी और फलतः क्रियायें भी कम होंगी । इन सब कारणों से मूल्य भी गिरने लगेंगे । इसके विपरीत जब बैंक-दर कम है तो विनियोग अधिक होने के कारण मूल्य बढ़ने लगेंगे ।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि बैंक-दर में कमी तथा साख नियंत्रण के निम्न तीन परिणाम होगें :—

(१) पूंजी का आयात बढ़ जायगा जिसका अर्थ दूसरे शब्दों में यह होगा कि करंसी की मांग बढ़ जायगी ।

(२) विदेशी उधार लेने वालों को कम ऋण दिया जायगा, जिसका परिणाम यह होगा कि विनिमय-बाजर में जाने वाली पूंजी की पूर्ति कम हो जायगी ।

(३) कीमतें कम होने लगेंगी ।

इसके विपरीत बैंक दर में कमी तथा साख की वृद्धि से अल्पकालीन पूँजी का निर्यात होगा, विदेशियों को अधिक उधार देंगे और मूल्य बढ़ने लगेंगे । इस प्रकार स्वर्णमान का आधारभूत नियम यह है : जब स्वर्ण देश के भीतर आ रहा है तब साख की वृद्धि करो और जब स्वर्ण बाहर जा रहा है तब साख को कम करो ।

व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान किस प्रकार कार्य करता है उसका यह ढांचा मात्र है । ध्यान रहे कि बताये प्रकार स्वर्ण मान उसी समय ठीक-ठीक काम कर सकता है जब स्थिति सामान्य हो । उदाहरण के लिये मान लीजिये इंगलैण्ड में बैंक-दर बढ़ा दी जाती है । ऐसी स्थिति में इंगलैण्ड में अल्पकालीन पूंजी का आयात आरम्भ होने लगना चाहिए । परन्तु यदि अन्य देशों में यह भावना है कि इंगलैण्ड पर संकट आने वाला है तो दशा आकर्षक होने पर भी पूँजी अधिक न आवेगी । हो सकता है यह भावना बड़ी प्रबल हो जिससे पूँजी आने के स्थान पर इंगलैण्ड से पूँजी वापस ले जाने के लिए भगदड़ मच जाय । अतएव परिणाम आशा से विपरीत होगा । ठीक इसी कारण से सन् १६१४ तक स्वर्ण मान ठीक-ठीक कार्य करता रहा परन्तु उसके पश्चात् से अनदेखे कारणों से बढ़ती हुई अनिश्चितता तथा प्रत्येक देश की द्राव्यिक प्रणाली पर बढ़ते हुए बोझ के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान ठीक-ठीक कार्य नहीं कर सका है । वास्तव में आजकल संसार के सामने जो समस्याएँ हैं वह ऐसी नहीं हैं कि आधारभूत नियम लगाकर उन्हें सुगमता से सुलझा लिया जाय । यद्यपि स्वर्ण मान ने प्रयत्न किये हैं और अब भी वह विनिमय दरों को स्थिर रखने का प्रयास करता है, फिर भी यह समय-समय पर होने वाले अति-विनियोग तथा अना-विनियोग, मुद्रा-प्रसार तथा मुद्रा-संकुचन को नहीं रोक सकता । उन्नीसवीं शताब्दी में यह कठिनाई अधिक महत्वपूर्ण न थी क्योंकि मूल्य परिवर्तन न तो अधिक भारी होते थे और न आकस्मिक ही । परन्तु वर्तमान संसार की समस्याएँ पूर्णतः भिन्न हैं । द्राव्यिक प्रणाली की अस्थिरताएँ इतनी अधिक हैं कि प्रत्येक देश, विदेशी विनिमयों की अस्थिरता के बदले भी, प्रधानतः इसी क्षेत्र में स्थिरता स्थापित करने के प्रयास में लगा रहता है ।

अध्याय ४८

विदेशी विनिमय

जब किसी एक भारतीय व्यवसायी को उससे खरीदी गई वस्तु या सेवाओं के बदले 'रुपया' दिया जाय तो वह शीघ्र ही उसे स्वीकार कर लेगा क्योंकि वह कानूनन ग्राह्य मुद्रा है और सुगमता से एक से दूसरे के पास हस्तांतरित होती रहती है। परन्तु यदि इंगलैण्ड के किसी व्यापारी को उसकी वस्तु या सेवाओं के बदले 'रुपया' दिया जाय तो वह लेने से इंकार कर देगा क्योंकि वह 'रुपये' से अपने देश में कोई भी वस्तु नहीं खरीद सकता। वहाँ एक दूसरी करंसी (पौण्ड) चलती है। परन्तु क्योंकि भारतीय मुद्रा इंगलैण्ड के व्यापारी स्वीकार नहीं करते इससे भारतीय व्यापारी द्वारा इंगलैंड से सामान मंगाना बंद नहीं हो जाता; इससे केवल भुगतान की समस्या कठिन हो जाती है। एक भारतीय व्यापारी को पहले रुपयों को पौण्ड में बदलवाना होगा और तब उन्हें इंगलैण्ड के व्यापारी को भुगतान में देगा। विदेशी विनिमय विदेशी व्यापारी को अपनी करंसी की कुछ मात्रा (जब वह विदेशी व्यापारी की करंसी में परिवर्तित हो गई है उसके पश्चात) भुगतान में देने से सम्बंधित है। 'विदेशी विनिमय' का सही-सही अर्थ जिस प्रसंग में उसका व्यवहार किया जाता है उसके अनुसार बदलता रहता है। यदि हम यह कहें कि भारत को पूंजीगत वस्तुएँ विदेशों से मंगाने के लिए अमुक मात्रा में विदेशी विनिमय की आवश्यकता है तो हमारा तात्पर्य विदेशी करंसी से होगा जो भारत विदेशों में भुगतान करने के लिए अपनी करंसी से बदलना चाहेगा। यदि हम यह कहें कि भारत के विदेशी विनिमय बहुत समय से बदल नहीं रहें हैं तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि रुपया तथा विदेशी करंसियों की विनिमय दरें बहुत समय से लगभग समान हैं। विदेशी विनिमय का अर्थ कभी-कभी विनिमय बिल तथा बैंक ड्राफ्ट आदि से भी होता है। कभी-कभी इसका अर्थ उस प्रणाली से भी होता है जिसके अनुसार संसार के विभिन्न देशों के व्यापारिक हिसाब-किताब साफ होते हैं।

रुपए को पौण्ड से बदलने की आवश्यकता इस कारण उत्पन्न होती है क्योंकि रुपया इंगलैण्ड में कानूनन ग्राह्य नहीं है। यदि कोई ऐसा सिक्का या करंसी होती जो संसार के सभी देशों में कानूनन ग्राह्य होती तो इस प्रकार के विनिमय की आवश्यकता ही न होती। परन्तु दुर्भाग्य से ऐसी कोई करंसी नहीं है। एक समय संयुक्त राष्ट्र अमरीका ने एक सुझाव रखा था कि प्रत्येक देश एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा 'यूनीटास' (जिसमें १३७$\frac{1}{7}$ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण हो) का प्रयोग करें। इसी प्रकार इंगलैण्ड ने भी यह सुझाव रखा था कि प्रत्येक देश 'बैंकटर' नामक एक करंसी का प्रयोग करें। परन्तु यह कोई भी सुझाव मान्य न हुआ और आजकल भी प्रत्येक देश विदेशों में भुगतान करने के लिए अपने देश की मुद्रा अन्य देश की मुद्रा से बदलने की पुरानी प्रथा पर चलता है।

स्वर्ण मान में विनिमय-दर—अब प्रश्न यह उठता है कि एक देश यह कैसे तय करता है कि उसकी करंसी दूसरे देश की करंसी से किस दर पर विनिमय की जाय? अन्य शब्दों में संसार के देशों में विनिमय दरें निर्धारण करने का क्या तरीका है? यदि सभी देशों में स्वर्ण मान हो और उनमें स्वर्ण का अप्रतिबन्धित आयात-निर्यात हो तो विनिमय दरों

का निर्धारण स्वतः तथा सहल होता है। हबरलर (Haberler) का कहना है कि "यदि दो या अधिक व्यापारी देशों में स्वर्णमान हो और यदि स्वर्ण के आयात-निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध न हो, तो विभिन्न करंसियों का गठबन्धन बड़ा दृढ़ होता है। उदाहरण के लिए यदि एक औंस स्वर्ण से एक निश्चित मात्रा में पौण्ड के सिक्के बनाये जा सकते हैं या उससे बीस गुने अधिक 'मार्क्स' (एक सिक्का) तो, यदि यह मान लिया जाय कि सिक्के ढालने का कोई व्यय नहीं है, कोई भी व्यक्ति २० मार्क्स से एक पौण्ड या एक पौण्ड से २० मार्क्स बदल सकता है।" इस प्रकार विनिमय दर स्वतः १ पौण्ड = २० मार्क्स निश्चित हो जाती है।

हबरलर का कहना है कि एक स्वर्ण मान का "संकुचित अर्थ उस मौद्रिक प्रणाली से है जिसमें मान्य विशिष्टता के स्वर्ण सिक्के या स्वर्ण सर्टीफिकेट जिनके पीछे शत प्रतिशत स्वर्ण रक्खा हो, चलन में हों। विस्तृत अर्थ में इसके अन्तर्गत वह दशायें भी आ जाती हैं जिनमें पत्र-मुद्रा या रौप्य सिक्के कानूनन ग्राह्य हों परन्तु वह स्वर्ण में एक निश्चित दर पर परिवर्तनीय हों। स्वर्ण के सिक्कों के गलाने की मनाही न होनी चाहिए।"

यदि उपर्युक्त उदाहरण में विनिमय दर १ पौण्ड = २० मार्क्स न हो तो क्या होगा? मान लीजिये वह १ पौण्ड = १८ मार्क्स है। उस देश के व्यक्ति जहां मार्क्स की करंसी है, मार्क्स को पौण्ड में बदलना चाहेंगे, फिर पौण्ड से स्वर्ण खरीद कर उस स्वर्ण से मार्क्स के सिक्के ढलवा लेंगे। मान लीजिये १ औंस स्वर्ण किसी एक देश में एक पौण्ड के तथा किसी दूसरे देश में २० मार्क्स के बराबर है, तो विनिमय दर १ पौण्ड = २० मार्क्स होगी। यदि १ पौण्ड = १८ मार्क्स है तो व्यक्ति १८ मार्क्स देकर १ पौण्ड ले लेंगे, १ पौण्ड से १ औंस स्वर्ण ले लेंगे और १ औंस स्वर्ण से २० मार्क्स। इस प्रकार उनको १८ मार्क्स देकर २० मार्क्स मिल जाएँगे और उन्हें २ मार्क्स का लाभ होगा। जब बहुत से मनुष्य इस प्रकार लाभ उठाने की इच्छा से मार्क्स को पौण्ड में बदलना चाहेंगे तो पौण्ड की मांग बढ़ जाने तथा पूर्ति वही रहने से उसकी कीमत बढ़कर १ पौण्ड = २०मार्क्स हो जायगी। यदि मान लीजिए विनिमय दर १ पौण्ड = २२ मार्क्स है तो स्थिति ठीक विपरीत होगी। उस समय मार्क्स की मांग बढ़ जाने से उसकी कीमत बढ़ जायगी और विनिमय दर पुनः १ पौण्ड = २० मार्क्स हो जायगी। अतः यह कहा जा सकता है कि स्वर्ण मान में जहां स्वर्ण तथा करंसी अप्रतिबन्धित परिवर्तनीय हैं और जहां व्यापारी-देशों में स्वर्ण का आयात-निर्यात बे रोक टोक हो सकता है, वहां विनिमय दर निश्चित ही ऐसी होगी कि एक देश की करंसी की एक इकाई स्वर्ण की उतनी ही मात्रा में परिवर्तनीय हो जिसमें दूसरे देश की करंसी की उतनी इकाइयां जितनी पहिले देश की करंसी की एक इकाई के बराबर हो परिवर्तन की जा सकती हैं।

स्वर्ण मान में भुगतान की समस्या बड़ी सुगमता से सुलझाई जा सकती है यदि भुगतान के लिए पर्याप्त स्वर्ण है। क्योंकि उस समय यदि जर्मनी का कोई व्यक्ति इंगलैण्ड के किसी व्यापारी से एक पौण्ड का सामान खरीदे तो वह शीघ्र ही एक औंस स्वर्ण उसे भेज देगा जिसके बदले में इंगलैण्ड का व्यापारी १ पौण्ड पा जायगा। इसी प्रकार इंगलैण्ड का व्यापारी भी सामान के बदले में जर्मनी के व्यापारी को स्वर्ण भेज सकता है।

विदेशी विनिमय बिलों की विधि—साधारणतः स्वर्ण इस प्रकार भेजा नहीं जाता। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में स्वर्ण के प्रयोग को अधिकाधिक कम करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। उपर्युक्त उदाहरण में यदि स्वर्ण न भेजा जाय तो दूसरा तरीका यह है कि जर्मनी

का व्यापारी १ पौण्ड = २० मार्क्स की दर से एक पौण्ड का क्रय करे और उसे इंगलैण्ड के व्यापारी को भेज दे। वास्तव में ऐसा न भी हो। विदेशी विनिमय बिलों के प्रयोग के कारण तथा दोनों देशों में अंग्रेज़ी और जर्मनी सामान के अनेक क्रेताओं तथा विक्रेताओं के कारण मार्क्स को पौण्ड से तथा पौण्ड को मार्क्स से बदलने की आवश्यकता बहुत कुछ कम हो सकती है। हम यह देखेंगे कि ऐसा किस प्रकार होता है। परन्तु इसके पहले हमको उस प्रमुख यंत्र के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए जिसके द्वारा विदेशी लेन-देन साफ करने होते हैं। इस यंत्र को विदेशी विनिमय बिल कहते हैं। एक विदेशी विनिमय बिल एक विक्रेता द्वारा किसी विदेशी क्रेता पर (उस धन राशि का जितने का सामान उसने बेचा है) एक लिखित अधिकार है। यह अधिकार उस समय में पूरा हो जाना चाहिए जितनी अवधि के लिए बिल लिखा गया है। एक चेक और विनिमय बिल में तीन प्रमुख भेद हैं। एक बिल उस व्यक्ति के ऊपर लिखा जाता है जो लिखने वाले धनी का देनदार है जबकि चेक किसी एक बैंक के ऊपर ही लिखा जाता है। एक बिल प्रायः पकने की अवधि पर (यदि वह देखनहार न हो) देय होता है परन्तु एक चेक देखते ही देय होता है। एक बिल का भुगतान उसी समय होगा जब जिस धनी के ऊपर वह लिखा गया है उसने 'स्वीकृत' कर लिया है, परन्तु चेक को इस प्रकार की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं है।

विदेशी विनिमय बिलों के प्रयोग से करंसियों के वास्तविक विनिमय की आवश्यकता नहीं रहती। मान लीजिए जर्मनी के एक क्रेता ने इंगलैण्ड के एक व्यापारी के पास १००० पौण्ड का आर्डर भेजा है। अब इंगलैण्ड का व्यापारी जर्मनी के व्यापारी के ऊपर १००० पौण्ड का एक विनिमय बिल (समान बेचने के बदले) लिखकर उसकी स्वीकृति के लिए भेज देगा। जर्मनी का व्यापारी बिल के ऊपर 'स्वीकृत' शब्द लिख कर अपने हस्ताक्षर कर देगा और उसे इंगलैण्ड के व्यापारी को भेज देगा। स्वीकृति का अर्थ यह हुआ कि जर्मनी के व्यापारी बिल के पकने की तिथि के दिन उसमें लिखा धन देने के लिए वचनबद्ध है।

मान लीजिए इंगलैण्ड के एक व्यापारी ने जर्मनी के किसी व्यापारी से २०,००० मार्क्स का सामान खरीदा है। अब इस हिसाब का चुकता करने के लिए चार धनी हैं—अंग्रेज़ विक्रेता तथा जर्मन खरीददार और जर्मन विक्रेता और अंग्रेज़ क्रेता। इनमें से दो लेनदार हैं और दो देनदार।

अब क्या होगा? वह अंग्रेज़ खरीददार, जिसे जर्मनी के विक्रेता को २० हजार मार्क्स देने हैं, उस अंग्रेज़ विक्रेता से मिलेगा जिसे जर्मनी के क्रेता से १००० पौण्ड पाना है तथा जिसके पास उस रकम का एक 'स्वीकृत' बिल है। अंग्रेज़ खरीददार अंग्रेज विक्रेता से वह विनिमय बिल खरीद लेगा और उसे उस जर्मन व्यापारी के पास भेज देगा जिसे २०,००० फ्रांक उस पर चाहिए। जर्मन व्यापारी को वह यह लिख भेजेगा कि इस बिल को पकने की अवधि पर उस जर्मन क्रेता को (जिसने अंग्रेज़ व्यापारी से सामान खरीदा है) दिखलाकर २० हजार मार्क्स ले ले। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि अंग्रेज़ व्यापारी को १,००० पौण्ड मिल गये और जर्मन व्यापारी को उसके २०,००० मार्क्स। अंग्रेज़ क्रेता ने २० हजार मार्क्स का भुगतान कर दिया (जब उसने अंग्रेज़ व्यापारी का बिल १ हजार पौण्ड में खरीदा) और जर्मन क्रेता ने भी एक हजार पौण्ड का भुगतान कर दिया (जब उसने जर्मनी के व्यापारी को भुगतान किया)। इस प्रकार सम्पूर्ण लेन-देन एक विनिमय बिल को इंगलैण्ड से जर्मनी भेजने मात्र से ही पूरा हो गया और पौण्ड के बदले मार्क्स तथा मार्क्स के बदले पौण्ड लेने का झंझट नहीं रहा।

जो बात हमारे, लिए गए उदाहरण में चार व्यक्तियों के बारे में सच है वही बात हजारों व्यापारियों के बारे में भी सच है जो वस्तुओं के क्रय-विक्रय में लगे हैं और उनका भुगतान विदेशी विनिमय बिल द्वारा करते हैं। जो विदेशों से द्रव्य के लेनदार हैं वह विनिमय बिल की पूर्ति करते हैं और जिनको विदेशियों को भुगतान करना है उनको इसकी माँग होती है। यह हो सकता है कि किसी समय विनिमय बिल की पूर्ति उसकी माँग से कम हो जाय–अर्थात् भुगतान करने वालों की संख्या भुगतान होने वाली से कम हो। या उनकी पूर्ति उनकी माँग से अधिक हो, अर्थात् भुगतान लेने वालों की संख्या देनदारों से अधिक हो। हम इन दोनों स्थितियों का विश्लेषण करेंगे। पहले हम उस स्थिति को लेते हैं जिसमें विदेशी बिलों की माँग उनकी पूर्ति से अधिक है।

आयात-निर्यात की असमानता और उसका विनिमय दर पर प्रभाव—हम अपने पुराने उदाहरण को जिसमें विनिमय दर १ पौण्ड = २० मार्क्स है तथा इंगलैण्ड और जर्मनी दोनों में ही स्वर्ण मान है लेते हैं। मान लीजिए कि इंगलैण्ड को निर्यात करने वाले जर्मनों की संख्या वहाँ से सामान मंगाने वाले जर्मनों से कम है। अतः इंगलैण्ड के ऊपर लिखे गये, विनिमय बिलों की पूर्ति उनकी माँग की अपेक्षा कम होगी क्योंकि इंगलैण्ड को भुगतान करने वालों की संख्या वहाँ से भुगतान पाने वालों से कम है। अब यदि जर्मन आयातकर्ता विनिमय बिलों को न खरीदें परन्तु बदले में स्वर्ण को ऋण के परिशोधन के लिए भेजें, तो स्वर्ण भेजने में कुछ न कुछ व्यय होगा ही। मान लीजिए प्रति पौण्ड स्वर्ण भेजने का व्यय ½ मार्क है। इस प्रकार प्रत्येक पार्सल के ऊपर जर्मन के आयातकर्ताओं को ½ मार्क अधिक व्यय करना होगा और उनके लिए विनिमय दर १ पौण्ड = २०½ मार्क्स हो जायगी। वह जर्मन आयातकर्ता, जो इंगलैंड के ऊपर लिखे गए विनिमय-बिल को प्राप्त नहीं कर सकता, प्रति पौण्ड ½ मार्क अधिक व्यय करने के पहले दो बार सोचेगा।

इधर इंगलैण्ड के ऊपर लिखे गये बिलों के पूर्तिकार, यह देख कर कि जर्मन के आयात-कर्ताओं में उनकी माँग के लिए बड़ी भगदड़ है, इस स्थिति से लाभ उठाने का प्रयास करेंगे और १ पौण्ड के लिए पहले से अधिक मार्क्स लेना चाहेंगे। ऐसा वह अपने बिलों के क्रेताओं से १ पौण्ड = २० मार्क्स से अधिक मूल्य लेकर कर सकते हैं।

मान लीजिए वह बिल के क्रेताओं से १ पौण्ड = २१ मार्क्स की दर से मूल्य लेना चाहते हैं। क्या क्रेता इस दर पर बिल खरीदने को तैयार हो जाएँगे? यदि वह बिल न खरीदकर बदले में स्वर्ण भेजते हैं तो वह १ पौण्ड = २०½ मार्क्स की दर से ही अपने ऋण का परिशोधन कर सकते हैं। फिर वह बिल के लिए इससे अधिक मूल्य क्यों दें? मान लीजिए बिलों के विक्रेता उन्हें १ पौण्ड = २०¼ मार्क्स की दर से बेचने को तैयार हैं। क्या क्रेता अब खरीदने को तैयार हो जायंगे? हाँ अवश्य क्योंकि स्वर्ण भेजने की अपेक्षा इस प्रकार उन्हें प्रति पौण्ड ¼ मार्क कम व्यय करना पड़ेगा। इंगलैण्ड के ऊपर लिखे गए बिलों की पूर्ति उनकी माँग से कम होने की स्थिति में जब तक विनिमय दर १ पौण्ड = २०½ मार्क्स से कम है तब तक इंगलैण्ड से आयात करने वाले जर्मन व्यापारियों को जिन्हें इंगलैन्ड के व्यापारियों को भुगतान करना है स्वर्ण का निर्यात कम लाभप्रद प्रतीत होगा और वह जर्मन निर्यातकर्ताओं से बिलों को खरीदना अधिक पसन्द करेंगे। परन्तु जब विनिमय दर १ पौण्ड = २०½ मार्क्स से बढ़ जायगी—मान लीजिए वह १ पौण्ड = २०¾ मार्क्स हो जाती है—तो वह स्वर्ण भेजना अधिक पसन्द

करेंगे। इस प्रकार १ पौण्ड=२०½ मार्क्स की दर जर्मनी के लिये स्वर्ण-निर्यात-बिन्दु या निचला धातु बिन्दु है। यह उस सीमा को निर्धारित करता है जिसके भीतर जर्मन आयातकर्ता इंगलैण्ड पर लिखे गये विनिमय बिलों का क्रय करेगा; दर १ पौण्ड=२०½ मार्क्स होने पर जर्मन आयातकर्ता चाहे तो स्वर्ण का निर्यात कर सकता है और चाहे विनिमय बिल खरीदकर उसका भुगतान कर सकता है क्योंकि दोनों ही स्थितियों में उसको ½ मार्क अधिक व्यय करना पड़ेगा।

जब इंगलैण्ड के ऊपर लिखे गए विनिमय बिलों की पूर्ति उनकी मांग से अधिक है, तो दशा इसके विपरीत होगी। ऐसे व्यक्तियों की संख्या जिन्होंने इंगलैण्ड को सामान निर्यात किया है और जो भुगतान पाना चाहते हैं अधिक होगी उन व्यक्तियों की अपेक्षा जिन्होंने सामान का आयात किया है और भुगतान करना चाहते हैं। यदि जर्मन-निर्यातकर्ता अपने विनिमय बिलों को किसी को भी न बेचें वरन् पकने की अवधि पर अपने देनदारों को दिखलाकर उसके बदले में स्वर्ण (इंगलैण्ड में) लेकर उसे स्वदेश भेजना चाहें तो, यदि यह मान लिया जाय कि स्वर्ण भेजने का व्यय ½ मार्क प्रति पौण्ड है उन्हें विनिमय की वास्तविक दर १ पौण्ड =१९½ मार्क्स ही पड़ेगी और इस प्रकार उन्हें ½ मार्क प्रति पौण्ड की हानि उठानी पड़ेगी। वह यह हानि उठाने के लिए सुगमता से तैयार न होंगे तब वह क्या करेंगे? वह स्वर्ण आयात के झंझट में पड़ने की अपेक्षा अपने बिल बेचना कहीं अधिक पसंद करेंगे। परन्तु बिलों की माँग उनकी पूर्ति से कम है इसलिए उनके लिए पहले से कम दाम मिलेंगे। बिलों के खरीददार स्थिति से लाभ उठाकर २ पौण्ड के बदले १९ मार्क्स ही देना चाहेंगे। परन्तु क्या विक्रेता राजी हो जाएँगे? कदापि नहीं। क्योंकि अब उन्हें अपेक्षाकृत अधिक हानि है। यदि वह इंगलैण्ड से स्वर्ण का आयात करते हैं तो उनको प्रति पौण्ड ½ मार्क की हानि उठानी पड़ती है; परन्तु बिल बेचने में उनकी हानि १ मार्क प्रति पौण्ड है। वह बिल उसी समय बेचेंगे जब तक विनिमय दर ऐसी है कि बिलों को बेचने में हुई हानि इंगलैण्ड से स्वर्ण आयात करने में होने वाली हानि से कम है। स्पष्टतः यह सीमा २ पौण्ड=१९½ मार्क्स पर है। यदि विनिमय दर इससे कम हो जायगी तो इंगलैण्ड से स्वर्ण का आयात होने लगेगा। अतः जर्मनी के लिए १ पौण्ड =१९½ मार्क्स स्वर्ण-आयात-बिन्दु या ऊपरी धातु बिन्दु है।

जब विनिमय दर ऐसी है कि जर्मनी में स्वर्ण का आयात होने लगता है तो हम यह कहते हैं कि दर अनुकूल है। परन्तु जब दर ऐसी है कि जर्मनी से स्वर्ण का निर्यात होने लगता है तो हम कहते हैं कि दर प्रतिकूल है। जब हम निचले धातु-बिन्दु को पार कर लेते हैं तो विनिमय दर अनुकूल हो जाती है और जब हम ऊपरी धातु-बिन्दु को पार कर लेते हैं तो विनिमय दर प्रतिकूल हो जाती है। जो जर्मनी के लिये स्वर्ण आयात-बिन्दु या ऊपरी धातु-बिन्दु है वह इंगलैण्ड के लिए स्वर्ण निर्यात बिन्दु या निचला धातु-बिन्दु है और इसका विपरीत भी सही है। जर्मनी के लिए विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु से उसी समय अधिक होगी जब जर्मनी के ऊपर लिखे गये विनिमय बिलों की पूर्ति माँग की अपेक्षा अधिक हो और दूसरे जब इंगलैंड से स्वर्ण निर्यात करने में कठिनाई हो। जर्मनी के लिए विनिमय दर स्वर्ण आयात बिन्दु से नीचे उसी समय होगी जब जर्मनी के ऊपर लिखे गये बिलों की माँग पूर्ति की अपेक्षा अधिक हो और दूसरे इंगलैण्ड से स्वर्ण आयात करने में कठिनाई हो। इसका सुगमता से अनुमान किया जा सकता है कि यदि अमरीकी वस्तुओं के लिए बढ़ती हुई भारतीय माँग के फलस्वरूप रुपया-

डालर की विनिमय दर रुपये के स्वर्ण निर्यात विन्दु से अवश्य ही बढ़ जाती यदि अप्रतिबन्धित अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान होता। भारत के ऊपर लिखे गये बिलों की पूर्ति अधिक होने तथा निर्यात के लिए सुगमता से स्वर्ण न मिलने का फल और क्या होता ?

हम देख आये हैं कि जब विनिमय दर १ पौण्ड = १९$\frac{1}{2}$ मार्क्स या उससे कम है तो दशा अनुकूल है और उस समय जर्मनी के ऊपर लिखे गए बिलों की पूर्ति उनकी माँग की अपेक्षा कम होगी और जर्मनी से इंगलैण्ड को निर्यात वहाँ से जर्मनी को हुए निर्यात की अपेक्षा अधिक होंगे। परन्तु विनिमय दर १ पौण्ड = १९$\frac{1}{2}$ मार्क्स या उससे अधिक है तो दशा विपरीत हो जायगी, आयात बढ़ने लगेंगे और निर्यात कम हो जायँगे जब तक कि आयात-निर्यात समान नहीं हो जाते। उस समय बिलों की उतनी ही पूर्ति होगी जितनी उनकी माँग है और विनिमय दर पुनः १ पौण्ड = २० मार्क्स हो जायगी।

ऐसा क्यों होता है? क्योंकि पौण्ड सस्ता हो गया है और जर्मन व्यापारी इसका लाभ उठाना चाहते हैं। उसी वस्तु के लिए जिसका मूल्य १ पौण्ड है उन्हें पहले २० मार्क्स देने पड़ते थे और अब उन्हें केवल १९$\frac{1}{2}$ मार्क्स ही देने होंगे। इस प्रकार इंगलैण्ड से जर्मनी में सामान आयात होने लगेगा क्योंकि वहाँ का सामान मार्क्स में सस्ता पड़ता है। जर्मनी में होने वाले आयात बढ़ जायँगे और जर्मनी के ऊपर लिखे गये विनिमय बिलों की पूर्ति करने वालों की संख्या बढ़ जायगी।

इसके विपरीत इंगलैण्ड व्यापारी जर्मनी को अधिकाधिक निर्यात करेंगे। पहले जिस वस्तु को जर्मनी में २० मार्क्स में बेचते थे उसके लिए उन्हें १ पौण्ड मिलता था, अब उसी २० मार्क्स की वस्तु के लिए उन्हें एक पौण्ड से अधिक मिलेगा। इंगलैण्ड के लिये जर्मनी का आयात निर्यात से कहीं अधिक लाभप्रद है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि जर्मनी तथा इंग-लैण्ड दोनों ही स्थानों पर उनके पारस्पिरिक आयात तथा निर्यात की व्यापारिक विषमता दूर करने की प्रवत्तियाँ काम करने लगती हैं। जर्मनी में आयात बढ़ जाने से उसके ऊपर लिखे गए विनिमय बिलों की पूर्ति भी बढ़ जाती है और निर्यात घट जाने से विनिमय बिलों की माँग पहिले से कम हो जाती है। यह दो प्रवृतियाँ उस समय तक काम करती रहती हैं जब तक आयात-निर्यात बराबर नहीं हो जाते ; बिलों की माँग उनकी पूर्ति के बराबर हो जाती है और विनिमय दर संस्थिति तल पर अर्थात १ पौण्ड = २० मार्क्स पर आ जाती है। इसी समय इंगलैण्ड में इसके विपरीत प्रवृत्तियाँ काम करने लगती हैं जिससे व्यापारिक लेनी-देनी तथा विनिमय दर ठीक हो जाते हैं।

इस प्रकार एक स्वर्ण मान में केवल विनिमय दर ही सुगमता से निर्धारित नहीं हो जाती वरन् दर की प्रवृत्ति संस्थिति तल पर रहने की भी होती है। उसमें परिवर्तन बहुत कम स्वर्ण आयात तथा निर्यात विन्दुओं के भीतर ही होते हैं और दीर्घकाल में वह ठीक हो जाते हैं। जब जर्मनी के लिए विनिमय दर स्वर्ण आयात विन्दु के पास आने लगती है तो जर्मनी में आयात बढ़ने लगते हैं। ऐसे समय में हम कहते हैं कि इंगलैण्ड की करेंसी सस्ती है और जर्मनी की करेंसी मँहगी। अर्थशास्त्र में हम यह कहेंगे कि पौण्ड का मूल्य ह्रास (depreciation) हो गया है और मार्क की मूल्यवृद्धि (appreciation)। किसी करेंसी के मूल्य ह्रास से निर्यात बढ़ जाते हैं (जैसा कि उक्त उदाहरण में इंगलैण्ड में हुआ) और मूल्य वृद्धि से कम (जैसा कि उक्त उदाहरण से जर्मनी में हुआ)। करेंसी की मूल्य वृद्धि का अर्थ यह होता है कि विदेशी करेंसी में इसका मूल्य बढ़ गया है और मूल्य ह्रास का इसका उल्टा अर्थ होता है।

परन्तु मूल्य ह्रास का अर्थ अवमूल्यन (devaluation) नहीं है। एक करेंसी का अवमूल्यन उस समय होता है जब इसका स्वर्ण कानूनी सम्बन्ध किसी विधान द्वारा बदल दिया जाता है। सन् १९३४ में, अमरीकी डालर का शुद्ध स्वर्ण भाग ४१ प्रतिशत कम कर दिया गया था, अर्थात् डालर का अवमूल्यन हो गया था। परन्तु डालर का स्वर्ण भाग वही रहनेपर भी यदि उसका मूल्य विदेशी करेंसी में कम हो जाय या कहिये वह पहले से कम विदेशी करेंसी क्रय कर सके तो हम कहेंगे कि उसका मूल्य ह्रास हो गया है। आधुनिक सरकारें करंसियों का अवमूल्यन करके लाभ उठाती हैं। इन लाभों को आवश्यकता के समय काम में लाने के लिए रख लिया जाता है। अतएव स्वर्ण में करेंसी के अवमूल्यन की विधि का स्वभावतः ही विनिमय-नियंत्रण (Exchange Control) की विस्तृत विधि से गठबन्धन है।

किन्हीं दो करेंसियों की टकसाली दर वह दर है जिस पर दोनों करेंसियों की, उनमें पाई जाने वाली स्वर्ण की मात्रा के आधार पर, अदला-बदली होती है। यदि एक अमरीकी डालर में २३·२२ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण रहता है और एक ब्रिटिश मोहर में ११३·००१२ ग्रेन, तो हम यह कहते हैं कि एक मोहर ४·८६६ डालर के बराबर है क्योंकि यही डालर तथा मोहर की टकसाली दर है। ध्यान रहे कि टकसाली दर केवल कानूनी सम्बन्ध ही बताती है। वास्तव में यदि डालर के किसी एक सिक्के में खरोंच (clippling) के कारण २३·२२ ग्रेन से कम शुद्ध स्वर्ण हो तो भी इस कारण स्वर्ण तथा मोहर का सम्बन्ध बदलेगा नहीं। वास्तविक स्थिति कुछ भी हो, कानूनन हमें यह मानना ही पड़ेगा कि एक मोहर में ४·८६६ डालरों के बराबर स्वर्ण है।

विदेशी विनिमय बिलों का बट्टा—प्रायः यह होता है कि जब कोई लेनदार अपने किसी विदेशी देनदार के ऊपर एक बिल लिख देता है, तो वह बिल के पकने की अवधि के पहले ही भुगतान पाना चाहता है। ऐसी अवस्था में कुछ व्यक्ति (जिन्हें बिलों के दलाल कहा जाता है) बिलों का तत्काल भुगतान करने को तैयार हो जाते हैं। परन्तु वह बिल में लिखी रकम में से उतनी धन राशि काट लेते हैं जितनी उस रकम पर बिल के पकने की तिथि तक ब्याज होगी। उदाहरण के लिए मान लीजिए बिल क रकम का है और वह तीन माह बाद पकेगा, तो दलाल क रकम पर वर्तमान ब्याज-दर से तीन माह का जो सूद होगा उसे काटकर बाकी धन देने को तैयार हो जायँगे। यदि वह चाहें तो पकने की अवधि पर बिल का भुगतान न मिलने की सम्भावना के बदले लिये गए बीमा पर जो धन-राशि व्यय हुई है उसे भी काट लें। लेनदार की साख जितनी ही अधिक होगी, जोखिम उतना ही कम होगा और जोखिम का प्रतिफल भी उतना ही कम रहेगा।

इस प्रकार दलालों द्वारा (जो एक सुसंस्थापित बैंक भी हो सकता है) बिलों के बट्टा करने से दो फायदे हैं। एक ओर तो दलाल बिलों में अपना रुपया लगा कर अपने विनियोग पर ब्याज कमा लेते हैं और दूसरी ओर जिस साह ने अपने ऋणी पर बिल लिखा है उसकी आवश्यकताओं को भी यह पूरा करते हैं जिससे व्यापार की वृद्धि होती है क्योंकि साह को बिल के पकने की अवधि का इन्तजार नहीं करना पड़ता।

बिलों का बट्टा करना जिस व्यक्ति के ऊपर वह लिखे गए हैं उसकी साख पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। यदि बिल किसी ऐसे व्यक्ति के ऊपर लिखे गए हैं जिसकी वैत्तिक स्थिति अच्छी

नहीं है या जो प्रतिष्ठित नहीं है तो बिल का बिकना भी कठिन हो जायगा। यदि सेठ डालमिया ने इंगलैण्ड के मिस्टर डेविड को सामान बेचा है और इस कारण उसके ऊपर एक बिल लिखा है परन्तु यदि मिस्टर डेविड इंगलैण्ड का एक साधारण सा अप्रतिष्ठित व्यक्ति है तो हो सकता है सेठ डालमिया का बिल कोई भी न खरीदे। क्योंकि ऐसे व्यक्ति के ऊपर लिखा गया बिल कौन खरीदेगा जिसकी प्रतिष्ठा न होने के कारण पकने की अवधि पर बिल का भुगतान न मिलने की काफी सम्भावना है? इस प्रकार के जोखिम को कम करने के लिए मिस्टर डेविड अपने देश के किसी प्रतिष्ठित कम्पनी पार्क्सन स्टेनले एण्ड कम्पनी को अपना एजेन्ट जिन्हें करेसपान्डैण्ट (correspondent) कहते हैं नियुक्त कर लेगा और बिल इन्ही के ऊपर लिखे जाने लगेंगे और यही बिलों के भुगतान के अन्ततः जिम्मेदार होंगे। बिल की 'स्वीकृति' एजेन्ट ही करते हैं और वही उनका भुगतान भी। एजेन्ट प्रायः देश का कोई बैंक या बैंक-सम्बन्धी कार्य करने वाला कोई फर्म होता है

यह आवश्यक नहीं है कि बैंक स्वदेश के किसी व्यक्ति के ऊपर लिखे गए बिलों को ही 'स्वीकृत' करे ; वह प्रायः विदेशी करेंसियों को भी काफी मात्रा में रखते हैं और विदेशियों के ऊपर लिखे गए बिलों को भी स्वीकार कर लेते हैं। लंदन के शहर में ऐसे सब बिल स्वीकार कर लिए जाते हैं जिनका ग्रेट ब्रिटेन के व्यापार से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। एजेन्ट का काम करने के लिए बैंक कुछ कमीशन लेते हैं।

भावी विनिमय—बैंकें व्यापारियों की एक अन्य सेवा भी करतीं हैं। वे उनके हाथ "भावी विनिमय" (forward exchanges) बेचते हैं और विनिमय दर की घट-बढ़ के कारण होने वाली हानि को पूरा करने की गारंटी देते हैं। मान लीजिए मोहन इंगलैण्ड का एक पौण्ड का माल आज खरीदता है, विनिमय-दर १ शिलिंग ६ पेंस = १ रुपया है और मोहन की अनुगणना के अनुसार तीन मास बाद १३$\frac{१}{३}$ रुपए भुगतान में देने पड़ेंगे। यदि तीन महीने बाद विनिमय दर १ शिलिंग ४ पेन्स = १ रुपया हो जाय तो मोहन को भुगतान स्वरूप १५ रुपए देने पड़ेंगे और इस प्रकार उसको हानि होगी। उसकी इस हानि को बचाने के लिए कोई बैंक उसको १३$\frac{१}{३}$ रुपया में एक पौंड का "भावी विनिमय" बेच देगा, फिर भले ही तीन मास बाद विनिमय दर १ शिलिंग ४ पेन्स हो जाय। समय आने पर मोहन पुरानी दर पर रुपए देकर बैंक से एक पौंड प्राप्त करेगा और अपना इंगलैंड का भुगतान कर देगा।

क्या इससे बैंक को हानि नहीं होगी? क्योंकि तीन महीने बाद वह रुपया की विनिमय-दर कम होने पर भी आज की दर पर ही मोहन को पौंड बचेगा। यदि ऐसा हुआ तो शीघ्र ही बैंक बंद हो जाएगा। परन्तु नहीं, हानि बचाने के लिए मोहन को भावी विनिमय का बेचान करते ही बैंक इंग्लैण्ड में १ शिलिंग ६ पेन्स की दर से १ पौंड खरीद कर लंदन की किसी बैंक में जमा कर देगा। फिर भले ही विनिमय-दर तीन महीने बाद १ शिलिंग ४ पेन्स हो जाए उससे बैंक को हानि न पहुँचेगी।

जिस प्रकार मोहन एक पौंड की भावी खरीद करना चाहता है उसी प्रकार सम्भव है कि कुछ लोग पौंड की भावी बिक्री करना चाहें क्योंकि उन्हें यह डर हो कि लगभग तीन महीने बाद जब उनके बिल (या हुंडी) पकेंगे तो उन्हें उस समय आज की विनिमय-दर से मिलने वाली रकम की अपेक्षा कम रकम मिलेगी। एक भारतीय को जिसको पौंड का भुगतान

१ शिलिंग ४ पेन्स पर मिलने वाला हो यह भय हो सकता है कि तीन महीने बाद यदि विनिमय-दर १ शिलिंग ६ पेन्स हो गई तो उसको रुपयों में कम भुगतान मिलेगा। अतः वह पौंड किसी बैंक के हाथ पहले से ही बेच देगा।

करेंसी का यह भावी क्रय-विक्रय ही "भावी विनिमय" व्यापार कहलाता है। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं "भावी विनिमय" विनिमय-दर की घट-बढ़ के कारण होने वाली हानि को रोकने का एक उपाय है।

स्वर्ण-मान न होने पर विनिमय-दर—इस प्रक्षेप के बाद हम फिर विनिमय-दर निर्धारण की समस्या पर आते हैं। जैसा हम देख चुके हैं, स्वर्ण मान होने पर समस्या साधारण रहती है। यदि स्वर्ण मान न हो तब क्या होगा? जब से कुछ देशों में स्वर्ण-मान का प्रचलन उठ गया है, अर्थशास्त्री विदेशी विनिमय-दर के निर्धारण की व्याख्या करने के लिए एक सही सिद्धान्त की खोज कर रहे हैं।

निरपेक्ष क्रय-शक्ति-समानता सिद्धान्त—इस सम्बन्ध में दो सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं—(१) क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त और (२) भुगतान संतुलन सिद्धान्त। हम क्रय-शक्ति-समानता सिद्धांत पर पहले विचार करेंगे।

मान लीजिए कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका में १२५० डालर वस्तुओं और सेवाओं (यथा गेहूँ, कमीज़, घरादि) की एक निश्चित मात्रा खरीदते हैं और फ्रांस में १०,००० फ्रांक उतनी ही और उसी प्रकार की वस्तुएं और सेवाएं क्रय करते हैं। तब अमरीका और फ्रांस के बीच विनिमय की दर होगी १२५० डालर =१०,००० फ्रांक अर्थात् १ डालर=८० फ्रांक। दो देशों में संस्थिति विनिमय-दर ऐसी होगी कि एक करेंसी देश में उतनी ही वस्तुएं तथा सेवाएं क्रय करेगी जितनी दूसरी करेंसी अपने देश में। अन्य शब्दों में विनिमय दर ऐसी होगी कि दोनों करेंसियों की क्रय-शक्ति समान रहे। विनिमय-दर अपने अपने देश में करेंसी की क्रय-शक्ति को समान बना देती है। इसी को निरपेक्ष क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त कहते हैं। इसके साथ श्री गस्तव कैसेल (Gustav Cassel) का नाम लिया जाता है क्योंकि उन्होंने इसको सर्वसाधारण में प्रचलन किया था। जिस प्रकार स्वर्ण मान के अंतर्गत संस्थिति विनिमय दर उस टकसाली दर पर निश्चित होती है जिससे दोनों पक्ष की मुद्रा-मात्राओं में स्वर्ण की समान मात्रा होती है उसी प्रकार स्वर्ण-मान रहने पर स्थिति में विनिमय-दर दोनों मुद्राओं की क्रय-शक्ति की समानता विन्दु पर निर्धारित होती है।

हमने ऊपर देखा था कि अमरीका और फ्रांस में विनिमय-दर १ डालर =८० फ्रांक होगी क्योंकि उस पर क्रय-शक्तियाँ समान होती हैं। यदि विनिमय दर १ डालर=७० फ्रांक हो तो क्या होगा?

जिस मनुष्य के जेब में ७० फ्रांक होंगे वह उनसे एक डालर खरीदेगा, इस डालर को देकर अमरीका से वस्तुओं और सेवाओं की एक मात्रा प्राप्त करेगा और उन्हें फ्रांस में ८० फ्रांक पर बेच कर १० फ्रांक का लाभ उठा लेगा। (एक डालर का माल फ्रांस में फ्रांक का बिकेगा क्योंकि हमने उदाहरण में यही माना है)। इस प्रकार अनेकों व्यापारी लाभ उठाएँगे। स्वभावतः फ्रांक में डालर की माँग बढ़ जायगी और डालर का मूल्य भी बढ़ेगा। अंततः एक डालर ८० फ्रांस में मिलेगा। इसी प्रकार यदि एक डालर=९० फ्रांक है तो उपर्युक्त

वर्णित ढंग से विपरीत घटनाएं होंगी और पुनः १ डालर=८० फ्रांक के बराबर हो जाएगा। इस बार अमरीकी व्यापारी सामने आएंगे, फ्रांक सस्ता होने के कारण उनकी फ्रांक की माँग तब तक बढ़ेगी जब तक फ्रांक का मूल्य पुनः संस्थिति-दर पर नहीं पहुँच जाता।

इस प्रकार इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक कहते हैं कि विनिमय-दर तभी संस्थिति पर होगी जब दोनों पक्ष समान क्रय-शक्ति रक्खें। यदि कोई भिन्न दर स्थापित हो जाए तो वह अंततः संस्थिति-दर पर ही आ जायगी। जिस प्रकार स्वर्ण मान के अंतर्गत घट-बढ़ संतुलित हो जाती है उसी प्रकार स्वर्ण -मान न रहने की दशा में भी वे संतुलित होती है। अंतर केवल यह है कि स्वर्ण-मान के अंतर्गत घट-बढ़ धातु विन्दुओं (specic points) के भीतर सीमित होती है, स्वर्ण मान न रहने की दशा में ऐसे निश्चित सीमा-विन्दु नहीं होते।

निरपेक्ष क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त निम्नलिखित कारणों से अमान्य कहा जाता है। यह मान लेता है कि जब विनमय-दर एक डालर=७० फ्रांक है तो फ्रांसीसी व्यापारी जिन्होंने प्रति डालर ७० फ्रांक व्यय करके अमरीकी माल खरीद लिया है उसको सरलतापूर्वक फ्रांस ला सकेंगे जिससे वे उसे ८० फ्रांक की दर से बेच सकें। परन्तु अमरीका में घर को किस प्रकार उठाकर लाया जा सकता है? इस प्रकार की वस्तुएँ जितनी अधिक होंगी उतना ही यह कठिन होगा कि फ्रांसीसी व्यापारी अमरीकी माल खरीद कर फ्रांस में बेचने के लिए अधिक डालर की मांग करें। स्वभावतः डालर के अर्घ में भी उतनी ही कम वृद्धि होगी और सम्भव है कि एक बार मूल्य बदल जाने पर वे फिर कभी ८० फ्रांक न हो सके।

डालर की माँग इस पर निर्भर है कि फ्रांस और अमरीका के बीच होने वाले व्यापार की वस्तुओं की क्या माँग है? अधिक विस्तार पूर्वक हम यों कहेंगे कि किसी देश की करेंसी की माँग उस देश की उन वस्तुओं की मांग से सम्बन्धित है जिनका अंतर्राष्ट्रीय व्यापार होता है या हो सकता है। और यही वस्तुएं डालर के अर्घ पर प्रभाव डालेंगी। तब भी कभी कभी प्रभाव इतना नहीं होता कि अंततः विनिमय-दर अवस्य ही संस्थिति विनिमय-दर पर पहुँच जाए। जब १ डालर=७० फ्रांक की दर है, तब सम्भव है कि डालर की माँग इतनी अधिक न हो कि पुनः अंततः १ डालर=८० फ्रांक हो क्योंकि अमरीका से गहूँ, कमीज़ और इस्पात लाने को इच्छुक व्यापारियों की संख्या अधिक न हो। माँग की यह कमी इस कारण हो सकती है कि फ्रांस में अंतर्राष्ट्रीय वस्तुओं का क्रय-विक्रय करने वाले व्यापारी कम संख्या में हैं। एक कारण यह भी हो सकता है कि अमरीका से फ्रांस तक माल लाने का यातायात व्यय इतना अधिक हो कि माल को फ्रांस में पुनः बेचने से कोई लाभ न मिले।

अतः व्यवहार में इस सिद्धान्त का प्रयोग करना कठिन है। हम एक डालर और एक फ्रांक की क्रय-शक्तियों की तुलना सरलता से नहीं कर सकते। एक डालर वस्तुओं और सेवाओं की भिन्न मात्रा और प्रकार पर व्यय किया जाता है और फ्रांक किन्हीं दूसरी पर। यदि एक डालर **ख** खरीदता है और ८० फ्रांक **ख₁** तो हम कैसे कह सकते हैं कि १ डालर=८० फ्रांक के। यह तो तभी सम्भव होगा जब १ डालर और ८० फ्रांक दोनों **ख** को ही खरीद सकें। व्यवहार में सभी ऊपरी सादृश्यता के बजाय भी प्रत्येक मुद्रा द्वारा खरीदी वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा और प्रकार समान नहीं हो सकते।

सिद्धान्त की दूसरी व्याख्या—इस सिद्धान्त की दूसरी व्याख्या कम दावा करती है। हम देख चुके हैं कि पहली व्याख्या अर्थात् निरपेक्ष क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त, जिसके बारे

में यह दावा किया जाता है कि वह संस्थिति-विनिमय-दर निर्धारित कर सकता है, असंतोष-जनक है। हम देखेंगे कि दूसरी व्याख्या भी पूर्ण मान्य नहीं है। इसका दावा भी अधिक नहीं है क्योंकि, उदाहरणार्थ, यह संस्थिति-विनिमय-दर निर्धारित नहीं करती। यह केवल इतना ही बताती है कि जब किसी मुद्रा की क्रय-शक्ति में किसी दूसरी मुद्रा की क्रय शक्ति की अपेक्षा अधिक परिवर्तन होता है तो संस्थिति-विनिमय-दर में एक निश्चित ढंग से परिवर्तन हो जाता है। इसके अंतर्गत केवल यही व्याख्या करते हैं कि जब दो पारस्परिक व्यापार करने वाले देशों में मूल्यों का सापेक्षिक परिवर्तन हो जाता है तो संस्थिति-विनिमय-दर में क्या परिवर्तन होगा। इस प्रकार यह संस्थि ति-विनिमय-दर को उपपत्ति रूप में मान लेती है और उसकी व्याख्या नहीं करती।

मान लीजिए भारत और इंगलैण्ड में संस्थिति-विनिमय-दर एक रुपया = १ शिलिंग ६ पेन्स है और किसी आधार वर्ष के मूल्यों की तुलना में भारतीय मूल्य चौगुने हो गए हैं परन्तु इंगलैण्ड के मूल्य केवल दुगुने जिससे पहले की अपेक्षा भारतीय रुपया और अंग्रेजी पौंड क्रमशः चौथाई और आधी वस्तुएं ही खरीद सकते हैं। तब इंगलैण्ड की तुलना में भारतीय मूल्यों की सापेक्षिक वृद्धि दुगुनी होगी। जिस वस्तु का मूल्य इंगलैंड वाले पहले 'ख' रुपया देते थे उसी के लिये अब उन्हें २ ख रुपया देना पड़ेगा। परन्तु अंग्रेज़ व्यापारी चतुर है। वह अपनी हानि को बचाने के लिए विनिमय की दर में ऐसा परिवर्तन करेगा कि ख रुपए के लिए उसे पहले जितने पौंड देने पड़ते थे उतने ही पौंड के अब २ ख रुपए मिल जाएं जिससे भारतीय मूल्यों में होने वाले परिवर्तन के कारण उसे हानि न हो। इस प्रकार जब सापेक्षिक दृष्टि से भारतीय मूल्य दुगुने हो जाते हैं तो रुपए की पौंड में विनिमय-दर पहले से आधी हो जाती है। अब २ रुपए = १ शिलिंग ६ पेन्स हुए अर्थात् विनिमय की दर होगी १ रुपया = ९ पेन्स। यदि भारतीय मूल्य सापेक्षिक दृष्टि से तिगुने हो जाएंगे तो पौंड में भारतीय रुपए की विदेशी विनिमय दर तिहाई हो जाएगी। परन्तु इन सब में एक महत्वपूर्ण उपपत्ति निहित है—अंग्रेज़ व्यापारी की भारतीय वस्तुओं की मांग-लोच एक है क्योंकि पूर्ववत वह उतने ही पौंड व्यय करता है। केवल विदेशी विनिमय दर ऐसी है कि उसके पौंड अब भी उतनी ही भारतीय वस्तुएं लाते हैं जितनी वे पहले मूल्यों और पुरानी विदेशी विनिमय-दर पर लाते थे।

गणितात्मक भाषा में हम कह सकते हैं:—

$$\text{अंग्रेज़ी मुद्रा में रुपए का वर्तमान मूल्य} = \text{आधार वर्ष में विनि-मय-दर} \times \frac{\text{वर्तमान बृटिश मूल्य देशनांक}}{\text{वर्तमान भारतीय मूल्य देशनांक}} \times \frac{\text{आधार वर्षीय भारतीय मूल्य देशनांक}}{\text{आधार वर्षीय बृटिश मूल्य देशनांक}}$$

यदि हम सम्बन्धित अंकों को सही स्थान पर रखें तो इस सूत्र से हम विदेशी विनिमय-दर निकाल सकते हैं। यदि संस्थिति विनिमय-दर एक रुपया = १८ पेन्स है, आधार वर्षीय भारतीय मूल्य देशनांक १००, वर्तमान भारतीय मूल्य देशनांक ४००, आधार वर्षीय बृटिश मूल्य देशनांक १०० और वर्तमान बृटिश मूल्य देशनांक २००, तो अंग्रेज़ी मुद्रा में रुपए का वर्तमान मूल्य ९ पेन्स होगा:—

$$\text{वर्तमान मूल्य} = १८ \times \frac{२००}{४००} \times \frac{१००}{१००} = ९$$

क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त की यह व्याख्या निम्नलिखित कारणों से अमान्य है —.

(१) ये संस्थिति-विनिमय-दर की व्याख्या नहीं करती, अपितु उसे मान लेती है।

(२) यह विश्लेषण प्रत्येक देश के मूल्य देशनांकों पर निर्भर है और इन देशनांकों में ऐसी वस्तुओं के मूल्यों की गणना होती है जिनका अधिकांशतः अंतर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होता। परन्तु हम देख चुके हैं कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं का ही विदेशी विनिमय दर के निर्धारण पर प्रभाव पड़ता है।

(३) उक्त विश्लेषण में यह मान लिया जाता है कि विदेशी व्यापारियों की देशीय वस्तुओं की माँग-लोच एक है। यह अनिवार्यतः सत्य नहीं है। जब इंगलैंड की अपेक्षा भारत में मूल्य बढ़ते हैं तो अंग्रेज़ व्यापारियों द्वारा भारतीय वस्तुओं पर होने वाले व्यय की मात्रा सरलता से पहले से भिन्न हो सकती है और इस दशा में उक्त माँग-लोच एक न बनी रहेगी।

(४) जिस प्रकार मूल्य-तलों का विदेशी विनिमय-दर पर प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार विदेशी विनिमय-दर का मूल्य तलों पर प्रभाव पड़ सकता है। ऐसी दशा में उक्त सिद्धान्त (या व्याख्या) गलत हो जाएगा। उदाहरणार्थ यदि किसी देश की मुद्रा का मूल्य-ह्रास हो जाता है तो फलतः होने वाली निर्यात वृद्धि के कारण उत्पादन की अधिक सस्ती विधियों का अविष्कार हो सकता है और मूल्य घट सकते हैं।

(५) विदेशी विनिमय-दर के निर्धारण पर विदेशी मुद्रा के व्यापारियों की सट्टेबाजी और पूँजी के स्थानांतरण का उतना ही प्रभाव पड़ता है जितना वस्तुओं और सेवाओं के क्रय-विक्रय का। इस सिद्धान्त में यह मान सा लिया गया है कि विनिमय-दर पर केवल वस्तुओं और सेवाओं के स्थानांतरण तथा उनके मूल्य-परिवर्तन का ही प्रभाव पड़ता है।

(६) अंत में उपर्युक्त सूत्र में यह उपपत्ति निहित है कि मूल्य-परिवर्तन द्वारा विनिमय-दर का इस प्रकार निर्धारण होता है कि सब में समान घट-बढ़ होती है। परन्तु आवश्यक नहीं कि ऐसा ही हो और अकसर ऐसा होता भी नहीं। कोई मूल्य अधिक बढ़ सकता है और कोई कम। अतः किसी वस्तु पर विदेशी द्वारा व्यय कम हो सकते हैं, किसी पर अधिक। इनका विभिन्न विनिमय-दरों पर भिन्न प्रभाव पड़ेंगे।

विदेशी विनिमय का भुगतान-संतुलन सिद्धांत—संस्थिति का यह मूलाधार सिद्धान्त कि जितना हमें मिले विनिमय में हम उससे न अधिक दें न कम, देशों के बीच होने वाले विनिमय-व्यापार पर उतना ही लागू है जितना किसी देश के नागरिकों के आपसी विनिमय पर। उदाहरणार्थ, यदि **अ** देश और **ब** देश में वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय होता है तो **अ** तभी संस्थिति पर होगा जब उसे **ब** से खरीदी वस्तुओं और सेवाओं के लिए वही देना पड़े जो उसे अपनी वस्तुओं और सेवाओं को **ब** के हाथ बचने से मिला है। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि **अ** के भुगतान और प्राप्ति की तुलना नहीं की जा सकती। **अ ब** की करेंसी में भुगतान करेगा और अपनी करेंसी में भुगतान पाएगा। अतः दो भिन्न करेंसी की मात्रा की तुलना कैसे की जा सकती है? भारत को दिये रुपयों की तुलना अमरीका को दिये डालर से कैसे हो सकती है? शायद यह ठीक है, परन्तु यदि हमको ज्ञात हो कि एक डालर कितने रुपए से विनिमित होता है तो हम डालर के रुपए बना कर रुपयों की दोनों मात्राओं की तुलना कर

सकते हैं। **अ** के भुगतान और प्राप्ति की तुलना करने से हमारा यही अभिप्राय था। **अ** के भुगतान और प्राप्त को **अ** की करेंसी में ही निकाल कर हम पता लगाएँगे कि **अ** का भुगतान प्राप्ति के बराबर है या नहीं। यदि दोनों बराबर हैं तो हम कहेंगे कि जिस दर से हमने **ब** की करेंसी को **अ** की करेंसी में पलटा था वह संस्थित-विनिमय दर है। **अ की मुद्रा में अ के भुगतान और प्राप्ति का बराबर होना ही अ की संस्थिति की मूल शर्त है।** हम कह सकते हैं कि किसी भी देश की संस्थिति के लिए यह मूल शर्त है। यदि भुगतान प्राप्ति के बराबर नहीं है तब लाभ या हानि होगी जिससे क्रय-विक्रय में घट-बढ़ होगी। क्रय-विक्रय का परिवर्तन अ-संस्थिति का प्रतीक है। परन्तु व्यवहार में हम यह कैसे निश्चय करेंगे कि संस्थिति विनिमय-दर क्या हो? अर्थात् विनिमय-दर कितनी हो कि **अ** की करेंसी में निकाले उसके द्वारा दिए भुगतान और उसकी प्राप्ति बराबर हो जाय। इस दर को कैसे निर्धारित करें?

शायद, हम कुछ ऐसा अनुगणन कर सकते हैं? हम एक दी स्थिति मान लेंगे। आदतें, आय, उत्पादन विधि जन संख्या और इसी प्रकार के अन्य साधनों पर (जो उस स्थिति में दोनों देशों में पाई जायँ) विचार करके हम विभिन्न काल्पनिक विनिमय-दरों पर **अ** और **ब** की एक दूसरे की करेंसी माँग का अनुमान (या कल्पना) लगाएंगे। (हम उस स्थिति की चालू वास्तविक विनिमय-दर की कोई खबर नहीं लेंगे।) हम केवल यह कल्पना करेंगे कि किसी विनिमय-दर पर **अ ब** से उसकी कितनी करेंसी की माँग करेगा और **ब अ** से उसकी कितनी करेंसी मांगेगा? इस प्रकार विभिन्न विनिमय-दरों पर **अ** और **ब** की अपनी अपनी माँग की सारिणी तैयार हो जाएगी। **अ** को **ब** की जितनी करेंसी की माँग होगी वह **अ** द्वारा **ब** को देय भुगतान के कारण होगी। अतः **अ** की करेंसी माँग की सारिणी हमको **अ** के देय-भुगतान भी बताएगी और **ब** की **अ**-देशीय करेंसी की माँग सारिणी **ब** के देय-भुगतानों की सारिणी होगी। इस प्रकार विनिमय-दर की सारिणी के साथ हमको दो भुगतानों की सारणियाँ मिल जाएंगी—एक तो **अ** द्वारा किए भुगतान की और दूसरी **ब** द्वारा **अ** को किए भुगतान की। हम इन्हीं सारणियों पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे। आइए सारणी में दिए विनिमय-दरों पर **अ**-द्वारा **ब** को किए जाने वाले भुगतान पर विचार करें। हम नीचे दो विनिमय-दरों और उन पर **अ** द्वारा **ब** को दिए भुगतान के उदाहरण को लेंगे।

मान लीजिए **ख अ**-देशीय करेंसी है और **ग ब**-देशीय करेंसी और (१) १ **ख**=३ **ग** तथा (२) १ **ख**=२ **ग**।

जब विनिमय-दर १**ख**=३ग के स्थान पर १**ख**=२ग हो जाती है तब **अ** को **ब** देशीय करेंसी पहले से महंगी पड़ेगी, क्यों जहाँ पहले ३गके लिए **अ** १ **ख** देता था अब उसे $\frac{3}{2}$ **ख** इकाइयाँ देनी पड़ेंगी। यहाँ हम यह उपपत्ति कर लेते हैं कि यातायात-लागत शून्य है, यद्यपि इसे न करने से भी हमारे तर्क में सारतः कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। अस्तु स्थिति को फिर समझ लीजिए। नई विनिमय दर ऐसी है कि **अ** की करेंसी को प्रत्येक इकाई के बदले अब **ब** की करेंसी पहले से कम मिलती हैं अर्थात् **अ** की करेंसी सस्ती हो गई है अथवा कह लीजिए कि **ब** की करेंसी महंगी हो गई है। तब माँग के नियम के अनुसार **अ ब**-देशीय करेंसी की कम माँग करेगा अर्थात् वह '**ब**' को अब कम भुगतान देगा। हम सामान्य निष्कर्ष स्वरूप यह कह सकते हैं कि जब **ब**-देशीय करेंसी की क्रमागत कम मात्रा **अ** की करेंसी की उसी मात्रा से विनिमित होती है तब **अ** द्वारा किए भुगतान घटेंगे। जब विनिमय में **ब**-देशीय करेंसी की क्रमागत अधिक मात्रा मिलेगी तब विपरीत फल होगा और **अ** अधिक भुगतान करेगा

क्योंकि **ब** की करेंसी सस्ती हो जाने के कारण उसे अधिक खरीदा जाएगा। यह स्पष्ट है जब **१ख** = **२ग** तब **३ग** के लिये **अ** को $\frac{3}{2}$**ख** अपनी करेंसी देनी पड़ती थी। अब यदि **१ख** = **३ग** तो **३ग** के लिए **अ** केवल **१ख** देगा। स्वभावतः अब **अ** **ब**-देशीय करेंसी की अधिक मात्रा खरीदेगा और अधिक भुगतान करेगा।

इस प्रकार हम समझ गए कि विभिन्न विनिमय दरों पर **अ** द्वारा **ब** को किए भुगतान की सारिणी किस प्रकार की होगी। जब विनिमय-दर ऐसी है कि **अ**-देशीय करेंसी की उसी मात्रा के बदले में **ब**-देशीय करेंसी की अधिक मात्रा मिले तब **अ** द्वारा **ब** को अधिक भुगतान किया जायगा। जब विनिमय-दर ऐसी है कि **अ**-देशीय करेंसी की उसी मात्रा के विनिमय में **ब**-देशीय करेंसी की कम मात्रा मिलती है तब भुगतान कम होंगे। नीचे दिये चित्र द्वारा भी यही बात दिखाई गई है :—

विनिमय-दर अर्थात **अ** की उसी करेंसी के लिए प्राप्त **ब** की करेंसी की मात्रा
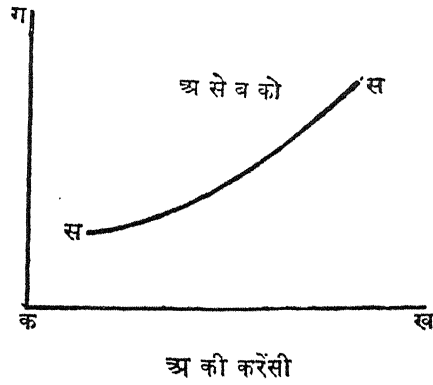
ख-अक्ष पर **ब** को दी **अ**-देशीय करेंसी दिखाई गई है। **ग**-अक्ष पर **अ** की करेंसी उसी मात्रा के बदले में मिलने वाली **ब** की करेंसी की मात्राएं दिखाई गई हैं। हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त विनिमय-दर की उस काल्पनिक सारिणी को **ग**-अक्ष पर निरूपित किया गया है जिस पर संस्थिति-दर निकालने के लिए विचार कर रहे हैं। वक्र **स स** यह दिखाता है कि जैसे जैसे **अ**-देशीय करेंसी की विनिमय दर बढ़ती है, **अ** द्वारा दी करेंसी की मात्रा भी बढ़ती जाती है।

ब द्वारा **अ** को किए भुगतान की सारिणी कैसी होगी? उसका रूप **अ** की भुगतान सारिणी का उलटा होगा। जब **अ** की करेंसी की उसी मात्रा के बदले में **ब** की करेंसी की क्रमागत कम मात्रा देनी पड़ेगी। तब **ब** के लिए **अ** की करेंसी पहले से सस्ती पड़ेगी। उदाहरणार्थ, यदि पहले १ **ख** के लिए **३ग** **ब**-देशीय करेंसी देनी पड़ती थी विनिमय-दर **१ख** = **२ग** होने पर (यातायात-लागत शून्य मानकर) **ब** को केवल **२ग** अर्थात् पहले से कम करेंसी देनी पड़ेगी और इसलिए **ब** अब **अ**-देशीय अधिक करेंसी देगा। इस प्रकार हम सामान्य निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि कल्पित विनिमय-दर घटेगी, **ब** के भुगतान बढ़ेंगे। यदि हम **अ** के भुगतान-वक्र के साथ **ब** का भुगतान वक्र भी दिखाएं तो चित्र अगले पृष्ठ पर दिए गए चित्र की भाँति होगा :—

द द वक्र यह बताता है कि **अ**-देशीय करेंसी की विनिमय-दर (या **अ** की करेंसी की उसी मात्रा के लिए प्राप्त ब-देशीय करेंसी की मात्रा) घटने के साथ अ-देशीय करेंसी में **ब** अधिकाधिक भुगतान **अ** को करेगा ।

विनिमय-दर अर्थात् **अ** की करेंसी की उसी मात्रा के लिए प्राप्त **ब**-देशीय करेंसी की मात्राएं
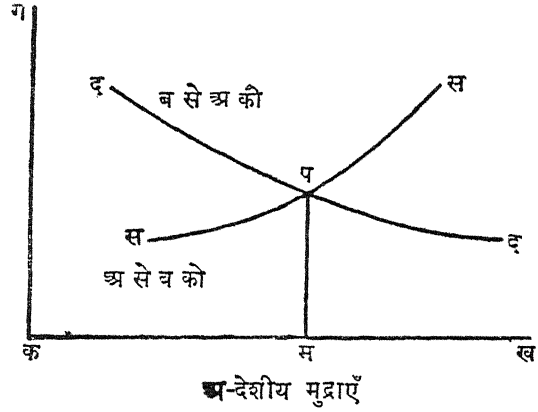
क ख-अक्ष पर निरूपित कल्पित विनिमय-दर की सारिणी से सम्बन्धित अ-देशीय करेंसी में **अ** तथा **ब** द्वारा दिए भुगतान के दोनों वक्रों के चित्र से स्पष्ट है कि **प** विन्दु पर **अ** संस्थिति पर होगा क्योंकि वहाँ उसका दिया भुगतान **ब** के भुगतान के बराबर है। ध्यान रहे कि इस व्याख्या में हमने रुचि, आय, जनसंख्या आदि दी हुई मान ली हैं। **प** विन्दु द्वारा सूचित विनिमय-दर ही संस्थिति विनिमय-दर होगी। स्पष्टतः **अ**-देशीय करेंसी की इकाई का विनिमय **ब**-देशीय करेंसी की **प म** इकाइयों से होगा और **अ** की करेंसी की विदेशी विनिमय-दर **१ख = प म ब**-देशीय करेंसी होगी। ध्यान रहे कि कल्पित स्थिति की इसी विनिमय-दर का वास्तव में होना आवश्यक नहीं है। यह तो केवल वह विनिमय-दर है जिस पर दी स्थिति में **अ** संस्थिति पर होगा।

संस्थिति-विनिमय-दर निर्धारित करने वाला यह **प** विन्दु क्या है ? यह **द द** और **स स** वक्रों का मिलन विन्दु है और ये वक्र क्रमशः **ब** द्वारा **अ** को और **अ** द्वारा **ब** को दिए भुगतान की सारिणी को निरूपित करते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि **अ** और **ब** एक दूसरे को जो भुगतान करते हैं उनकी सारणियों द्वारा ही संस्थिति-विनिमय-दर निर्धारित होती है। क्योंकि **प** विन्दु पर **अ** द्वारा दिए और **ब** द्वारा दिए (एक दूसरे को) भुगतान समान है, अतः हम कह सकते हैं कि भुगतानों की समानता द्वारा संस्थिति-विनिमय-दर निर्धारित होती है। इसी कारण उपर्युक्त व्याख्या का नाम विदेशी विनिमय का भुगतान-संतुलन सिद्धान्त है।

यह स्पष्ट ध्यान रहे कि जब उक्त सिद्धान्त यह बताता है कि भुगतानों के संतुलन द्वारा विनिमय-दर निर्धारित होती है तब उसका आधार कल्पित भुगतान की सारणियाँ हैं, न कि दी स्थिति के वास्तविक भुगतान। परन्तु इस सिद्धान्त के कुछ आलोचकों ने सिद्धान्त के भुगतानों को वास्तविक मानने की गलती की है और फिर वे कहते हैं कि सिद्धान्त अमान्य है।

हम इस सिद्धान्त को तब तक नहीं त्याग सकते जब तक हम अर्थशास्त्र में अर्घ के सामान्य सिद्धान्त अर्थात् प्रचलित माँग और पूर्ति के सिद्धान्त को गलत न मान लें। यदि हम ध्यान

दें तो यह सिद्धान्त विदेशी विनिमय का माँग और पूर्ति सिद्धान्त ही है: वस्तुतः कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त का यह नामकरण किया है। **अ** द्वारा **ब** को दिए और **ब** द्वारा **अ** को दिए भुगतान की सारणियाँ क्या हैं ? ये क्रमशः **ब**-देशीय करेंसी के लिए **अ**-देशीय करेंसी की पूर्ति और माँग की सारिणियाँ ही तो हैं। **अ** द्वारा किए भुगतान को हम कह सकते हैं कि **अ** अपनी मुद्रा इसलिए उपलब्ध बना रहा है ताकि **ब** की करेंसी से उसका विनिमय करके भुगतान किया जा सके, क्योंकि स्वभावतः **ब** अपनी करेंसी में ही भुगतान लेना पसंद करेगा।

इस प्रकार **अ** द्वारा किए प्रत्येक भुगतान में **अ**-देशीय करेंसी की पूर्ति निहित है। **ब** द्वारा किया भुगतान **ब**-देशीय मुद्रा के बदले **अ**-देशीय करेंसी की माँग है। अतः यह कहा जा सकता है कि **ब** को दिए **अ** के भुगतान की सारणी **अ**-देशीय करेंसी की पूर्ति सारणी है, तथा **अ** को दिए **ब** के भुगतान की सारणी **अ**-देशीय करेंसी की माँग सारणी है। तब यह न कहकर कि कि विनिमय-दर एक दूसरे को दिए **अ** और **ब** के भुगतान की सारणियों द्वारा निर्धारित होती है, हम कहेंगे कि विनिमय-दर **ब**-देशीय करेंसी के विनिमय में दी जाने वाली **अ**-देशीय करेंसी की पूर्ति और माँग की सारिणयों द्वारा निर्धारित होती है। इस नए कथन से भी वही अर्थ निकलेगा। अब हम पूछ सकते हैं कि इसमें और उस प्रचलित अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त में क्या अंतर है जिसमें यह कहते हैं कि किसी वस्तु का अर्घ माँग और पूर्ति की सारिणियों के मिलन-विन्दु पर निर्धारित होता है। विनिमय-दर जिससे यह पता चलता है कि **अ**-देशीय करेंसी की एक इकाई के बदले **ब**-देशीय करेंसी की कितनी मात्रा मिलेगी, केवल **अ**-देशीय करेंसी का **ब**-देशीय करेंसी में मूल्य ही तो है और यथार्थतः विदेशी विनिमय का यह सिद्धान्त यही बताता है कि **अ**-देशीय करेंसी का संस्थिति अर्घ उसकी (**ब**-देशीय मुद्रा में) माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। यह उसी प्रकार है जैसे हम कहें कि एक सेर (सेर को भार की इकाई मानकर) गेहूँ का अर्घ रुपए में उसके बदले मिलने वाले गेहूँ की माँग और पूर्ति पर निर्भर है। यदि गेहूँ के विषय में यह अर्घ सम्बन्धी कथन सत्य है तो **अ**-देशीय करेंसी का अर्घ सम्बन्धी सिद्धान्त भी सही होगा ही, क्योंकि सारतः दोनों कथन समान हैं।

यह फिर भी स्मरणीय है कि पूर्ति और माँग से हमारा तात्पर्य काल्पनिक पूर्ति और माँग की सारिणियों से है, न कि वस्तु की वास्तव में पूर्ति और माँग से। वास्तविकता की दृष्टि से जो कुछ दिया गया है वह जो कुछ माँगा गया है उसके बराबर होगा। सिद्धांत की यह आलोचना कि पूर्ति और माँग सदैव बराबर होते हैं और इसलिए वे विनिमय-दर को निर्धारित नहीं कर सकते केवल इस गलत धारणा के कारण हैं कि पूर्ति और माँग का अर्थ है वास्तविक पूर्ति और वास्तविक माँग। परन्तु जैसा हम ऊपर बता चुके हैं माँग और पूर्ति का यह अर्थ लगाना गलत है। जैसा अर्थशास्त्र में सदैव होता है यहाँ भी पूर्ति और माँग काल्पनिक और सारणी के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं और इन पर आधारित सिद्धान्त तब तक अकाट्य रहेगा जब तक हम अर्घ के सामान्य-सिद्धान्त के कथन का खंडन न करदें।

भाग—८

साख तथा बैंकिंग

अध्याय ४९

साख तथा साख-पत्र

रुपये के दीवानों को छोड़कर आजकल मुद्रा को कोई भी इतना महत्व नहीं देता जो एक शताब्दी पहले इसे प्राप्त था। इधर कुछ समय से संसार में इतने भारी तथा महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं कि मुद्रा साख की एक 'छोटी श्रृंखला' मात्र रह गई है। आजकल सरकारें नहीं वरन् बैंकें ही द्रव्य का निर्माण करती हैं। यह ठीक है कि राष्ट्रीय सरकार ही सिक्के तथा रेजगारी को घोषित करती तथा निकालती है, परन्तु यह केन्द्रीय तथा व्यापारिक बैंकों को प्रमुख द्रव्य निकालने की आज्ञा दे देती है। निःसन्देह हम सिनेमा टिकट तथा फल-तरकारी आदि आवश्यक वस्तुएं अब भी मुद्रा से खरीदते हैं, परन्तु यह साख तथा साख-पत्रों की सहायता से (विशेषतः थोक बाजार में) खरीदे जाने वाली सिक्योरिटी तथा अन्य वस्तुओं के कीमत का एक अंश मात्र ही है। वर्तमान उद्योग तथा व्यापार के इन्हीं आवश्यक अंगों—साख, साख-पत्र तथा साख निर्माता—का हम इस अध्याय में अध्ययन करेंगे।

साख की परिभाषा तथा प्रकृति—साख का शाब्दिक अर्थ 'विश्वास' है, परन्तु अर्थ-शास्त्र में इसका एक विशेष वैज्ञानिक अर्थ है। अर्थशास्त्र में साख मनुष्य की उस शक्ति को कहते हैं जिसके द्वारा वह ऋणदाता को अपनी ईमानदारी तथा धन वापिस कर देने की योग्यता का विश्वास दिला देता है और जिसके आधार पर वह मूल्यवान वस्तु या द्रव्य, जिनका भुगतान वह उसी समय न कर भविष्य में किसी समय दे देने का वचन दे, ले लेता है। व्यक्ति कितनी मात्रा में दूसरों से द्रव्य उधार ले सकता है यही उसकी साख का माप है। ऋण-दाता के दृष्टिकोण से यह भुगतान पाने का एक अधिकार है और ऋण लेने वाले की दृष्टि से भविष्य में किसी समय या माँगने पर भुगतान देने का एक वचन। अन्य शब्दों में उधार लेने वाली की दृष्टि से जो ऋण है वही ऋणदाता की दृष्टि से साख है। जब कोई बैंकर यह कहता है कि उसने पांच लाख रुपए का उधार दिया है तो उसका तात्पर्य यह होता है कि वह पांच लाख रुपया पाने का अधिकारी है। दूसरी ओर जब कोई व्यापारी यह कहता है कि उसने एक लाख रुपया उधार लिया है तो वह यह बताता है कि उस पर इतनी मात्रा में ऋण है। एक दृष्टि से साख उधार देने की एक क्रिया है जिसमें भुगतान टाला जाता है या जिसमें दीर्घकाल तक विनिमय होता रहता है। दूसरे शब्दों में इसमें अर्घ का हस्तांतर होता है जिसमें द्रव्य का भुगतान भविष्य में किया जाता है। प्रत्येक दिन यह उधार बिक्री या ऋण—इन दोनों में से किसी भी रूप में—सन्मुख आ सकता है।

क्या साख पूँजी है?—रिकार्डो का मत था कि "साख वह साधन है जो एक से दूसरे के पास क्रमशः आता-जाता रहता है जिससे उपलब्ध पूंजी का प्रयोग हो सके; यह पूँजी का निर्माण नहीं करता, केवल यह निर्धारित करता है कि पूंजी का प्रयोग किसके द्वारा होगा"। जे० एस० मिल भी इस कथन से सहमत दीख पड़ते हैं क्योंकि उनका कहना है कि "साख दूसरे की पूंजी का प्रयोग करने की एक आज्ञा मात्र है, उत्पादन के साधन इससे बढ़ नहीं सकते केवल उनका हस्तांतरण हो सकता है।"

निःसंदेह साख के द्वारा पूंजी एक व्यक्ति से दूसरे के पास (जो उसे अधिक लाभप्रद कार्य में लगाता है) आ जाती है और इस प्रकार पूँजी की उत्पादकता बढ़ जाती है।

परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि साख के कारण अतिरिक्त पूँजी, पदार्थ या संपत्ति पैदा होते हैं? साधारणतया ऐसा केवल अप्रत्यक्ष रूप से कीमतों के बढ़ जाने के कारण (जिसके फलस्वरूप उपभोग कम तथा उत्पादन बढ़ जाता है) ही होता है। प्रत्यक्ष रूप से ऐसा तभी सम्भव है जब साख के कारण गढ़ी हुई सम्पत्ति उत्पादन के कार्य में लगाई जाय। परन्तु साख पूंजी पदार्थ को बढ़ाने के साथ ही पूँजी को भी बढ़ा सकता है क्योंकि साख-पत्र वही कार्य करते हैं जो नकदी (cash)। यह जनता की क्रय-शक्ति बढ़ाता है और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से पूँजी को भी।

साख तथा साख-पत्रों में भेद—जैसा हम बता चुके हैं साख एक अमूर्त वस्तु है—यह या तो एक विश्वास है जिसके फलस्वरूप ऋण दिया जाता है या भुगतान टालने का एक प्रबन्ध। लेकिन साख-पत्र, साख के लेन-देन का एक लिखित मूर्तिमान तथा दिखाई पड़ने वाला प्रमाण है। वह लिखित वचन है कि भविष्य में किसी निर्धारित दिन या मांगने पर निश्चित रकम लौटा दी जायगी। वह कई प्रकार के हैं जैसे चेक, ड्राफ्ट, हुण्डी, प्रण-पत्र (promissory notes), मनीआर्डर आदि। यह साख-पत्र विनिमय के महत्वपूर्ण माध्यम हैं और मूल्य-तल को प्रभावित करते हैं।

साख के आवश्यक अंग—साख के तीन आवश्यक अंग हैं—विश्वास, मात्रा तथा समय। (१) साख के लेन-देन की एक प्रमुख बात यह है कि उधार लेने वाले को वस्तु इस आश्वासन पर दे दी जाती है कि वह भविष्य में इसका भुगतान द्रव्य में (समान पदार्थ में नहीं) कर देगा। मूल्यवान वस्तुओं के इस प्रकार के लेन-देन के बिना, भुगतान टालने या साख देने की बात ही नहीं उठती। परन्तु इस प्रकार मूल्यवान वस्तुओं के देने के पहले ऋणदाता को उधार लेने वाले की धन वापिस करने की (अ) योग्यता तथा (ब) भावना पर विश्वास होना चाहिए। ऋण लेने वाले के पास जो अचल सम्पत्ति है या जिसके होने की सम्भावना है उसकी कीमत का पता लगाकर तथा उसके स्वभाव और उसके व्यापार की दशा के आधार पर ही यह विश्वास पैदा किया जा सकता है। उधार लेने वाले के स्वभाव का पता लगाने के लिए (क) उसकी व्यक्तिगत आदतें (वह जुआरी या शराबी है या नहीं, उसका तथा उसकी पत्नी के रहने का ढंग क्या है, उसकी सामाजिक आकांक्षाएँ क्या हैं तथा उसका धर्म में विश्वास है या नहीं), (ख) उसकी आयु तथा उसका सामान्य अनुभव (उसकी बुद्धि, विवेक तथा चालाकी, उसकी ख्याति और योग्यता जो व्यापार में सफलता-असफलता के कारण हैं) तथा (ग) उसके भूतकालिक लेन-देन की ईमानदारी आदि का सही-सही पता लगाना आवश्यक है। यदि किसी बैंकर को किसी व्यक्ति के व्यापार के बारे में पता लगाना है तो वह यह देखेगा कि (अ) लेनी और चालू देनी का क्या अनुपात है, (ब) व्यापार में लगाई गई पूंजी की मात्रा तथा उसमें से कितनी उसकी स्वयं की है, (स) गोदाम में रखा माल किस प्रकार का है, (द) माल की उलट-फेर (turn-over) किस गति से होती है, (ह) व्यापार कहाँ स्थापित है और उसे अन्य व्यापारियों से कितनी प्रतिस्पर्द्धा सहनी पड़ती है, तथा (न) दूकान का कितने रुपए का बीमा है।

(२) साथ ही ऋणी अधिक से अधिक कितने ऋण का बोझ उठा सकता है इसका स्पष्टरूप से (द्रव्य की मात्रा में) पता होना चाहिए। व्यक्तियों की साख भिन्न भिन्न होती है और प्रत्येक को एक सीमा तक ही उधार मिल सकता है।

(३) उधार के प्रत्येक लेन-देन में समय एक विशेष महत्व रखता है। जहाँ भी भुगतान टाला जाता है और ग्राहक को उधार दिया जाता है, समय का विचार करना ही होता है। दूकानदारों या व्यक्तियों को उस समय तक ही उधार दिया जाता है जब तक उसमें खतरा नहीं होता और इस कारण उधार देने का समय भिन्न भिन्न होता है।

साख के कार्य—साख का प्रमुख कार्य पूंजी को, उन व्यक्तियों से लेकर जिनके पास वह है तथा जिनका वह अधिक लाभपूर्ण प्रयोग नहीं कर सकते उन व्यक्तियों को दे देना है जिनसे उसे अधिक उपयोगी कार्यों में लगाने की आशा की जाती है। साख के कारण बैंकों को यह संभव हो जाता है कि वह दूर-दूर तक फैले व्यक्तियों से पूंजी जमा के रूप में लेकर उसे उत्पादक तथा व्यापारियों को दे देते हैं।

साख का एक दूसरा कार्य, जिसका आजकल महत्व बहुत बढ़ गया है, कानूनन ग्राह्य द्रव्य की सहायता के बिना ही वस्तुओं की अदला-बदली सम्भव बना देना है। इस प्रकार विनिमय का एक सस्ता माध्यम एक खर्चीले और कम सुविधाजनक माध्यम का स्थान ले लेता है जिससे मुद्रा का प्रयोग कम हो जाता है। बढ़ते हुए उद्योग तथा व्यापार के कारण हमारे वर्तमान औद्योगिक समाज में जो मुद्रा की कमी हो जाती है उसको भी यह पूरा करता है। साथ ही, भुगतान को उस समय तक टालकर जब ऋणी को लौटाना अधिक सुविधापूर्ण है, यह उसे एक महत्वपूर्ण सुविधा प्रदान करता है। चतुर व्यक्तियों द्वारा प्रयोग में लाये जाने पर यह औद्योगिक विकास तथा आर्थिक प्रगति में भी सहायक होता है।

साख-पत्रों के प्रयोग के कारण—ग्राहकों को समझदारी से साख देकर बिक्री की मात्रा बढ़ाई जा सकती है और लाभ भी अधिक किया जा सकता है। परन्तु साख देने के पहले, उधार लेने वाले के स्वभाव तथा उसके व्यापार के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक तथा खोजपूर्ण जाँच करनी चाहिए।

वस्तु विक्रेता अपनी वस्तु के बदले ग्राहक से साख पत्र इस कारण ले लेता है क्योंकि एक तो उसे साख-पत्र देने वाले पर विश्वास है कि मांगने पर उसे द्रव्य मिल जायगा और दूसरे दिये गये वचनों के आधार पर वह भी खरीदी हुई वस्तुओं के भुगतान के स्थान पर इसी प्रकार बचन दे सकता है।

इसके अतिरिक्त वह द्रव्य को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने का कार्य सुगम तथा उसका व्यय कम कर देते हैं।

साख से उपलब्ध फायदे—साख की सहायता से सरकारें पनामा जैसी नहर खोद सकती हैं, या अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध लड़ सकती हैं या आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सकती हैं या ग्रांड-ट्रंक जैसी सड़क बनवा सकती हैं या गगनचुंबी भवनों का निर्माण कर सकती हैं या अन्तर-महाद्वीपी रेलें बनवा सकती हैं। संक्षेप में ऐसे कार्य जो बहुत पूंजी के बिना पूरे नहीं हो सकते, वह विस्तृत तथा उन्नतिशील शाख-प्रणाली द्वारा सम्भव हो जाते हैं।

साख के कारण व्यक्ति भी अस्थाई धनाभाव से उत्पन्न कठिनाइयों को दूर कर सकते साख के द्वारा यह सम्भव हो जाता है कि पर्याप्त आय की प्राप्ति के पहले ही वह अपनी एँ तृप्त कर सकते हैं—पर्याप्त धन हाथ में न रहने पर भी मकान खरीद सकते हैं या पया उधार लेकर शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं।

साख के द्वारा होशियार साहसोद्यमी कम पूंजी होने पर भी बड़े-बड़े व्यवसाय खोल सकते हैं। इस प्रकार साख के द्वारा राष्ट्रीय साधनों का अच्छे प्रकार उपयोग सम्भव हो जाता है।

इसके अतिरिक्त साख ने बड़े-पैमाने के उद्योगों का विकास तथा वर्तमान औद्योगिक समाज में विशिष्टीकरण सम्भस बना दिया है। इसके द्वारा यह भी सम्भव हो गया है कि माँग में होने वाले परिवर्तन के कारण उत्पादन के पैमाने में भी परिवर्तन किया जा सके। साख के बिना हमारे औद्योगिक समाज के लए मध्यकालीन अर्थ व्यवस्था को छोड़ कर बीसवीं सदी की पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को अपनाना सम्भव न था।

साख के द्वारा अनेक व्यक्तियों के पास पड़ी थोड़ी-थोड़ी पूंजी इकट्ठा कर एक बड़ी राशि बन जाती है और उसे उत्पादन में लगाकर देश में प्राप्त उपभोग के भौतिक पदार्थों की संख्या बढ़ाई जाती है।

साख का यदि ध्यानपूर्वक नियंत्रण तथा प्रतिबन्धन किया जाय तो मूल्यों के परिवर्तन न्यूनतम हो जाते हैं और व्यापार तथा उद्योग में स्थिरता आ जाती है।

साख ने उद्योगों की प्रगति, विकास तथा अनुसन्धान में सहायता की है। इसके कारण होने वाले लाभों का ठीक ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता। किसी अर्थशास्त्री ने ठीक ही कहा है कि राष्ट्रों को धनवान बनाने में संसार की सभी स्वर्ण खानों की अपेक्षा साख ने अधिक सहायता पहुँचाई है।

साख से भय—यद्यपि साख से अनेक लाभ है, फिर भी इसमें निहित अनेक भय है जिनको भुलाया नहीं जा सकता।

इतिहास में ऐसे कई उदाहरण हैं जब साख का आवश्यकता से अधिक निर्गम हो गया था। संसार के कई भागों में रहने वाले व्यक्ति पत्र-मुद्रा के अत्यधिक निर्गम से उत्पन्न दुष्परिणामों—जैसे मुद्राप्रसार तथा रहन-सहन के व्यय में अत्यधिक वृद्धि—से भली-भाँति परिचित हैं। इसी प्रकार ऋणों का आधिक्य अत्यधिक सट्टेबाजी को प्रोत्साहन देता है जिसके फलस्वरूप उत्पादन आवश्यकता से अधिक हो जाता है।

कभी कभी अनुकूल स्थिति में, थोड़ी सी नकदी के ऊपर साख का एक बहुत बड़ा महल खड़ा कर दिया जाता है। परन्तु हवा प्रतिकूल होते ही, साख का वह महल ढह जाता है और सम्पूर्ण समाज आर्थिक संकट में फंस जाता है जिसके फलस्वरुप मंदी (depression) आ जाती है।

साख की सहायता से (उधार ले-लेकर) एक अ-कुशल साहसोद्यमी किसी नुकसानदेय उद्योग में अधिक समय तक लगा रह सकता है और जिससे इतना बड़ा धक्का लग सकता है कि उसके साथ सैकड़ों अन्य व्यवसायी भी चौपट हो जायँ। यदि उसे केवल अपने सीमित साधनों पर ही निर्भर रहना पड़ता तो उसके लिए नुकसानदेय उद्योग में इतने अधिक समय तक लगा रहना सम्भव न था कि वह सैकड़ों अन्य व्यक्तियों को भी हानि पहुँचा सके।

वर्तमान औद्योगिक समाज में साख का इतना अधिक विस्तार है कि एक व्यक्ति इतनी अधिक मात्रा में पूंजी संचित तथा नियंत्रित कर सकता है कि स्पर्धा का अन्त हो जाय और उद्योग पर एकाधिकारी नियंत्रण स्थापित हो जाय जिसके फलस्वरूप श्रमिकों का शोषण हो और उपभोक्ताओं से अत्यधिक मूल्य वसूल कर उन्हें लूटा जाये।

सुलभ साख के कारण राष्ट्र तथा व्यक्ति के लिए धन बर्बाद करना सम्भव हो गया है जैसा कि आजकल के आर्थिक जीवन में प्रायः सभी स्थानों पर देखने को मिलता है।

साख के प्रकार—उधार लेने वाले को ध्यान में रखते हुए साख को छै भागों में बांटा जा सकता है।

(१) **जन-साख**—यह इस बात का द्योतक है कि लोगों का किसी जन-संस्था की देय-शक्ति तथा तत्परता पर कितना विश्वास है। दूसरे शब्दों में यह संस्था की उधार लेने की क्षमता को बताता है जो यह देखकर कि उसे किस मात्रा तक उधार मिल सकता है और कितनी व्याज़-दर देनी पड़ती है पता लगाया जा सकता है। इसके अन्तर्गत केन्द्रीय, राज्यकीय तथा स्थानीय सभी सरकारों के उधार लेने के कार्य आ जाते हैं। क्योंकि उनकी चालू आय से एक शारदा नहर या एक सिकारपुर-बलिया रेल की लाइन नहीं बन सकती इसलिए उन्हें प्रतिभूति (securities) या बॉण्ड को बेचकर ऋण लेना पड़ता है। यदि इनकी बिक्री बट्टे से हो तो साधारणतया इसका अर्थ यह होता है कि जनता का विश्वास* कम हो गया है।

(२) **औद्योगिक या निगम पूंजी-साख**—इससे उत्पादकों को औद्योगिक कार्यों के लिए अचल-पूंजी प्राप्त होती है। हमारे समाज में यह बाण्ड, स्टाक या लम्बी अवधि के ऋण का रूप लेते हैं जो औद्योगिक संस्थायें खोलने के लिए द्रव्य प्रदान करते हैं।

(३) **व्यापारिक या व्यवसायिक साख**—इसका प्रयोग उत्पादक, थोक व्यापारी फुटकर व्यापारी, दलाल आदि चालू पूंजी प्राप्त करने के लिए करते हैं। चालू पूंजी की उन्हें पक्का माल तैयार करने या सामान को मूल-उत्पादक के पास से अन्तिम उपभोक्ता के पास तक पहुँचाने में आवश्यकता पड़ती है।

(४) **कृषि-साख**—इसकी किसानों को, लम्बी अवधि के लिए अचल-पूंजी तथा थोड़ी अवधि के लिए चालू-पूंजी पाने के लिए, आवश्यकता पड़ती है।

(५) **स्वतः या व्यक्तिगत उपभोग, फुटकर या किताबी-साख (book-credit)**—इसके द्वारा एक व्यक्ति अपने हिसाब में दाम चढ़वा कर उपभोग की वस्तुयें ले सकता है और अपना हिसाब चाहे वह प्रति माह साफ करता रहे या उसे किश्त द्वारा। उपभोक्ता की स्पष्ट-आय-क्षमता ही इस साख का आधार होती है। उपभोक्ता से कोई लिखित प्रण-पत्र या अन्य कोई आनुसंगिक जमानत (collateral security) नहीं ली जाती। यदि ऋणी रुपया अदा करने में कोताही करे तो साहू (उधार देने वाला) को माल लौटा लेने का अधिकार है।

---

*कुछ व्यक्ति इस शब्द का प्रयोग सरकार में जनता के निहित विश्वास के रूप में भी करते हैं।

(६) **बैंक-सम्बन्धी साख**—बैंक पत्र-मुद्रा का निर्गम करते समय तथा चालू या अन्य खाते खोलते समय जनता से उधार लेने के लिए इस प्रकार के साख का प्रयोग करते हैं। बैंकों के साख-पत्र, बेचान किये हुए बिल तथा डिबेंचर इसी श्रेणी में आते हैं। अन्य शब्दों में बैंक की देनी ही उसका ऋण है। एक ग्राहक अपने नाम साख करके बैंक को अपना ऋणी बना लेता है और फिर साख की उस रकम में से वह भुगतान करता रहता है। इस प्रकार के ऋण बैंक को ही देने पड़ते हैं और जिन व्यक्तियों ने बैंक में रुपया जमा करने वाले को उधार दिया है उन्हें भुगतान चेक द्वारा ही होता है।

एक दूसरा वर्गीकरण—यदि हम यह देखें कि उधार लिया हुआ द्रव्य किस काम आता है और पकने पर या अवधि पर उनका भुगतान किस प्रकार किया जायगा, तो साख को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। वह है—विनियोग साख, वाणिज्य साख तथा उपभोक्ता साख।

(१) विनियोग साख को औद्योगिक कार्यो–जैसे रेल, कारखाने, मरम्मत के स्थान, खेत, खदान आदि–के चलाने तथा बढ़ाने में काम में लाया जाता है। यह अचल पूंजी प्रदान करता है जिसे लम्बी अवधि के ऋण के रूप में लम्बी अवधि (तिथि) के कागज़ों द्वारा किया जाता है।

(२) वाणिज्य साख उत्पादक तथा व्यापारियों को उत्पादन करने या वस्तुओं के विपणन के लिए चलित पूंजी या क्रियाशील पूंजी (working capital) प्रदान करता है। यह छोटी अवधि का साख है और इसे ऋण-पत्र तथा विनिमय बिलों द्वारा इकट्ठा किया जाता है।

(३) उपभोक्ता साख का प्रयोग व्यक्ति उपभोग की वस्तुएँ पाने के लिये करते हैं। यह उधार लेने वाले की आय के आकार तथा स्रोतों पर निर्भर रहता है।

व्यापारिक या वाणिज्य साख तथा विनियोग का औद्योगिक साख—इन दोनों प्रकार के साख का भेद इस बात पर निर्भर है कि उधार ली गई पूंजी किन-किन प्रयोगों में लगाई जाती है और उधार लेने तथा उसके भुगतान में कितना समय लगता है। वाणिज्य साख के द्वारा श्रम तथा उत्पादन के लिए आवश्यक भौतिक पदार्थ इकट्ठा करने के लिए क्रियाशील पूंजी मिल जाती है जब कि औद्योगिक साख से कारखाने का निर्माण करने तथा उसमें मशीन, यंत्र आदि लगाने के लिए अचल-पूँजी प्राप्त होती है।

वाणिज्य साख छोटी अवधि की साख है जब कि औद्योगिक साख लम्बी अवधि की साख है।

किसी देश में साख की मात्रा प्रभावित करने वाले साधन—किसी देश में उपलब्ध साख की मात्रा बहुत कुछ इस बात पर निर्भर रहती है कि देश-विदेश में व्यापार उद्योगों की क्या दशा है। तेज व्यापार तथा औद्योगिक क्रिया से अनुकूल भावना की जागृति होती है जिसके फलस्वरूप साख की मात्रा बढ़ जाती है। परन्तु जब व्यापार मंदा होता है, साख की मात्रा कम हो जाती है। युद्ध या युद्ध की सम्भावना के कारण भी साख कम हो जाता है। ऐसा ही प्रभाव सरकार की इस जन-घोषणा का होता है कि वह मुद्रा का आधिक्य करना चाहती है। राजनीतिक परिवर्तनों के कारण भी साख की मात्रा कम हो जाती है। चुनाव में एक ऐसे राजनीतिक दल के बहुमत प्राप्त करने की सम्भावना से जिसने अपने चुनाव-

घोषणापत्र में पूँजी कर (capilal levy) लगाने का एलान किया हो, साख की मात्रा निस्सन्देह कम हो जायगी।

सट्टेबाजी के कारण साख की माँग बढ़ जाती है और फलतः कुछ सीमा तक उसकी मात्रा भी बढ़ जाती है, परन्तु ऐसा होना उपलब्ध-साख की मात्रा पर भी निर्भर है।

किसी देश की मुद्रा की क्या दशा है इस पर भी उपलब्ध होने वाले साख की मात्रा निर्भर रहती है। यदि देश की मुद्रा इतनी ठोस है कि जनता को उसकी दृढ़ता पर विश्वास है और बैंक जमा किये हुए धन के पीछे कम अनुपात में नकदी रख काम चला लेते हैं, तो साख की वृद्धि हो जायगी। दशा विपरीत होने पर साख का कम होना स्वाभाविक है। यदि देश में प्रभाव पूर्ण स्वर्णमान है तो स्वर्ण के आयात-निर्यात से भी साख पर प्रभाव पड़ेगा। स्वर्ण के आयात से केन्द्रीय बैंक के पास स्वर्ण की मात्रा बढ़ जाती है, बक-दर कम हो जाती है और साख बढ़ जाता है। स्वर्ण के निर्यात होने पर दशा विपरीत हो जाती है।

साख के विकास को प्रभावित करने वाले साधन—संसार में साख की वृद्धि विकास में व्यापारिक ईमानदारी का बड़ा प्रभाव रहा है। यदि मांगने पर ऋणदाता, न्यायालय की सहायता के बिना, तुरन्त भुगतान पा जाता है तो इससे विश्वास बढ़ता है और साख फलता-फूलता है। विश्वास होने पर एक अजनवी का लिखित-बचन स्वर्ण के समान होता है और उसके द्वारा संसार के हर कोने से, बिना नकद भुगतान किये, सामान खरीदा जा सकता है।

भावी भुगतान के एक स्थिर माप ने भी साख के विकास में तथा ऋणदाता द्वारा भुगतान की माँग टालने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। पुनः वैयक्तिक संपति की बढ़ती हुई जमानत तथा ऐसे कानून प्रणाली का क्रमिक विकास जिससे व्यक्तिगत स्वत्वों की पूर्ण रक्षा हो सके तथा बचनों को पूरा करने के लिए बाध्य किया जा सके, के कारण भी साख का विकास हुआ है।

साख-पत्र

भारत में प्राचीन काल से साख का चलन है। प्राचीन भारत में वचनों का वही मूल्य था जो कि बाण्डों का। फलतः साख से परिचित हो जाने के बहुत समय बाद साख-पत्रों का चलन आरम्भ हुआ। इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि प्राचीन ग्रीस, रोम तथा बैबीलोन वासियों में साख-पत्रों का चलन बड़ी उन्नतिशील दशा में था। आज कल अमरीका का लगभग ६० प्रतिशत थोक तथा ५०—६० प्रतिशत फुटकर व्यापार साख-पत्रों द्वारा ही होता है। केवल बही खातों में लिखा-पढ़ी करके आजकल बहुत बड़ी मात्रा में साख का लेन-देन होता है और इस प्रकार के साख को 'किताबी-साख' (book-credit) कहते हैं। बिना बाण्ड लिखाए यदि दूकानदार सिर्फ बहीखाते में लिखकर सामान उधार दे देता है या बैंक इसी प्रकार ऋण दे देता है तो इन्हें किताबी-साख कहा जायगा। यहाँ दूकानदार या बैंक का ऋणी के विरुद्ध कार्यवाही करने का उतना ही अधिकार है और उधार लेने वाले की भुगतान करने की उतनी ही कानूनन जिम्मेदारी, जितनी कि उसकी बाण्ड लिख देने पर होती है सभी जगह बही खाते में लिखा-पढ़ी कर साख का लेन-देन, ऋणी की नैतिक या कानूनन जिम्मेदारी किसी भी प्रकार कम किये बिना होता रहता है। इस प्रकार के लेन-देन निकास-गृह (clearing houses) तथा स्टाक-एक्सचेन्जों में बहुत प्रचलित हैं। व्यक्ति तथा सीमित उत्तरदायित्व वाली कम्पनियाँ बाण्ड तथा डिबेंचरों की सहायता से बहुत पूँजी इकट्ठा कर लेते हैं। परन्तु क्योंकि यह सब

(केवल वाहक डिबेंचर छोड़कर) अच्छे अधिकार की क्षमता* (negotiability) नहीं रखते और प्रायः द्रव्य के स्थान पर मान्य नहीं होते, हम इनका अध्ययन बाद में करेंगे। हमारे देश में साख-पत्र, भारतीय विनिमयसाध्य साख-पत्र विधान द्वारा† नियंत्रित किए जाते हैं। इस विधान के अनुसार विनिमयसाध्य पत्र एक लिखित पत्र या ऋण का प्रमाण है जिसे बेचान कर या देकर एक व्यक्ति से किसी दूसरे को हस्तांतरित किया जा सकता है और उसका कानूनन स्वामी हो जाता है।

बेचान का अर्थ यह होता है कि साख-पत्र की पीठ पर उसका स्वामी इस प्रकार का निर्देश लिख देता है कि इस साख-पत्र का रुपया इसके नए स्वामी को दे दिया जाय और फिर अपने हस्ताक्षर कर देता है। यदि पाने वाला धनी (payee) बिना किसी दूसरे धनी का नाम लिखे साख-पत्र का बेचान करदे तो वह वाहक (bearer) को देय हो जाता है।

विनिमय साध्य साख-पत्रों की आवश्यक बातें—एक विनिमय साध्य साख-पत्र के लिए आवश्यक है कि वह (अ) लिखित हो, (ब) उस पर उचित हस्ताक्षर हों, (स) उसका रूप विनिमय साध्य हो (अर्थात् वह वाहक या निर्दिष्ट व्यक्ति को देय हो), (द) वह कानूनन ग्राह्य मुद्रा में ही देय हो, (ह) धन की मात्रा निश्चित हो, (क) निर्दिष्ट धनी को देय हो, (ख) निरपेक्ष देय हो (प्रतिबन्धित नहीं), तथा (घ) निश्चित समय पर ही देय हो।

द्रव्य तथा साख-पत्र में भेद—यदि द्रव्य की विस्तृत परिभाषा की जाय तो साख उसके अन्तर्गत आ जाता है। लेकिन मोटे अर्थ में, जिसमें इसका प्रायः प्रयोग किया जाता है, इसके अन्तर्गत इसके केवल वही रूप आते हैं जो (१) जनता को सामानतः मान्य होते हैं। एक विक्रेता वस्तु के बदले में प्राप्त द्रव्य को इस कारण स्वीकार कर लेता है क्योंकि वह जानता है कि दूसरे भी बेची हुई वस्तुओं के बदले में द्रव्य की उस इकाई को स्वीकार कर लेंगे। हुण्डी जैसा साख-पत्र **विशेषतः** मान्य होता है। क्रेता हुण्डी को उसी समय स्वीकार करेगा जब उसे यह पूरा विश्वास हो कि उसमें किए गए प्रण को पूरा किया जायगा। एक तीसरा व्यक्ति उसे तभी स्वीकार करेगा जब उसे हुण्डी के लिखने वाले धनी की ईमानदारी तथा

---

*अच्छा अधिकार देने की क्षमता से हमारा अर्थ साख-पत्र की उस शक्ति से है जिसके कारण वह दूसरे को इस प्रकार हस्तांतरित किया जा सकता है कि क्रयी इसका कानूनन स्वामी समझा जाय और उसे पहले वाले स्वामी के सभी अधिकार प्राप्त हों। इसे धन देकर खरीदने वाले क्रेता को यदि इसका दोष ज्ञात नहीं है पहले वाले स्वामी की अपेक्षा जिसके साख-पत्र में गलती थी, अच्छा अधिकार प्राप्त होता है। इस बात में साख-पत्र अन्य वस्तुओं से भिन्न तथा द्रव्य के समान है। यदि कोई सीधा-सादा व्यक्ति सिक्के, पत्र-मुद्रा, बिल या चेक किसी चोर से ईमानदारी से प्राप्त करता है तो उसका उन वस्तुओं पर कानूनन पूर्णाधिकार होता है। यदि बिल या चेकों के ऊपर अविनिमयसाध्य (non-negotiable) शब्द लिख दिया जाय तो उनकी यह विशेषता मारी जाती है। क्योंकि व्यापारिक साख-पत्रों में विनिमय साध्यता की विशेषता पाई जाती है, इसी कारण उनका भुगतान करने में प्रयोग होता है तथा वह द्रव्य का स्थान ले लेते हैं।

†निगोशियेबिल इन्स्ट्रूमेन्टस एक्ट आफ इन्डिया।

साहूकारी (solvency) पर पूर्ण विश्वास हो। क्योंकि साख-पत्र, द्रव्य की भाँति, सामान्यतः चालू न होकर सीमित चालू होते हैं, इस कारण इनके द्वारा थोड़े से ही विनिमय हो सकते हैं।

(२) एक साहू अपने माल के बदले साख-पत्र स्वीकार करने के लिए कानूनन बाध्य नहीं है जब कि वह कानूनन-ग्राह्य मुद्रा को लेने से इन्कार नहीं कर सकता। अन्य शब्दों में, कुछ द्रव्यों की भाँति साख-पत्र अपरिपित कानूनन-ग्राह्य नहीं है।

(३) साख द्रव्य नहीं उसका पूरक है। यह द्रव्य वापिस कर देने का एक प्रण मात्र है जिसका चलन केवल उस सीमित क्षेत्र में होता है जिसमें धनियों की वैत्तिक सुदृढ़ता ज्ञात है।

साख-पत्र के प्रकार—प्रत्येक उद्योग में (विभिन्न मात्राओं में) चल तथा अचल पूँजी की आवश्यकता होती है। जिन साख-पत्रों द्वारा चल-पूँजी प्राप्त होती हैं उन्हें व्यापारिक साख-पत्र तथा जिनके द्वारा अचल पूँजी प्राप्त होती है उन्हें विनियोग साख-पत्र कहते हैं।

यदि हम इनके केवल ऊपरी रूप को ध्यान में रखें तो व्यापारिक साख-पत्रों को दो प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है—

(अ) प्रण-पत्र, तथा (ब) विनिमय बिल, जिनके अन्तर्गत चेक तथा ड्राफ्ट भी आ जाते हैं। परन्तु यदि हम उनके कार्यों के ध्यान में रखें तो एक भिन्न तरीके से उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है —(अ) प्रण-पत्र तथा विनिमय बिल जो भविष्य में भुगतान करने का प्रण करते हैं और इस कारण उधार लेने के कार्य में लाये जाते हैं और (ब) चेक तथा बैंक पत्र-मुद्रा जो द्रव्य की भाँति भुगतान के काम—ऋण लेने-देने के लिए नहीं—में लाए जाते हैं।

प्रण-पत्र—यह एक ऐसा लिखित पुर्जा है जिसमें उसका लिखने वाला माँगने पर या निश्चित अवधि के उपरांत उसमें दिये हुए धन को अथवा उसके आदेशानुसार अथवा जिसके पास वह पुर्जा हो उसे उसमें लिखी हुई निश्चित रकम बिना शर्त देने का प्रण करता है। यह आवश्यक नहीं है कि इसमें भुगतान का स्थान भी लिखा जाय। यह व्यक्तियों, संस्थाओं तथा सरकारों द्वारा लिखे जा सकते हैं। प्रण-पत्र के हमेशा दो धनी होते हैं —(अ) लिखने वाला (जो भुगतान करने का प्रण करता है) तथा (ब) पाने वाला (जिसे धन मिलता है)। यदि प्रण-पत्र में पाने वाले धनी के नाम के आगे 'वाहक' शब्द लिखा हो तो इसे किसी दूसरे व्यक्ति को दे देने मात्र से ही वह भुगतान पाने का अधिकारी हो जाता है। परन्तु यदि उसके नाम के आगे 'निर्दिष्ट' (order) शब्द लिखा हो तो पुर्जे की पीठ पर पाने वाले नए धनी का नाम तथा यह निर्देश लिखने पर ही कि उसे इसका द्रव्य मिल जाय, वह भुगतानपाने का अधिकारी होगा। अन्य शब्दों में यह कहिए कि पाने वाले धनी द्वारा एक नए धनी के नाम पुर्जे का बेचान कर देने पर ही नया धनी प्रण-पत्र में लिखित धन पाने का अधिकारी होता है। बैंक द्वारा निकाले गए प्रण-पत्र जिनका भुगतान मांगने पर वाहक को हो जाता है बैंक-पत्र-मुद्रा कहलाते हैं। सरकार या केन्द्रीय बैंक द्वारा निकाले गए प्रण-पत्र कानूनन ग्राह्य होने के कारण द्रव्य का रूप ले लेते हैं। कभी कभी केन्द्रीय बैंक द्वारा निकाली गई कानूनन ग्राह्य पत्र-मुद्रा प्रण-पत्र की भाँति लिखी हुई नहीं होती—उसमें केवल वह धन-राशि लिखी रहती है जिसका भुगतान होना है। प्रण-पत्र लिखने वाला धनी चाहे अकेला एक व्यक्ति हो सकता है और चाहे उसे कई व्यक्ति मिलकर लिखें। इनको क्रमशः व्यक्तिगत प्रण-पत्र तथा संयुक्त पत्र कहते हैं। प्रत्येक प्रण-पत्र को (बैंक-पत्र-मुद्रा या पत्र-मुद्रा को छोड़कर) उचित टिकट लगे रसीदी-कागज पर लिखना पड़ता है।

व्यक्तिगत प्रण-पत्र का नमूना

रु० ५०० इलाहाबाद १ दिसम्बर, १९४८

टिकट

उपरोक्त तिथि से तीन माह बाद में श्री राकेश अग्रवाल या उनके द्वारा निर्देशित व्यक्ति को पांच सौ रुपया पहुँचे दाम देने का प्रण करता हूँ।

रामकिशोर

विनिमय बिल—यह एक लिखित आदेश है जिस पर इसके लिखने वाले (ऋण देने वाले) के हस्ताक्षर रहते हैं और उसमें लिखित किसी व्यक्ति (उधार लेने वाले) के नाम यह अप्रतिबन्धित आदेश रहता है कि वह उसमें लिखे गए किसी अन्य व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार अथवा उसके वाहक को मांगने पर या एक निश्चित अवधि के बाद उसमें लिखित धन-राशि दे दे। यदि जिसके ऊपर यह लिखा जाता है वह बिल के ऊपर 'स्वीकृति' शब्द लिख अपने हस्ताक्षर कर देता है तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह इसका भुगतान करने को तैयार है। एक 'स्वीकृत' विनिमय बिल की धन-राशि देने की कानूनन जिम्मेदारी स्वीकृतकर्ता की है परन्तु जिसके ऊपर यह लिखा गया है तथा जितनों ने उस पर बेचान किया है वह सबके सब इसके जमानती हैं। इस प्रकार के विनिमय बिलों को बैंक कुछ बट्टा लेकर सुगमता से सकार देते हैं।

साधारणतया एक विनिमय बिल के तीन धनी होते हैं—(१) लिखने वाला धनी (Drawer), (२) जिसके ऊपर लिखा जाता है वह धनी (drawer) तथा (३) पाने वाला धनी (payee)। परन्तु जब पाने वाला धनी ही लिखने वाला धनी भी होता है, तो इसके केवल दो ही धनी होते हैं। जब विक्रेता क्रेता के ऊपर बिल लिखता है तो वह प्रायः अपने बैंक को ही पाने वाला धनी बना देता है जो बिल को क्रेता से 'स्वीकृत' करा कर पकने पर उसका भुगतान ले लेता है। क्रेता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि पकने की अवधि तक द्रव्य पाने की वह प्रतीक्षा करता रहे। यदि बैंक को उस पर पर्याप्त विश्वास है तो वह बिल का भुगतान बाजारी मूल्य पर कर देगा। बिल के सकारने का अर्थ यही है कि उसने बिल के वर्तमान मूल्य के बराबर रुपया उधार दिया है।

विनिमय बिल मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं —(१) दर्शनी, जिनका भुगतान देखते ही करना पड़ता है जिस प्रकार दर्शनी हुण्डियों का तथा, (२) मुद्दती, जिन का भुगतान एक निश्चित अवधि के उपरान्त करना पड़ता है जिस प्रकार मुद्दती हुण्डियों का। (डाक्टर एल० सी० जैन के मतानुसार हुण्डी कभी कभी देने का प्रतिबन्धित आदेश भी हो सकती है और इस बात में यह विनिमय बिल से भिन्न होती है।) विनिमय बिल देशी या विदेशी भी होते हैं।

देशी विनिमय बिल वह हैं जिनका भुगतान उसी देश में हो जहाँ वह लिखे जाते हैं अथवा जिसके ऊपर लिखे जायँ वह उसी देश का रहने वाला हो। इसके विपरीत विदेशी बिल वह हैं जिनमें उपर्युक्त बातें न हों।

देशी विनिमय-बिल का एक नमूना

टिकट

इलाहाबाद.
२ दिसम्बर, १९४८

रु० १०००

उपरोक्त तिथि के दो माह बाद एक हज़ार रुपया पहुँचे दाम बाबू प्रेमनारायन को अथवा उनके आदेशानुसार दे देना।

पास,

भाई जगदीश चन्द्र गुप्ता
सिविल लाइन्स
देहली

रामनाथ घोष

विदेशी बिल व्यापार में बड़े सहायक होते हैं। इनके कारण स्वर्ण एक देश से दूसरे देश को भेजने में जो समय, व्यय, तथा कष्ट करने पड़ते हैं वह बच जाते हैं। नीचे दिये गये विनिमय बिल के नमूने में इलाहाबाद के एक लेनदार ने फिलाडेलफिया (अमरीका) के रहने वाले अपने देनदार को यह आदेश दिया है कि वह अमरीका निवासी जे० जे० टामसन को भुगतान कर दे। इससे भारत अमरीका के बीच द्रव्य का आना-जाना बच गया है। यदि मान लीजिए भारत के लेनदार को अमरीका के किसी निवासी को ऋण नहीं देना है तो वह अपना बिल किसी एक ऐसे भारतीय को, जिसे अमरीका में भुगतान करना है, बेच सकता है। मान लीजिए लाला राम नारायन लाल को मेकमिलन कम्पनी न्यूयार्क को १०० डालर देने हैं। ऐसी स्थिति में वह इलाहाबाद के ई० वी० जोज़ेफ से बिल खरीद कर मेकमिलन कम्पनी को भेज देंगे और वह फिलाडेलफिया के क्लार्क वारबर्टन से रुपया ले लेगी। इस प्रकार रुपये के एक देश से दूसरे देश भेजे बिना ही हिसाब चुकते हो जायंगे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पारस्परिक लेनी देनी इसी प्रकार निबटाई जाती है और जो शेष रह जाता है उतना ही स्वर्ण या रौप्य भेजना पड़ता है।

विदेशी विनिमय बिल का नमूना

टिकट

इलाहाबाद
२ दिसम्बर, १९४८

डालर १००

इस मूल लिपि को देखने के साठ दिन बाद (यदि इसकी दूसरी और तीसरी प्रतिलिपियों का भुगतान नहीं हुआ है) एक सौ डालर श्री जे० जे० टामसन को या आदेशानुसार पहुँचे दाम दे दीजिये।

पास,

क्लार्क वारबर्टन
फिलाडेलफिया

ई० वी० जोज़फ

बैंकर या वैत्तिक बिल, व्यापारिक या वाणिज्य बिल या व्यापारिक ड्राफ्ट या व्यापारिक स्वीकृतियाँ तथा अनुग्रह बिल (Accomodation Bill) अन्य प्रसिद्ध बिल हैं।

बैंकर बिलों का प्रयोग मुख्यतः भुगतान करने तथा धन-राशि को हस्तांतरित करने में ही होता है। इनकी जमानत लिखने वाले बैंक की साख है।

व्यापारिक या वाणिज्य बिल या व्यापारिक ड्राफ्ट या व्यापारिक स्वीकृतियाँ सामान के वास्तविक विक्रय के कारण उत्पन्न होते हैं और इनका भुगतान इनके लिखने वाले की साधारण जिम्मेदारी पर ही नहीं वरन् जहाजी बिल्टी (Bill of lading) तथा गोदाम के प्रमाण पत्र (warehouse receipt), जो बिक्री के लिए विनिमित वस्तुओं की रसीद है, पर भी निर्भर रहता है। यह वस्तु के क्रेता द्वारा उसके विक्रेता के ऊपर लिखा गया आदेश है जिसे विक्रेता ने स्वीकार कर लिया है। बिल के साथ आने वाले अधिकार पत्र आनुसंगिक जमानत का काम देता है और ऋण की दोहरी जमानत का काम करता है।

अनुग्रह बिल या ड्राफ्ट वह बिल है जो किसी दूकानदारी के सौदे के कारण उत्पन्न नहीं होते, यद्यपि वह प्राप्त धन से सामान क्रय करने की एक इच्छा हो सकते हैं। इस प्रकार के बिलों को किसी धन-राशि के दिये बिना ही लिखा, स्वीकृत तथा बेचान किया जाता है।

चेक—यह जमा करने वाले का अपने बैंक के ऊपर इस बात का आदेश है कि मांगने पर एक निश्चित धन राशि या किसी दूसरे व्यक्ति को या उसके प्रतिनिधि को या वाहक को दे दी जाय। इस प्रकार चेक जमा करने वाले द्वारा अपने बैंक के ऊपर लिखा गया एक दर्शनी विनिमय बिल है। चालू खाते में रुपया जमा करने वालों को (और कभी किसी किसी बैंकों में बचत खाते वालों को भी) अपने बैंक के ऊपर चेक काटने का अधिकार रहता है। चेक के भी, विनिमय बिल की भांति, तीन धनी होते हैं—(१) लिखने वाला, (२) जिसके ऊपर लिखा जाता है, तथा (३) पाने वाला। चेक वाहक या निर्दिष्ट, रेखांकित या अ-रेखांकित, अच्छा अधिकार देने वाले या अच्छा अधिकार न देने वाले हो सकते हैं।

वाहक चेक का भुगतान उसी को हो जायगा जो उसे सकारने के लिए बैंक को (जिसके ऊपर वह लिखा गया है) दे दे। बैंक इस बात का कानूनन जिम्मेदार नहीं है कि इसका भुगतान उसी व्यक्ति को हुआ है जिसे चेक लिखने वाला करना चाहता था। इसे पड़ा पाने वाला व्यक्ति भी भुना सकता है, और फिर भी बैंक गलत व्यक्ति को भुगतान कर देने का जिम्मेदार न होगा। हस्तांतरित करने के लिए इस पर बेचान करने की आवश्यकता नहीं है।

आदेश चेक, किसी व्यक्ति विशेष को या उसके आदेशानुसार किसी दूसरे व्यक्ति को जिसके नाम पाने वाले ने बेचान कर दिया है, देय होता है। ऐसे चेक को सकारते समय बैंक को यह देखना पड़ता है कि इसका भुगतान सही व्यक्ति को हो। यदि बैंक की असावधानी के कारण इसको कोई दूसरा व्यक्ति सकरवा लेता है तो बैंक इस हानि का जिम्मेदार होगा। किसी दूसरे व्यक्ति के नाम इसे हस्तांतरित करते समय यह आवश्यक है कि जिस व्यक्ति को इसका पैसा दिलाना हो उसके नाम बेचान कर दिया जाय।

वाहक चेक का एक नमूना

संख्या स ६५४३ इलाहाबाद—१६ मई, १९४८

इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया
इलाहाबाद

दीजिये रघुनाथ प्रसाद . . . . या वाहक को
रुपया पांच हजार मात्र। . . . .

रु० ५०००—०—० रामदुलारे

रेखांकित चेक वह है जिसके ऊपरी बायें कोने पर दो आड़ी सामानांतर रेखायें खींच दी जाती हैं। कोई कोई उनके बीच में 'केवल पाने वाले धनी के खाते में' (account payee only) या एण्ड को (& co.) शब्द भी लिख देते हैं। इस प्रकार के चेकों का भुगतान किसी बैंक को ही किया जाता है। चेक के रेखांकित करने का आशय उसका एक-स्थान से दूसरे स्थान को भेजना अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित तथा गलत व्यक्ति को उसके भुगतान की संभावना कम कर देना है।

बैंक ड्राफ्ट—यह किसी एक बैंक द्वारा अपनी किसी दूसरी शाखा के नाम अथवा किसी दूसरे बैंक के नाम (जो देश के बाहर या भीतर स्थापित हो) एक आदेश है कि एक निश्चित-धन-राशि किसी निर्देशित व्यक्ति को या उसकी आज्ञानुसार या वाहक को दे दी जाय। विनिमय-बिल की भांति यह देशी या विदेशी हो सकते हैं। इनका प्रयोग दूर देशों को कम खर्च पर धन-राशि भेजने के लिये होता है।

चेक, विनिमय बिल तथा बैंक ड्राफ्ट का आपसी भेद—विनिमय बिल का लिखने वाला धनी तथा जिस धनी के ऊपर वह लिखा जाता है दोनोंही व्यक्ति होते हैं; परन्तु यदि लिखने वाला धनी व्यक्ति हो और जिसके ऊपर लिखा जाय वह बैंक हो तो वह पत्र चेक हो जाता है। जहां तक बैंक ड्राफ्ट की बात है, दोनों ही धनी बैंक होते हैं। इन सब को पाने वाला धनी व्यक्ति या संस्था हो सकता है।

वाणिज्य साख-पत्रों के उपयोग—यह साख-पत्र धात्विक मुद्रा की मितव्ययता करते हैं तथा विनिमय का अत्यन्त सुविधाजनक माध्यम प्रदान करते हैं। इनके द्वारा भुगतान उस समय तक टाला जा सकता है जब तक कि देनदार को उसका वापिस करना सुविधाजनक न हो और इस प्रकार उसकी कठिनाइयां कम हो जाती हैं। इनके द्वारा उत्पादन में वृद्धि होती है क्योंकि उत्पादक अपनी वस्तुओं के बदले दाम पाने की संभावना के आधार पर ही व्यय करने लगते हैं।

चेक द्वारा भुगतान का तरीका बहुत सुविधाजनक तथा सुरक्षित है। चेकों के प्रतिपर्णों (counterfoils) द्वारा यह सुगमता से पता लगाया जा सकता है कि किस व्यक्ति को भुगतान किया गया है। पुनः इनके प्रयोग से घर में अधिक नकदी रखने की आवश्यकता नहीं रह जाती। इस कारण चेकों का प्रयोग करने वालों को चोरों का भय नहीं रहता। चेकों के कारण देश की कानूनन ग्राह्य मुद्रा की बचत हो जाती है और दूर स्थानों तक भुगतान सुविधापूर्वक हो जाता है। इनमें भुगतान भी सुविधाजनक ढंग से लिया जा सकता है।

दर्शनी हुण्डी का एक नमूना

सिद्ध श्री कानपुर शुभस्थान श्री पत्री भाई रामलाल हरनारायन जोग लिखी प्रयाग-जिये रामनाथ चन्दुलाल की राम राम बंचना। आगे हुण्डी कीता एक आप ऊपर किया रुपया ५००) अंकेन पांच सौ के नीमे दो सौ पचास के पूरे दुने दीने। यहां रक्खा भाई इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया, इलाहाबाद वाले के मिती कातिक सुदी तेरस से पहुँचे दाम धनी जोग बिना जाब्ता रुपया बाजार चलन हुण्डी की रीत ठिकाने लगाय दाम चौकस कर देना। मिती कुआर सुदी तेरस संवत् १९७८।

मुद्दती हुण्डी का एक नमूना

सिद्ध श्री इन्दौर महाशुभ सुतांक भाई अला वक्स माधोलाल लिखी उज्जैन से राम बिहारी लाल की राम राम बंचना। अपरंच हुण्डी एक रुपया २५००) अंकेन पचीस सौ जिसका नीमा रुपया साढ़े बारह सौ का दूना पूरा अथे रक्खा। दी बैंक आफ इन्दौर लिमीटेड पास

मिती भदवा सुदी आठे से दिनको साठ पीछे नामे साहजोग हुण्डी चलन कलदार दिया, ।
मिती भदवा सुदी आठें संवत् १९७८ ।

नोट—हुण्डियों में आधी धन-राशि को इस कारण लिखा जाता है जिससे बेईमानी से धन की संख्या में परिवर्तन न किया जा सके ।

विनियोग साख-पत्र—इन साख-पत्रों का प्रयोग उद्योग अचल पूँजी प्राप्त करने के लिए करते हैं। यह कई प्रकार के होते हैं जैसे (अ) बाण्ड तथा डिबेंचर, (ब) स्टाक तथा हिस्से, (स) अल्प-कालीन पत्र-मुद्रा तथा (द) स्टाक के स्वामियों के अधिकार-पत्र।

(अ) बाण्ड तथा डिबेंचर वह पत्र है जिनके द्वारा सम्मिलित पूँजी कम्पनियां तथा सरकारें दीर्घ-कालीन ऋण प्राप्त करती हैं। यह पत्र ऋणों के प्रतीक हैं और इस कारण इनके स्वामी को लेनदार कहा जाता है । बाण्ड जो वाहक को देय हैं या बेचान द्वारा हस्तांतरित किये जा सकते हैं बिल तथा पत्र-मुद्रा की भाँति ही साख-पत्र हैं। बाण्डों के साथ जो व्याज के कूपन लगे रहते हैं उन्हें अवधि आ जाने पर फाड़ लिया जाता है और चेक की भाँति सकारने के लिए दे दिया जाता है। इन्हें स्टाक या हिस्सों से अधिक सुरक्षित विनियोग समझा जाता है परन्तु इनकी बहुत कुछ सुरक्षा इन बाण्डों की तथा शर्त-पत्र (Trustdeed) की शर्तों पर निर्भर रहती है । यदि देनदार उन पर लगातार व्याज नहीं देता तो जमानती अदालत की सहायता से, उसकी सम्पूर्ण जायदाद, थाली लोटा सहित, कुर्क करवा सकते हैं। यद्यपि सरकार या नगर पालिका (Municipality) को इस प्रकार का कोई भय नहीं होता, फिर भी वह अपने ऋणों को ध्यानपूर्वक पूरा करते हैं क्योंकि वह जानते हैं कि यदि उन्होंने अपने कुछ लेनदारों को धोखा दिया तो फिर उन्हें अन्य कोई लेनदार नहीं मिलेगा। यह ठीक है कि एक गई-बीती कम्पनी या दिवालिया सरकार के लेनदार की दशा किसी सुदृढ़ कम्पनी के हिस्सेदार की तरह अच्छी नहीं हो सकती। बान्ड तथा डिबेन्चरों पर निश्चित दर से ही व्याज मिलता है और चाहे किसी कम्पनी को अत्यधिक लाभ हो, फिर भी इनके अधिकारियों को कुछ अधिक नहीं मिलेगा ।

(ब) स्टाक तथा हिस्से कम्पनी की पूँजी होते हैं और कम्पनी के लिए 'देनी' के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि स्टाक तथा हिस्सों के अधिकारी कम्पनी के मालिक हैं, फिर भी स्टाक, हिस्से, बॉण्ड तथा डिबेन्चरों को खरीदने वाले इनमें कोई भेद नहीं करते जैसा कि इस प्रश्न से स्पष्ट है, "मैं स्टाक या बाण्ड या हिस्से में से किसमें रुपया लगाऊँ।"

(स) अल्प-कालीन पत्र-मुद्रा का प्रयोग अचल-पूँजी इकट्ठा करने में किया जाता है और इनकी अवधि एक से पाँच वर्ष तक होती है । इनकी जमानत कम्पनी की आय है । यह अस्थाई कठिनाइयों के निवारण के लिये ही निकाले जाते हैं। जब द्रव्य की खींच होती है या उद्योग का भविष्य अस्पष्ट होता है, उस समय दीर्घ-कालीन बाण्ड बेचना कठिन होता है। सुसमय पर इन्हें दीर्घकालीन बाण्डों में परिवर्तित कर दिया जाता है। आजकल इनका अधिकांश प्रयोग नये निर्माणों के लिये आवश्यक धन प्रदान करने के लिए ही किया जाता है, यदि ऋण का भुगतान अल्प काल में हो सके। कम्पनी की आय पर इनका अधिकार बाण्ड के बाद आता है ।

(द) हिस्सेदारों के अधिकार (Shareholders' Privileges) तब उठते हैं जब कोई कम्पनी नई हिस्से निकालती हैं। तब उनके जितने वर्तमान हिस्से हैं उसके अनुपात में उन्हें नये हिस्से हस्तांतरित पत्र के रूप में दे दिये जाते हैं। यह अधिकार बाजार में लगभग उसी मूल्य पर खरीदे तथा बेचे जाते हैं जितना नए स्टाकों के निर्गम तथा बाजारी मूल्यों में भेद होता है।

अध्याय ५०

बैंक—उनके कार्य और वर्गीकरण

बैंक क्या है ?—इस प्रश्न का उत्तर देते हुए 'भारतीय केन्द्रीय बैंकिग जांच समिति'*, १९३१ इतना कहने के अतिरिक्त कुछ न कह सकी कि "बैंक तथा बैंकर की परिभाषा देने का कार्य, जो अन्य देशों में लगभग असंभव माना गया है भारत में ऐसा कहीं अधिक है क्योंकि यहाँ कोई भी ऐसी परिभाषा नहीं दी जा सकती जिससे बहुत से ऐसे देशी बैंकर तथा महाजन जो देश के उद्योगों को धन प्रदान करने का कार्य करते हैं बैंक की श्रेणी से बाहर न माने जायँ।"
ब्रिटिश लोक सभा को भी इतना कहकर ही संतोष करना पड़ा कि बैंक "एक ऐसी फर्म या संस्था है जो बैंक सम्बन्धी कार्य करती है।" आधुनिक युग में बैंक द्वारा किये जाने वाले कार्य इतने भिन्न हैं कि इसकी कोई भी सर्वमान्य परिभाषा अभी तक नहीं बन सकी है। हिल्टन-यंग कमीशन, १९२६ का मत था कि "बैंक' या 'बैंकर' शब्द के अन्तर्गत उन सब व्यक्ति, फर्म तथा कम्पनियों को ले आना चाहिये जो अपने नाम में "बैंक' या "बैंकिग" शब्द का प्रयोग करते हैं तथा जो जमा के लिए रुपया लेते हैं और चेक, ड्राफ्ट या निर्देशन के अनुसार उसको निकालने की सुविधा प्रदान करते हैं। सन १९४५ के प्रस्तावित भारतीय बैंकिग कम्पनी विधान ने "माँग पर देय जमा स्वीकार करने वाले" को ही बैंक कह परिभाषित किया था। सेयर्स (Sayers) के अनुसार "बैंक वह संस्था है जिसके ऋणों की दूसरे व्यक्तियों के आपसी ऋणों के भुगतान में, दूर दूर तक मान्यता हो।" दूसरे शब्दों में बैंक एक संस्था है जो धन या साख को जमा के रूप में स्वीकार करती है और जो अपनी साख को बेच या उसकी वृद्धि कर लाभ कमाती है। क्राउथर के शब्दों में "बैंक ऋणों का लेन-देन करता है—अपना तथा दूसरों का।"

बैंकर के प्रमुख कार्य—"बैंकर का कार्य दूसरे व्यक्तियों का ऋण लेना, अपना बदले में देना और इस प्रकार द्रव्य का सृजन करना है बैंक हवा में से द्रव्य का निर्माण नहीं करता, यह धन के अन्य रूपों को द्रव्य में परिवर्तित कर देता है। बैंकर अचलायमान धन को चलायमान या 'तरल' धन अर्थात द्रव्य का रूप देता है। यह अचलायमान द्रव्य को 'लेनी' के रूप में स्वीकार कर बदले में आई० ओ० यू० (I.O.U.) जो एक प्रकार का द्रव्य है—दे देता है। बैंकर के कार्य का यह सार है।"† बैंक एक ओर व्यक्तियों की बचत को जमा के रूप में स्वीकार कर और दूसरी ओर उधार देकर एक दलाल का काम करता है। प्रत्येक समाज में ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अपनी आय से कम व्यय करते हैं। उनके लिये यह बड़ी समस्या है कि अपनी बचत किस प्रकार सुरक्षित रूप में रखें। बैंक इन बचतों को सुरक्षित रखने का कार्य अपने ऊपर ले लेता है। पुराने अनुभव से वह जानते हैं कि इन बचतों का एक बहुत न्यून भाग (दस प्रतिशत) ही किसी समय निकाला जाता है। अतः इन बचतों के शेष भाग को वह उधार दे सकते हैं और जितनी व्याज वह जमा पर देते हैं उससे अधिक उधार लेने वालों से लेकर वह कुछ कमा भी सकते हैं। व्याज के रूप में अतिरिक्त आय कमाने का प्रलोभन,

---

*इण्डियन बैंकिग इन्क्वायरी कमेटी, १९३१।

†देखिए क्राउथर की पुस्तक 'मनी'।

जमा करने वालों को अधिक से अधिक बचाने तथा अपनी बचत को जमा के रूप में बैंक के पास छोड़ देने के लिए पर्याप्त है। ग्राहकों से प्राप्त जमा का अधिकांश भाग उधार दे देने की शक्ति ही बैंकों को द्रव्य- सृजन करने में सहायक होती है और इसी के द्वारा वह मूल्य-स्तर को प्रभावित भी कर सकते हैं।

बैंक किस प्रकार द्रव्य सृजन करते हैं ?—बैंक दो प्रकार से द्रव्य का सृजन करते हैं—(१) पत्र-मुद्रा निकालकर, तथा (२) व्यापारी को उधार देकर और उनके नाम जमा दिखाकर।

जब बैंक पत्र-मुद्रा निकालता है, तो उसे अपनी जिम्मेदारियों के बदले में पर्याप्त धन राशि रखनी पड़ती है, । क्योंकि पत्र-मुद्रा का एक थोड़ा सा भाग ही कानूनन ग्राह्य मुद्रा (अधिकतर धात्विक मुद्रा) के रूप में भुगतान के लिए आने की संभावना है, अतएव बैंक द्वारा कानूनन ग्राह्य धात्विक मुद्रा का एक थोड़ा सा कोष ही इसके द्वारा निकाली गई पत्र-मुद्रा की परिवर्तनशीलता कायम रखने के लिए पर्याप्त होता है। निकाली गई पत्र-मुद्रा का शेष भाग, जिसके बदले में कानूनन ग्राह्य धात्विक मुद्रा नहीं रखी गई है, मान्य सिक्योरिटियों में लगा रहता है और यह कोष का विनियोजित भाग होता है। जब तक पत्र-मुद्रा निकालने वाली बैंक की साख अच्छी है, इसकी पत्र-मुद्रा द्रव्य की भांति ही चालू रहती है और जनता के हाथ में क्रय-शक्ति का कार्य करती है। बैंक द्वारा द्रव्य के सृजन की यह प्रथम रीति है।

बैंक द्वारा द्रव्य सृजन करने की एक दूसरी रीति भी है। जब कोई बैंक ग्राहक से जमा लेता है तो उसे ब्याज देना पड़ता है और साथ ही हिसाब-किताब रखने पर भी कुछ व्यय करना पड़ता है। अतः यह प्राप्त जमा को बेकार नहीं रख सकता। स्वयं अपने तथा दूसरे बैंकों के भूतकालिक अनुभवों के आधार पर वह जानता है कि जमा-देनी का २० प्रतिशत यदि एक कानूनन ग्राह्य कोष में रख लिया जाय तो निकालने वालों की मांग को सुगमता से पूरा किया जा सकता है और शेष जमा को निर्भय उधार दिया जा सकता है। बैंक द्वारा उधार दी गई धन-राशि पुनः इसी बैंक के पास या दूसरी बैंकों के पास जमा के रूप में आ जाती है—जमा वह करते हैं जिनको लेनदारों ने रुपया वापस किया है। इस नये जमा का ८० प्रतिशत भाग पुनः उधार दे दिया जाता है। इस प्रकार बैंक के पास नकद-कोष की परिधि उससे पांच गुनी अधिक जमा-देनी के लिए पर्याप्त होती है।

पुनः, जब बैंक इस बात से संतुष्ट है कि लेनदार साख-योग्य है और यदि वह बैंक को मान्य सिक्योरिटियां देने को प्रस्तुत है तो उसे उधार मिल जाता है। उधार लेने वाला नकदी बाहर निकालने से संभवतः यह कहीं अच्छा समझेगा कि रुपया बैंक में ही जमा रखा जाय और जब कभी आवश्यकता पड़े उसे चेक द्वारा निकाल लिया जाया करे। इन चेकों के पाने वाले या तो उन्हें दूसरों को हस्तांतरित कर सकते हैं या अपनी बैंकों में अपने नाम जमा कर सकते हैं और फिर इस जमा के ऊपर चेक काट सकते हैं। क्योंकि चेक भुगतान का एक साधन है बैंक उधार, अधिविकर्ष (over-draft) तथा नकद-साख (cash-credit) देकर तथा सिक्योरिटियों को खरीदकर साख का सृजन करते हैं। यह चेक चालू विनिमय-माध्यम का परिमाण बढ़ाते हैं और उसी प्रकार मूल्य-स्तर को प्रभावित करते हैं जिस प्रकार मुद्रा का क्रमिक निर्गम।

बैंक किस परिमाण तक साख का निर्माण कर सकते हैं इसका अनुमान एक उदाहरण लेकर किया जा सकता है। ब्रिटेन में १९४० के लगभग समस्त बैंकों की जमा २४०० करोड़ पौण्ड थी, जबकि देश भर में कुल नकदी (बैंक की जमा को छोड़ अन्य द्रव्य) ६० करोड़ पौण्ड से अधिक न थी और ब्रिटेन की समस्त बैंकों की नकदी २५० करोड़ पौण्ड से निश्चित रूप से अधिक न थी। अतः स्पष्ट है कि सन् १९४० के लगभग ब्रिटेन की बैंकों ने २१५० करोड़ पौण्ड के लगभग अतिरिक्त-जमा का सृजन किया था अन्यथा यह राशि उनके पास आई कहां से ?

बैंक के कार्य—एक आधुनिक बैंक अनेक कार्य करता है और समाज की विभिन्न सेवायें करता है। उन सबकी सूची तैयार करना अथवा उनका अध्ययन सुगम कार्य नहीं है।

बैंक का प्रमुख कार्य जनता से जमा (कुछ व्याज दरों पर) लेना और इस प्रकार राष्ट्रीय बचतों को गतिशील कर अधिक मात्रा में पूँजी इकट्ठी करना तथा व्यापार और उद्योग को उसे उधार देकर (अधिक सूद-दर पर) उत्पादन को प्रोत्साहन देना और देश के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना है। जमा चालू खाते (Current account) या मुद्दती खाते (fixed account) या बचत खाते (Savings account) में की जा सकती है। चालू खाते में जमा धन-राशि मांग पर (अर्थात् किसी भी समय) चेक द्वारा निकाली जा सकती है। प्रायः बैंक इस प्रकार के जमा पर कोई व्याज नहीं देते। कुछ बैंक उस अवस्था में व्याज देते हैं जब निश्चित न्यूनतम परिमाण से अधिक धन एक निश्चित समय तक जमा रखा जाय। मुद्दती खाते में जमा-पूँजी मांग पर तथा अवधि पूरी हो जाने के पहले नहीं निकाली जा सकती। जमा करते समय दोनों धनियों में यह तय हो जाता है कि कितने दिन के नोटिस देने पर ही यह निकाला जा सकता है। इन पर दी जाने वाली व्याज-दर जितने समय के लिए धन बैंक के पास छोड़ा गया है उसके अनुसार बदलती रहती है। बचत खाते पर भी व्याज मिलता है ; परन्तु कुछ शर्तें पूरी करने पर ही धन निकाला जा सकता है। उदाहरण के लिए कुछ बैंक सप्ताह में एक बार रुपया निकालने की आज्ञा देते हैं तथा जमा करने वाले या उसके प्रतिनिधि की उपस्थिति पास-बुक के साथ रुपया निकालते समय आवश्यक मानते हैं और यदि निकाले जाने वाले धन की राशि अधिक है तो समयानुसार नोटिस मांगते हैं। इस प्रकार के जमा चालू-जमा से कम 'द्रवित' हैं। चालू खाते में जमा धन-राशि पर बैंक मामूली व्याज ही देते हैं।

बैंक द्वारा यह कार्य कुशलतापूर्वक करने से व्यक्तियों में बचाने की प्रवृत्ति बढ़ती है और वह अपनी बचत बैंकों के पास जमा के लिये ले आते हैं। यदि बैंक न होते तो व्यक्ति या तो अपनी सम्पूर्ण आय को व्यय कर देते या अपनी बचत घरों में गाड़ कर रखते। उन्हें प्रत्येक जमा के साथ तथा व्याज के हिसाब में जुड़ जाने से बढ़ते हुए बैंक-शेष को देखने का सुख प्राप्त न होता।

जमा दो प्रकार के होते हैं :—(१) नकद जमा (अर्थात् ग्राहक का जमा द्रव्य पर चेक काटने का स्वत्व) तथा (२) साख जमा (अर्थात् ग्राहक का बैंक द्वारा उधार पाने के अधिकार के ऊपर चेक काटने का स्वत्व)। जब कोई ग्राहक सिक्का, चेक या ड्राफ्ट बैंक में जमा करता है तो एक नकद-जमा का सृजन होता है और ग्राहक द्वारा निर्मित इस जिम्मेदारी को पूरा करने के लिए बैंक को एक पर्याप्त कोष रखना पड़ता है जिससे निकालने की मांग को पूरा किया जा सके। इसके विपरीत साख-जमा का सृजन बैंक अपने ग्राहकों के पक्ष में उन्हें ऋण,

अधिविकर्ष, तथा नकद-साख या उनके बिल तथा ऋण-पत्रों को सकार कर, करते हैं। इस जमा पर ग्राहक चेक काटकर अपने दूसरे लेनदारों को भुगतान करते हैं।

बैंक का दूसरा काम उधार देना है। असंख्य व्यक्तियों से प्राप्त जमा की बूंद-बूंद अन्ततः एक बड़ी धन राशि हो जाती है। व्यक्तिगत जमा चाहे किसी भी समय निकाल भले ही लिए जांय परन्तु जहां तक कुल जमा का प्रश्न है यह कुछ घट-बढ़ के साथ बैंक के पास बने रहते हैं। अपने भूतकालिक अनुभवों के आधार पर बैंक यह जानता है कि विभिन्न समयों के लिए वह अपनी जमा का कितना आनुपातिक भाग समझदारी से उधार के रूप में दे सकता है। सापेक्षिक रूप से यद्यपि बैंक थोड़ी थोड़ी मात्रा में उधार लेते हैं, फिर भी वह बड़ी रकमें उधार देते हैं; यद्यपि वह अल्पकाल के लिए उधार लेते हैं फिर भी वह दीर्घकाल के लिए उधार देते हैं; यद्यपि वह जमा करने वालों से लेनी के रूप में अगतिशील धन लेते हैं, फिर भी वह अपने आई० ओ० यू० उधार देते हैं जो पूर्णतः द्रवित तथा गतिशील हैं और जो द्रव्य का कार्य करते हैं। इस प्रकार के प्रत्येक परिवर्तन से बैंक ने पूँजी का उत्पादन बढ़ा दिया है।

बैंक द्वारा दिये गये ऋण तथा अग्रिम (Advances) दो प्रमुख रूप लेते हैं। पहला रूप तो यह है कि कुछ समय के लिए कुछ परिमाण में उधार दे दिया जाता है या चालू खाते में जमा करने वाले किसी व्यक्ति को कुछ सीमा तक अधिविकर्ष दे दिया जाता है। दूसरे, वह सकारने का रूप ले सकते हैं। जब कोई बैंक किसी बिल या प्रण-पत्र को सकारता है तो वह करता यह है कि मालिक का पत्र के पकने की तिथि पर भुगतान पाने का अधिकार क्रय कर लेता है। बैंक स्वामी को पत्र के वर्तमान मूल्य के आधार पर भुगतान कर देता है (अर्थात् उस पत्र के वास्तविक अर्थ से जितने समय में वह पकने वाला है उसकी व्याज काट कर) और पकने की तिथि को अपना द्रव्य वापस पा जाता है।

ऋण के दो मोटे भेद हैं—सुरक्षित तथा असुरक्षित। सुरक्षित ऋण वह है जो जमा विकाऊ स्टाक, सिक्योरिटी, पाट, माल, जहाजी बिल्टी (Bill of lading), गोदाम वालों के प्रमाण-पत्र (Warehouse receipt), जमीन तथा जायदाद या उनके अधिकार पत्र तथा जान-बीमा-पत्र (Life insurance-policies) द्वारा सुरक्षित हों। इस प्रकार के ऋणों पर, व्यक्तिगत साख पर दिये जाने वाले ऋणों की अपेक्षा बैंक कम व्याज लेते हैं क्योंकि यदि ऋणी देने में कोताही करता है या दिवालिया हो जाता है तो ऋण इन सिक्योरिटियों की बिक्री से वसूल किया जा सकता है या यदि बैंक को पकने की अवधि से पहले द्रव्य की आवश्यकता पड़ जाय तो वह इन्हें दूसरी बैंक के पास रहन रखकर ऋण ले सकता है। असुरक्षित ऋण या कोरा अग्रिम उधार लेने वाले के प्रण-पत्र के ऊपर दिया जा सकता है (उस समय यह एक नामवाला पुर्जा कहलाता है) या उधार लेने वाले तथा उसके जमानती के संयुक्त प्रण-पत्र पर (उस समय उसे दो-नामवाला पुर्जा कहते हैं)।

भारतीय बैंकें असुरक्षित ऋण देने में बड़ी सतर्क हैं। परन्तु नकद-साख उनमें तथा लेनदार भारतीय दूकानदार दोनों में बड़े प्रचलित हैं। नकद-साख उधार लेने वालों के प्रण-पत्रों (जिसके कम से कम दो जमानती होते हैं तथा जो सिक्योरिटी या सामान के गिरवी रखने के कारण सुरक्षित होते हैं) पर दिये गए ऋण हैं। देनदार जब चाहे दिये गये ऋण की मात्रा कम कर सकता है और उधार लेने वालों को नकद-साख की उसी मात्रा पर व्याज देना होगा जितनी का उसने प्रयोग किया है।

ऋण को एक अन्य प्रकार से भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) समय पर देय ऋण, जो प्रायः एक माह या उससे अधिक समय के बाद देय होते हैं, और (२) माँग पर देय ऋण जिसमें याचना-द्रव्य (Call money) भी आ जाता है। एक प्रकार के माँग-पर-देय-ऋण के बारे में यह बात है कि बैंक उन्हें असीमित समय के लिए चलने देते हैं, जब तक अपनी गिरती हुई आर्थिक स्थिति के कारण वह ऋण वापस ले लेने के लिए बाध्य नहीं हो जाते। वास्तव में इस प्रकार के ऋणों का भुगतान ऋणी अपनी मर्जी से करते हैं और इन पर ब्याज बहुत कम होता है। याचना-द्रव्य या स्टाक-बाजारी-ऋण प्रायः विनिमय-बिल के दलालों तथा स्टाक एक्सचेंज पर काम करने वाले व्यवसायियों को दिया जाने वाला अग्रिम है, जो सिद्धान्ततः लेनदार या देनदार द्वारा किसी भी क्षण समाप्त किया जा सकता है, परन्तु व्यवहार में कम से कम एक दिन का नोटिस देना ही पड़ता है।

बैंक अपने मान्य ग्राहकों को चालू खाते पर अधिविकर्ष दे देते हैं। अधिविकर्ष देते समय कुछ बैंक सिक्योरिटी भी मांगते हैं, विशेषतः जब अधिविकर्ष काफी अधिक हो। ग्राहकों की साख के अनुसार बैंक द्वारा दिये जाने वाले अधिविकर्ष की मात्रा तथा समय भी बदलता रहता है।

बिल भुनाकर भी, बैंक बिल के स्वामी को बिल के वर्तमान मूल्य के रूप में ऋण देता है जिसे वह सूद सहित बिल लिखने वाले धनी से पकने की तिथि पर वसूल कर लेता है। बैंक ऋण देने की अपेक्षा बिलों का भुनाना कई कारणों से अधिक पसन्द करते हैं। एक तो बिलों के पकने की एक निश्चित तिथि होती है जिस दिन या तो उनका भुगतान करना होता है या उसकी मनाही, जबकि ऋणों की बहुधा पुनरावृत्ति हो जाती है। दूसरे, क्योंकि बिल के पकने की तिथि निश्चित होती है और उसको बढ़ाया या बदला नहीं जा सकता इस कारण भुगतान करने वाली बैंक किसी भी दिन अपनी लेनी की दशा समझ सकती है। ऋणों में यह सुविधा प्राप्त नहीं है। तीसरे, बिलों के बट्टा करने में बैंकों को यह सुविधा रहती है कि उनका सुगमतापूर्वक पुनर्बट्टा करा उन्हें नकदी में परिणित किया जा सकता है। परन्तु ऋणों का दूसरे बैंकों को हस्तांरित करना और उनके बदले में धन पा जाना इतना सुगम नहीं है। अन्त में, बिलों का बट्टा करना ऋण देने की अपेक्षा अधिक सुरक्षित समझा जाता है क्योंकि बिल का लिखने वाला धनी ही नहीं वरन् उसके पाने वाला धनी और बाद के सभी स्वामी उसको देने के लिये कानूनन बाध्य हैं जबकि ऋण के लिए उधार लेने वाले तथा उसके जमानती के ऊपर ही कार्यवाही की जा सकती है।

पहले कागजी मुद्रा का निकालना बैंक का एक अन्य प्रमुख कार्य समझा जाता था, परन्तु आज कल देश की केन्द्रीय बैंक को ही पत्र-मुद्रा निकालने का अधिकार प्राप्त है। जब तक व्यापारिक बैंकों को पत्र-मुद्रा निकालने का अधिकार था, उन्हें एक अत्यन्त लाभप्रद व्यापार प्राप्त था, वह अपने व्यापार के लिए ग्राहकों द्वारा जमा द्रव्य स्वयं रख लेते थे और उनके लेनदारों को स्वयं की निकाली हुई पत्र-मुद्रा में भुगतान कर देते थे। पत्र-मुद्रा निकालते समय एक बैंक वास्तव में अपने साख को उधार देती है और उधार के परिमाण के विपरीत अनुपात में उसे एक कोष रखना पड़ता है। पत्र-मुद्रा निकालने वाली बैंक का लाभ चलन में आई पत्र-मुद्रा की मात्रा तथा उसके परिशोधन के लिये रखे गये कोष के अन्तर पर मिलने वाले ब्याज के बराबर होता है। यह ठीक है कि कुछ बैंकों ने इस अधिकार का अनुचित प्रयोग किया और अन्त में वह फेल हो गए, परन्तु सुदृढ़ बैंकों द्वारा निकाली गई पत्र-मुद्रा जिस पर जनता

का विश्वास था, व्यक्तियों द्वारा आपसी ऋण-परिशोधन के लिए प्रसन्नता से स्वीकृति कर ली जाती थी। इंगलैंड में यह स्थिति १८४४ तक रही जब ब्रिटिश लोक सभा को 'बैंक चार्टर एक्ट' पास करना पड़ा जिससे पत्र-मुद्रा निकालने का अधिकार सीमित कर दिया गया और उसके धीरे धीरे अन्त कर देने के लिए भी एक नियम बनाया गया। भारत में रिजर्व बैंक को ही, जो देश की केन्द्रीय बैंक है, पत्र-मुद्रा निकालने का (सन् १९३४ से) अधिकार प्राप्त है। भारत सरकार ने सन् १८६२ से १९३४ तक पत्र-मुद्रा निकालने का एकाधिकार अपने ही हाथों में रखा। १८६२ के कई वर्ष पहले मद्रास, कलकत्ता तथा बम्बई की तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को यह अधिकार प्राप्त था, परन्तु उनके द्वारा निकाली गई पत्र-मुद्रा का चलन बड़ा सीमित था—वह प्रेसीडेन्सी नगर तथा वहाँ के रहने वाले व्यापारियों तक ही सीमित था।

तरल पूँजी के बचाने वाले तथा उसके प्रयोग करने वालों को मिलाने के अतिरिक्त बैंक कुछ जनोपयोगी कार्य भी करते हैं जैसे (अ) साख-पत्र (Letters of credit), यात्री-चेक (Travellers' cheque), तथा बैंक ड्राफ्ट का निकालना जिससे ग्राहक बैंक की बड़ी साख का लाभ उठा सकते हैं और दूर-दूर तक धन मितव्ययता पूर्वक भेज सकते हैं।

(ब) ग्राहकों के बदले विनिमय-बिलों की 'स्वीकृति' जिससे बैंक अपने ग्राहकों को तीसरे पक्ष से मिलने वाले साख की प्राप्ति सुलभ कर देता है और बिल को सुगमता से बट्टा योग्य बना देता है।

(स) ग्राहकों की बहुमूल्य वस्तुएँ तथा सिक्योरिटियों को सुरक्षित दशा में रखने के लिए लेकर यह एक धरोहरी का काम करते हैं। इस प्रकार यह धनवान ग्राहकों के कंधे से भारी बोझ उठा लेते हैं।

(द) यह अपने ग्राहकों की सुदृढ़ आर्थिक स्थिति, इज्जत तथा साख पाने की योग्यता के बारे में गोपनीय खबर देते हैं जिससे वह दूर-स्थित फर्म तथा दूकानदारों को सन्तुष्ट कर पाते हैं और व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं।

(प) बैंक व्यापारी पर बड़ा अच्छा प्रभाव डालते हैं और समाज में व्यवसायिक गुणों के फैलाने में सहायता प्रदान करते हैं। गिलबर्ट के शब्दों में "यह मेहनती, समझदार, समय पर काम करने वाले तथा ईमानदारों को प्रोत्साहन देते हैं और फिजूलखर्च, जुआरी, झूठे और उद्दण्डों को रोकते हैं। यह ईमानदारी को, जिसे सभी अच्छा समझते हैं, प्रोत्साहित करते हैं। ऐसे बहुत से व्यक्ति हैं जो बैंकर की भौंह चढ़ जाते ही बेईमानी से हट जाएँगे भले ही वह पादरी की डाट का कुछ भी ख्याल न करें।" यह मितव्ययता, कम खर्च, बचत तथा विनियोग को बढ़ावा देते हैं और इस प्रकार देश को समृद्धशाली बनाते हैं।

(म) ग्राहकों को देश तथा विदेश की व्यापारिक खबरों से अवगत कराते हैं।

(य) विभिन्न व्यापारिक केन्द्रों में उपयुक्त आकार तथा प्रकार की मुद्रा की पूर्ति करते हैं। उदाहरण के लिये यदि देश के भीतरी भाग में रहने वाला दूकानदार अपनी वस्तु के बदले में सिक्के लेना चाहे और पत्र-मुद्रा लेने से इनकार कर दे तो बैंक का यह काम है कि वह पत्र-मुद्रा को बदल कर सिक्के दे दे और इस प्रकार व्यापार सुगम बना दे।

(र) अतिरिक्त कोष का उस स्थान से जहां उनका बहुत अच्छा उपयोग नहीं हो सकता ऐसे स्थान पर ले जाना जहां उनकी बहुत अधिक आवश्यकता है।

विदेशी विनिमय व्यापार का लेन-देन करना—(१) आयातकर्ताओं को विदेशी विनिमय देना जिससे वह देश के उपभोक्ताओं को विदेशी माल दे सकें और (२) निर्यातकर्ता द्वारा विदेशी केन्द्रों के ऊपर लिखे गए विनिमय बिलों का भुगतान करना जिससे स्वदेशी सामान का विदेशों को निर्यात सुगम हो जाय। इस प्रकार बैंक देश के आन्तरिक व्यापार को ही नहीं वरन् उसके विदेशी व्यापार को भी सहायता पहुँचाते हैं। भारत में विनिमय बैंक नाम की विशिष्ट संस्थाएँ विदेशी व्यापार को धन प्रदान करने का कार्य करती हैं।

इन सेवाओं के अतिरिक्त, बैंक ग्राहकों के प्रतिनिधि का भी कार्य करते हैं और उनके बदले निम्न कार्य करते हैं:—

(अ) चेक, बिल तथा ऋण-पत्रों को एकत्रित करना तथा उनका भुगतान;

(ब) आय-कर विभाग, बीमा कम्पनी, क्लब, सभा तथा समितियों को ग्राहक के आदेशानुसार समय समय पर भुगतान करते रहना;

(स) ग्राहकों के हिस्से तथा स्टाकों पर मुनाफा और बॉण्ड तथा डिबेंचरों पर ब्याज वसूल करना ;

(द) स्टाक-एक्सचेन्ज की जमानतों या सुरक्षा-पत्रों (securities) का क्रय-विक्रय करना;

(क) अपने ग्राहक, दूसरे बैंक तथा वित्त-गृहों के प्रतिनिधि या दलाल की भाँति देश या विदेश में कार्य करना;

(ख) ग्राहकों के धरोहरी या कार्यकारी (Executor) या नियुक्तक (Attorney) की भाँति काम करना;

(ग) ग्राहकों के बदले किराया, पेन्शन, आय-कर तथा बीमे की रकम प्राप्त करना।

बैंकों का वर्गीकरण—वर्तमान औद्योगिक समाज की वैत्तिक आवश्यकताएँ इतनी भिन्न हैं कि एक देश के लिए कई प्रकार के बैंकों की आवश्यकता पड़ती है। यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक बैंक ने एक भिन्न प्रकार के वैत्तिक व्यापार में विशिष्टता प्राप्त करली है और वही कार्य वह करता है। क्योंकि प्रत्येक देश की आर्थिक दशा तथा वैत्तिक आवश्यकतायें एक दूसरे से भिन्न होती हैं और क्योंकि बैंकिंग एक प्रवैगिक प्रणाली है, इस कारण बैंकों का इस प्रकार से वर्गीकरण करना, कि वह वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक भी हो और वास्तविक स्थिति के अनुकूल भी हो, बड़ा कठिन है। एक साधारण वर्गीकरण, जो कार्यों की भिन्नता पर आधारित है तथा जो आकारिक भेदों को पूर्णतः भुला देता है, हो सकता है वास्तविकता के पूर्णतः अनरूप न हो क्योंकि एक ही बैंक को विभिन्न बैंक-सम्बन्धी कार्य करते हुए पाया जा सकता है।

कार्यों के अनुसार बैंकों के कई भेद किये जा सकते हैं जैसे व्यापारिक बैंक, औद्योगिक बैंक, खेतिहर बैंक, बंधक बैंक, सहकारी बैंक, बचत बैंक, केन्द्रीय बैंक, विनिमय बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक।

साख के दो प्रमुख भेदों—व्यापारिक साख तथा औद्योगिक साख—के अनुसार बैंक भी दो मुख्य प्रकार के हैं। उन्हें व्यापारिक तथा औद्योगिक बैंक कहते हैं। प्रत्येक उद्योग को दो प्रकार की पूंजी की आवश्यकता पड़ती है—चालू तथा स्थायी पूँजी। व्यापारिक बैंक अल्पकाल के लिए उधार लेते हैं और इस कारण उतने ही काल के लिए उधार देने के योग्य भी हैं। यह उत्पादक, थोक व्यापारी, फुटकर व्यापारी या दलाल को चालू पूँजी दे सकते

हैं, जिसकी उत्पादन करने, सामान के इधर-उधर भेजने तथा उसको जमा कर रखने में आवश्यकता पड़ती है, और जिसे व्यापारी या दूकानदार द्वारा तैयार किये गए या जमा किये गए माल को बेचकर अल्पकाल में वसूल किया जा सकता है।

व्यापारिक बैंकों की पूँजी जमा के अपेक्षाकृत कम होती है। क्योंकि इनकी स्वयं की पूँजी कम होती हैं और क्योंकि इन्हें यह सम्भावना बनी रहती है कि कहीं रुपया वापस लेने की माँग बढ़ न जाय, यह बैंक अपनी लेनी को यथासम्भव तरल रखते हैं और अपने कोष को उद्योगों की स्थायी पूँजी में फँसने से बचाए रहते हैं। इस कारण यह नवीन कम्पनियों को चालू करने में योग नहीं देते और न यह उनमें कोई प्रत्यक्ष रुचि ही दिखाते हैं (भले ही उनके पास उनके अन्तर लिखित हिस्से हों) क्योंकि ऐसा करना उनकी सफलता के लिए आवश्यक है। संक्षेप में उनका कार्य अपनी लेनी के अधिकांश भाग को प्रत्येक स्थिति में तरल रखना है और अधिक लाभ का लोभ भी उन्हें इससे नहीं हटा सकता।

व्यापारिक बैंकों का साधारण काम दूकानदारों की वैयक्तिक साख खरीदना और उनके बिलों का भुगतान कर या उनके पक्ष में जमा रख (जिससे वह उसके ऊपर चेक लिख सकें) बैंक की साख को बेचना है।

इसके विपरीत विनियोग या औद्योगिक बैंक का कार्य उद्योगों के लिए अवश्यक स्थायी पूँजी प्रदान करना है जिससे वह मशीन, फैक्टरी, फर्नीचर आदि टिकाऊ सामानों को खरीद सकें। क्योंकि औद्योगिक बैंक उन क्षेत्रों को निर्धारित करते हैं जिनमें उपलब्ध पूँजी की पूर्ति प्रवाहित की जाय, प्रत्येक देश औद्योगिक बैंक द्वारा किये जाने वाले कार्यों का महत्व जानता है। फिर भी ब्रिटेन जैसे देश में कुछ समय पूर्व तक नाम के लिए भी कोई औद्योगिक बैंक नहीं था। यह ठीक है कि ब्रिटेन के व्यापारिक बैंक किसान, गृहस्थ तथा उद्योगपतियों को खेत मकान तथा यत्रादि की वृद्धि के लिए एक सीमित मात्रा में ऋण देते थे, परन्तु इस प्रकार प्राप्त पूँजी की मात्रा अवश्य ही सीमित थी। इस कारण १९१९ के नवम्बर में बैंक आफ इंगलैण्ड को 'सिक्योरिटीज़ मैनेजमेण्ट ट्रस्ट लिमिटेड' चालू करना पड़ा जिससे इस्पात और सूती कपड़े जैसे आधारभूत उद्योगों को सहायता करने का तथा देश के औद्योगिक पुर्नसंगठन का उत्तरदायित्व उसके कंधों पर न रहे। इस गौण कम्पनी के संचालक प्रसिद्ध विशिष्ट व्यक्तियों में से, जिनको पर्याप्त तांत्रिक ज्ञान था, लिए गए थे जिससे वह उस किसी भी उद्योग की (जो अपना युक्तीकरण करना चाहे) सहायता कर सकें। फिर १५ अप्रैल, १९३० को बैंक आफ इंगलैण्ड ने अन्य प्रमुख बैंकों की सहायता से 'बैंकर इन्डस्ट्रियल डेवलपमेंट कम्पनी लिमिटेड' को स्थापित किया जिससे वह सम्पूर्ण उद्योग या उसके प्रादेशिक भाग से (किसी एक फर्म से नहीं) सम्पर्क रख सकें। बाद में इस कम्पनी को, संभवतः मेकमिलन कमेटी की आलोचना के कारण, अपना कार्य सीमित करना पड़ा और इसकी पूँजी काफी घटा दी गई। दूसरे महायुद्ध के समय सुरक्षा नियम तथा पूँजी मामलों की सलाहकार समिति के कारण राष्ट्रीय बचत युद्ध, उद्योग तथा सरकारी ऋणों में लगती रही। युद्ध के बाद उद्योगों को वित्त प्रदान करने के लिए एक सुसंगठित संस्था की राष्ट्रीय माँग के कारण जनवरी १९४५ में 'फाइनेन्स कारपोरेशन फार इन्डस्ट्रीज' २½ करोड़ पौण्ड की अधिकृत पूँजी से चालू किया गया। इसने ब्रिटेन के उद्योगों को ऋण देकर तथा उनके हिस्सा-पूँजी खरीद कर बड़ी सहायता पहुँचाई है।

औद्योगिक पुर्नसंगठन में आर्थिक सहायता देने के लिए ब्रिटिश सरकार को दूसरे महासमर के बाद एक दूसरी विशिष्ट संस्था, 'औद्योगिक तथा व्यवसायिक वैत्तिक निगम', चलानी पड़ी। यह संस्था साख की कमी को जिसे देश के बैंक तथा अन्य वैत्तिक संस्थाएँ पूरा करने में असमर्थ हैं, पूरा करती है

ब्रिटेन की भाँति भारत में भी बहुत समय तक कोई औद्योगिक बैंक न था। फिर भी, कुछ संस्थाओं द्वारा उद्योगों के लिए आवश्यक दीर्घकालीन पूँजी की समस्या पूरी (बहुत अपूर्ण ढंग से) होती थी। स्वदेशी आन्दोलन ने कई बैंकों को जन्म दिया, विशेषतः पंजाब में, और वह उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण देते थे। परन्तु यह बैंक १९१३–१६ के संकट के समय फेल हो गए। प्रथम महासमर के पश्चात् अनेक औद्योगिक बैंक पुनः खुले। परन्तु या तो वह फेल हो गए या उन्हें अपना कार्य बदलना पड़ा। अभी हाल में ही भारत में एक औद्योगिक वैत्तिक निगम (इन्डस्ट्रियल फाइनेन्स कारपोरेशन) की स्थापना हुई है। आशा की जाती है कि इस निगम की सहायता तथा सलाह के फलस्वरूप देश में थोड़े से ही समय में औद्योगिक उन्नति हो सकेगी।

जापान में सन् १९०२ में ही इन्डस्ट्रियल बैंक नामक एक औद्योगिक बैंक वहां के उद्योगों की आर्थिक सहायता के लिए खुला और उसकी सफलता निःसंदेह ख्याति योग्य है।

औद्योगिक बैंक नियमानुसार अधिक हिस्सा-पूँजी से स्थापित किए जाते हैं और उन्हें दीर्घकाल के बाण्ड निकालकर या दीर्घकाल के लिए जमा लेकर अपनी पूँजी बढ़ाने का भी अधिकार रहता है। क्योंकि वह अल्पकालीन जमा नहीं लेते, इस कारण उद्योगों को दीर्घकाल के लिए सुगमता से ऋण दे सकते हैं। क्योंकि यह हिस्सेदारों के बैंक होते हैं, अतः यह अपना रुपया वहाँ लगाते हैं जहाँ अधिक लाभ मिले और जोखिम कम से कम हो। क्योंकि आजकल हर बड़े शहर में स्टाक एक्सचेन्ज काम कर रहे हैं, इस कारण उनके विनियोग पूर्णतः अचल हो जाँय, यह भय बहुत कुछ नहीं रहा है। विनियोग करते समय यह एक भिन्न सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं। इस कारण यह दूसरे बैंकों से पृथक हो जाते हैं। व्यापारिक बैंक अपनी लेनी की 'तरलता' की ओर हमेशा ध्यान देते हैं जब कि औद्योगिक बैंक अपने विनियोग से प्राप्त लाभ के बारे में ही सोचते हैं।

कुछ देशों ने एक नई प्रणाली निकाली है जिसे बोल चाल की भाषा में 'मिश्रित बैंक प्रणाली' कहते हैं। उदाहरण के लिए जर्मनी के बैंकों ने जिनके पास प्रचुर मात्रा में हिस्सा-पूँजी है तथा जिनका प्रमुख काम उद्योगों के लिए आवश्यक स्थायी पूँजी प्रदान करना है, जनता से जमा प्राप्त कर व्यापारिक बैंक सम्बन्धी कार्य गौण रूप में प्रारम्भ कर दिया है। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र अमरीका में व्यापारिक बैंक विनियोग बैंकों का भी काम करते हैं यद्यपि १९३५ के बैंक विधान ने इस प्रकार के कार्यों का समिश्रण बहुत कुछ रोक दिया है।

उद्योगों की भाँति कृषि के लिए भी चल तथा अचल पूँजी की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार व्यापारिक बैंक उद्योगपतियों को अल्पकालीन ऋण देते हैं, उसी प्रकार किसानों को अल्प-कालीन ऋण की आवश्यकता पूरी करने के लिए कई देशों में सहकारी बैंक हैं। यह ठीक है कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका तथा कनाडा जैसे देशों में व्यापारिक बैंक किसानों को भी अल्प-कालीन ऋण देते हैं। किसानों को खेत, जानवर तथा मशीन खरीदने और कुआ खोदने के लिए दीर्घ-कालीन ऋण भूमि-बंधक बैंक या खेत-बंधक बैंक प्रदान करते हैं। भारत में

किसानों को ऋण देने का काम देश भर में अब भी महाजनों के हाथ में है, यद्यपि उनकी कार्य विधि पूर्णतः ठीक नहीं है ।

एक दूसरे प्रकार के बैंक, जिन्हें बचत बैंक , कहा जाता है, व्यापारिक तथा औद्योगिक बैंकों के बीच आते हैं। व्यापारिक बैंकों की भाँति वह भी गरीब जनता से जमा प्राप्त करते हैं परन्तु रुपया निकालने पर कुछ प्रतिबन्ध अवश्य लगाते हैं । इस प्रकार के कुछ बैंक चेक द्वारा रुपया निकालने की अनुमति दे देते हैं। विनिमय बैंकों की भाँति यह व्यक्तियों को प्रत्यक्ष रूप से उधार नहीं देते वरन् विनियोग खरीदते हैं ।

एक विशेष प्रकार के व्यापारिक बैंक, जिन्होंने भारत के विदेशी व्यापार को आर्थिक सहायता पहुँचाने के लिए विदेशी विनिमय व्यापार में विशिष्टता प्राप्त कर ली है और जिनके प्रधान कार्यालय विदेशों में हैं, साधारण भाषा में विनिमय बैंक कहलाते हैं । अन्य भारतीय मिश्रित-पूँजी बैंकों की भाँति यह भी चालू, बचत तथा मुद्दती जमा प्राप्त करते हैं और आन्तरिक व्यापार को (विशेषतः निर्यात माल वह जो अभी देश से नहीं गया है अथवा वह माल जो भारत की सीमा के भीतर अभी अभी आया है) आर्थिक सहायता पहुँचाते हैं । परन्तु अन्य भारतीय व्यापारिक बैंकों की अभांति यह विदेशी बिलों में लेन देन करते हैं, जहाजी बिल्टी (Bill of Landing) पर ऋण देते हैं और भारत में पाट के आयात को आर्थिक सहायता देते हैं।

केन्द्रीय बैंक—आजकल लगभग सभी देश में एक केन्द्रीय बैंक है। केन्द्रीय बैंक देश की बैंकिग तथा द्राव्यिक ढाँचे का शिरोभाग है और इसको अधिकतम लाभ कमाने के लिए नहीं वरन देश की आर्थिक दृढ़ता स्थायी रखने तथा राष्ट्र की द्राव्यिक नीतियों को चलाने के लिए खोला जाता है । यद्यपि इसका संगठन मिश्रित -पूँजी बैंक की भाँति ही होता है, परन्तु इसका ध्येय अन्य बैंकों से बहुत भिन्न है। देश की मुद्रा तथा साख पर नियंत्रण रखना जिससे देश की मुद्रा का आंतरिक तथा वाह्य मूल्य स्थायी रह सके, इसकी जिम्मेदारी है। इसे राज्य के बैंक तथा अन्य बैंकों के बैंक का काम भी करना पड़ता है और देश में निकास गृह (Clearing House) की सुविधाएँ प्रदान करना भी इसी का काम है । अतः इसके कार्य निम्न हैं—(अ) देश में बैंक सम्बन्धी कोषों को गतिशील बनाना तथा उन्हें सदस्य बैंकों के ऊपर जमा निकालने के लिए हुई अत्यधिक माँग के समय काम में लाना और आपत्ति के समय द्रव्य-बाजार की सहायता करना; (ब) सरकार की नकदी को सुरक्षित रखना, (स) देश में पर्याप्त पत्र-मुद्रा रखना, (द) आवश्यकता के समय अधिक मुद्रा निकालना और (ह) विदेशी-विनिमय को जमा रखना तथा देना ।

राज्य तथा केन्द्रीय बैंक—इन बैंकों की पूँजी (जो मात्रा में अधिक नहीं है), सोवियट रूस को छोड़कर, व्यक्तिगत हिस्सेदारों ने दी है। (आजकल इन बैंकों के राष्ट्रीयकरण के लिए आन्दोलन उठ चला है और इंगलैंड , भारत तथा अन्य कई देशों के केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो भी चुका है) । फिर भी इस आवश्यकता के कारण कि सरकारी नकदी सुरक्षित रहे और केन्द्रीय बैंकों को दिये गए भारी कार्यों का उचित पालन होता रहे, सरकार (बैंक की मालिक न होने पर भी) अपनी सत्ता का (१) कानून तथा रिवाजों की सहायता से बैंक के प्रबन्ध पर नियंत्रण रखने तथा (२) उससे काफी अधिक धन-राशि, चाहे लाभ में से या कर लगाकर, लेने के लिए प्रयोग करती है ।

केन्द्रीय बैंक राज्य के एजेन्ट का भी काम करता है। इसे (१) सामर्थ्यानुसार अधिक से अधिक पूँजी सरकार को उधार देने, तथा (२) सरकारी ऋण अन्य बैंकों तथा जनता में बाँटने के लिये सदैव तत्पर रहना पड़ता है। क्योंकि आधुनिक सरकारों के लेन-देन के लिए बहुत अधिक मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है, एक केन्द्रीय बैंक को यह आवश्यक रूप से देखना पड़ता है कि उनके द्वारा द्रव्य-बाज़ार में कम से कम उथल-पुथल हो। रिवाज के अनुसार भी केन्द्रीय बैंक को राज्य के बैंक की भांति कार्य करना पड़ता है। आरम्भ में अल्पकालीन ऋण देते-देते, केन्द्रीय बैंकों को दीर्घकालीन तथा स्थायी ऋण भी देने पड़ने लगे और ऐसा करने के लिए वह इस कारण बाध्य हुए क्योंकि उन्हें पत्र-मुद्रा निकालने का कानूनन अधिकार प्राप्त था। उन्नीसवीं सदी से ही केन्द्रीय बैंकों को सरकारी ऋण निकालने का काम सौंप दिया गया यद्यपि वह बिना उनको खरीदे या उनकी जमानत पर अधिक मात्रा में साख दिये ही विनियोगियों के हाथ उन्हें बेंच देते थे। इस प्रकार वह सरकारी नकदी के रखने वाले कहे जाने लगे और वह सरकार के हिसाब में रुपया प्राप्त करने लगे और उसका भुगतान भी। परिस्थितियों के कारण उन सरकारों को भी, जो केन्द्रीय बैंक से इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करने से बराबर इन्कार करती रहीं और जिन्होंने इस कारण अपने अलग खजाने रख छोड़े थे, इन बैंकों से काम लेना पड़ा। इस समय केन्द्रीय बैंक (१) अल्प तथा दीर्घकालीन सरकारी ऋणों को निकालते तथा उनका भुगतान करते हैं (२) सरकारी कोष को रखते तथा खर्च करते हैं (३) सरकारी नकदी की सुरक्षा का जिम्मा लेते हैं तथा (४) सरकारी ऋणों की देख-रेख करते हैं। विश्व युद्ध के समय सरकारें का बाज़ार में ऋण लेने की प्रतीक्षा करने की अपेक्षा केन्द्रीय बैंक से सीधे रुपया ले लेना कहीं अधिक पसन्द करेंगी। बड़ी मात्रा में ऋण चालू करने के बाद भी केन्द्रीय बैंक को बहुत सा रुपया उधार देकर द्रव्य बाज़ार की सहायता करनी पड़ी। 'सिनलिफ़ कमेटी' के सुझाव भी बैंक आफ इंगलैण्ड के जिम्मेदारी के बोझ को कम न कर सके। दूसरे देशों ने भी अपने केन्द्रीय बैंकों को यह आदेश दिया है कि वह द्रव्य बाज़ार और राज्य की सहायता करें तथा सरकार के अल्प-कालीन ऋणों को (जो लगातार पुनरावृत्ति के कारण दीर्घकालीन हो गए हैं) आर्थिक सहायता पहुँचाए। बैंक आफ फ्रांस को वैधानिक तथा खुले तौर पर बहुत बड़ी रकम 'स्थायी व्याज-रहित ऋण' के रूप में फ्रांस की सरकार को देनी पड़ रही है। सरकारी ऋणों का लेन-देन मूल्यों को स्थिर बनाये रखने के हेतु करेंसी-चलन में आवश्यक घट-बढ़ करने के लिए आजकल उचित समझा जाता है। फिर, केन्द्रीय बैंक को इस योग्य भी समझा जाता है कि वह द्रव्य-बाज़ार पर इस प्रकार का प्रभाव डाले कि सरकार को कम ब्याज दर पर ऋण मिल जाय और इस प्रकार करदाताओं को अधिक कर-भार न उठाना पड़े।

दुर्भाग्य से प्रथम महासमर के समय सैकड़ों केन्द्रीय बैंकों के राज्य को वैत्तिक सहायता देने के दुखद अनुभव के कारण ही सरकारों को आग्रिम देने या सरकारी साख-पत्र खरीदने के अधिकारों पर युद्धोपरान्त समय में कई प्रतिबन्ध लगाने पड़े।

इधर के सौ वर्षों में केन्द्रीय बैंक और राज्यों के जो सम्बन्ध रहे हैं उन्हें देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्र का नियंत्रण कठोर होता जा रहा है और केन्द्रीय बैंकों का ढीला। १८७० तक बहुत सी सरकारें अपने केन्द्रीय बैंकों पर यह दबाव डालती रहीं कि उनको दिये जाने वाले ऋण की मात्रा बढ़ा दी जाय। परन्तु स्वर्ण मान के अधिक फैल जाने पर केन्द्रीय बैंकों को अधिक स्वतन्त्रता मिल गई। परन्तु यह स्थिति प्रथम महासमर के आरम्भ होने तक

ही रही। १६१४ के बाद से केन्द्रीय बैंकों को राष्ट्र की वैत्तिक सहायता का भार पुनः सौंप दिया गया जिससे युद्ध ठीक से लड़ा जा सके। आर्थिक मन्दी के पहले के सात वर्षों में केन्द्रीय बैंक राष्ट्रों के प्रभुत्व से अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र हो गए। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा एक परिवर्तित दशा में स्वर्ण-मान चालू कर देने पर यह आशा की जाने लगी थी कि राज्य केन्द्रीय बैंकों की नकेल ढीली कर देंगे; परन्तु ब्रिटेन, भारत तथा अन्य देशों में हाल ही में हुआ केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण यह बताता है कि हवा उल्टी बह रही है।

हम देख सकते हैं कि प्रथम महासमर के पहले इस बात की आवश्यकता समझी जाती थी कि केन्द्रीय बैंकों पर राज्य का नियंत्रण हो। परन्तु युद्ध के बाद के समय में सरकारी हस्तक्षेप बहुत बुरा समझा जाने लगा और इस प्रकार के कई कदम उठाये गये जिससे सरकारी हस्तक्षेप के अवसर कम हो जायें। परन्तु आर्थिक मंदी के बाद के समय से केन्द्रीय बैंकों के ऊपर सरकारी नियंत्रण कई देशों में बढ़ गया और अन्य कई में इनका पूर्ण राष्ट्रीयकरण ही हो गया। पहली वाली विचारधारा, कि केन्द्रीय बैंकों को सरकारी हस्तक्षेप से स्वतंत्र रखा जाय, के स्थान पर एक नवीन विचारधारा उठ खड़ी हुई है कि आयोजित अर्थ-व्यवस्था के युग में, सरकार का देश की अर्थ-व्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण हो और विशेषकर केन्द्रीय बैंक पर जो देश की अर्थ-प्रणाली की जान है। फिर अब यह अधिकाधिक माना जाने लगा है कि सरकार तथा केन्द्रीय बैंक में पूर्ण मेल-जोल और सहयोग देश के आर्थिक पुनरुत्थान के लिए बड़ा आवश्यक है।

पत्र-मुद्रा निकालना—केन्द्रीय बैंक का एक प्रमुख कार्य संकट के समय दूसरे बैंकों की लेनी को नकदी में परिणत करना है। ऐसे समय में केन्द्रीय बैंक को अपनी पत्र-मुद्रा, जो आंतरिक लेन-देन में सिक्कों की प्रतिस्थाप्य है, खुल कर उधार देनी पड़ती है। क्योंकि सदस्य बैंकों को केन्द्रीय बैंक से काफी मात्रा में नकदी मिल जाती है, इसलिए उन्हें अपने ऊपर जमा निकालने के लिए हुई अत्यधिक माँग को पूरा करना सम्भव हो जाता है। इस कारण उन्हें दिये हुए ऋणों की मात्रा कम कर देने की आवश्यकता नहीं रहती और व्यापारी भी कठिन वैत्तिक संकट से बच जाते हैं।

वेरा स्मिथ (Vera Smith) के अनुसार पत्र-मुद्रा निकालना केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य है और इसके अन्य कार्य तथा गुण इसी से प्राप्त हुए हैं। अत्यधिक पत्र-मुद्रा के निर्गम से साख बहुत बढ़ जाता है, मूल्य बहुत ऊँचे हो जाते हैं, व्यापारिक शेष प्रतिकूल हो जाता है, स्वर्ण का निर्यात होता है और अन्ततः एक वैत्तिक संकट आ जाता है। इनका नियंत्रण प्रत्येक केन्द्रीय बैंक की एक आधारभूत समस्या है। साथ ही प्रत्येक देश में पत्र-मुद्रा इतनी मात्रा में अवश्य होनी चाहिए जिससे व्यापार तथा उद्योग से उत्पन्न मौद्रिक माँग पूरी हो सके। इस कारण पत्र-मुद्रा का निर्गम लोचदार होना चाहिए। अतः, पत्र-मुद्रा की मात्रा को नियंत्रित करने के लिए कई प्रथाएँ निकाली गई हैं।

पत्र-मुद्रा निकालने की प्रथम प्रणाली जिसका इंगलैण्ड ने सन् १८४४ में तथा बाद में कई देशों ने अनुसरण किया आंशिक-विश्वसनीय-चलन प्रथा (partial fiduciary issue system) कहलाती है। इस प्रणाली के अनुसार बैंक आफ इंगलैण्ड एक निश्चित रकम तक की पत्र-मुद्रा सरकारी साख पत्रों की जमानत पर (जो एक कोष में जमा रहते थे) निकाल सकता था। परन्तु इस मात्रा से अधिक जितनी भी पत्र-मुद्रा निकलती थी उसके लिए शत-

प्रतिशत स्वर्ण रखना आवश्यक था। सितम्बर १६३६ में यह प्रथा तिरस्कृत कर दी गई और अब बैंक आफ इंगलैण्ड सरकारी जमानत पर ही पत्र-मुद्रा निकाल सकता है और उसे एक छोटी मात्रा में (लगभग १५ लाख पौण्ड) स्वर्ण तथा रौप्य सिक्के एक कोष में रखने पड़ते हैं। (आजकल ग्रेट ब्रिटेन का स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय का सम्पूर्ण कोष विनिमय समानीकरण खाते (exchange equalisation account) में है।)

निश्चित अधिकतम निर्गम (fixed maximum issue) (जिसे समय समय पर बढ़ाया जा सकता है) एक दूसरी प्रथा है जिसमें वैधानिक रूप से स्वर्ण की कोई मात्रा निर्धारित नहीं होती और जिसे इंगलैण्ड १६३६ तथा जापान १६४१ से अपना रहा है। फ्रांस भी १८७० से १६२८ तक इसी प्रथा पर चला। किन्तु इस प्रथा को कभी कभी बे-लोचदार पाया गया और कभी इसके द्वारा मुद्रा प्रसार (inflation) हो जाता था।

तीसरी प्रथा के अनुसार पत्र-मुद्रा कोष में जमा मान्य सरकारी साख पत्रों के मूल्य तथा बैंक की प्राप्त पूँजी से अधिक के नहीं हो सकती। दक्षिणी अफ़रीका के केप आफ गुड होप नामक राज्य में इस प्रथा का कुछ समय तक चलन रहा। वहाँ पत्र-मुद्रा की अधिकतम मात्रा बैंक की प्राप्त पूँजी तथा सुरक्षित कोष से अधिक नहीं हो सकती थी और उनका सरकारी जमानतों में होना आवश्यक था। इस प्रणाली में लोच नहीं है।

चौथी प्रथा, जो दक्षिणी अफ़रीका में सन् १६३० में चालू है, के अन्तर्गत निकाली गई पत्र-मुद्रा का एक न्यूनतम निश्चित प्रतिशत स्वर्ण कोष में रखना आवश्यक है। परन्तु इस प्रथा में बैंक की सभी लेनियों में पत्र-मुद्रा को प्रथम देय माना जाता है। इस प्रकार बैंक को अपनी लेनी के निर्धारण में अधिक स्वतंत्रता मिल जाती है और इस लेनी की साख पर अधिक पत्र-मुद्रा निकाली जा सकती है और इसके बदले में स्वर्ण की आवश्यकता नहीं। इस प्रथा में देश की पत्र-मुद्रा की पर्याप्त सुरक्षा के साथ अधिकतम लोच भी है।

पत्र-मुद्रा निकालने की एक पांचवी प्रथा (जिसे आनुपातिक कोष प्रथा (proportional reserve system कहते हैं) के अन्तर्गत बैंक को निकाली गई पत्र-मुद्रा का कम से कम २५ से ४० प्रतिशत भाग धातु या विदेशी विनिमय कोष में और शेष अन्य बताई गई लेनी में रखना पड़ता है। कुछ परिवर्तनों के साथ यह प्रथा जर्मनी, संयुक्त राष्ट्र अमरीका, भारत तथा अन्य देशों में व्यापक रूप से प्रचलित रही है। इस प्रथा में लोच है।

पहले कई देशों में यह सम्भव था कि राज्य को एक वर्द्धमान कर देकर अस्थायी रूप से कोष की आवश्यकताओं को पूरा न भी किया जाय। आजकल परिस्थितियों के कारण अनेक देशों में निर्धारित कोष रखने की आवश्यकता का या तो अंत कर दिया गया है या उसे स्थायी रूप से स्थगित कर दिया गया है और इस कारण पत्र-मुद्रा का निर्गम बहुत लोचदार हो गया है।

साख-नियंत्रण—मूल्य-तल को स्थिर रखने के लिये केन्द्रीय बैंक को साख का नियंत्रण भी करना पड़ता है। केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को प्राप्त साख का नियंत्रण बट्टा-दर या बैंक-दर में परिवर्तन द्वारा या साख के राशन द्वारा कर सकता है। क्योंकि केन्द्रीय बैंक के पास इतनी शक्ति है कि वह दूसरी बैंकों की नक़दी घटा या बढ़ा सकता है, इस कारण वह देश में साख घटाने या बढ़ाने की नीति को चला सकता है। यदि बैंक-दर में परिवर्तन करने पर भी उद्देश्य की प्राप्ति

नहीं होती तो 'खुले बाजार की नीति' प्रयोग में लाई जाती है और अन्य बैंकों को केन्द्रीय बक की साख घटाने-बढ़ाने की नीति में सहयोग देने के लिए वाध्य किया जाता है ।

साख का राशन करना—अठाहरवीं शताब्दी के अन्त में बैंक आफ इंगलैण्ड ने साख नियंत्रण के एक साधन के रूप में इस नीति का प्रयोग किया । उसने ग्राहकों के बिलों के भुगतान की अधिकतम मात्रा निश्चत करदी तथा बट्टे के योग्य बिलों की चालू-अवधि कम कर दी । प्रथम महासमर के बाद योरप के केन्द्रीय बैंकों ने किसी न किसी रूप में इस नीति का अनुसरण किया। तानाशाही देशों को, अपनी योजनायें पूरी करने के लिए इसका आवश्यक रूप से प्रयोग करना पड़ा । देश की आर्थिक व्यवस्था बे-लोचदार होने तथा उन्नतिशील द्रव्य-बाजार के अभाव के कारण मेक्सिको बैंक को किसी ग्राहक को दिये जाने वाले साख की मात्रा कम करने के लिए वाध्य होना पड़ा । यही उद्देश्य केन्द्रीय बैंक द्वारा बट्टे के लिये स्वीकार किये जाने वाले पत्रों को सीमित करके भी प्राप्त किया जा सकता है ।

बट्टा-दर—अधिकारी बट्टा-दर, अर्थात् देश के केन्द्रीय बैंक की बट्टा दर (जो बैंक-दर के नाम से प्रचलित है) वह दर है जो केन्द्रीय बैंक सर्वोच्च कोटि के बिलों के ऊपर लेते हैं । अन्य शब्दों में, यह वह न्यूनतम दर है जिस पर केन्द्रीय बैंक ऐसे बिलों को, जिन पर कम से कम दो अच्छे धनियों के हस्ताक्षर हों (जिसमें से एक किसी सदस्य बैंक या किसी प्रतिष्ठित स्थानीय स्वीकृति कर्ता का अवश्य हो), फिर से बट्टा करने को तैयार हो जाता है । अन्य बिलों की बट्टा-दर उनके प्रकार और चालूपन के अनुसार बदलती रहती है ।

केन्द्रीय बैंको ने बट्टा-दर का प्रयोग साख-नियंत्रण के प्रमुख साधन के रूप में किया है । केन्द्रीय बैंक का यह कर्तव्य है कि वह अपने ग्राहकों की प्रत्येक उचित माँग को पूरा करे और वह यह काम उनके बिलों को असीमित मात्रा में बट्टे के लिए स्वीकार कर करता है । परन्तु क्योंकि केन्द्रीय बैंक को साख की मात्रा को बचाये रखना पड़ता है और स्वर्ण कोष को बहुत कम हो जाने से भी बचाना पड़ता है, इस कारण इसे अपनी बट्टा-दर बढ़ानी पड़ती है जिससे बहुत आवश्यकता पड़ने पर ही व्यक्ति अपने बिलों को लायें ।

एक सुसंगठित द्रव्य-बाजार में बैंक-दर तथा अल्प-कालीन द्रव्य-दर में एक गहरा सम्बंध स्थापित हो जाता है । ऐसा तभी होता है जब द्रव्य बाजार में कम सीमा पर काम होता है और द्रव्य बाजार के सभी अंग साख पाने के लिए अन्ततः केन्द्रीय बैंक पर ही निर्भर रहते हैं । यह सम्बन्ध रिवाज, परम्परा और केन्द्रीय बैंक को नेता मान लेने पर अधिक दृढ़ हो जाते हैं । अधिक मौसमी माँग या अधिक व्यापारिक लेन-देन के समय द्रव्य बाजार को दुबारा बट्टा कराने तथा उधार दिये जाने वाली धन-राशि को बढ़वाने के लिए केन्द्रीय बैंक के पास जाना ही पड़ता है । जब एक बैंक बट्टा-दर पर केन्द्रीय बैंक से रुपया लेता है तो वह अपने ग्राहकों को उससे कम ब्याज पर उधार नहीं दे सकता । इस प्रकार बट्टे के बाजारी दर को बैंक-दर के बराबर आना पड़ता है और इस प्रकार बैंक-दर साख नियंत्रित करने पर सफल हो जाती है । साधारणतया बैंक-दर बढ़ाकर केन्द्रीय बैंक साख को घटाने में सफल हो जाता है; परन्तु जब द्रव्य बाजार के पास पर्याप्त द्रव्य होता है और फलतः उसे केन्द्रीय बैंक से उधार लेने की आवश्यकता नहीं होती तब यह नीति सफल नहीं हो पाती । उस समय केन्द्रीय बैंक को बाजार में धन-राशि कम करने के लिए तथा द्रव्य-बाजार को उससे उधार माँगने पर वाध्य करने के लिए 'खुली-बाजार-

नीति' को अपनाना पड़ता है। उधार मांगें जाने पर वह अधिकारी बैंक-दर वसूल करता है और इस प्रकार उसे प्रभावी बना देता है।

यदि किसी समय केन्द्रीय बैंक साख बढ़ाना चाहता है तो वह बट्टा-दर घटा देता है और यह आशा करता है कि द्रव्य-बाज़ार उसका अनुसरण करेगा और बट्टे की बाज़ार दर घटा देगा। यदि द्रव्य-बाजार केन्द्रीय बैंक की आज्ञा का पालन नहीं करता तो उनसे प्रत्यक्ष सम्बंध न रखने की घोषणा कर देता है अर्थात् उनके बिलों का बट्टा नहीं करता। केन्द्रीय बैंक की स्पर्धा में द्रव्य-बाजार को बट्टे की बाजार दर अन्ततः कम करनी ही पड़ती है और इस प्रकार साख की मात्रा बढ़ जाती है। संक्षेप में पुनर्बट्टा-दर एक प्रमुख शस्त्र है जिससे केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंकों द्वारा बट्टे के लिए लाये गये बिलों की मात्रा घटाता-बढ़ाता है। पुनर्बट्टा-दर बढ़ाकर केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंकों द्वारा ऋण लेना अधिक खर्चीला बना देता है और इस प्रकार साख बढ़ाने से उन्हें रोक देता है। इसके विपरीत, पुनर्बट्टा-दर घटाकर यह सदस्य-बैंकों द्वारा ऋण लेना अधिक सस्ता बना देता है और इस प्रकार उन्हें साख बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित करता है। केन्द्रीय बैंक किस सीमा तक अपनी बक-दर 'प्रभावी' कर सकता है यह कई बातों पर निर्भर है। उदाहरण के लिए यदि मूल्य-तल शीघ्रता से बढ़ रहा है तो बैंक -दर में वृद्धि बहुत कुछ बेकार सिद्ध हो सकती है जैसा कि यूरोप के केन्द्रीय बैंकों का प्रथम महायुद्ध के बाद अनुभव रहा। यदि अन्य बैंकों के पास केन्द्रीय बैंक की अपेक्षा अधिक साधन हैं तो वह मिलकर केन्द्रीय बक द्वारा साख कम कर देने के प्रयास विफल कर सकते हैं।

बाज़ार में खुले तौर पर काम करना—यदि सदस्य बैंकों के पास अपनी पर्याप्त धन-राशि है तो केन्द्रीय बैंक की बट्टा-दर साख नियंत्रित करने तथा द्रव्य-दर बढ़ाने में बेकार सिद्ध हो सकती है। अतः द्रव्य-बाज़ार पर नियंत्रण रखने के लिए केन्द्रीय बैंक को एक दूसरा शक्तिशाली अस्त्र दे दिया गया है जिसे 'बाज़ार में खुले तौर पर काम करना' कहते हैं।

बाज़ार में खुले तौर पर काम करने का अर्थ—इस नीति का अर्थ यह है कि केन्द्रीय बैंक साख नियंत्रण के लिए स्वयं ही बाजार में प्रत्यक्ष रूप से उन सब प्रकार के साख-पत्रों का क्रय-विक्रय करें जिन्हें वह साधारण तौर पर लेता और बेचता है—जैसे बैंकों द्वारा स्वीकृत बिल, विदेशी विनिमय, स्टाक एक्सचेन्ज पर खरीदी तथा बेची जाने वाली जमानतें आदि।

यदि बाज़ार में साख कम करने के लिए बट्टा-दर बढ़ाने पर बाजारी द्रव्य-दर नहीं बढ़ाते तो केन्द्रीय बैंक बाजार में जमानतें तथा बिल बेचना आरम्भ कर देता है और इस प्रकार वह द्रव्य खींच खींच कर अपने खजाने में उस समय तक जमा करता रहता है जब तक कि सदस्य बैंकों के पास इतनी कम नकदी नहीं रह जाती कि उन्हें लाचार होकर केन्द्रीय बैंक से सहायता मांगनी पड़े। उस समय केन्द्रीय बैंक अधिकारी बट्टा-दर लेती है और इस प्रकार वह दर प्रभावी हो जाती है।

इसी प्रकार यह भी सम्भव है कि द्रव्य-बाजार में कोई आकस्मिक कमी दूर करने के लिए केन्द्रीय बैंक द्रव्य-बाजार से प्रत्यक्ष लेन-देन करने लगे और इस प्रकार केन्द्रीय बैंक की स्पर्धा के सम्मुख अन्य बैंकों को अपनी दर कम करनी पड़े। या यह बिल तथा जमानतों को खरीदना आरम्भ कर दे और उस समय तक यह करता रहे जब तक बैंकों की नकदी बहुत अधिक बढ़ न जाय। क्योंकि वह अपने पास अधिक नकदी बेकार नहीं रख सकते, वह कम बट्टा—दर

द्वारा ग्राहकों को आकर्षित करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार केन्द्रीय बैंकों की घटाई हुई बैंक-दर प्रभावी हो जाती है। निम्न प्रकार के क्रय-विक्रय द्वारा भी बैंक-दर को प्रभावी बनाने में केन्द्रीय बैंक सफल हो जाता है :—

(१) सरकार के अल्प-कालीन ऋण (या सरकारी बिल),
(२) सरकार के दीर्घकालीन ऋण,
(३) विदेशी विनिमय,
(४) स्टाक एक्सचेन्ज में खरीदी तथा बेची जाने वाली जमानतें,
(५) बैंकों द्वारा स्वीकृत बिल,
(६) बहुमूल्य धातुएँ,
(७) सरकारी जमानतों पर ऋणों को लना या उनका भुगतान करना।

बाज़ार में इस प्रकार खुले तौर पर काम करने से उधार दिये जाने वाले कोष की मात्रा घट-बढ़ जाती है और इस प्रकार देश में उपलब्ध साख में कमी या वृद्धि हो जाती है।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि केन्द्रीय बैंक की साख-नीति सदस्य बैंकों की नकदी-तथा उनकी उधार देने की शक्ति को प्रभावित कर सफल होती है। साधारणतया इन शक्ति-शाली अस्त्रों के प्रयोग की आवश्यकता वास्तविक व्यवहार में नहीं पड़ती। इस बात से कि केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार प्राप्त है, सदस्य बैंक केन्द्रीय बैंक की आज्ञा पर चलने को हमेशा तत्पर रहते हैं।

केन्द्रीय बैंक के कार्यों का क्षेत्र—क्या केन्द्रीय बैंक को केवल संकट के समय सहायता प्रदान करने वाली संस्था की भाँति ही कार्य करना चाहिए या द्रव्य-बाजार में लगातार संस्थिति लाने वाले साधन के रूप में भी?

आपत्तिकाल में सहायता (प्रदान करने) वाले सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले यह कहते हैं कि केन्द्रीय बैंक का एक मात्र उद्देश्य संकटों का सामना करना है और संकट के समय ही इसे दमकल की भाँति वैत्तिक अग्नि को बुझाने के लिए निकलना चाहिए। दूसरी ओर बैंक सम्बन्धी मत के प्रवर्तक यह कहते हैं कि एक केन्द्रीय बैंक को अन्य बैंकों की भाँति (संकट के समय सहायता देने वाली संस्था की भाँति नहीं) हर समय तथा लगातार काम करते रहना चाहिए और इसे प्रत्येक अवसर के लिए उपयुक्त नीति बना लेनी चाहिए तथा आवश्यक स्थितियों का, जैसे जैसे वह उत्पन्न हों, ठीक से सामना करना चाहिए। इन दो विचारधाराओं के मतभेद के कारण इस बात में भी मतभेद हो गया है कि केन्द्रीय बैंक को बाज़ार में खुले तौर पर काम करने का किस सीमा तक अधिकार दिया जाय। 'फेडरल रिजर्व बिल' पर बहस के समय अमरीका के बैंकों ने फेडरल रिजर्व बैंक को बाज़ार में खुले तौर पर काम करने का अधिकार देने का कड़ा विरोध किया। परन्तु अभी कुछ समय से अमरीका तथा यूरोप दोनों जगह यह माना जाने लगा है कि केन्द्रीय नियंत्रण के लिए इस अस्त्र का लगातार तथा उदार प्रयोग आवश्यक है। यदि सदस्य बैंक अपनी साख-वृद्धि उचित सीमा के भीतर ही रखें तो केन्द्रीय बैंक के हस्तक्षेप का कोई अवसर नहीं आवेगा। परन्तु क्योंकि सरकारी लेन-देन, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक सम्बन्धी कार्य तथा समय समय पर होने वाली अधिक सट्टेबाजी से बाज़ार की स्थिति बराबर बिगड़ती रहती है, इस कारण केन्द्रीय बैंक को बाज़ार में लगभग हर समय ही रहना पड़ता है।

अध्याय ५१

विनिमय तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक

एक देश से, जहाँ पूँजी सस्ती है, किसी दूसरे देश को, जहाँ वह महंगी है, धन-राशि को हस्तांतरित तथा गतिशील करने का व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय बैंकिंग कहलाता है। इन दो देशों में पूँजी हस्तांतरित करने की आवश्यकता चालू अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन के भुगतानों को पूरा करने के कारण भी हो सकती है। पुनः धन-राशि का हस्तांतर अल्प-कालीन समय के लिए हो सकता है, जैसे स्वीकृत साखों में होता है, या यह बाण्डों के निर्गम के कारण दीर्घ-कालीन भी हो सकता है। इन दोनों क्षेत्रों में सफलता बैंक की विदेशों में प्रतिष्ठित सम्बंध स्थापित करने की योग्यता पर निर्भर रहती है।

सोलहवीं शताब्दी के व्यापारी, जैसे अग्जवर्ग के फूगर्स, अन्तर्राष्ट्रीय बैंकिंग के नेता थे। उन्होंने विदेशी व्यापार को धन प्रदान करने तथा राजाओं को दीर्घकालीन ऋण देने का कार्य किया था। फूगर्स के बैंकिंग गृह ने स्पेन के राजा तथा अमरीका के शासक चार्ल्स प्रथम को सन् १५१६ में जर्मनी के सम्राट चार्ल्स पंचम बनने में सहायता दी थी और इसके बदले में उसके सम्पूर्ण साम्राज्य में उसे बैंक सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य करने, सिक्के निकालने तथा अमरीका तथा स्पेन में कई खानें चालू करने का एकाधिकार मिला था। उनकी विशाल सम्पत्ति के कारण उनको पादरी, बैरन, ड्यूक तथा राजकुमार तक बनना सम्भव हो गया था और वह आज तक इन पदों पर हैं। अठारहवीं शताब्दी में लन्दन के बैंकिंग-गृह अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति का व्यापार विदेशी सरकारों के ऋण निकालने का काम तथा विदेशी औद्योगिक जमानतें बेचने का कार्य करते थे। उनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध—वारिंग्स तथा रोथ्सचाइल्ड्स—ने विदेशियों को काफी मात्रा में अल्प-कालीन ऋण दिया था और उनके लिए दीर्घ-कालीन ऋण की भी व्यवस्था की थी। १६१४ के बाद न्यूयार्क का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक-सम्बन्धी क्षेत्र पर अधिकार हो गया और वहाँ वालों ने मित्र-राष्ट्रों के लिए कई ऋण चलाये। १६१८ के बाद जर्मनी और लैटिन अमरीका को बड़ी मात्रा में ऋण दिया गया, परन्तु क्योंकि उन्होंने कई बार अपने वायदे तोड़े इस कारण अन्ततः उनके लिए इस बाज़ार के दरवाजे बन्द हो गये। प्रथम महासमर के अन्त होने के फौरन बाद ही ही अमरीका की नई बैंकों ने विदेशी जमा स्वीकार करना आरम्भ कर दिया और साथ ही वह स्वीकृतियाँ निकालने तथा विदेशी व्यापार को वैत्तिक सहायता भी देने लगे। लगभग इस शताब्दी के आरम्भ के समय से अमरीका में उधार देने के लिए पूँजी के बाहुल्य के कारण न्यूयार्क ने अन्तर्राष्ट्रीय बैंक-सम्बन्धी कार्य करना आरम्भ कर दिया। निःसंदेह लंदन और न्यूयार्क के अतिरिक्त पेरिस तथा एम्सटरडम जैसे अन्य केन्द्रों ने भी अन्तर्राष्ट्रीय बैंकिंग की प्रगति में पर्याप्त भाग लिया है।

निःसंदेह वर्तमान राजनीतिक तथा आर्थिक कारणों ने दीर्घ-कालीन अन्तर्राष्ट्रीय साख तथा अल्पकालीन व्यापारिक वृत्ति को निष्प्राण कर दिया है लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय जमा-बैंकिंग ने, विशेषतः अमरीका में, बड़ी उन्नति की है। पहले तरल धन-राशि वहीं जाती थी जहाँ ब्याज-दर अधिक होता था, परन्तु दो महायुद्धों के अन्तर्कालीन समय में उनका आना-जाना विनिमय-दर में सम्भावी परिवर्तनों की पूर्वकल्पी भविष्यवाणी से प्रभावित होने लगा जिससे इस क्षेत्र में बड़ी

अनिश्चितता फैल गई। इसी कारण सन् १९२९ के बाद अनेक देशों को विनिमय-दर स्थिर रखने के लिए विनिमय-समानीकरण-खाते खोलने पड़े।

१९२५ के बाद विभिन्न देशों की आर्थिक तथा वैत्तिक अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर्निभरता के कारण विभिन्न केन्द्रीय बैंकों में निकट सहयोग आवश्यक हो गया। वर्तमान युद्ध-काल में साख-नियंत्रण तथा अन्तर्सरकारी सहयोग बड़े आवश्यक हैं और शान्ति के समय भी अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्बट्टा तथा स्वर्ण का हस्तांतरण राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष रोकने के लिए आवश्यक है। प्रथम महासमर के समय मित्र तथा धुरी दोनों ही ताकतों ने इस प्रकार का एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक सम्बंधी सहयोग स्थापित करने का प्रयास किया था। उस महायुद्ध के बाद १९२० की ब्रूसेल्स कान्फ्रेंन्स, १९२२ की जिनेवा कान्फ्रेंन्स, १९३३ की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कान्फ्रेंन्स, मेकमिलन कमिटी और स्वर्ण डेलीगेशन ने इस प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग कमजोर केन्द्रीय बैंकों के हित के लिए, तथा युद्ध के पहले स्वर्ण इकट्ठा करने के लिए जो पागलपन चल रहा था उसकी पुनरावृत्ति रोकने के लिए, आवश्यक बताया। १९२४ के बाद प्रमुख केन्द्रीय बैंकों को विभिन्न देशों द्वारा स्थापित मौद्रिक-मानों को चालू रखने के लिए धन-राशि देने का वादा करना पड़ा। न्यूयार्क के फेडरल रिजर्व बैंक ने ब्रिटेन में स्वर्ण-पाट मान बनाये रखने के लिए वहाँ के बिलों को आवश्यकता पड़ने पर एक सीमा तक तथा बट्टे की एक निश्चित दर पर खरीदने का वचन दिया। अन्तर्राष्ट्रीय वैत्तिक सहयोग के क्षेत्र में इन सफल प्रयोगों के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों को स्थिर रखने, द्रव्य बाजारों पर नियंत्रण रखने, जर्मनी पर वार्सलीज़ की सन्धि द्वारा लगाई गई युद्ध सम्बंधी क्षतिपूर्ति पर नियंत्रण रखने तथा इस प्रकार की अन्य सम्बंधित समस्याओं को सुलझाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक स्थापित करने की सम्भावना पर विचार हो सका। १९२९ की यंग योजना में जो १९२४ की डाज़-युक्ति (Dawes scheme) से अच्छी थी, क्षतिपूर्ति के विशेषज्ञों के सुझाव थे और उसका मुख्य उद्देश्य जर्मनी की क्षतिपूर्ति समस्या का हल करना था। इस योजना के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय निर्धार बैंक (इन्टरनेशनल सेटिलमेंट बैंक) सन् १९३० में बेसिल शहर में स्विटज़रलैण्ड की सरकारी आज्ञा के अन्तर्गत तथा इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, बेलजियम, इटली और जापान की केन्द्रीय बैंकों और अमरीका के एक बैंकिंग संघ के प्रतिपादन के कारण स्विटज़रलैण्ड के ५० करोड़ स्वर्ण फ्रांक की अधिकृत पूँजी से खुला। इसके विधान के अनुसार इसके कार्य "(१) केन्द्रीय बैंकों में सहयोग बढ़ाना (२) अन्तर्राष्ट्रीय वैत्तिक कार्यों के लिए अधिक सुविधाएँ प्रदान करना, तथा (३) इसको सुपुर्द किये गये अन्तर्राष्ट्रीय वैत्तिक समझौतों के बारे में प्रतिनिधि धरोहरी की भाँति कार्य करना" है। परन्तु १९३१ में जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति की किस्त को न देने पर इस बैंक का प्रमुख कार्य जिसके लिए यह स्थापित किया था, समाप्त हो गया। फिर भी, इसके अधिकारी पद तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंकिंग सम्भावनाओं के कारण ही, वर्तमान आंतरिक महत्व के कारण नहीं, इसको इतना अधिक मान मिला है। यद्यपि यह आशा की जाती थी कि यह अन्य केन्द्रीय बैंकों के एक केन्द्रीय बैंक की भाँति काम करेगा, फिर भी अन्य प्रमुख केन्द्रीय बैंकों से इसके सम्बन्ध आपसी के हैं। विधानतः इसके बैंक-सम्बंधी कार्य सीमित हैं। यह (१) केन्द्रीय बैंकों से जमा स्वीकार कर सकता है और बट्टे के लिये उनके प्रतिनिधि की भाँति कार्य कर सकता है, (२) अन्य बैंक तथा व्यक्तियों से, उस देश की केन्द्रीय बैंक द्वारा स्पष्ट आज्ञा प्राप्त हो जाने पर ही, व्यवहार कर सकता है (३) स्वर्ण तथा विनिमय बिलों का क्रय-विक्रय कर सकता है, (४) केन्द्रीय बैंकों के बिलों का पुनर्बट्टा कर सकता

है आदि। इसको पत्र-मुद्रा निकालने का अधिकार नहीं है और इसे माँग पर देय जिम्मेदारियों के बदले में ४० प्रतिशत तथा समय पर देय जिम्मेदारियों के बदले में २४ प्रतिशत भाग स्वर्ण या विदेशी विनिमयों के रूप मे एक कोष में रखना पड़ता है। "पहले बैंक जमा को (जो स्वर्ण में प्राप्त होती थी) लेने तथा उनका प्रबन्ध करने तक ही सीमित रहता था। आज कल बैंक ने विनियोग की शर्तें कम कर दी हैं और इस मे अपना स्वयं का बहुत सा स्वर्ण संचित कर लिया है, विशेषतः अमरीका तथा स्विटज़रलैण्ड में।" आज कल यह बैंक क्या काम करता है यह इसकी लेनी को देखने से पता लग जाता है जिसमें फिर बट्टा होने के योग्य बिल तथा स्वीकृतियाँ, (जिनके अन्तर्गत व्यापारिक बिल, बैंक द्वारा की गई स्वीकृतियाँ तथा सरकारी बिल आते हैं), विभिन्न प्रकार के बिल विनियोग तथा लेनियां और जर्मनी में इसका कोष आते हैं। इसकी देनी में (१) केन्द्रीय बैंकों तथा अन्य बैंकों (२) अन्तर्राष्ट्रीय-डाक देनी खाता, तथा (३) जर्मनी की सरकार की जमा आते हैं और इन्हें बैंक की वर्तमान कार्यवाही का अनुमान लगाया जा सकता है। यह धरोहरी तथा एजेन्सी भी करता रहा है।

इस बैंक की सफलता का अनुमान इन बातों से लगाया जा सकता है कि यह (१) जून, १९३० में ३० करोड़ डालर का प्रथम-जर्मन-वार्षिकी ऋण बेच सका और (२) यह आस्ट्रिया के १० करोड़ डालर के एक नए ऋण का धरोहरी नियुक्त किया गया। यद्यपि १९३१ के बाद से जर्मनी ने क्षति पूर्ति का देना बन्द कर दिया है और लगभग सभी देशों ने स्वर्ण मान त्याग दिया है, फिर भी यह बैंक दूसरे महायुद्ध तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के क्षेत्र में अभी अभी स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक जैसी शक्तिशाली संस्थाओं के स्थापित हो जाने के बाद भी अपना स्थायित्व रख सका है। (यह दोनों संस्थाये सदस्यता के सम्बन्ध में बड़ी पूरक हैं क्योंकि 'कोष' के सदस्य ही 'बैंक' के सदस्य हो सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष तथ अन्तर्राष्ट्रीय बैंक—इन दोनों अन्तर्राष्ट्रीय वैत्तिक संस्थाओं को स्थापित करने का सुझाव जुलाई, १९४५ में ब्रेटेन वुड्स में होने वाले संयुक्त राष्ट्र संघ के मौद्रिक तथा वैत्तिक सम्मेलन ने किया था।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को निम्न उद्देश्यों से स्थापित किया गया है—(१) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्बन्धी मामलों में सहयोग बढ़ाना तथा अन्तर्राष्ट्रीय वैत्तिक समस्याओं के बारे में विचार और सहयोग के लिये एक संस्था प्रदान करना (२) विनिमय की स्थिरता रखना, सदस्य देशों में विनिमय प्रबन्ध सुचारु रूप से रखना और प्रतिस्पर्धा के कारण अवमूल्यन को रोकना (३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उत्पन्न लेन-देन की विषमता को दूर कर अल्पकाल के लिए संतुलन स्थापित करना (४) सदस्य देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संतुलित विकास के लिए (उनकी घरेलू, सामाजिक या राजनीतिक नीतियों पर चलन की स्वतन्त्रता को अनावश्यक रूप से कम किये बिना ही) प्रयास करना (५) सदस्य देशों में होने वाले भौतिक लेन-देनों के बारे में एक बहु-राष्ट्रीय (multilateral) देन प्रणाली को स्थापित करने तथा उन प्रतिबन्धों को, जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बाधा पड़ती है, हटाने के सम्बन्ध में सहायता देना। इस प्रकार 'कोष' का प्रमुख कार्य सदस्य देशों की अल्प-कालीन ऋण की आवश्यकता को पूरा करना है। इसके विपरीत 'बैंक' का प्रमुख कार्य पुर्ननिर्माण तथा उन्नति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय दीर्घ-कालीन पूँजी का प्रवाह बढ़ाना और आवश्यकता पड़ने पर उसका अनुपूरण करना, जिससे दीर्घ-कालीन अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन स्थापित हो सके।

इन दोनों संस्थाओं में सदस्य-देशों के हिस्सा-पूँजी, मताधिकार तथा प्रबन्ध का पारस्परिक भाग तथा 'कोष' से उधार लेने का अधिकार सदस्यों के कोटा पर निर्भर है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, रूस, चीन, फ्रांस तथा भारत इसके छै सबसे बड़े हिस्सेदार हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष ने मार्च, १९४७ से कार्य करना आरम्भ किया और इसका सर्व प्रथम विनिमय लेन-देन १९४७ के मई माह में हुआ। उस समय कोष ने फ्रांस तथा नीदरलैण्ड को आर्थिक दशा स्थिर करने के लिए ऋण दिया। मई, १९४८ के अन्त तक कोष ने सदस्य देशों की मुद्राओं के बदले ६० करोड़ डालर से भी अधिक के विनिमय बेचे। सदस्य देशों की मुद्राओं के बदले में की गई इन बिक्रियों के अतिरिक्त कोष ने अमरीका के थोड़े से डालर स्वर्ण के बदले भी बेचे। अमरीका से होने वाले व्यापार की लेनी-देनी बढ़ती हुई विषमता के कारण भारत ने जून, १९४८ के अन्त तक कोष से लगभग ४४० लाख अमरीकी डालर (उतनी ही मात्रा में अपना सिक्का, रुपया देकर) खरीदे। जून, १९४७ में कोष ने सदस्य देशों को मौद्रिक समानता से अधिक मूल्य पर स्वर्ण न बेचने के लिए सचेत किया और उनसे इस प्रकार के लेन-देन बंद कर देने को कहा। दिसम्बर, १९४७ में कोष ने सदस्य-देशों से कहा कि स्वर्ण के उत्पादन को आर्थिक सहायता देने के पहले उसकी आज्ञा लेना आवश्यक है। कोष की इस आज्ञानुसार कनाडा ने इस सम्बन्ध में अपनी एक प्रस्तावित योजना 'कोष' के सामने रखी जिसे कोष ने स्वीकार कर लिया। अप्रैल, १९४८ में कोष में उन देशों को, जो योरोपियन पुनरुत्थान कार्य (European Recovery Programme) में भाग ले रहे थे, यह सलाह दी कि वह अमरीका के डालर खरीदने के लिए भारी संकट के समय ही प्रार्थना पत्र भेजें जिससे कोष के साधन पर्याप्त सुरक्षित ऊँचे तल पर रखे जा सकें।

पुनर्निर्माण तथा उन्नति की अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने २५ करोड़ डालर का सर्वप्रथम ऋण मई, १९४७ को फ्रांस को दिया। बाद में बैंक ने २६·३ करोड़ डालर के ऋण नीदरलैण्ड, डेनमार्क, लक्जमबर्ग तथा चिली को दिये। यह ऋण अमरीकी डालर, बेलजियम के फ्रांक तथा स्विटजरलैण्ड के फ्रांक में दिये गये हैं जिससे युद्ध के कारण बर्बाद हुए यूरोपियन देशों के उद्योगों के पुनर्निर्माण तथा पुनरुत्थान के लिए और चिली देश की कृषि तथा जल-विद्युत योजनाओं के लिए आवश्यक पूँजी-पदार्थ तथा यंत्रादि को खरीदा जा सके। इस समय बैंक कुछ देशों द्वारा की गई ऋण की प्रार्थना पर विचार कर रहा है।

जुलाई १९४७ में बैंक ने २५ करोड़ डालर के बाण्ड निकाले जो अमरीका में ही पूरी तरह खरीद लिए गए और फिर भी माँग समाप्त न हुई। बैंक ने मई, १९४८ में स्विटजरलैण्ड में दूसरे बाण्ड निकाले जो सबके सब अन्तर्राष्ट्रीय समझौता-बैंक ने विनियोग के लिए खरीद लिये। इस प्रकार के उत्पादक ऋण बाजार में तभी निकाले जाते हैं या किसी देश को उसकी देय-पूँजी तथा सामान्य कोष में से तभी दिये जाते हैं जब बैंक पर्याप्त मात्रा में या उचित शर्तों पर विदेशी विनियोग (व्यक्तिगत विनियोगियों द्वारा विनियोग के साधारण साधनों के रूप में दिये गये ऋणों पर पूर्ण या अंशतः जमानत देकर) नहीं आकर्षित कर पाता। साधारणतया न्यूयार्क, लन्दन तथा अन्य वैत्तिक केन्द्र अपनी अतिरिक्त पूँजी विशेष प्रकार के विदेशी ऋण तथा अपेक्षाकृत कम ब्याज-दर पर निकाली गई जमानतों पर और 'बैंक' द्वारा किसी प्रकार की जमानत न देने पर भी, विनियोग करते हैं। बैंक की जमानत की उसी समय आवश्यकता पड़ती है जब ऋण लेने में किसी प्रकार का डर न होते हुए भी बाजार में उन्हें कोई नहीं खरीदता

या उन पर अधिक ब्याज माँगते हैं। बैंक की जमानत वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय जमानत है और इस कारण जोखिम उधार लेने वाले तथा देने वाले सभी देशों पर है। इस कारण इससे अन्तर्राष्ट्रीय बचत तथा अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग का असंतुलन दूर हो जायगा और प्रत्येक देश को विदेशी ऋणों में बराबर जोखिम रहेगी। इससे इस बात की भी सम्भावना है कि ऋण के लिये प्राप्त होने वाली धन-राशि बढ़ जाये और वह कम ब्याज पर, ४ या ४½ प्रतिशत वार्षिक, मिल सके। 'बैंक' द्वारा ऋण देने या उसकी जमानत करने में निहित जोखिम कम करने के लिए उधार लेने वाले देश के केन्द्रीय बैंक को ऋण तथा उससे सम्बन्धित अन्य खर्चों का पूरा-पूरा भुगतान कर देने का आश्वासन देना पड़ता है।

'कोष' तथा 'बैंक' संसार के देशों का सहयोग प्राप्त करना चाहते हैं और इसके लिए केन्द्रीय बैंकों का सहयोग बड़ा आवश्यक है। कोष की योजना में स्वर्ण मान की कई बातें हैं जैसे (१) स्वर्ण का अर्घ का सामान्य मापक होना; (२) प्रत्येक देश की मुद्रा का स्वर्ण में एक निश्चित विनिमय अर्घ होना, तथा (३) सदस्य-देशों की मुद्राओं की विनिमय-दरों में, स्वर्ण में निश्चित विनिमय दर से एक निश्चित सीमा के भीतर ही परिवर्तन (ऊपर तथा नीचे) सम्भव होना। यह स्वर्ण मान का एक परिवर्तित रूप है क्योंकि (१) इसका कार्य मुद्राओं का स्वर्ण में निशुल्क बदलना नहीं है, (२) यह सदस्य-देशों को पूँजी के आने जाने पर आवश्यक विनिमय नियंत्रण नहीं रखने देता है, (३) आधारभूत असंतुलन होने पर मुद्राओं की विनिमय दरों में धीरे धीरे परिवर्तन करने की आज्ञा दे देता है और मुद्राओं की विनिमय दरों में समानुपातिक परिवर्तन की आज्ञा बहुधा दे देता है। इस प्रकार कोष की योजना में स्वर्ण मान की भाँति बे-लोच नहीं है और इस शताब्दी के दो महायुद्धों से असंतुलित, अनियोजित तथा बर्बाद संसार के लिए यह सर्वथा उपयुक्त है। विभिन्न देशों की मुद्राओं पर भी, जिनमें प्रायः स्पर्धा हो जाया करती थी और इस कारण अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती थीं, इसका नियंत्रण है जिससे यह उपयुक्त काम करने में पूर्णतः समर्थ है। निस्संदेह संसार की बिगड़ती हुई आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति में बैंक तथा कोष को सफलता पाना अत्यन्त कठिन है। पुनः आज कल के संसार की वैत्तिक आवश्यकतायें उससे कहीं अधिक हैं जितनी बैंक तथा कोष अपने साधनों से सुरक्षित रूप से प्रदान कर सकते हैं। यह दोनों संस्थाएँ संकुचित राष्ट्रीयतावाद को महत् अन्तर्राष्ट्रीयता से बदलना चाहते हैं परन्तु इन्हें कहाँ तक सफलता मिलेगी वह इस बात पर निर्भर है कि वह जातीय भेद-भाव तथा सत्तात्मक राजनीति, जो मानव सभ्यता की जड़ पर ही कुठारा-घात कर रहे हैं, दूर रह पाती हैं या नहीं।

अध्याय ५२

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त

'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार' का तात्पर्य दो या अधिक राष्ट्रों या प्रदेशों के बीच वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय से है। स्पष्टतः यह राष्ट्र या प्रदेश की भौगोलिक सीमाओं के अन्दर होने वाले अन्तर्देशीय या घरेलू व्यापार से भिन्न है।

प्रश्न उठता है कि लोग व्यापार क्यों करते हैं? इसका प्रत्यक्ष कारण यही है कि श्रम विभाजन से होने वाले लाभों के कारण इस प्रकार के विनिमय से उनके संतोष की मात्रा की वृद्धि होती है। मनुष्य की इच्छाएँ अनन्त हैं परन्तु अकेले वह अपनी समस्त इच्छित वस्तुओं का उत्पादन नहीं कर सकता। इसलिए वह जिन वस्तुओं के उत्पादन के लिए सबसे अधिक उपयुक्त होता है उन्हीं वस्तुओं का विशेष रूप से उत्पादन करने लगता है और अपने उत्पादन-अतिरेक का दूसरों द्वारा उत्पादित वस्तुओं से विनिमय कर लेता है। विनिमय की इस प्रक्रिया से दोनों दलों की समृद्धि बढ़ती है।

इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र जिस वस्तु के उत्पादन के लिए सबसे अधिक उपयुक्त होता है उसी के उत्पादन पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। जिस प्रकार विशिष्टीकरण द्वारा व्यक्ति का भला होता है उसी प्रकार प्रदेशों और राष्ट्रों का भी। प्राकृतिक साधनों, मज़दूरों की सामर्थ्य और निपुणता तथा अपनी भौगोलिक स्थिति आदि के कारण राष्ट्र परस्पर भिन्न होते हैं। इसीलिए प्रत्येक राष्ट्र किसी विशेष प्रकार के उत्पादन के लिए अन्य प्रकारों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होता है। यह सभी के भले के लिए होगा कि सब अपने क्षेत्र में विशिष्ट हों और अपने उत्पादन का विनिमय कर लें। मार्शल के शब्दों में "यदि ऐसी वस्तुओं का, जिनका देश में भी उत्पादन हो सकता है फिर भी विदेशों द्वारा अबाध आयात होता रहता है तो इससे यही परिलक्षित होता है कि उन वस्तुओं को, देश में स्वयं उत्पन्न करने की अपेक्षा अन्य वस्तुओं का उत्पादन करके विनिमय द्वारा कम लागत में प्राप्त किया जा सकता है।"

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि हर प्रकार के व्यापार का, चाहे वह राष्ट्रीय हो या अन्तर्राष्ट्रीय, उद्‌भव श्रम विभाजन के लाभों में ही है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यही है कि ऐसी समानताओं के होते हुए भी दोनों में कुछ आधारभूत भिन्नताओं के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक पृथक सिद्धान्त आवश्यक है। यह प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर देना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त साधारण मूल्य-सिद्धान्त का ही एक विशेष पक्ष है। निम्नलिखित भेदों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वे अन्तर्निहित विशेषताएँ प्रकट हो जाती हैं जिनके कारण उसका विशेष प्रतिपादन आवश्यक हो जाता है।

विदेशी तथा स्वदेशी व्यापार में अन्तर—प्रथम में तो यह कि श्रम तथा पूँजी विभिन्न राष्ट्रों की अपेक्षा एक ही राष्ट्र के विभिन्न भागों में अधिक चलिष्णु होते हैं। इस अचलिष्णुता के कारण पूर्वग्रह, भाषाओं तथा रीतियों का अन्तर, स्वाभाविक निष्क्रियता तथा राष्ट्रों द्वारा लगाए गए प्रतिबन्ध आदि हैं। सामान्यतः श्रम में अधिक अचलिष्णुता होती है क्योंकि उसका सम्बन्ध मनुष्य से होता है। यद्यपि पूँजी अधिक चलिष्णु होती है तो भी विदेशी

विनियोग में जोखिम और अनिश्चितता अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण उसकी प्रवृत्ति भी अधिकतर राष्ट्रीय सीमाओं के अन्दर ही एकत्र होने की रहती है। इस प्रकार 'विभिन्न देशों में उत्पादन न्यूनाधिक बन्द तथा अस्पर्धी (closed and non-competitive) विभागों में होता है जब कि किसी एक देश के अन्तर्गत उत्पादन विभिन्न साधनों के लिए प्रत्यक्ष स्पर्धा सम्बद्ध रहता है।

दूसरा अन्तर यह है कि सारा व्यापार द्रव्य के रूप में होता है। परन्तु जबकि स्वदेशी व्यापार में केवल एक ही द्राव्यिक इकाई का व्यवहार होता है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक ही सौदे में दो या उससे अधिक द्राव्यिक इकाइयों का व्यवहार होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में राष्ट्रों की वस्तुओं का ही नहीं वरन् उसके द्रव्यों का भी विनिमय होता है जिसके कारण विदेशी भुगतानों विनिमय की दरों, द्राव्यिक इकाई के सापेक्षिक मूल्यों आदि की समस्या उठ खड़ी होती है। इसका व्यापार की दिशा तथा आकार पर व्यवहारिक रूप से बड़ा प्रभाव पड़ता है।

अन्तिम अन्तर यह है कि प्रत्येक देश में उत्पादन विभिन्न दशाओं, नियमों तथा प्रणालियों के अन्तर्गत होता है। उनकी कर-प्रणाली श्रम-विधान, सामाजिक बीमा तथा जनोपयोगी सेवाओं में व्यवसायिक तथा वैत्तिक नीति सम्बन्धी तथा औद्योगिक संगठनात्मक अंतर होते हैं। राष्ट्र की अर्थव्यवस्था इन्हीं कारणों द्वारा स्वरूप पाती है और परिणामतः इन अन्तरों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किन दशाओं में सम्भव है?—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के आधार पर यह सरलता से कहा जा सकता है कि वस्तुओं को ऐसे देशों में उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होती है जहाँ उनके उत्पादन की लागत न्यूनतम हो। यही भारतवर्ष में जूट, तिलहन, चाय आदि, इसी प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन का, (जो उसके निर्यात में प्रमुख हैं) कारण है। इसी प्रकार जापान कपड़ों और खिलौनों का उत्पादन और निर्यात करता है; ब्रिटेन ऊनी सामान और औजारों का उत्पादन करके बाहर भेजता है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका मशीनों, मोटरों तथा अनेक इसी प्रकार की औद्योगिक वस्तुओं का उत्पादन और निर्यात करता है।

इन प्रमुख अंतरों के कारण सामान्य संस्थिति सिद्धान्त के एक विशिष्ट पक्ष के रूप में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त के प्रतिपादन की आवश्यकता है।*

लागत के निरपेक्ष अंतर (absolute differences in cost)—कभी-कभी उत्पादक देश जिस वस्तु का उत्पादन तथा निर्यात करता है उसमें निश्चित रूप से श्रेष्ठतर होता है (जैसे ब्राजील में कहवा, शीतोष्ण कटिबन्ध के देशों में मसाले, भारत में जूट तथा संयुक्त

---

*यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का 'आधुनिक क्लासिकल' सिद्धान्त है। यह अधिकांशतः प्रो० टाउजिग के विश्लेषण पर आधारित है। यह ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार के आगमन (approach) के मूल में 'श्रम-लागत-सिद्धान्त' की स्पष्टतः अवास्तविक कल्पना है। हाल में ओहलिन, हैबरलर, विलियम्स, वाइनर आदि ने क्लासिकल विश्लेषण की आलोचना करते हुए इस विषय का प्रतिपादन किया है, तथा इस प्रकार एक अधिक वैज्ञानिक वास्तविक तथा स्वीकार्य व्याख्या प्रस्तुत की है जिसमें सामान्य संस्थिति सिद्धान्त की सीमाओं के अन्तर्गत ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त का समावेश किया गया है। जो पाठक इस विषय में उच्चतर अध्ययन करना चाहें वे इस अध्याय में प्रस्तुत व्याख्या के बाद उपर्युक्त लेखकों की कृतियों का भी अध्ययन करें।

राष्ट्र अमरीका में लोहा) तथा अपने आयातों के उत्पादन में निश्चित रूप से हीनतर होता है। इस प्रकार के व्यापार को जन्म देने वाली दशा को लागतों के निरपेक्ष अन्तर कहते हैं। अब हम दो देशों और दो वस्तुओं के दृष्टान्त को लेते हैं। लागत क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के ढंग से श्रम के माप में रखी गई है :—

	जूट	ऊनी कपड़े	
इंगलैण्ड	१ इकाई	२ इकाइयाँ	एक दिन के श्रम का उत्पादन।
भारत	२ इकाइयाँ	१ इकाई	

स्पष्ट रूप से इंग्लैंड ऊनी कपड़ों के उत्पादन में श्रेष्ठतर है, और इसी लिए उनके उत्पादन में उसे पूरा फ़ायदा है; इसी प्रकार भारत को जूट के उत्पादन में फ़ायदा है। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र जिस क्षेत्र में श्रेष्ठतम होगा उसी में अपने उत्पादन का विशिष्टीकरण करेगा तथा दूसरे राष्ट्रों से व्यापार करेगा। इस प्रकार उन्हें जो फ़ायदा होगा उसे कुल उत्पादन की आत्मवृद्धि के रूप में निरूपित किया जा सकता है। क्योंकि यदि दोनों राष्ट्र स्वयं ही अपनी जूट तथा ऊनी कपड़ों की आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे तो चार दिन का कुल उत्पादन होगा—जूट की ३ इकाइयाँ + ऊनी कपड़ों की ३ इकाइयाँ।

परन्तु यदि व्यापार विशिष्टीकृत हो जाय तो उसी चार दिन के श्रम का कुल उत्पादन होगा जूट की ४ इकाइयाँ + ऊनी कपड़ों की ४ इकाइयाँ।

फिर, श्रम-लागत के आधार पर जूट और ऊनी कपड़ों की विनिमय का अनुपात निम्नानुसार है :—

इंग्लैंड = जूट की १ इकाई = ऊनी कपड़े की २ इकाइयाँ।

भारत = जूट की १ इकाई = ऊनी कपड़े की $\frac{१}{२}$ इकाई।

इंग्लैंड ऊनी कपड़े के निर्यात से और उसकी २ इकाइयों के बदले में जूट की १ इकाई से किंचित मात्र भी अधिक पाने से फ़ायदे में रहता है। इसी प्रकार भारत को यदि जूट की १ इकाई के बदल में ऊनी कपड़ें की $\frac{१}{२}$ इकाई से कुछ भी अधिक मिलता है तो उसे फ़ायदा होता है। अगर हम यातायात की लागत तथा कुछ अन्य जटिलताओं को छोड़ दें और यह मान लें कि इन वस्तुओं की माँग की प्रबलता इतनी है कि दोनों देश उत्पादन की अभिवृद्धि में समान रूप से लाभ उठाते हैं तो व्यापार विनिमय के इस अनुपात पर होगा।

जूट की १ इकाई—ऊनी कपड़ों की १$\frac{१}{४}$ इकाइयाँ, इस सौदे में दोनों देशों को लाभ होगा।

लागत के समान अन्तर (Equal Differenes)—अब हम इसी प्रकार का एक दूसरा उदाहरण लें :—

	सूती कपड़	ऊनी कपड़े	
इंग्लैंड	२ इकाइयां	२ इकाइयाँ	१ दिन के श्रम का उत्पादन।
भारत	१ इकाई	१ इकाई	

इस उदाहरण में इंग्लैंड सूती तथा ऊनी दोनों कपड़ों के उत्पादन में भारत से निरपेक्ष रूप में श्रेष्ठ है अर्थात् इंग्लैंड में दोनों उद्योगों का श्रम भारत की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। परन्तु वह दोनों उद्योगों में समान रूप से श्रेष्ठ है। विनिमय का अनुपात इस प्रकार है :—

इंग्लैंड—सूती कपड़े की १ इकाई = ऊनी कपड़े की १ इकाई।

भारत—सूती कपड़े की १ इकाई = ऊनी कपड़े की १ इकाई।

इस दशा में दोनों के उत्पादन में निरपेक्ष रूप से श्रेष्ठ होते हुए भी इंग्लैंड को भारत से व्यापार करने में कोई फ़ायदा नहीं होता और भारत को भी (दोनों प्रकार के उत्पादन में हीनतर होने पर भी) इंग्लैंड से व्यापार करने में कोई नुकसान नहीं होता। इस दशा का कारण दोनों देशों के विनिमय-अनुपात की समानता है। दूसरे शब्दों में लागतों के अन्तर समान हैं। स्पष्टत: ऐसी परिस्थिति में व्यापार असम्भव है।

लागत के सापेक्ष अन्तर (Comparative Differences in Cost)—निरपेक्ष अंतरों के अंतरगत दिखलाए गए अन्तर द्वारा राष्ट्रों के बीच वस्तुओं के आदान-प्रदान का समुचित स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। ऐसे भी अवसर आते हैं (अधिकांश विदेशी व्यापारिक सौदे इसी प्रकार के होते हैं) जब एक देश दोनों वस्तुओं के उत्पादन में दूसरे देश की अपेक्षा श्रेष्ठतर होता है फिर भी वह एक का आयात करता है। संयुक्त-राष्ट्र अमरीका सदृश औद्योगिक देश भी ब्रिटेन से कुछ औजारों का आयात करता है यद्यपि वह उनके उत्पादन में श्रेष्ठतर है। इंग्लैंड जैसा देश जो दुग्ध पदार्थों के उत्पादन के लिए डेनमार्क से अधिक उपयुक्त है, डेनमार्क से युक्त पदार्थों का आयात करता है। इस विचित्र प्रतीत होने वाले व्यापार का क्या कारण है? निस्संशय यही कि वस्तुओं के इस प्रवाह द्वारा संयुक्त राष्ट्र अमरीका तथा इंग्लैंड का फ़ायदा होता है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका किन्हीं विशिष्ट उत्पादनों पर अपने प्रयासों को केन्द्रित करके उनके निर्यात द्वारा ब्रिटेन से कुछ यंत्र और औज़ार सस्ती दर पर पा सकता है। इसी प्रकार इंग्लैंड को अपने कपड़ों और चाकू-छुरी आदि के निर्यात के बदले में डेनमार्क से दुग्ध पदार्थ आयात करने में फ़ायदा होता है। दूसरे शब्दों में ऐसे व्यापार से दोनों देशों को अधिक सापेक्ष फ़ायदा होता है।

व्यक्तियों की उत्पादन क्रियाओं में भी यही बात लागू होती है। एक ही आदमी एक निपुण प्रबन्धक होने के साथ-साथ एक कुशल क्लर्क भी हो सकता है। परन्तु प्रबन्धक के कार्य में अधिक फ़ायदा पाने के कारण क्लर्क का काम किसी दूसरे कम कुशल आदमी से करा सकता है और प्रबन्धक का काम खुद कर सकता है। इस प्रकार का विशिष्टीकरण आधुनिक औद्योगिक संगठन का सर्वव्यापी लक्षण है, और इसके परिणामों ने इसकी युक्ति संगति प्रमाणित कर दी है। इसीलिए जैसा कि एडम स्मिथ ने कहा है 'जो प्रत्येक व्यक्तिगत परिवार में बुद्धिमानी है वह किसी महान राज्य के लिए मूर्खता नहीं हो सकती।'

वस्तुओं के इस प्रकार के विनिमय को जन्म देने वाली दशा को सापेक्ष लागतों का सिद्धान्त कहते हैं। इसके अनुसार "प्रत्येक देश की प्रवृत्ति अनिवार्यत: उन वस्तुओं का उत्पादन करने की नहीं होती जिन्हें वह दूसरे देश में कम लागत में उत्पन्न कर सकता है, वरन् उन वस्तुओं का उत्पादन करने की होती है जिन्हें वह अधिकतम सापेक्ष फ़ायदे अर्थात् निम्नतम सापेक्ष लागत पर उत्पन्न कर सकता है। प्रत्येक देश उन वस्तुओं का उत्पादन करेगा जिनमें उसकी श्रेष्ठता

अधिकतम या हीनता न्यूनतम होगी।" (वाइनर)। दूसरे शब्दों में उन वस्तुओं का, जिनका (प्रचलित विनिमय-दर के आधार पर अनुगणित) मूल्य देश के सीमाओं के अन्दर बाहर के देशों की अपेक्षा कम होता है, निर्यात किया जाता है तथा जिन वस्तुओं का मूल्य देश में अधिक और विदेशों में कम होता है उनका आयात किया जाता है।

अतः लागत-अनुपातों का अन्तर ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार है। लागतों में अंतर किस प्रकार सम्भव होते हैं? इस अन्तर के लिए विभिन्न राष्ट्रों के बीच प्रकृति का पक्षपात उत्तरदायी है। इसीलिए भारत में उपजाऊ भूमि, गर्म जलवायु और सस्ते श्रम के कारण धान, जूट, चाय और गन्ना आदि अपेक्षाकृत कम लागत से पैदा होते हैं और कम दामों पर बेचे भी जाते हैं। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र अमरीका, अपने कोयले, लोहे, पेट्रोलियम, कुशल श्रम और पूँजी की विशाल सम्पत्ति के कारण विभिन्न औद्योगिक उत्पादनों के क्षेत्र में अग्रणी है। उसकी लागत और उसके मूल्य कम हैं। इसीलिए सस्ते कुशल श्रम और यन्त्रीकरण के कारण जापान युद्ध-पूर्व विश्व-व्यापार में बहुत शक्तिशाली था। इस उदाहरण से यह और भी स्पष्ट हो जायगा कि उत्पादन स्रोतों के रूप और शक्ति द्वारा ही वस्तुओं की लागत तथा मूल्यों का निर्धारण होता है और उन्हीं के कारण देश-देश के बीच लागत-अनुपातों का अंतर भी उत्पन्न हो जाता है।

निदर्शन—सापेक्ष लागतों के सिद्धान्त के व्यवहार को समझाने के लिए कुछ परिकल्पनाएँ (assumptions) करनी होंगी। हम केवल दो देशों तथा दो वस्तुओं को लेंगे तथा यातायात की लागत को शून्य मान लेंगे। सब लागतों को हम केवल श्रम-लागतों में ही दिखायेंगे तथा यह भी कल्पना करेंगे कि उत्पादन समान लागत की दशाओं में हो रहा है, अर्थात् उत्पादन की मात्रा का प्रति इकाई लागत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

बाद में इन कल्पनाओं का निराकरण करके यह प्रदर्शित कर दिया जायगा कि उससे सिद्धान्त के आवश्यक तत्वों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

देश	चावल	कपड़ा	
अ	३ इकाइयाँ	२ इकाइयाँ	एक दिन के श्रम का
ब	१ इकाई	१ इकाई	उत्पादन।

अ देश चावल तथा कपड़ा दोनों के उत्पादन में श्रेष्ठतर है परन्तु चावल के उत्पादन में उसे अधिक सापेक्ष फ़ायदा है, क्योंकि चावल के उत्पादन में वह **ब** देश से तिगुना श्रेष्ठ है जब कि कपड़े के उत्पादन में दुगुना है। इसलिए चावल के उत्पादन में उसकी सापेक्ष लागत न्यूनतर है और वह उसी के उत्पादन का विशेषोपयोजन करेगा तथा उसके निर्यात द्वारा बदले में कपड़े की आवश्यक मात्रा प्राप्त करेगा। दूसरी ओर, यद्यपि **ब** दोनों वस्तुओं के उत्पादन में हीनतर है परन्तु कपड़े के उत्पादन में वह अपेक्षाकृत कम हीन है (अर्थात् कपड़े की सापेक्ष लागत चावल से कम है)। इसलिए वह कपड़े के उत्पादन का विशेषोपयोजन करेगा और उसके निर्यात द्वारा बदले में चावल की आवश्यक मात्रा प्राप्त कर लेगा।

दोनों देशों के बीच दोनों वस्तुओं के विनिमय का अनुपात इस प्रकार है :—

अ देश कपड़े की $\frac{3}{2}$ इकाई = १ इकाई चावल।

ब देश कपड़े की १ इकाई = १ इकाई चावल।

इस प्रकार **ब** देश में उतने ही चावल के बदले में अधिक कपड़ा मिल सकता है अर्थात् श्रम की हीनतर क्षमता के बावजूद **ब** देश में कपड़ा अपेक्षाकृत सस्ता है। इसी भांति **अ** में चावल अधिक सस्ता है। **अ** देश को जब तक १ इकाई चावल के बदले में २/३ इकाई से अधिक कपड़ा मिलता रहेगा तब तक वह फ़ायदे में रहेगा। **ब** देश को जब तक १ इकाई कपड़ के बदले में १ इकाई से अधिक चावल मिलता रहेगा तब तक वह फ़ायदे में रहेगा। दूसरे शब्दों में यदि **अ** तथा **ब** देश क्रमशः चावल तथा कपड़ों के उत्पादन का विशेषोपयोजन करें और उनका एक दूसरे को निर्यात करें तो इससे दोनों को फ़ायदा होगा।

इसके अतिरिक्त यह भी देखा जायगा कि इस प्रकार के विशिष्टीकरण से कुल उत्पादन की भी अभिवृद्धि होगी। क्योंकि यदि दोनों देश दोनों वस्तुओं का उत्पादन करेंगे तो चार दिनों के श्रम का कुल उत्पादन होगा चावल की ४ इकाइयाँ+कपड़े की ३ इकाइयाँ; दूसरी ओर यदि **अ** देश चावल तथा **ब** देश कपड़े का उत्पादन करता है तो कुल उत्पादन होगा चावल की ६ इकाइयाँ+कपड़े की २ इकाइयाँ। २ इकाई चावल का फ़ायदा १ इकाई चावल के नुकसान से अधिक है (क्योंकि चावल की २ इकाइयां **अ** देश में कपड़े की ४/३ तथा **ब** देश में २ इकाइयों के बराबर हैं) इस प्रकार विशिष्टीकरण और व्यापार द्वारा कुल उत्पादन में वृद्धि हुई है।

इन्हीं बातों के आधार पर केर्न्स (Cairnes) ने यह प्रायः उद्धृत बात कही थी: "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अस्तित्व के लिए एक ही दशा आवश्यक तथा पर्याप्त है; वह दशा है विनिमित वस्तुओं के उत्पादित की लागत में सापेक्ष अंतर।"

रिकार्डो ने इसी भाव को अपने प्रसिद्ध उदाहरण द्वारा प्रतिपादित किया था: "दो आदमी हैं, जो जूता और टोपी दोनों बना सकते हैं। उनमें से एक दोनों के उत्पादन में श्रेष्ठतर है परन्तु टोपी बनाने में वह दूसरे से केवल २० प्रतिशत अधिक बना सकता है जब कि जूते बनाने में ३३ प्रतिशत अधिक बना सकता है। क्या यह दोनों के भले के लिए नहीं होगा कि श्रेष्ठ आदमी सिर्फ जूते बनाए और हीन आदमी सिर्फ टोपियाँ ?"

अतः हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि व्यापार का उद्भव चाहे वह सापेक्ष फ़ायदे के कारण हो चाहे निरपेक्ष, उत्पादन की सापेक्ष लागतों के कारण ही होता है जिनके परिणाम स्वरूप प्रत्येक देश में वस्तुओं के सापेक्ष मूल्यों में अन्तर आ जाता है।

द्रव्य-लागतों का प्रयोग—वास्तविक सौदों में द्रव्य लागत ही निर्णयात्मक कारण होती है। उक्त उदाहरण में उत्पादन की लागत को श्रम के पदों (terms) के स्थान पर द्रव्य के पदों में व्यक्त करने के लिए कुछ सुधार करने होंगे।

	चावल	कपड़ा	प्रतिदिन मज़दूरी	लागत प्रति इकाई	
				चावल	कपड़ा
अ देश	३ इकाइयाँ	२ इकाइयाँ	रु० २-८-०	रु० ·८३३,	रु० १·२५
ब देश	१ इकाई	१ इकाई	रु० १-०-०	रु० १·०,	रु० १·०

अ में चावल तथा **ब** में कपड़ा सस्ता है इसलिए उत्पादन की सापेक्ष लागत के अनुसार उपयुक्त दिशाओं में ही व्यापार चलता रहेगा। जब तक मज़दूरियाँ मज़दूरों की कार्य क्षमता

के अनुसार रहेंगी तब तक यह दशा बनी रहेगी। **अ** देश की अधिकतम क्षमता **ब** देश की तिगुनी और न्यूनतम क्षमता **ब** देश की दुगुनी है। यदि **ब** देश में मज़दूरी १ रु० है तो **अ** देश की मज़दूरी अधिक से अधिक ३ रु० तथा कम से कम २ रु० होनी चाहिए। अर्थात्, सापेक्ष लागतों का सिद्धान्त लागू हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि दोनों देशों की द्रव्य-मज़दूरियों का अनुपात किसी उच्चतम या निम्नतम सीमा के अन्दर रहे।

यदि **अ** में मज़दूरी ३ रु० प्रतिदिन हो तो क्या होगा ?

प्रति इकाई लागत

	चावल	कपड़ा	
अ देश	रु० १-५-०	रु० १-०-०	प्रति इकाई लागत, जब **अ** देश की प्रतिदिन मज़दूरी ३ रु० है तथा **ब** देश की प्रतिदिन मज़दूरी १ रु०।
ब देश	रु० १-०-०	रु० १-०-०	

अब **ब** देश को **अ** से चावल खरीदने में कोई फ़ायदा नहीं है, लेकिन चूँकि **ब** देश में कपड़े का मूल्य अपेक्षाकृत कम है इसलिए **अ** देश **ब** से कपड़े का आयात करेगा। इस प्रकार एकपक्षीय व्यापार होने लगेगा। **अ** देश का भुगतान सन्तुलन (balance of payment) निष्क्रिय (passive) हो जायगा और वह कपड़े के बदले में **ब** देश को अपना सोना भेजने लगेगा। सोने के इस प्रवाह के कारण ब देश में मूल्यों तथा मज़दूरियों की वृद्धि तथा **अ** देश में उनका ह्रास होगा। अंततः व्यापार की दिशा वही रहेगी और सापेक्ष लागतों के फ़ायदे फिर से प्रभावशाली हो जाएँगे। हां, एक महत्वपूर्ण अंतर अवश्य आ जायगा कि व्यापार का क्षेत्र तथा उसके फ़ायदे संकुचित अवश्य हो जाएँगे।

इसी प्रकार यदि **अ** देश में मज़दूरियाँ नीचे गिर कर २ रु० हो जायें तब भी एक पक्षीय व्यापार होने लगेगा और **अ** देश कपड़े के आयात बिना ही चावल का निर्यात करता जायगा। **ब** देश से **अ** देश को सोना प्रवाहित होगा। **अ** देश में मज़दूरियाँ तथा मूल्य तब तक बढ़ेंगी, तथा **ब** देश में घटते रहेंगे जब तक सापेक्ष फ़ायदे की एक नवीन अवस्था न आ जायगी।

इस प्रकार जब तक भी मज़दूरियों का कार्य क्षमता से उचित सम्बन्ध रहता है, सापेक्ष लागतों का सिद्धान्त लागू होता रहता है। अगर मज़दूरियाँ क्षमता के अनुपात से अधिक होंगी तो उत्पादन क्षीण पड़ने लगेगा। यदि कृत्रिम उपायों द्वारा उत्पादन के स्तर को बनाए न रखा गया तो वह क्षीण होते-होते ऐसे स्तर पर पहुँच जाएगा जब फ़ायदा न होने के कारण व्यापार अव्यवहार्य हो जाएगा।

यातायात की लागतें—हमने यातायात की लागतों को भी, जो हर व्यापारिक सौदे में बहुत महत्वशाली होती हैं, छोड़ दिया था। परन्तु यातायात की लागतों के प्रवेश से सापेक्ष लागतों के सिद्धान्त में कोई भी व्यतिक्रम नहीं होता। अधिक से अधिक वे यही करती हैं कि व्यापार का विस्तार संकुचित हो जाता है। मान लीजिए कि यातायात-व्यय निर्यात करने वाले देश को देना पड़ता है :—

	१		२		
	चावल	कपड़ा	चावल	कपड़ा	
अ देश	रु० ·८३३	रु० १·२५	रु० ·९०	रु० १·२५	जब यातायात व्यय किया जा चुका है।
ब देश	रु० १·०	रु० १·०	रु० १·०	रु० १·१५	

व्यापार की दिशा पूर्ववत् ही है। परन्तु व्यापार का क्षेत्र संकुचित और फ़ायदा कम हो गया है। "जब तक किसी वस्तु की दो देशों में उत्पादन की लागतों का अन्तर दोनों देशों के बीच उसके यातायात की लागत से अधिक नहीं होगा, तब तक उसका आयात और निर्यात नहीं हो सकेगा। किसी देश की निर्यात सामर्थ्य उसके उत्पादन की सापेक्ष लागत पर ही पूर्णतः निर्भर नहीं रहती, वह यातायात की लागत पर भी निर्भर रहती है।" (हैबरलर)।

दो से अधिक वस्तुएँ—अब हम इस सिद्धान्त का उपयोग दो से अधिक वस्तुओं के लिए करेंगे। एक ही समय में एक देश अनेक वस्तुओं को उत्पन्न करने के लिए सम्पन्न होता है। परन्तु वह सब वस्तुओं के उत्पादन में समान रूप से सक्षम नहीं होता अर्थात् विभिन्न वस्तुओं में उसका सापेक्ष फ़ायदा भिन्न होता है। व्यापार में प्रवेश करने पर कोई देश उन्हीं वस्तुओं का निर्यात करेगा जिनकी सापेक्ष लागत कम होगी। प्रश्न यह है कि इसका निर्णय किस प्रकार किया जाय कि इन वस्तुओं में से किसका निर्यात किया जाय और किसका आयात। यह आयातों और निर्यातों के बीच व्यापार की शर्तों (terms of trade) और विनिमय की दरों को मालूम करके किया जा सकता है। व्यापार की शर्तें दो देशों की सापेक्ष माँगों पर निर्भर होती है। यदि व्यापार की शर्तें अनुकूल होंगी अर्थात् थोड़े से निर्यात के बदले में बहुत सा आयात प्राप्य होगा तो उस देश की बहुत कम वस्तुएँ, कदाचित एक ही वस्तु, बाहर भेजी जाएगी। जैसे-जैसे शर्तों की अनुकूलता कम होती जायगी, पहले से कुछ अधिक वस्तुएँ बाहर भेजी जाने लगेंगी—दो एक और वस्तुएँ निर्यातों की सूची में शामिल हो जाएँगी। इस प्रकार आयातों और निर्यातों की विभेद-रेखा व्यापार की शर्तों के परिवर्तन के साथ बदलती रहती है। कुछ भी हो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सापेक्ष लागत के फ़ायदे के आधार पर चलता रहता है और दो से अधिक वस्तुओं के होने से सिद्धान्त में कोई मौलिक अन्तर नहीं आता।

दो से अधिक देश—यहाँ भी सिद्धान्त में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं होता। कल्पना कीजिए कि दो से अधिक देश हैं, और एक वस्तु **क** है। कुछ देश उसका आयात कर रहे हैं और कुछ निर्यात। हम उनको आयात तथा निर्यात करने वाले समूहों में विभाजित कर देते हैं। वस्तु सबसे पहले उस देश द्वारा निर्यात की जायगी जिसका लागत-अनुपात निम्नतम होगा। और अगर उत्पादन में वृद्धि के कारण लागत बढ़ने से उस देश द्वारा कुल माँग पूरी नहीं हो सकती तो अन्य देश उत्पादन में अपने क्रमिक महत्व के अनुसार निर्यात करने लगेंगे।

उत्पादन की परिवर्ती लागतें (Variable Costs of Production)—अभी तक हमारा विश्लेषण इस कल्पना पर आधारित था कि उत्पादन समान लागतों की दशाओं में होता है। परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा नहीं होता। अब हमें यह देखना है कि वृद्धिमान या ह्रासमान लागतों अर्थात् क्रमागत ह्रासमान या वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि नियम के अन्तर्गत यह सिद्धान्त किस प्रकार लागू होता है :—

मान लीजिए कि दोनों वस्तुओं का उत्पादन दोनों देशों में ह्रासमान लागतों या वृद्धिमान प्रत्युपलब्धियों की दशा में हो रहा है। इसका अर्थ यह है कि सीमान्त लागत उत्पादन की वृद्धि के साथ घटती और ह्रास के साथ बढ़ती रहती है। **अ** देश अधिक चावल का उत्पादन कर रहा है क्योंकि उसे घरेलू तथा बाहर की भी बाज़ारों की माँगें पूरी करनी पड़ती हैं। इसी प्रकार **ब** देश कपड़े के उत्पादन को बढ़ा रहा है। इसलिए **अ** और **ब** दोनों में क्रमशः चावल और कपड़ों की लागत निरंतर घटती जाएगी। दूसरी ओर **अ** देश कम कपड़े का उत्पादन कर रहा है

क्योंकि ब देश से उसका आयात कर लेने में उसका फ़ायदा है; इन्हीं कारणों से ब देश कम चावल का उत्पादन कर रहा है। अ और ब देशों में क्रमशः कपड़े और चावल का दाम बढ़ता जाएगा और इस प्रकार अ देश को चावल तथा ब देश को कपड़े में सापेक्ष फ़ायदे बढ़ते जाएँगे। व्यापार का विस्तार होगा, विनिमय से फ़ायदे बढ़ेंगे और सापेक्ष लागतों के अंतरों के आधार पर पूर्ण विशिष्टीकरण हो जाएगा। निदर्शनार्थ :—

	चावल	कपड़ा	
अ देश	रु० ·८३३	रु० १·२५	प्रति इकाई लागत। अ तथा ब क्रमशः चावल और कपड़े के उत्पादन में विशिष्टीकरण करते हैं।
ब देश	रु० १·०	रु० १·०	

	चावल	कपड़ा	
अ देश	रु० ·७	रु० १·३५	ह्रासमान लागतों का सिद्धान्त लागू हो रहा है। व्यापार का विस्तार और पूर्ण विशिष्टीकरण
ब देश	रु० १·२	रु० ·९	

अब हम वृद्धिमान लागत अर्थात् ह्रासमान प्रत्युपलब्धि के अन्तर्गत होने वाले उत्पादन की दशा का उदाहरण लें। क्योंकि, सापेक्ष लागत-अंतरों के आधार पर, अ देश अधिक चावल और कम कपड़े का उत्पादन करता है इसलिए चावल की सीमान्त लागतें बढ़ेंगी तथा कपड़े की घटेंगी। इसी प्रकार ब देश में कपड़े की लागतें बढ़ेंगी और चावल की घटेंगी। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक दोनों देशों में लागतों के अंतर समान हो जाएँगे और दोनों देश दोनों वस्तुओं का उत्पादन करने लगेंगे। इस प्रकार उत्पादन तथा व्यापार में अभिवृद्धि के साथ व्यापार का फ़ायदा तथा विस्तार निरंतर कम होता जाएगा। परन्तु जब तक लागतों में अन्तर रहेगा व्यापार होता रहेगा। "श्रम विभाजन जितना सापेक्ष लागत के अन्तर्गत होता है उससे कहीं कम होगा क्योंकि उसके बढ़ाए जाने पर देश की सापेक्षिक हानियाँ कम होकर अंत में लुप्त हो जाती हैं। परन्तु उसे उस स्थिति तक चलाते जाना लाभकारी होगा।

	चावल	कपड़ा	
अ देश	रु० ·८३३	रु० १·२५	प्रति इकाई लागत, व्यापार पूर्ववत्।
ब देश	रु० १·०	रु० १·०	
अ देश	रु० ०·९	रु० १·२०	वृद्धिमान लागत के अन्तर्गत उत्पादन। व्यापार का विस्तार संकुचित हो गया है।
ब देश	रु० ०·९५	रु० १·१५	
अ देश	रु० ०·९३	रु० १·१७	लागत का अन्तर समान है। दोनों वस्तुओं का दोनों देशों में एक साथ उत्पादन होता है। इस स्थिति के आने तक व्यापार सापेक्ष लागतों के आधार पर होता है।
ब देश	रु० ०·९३	रु० १·१७	

हाँ, यदि उत्पादन के एक क्षेत्र में ह्रासमान लागतें हों तथा दूसरे क्षेत्र में वृद्धिमान लागतें हों तब स्थिति कुछ अनिश्चित हो जाएगी। ऐसे में व्यापार का अस्तित्व तथा विस्तार ह्रासमान तथा वृद्धिमान लागतों की शक्तियों की सापेक्षिक बल पर निर्भर होगा। जैसा कि नीचे दिखाया गया है, यदि निर्यात उद्योग में वृद्धिमान और आयात-उद्योग में ह्रासमान लागतें हो रही हैं और ह्रासमान लागतों की प्रवृत्ति अधिक सशक्त है, तो व्यापार के लाभ और भी बढ़ेंगे।

	चावल	कपड़ा	
अ देश	रु० ०·८३३	रु० १·२५	
ब देश	रु० १·०	रु० १·०	
अ देश	रु० ०·९	रु० १·४	ह्रासमान लागतों की प्रवृत्ति अधिक सशक्त है
ब देश	रु० १·२	रु० १·३	
अ देश	रु० १·२	रु० १·६	निर्यात वस्तुओं की लागत में वृद्धि होने के बावजूद व्यापार की दिशा पूर्ववत है।
ब देश	रु० १·८	रु० १·५	

परन्तु यदि वृद्धिमान लागतों की शक्ति अधिक है तो धीरे-धीरे फ़ायदे लुप्त हो जाएँगे और दोनों वस्तुओं का एक साथ ही दोनों देशों में उत्पादन होने लगेगा। वस्तुओं का विनिमय रुक जायगा। निदर्शनार्थ :—

	चावल	कपड़ा	
अ देश	रु० ०·८३३	रु० १·२५	वृद्धिमान लागतों की प्रवृत्ति अधिक सशक्त
ब देश	रु० १·०	रु० १·०	
अ देश	रु० ०·९५	रु० १·२६	लागतों के अन्तर कम होते जा रहे हैं।
ब देश	रु० १·१	रु० १·२	
अ देश	रु० १·२	रु० १·२८	लागतों के समान अन्तरों की स्थिति—दोनों देश दोनों वस्तुओं का उत्पादन कर रहे हैं व्यापार नहीं हो रहा है।
ब देश	रु० १·२	रु० १·२८	

इसी प्रकार यह दिखाया जा सकता है कि अगर निर्यात-उद्योग ह्रासमान लागतों तथा आयात उद्योग वृद्धिमान लागतों की दशा में चल रहे हैं तो उपर्युक्त निष्कर्ष ही ठीक होंगे। यदि ह्रासमान लागतों की प्रवृत्ति अधिक शक्तिशाली होगी तो व्यापार चलता रहेगा, विपरीत दशा में वस्तुएँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से बहिष्कृत हो जाएँगी।

उदाहरण १	चावल	कपड़ा	चावल	कपड़ा
अ देश	रु० ०·८३३	रु० १·२५	रु० ०·६६	रु० १·१
ब देश	रु० १·०	रु० १·०	रु० ०·८	रु० ०·६

ह्रासमान लागतें अधिक सशक्त हैं। इसलिए व्यापार की दिशा पूर्ववत है।

उदाहरण २	चावल	कपड़ा	चावल	कपड़ा
अ देश	रु० ०·८३३	रु० १·२५	रु० ०·६	रु० ०·९५
ब देश	रु० १·०	रु० १·०	रु० ०·६	रु० ०·९५

वृद्धिमान लागतें अधिक सशक्त हैं। लागतों के अन्तर लुप्त हो गए हैं इसलिए व्यापार समाप्त हो जाएगा।

निष्कर्ष—परिकल्पनाओं का निराकरण करने से कुछ सुधार अवश्य करने पड़ते हैं परन्तु उनसे सापेक्ष लागत का सिद्धान्त निरर्थक नहीं हो जाता; मूलतः यह सिद्धान्त अकाट्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फायदे

टाउजिग के अनुसार किसी देश को व्यापार से होने वाला फ़ायदा दो कारणों पर निर्भर है : एक है अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की शर्तें अर्थात् व्यापार की शर्तें और दूसरा है निर्यात-वस्तुएँ उत्पादित करने में उस देश के श्रम की क्षमता।

'व्यापार की शर्तें (terms of trade) का तात्पर्य उस अनुपात से है जिस पर दो देशों की वस्तुओं का विनिमय होता है। यदि **अ** और **ब** देश का उदाहरण लें तो यदि विनिमय का अनुपात कपड़े की १ इकाई—चावल की १ इकाई हो तो **अ** देश को $\frac{1}{3}$ इकाई कपड़े का फ़ायदा होगा क्योंकि जब व्यापार नहीं होता है तब उसे १ इकाई चावल के लिये केवल $\frac{2}{3}$ इकाई कपड़ा मिलता है (**अ** देश में दोनों वस्तुओं के पारस्परिक विनिमय की दर के अनुसार)। परन्तु इस अनुपात पर **ब** देश को कोई लाभ नहीं होता इसलिए उसे **अ** देश से व्यापार करने का कोई लोभ नहीं होगा। दूसरी ओर यदि विनिमय का अनुपात चावल की १ इकाई=कपड़े की $\frac{3}{4}$ इकाई हो तो हर सौदे में **ब** देश को $\frac{1}{4}$ इकाई कपड़े का लाभ होगा क्योंकि जब व्यापार नहीं होता तब १ इकाई चावल के लिए उसे १ इकाई कपड़ा देना पड़ता है। व्यापार होने की दशा में कम कपड़ा देना पड़ता है। कोई भी विनिमय की दर जिसमें १ इकाई चावल के बदले में कपड़े की $\frac{2}{3}$ इकाई से अधिक और १ इकाई से कम प्राप्त होता है, दोनों व्यापारी देशों के लिए फ़ायदेमन्द होगी। विनिमय की दर जितनी ही १ इकाई चावल=$\frac{2}{3}$ इकाई कपड़े के निकट हो **अ** देश का फ़ायदा उतना ही कम और **ब** देश का फायदा उतना ही अधिक होगा। इसके विपरीत जितना ही विनिमय की दर १ इकाई चावल=१ इकाई कपड़ा के निकट हो **अ** देश को उतना ही अधिक तथा **ब** देश को उतना ही कम फ़ायदा होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यापार की शर्तों का दो व्यापारी देशों के फ़ायदे के भागों को निर्णय करने में बहुत महत्वपूर्ण भाग होता है।

परन्तु जैसा ऊपर इंगित किया जा चुका है, व्यापार की शर्तें निरंतर बदलती रहती हैं। इस परिवर्तनशीलता के पीछे कौन सी शक्ति है? जॉन स्टुअर्ट मिल इसे प्रति-माँग (reciprocal demand) कहते हैं। इसका अर्थ है—दो व्यापारी राष्ट्रों की एक दूसरे की वस्तुओं की माँग की सापेक्ष लोच अर्थात् दो देशों की अपनी ही वस्तु के मदों में एक दूसरे की वस्तुओं की माँगें।

दो देशों के बीच की विनिमय की दर वही होगी जिस पर संस्थिति अर्थात् ऐसी अवस्था हो जायगी जब किसी देश के निर्यातों का मूल्य उसके आयातों के मूल्य के बराबर होगा। जिस देश की माँग बेलोच होगी वह दूसरे देश की वस्तु के किसी परिमाण विशेष के लिए (पूर्ति की कमी होने पर) अपने देश की वस्तु का अधिक परिमाण दे सकता है (उदाहरणार्थ, यदि **अ** देश की माँग बेलोच हो तो वह कपड़े की १ इकाई के लिए अधिक चावल देगा)। ऐसे में व्यापार की शर्तें **अ** देश के प्रतिकूल होंगी और परिणामतः उसको व्यापार से होने वाला फ़ायदा कम हो जायगा। दूसरी ओर यदि किसी देश की माँग लोचदार हो तो उपर्युक्त प्रकार की परिस्थितियों में वह दूसरे देश की वस्तुओं की एक विशेष मात्रा पाने के लिए अपने यहाँ की कम वस्तुएँ देने को तैयार होगा। (**अ** देश की माँग लोचदार हो तो कपड़े की १ इकाई के लिए वह कम चावल देने के लिए तैयार होगा)। ऐसे में व्यापार की शर्तें **अ** देश के अनुकूल होंगी और व्यापार से होने वाला फ़ायदा अधिक होगा। निदर्शनार्थ—मान लीजिए कि जब विनिमय की दर $\frac{9}{10}$ इकाई कपड़े = १ इकाई चावल है तब **अ** और **ब** देशों का विनिमय संस्थिति पर है (अर्थात् आयातों से निर्यात का मूल्य निकल आता है)। मान लिया किन्हीं कारणों से **अ** की कपड़े की माँग बढ़ती है पर **ब** की चावल की माँग पूर्ववत् रहती है। ऐसे में **अ** देश **ब** देश के सम्मुख अधिक आकर्षक शर्तें रखेगा (अर्थात् उतने ही कपड़े के लिए पहले से अधिक चावल देगा जिससे **ब** अधिक कपड़ा भेजे।) स्पष्टतः **ब** देश की वस्तुओं के लिए **अ** देश की माँग की तीव्रता के कारण व्यापार की शर्तें उसके विरुद्ध हो जाएँगी। परन्तु नई दर पर जो कि **ब** देश के अनुकूल है (जैसे $\frac{8}{9}$ इकाई कपड़े = १ इकाई चावल) यदि **ब** देश की माँग लोचदार हो तो वह अधिक खरीद सकता है परन्तु यदि उसकी मांग बेलोच है तो वह पहले से थोड़ा ही अधिक खरीदेगा। पहली दशा में **अ** देश के लिए व्यापार की शर्तें दूसरी दशा की अपेक्षा कम प्रतिकूल होंगी। पहली दशा में **अ** के लिए व्यापार की शर्तें दूसरी दशा की अपेक्षा कम प्रतिकूल होंगी। **ब** देश के फ़ायदे की वृद्धि की गति इसकी उल्टी होगी।

इस प्रकार प्रतिमाँग का प्रभाव व्यापार की शर्तों पर ही नहीं वरन् व्यापार के फ़ायदों पर भी पड़ती है। टाउज़िग के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा उस देश को सबसे अधिक लाभ होता है जिसके निर्यातों की माँग सबसे अधिक होती है और जिसमें आयातों (अर्थात् दूसरे देशों के निर्यातों) की माँग केवल थोड़ी सी होती है। उस देश को सब से कम लाभ होता है जिसमें अन्य देशों के उत्पादकों के लिए बहुत माँग होती है।"

किसी देश को व्यापार से होने वाले फ़ायदों पर दूसरा प्रभाव निर्यात-वस्तुओं के उत्पादन में उसके श्रम की क्षमता का पड़ता है। श्रम की क्षमता ही दो व्यापारी देशों के बीच लागत-अनुपातों के अन्तर के लिए उत्तरदायी है। क्षमता की वृद्धि से सापेक्ष लागतों का अन्तर बढ़ जाता है और इस प्रकार दो देशों के बीच होने वाले लाभपूर्ण व्यापार का क्षेत्र भी विस्तृत हो

जाता है। किसी देश के निर्यात-उद्योगों के मज़दूरों की क्षमता जितनी ही अधिक होगी उतनी ही अधिक उसके निर्यातों की माँग होगी। इस प्रकार जैसा कि टाउज़िग ने कहा है, व्यापार से अधिक फ़ायदा होगा। और ऐसे देश में द्राव्यिक आयों का साधारण स्तर भी ऊँचा होगा। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि उसकी वास्तविक आय (real incone) भी अधिक होगी क्योंकि वह अपनी निर्यात-वस्तुओं के अधिक उत्पादन के कारण विनिमय द्वारा अधिक विदेशी वस्तुओं को प्राप्त कर सकेगा।

उपर्युक्त के स्पष्टीकरण के लिए इसका उल्लेख कर देना चाहिए कि व्यापार से होने वाले लाभ के निश्चय में देश की द्राव्यिक आय बहुत महत्वपूर्ण होती है। अन्य बातों के समय रहने पर आय का उच्च स्तर सफलता पूर्वक चलाए गए निर्यात उद्योग का ही फल होता है। जिस देश में दूसरे देश की वस्तुओं की माँग बहुत होगी उसमें अपेक्षाकृत मूल्य और द्राव्यिक आय कम होगी और जिस देश के निर्यातों की विदेश में बहुत माँग होगी उसकी द्रव्य-मज़दूरियाँ और द्राव्यिक आय अपेक्षाकृत अधिक होगी। (टाउज़िग)। क्योंकि यदि किसी देश के निर्यातों की विदेश में बहुत माँग होगी तो उसका निर्यात व्यापार फले-फूलेगा और उसके निर्यात-उद्योग में मज़दूरियाँ ऊँची होंगी। इन ऊँची मज़दूरियों के फलस्वरूप अन्य उद्योगों की मज़दूरियाँ भी ऊँची हो जाएँगी क्योंकि स्पर्द्धा के कारण सब मज़दूर निर्यात-उद्योगों की ओर आकृष्ट हो जाएँगे और जब तक अन्य उद्योग उन्हें उतनी ही ऊँची मज़दूरियाँ देकर अपनी ओर न खींचेंगे तब तक वे उनसे विमुख ही रहेंगे। जिन देशों के निर्यातों की माँग नहीं होगी उनमें इसका उल्टा सत्य होगा। परन्तु, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, जिस देश में द्राव्यिक आयों का स्तर ऊँचा होता है उसे एक अतिरिक्त फ़ायदा होता है। उसे (यातायात की लागत के कारण हो जाने वाले अंतर के अतिरिक्त) विदेशी वस्तुओं के लिए अन्य देशों के समान ही मूल्य देना पड़ता है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं का मूल्य सर्वत्र एक सा रहता है। यह स्वाभाविक है कि एक अमरीकन को जिसकी आमदनी अधिक है, ऐसे आयातों से एक कम आय वाले भारतीय की अपेक्षा अधिक सन्तोष प्राप्त होगा। "ऊँची द्राव्यिक आय का वास्तविक लाभ आयातों के नीचे मूल्यों के रूप में होता है।"

———

अध्याय ५३

व्यवसायिक नीति

'व्यवसायिक नीति' या 'व्यापार' नीति का तात्पर्य "किसी देश के वैदेशिक आर्थिक सम्बन्धों की व्यवस्था करने वाले समस्त कार्यों" से होता है। अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के इतिहास में दो नीतियाँ प्रमुख रही हैं : मुक्त व्यापार और संरक्षण।

मुक्त व्यापार (Free Trade)---मुक्त व्यापार का अर्थ है—अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की स्वतन्त्रता। इस नीति में देशों के बीच वस्तुओं के गमनागमन में कोई बाधा नहीं होती और विनिमय अपनी स्वाभाविक गति से चलता है।

संरक्षण (Protection)—संरक्षण में दो राष्ट्रों के पारस्परिक व्यापार पर प्रतिबन्ध निहित है। यह साधारणतः किसी स्वदेशी उद्योग को विदेशी स्पर्धा से बचाने के लिये व्यवहृत होता है। वस्तुओं के आयात को अंशतः या पूर्णतः रोककरके गृह-उद्योगों को अभिवृद्धि और विकास का अवसर दिया जाता है। यही संरक्षण का मुख्य ध्येय है। लेकिन मोटे तौर से हस्तक्षेप के समस्त कार्य, चाहे उनका ध्येय कुछ भी हो, यदि वे अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के क्षेत्र में अस्वाभाविक बाधाएँ उपस्थित करते हैं तो, 'संरक्षणात्मक कार्य' कहलाते हैं।

इन दोनों नीतियों की सापेक्षिक वांछनीयता का निर्णय करने के लिये हमारे पास कोई दृष्टिकोण या निर्णय का मान होना चाहिये। 'सामाजिक उत्पादन को अधिकतम करना' ही सर्वोचित मान है। समस्त आर्थिक क्रिया का ध्येय होता है---धन के उत्पादन द्वारा मानव-इच्छाओं की पूर्ति करना। स्पष्टतः यदि कुल उत्पादन अधिक होगा तो सन्तोष भी अधिक होगा। इसलिए जिस नीति से भी उपर्युक्त आदर्श को बल मिले उसे वांछनीय मानना चाहिए।

मुक्त व्यापार का पक्ष—मुक्त व्यापार के पक्ष में जितने भी तर्क हैं वे सब श्रम-विभाजन के लाभों पर आधारित हैं। यदि हम व्यक्तियों के एक समूह को लें तो यह देखेंगे कि श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण द्वारा प्रत्येक उसी वस्तु का उत्पादन करेगा जिसके लिए वह सर्वाधिक उपयुक्त होगा। इसके पश्चात विनिमय द्वारा सब भागीदारों को फ़ायदा होगा। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा भी उनमें से प्रत्येक अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर सकता था परन्तु उस दशा में कुल उत्पादन और कुल सन्तोष की मात्रा विशिष्टीकरण की अपेक्षा कम होगी। इसलिए श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण जितना ही अधिक होगा आर्थिक कल्याण और समृद्धि में भी उतनी ही वृद्धि होगी।

इस निष्कर्ष को यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि पर देखें तो मुक्त व्यापार की वांछनीयता सिद्ध हो जाती है। प्राकृतिक तथा अन्य सुविधाओं के कारण प्रत्येक राष्ट्र किसी विशेष वस्तु के उत्पादन के उपयुक्त होता है। विशिष्टीकरण द्वारा देश के श्रम और पूँजी उन उद्योगों की ओर प्रवृत्त होते हैं जहाँ उनका प्रतिफल अधिकतम होता है। इस प्रकार

के प्रादेशिक विशिष्टीकरण द्वारा सब भागीदारों का फ़ायदा होता है और यदि अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्प्रदेशीय व्यापार मुक्त रहे तो उनका सामाजिक उत्पादन भी अधिकतम हो जाता है। वस्तुओं के मुक्त गमनागमन में किसी प्रकार की रोक से विशिष्टीकरण का क्षेत्र संकुचित हो जाता है और उस हद तक सामाजिक उत्पादन भी कम हो जाता है। "क्योंकि किसी राष्ट्र की आय उसके विशिष्टीकरण के अनुपात में ही होती है, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पूर्ण स्वतन्त्रता ही समर्थनीय है।" (एल्सवर्थ)

मुक्त व्यापार के समर्थन के तर्क उससे होने वाले फ़ायदों पर आधारित हैं। वे संक्षेप में यहाँ दिए जा रहे हैं :—

मुक्त व्यापार द्वारा आयात-वस्तुएँ सस्ते दामों पर मिलती हैं—वस्तुओं और सेवाओं की वृद्धि के रूप में देश की वास्तविक आय की वृद्धि होती है। चूँकि दूसरा देश प्राकृतिक रूप से हमारी आयात-वस्तु के उत्पादन में श्रेष्ठतर है, इसलि यदि हम उन वस्तुओं के उत्पादन का प्रयास स्वयं करेंगे तो उसका अर्थ अपनी पूँजी को अलाभकारी उद्योगों में फँसाना होगा। "व्यापार द्वारा हम अपने उत्पादक साधनों के एक अंश को अन्य इच्छाओं की पूर्ति के लिए स्वतंत्र कर लेते हैं। परिणामतः हमारे उत्पादक साधन जो भी उत्पादन करते हैं वह हमारी राष्ट्रीय आय की वृद्धि होती है"। (एल्सवर्थ) यह कहा जाता है कि यह तर्क उत्पादकों के मत्थे उपभोक्ताओं के फ़ायदे की बात कहता है। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि मुक्त व्यापार के अन्तर्गत यद्यपि कम मूल्यों के कारण उपभोक्ताओं को फ़ायदा होता है तथापि उत्पादकों को भी फायदा होता है, क्योंकि उत्पादन के समस्त साधन उत्पादन की उन दिशाओं में प्रयुक्त होने लगते हैं जहाँ वे सबसे अधिक उत्पादन कर सकते हैं और इसीलिए सबसे अधिक कमा भी सकते हैं। विशिष्टीकरण से, चाहे वह स्थानीय हो या अन्तर्राष्ट्रीय, उपभोक्ता और उत्पादक दोनों को लाभ होता है।

मुक्त व्यापार अहितकारी एकाधिकारों को नहीं बनने देता—जहाँ व्यापार मुक्त होता है वहाँ स्वस्थ स्पर्धा होती है; ऐसे में एकाधिकारों की वृद्धि के अवसर बहुत कम मिलते हैं। इस प्रकार स्पर्धा के क्षेत्र के विस्तृत हो जाने के कारण देश की औद्योगिक व्यवस्था सशक्त होती है।

संरक्षण

संरक्षण प्रदान करने के ढङ्ग—आधुनिक काल में संरक्षण समस्त देशों की व्यवसायिक नीति का एक नियमित अंग है। उद्देश्य और समय की आवश्यकता को देखते हुए अनेक ढंग प्रयुक्त किए गए हैं। साधारणतः निम्नांकित ढंगों में से किसी ढंग से संरक्षण प्रदान किया जा सकता है :

टैरिफ़ अर्थात् आयात-कर—ये कर उन वस्तुओं के आयात पर लगाए जाते हैं जो उसी प्रकार की स्वदेशी वस्तुओं से प्रतियोगिता करती हैं। इनके कारण उन वस्तुओं का दाम बढ़ जाता है और इस प्रकार स्वदेशी उत्पादक को विदेशियों की स्पर्धा का सामना करने में सहायता मिलती है। यदि कर बहुत अधिक होता है तो दाम इतना अधिक बढ़

जाता है कि उस वस्तु के लिए कर लगाने वाले देश में कोई बाजार ही नहीं रह जाता। ऐसे में गृह-उत्पादन अबाध गति से समृद्धि की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

वैत्तिक सहायता—सरकार विदेशी स्पर्धा का सामना करने के लिए गृह-उद्योग को वैत्तिक सहायता दे सकती है जिससे वह अंततः अपने पैरों पर खड़ा हो सके। नव-स्थापित उद्योग की उत्पादन की लागत अधिक होती है। इसलिए वह अपने उत्पादन के लिए अधिक मूल्य चाहता है। यदि कोई विदेशी उत्पादक उसी या उसी प्रकार के वस्तु को कम दामों पर बेच सकता है तो उसका बराबरी से सामना तभी किया जा सकता है जब गृह-उत्पादक के उत्पादन की लागत कम हो जाए। वैत्तिक सहायता द्वारा सरकार लागत का कुछ भार अपने ऊपर ले लेती है और गृह-उद्योग के विकास के लिए सुविधा प्रदान करती है। प्रसिद्ध 'टाटा आयरन एन्ड स्टील' उद्योग को उसकी स्थापना के काल में इस प्रकार की सहायता दी गई थी।

कोटा (Quotas)—इसका तात्पर्य आयातों के परिमाण पर प्रतिबन्ध लगाने से है। स्वदेशी बाजार में आ सकने वाली विदेशी वस्तुओं का परिमाण निश्चित कर दिया जाता है। इस सीमा के बाद आयात रोक दिया जाता है। कोटा प्रणाली के अन्तर्गत गृह-उत्पादक यह जानते हैं कि कितना सामान बाहर से आएगा। इसलिए वे देश की माँग को पूरा करने के लिए उत्पादन करने में स्वतन्त्र होते हैं।

व्यवसायिक सन्धियाँ—पारस्परिक समझौते द्वारा दो राष्ट्र एक दूसरे को सुविधाएँ देने का निश्चय कर सकते हैं। यहाँ सन्धियाँ साधारणतः 'परमानुगृहीत राष्ट्र' धारा (Most Favoured Nation Clause) का रूप लेती हैं। कोई राष्ट्र किसी तीसरे राष्ट्र को जो भी सुविधाएँ देता है वे समझौतों में शामिल होने वाले दूसरे राष्ट्र को भी अपने आप सुलभ हो जाती है। परिणामतः ऐसी सन्धियों द्वारा व्यापार का क्षेत्र विस्तृत होता है। व्यवसायिक सन्धियाँ द्विपार्श्व समझौतों (Bilateral Trade Agreements) का भी रूप धारण कर सकती हैं जिनके अनुसार दो राष्ट्र पारस्परिक समझौते द्वारा अपने व्यापार का नियमन करते हैं।

विनिमय नियन्त्रण—(Exchange Control) विनिमय की दर और विदेशी मुद्रा का प्राप्त परिमाण हमारे भुगतान-संतुलन पर (जिसमें सब से महत्वपूर्ण विषय आयात और निर्यात होते हैं।) निर्भर रहता है। एक वांछित दर बनाए रखने के लिए विदेशी व्यापार और विदेशी भुगतानों पर कड़ी निगाह रखना आवश्यक हो जाता है। विनिमय नियन्त्रण सरकार के हाथ में एक बहुत सार्थक शस्त्र है जिसके द्वारा विदेशी व्यापार का आयोजन और उसकी दिशा का वांछित ढंग से निर्धारण सरल हो जाता है। पिछले दो विश्व युद्धों में विनिमय नियन्त्रण की प्रणाली में निरन्तर वृद्धि हुई है। निकास समझौते (Clearing Agreement) और विनिमय-समानीकरण-निधियाँ (Exchange Equalisation Fund) विनिमय नियन्त्रण के प्रकार हैं। जहाँ तक विनिमय नियन्त्रण का उपयोग उत्पादन को वांछित दिशाओं में मोड़ने के लिए किया जाता है वहाँ तक वह सरंक्षणात्मक होता है।

अवमूल्यन (Exchange Depreciation)—इस प्रणाली के अन्तर्गत एक मुद्रा का मूल्य दूसरी मुद्रा के पदों में जान बूझ कर इस उद्देश्य से कम कर दिया जाता है कि आयात कम हो और निर्यात बढ़े। जब किसी देश की मुद्रा के मूल्य में इस प्रकार का ह्रास होता है तब उस देश की वस्तुएँ विदेशी खरीदारों के लिए सस्ती हो जाती हैं। इस प्रकार ऐसी वस्तुओं की माँग कृत्रिम उपायों द्वारा बढ़ जाती है और निर्यात की वृद्धि हो जाती है। दूसरी ओर, किसी मुद्रा का मूल्य (दूसरे देश की मुद्रा के पदों में) कम होने का फल यह भी होता है कि विदेशी वस्तुएँ अवमूल्यन करने वाले राष्ट्र में मँहगी हो जाती हैं। इससे आयात स्वतः कम हो जाते हैं। इस नवीन अवस्था में गृह-उद्योग अतिरिक्त माँग को पूरी करने के लिए शीघ्रता से उन्नति कर सकते हैं। इसलिए अवमूल्यन का परिणाम संरक्षण के परिणाम सदृश ही होता है।

संरक्षण के पक्ष में तर्क—संरक्षण आधुनिक व्यवसायिक नीति का सर्वमान्य विचार है। चाहे भले के लिए या बुरे के लिए, संरक्षण व्यवसायिक नीति का स्थायी अंग बन चुका है। परन्तु यह आर्थिक स्वर्ण काल के निकट लाने की एक स्वस्थ नीति है या अपरिचित खतरों से भरी हुई है —इसका निश्चय अभी तक नहीं हो सका है। संरक्षण के समर्थक अक्सर एक पक्षपात रहित वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने के स्थान पर पूर्वग्रहों में बह जाते हैं। "सचमुच ऐसे तर्क जो वैज्ञानिक दृष्टि से बिलकुल गलत हैं और जिन्हें केवल कुछ वाक्यों में काटा जा सकता है, व्यवहार में, विधान सभा में, तथा स्वार्थी दलों और अखबारों में सबसे अधिक प्रभावशाली होते हैं"। (हैबरलर)

फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि संरक्षण के कुछ तर्क राष्ट्रीय रक्षा, या किसी समूह या परम्परा विशेष को बनाए रखने के दृष्टिकोण से उचित और विश्वसनीय हैं। व्यवसायिक नीति पर दिए गए किसी भी तर्क की विश्वसनीयता उससे सामाजिक उत्पादन को घटाने या बढ़ाने पर निर्भर है।

निर्धन-श्रमतर्क—यह तर्क देने वाले यह मान लेते हैं कि जिस देश में द्राव्यिक मजदूरियाँ नीची होंगी वह ऊँची द्रव्य मजदूरी वाले देश को विक्रय के क्षेत्र में पराजित कर देगा। इसलिए अधिक मजदूरी वाले देश में संरक्षण इसलिए उचित है कि उसके कारण कम मजदूरी वाले देश की वस्तुएँ अन्दर नहीं आने पातीं और इस प्रकार अहितकर स्पर्धा अपने श्रोत पर ही रोक दी जाती है। इस तर्क के समर्थक यह कहते हैं कि इसके द्वारा संरक्षित देश में ऊँची मजदूरियों और रहन-सहन के ऊँचे स्तर का बनाए रखना सम्भव रहता है।

आलोचना—यह तर्क सदैव नहीं प्रयुक्त हो सकता। क्योंकि अधिकांशतः श्रम को ऊँची मजदूरियाँ इसीलिए मिलती हैं कि उसकी कार्य-क्षमता अधिक होती है अर्थात उसकी सीमान्त उत्पादकता अपेक्षाकृत अधिक होती है। इसलिए यदि ऊँची मजदूरी वाले देश में श्रम की उत्पादकता और सार्थकता कम मजदूरी वाले देश से उसी अनुपात में अधिक होती है तो उसे किसी प्रकार की अल्पता या हीनता का सामना नहीं करना पड़ता।

यदि यह तर्क ठीक होता तो एशिया और अफ्रीका के कम मजदूरी वाले देशों ने विश्व बाजार में अपने अमरीकी तथा यूरोपीय उन्नत प्रतिस्पर्धियों को आर्थिक क्षेत्र में

पछाड़ दिया होता और अमरीका तथा इंग्लैंड जैसे ऊँची मज़दूरी वाले देशों के लिए पूर्वीय बाज़ारों में कोई स्थान न होता। परन्तु तथ्य इसका उल्टा है। पश्चिम के ये उन्नत औद्योगिक राष्ट्र ऊँची मज़दूरियों के बावजूद निरंतर विश्व व्यापार का नेतृत्व कर रहे हैं। इस का कारण यह है कि उनकी मज़दूरियों के हिसाब से उनके श्रम की क्षमता भी अधिक है। ऐसे उद्योगों को संरक्षण की कोई आवश्यकता नहीं, वे नेतृत्व करने में स्वयं समर्थ हैं।

जिन उद्योगों में सापेक्ष लागतों के फायदे होते हैं उनमें ऊँची मज़दूरी देकर और कम दाम लेकर भी उत्पादक को फायदा हो सकता है। जिन उद्योगों को ऐसे फायदे सुलभ नहीं होते उन्हीं में यथेष्ट संक्षरण के बिना ऊँची मज़दूरियाँ नहीं दी जा सकतीं। ऐसे उद्योग ही, जिनका जीवन ही आयात-करों पर निर्भर रहता है, निर्धन-श्रम तर्क का बड़े आग्रह से प्रचार करते हैं। हमारे अधिकतम सामाजिक उत्पादन के दृष्टकोण से ये उद्योग राष्ट्र पर भार-स्वरूप होते हैं। इनमें फँसे हुए उत्पादन के साधनों का सदुपयोग उन्हें उन वस्तुओं के उत्पादन में लगाकर किया जा सकता है जिनमें राष्ट्र को सापेक्ष लागतों के फायदे होते हों। स्पष्टतः यदि किसी 'अस्वाभाविक' उद्योग को ऊँची मज़दूरियों के निर्वाह के लिए ही संरक्षण प्रदान किया जाता है तो वह चाहे और किसी भी दृष्टि से समर्थनीय हो, परन्तु हमारे अधिकतम सामाजिक उत्पादन के दृष्टिकोण से कदापि समर्थनीय नहीं है।

स्वदेशी-बाज़ार तर्क—इसके अनुसार संरक्षण द्वारा आयातों पर प्रतिबन्ध लग जाता है और स्वदेशी उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है जिससे स्वदेशी उत्पादनों के लिए एक अपना बाज़ार बन जाता है। यदि हम विदेशी उत्पादकों से नहीं ख़रीदेंगे तो स्वभावतः हमें स्वदेशी बाज़ार में ही अपनी वस्तुएँ खरीदनी पड़ेंगी।

आलोचना—यह अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि आयात कम कर देने से अंततः लगभग उसी मात्रा में निर्यात भी कम हो जाएँगे। इसलिए यदि आयात-उद्योगों को लाभ होगा तो निर्यात-उद्योगों को हानि भी होगी। विदेशी बाज़ारों के हाथ से निकल जाने पर निर्यात-उद्योग बन्द हो जाएँगे और उनमें वृत्तिहीनता बढ़ेगी जिसका संरक्षक राष्ट्र की समृद्धि पर बुरा असर पड़ेगा। और निर्यात-उद्योगों का बन्द होना इस अर्थ में भी बहुत गम्भीर है कि उनमें राष्ट्र को सापेक्ष लागत के, अर्थात् विशिष्टीकरण के फ़ायदे होते हैं। निर्यात-उद्योगों को बन्द करके किसी नए उद्योग का विकास करने का अर्थ होगा—कम से कम कुछ समय के लिए उत्पादक साधनों का अनार्थिक नियोजन और इसके कारण सामाजिक उत्पादन का ह्रास।

जैसा टाउज़िग कहते हैं: "आयातों को कम करने का अर्थ निर्यात को भी कम करना है, और इसका सीधा सा अर्थ होता है अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के स्थान पर अन्तर्देशीय विनिमय की प्रतिस्थापना करना"। इस प्रकार के विनिमय से उपभोक्ताओं पर अधिक भार पड़ेगा क्योंकि गृह-निर्मित वस्तुएँ (जिनको सापेक्ष लागतों के फायदे प्राप्त नहीं हैं) पहले वाली आयात-वस्तुओं से अधिक मँहगी पड़ेंगी।

द्रव्य को देश ही में रखने का तर्क—यह तर्क एक अतिवाणिज्यवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। अब्राहम लिंकन जैसे व्यक्ति ने इसका समर्थन किया था—"मैं टैरिफ (आयात-कर) के बारे में बहुत नहीं जानता, परन्तु इतना अवश्य जानता हूँ कि जब हम विदेश में औद्योगिक वस्तुएँ खरीदते हैं तब वस्तुएँ तो हमें मिलती हैं और द्रव्य विदेशियों को। जब हम देश में ही औद्योगिक वस्तुएँ खरीदते हैं तब हमें वस्तुएँ भी मिलती हैं और द्रव्य भी।"

आलोचना—जैसा कि बेवरिज महाशय व्यंग्यपूर्वक कहते हैं,—"इस कथन के केवल प्रथम आठ शब्द ही सार्थक हैं।" विदेशी व्यापार में वस्तुओं का वस्तुओं से विनिमय होता है; द्रव्य तो केवल एक माध्यम है जिससे यह विनिमय सुविधापूर्वक सम्भव हो जाता है। यदि द्रव्य देश की भौगोलिक सीमाओं में बन्द रखा जाता है और आयात रोक दिये जाते हैं तो उपभोक्ताओं को मँहगी गृह-निर्मित वस्तुओं के लिए कहीं अधिक मूल्य देना पड़ता है। अगर सस्ती विदेशी वस्तुओं को आने दिया जाय तो वास्तविक सन्तोष की वृद्धि हो सकती है। द्रव्य साधन है, साध्य नहीं। अधिकतम सन्तोष, न कि अधिकतम द्रव्य, पर जोर देना चाहिए। उपर्युक्त तर्क को मानने का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के फायदों से इन्कार करना होगा।

क्रय-शक्ति तर्क, चतुर्मुखी संरक्षण के लिए तर्क—कृषि के दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि कृषि को संरक्षण देने से उद्योगों को फायदा होगा क्योंकि संरक्षण के कारण कृषि की आय अर्थात् क्रय-शक्ति में वृद्धि होगी, जो स्वदेशी उत्पादनों पर व्यय होगी। इसी प्रकार उद्योग भी कृषि के फायदे का तर्क देकर संरक्षण की मांग करते हैं। "जिन्हें आयात करों द्वारा फायदा होगा वे अपनी इच्छाओं को दूसरों की इच्छाओं के अनुकूल बताना चाहते हैं।" इसका तार्किक निष्कर्ष यह निकलता है कि इन पारस्परिक सहायता की परिणति चतुर्मुखी संरक्षण में होगी।

आलोचना—टैरिफ जितनी अधिक वस्तुओं पर लगेगा संरक्षित उद्योग को उतना ही कम फायदा होगा, "क्योंकि उस उद्योग के हर सदस्य को अब हर आयात-वस्तु के लिए अधिक मूल्य देना पड़ेगा। और इसलिए उत्पादक रूप में उन्हें जो फायदा होता है उसके कुछ भाग की हानि उन्हें उपभोक्ता के रूप में उठानी पड़ती है।" (हैबरलर)

इसके अतिरिक्त, आयात उद्योगों को निर्यात उद्योगों को नुकसान पहुँचाकर ही फायदा होता है। टैरिफ का जाल जितनी वस्तुओं को आवृत कर लेगा, संरक्षक देश उतना ही अधिक बहिष्कृत हो जायगा और अकेला पड़ जाएगा। उसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के फायदों को छोड़ना पड़ेगा। इसके साथ साथ इसका अर्थ होगा उत्पादन के साधनों का अपेक्षाकृत अनार्थिक उपयोग। एलसवर्थ के अनुसार : "भूमि, श्रम और पूंजी जो निर्यातों के उत्पादन में लगाए जाते औरजिनके द्वारा संरक्षण वाली वस्तुएँ प्राप्त की जातीं अब संरक्षित उद्योगों में लगाए जाएँगे। इन उद्योगों में उनकी उत्पादकता कम है जो इसी से सिद्ध है कि उन्हें संरक्षण की आवश्यकता है।"

लागतों के समानीकरण का तर्क—इसे प्रायः टैरिफ समस्या के वैज्ञानिक हल के नाम से पुकारते हैं। ऊपर से देखने पर तो इस तर्क के मूल में न्याय और समता के आदर्श

ही दिखाई पड़ते हैं। तर्क यह है कि हम देशी तथा विदेशी उत्पादकों के उत्पादन की लागतों को समान कर दें और फिर उनमें से जो सर्वश्रेष्ठ हों उनको विजयी होने दें।

आलोचना—यदि इस विचार को काम में लाया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की जड़ ही हिल जाय। व्यापार, सापेक्ष फायदों से होने वाले लागतों में अन्तरों के कारण होता है। लागतों के अंतर का निराकरण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सारे भवन को ही नष्ट कर डालेगा। एल्सवर्थ के शब्दों में, "यदि ऐसी नीति पूरी तरह मानी जाय तो इसका अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले फायदों को समाप्त कर देना, या यों कहें कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को ही समाप्त कर देना होगा। किसी देश में किसी वस्तु के उत्पादन में जितनी ही असमर्थता होगी, उसके उत्पादन में उसे उतने ही अधिक श्रम को व्यय करना होगा और परिणामतः उत्पादकों को उतना ही अधिक खर्च करना पड़ेगा।" यह नीति अक्षमता को प्रोत्साहन देती है।

अन्य तर्क

प्रतिशोध तथा मोल-तोल पर आधारित तर्क—गलती करने वाले राष्ट्रों को दंड देने के लिए संरक्षण का उपाय अपनाया जाता है। यदि दूसरा देश हमारे निर्यातों पर प्रतिबन्ध लगाता है तो हम बदला लेते हैं। यह कहने की जरूरत नहीं है कि ऐसे टैरिफ-युद्धों में कुछ न कुछ मानसिक तथा भावात्मक सन्तोष तो होता ही है।

आलोचना—इसके विरोध में यह कहा जा सकता है कि मुक्त व्यापार से फायदा होता ही है—चाहे उसमें सब राष्ट्र सम्मिलित हों या न हों। जो राष्ट्र आयातों पर रोक लगा देते हैं उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण के फायदों से हाथ धोना पड़ता है। उनकी अवांछनीय क्रिया का अनुकरण करना बानर-बुद्धि होगी। बेवरेज मुक्त व्यापार के पक्ष को इस संक्षेप मे प्रस्तुत करते हैं: "अगर किसी देश के घाट अच्छे हों तथा अन्य सभी देशों के खराब हों तो वह अपने अच्छे घाटों की श्रेष्ठता का अनुभव यह सोचकर नहीं कर पाएगा कि अन्य देशों के घाट भी वैसे ही होंगे। किन्तु अन्य देशों की भाँति अपने घाटों को भी यदि वह पत्थर जमाकर खराब करने की बात सोचे, तो उसे हानि ही होगी। श्रेष्ठतर घाटों द्वारा वह इस हानि से बचता है। यही उस देश का फायदा है।" परन्तु आत्म-निर्भरता के विचार से पीड़ित और प्रचलित आज के संसार में यह तर्क इससे अधिक महत्व रखता है और इस प्रकार उड़ा नहीं दिया जा सकता।

शिशु-उद्योग तर्क—यह जानकर आश्चर्य होगा कि यह तर्क मुक्त व्यापार के समर्थकों द्वारा दिया गया था। वस्तुतः संरक्षण के पक्ष में सब से गम्भीर और महत्वपूर्ण तर्क यही है। इसके प्रथम प्रवर्तकों में से थे अलेक्ज़ेंडर हैमिल्टन (अमेरिका), लिस्ट (जर्मनी) और जान स्टुअर्ट मिल (इंग्लैंड)। इसके अनुसार किसी देश में किसी उद्योग के विकास के अनुकूल प्राकृतिक साधन हो सकते हैं परन्तु समुन्नत विदेशी उद्योगों की स्पर्धा के कारण ये साहसोद्यम प्रायः विकसित नहीं हो पाते। इसलिए उनकी यह राय है कि प्रारंभिक अवस्थाओं में जब वे उद्योग शिशु तुल्य होते हैं राज्य को उन्हें संरक्षण देना चाहिए और उन्हें उन शिशुओं का उस समय तक पालन-पोषण करना चाहिए जब तक वे वयस्कता नहीं प्राप्त कर लेते।

कुछ भी हो संरक्षण अस्थायी ही होना चाहिए। वह उद्योग को, जन्म तथा प्रारम्भिक अवस्था की कठिनाइयों का सामना करने के लिए मिलना चाहिए।" शुरू-शुरू में देशी उत्पादक को बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं और वह विदेशी स्पर्धा का सामना नहीं कर सकता। अन्त में वह यह सीख जाता है कि किस प्रकार अपने उत्पादन को अनुकूलतम बना सकता है और तब वह विदेशियों की भाँति ही या उनसे भी अधिक सस्ती वस्तुएँ बाजार में ला सकता है।" (टाउज़िग)

आलोचना—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है इस तर्क के प्रवर्तक मुक्त व्यापार के समर्थक थे। इसके सैद्धांतिक औचित्य में सन्देह नहीं किया जा सकता। परन्तु इस प्रकार के संरक्षण में दो प्रकार के भय हैं। पहला तो यह कि कौन उद्योग-विशेष शिशु-उद्योग कहा जा सकता है, इसके निर्णय में कठिनाई। और दूसरा यह कि जब एक बार संरक्षण पाकर कोई उद्योग विकसित हो जाता है तब, यदि यह मालूम भी हो जाय कि वह सही अर्थों में शिशु उद्योग नहीं है (अर्थात् उसको अभीष्ट प्राकृतिक साधन उपलब्ध नहीं है) तो भी सरलतापूर्वक उससे संरक्षण छीना नहीं जा सकता। अगर संरक्षण छीन ही लिया जाय तो कम से कम अल्प काल में, इसका परिणाम आर्थिक विचलन तथा अकथनीय कष्ट ही होगा। इसी कारण यदि किसी उद्योग को संरक्षण प्रदान कर दिया जाता है तो, चाहे वह अनुचित क्यों न सिद्ध हो, कुछ ऐसे स्वार्थी समूहों का जन्म हो जाता है जो उसे लौटा लेने के प्रस्ताव का घोर विरोध करते हैं।

दूसरे, अनुभव द्वारा अब इस कथन की सत्यता पर कोई संदेह नहीं रह गया है कि 'शिशु शिशु ही बना रहता है'। संरक्षित उद्योग आलसी तथा राज्य की सहायता पर अधिकाधिक निर्भर हो जाते हैं, इस प्रकार उनके अस्तित्व से सामाजिक उत्पादन का अधिकतम होना तो दूर रहा, उल्टे राष्ट्रीय कल्याण का ह्रास ही होता है। 'वह शिशु महा-बलिष्ठ दानव बन जाने पर भी अपने दूध के दाँत तुड़ाने के लिए तैयार नहीं होता'।

विशिष्टीकृत उद्योगों के भय के विरुद्ध संरक्षण सारे समस्त साधनों को एक ही स्थान पर केन्द्रित कर देने की नीति से भी भयानक हानि होती है। मंदी या लड़ाई के दिनों में आर्थिक व्यवस्था को गहरा धक्का लगता है। ऐसे में पुनर्योजन की कठिनाइयाँ तथा साधनों को इस साहसोद्यम से उसमें ले जाने से कष्टों की वृद्धि होती है। इन कुसम्भावनाओं के विरुद्ध भी संरक्षण का समर्थन किया गया है। उत्पादन को विविध बनाने के लिए इसकी सहायता ली जा सकती है जिसका परिणाम न केवल दीर्घकाल में अधिक राष्ट्रीय आय होगी वरन् अधिक स्थायित्व के अतुलनीय लाभ भी होंगे।

आलोचना—इस तर्क में युक्ति और शक्ति हैं। परन्तु अनुभव द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि कुछ प्रकार की मंदियों (जैसे व्यापार-चक्र जन्य) में संरक्षित उद्योगों को असंरक्षित उद्योगों की अपेक्षा अधिक नुकसान हुआ है। उदाहरणार्थ यद्यपि अमरीका में संरक्षण अधिक था तथापि सन् १९३१ वाली मंदी में उसे इंग्लैंड की अपेक्षा अधिक नुकसान हुआ। युद्धकालीन दुष्परिणामों की क्रूरता को कम करने के लिए संरक्षण प्रदान करने की नीति, रहन-सहन के गिरे हुए स्तरों के रूप में, इतनी मँहगी पड़ेगी कि अधिकांश राष्ट्रों के लिए तो उसका प्रश्न ही नहीं उठता।

विशिष्टीकरण में एक यह भी भय रहता है कि अन्य राष्ट्र औद्योगिक प्रौढ़ता प्राप्त कर लेते हैं और आयात बंद कर देते हैं। इसी कारण विशिष्टीकरण के विरोध में आवाज़ उठाई जा रही है। परन्तु ऐसा भय निराधार है। पाश्चात्य राष्ट्रों के द्रुत उद्योगीकरण के कारण उनके पारस्परिक व्यापार का लोप नहीं हो गया है और विशिष्टीकरण के लिए अब भी विस्तृत क्षेत्र बना हुआ है।

यह तर्क कार्य-क्षमता के ह्रास, लागतें की वृद्धि, तथा उपभोक्ताओं के लिए बढ़े हुए मूल्यों के रूप में हुए त्याग पर ध्यान ही नहीं देता। और "क्या यह उचित नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा और तनातनी को कम करने के उपाय के रूप में विकसित किया जाय और युद्ध की सम्भावनाओं को कम किया जाय, न कि अपने ही में सीमित रहकर राष्ट्रों के सामने उठने वाली आर्थिक कठिनाइयों को घटाने के बदले बढ़ाया जाय।"

सैनिक तथा आधारभूत उद्योगों को संरक्षण—"समृद्धि की अपेक्षा रक्षा अधिक महत्वपूर्ण है" यह एक प्राचीन तथा प्रायः उद्धृत कथन है। आज के वैज्ञानिक युद्धों के काल में यह तर्क सशक्त प्रतीत होता है, क्योंकि कोई भी राष्ट्र जिसकी रक्षा व्यवस्था दुर्बल होती है, समृद्ध नहीं हो सकता। आर्थिक विकास केवल शान्ति तथा सुरक्षा में ही सम्भव है इसलिए इस प्रकार की सुरक्षा प्रदान करने वाला संरक्षण लाभप्रद होता है और उसकी निन्दा नहीं की जा सकती।

संरक्षण की वांछनीयता—मुक्त व्यापार तथा संरक्षण के बारे में इतना जान लेने के बाद पाठक के मन में स्वभावतः यह प्रश्न उठेगा कि यदि, जैसा कहा गया है, मुक्त व्यापार द्वारा राष्ट्रीय धन की वृद्धि की अधिक सम्भावनाएँ हैं तो संरक्षण ही आज के युग में सब राष्ट्रों द्वारा मान्य क्यों है। कुछ कारण नीचे दिए जाते हैं:—

यह तो सभी मानेंगे कि शिशु-उद्योगों का अपना एक वर्ग होता है और वे सामाजिक उत्पादन को अधिकतम करने के आधार पर संरक्षण के अधिकारी हैं। निस्संदेह संरक्षण प्रारंभिक कठिनाइयों को कम करके औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था की द्रुत, नियंत्रित तथा लगभग संघर्षहीन प्राप्ति, सम्भव कर देता है। इसमें संदेह नहीं कि व्यवहार में कठिनाइयाँ पड़ सकती हैं परन्तु वे इतनी भयंकर नहीं हैं कि योग्य तथा होनहार उद्योगों को इस अति आवश्यक सहायता से वंचित रखा जाय। जैसे पहले कहा जा चुका है मुक्त व्यापार के समर्थक भी संरक्षण के इस तर्क को स्वीकार करते हैं।

पिछड़ी हुई कृषिप्रधान अर्थ-व्यवस्थाओं का पक्ष भी लगभग उपर्युक्त पक्ष की भाँति ही सबल है (देखिए 'संरक्षण और भारत' के अन्तर्गत पाँचवा पैरा)। वास्तव में तार्किक दृष्टि से तो यह पक्ष भी शिशु-उद्योग तर्क के अंतर्गत ही आ जाता है, क्योंकि ऐसी पिछड़ी हुई अनौद्यौगिक अर्थ-व्यवस्था में ही सशक्त प्राकृतिक साधन उपलब्ध होने पर भी वे उन्नत उद्योगों के रूप में विकसित नहीं हो पाते। एशिया, अफ्रीका, मध्य तथा दक्षिणी अमरीका के राष्ट्र इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए संरक्षण प्रदान कर रहे हैं।

बीसवीं सदी की परिवर्तित आर्थिक नीति भी संरक्षण के समर्थन में एक तर्क है। उन्नीसवीं शताब्दी की 'करने दो' नीति जो आर्थिक मामलों में राज्य द्वारा किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप का विरोध करती थी और उदासीनता का समर्थन करती थी, अब समाप्त हो चुकी है। आज की दुनिया आयोजित अर्थ-व्यवस्था में विश्वास करने लगी है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि राज्य को आर्थिक क्रियाओं पर प्रतिबन्ध, हस्तक्षेप, केन्द्रीकरण तथा नियमन के अधिकार दे दिए जाएँ। इस आयोजित अर्थ-व्यवस्था के युग में मुक्त व्यापार तथा उसके लाभों की गाथा गाना एक विरोधाभास है। देश के आन्तरिक आर्थिक जीवन के प्रतिबन्ध की नीति का मुक्त विदेशी व्यापार से सामंजस्य कैसे हो सकता है। इसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि विदेशी व्यापार का देश की आंतरिक आर्थिक प्रक्रियाओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जरा ऐसे राष्ट्र में जहाँ राज्य कपड़ों तथा चीनी के आयोजित उत्पादन की व्यवस्था कर रहा हो, कपड़ों तथा चीनी के अबाध आयात की कल्पना कीजिए। वस्तुतः किसी उद्योग में उत्पादन को आयोजित करने में उसके श्रम तथा पूंजी, कच्चेमाल और शक्ति के साधनों का आयोजन निहित है। आयोजक अधिकारियों के हाथ में आर्थिक जीवन के सभी सूत्र होने चाहिए। अतः इसका अर्थ यह होगा कि आयोजित अर्थ-व्यवस्था में (राजकीय हस्तक्षेप चाहे जिन अंशों में हो) उपर्युक्त प्रकार का मुक्त व्यापार असंभव है। यदि किसी विशेष उद्देश्य से आयोजक अधिकारी व्यापार की अबाधता स्वीकृत भी कर लें, तो भी उसे मुक्त व्यापार मानना भूल होगी। उसे प्रतिबन्धित मुक्त व्यापार कह सकते हैं परन्तु यह कथन स्वयं एक विरोधाभास है। अंत में यह कहा जा सकता है कि जब तक आर्थिक मामलों में राज्य की प्रधानता रहती है तब तक संरक्षण का नेतृत्व बना रहेगा। यदि मानवता कभी उस आदर्श अवस्था को प्राप्त हो सकी जब राज्य-तंत्र की ही आवश्यकता न पड़े तब शायद संरक्षण की उपयोगिता समाप्त हो चुकी होगी और तब उसका स्थान अमिश्रित और आदर्श ढंग का मुक्त व्यापार ले लेगा जो आजकल के 'मुक्त' व्यापार से बहुत भिन्न होगा।

अंत में, संरक्षण का समर्थन व्यवहारिक राजनिति के आधार पर किया जा सकता है। मुक्त व्यापार के सिद्धांन्त की स्थापना कतिपय परिकल्पनाओं के आधार पर की गई थी। उन दशाएँ में तो मुक्त व्यापार ही सर्वश्रेष्ठ होगा। परन्तु क्या अब वैसी परिस्थितियाँ हैं? बिल्कुल नहीं। आज की दुनिया में जब आक्रमणशील राष्ट्रवाद का बोलबाला है और लड़ाइयों को समाप्त करने के लिए प्रायः लड़ाइयाँ लड़ी जाती हैं तब केवल कोई अव्यवहारिक स्वप्नद्रष्टा ही शुद्ध मुक्त व्यापार का समर्थन करेगा। रक्षा, आत्मनिर्भरता, पूर्ण वृत्ति तथा विचारधारात्मक मतभेद आदि आर्थिक तथा राजनीतिक उपायों का, प्रतिशोधों के रूप में, उपयोग करने की अपेक्षा करते है; ऐसी परिस्थितियों के कारण संरक्षण अनिवार्य हो गया है।

उपर्युक्त तथ्यों को देखते हुए हमें शिशु-उद्योग तर्क, उद्योगों की विविधता के तर्क तथा रक्षा और प्रतिशोध के तर्क को उचित महत्व देना चाहिए। मुक्त व्यापार से, आज की दुनिया में, किसी राष्ट्र को अस्थायी समृद्धि प्राप्त भी हो जाए तो भी यह क़दम समयानुकूल न होगा। अल्पकाल में सामाजिक उत्पादन को अधिकतम कर लेना ही सब कुछ नहीं है। ऐसी नीति का व्यवहार करना चाहिए जिससे एक निश्चित रहन-सहन के स्तर का निर्वाह हो सके और वह स्तर धीरे धीरे ऊपर उठ सके। इसलिए न्यायसंगत संरक्षण उचित है।

संरक्षण और भारत

भारत में शिशु-उद्योग तर्क अन्य देशों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि भारत में मुक्त व्यापार के किसी भी नियम को भंग किए बिना, आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection) की राय दी जाती है।

हमारी आर्थिक तथा राजनीतिक पृष्ठभूमि में एक अत्यन्त औद्योगिक तथा व्यवसायिक राष्ट्र का विदेशी शासन है। अनेक अवसरों पर भारत को अपने विदेशी शासकों की स्वार्थपूर्ति के लिए अपने व्यवसायिक हितों की बलि देनी पड़ी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारी व्यवसायिक तथा आर्थिक नीति को जबरन अपने विदेशी शासकों का चरण सेवक बनना पड़ा है। इसलिए इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि भारतीय उद्योगों को स्वस्थ विकास के अवसरों से वंचित रखा गया है। भारतीय कृषि सदियों पुराने ढंग से किसानों को अस्तित्व मात्र के लिए मुट्ठी भर दाना देती हुई चलती रही है और कुटीर उद्योग विदेशी स्पर्धा के कारण नष्ट हो गए हैं। इन सब का परिणाम हुआ है सामाजिक उत्पादन का ह्रास।

इससे कोई इनकार नहीं कर सकता कि भारत के पास सम्पन्न प्राकृतिक साधन हैं। हमारा देश कच्चे माल, शक्ति-स्रोतों तथा जनशक्ति से सम्पन्न है। इसमें औद्योगिक विकास तथा विस्तार की अपार सम्भावनाएँ हैं। चूंकि हमें अनुभवी, उन्नत तथा सुरक्षित विदेशी उत्पादकों से स्पर्धा करनी है, इसलिए हमारे औद्योगिक विकास का यही एक उपाय है कि हम अपने उद्योगों को शैशव तथा विकास-काल में सहायता दें। (भारत में विवेचनात्मक संरक्षण के अध्ययन से यह निस्संशय सिद्ध हो जाता है कि अनुकूल परिस्थितियों में भारतीय उद्योगों के शीघ्र विकास की पूरी सम्भावनाएँ हैं।)

हम यह नहीं कहते कि सब उधोगों को चतुर्मुखी संरक्षण मिलना चाहिए और न यही कि राज्य की सहायता पाने के लिए ही किसी उधोग को शिशु-उद्योग करार दे दिया जाए। बल्कि अच्छी तरह छानबीन और उज्जल भविष्य वाले उधोगों के सावधान चुनाव के बाद ही संरक्षण की नीति द्वारा उनका तब तक पालन-पोषण करना चाहिए जब तक वे अपनी पूर्ण विकसित अवस्था को न प्राप्त हो जायँ। जैसे ही यह स्थायित्व की अवस्था आ जाय, संरक्षण को समाप्त कर देना चाहिए। उदाहरणार्थ टाटा आयरन एण्ड स्टील उद्योग को ले सकते हैं जो यथेष्ट संरक्षण के बिना अपनी वर्तमान सबल अवस्था को नहीं प्राप्त हो सकता था। परन्तु अब किन्हीं किन्हीं क्षेत्रों में वह काफी सबल हो गया है और अब उसने उन क्षेत्रों मे संरक्षण लेना बन्द कर दिया है।

फिर कृषिप्रधान देश होने के कारण कतिपय उत्पादक-साहसोद्यमों को संरक्षण प्रदान किए बिना भारत का आर्थिक विकास वांछित गति के साथ नही हो सकता। पीगू के शब्दों में, " किसी कृषिप्रधान देश में जिसमे प्राकृतिक साधन विद्यमान हों उत्पादन शक्ति के विकास करने की दृष्टि से संरक्षण का पक्ष बहुत सशक्त है। ऐसे देश में गृह उत्पादन के विदेशी

विनिमय के रुकने से जो तात्कालिक हानि होगी वह गृह - उद्योगों के द्रुततर विकास के कारण पूरी हो जाएगी। कोल्बर्ट (Colbert) के शब्दों में "आयात - कर रूपी इन बैसाखियों के सहारे ये अपंगु उद्योग इतनी जल्दी अपने पैरों चलना सीख जाते हैं कि बैसाखियों का दाम बहुत जल्दी वसूल हो जाता है।"

अंत में संरक्षण को अधिकतम सामाजिक उत्पादन की दृष्टि से ही नहीं वरन व्यवहारिक राजनीतिक दृष्टि से भी देख सकते हैं। लड़ाइयों और शक्तिमूलक राजनीति के भार से बोझल आज की दुनिया में कोई राष्ट्र रक्षा की अवहेलना नहीं कर सकता। इससे स्वयं ही सबल राष्ट्रवाद का विकास होता है जिसकी प्रवृत्ति आर्थिक आत्मनिर्भरता की ओर होती है। भारत को अपनी नव प्राप्त स्वतंत्रता को बनाए रखना है इसलिए उसके पास सबल रक्षा तथा विविध उद्योग होने चाहिए। आदर्श अवस्था तो वही होगी जब राष्ट्रों के बीच में तनातनी न होगी और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तथा व्यवसाय के मार्ग सबके लिए उनमुक्त होंगे। परन्तु जब तक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में इस प्रकार की सुबुद्धि नहीं आती और जब तक एक महायुद्ध दूसरे महायुद्धों का मार्ग प्रशस्त करता रहता है, तब तक प्रत्येक राष्ट्र को अपने हितों की रक्षा के लिए तत्पर रहना ही पड़ेगा और इसमें उसे निःसन्देह कुछ धन और कल्याण की बलि देनी होगी जो विपरीत अवस्था में उसे प्राप्त हो सकता था।

साम्राज्यीय अधिमान (Imperial Preference)—साम्राज्यीय अधिमान का अर्थ किसी प्रकार से सम्बद्ध राष्ट्रों के एक समूह से है जिसमें प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे की वस्तुओं को उस समूह के बाहर के राष्ट्रों की वस्तुओं के स्थान पर अधिमानित करता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसका आशय ब्रिटिश साम्राज्य के देशों से है। व्यवहार में इसके सदस्यों से कम तथा अ-सदस्यों से अधिक आयात-कर वसूल किए जाते हैं।

प्रारंभ—१९वीं शताब्दी के अंतिम दशक में ब्रिटेन को विश्व बाज़ार में अन्य यूरोपीय देशों की वस्तुओं के कारण बड़ी तीव्र स्पर्धा का सामना करना पड़ा था। एशिया, अफ्रीका और कनाडा, आस्ट्रेलिया, तथा न्यूज़ीलैंड की वास्तविक तथा सम्भावी बाज़ारों का अधिकांश ब्रिटेन के राजनीतिक तथा व्यवसायिक प्रभाव के अंतर्गत था। इस प्रभुत्व के निर्वाह के लिए यह आवश्यक था कि ब्रिटिश व्यापार नीति साम्राज्यीय अधिमान की चाल द्वारा साम्राज्य के अंतर्गत राष्ट्रों से अपने व्यापार के सम्बन्ध दृढ़ कर ले।

साम्राज्यीय अधिमान किन्हीं आधारभूत दशाओं में ही सफल हो सकता है। एक तो यह कि सम्बन्धित राष्ट्रों में पारस्परिक समझौते की भावना होनी चाहिए और दूसरे यह कि साम्राज्यीय अधिमान के अन्तर्गत कुल क्षेत्र सब मिलाकर बाहर से आयात करने वाला होना चाहिए। क्योंकि सब मिलाकर यदि उसके निर्यात अधिक होंगे तो अ-सदस्य राष्ट्र बदला लेने का प्रयत्न करेंगे और उससे सारे समूह को हानि होगी।

सब मिलाकर साम्राज्यीय अधिमान की नीति टैरिफ़ से कम हानिकारक है। टैरिफ़ का अर्थ है कर-वृद्धि जिसका परिणाम होता है व्यापार के क्षेत्र का संकोचन। परन्तु साम्राज्यीय अधिमान यद्यपि व्यापार को एक क्षेत्र में सीमित कर देता है तथापि वह उस क्षेत्र के अन्दर मुक्त व्यापार के अवसरों को बल देता है। यदि क्षेत्र बड़ा हो तो हम इसे व्यापार की अधिकाधिक स्वतंत्रता का उपाय मान सकते हैं।

परन्तु यदि हम औद्योगिक तथा कृषि-प्रधान देशों को होने वाले फायदों की तुलना करें तो साम्राज्यीय अधिमान की बड़ी भारी त्रुटि स्पष्ट हो जाती है। भारतीय फिस्कल कमीशन (१९२१) की रिपोर्ट के अनुसार, "औद्योगिक उत्पादकों को लगभग सदैव ही विदेशी बाज़ार में स्पर्धा का सामना करना पड़ता है, इसलिए उनके सम्बन्ध में अधिमान लगभग सदैव ही उचित होता है। कच्चे माल के सम्बन्ध में परिस्थिति इससे भिन्न होती है। एक तो, वे बहुधा विदेशी बाज़ारों में अबाध प्रवेश पा जाते हैं इसलिए अधिमान का प्रश्न ही नहीं उठता, और दूसरे उनके बाज़ार बने बनाये रहते हैं जब कि औद्योगिक उत्पादनों के लिये बाज़ारों को बड़ी सावधानी से विकसित और पोषित किया जाता है। अपेक्षाकृत कम स्पर्धा का सामना करने के कारण कच्चे मालों को औद्योगिक उत्पादनों की अपेक्षा अधिमान की आवश्यकता कम होती है और अधिमान द्वारा उन्हें जितना फायदा होने की सम्भावना होती है वह भी अपेक्षाकृत कम होता है। खाद्यपदार्थों के सम्बन्ध में अधिकांश देशों में अबाध प्रवेश की सुविधा देने की प्रवृत्ति रही है और अधिमान की सम्भावनाएँ बहुत सीमित रही हैं। साथ ही यदि प्रशासन की कठिनाइयों को ध्यान में रक्खा जाए, जिनसे व्यवसायिक परिस्थितियों में बड़ी गड़बड़ पैदा हो सकती हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिमान की नीति से राजनीतिक तनातनी तो बढ़ती ही है, अ-सदस्य राष्ट्रों में प्रतिशोध की भावना को भी बल मिलता है।"

भारत और साम्राज्यीय अधिमान—यद्यपि फिस्कल कमीशन (१९२१) की बहुमत रिपोर्ट ने साम्राज्यीय अधिमान को भारत के लिए हानिकारक ठहराया था फिर भी हमें 'स्वामिभक्ति' के आधार पर उक्त योजना में सम्मिलित होने के लिये बाध्य किया गया। फिर भी इस बात पर जोर दिया गया कि साम्राज्यीय राष्ट्रों से व्यापारिक समझौते करने में कुछ सिद्धांतों का पालन अवश्य किया जाय। एक तो यह कि विधान सभा की अनुमति के बिना किसी वस्तु पर अधिमान न प्रदान किया जाय। विधान सभा के निर्णय के पूर्व टैरिफ-बोर्ड उन प्रस्तावों की परीक्षा करे। दूसरे यह कि ऐसा कोई भी अधिमान न प्रदान किया जाय जिससे उद्योगों के अभीष्ट संरक्षण में कमी पड़े। और अन्त में यह कि कुल मिलाकर अधिमान की नीति का परिणाम देश के प्रतिकूल न हो। इस प्रकार १९२७-३९ के काल में अनेक व्यापार-सन्धियों द्वारा भारत पर 'संरक्षण-युक्त अधिमान' की नीति लादी गई। इनमें १९३२ का ओटावा पैक्ट बहुत प्रसिद्ध है।

भारत में साम्राज्यीय अधिमान की शव-परीक्षा से यह ज्ञात होता है कि यदि भारत को उससे कोई लाभ हुआ भी हो तो वह बिल्कुल नगण्य है। अनेक तथ्यों द्वारा यह सिद्ध होता है। एक तो यह कि भारत के निर्यात अधिकांशतः कच्चेमाल और खाद्य-पदार्थ थे जिन्हें अधिमान की कोई आवश्यकता नहीं थी। और चूँकि अन्य साम्राज्यीय राष्ट्रों में भी उसी प्रकार के कच्चेमाल और खाद्यपदार्थों का उत्पादन होता था इसलिये भारत को साम्राज्य के अन्दर ही बड़ी कटु स्पर्धा का सामना करना पड़ता था। दूसरे, भारत में उत्पन्न औद्योगिक वस्तुओं का जो एकमात्र बाज़ार था वह साम्राज्य के बाहर था। तीसरे, भारत एक पिछड़ा कृषि-प्रधान देश रहा है जिसकी तीव्रतम आवश्यकता रही है—औद्योगिक विकास तथा विस्तार। विवेचनात्मक संरक्षण की नीति तभी सफल हो सकती है जब हर प्रकार की विदेशी स्पर्धा को रोका जा सके। परन्तु जब तक हम औद्योगिक वस्तुओं को

अधिमान प्रदान करते रहेंगे तब तक संरक्षण का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। "यदि भारत को उपभोक्ताओं पर कम से कम भार डालते हुये अपने उद्योगों का तेजी से विकास करना है तो उसे समस्त स्पर्धात्मक आयातों के विरुद्ध संरक्षण प्राप्त होना ही चाहिये—चाहे वे आयात किसी भी देश से हो रहे हों। साम्राज्यीय अधिमान की स्वीकृत नीति विवेचनात्मक संरक्षण के लिये घातक सिद्ध होगी। अपर्याप्त संरक्षण की नीति खतरों से भरी हुई है।" चौथे, जिन वस्तुओं से हमें स्पर्धा का भय नहीं है उन्हें अपने चुनाव को साम्राज्यीय अधिमान वाले देशों तक ही सीमित रखने पर, सबसे सस्ते विक्रेता से खरीदने में ही हमारा हित है। पाँचवें, ब्रिटेन से होने वाले अनेक व्यापारिक समझौतों में प्रतिव्यवहार का अभाव रहा है जो हमारे लिये हानिकारक सिद्ध हुआ है। यह विभिन्न व्यापार-सन्धियों के अध्ययन से प्रमाणित हो जाता है और अन्त में, जैसा कि एक आलोचक ने कहा है—"साम्राज्यीय अधिमान की योजना में भारत के सम्मिलित न होने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कदाचित अधिक सुसंगत और सुव्यवस्थित ही होता और इससे उक्त योजना को बहुत हानि पहुँचती।"

साम्राज्यीय अधिमान का भविष्य—युद्धोत्तर काल में ब्रिटिश साम्राज्य शीघ्रता से विश्रंखल हुआ है। श्री चर्चिल की इस घोषणा के बावजूद कि "मैं ब्रिटिश साम्राज्य का विघटन करने के लिये प्रधान मन्त्री नहीं बना हूँ" ऐतिहासिक शक्तियों ने साम्राज्यवाद का नकशा बदल दिया है। भारत के स्वतन्त्र हो जाने से ब्रिटेन का एशियाई प्रभाव क्षेत्र छिन गया है। फिर भी, यदि कोई छिपी चालें नहीं खेली गई और पौंड-पावने का न्यायपूर्ण भुगतान किया गया तो सम्भव है कि कामनवेल्थ के कुछ देश स्वयं ही साम्राज्यीय अधिमान में सम्मिलित होने का प्रयत्न करें।

विवेचनात्मक संरक्षण (Discriminating Protection)

भारतीय फिस्कल कमीशन (१६२१) ने, जिसकी स्थापना जनता में संरक्षण प्रदान करने की जोरदार माँग के फलस्वरूप हुई थी, भारत के लिये विवेचनात्मक संरक्षण के पक्ष में अपना निर्णय दिया।

संरक्षण के लिये किसी ऐसे उद्योग को, या ऐसे उद्योगों को चुना जाता है जिनमें विकास की सम्भानाएँ तो होती हैं परन्तु जो विदेशी स्पर्धा के कारण समुचित उन्नति नहीं कर पाते। इसको विवेचनात्मक संरक्षण कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि संरक्षण सब को जल्दबाजी में नहीं दिया गया बल्कि केवल सुयोग्य तथा होनहार उद्योगों को ही दिया गया है।

होनहार उद्योग का चुनाव किस प्रकार हो, इसके लिए कमीशन ने कुछ शर्तें रख दीं। किसी उद्योग को संरक्षण मिलने के लिए इन शर्तों का पूरा होना आवश्यक था।

> १—"उद्योग को प्राकृतिक साधन अवश्य प्राप्त होने चाहिये, जैसे प्रचुर मात्रा में कच्चा माल, सस्ती शक्ति, श्रम की पर्याप्त उपलब्धि या काफ़ी बड़ा स्वदेशी-बाज़ार।"

२—"उद्योग ऐसा हो जो संरक्षण के बिना या तो बिल्कुल ही विकसित न हो सकता हो या उतनी तेजी से न विकसित हो सकता हो जितनी देश के लिये वांछित हो।"

३—"उद्योग ऐसा होना चाहिये जो अंततः बिना संरक्षण के विश्व स्पर्धा का सामना कर सके।"

तीन सदस्यों का एक टैरिफ बोर्ड नियुक्त किया गया जो आवेदनों की सुयोग्यता की परीक्षा करता और सन्तुष्ट होने पर सरकार को संरक्षण प्रदान करने के उपायों के विषय में राय देता।

विवेचनात्मक संरक्षण के पक्ष में यह अवश्य कहा जाना चाहिए कि उसके कारण भारत के कुछ प्रधान उद्योगों की बड़ी तेजी से उन्नति हुई है। लोहा तथा इस्पात उद्योग, जिसे सर्वप्रथम संरक्षण प्रदान किया गया था, स्वस्थ प्रौढ़ता को प्राप्त हो गया है और अब, राजकीय सहायता के बिना ही विश्व स्पर्धा का सामना कर सकता है। चीनी उद्योग, कागज़ उद्योग, दियासलाई उद्योग तथा सूती कपड़े का उद्योग भी तेज़ी से विकसित हुआ है। इनमें से कुछ, विशेषकर चीनी उद्योग, हमारी कुल अंतर्देशीय माँग को पूरी कर लेते हैं। १६४५ में नए टैरिफ़ बोर्ड स्थापना के फलस्वरूप कुछ और उद्योगों ने संरक्षण माँगा हैं और उन्हें प्रदान किया गया है।

इस नीति की दो प्रमुख आलोचनाएँ हुई हैं। एक तो यह कि इसकी शर्तें इतनी कड़ी थीं कि द्रुत औद्योगिक विकास में बाधा पहुँची। अनेक बार संरक्षण की शर्तों की बड़े संकुचित ढंग से व्याख्या की गई और फलस्वरूप कतिपय योग्य उद्योग राजकीय सहायता से वंचित रह गए। हो सकता है कि किसी उद्योग को समस्त प्राकृतिक साधन जैसे कच्चा माल शक्ति, श्रम और बाज़ार उपलब्ध न हों। परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि इनमें से कुछ सुविधाएँ, विशेषकर श्रम तथा बाज़ार-विषयक, उद्योगों के विकास से अपने आप प्राप्त हो जाती हैं। प्रारम्भ से ही इन सभी सुविधाओं के विद्यमान होने पर ज़ोर देने की नीति अनुचित और अदूरदर्शी हो सकती है। इसी प्रकार सन् १६२८ में शीशे के उद्योग को संरक्षण केवल इसीलिए नहीं दिया गया कि सोडा, (जो आवश्यक कच्चे माल का केवल २५% होता है) भारत में प्राप्य नहीं था। इसके बाद १६३२ में टैरिफ़ बोर्ड की अनुकूल सिफ़ारिश होने के बावजूद सरकार ने आवेदन को ठुकरा दिया। इसी प्रकार बिजली के तार और केबुल के उद्योग को भी, जिसे कच्चे माल की प्राप्ति (जिसका आयात होता था) के अतिरिक्त सभी सुविधाएँ प्राप्त थी, संरक्षण के योग्य नहीं समझा गया। सबसे अधिक दुर्भाग्य तो मैगनेशियम क्लोराइड के उद्योग का रहा जिसने जर्मनी की निर्मम स्पर्धा के विरुद्ध सन् १६२५ में संरक्षण माँगा परन्तु उसे इस आधार पर संरक्षण देने से इनकार कर दिया गया कि वह संरक्षण के बिना ही रह सकती थीं। "फिस्कल कमीशन की अल्पमत रिपोर्ट का यह भय, कि ये शर्तें बड़ी कड़ी और अनुदार है और इनके कारण देश के औद्योगिक विकास में विलम्ब होगा, सच्चा उतरा है।" जापान तथा लंकाशायर में कपड़ा-उद्योग तथा डंडी में जूट-उद्योग के विकास ने यह प्रमाणित कर दिया है कि जहाँ

प्राकृतिक सुविधाएँ नहीं भी हैं वहाँ भी कुछ अनुकूल साधनों के आधार पर दिया गया संरक्षण सफल सिद्ध हो सकता है। इसलिये, यह आवश्यक है कि पिछड़े हुए देश पर लागू करते समय इन नियमों की व्याख्या सहानुभूति तथा उदारता के साथ की जाए।

दूसरी कमी यह है कि टैरिफ़ बोर्ड प्रायः प्रभावहीन सिद्ध हुआ है। कभी कभी इसके निर्णयों को अनुचित ढंग से ठुकरा दिया गया है। विवेचनात्मक संरक्षण की नीति में इस बोर्ड की शक्ति और कुशलता पर इतना कुछ निर्भर है कि इसकी तनिक सी भी दुर्बलता का पूरी प्रणाली पर अवश्य बुरा असर पड़ता है।

परन्तु ये अवगुण प्रणाली के नहीं वरन् उसके प्रयोग के हैं। इसलिए इसकी पूरी आशा है कि प्रयोग की विधियों में उन्नति होने से पुरानी गलतियाँ सुधर जाएँगी। विवेचनात्मक संरक्षण की नीति स्वयं अपने में, साधारण संरक्षण से अधिक उचित और युक्ति युक्त है। पिछड़े हुए कृषि-प्रधान राष्ट्र होने के कारण भारत को अपने शिशु-उद्योगों का संरक्षण अवश्य करना चाहिए। विवेचनात्मक संरक्षण की युक्तियुक्त तथा सन्तुलित नीति द्वारा ही हम उत्तम परिणामों की आशा कर सकते हैं।

भारतीय टैरिफ़ बोर्ड—भारतीय फिस्कल कमीशन (१६२१) ने विवेचात्मक संरक्षण की नीति का समर्थन किया और यह राय दी कि वह कार्य टैरिफ़ बोर्ड (सरकार द्वारा मनोनीत तीन सदस्यों द्वारा निर्मित) द्वारा चलाया जाय, जो किसी उद्योग की संरक्षण की आवश्यकताओं की परीक्षा करे और सरकार को तद्विषयक सम्मति दे। कमीशन का यह मत था कि बोर्ड एक स्थायी समिति हो और उसे विस्तृत अधिकार प्राप्त हों। परन्तु प्रथम टैरिफ बोर्ड (जिसकी जगह १६४५ में एक दूसरा बोर्ड नियुक्त किया गया) एक तदर्थ संगठन था जिसकी बैठकें केवल आवेदनपत्रों पर विचार करने के लिए ही बुलाई जाती थीं। नए टैरिफ़ बोर्ड का काम भारत की युद्धोत्तर आवश्यकताओं के अनुसार एक टैरिफ़ नीति का निर्माण करना तथा युद्धकाल में विकसित हुए उद्योगों के संरक्षण के लिए उनकी सुयोग्यता का अनुमान लगाना था।

समीक्षा—यद्यपि टैरिफ़ बोर्ड ने कई प्रकार से प्रशंसनीय कार्य किया है तथापि कई कारणों से इसकी आलोचना की जा सकती है।

प्रथम और सर्वप्रधान तो यह कि टैरिफ़ बोर्ड एक तदर्थ (ad-hoc) समिति है अतः इसमें अस्थायी संगठन के समस्त अवगुण विद्यमान हैं। अपने भविष्य के बारे में अनिश्चित, बोर्ड के सदस्य अपनी स्थिति को मज़बूत बनाए रखने के लिए सरकार को खुश करने की कोशिश करते हैं। ऐसी दशा में निष्पक्ष दृष्टिकोण की आशा करना व्यर्थ है। वस्तुतः एक स्थायी समिति के लिए योग्य व्यक्तियों को ढूंढना भी मुश्किल है। और, यदि वे सदस्य स्थायी हों और अवकाश-प्राप्ति के बाद उनके किसी व्यवसाय में भाग लेने की आशंका न हो, तभी वे उद्योगपतियों तथा व्यवसायिकों के, जिनसे उन्हें बहुत सी सूचना प्राप्त करनी होती है, विश्वासपात्र हो सकते हैं। बोर्ड की ढुलमुल स्थिति विश्वसनीय नहीं है। गुप्तता (जो सच्ची सूचना पाने के लिए आवश्यक है) के आश्वासन की कठिनता के परिणामस्वरूप कभी कभी गुप्त सूचना से इनकार कर दिया जाता है, या जो सूचना दी भी जाती है वह विश्वसनीय नहीं होती।

इसलिए नीति की सुसम्बद्धता और निरन्तरता के लिए यह आवश्यक है कि बोर्ड स्थायी हो। केवल उसी अवस्था में उसे वे सब बातें मालूम हो सकती हैं जिनसे एक स्थायी नीति और जनता के विश्वास को बल मिलता है और विनियोग का विकास होता है। दूसरी कमीरही है बोर्ड के सीमित अधिकार। यह केवल एक परामर्शदाता के रूप में काम करता है और इसकी सिफ़ारिशों से सरकार किसी प्रकार भी बाध्य नहीं है। प्रायः यह केवल उन आवेदनों के बारे में जाँच-पड़ताल करता है जो सरकार द्वारा प्रेषित होते हैं। इस प्रकार काम दोहरा हो जाता है और यदि जाँच-पड़ताल का क्षेत्र सीमित हो, तो उस पर निर्धारित निर्णय भी सीमित होते हैं। एक बहुत बड़ी कमी यह है कि बोर्ड को सूचना प्राप्त करने की शक्तियाँ नहीं दी गई हैं। परिणामतः इसका डर रहता है कि सिफ़ारिशें अशुद्ध, अपूर्ण और अविश्वसनीय सामग्री तथा सूचनाओं पर आधारित हो जाएँ। आवश्यकता इस बात की है कि बोर्ड को इस बात का अधिकार दिया जाय कि वह सूचना प्राप्त करने के सब उपाय काम में ला सके।

अन्त में यद्यपि फिस्कल कमीशन ने प्रचार के महत्व पर बहुत ज़ोर दिया था, टैरिफ़ बोर्ड ने इधर ध्यान नहीं दिया है। सरकार चाहे बोर्ड के विचारों से सहमत हो या नहीं उसे रिपोर्टों को फौरन प्रकाशित कर देना चाहिए। इस तत्काल प्रचार से जनता का विश्वास बढ़ता है। अभाग्यवश इसका उल्टा हुआ है। रिपोर्टों को पुरानी हो जाने दिया गया है और कभी कभी उनके प्रकाशन में सालों लग जाते हैं। अन्य दुर्गुणों के अतिरिक्त यह जनता के धन का दुरुपयोग है। फिर भी यह सन्तोपजनक है कि नए टैरिफ़ बोर्ड ने इस ओर ध्यान दिया है।

फिर भी भारतीय टैरिफ़ बोर्ड के कार्यों की आलोचना करना बिल्कुल उचित न होगा क्योंकि वह विदेशी शासन तथा अर्थनीति के हाथों में एक साधन मात्र था। नए बोर्ड को अधिक अधिकार मिले हैं और उसका कार्य क्षेत्र भी अधिक विस्तृत है। अब, जब राजनीतिक अवस्था बदल गयी है, और भारत स्वाधीन है, बोर्ड और सरकार में अधिक सहयोग और उसके दृष्टिकोण तथा कार्य-पद्धति में परिवर्तन की आशा की जा सकती है।

नोट—उपर्युक्त विवरण में भारतीय फिस्कल कमीशन (१९५०) की रिपोर्ट के अनुसार कुछ सुधारों की आवश्यकता है।

अध्याय ५४

विनिमय नियंत्रण (Exchange Control)

आधुनिक युग आयोजित अर्थ-व्यवस्थाओं का युग है। इसने आर्थिक क्रिया-कलाप की विभिन्न शाखाओं में राजकीय हस्तक्षेप की वृद्धि देखी है। जब आर्थिक शक्तियों के अबाध कार्यकरण में राजकीय हस्तक्षेप विदेशी विनिमय बाजारों तक पहुँच जाता है तब उसका परिणाम होता है विनिमय नियंत्रण।

विनिमय नियंत्रण का तात्पर्य वैत्तिक अधिकारियों द्वारा किए गए उस समस्त प्रत्यक्ष या परोक्ष हस्तक्षेप से है जो विनिमय की दरों या तत्सम्बंधी व्यापारों को प्रभावित करने के लिए किया जाता है।

विनिमय नियंत्रण के उद्देश्य---विनिमय नियंत्रण का प्रधान उद्देश्य राष्ट्रीय करेंसियों के असाधारण आयात-निर्यात द्वारा वित्त या अर्थ-व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव को निष्फल करना है। ऐसे असाधारण प्रवाह सट्टेबाजियों, मंदियों और कभी-कभी राजनैतिक अनिश्चितताओं के कारण उत्पन्न होते हैं। तरल द्रव्य एक बाजार से दूसरी की ओर तेजी से चलने लगते हैं जिसके फलस्वरूप किसी करेंसी की माँग और पूर्ति की अवस्थाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं और इसी कारण करेंसियों के पारस्परिक मूल्य में भी परिवर्तन होने लगते हैं। जिस देश पर इसका प्रभाव पड़ता है उसकी अर्थ-व्यवस्था में व्यतिक्रम उपस्थित हो जाता है, जिससे बचने के लिए ही उसे विनिमय नियंत्रण की शरण लेनी पड़ती है।

विनिमय नियन्त्रण का दूसरा उद्देश्य व्यापारिक अंतरों (Balance of Trade) के उतार-चढ़ाव को समायोजित करना है। व्यापारिक बाधाओं तथा अन्य संरक्षात्मक प्रतिक्रियाओं के कारण व्यापारिक अंतरों का स्वतः समायोजन असम्भव हो जाता है। व्यापार के अंतर के दुरायोजनों को ठीक करने के लिए विदेशी भुगतानों की रोक तथा आयात करने वालों के लिए करेंसी का परिसीमन आदि अधिक कठोर तथा प्रत्यक्ष उपाय आवश्यक है।

कभी कभी विनिमय नियन्त्रण शुद्ध रूप से रक्षात्मक कार्य होता है जो अन्य देशों के प्रतिबन्धात्मक कार्यों के किसी देश की अर्थ-व्यवस्था पर होने वाले कुप्रभावों का सामना करने के लिए किया जाता है। यह कथन कि 'विनिमय नियन्त्रण संक्रामक होता है' ऐसी ही प्रवृत्तियों का परिणाम है।

इसलिए विनिमय नियन्त्रण का मूल कारण, मुक्त विनिमय बाजारों की दरों से भिन्न, किसी अन्य विनिमय-दर को प्राप्त करने की लालसा है। यह निम्नलिखित तीन प्रकारों में से किसी भी प्रकार का हो सकता है:—

करेंसी का अधिमूल्यन (Overvaluation) अर्थात् मुक्त बाजार से ऊँची दर का निर्वाह। इससे आयातों की वृद्धि होती है और दीर्घकाल में आर्थिक कल्याण को हानि पहुँचती है; यह मंदी को निकट ला सकता है।

विनिमय बाज़ार में सक्रिय रूप से भाग ले। दूसरा है, प्रतिबन्ध, जिसका तात्पर्य माँग और पूर्ति की शक्तियों के विनिमय बाज़ार में प्रवेश में अधिकारी वर्ग द्वारा डाली गई बाधाओं से है। हस्तक्षेप के अन्तर्गत अधिकारी वर्ग की विभिन्न क्रियाएँ आती हैं जो विनिमय को वांछित दिशा में मोड़ देने के लिए की जाती हैं, इससे विनिमय का क्षेत्र विस्तृत होता है। प्रतिबन्ध के अन्तर्गत व्यक्तिगत विनिमय प्रक्रियाओं को अवांछित दिशाओं में जाने से रोका जाता है जिसके कारण सौदों पर भी रोक लगती है।

हस्तक्षेप (Intervention)—हस्तक्षेप का अर्थ है द्रव्य-अधिकारियों द्वारा विनिमय-दरों को वांछित दिशा की ओर उन्मुख करने के लिए किए गए कार्य।

हस्तक्षेप, अधिमूल्यन, अवमूल्यन, या अपरिवर्तनशील संस्थिति-दर के निर्वाह के लिए किया जाता है। अन्तिम दशा में करेंसी का मूल्य अवसर की आवश्यकता के अनुसार बढ़ाया या घटाया जाता है। हस्तक्षेप की नीति में सफल होने के लिए द्रव्य अधिकारियों के पास गृह या विदेशी करेंसी यथेष्ट मात्रा में होनी चाहिए या सोना होना चाहिए जो करेंसियों में सुगमता से परिवर्तित किया जा सके।

यदि अधिमूल्यन उद्देश्य होता है तो कहा जाता है कि दर का उद्‌बंधन (Pegging-up) किया जाता है अर्थात मुक्त व्यापार में जो दर होती उससे ऊँची दर निश्चित की जाती है। जब दर वांछित स्तर से नीची हो, अर्थात् उस करेंसी की माँग उसकी पूर्ति से कम हो, तब उद्‌बंधन की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए उद्‌बंधन में मांग को बढ़ाने और पूर्ति पर प्रतिबंध रखने का भाव निहित है। इसके लिए किसी देश के पास विदेशी करेंसी और सोने की यथेष्ट निधियाँ होनी चाहिए ताकि जैसे ही उसकी करेंसी का मूल्य उद्‌बंधित दर से नीचे गिरने लगे वैसे ही वह विदेशी करेंसी और सोने को अपनी करेंसी के लिए बेचना शुरू कर दे और इस प्रकार अपनी करेंसी का मूल्य ऊपर रखने के लिए एक कृत्रिम माँग पैदा कर दे। इसके विपरीत, जब अवमूल्यन उद्देश्य होता है तब करेंसी का अवबंधन (Pegging-down) किया जाता है अर्थात जानबूझ कर उसके मूल्य को कम किया जाता है और उसे मुक्त-बाज़ार के संभावित मूल्य से नीचे रखा जाता है। अवबंधन की इच्छा से यह जान पड़ता है कि अबाध बाज़ार में उस करेंसी की माँग उसकी पूर्ति से अधिक है। इसलिए अवबंधन में पूर्ति को अस्वाभाविक रूप से बढ़ा कर माँग को कम कर देने की बात निहित है। इसके लिए सोने की बृहद् निधियाँ और काफ़ी मात्रा में अपने देश की करेंसी की जरूरत पड़ती है जिसका संकट काल में विदेशी द्रव्यों को खरीदने में उपयोग किया जाता है।

इस प्रकार हस्तक्षेप का उद्देश्य चाहे जो हो, उसकी सफलता सोना, विदेशी करेंसी और अपनी करेंसी के रूप में यथेष्ट साधन के उपलब्ध होने पर ही निर्भर है। साधारणतः अवबंधन उद्‌बंधन की अपेक्षा सरल होता है क्योंकि वह गृह करेंसी की उपलब्धि पर ही निर्भर रहता है। और आवश्यकता पड़ने पर द्रव्य-अधिकारियों के लिए अपनी करेंसी को प्राप्त कर लेना विदेशी करेंसी को प्राप्त कर लेने की अपेक्षा कहीं सरल होता है।

विनिमय समानीकरण निधि—यह निधि ब्रिटेन द्वारा १९३२ में चलाई गई थी और बाद में अमरीका,फ्रान्स तथा स्विट्ज़रलैंड ने उसका अनुकरण किया। यह व्यवहृत हस्तक्षेप का सबसे अच्छा उदाहरण है। यहाँ हम ब्रिटेन की विनिमय समानीकरण निधि का एक संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत करते हैं।

जब १९३१ में इंगलैंड ने स्वर्ण-मान छोड़ा, 'तप्त द्रव्य* का इतनी जल्दी जल्दी आवाह-प्रवाह हो रहा था कि पौंड के मूल्य में भीषण घट-बढ़ का डर बहुत बढ़ गया था। इस प्रकार के उतार-चढ़ावों का अवश्य ही इंगलैंड की आंतरिक अर्थ-व्यवस्था पर बहुत बुरा असर पड़ता। द्रव्य की इन गतियों के विनिमय-दर पर होने वाले अस्वास्थ्य का कुप्रभावों को निष्फल करने के लिये १९३२ में एक निधि खोली गई। उसका नाम रखा गया विनिमय-समानीकरण निधि।

इस निधि का कार्य यथेष्ट मात्रा में तरल स्रोतों (सोना, विदेशी तथा स्वदेशी विनिमय) को किसी भी भावी वैत्तिक संकट का सामना करने के लिए जमा करना था। इसका उद्देश्य साधारण दीर्घकालिक प्रवृत्तियों पर अस्वाभाविक प्रतिबन्ध लगाना या उनमें हस्तक्षेप करना नहीं वरन् सामान्य दर से अस्थायी विचलनों को नियंत्रित रखना भर है। दूसरे शब्दों में यदि पौंड के मूल्य के परिवर्तन वास्तविक आर्थिक दशा के अनुसार ही हों तो इस प्रकार निश्चित दर सामान्य दर होगी और विनिमय-समानीकरण-निधि ऐसी दर को बदलने के लिए अपने स्रोतों का उपयोग नहीं करेगी।

इस निधि का शासन ब्रिटिश राज्यकोष द्वारा होता है और बैंक ऑव इंगलैंड उसके एजेन्ट की भाँति काम करता है। निधि को प्रारम्भ करने के लिए बृटिश जनता से पौंड उधार लिए गए थे, और इस प्रकार गृह-करेंसी की एक राशि जमा कर ली गई थी। परन्तु गृह-करेंसी की यथेष्ट राशि द्वारा केवल बाज़ार में पौंडों की पूर्ति बढ़ाने के ही स्रोत एकत्र हुए थे अर्थात् इसके द्वारा निधि केवल पौंड के मूल्य को किसी वांछित स्तर तक कम करने की ही शक्ति प्राप्त हुई थी। कुछ भी हो, मूल्य नीचे रखने की क्रिया में बैंक ऑव इंगलैंड को सोना और विदेशी करेंसी मिलती थी (पौंडों का बाज़ार में दूसरी करेंसियों से विनिमय कर लिया जाता था)। इस प्रकार यह निधि अवमूल्यन तथा अधिमूल्यन दोनों प्रकार के शस्त्रों का उपयोग कर सकती थी।

१९३२ के उत्तरार्ध में पौंड का मूल्य गिरने लगा। इसलिए उसके मूल्य को कृत्रिम सहायता द्वारा वाँछित स्तर तक उठाया गया। इस क्रिया में सोने तथा विदेशी करेंसी का एक बहुत बड़ा परिमाण निधि के हाथों से निकल गया। तब विनिमय-समानीकरण-निधि पौंड के मूल्य के पतन को रोकने से लाचार हो गई। भाग्यवश १९३३ में परिस्थितियाँ बदलीं और पौंड की माँग बढ़ी। इससे निधि पुनः भावी उपयोग के लिए विदेशी विनिमय का आवश्यक परिमाण अर्जित करने में समर्थ हो गई। तब से निधि अपने स्रोतों का उपयोग कभी अवमूल्यन और कभी अधिमूल्यन के लिये करती चली आ रही है। इस प्रकार प्रायः पौंड विदेशी करेंसियों में और विदेशी करेंसियाँ पौंडों में परिवर्तित होते रहे हैं।

---

*'तप्त द्रव्य' उस द्रव्य को कहते हैं जो कभी इस करेंसी और कभी उस करेंसी में

विनिमय प्रतिबन्ध—विनिमय प्रतिबन्ध का तात्पर्य द्रव्य अधिकारियों की उन क्रियाओं से है जिनके द्वारा विनिमय बाजारों में माँग और पूर्ति को प्रभावित करने के उद्देश्य से विनिमयों की अबाधता प्रतिबन्धित की जाती है।

हस्तक्षेप की दुर्बलता के कारण ही प्रतिबन्ध का उदय हुआ। यह एक अधिक कठोर प्रत्यक्ष और सार्थक नीति है। विनिमय प्रतिबंध का प्रयोग सर्वप्रथम जर्मनी ने १६३१ में किया था। दक्षिणी अमरीका के कुछ देशों ने, विशेष-कर अर्जेंटाइना ने तथा मध्य योरप के कुछ देशों ने उसका अनुसरण किया। १६३६ में युद्ध छिड़ जाने के कारण ब्रिटेन, फ्रांस, और साम्राज्यीय राष्ट्रों में भी विनिमय प्रतिबन्ध का विकास हुआ। तभी से भारत भी इस नीति का पालन कर रहा है। वस्तुतः आज अबाध करेंसियों की अपेक्षा प्रतिबन्धित करेंसियों की संख्या ही अधिक है।

विनिमय प्रतिबंध की कार्य-पद्धति को समझने के लिए नीचे जर्मन-प्रणाली का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है क्योंकि अधिकांश देशों ने थोड़े-बहुत हेर-फेर से जर्मन आदर्श का ही अनुसरण किया है।

जर्मनी में विनिमय प्रतिबन्ध--प्रतिबन्ध की नीति को अपनाने के क्या कारण थे? १६३१ में जर्मनी की करेंसी को अवमूल्यन का भयानक संकट सता रहा था क्योंकि अपनी युद्ध-अर्थ-व्यवस्था को सुधारने के लिए जर्मनी ने (विदेशी करेंसियों के रूप में) बहुत-सी विदेशी ऋण, अधिकांशतः अल्पकालीन ऋण, ले लिया था। इस ऋण को लौटाने से मार्कों की पूर्ति बहुत बढ़ गई और इस प्रकार डालरों, पौंडों और फ्रांकों के पक्ष में उनका मूल्य बहुत गिर गया। जर्मन करेंसी की माँग बहुत कम थी क्योंकि उसका विदेशी व्यापार लगभग नगण्य हो गया था। यह संकट इस कारण और भी भयावह हो गया कि ऋणदाता कुछ भी दया करने को प्रस्तुत नहीं थे क्योंकि उन्हें आशंका थी कि निकट भविष्य में जर्मनी की अर्थ–व्यवस्था ढह जाएगी। इसलिए जब उन्होंने वस्तुओं के रूप में भुगतान लेने से इनकार कर दिया। तो स्थिति और भी खराब हो गई। संक्षेप में जर्मन करेंसी की माँग और पूर्ति में बड़ी असमानता आ गई थी। और बिना इस असमानता को दूर किए उसके मूल्य के लगभग शून्य हो जाने की आशंका थी।

इन कठिनाइयों से घिरे होने के कारण जर्मनी ने कृत्रिम अधिमूल्यन की नीति का अनुसरण करने का निश्चय किया; इस निश्चय का प्रधान कारण था युद्धोत्तर मुद्रा-स्फीति जिसके चिन्ह अब भी शेष थे।

इस प्रकार सरकार के समक्ष जर्मन-करेंसी की उपलब्धि को इस प्रकार प्रतिबन्धित करने की समस्या थी कि वह उसकी माँग के समान हो जाय।

उपाय—इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जर्मनी ने बड़े कठोर उपायों का अवलम्बन लिया।

सर्व प्रथम, सारा विदेशी विनिमय एक केन्द्रीय अधिकारी मंडल द्वारा प्रतिबन्धित तथा निरीक्षित होने लगा और इस काम के लिए लाइसेंस देने की प्रणाली को अपनाया गया। दूसरा कदम यह था कि सारे नागरिकों की सारी विदेशी विनिमय-सम्पत्ति राज्य द्वारा ले ली गई। जिनके पास विदेशी करेंसी, विदेशी सुरक्षाएँ (securities) और बन्धक पत्र (bonds) थे उन सब से उन्हें सरकार के हाथों एक निश्चित दर पर बेच देने का आदेश दिया गया। उसमें से जितना राज्य को आवश्यकता थी उतना उसने रख लिया और शेष नागरिकों को, जिन्हें विदेशी विनिमय की आवश्यकता थी, बेंच दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि विनिमय की दरें दो हो गईं। एक तो वह जिसके अनुसार सरकार विदेशी विनिमय खरीदती थी (जो स्वभावतः अपेक्षाकृत कम थी) और दूसरी वह जिसके अनुसार सरकार विदेशी विनिमय को बेचती थी (यह अपेक्षाकृत अधिक होती थी)

दूसरा प्रतिबन्ध यह था कि विदेशी यात्राओं में जर्मनी से बाहर लेजाने के लिए स्वदेशी या विदेशी करेंसी का बहुत अल्प भाग दिया जाता था। कुछ आयातों पर, (जिन्हें अनावश्यक वस्तुओं की श्रेणी में रख दिया गया था) पूरी रोक लगा दी गई, तथा अन्य आयातों का भी परिसीमन कर दिया गया। आयातकर्ता को सरकार से एक लाइसेंस लेना होता था और विदेशी निर्यातकर्ताओं को जब यह विश्वास हो जाता था कि उक्त प्रकार की अनुमति प्राप्त हो चुकी है, तभी वे अपनी वस्तुएँ भेजते थे। जर्मनी की यह आयात नीति डा० शाट (Dr. Schacht) के मस्तिष्क की उपज थी; इसे 'न्यू प्लान' (नव-योजना) कहा जाता था।

अन्त में, जर्मनी ने अवरुद्ध लेखा (blocked accounts) की नीति की शरण ली। विदेशी लोग अपनी सम्पत्ति, सुरक्षाएँ, बैंक में जमा द्रव्य तथा करेंसी जर्मनी के बाहर नहीं ले जा सकते थे। उस सब को सरकार ने 'अवरुद्ध लेखा' नामक एक पृथक् निधि में जमा कर लिया था। जिन जर्मनों को विदेशी ऋण चुकाना होता था वे ऋणदाताओं को सीधे भुगतान नहीं करते थे, बल्कि अपनी ही करेंसी में उस राशि को सरकारी कोष में जमा कर देते थे, वहाँ वह राशि विदेशी ऋणदाता के नाम में जमा हो जाती थी, परन्तु वह विदेशी करेंसी में परिवर्तित नहीं हो सकती थी। अपने व्यय से इस प्रकार वंचित होकर विदेशी लेनदार इन राशियों को कुछ कम दाम पर बेच देने या उनके द्वारा जर्मनी की वस्तुएँ खरीद लेने के लिए विवश हो जाते थे। किसी भी दशा में, जर्मनी को विदेशी ऋणदाता के मत्थे लाभ होता था। अवरुद्ध लेखाओं ने अनिवार्यतः विदेशी विनिमय में 'काले बाज़ार' को जन्म दिया जो 'ब्लैक बोर्स' (Black Bourse) के नाम से कुख्यात है।

परिणाम—इन कठोर उपायों के परिणाम स्वरूप जर्मनी का द्रुत औद्योगिक विकास सम्भव हो सका। विनिमय के व्यतिक्रम और अनिश्चितता के निराकरण द्वारा जर्मन अर्थ-व्यवस्था का शीघ्रतम पुनर्संस्थापन सफल हुआ। "आवश्यक सामानों की उपलब्धि का परिसीमन करके विनिमय नियन्त्रण ने नाज़ी सरकार को जर्मन उद्योग पर जो प्रभुत्व प्रदान किया वह आर्थिक नियन्त्रण का एक बहुत ही शक्तिशाली शस्त्र था। व्यवस्था को ऐसा चलाया गया कि संसार भर से अधिक से अधिक विदेशी करेंसियों

की प्राप्ति हो सके, जिसका प्रयोग शस्त्रोत्पादन के कच्चे माल की उपलब्धि के लिए किया जा सके।" (क्राउदर)

निकास समझौते (Clearing Agreements)—जब दो देश कोई ऐसा समझौता कर लेते हैं जिसके अनुसार भुगतानों को इस प्रकार एक दूसरे द्वारा चुकता कर दिया जाता है कि उन्हें विदेशी विनिमय के बाजार में आने की जरूरत नहीं पड़ती, तब उसे निकास समझौता कहते हैं।

निकास समझौतों का उपयोग अवरुद्ध लेखा प्रणाली से टक्कर लेने के लिए किया गया था।

उदाहरण—दो देश लीजिए: अ और ब। मान लीजिये अ ने ब के लेखाओं को अवरुद्ध कर दिया है। यदि ब का अ से भुगतान-सन्तुलन उसके प्रतिकूल है (अर्थात् यदि ब को अ से जितना पाना है उससे अधिक उसे देना है) तब वह अवरुद्ध लेखाओं के विरुद्ध कदम उठा सकता है। क्योंकि अब ब, अ को होने वाले सारे भुगतानों को रोक लेगा और अपने उन नागरिकों को, जिन्हें अ को भुगतान करना था, अ देश के ऋणदाताओं को सीधा भुगतान करने के स्थान पर सारे भुगतानों को ब के केन्द्रीय बैंक में जमा करने के लिए विवश करेगा। तब ब इस स्थिति में होगा कि वह अ से अपनी शर्तें मनवा सके और अ के भुगतानों को छोड़ने के पहले अ से अपने लेखाओं के भुगतान का हठ करे।

अब, चूंकि दोनों देश यही खेल खेल सकते हैं इसलिए अ और ब एक समझौता कर लेते हैं जिसके अनुसार उनके पारस्परिक भुगतान उनके अपने केन्द्रीय बैंकों द्वारा कर दिए जाएँगे। अ देश का कोई नागरिक जो ब देश के किसी नागरिक का ऋणी है, अपने देश के केन्द्रीय बैंक में अपनी रकम को जमा कर देगा। बैंक उस रकम को अ देश के किसी ऋणदाता को, जिसे ब देश से भुगतान मिलना है वह रकम भुगतान कर देगा। इसी प्रकार ब देश का ऋणी, जो अ देश के ऋणदाता को भुगतान करना चाहता हो, अपनी रकम को ब देश के बैंक में जमा कर देगा और ब देश का बैंक उस रकम को किसी ब देश के अ को ऋण देने वाले ऋणदाता को भुगतान करने के काम में लाएगा।

ऐसे समझौतों द्वारा विदेशी विनिमय बाजार में द्रव्य के उपयोग की आवश्यकता का निराकरण हो जाता है। विदेशी द्रव्यों के उपयोग के बिना ही भुगतान हो जाते हैं। निकास समझौते दो देशों के व्यापार का समानीकरण कर देते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को एक प्रकार से वस्तु-विनिमय का रूप दे देते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य निधि (International Monetary fund)—अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य निधि की स्थापना ब्रटन वुड्स कान्फ्रेंस का फल है। निधि के उद्देश्य ये हैं:—

(१) निधि विनिमय-स्थायित्व लाने का प्रयत्न करेगी।

(२) यह आर्थिक क्षेत्र में अधिकतम अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग चाहती है और उसके लिए प्रयत्न करेगी।

अध्याय ५९

उत्पादन के पूर्व रूप

आदिम अवस्था—आदि काल से ही मनुष्य अपनी जीविका-उत्पादन के विभिन्न साधनों में प्रयोग करता आया है। अपने प्रत्यक्ष, व्यक्तिगत उद्योग द्वारा जीविका-अर्जन की आवश्यकता इतनी प्रबल थी कि वह कभी भी अपने चारों ओर के भौतिक जगत के बन्धनों की अवहेलना न कर सकता था। जीवन के सभ्य रूपों की लम्बी और कठिन यात्रा में, कितनी ही बार इस बात पर बल देने की व्यर्थ चेष्टा की गई कि मनुष्य केवल रोटी पर ही नहीं जीवित रहता, परन्तु जीवन की परिस्थितियों ने हर बार मनुष्य को यह अनुभव करने के लिए विवश किया कि चाहे जो हो, वह रोटी के बिना भी अधिक दिन जीवित नहीं रह सकता। इस प्रकार नित्य प्रति अपनी रोटी का प्रबन्ध करने में व्यस्त, मनुष्य ने अपने काम को हलका करने के जितने भी साधन सोचे या प्रयुक्त किए उन्होंने उसके ऊपर न अधिक प्रभाव डाला न उसे परिवर्तित ही किया। मनुष्य प्रकृति का दास बना रहा।

अपने जीवन की प्राथमिक स्थिति में उसे अपनी जीविका के लिए आस-पास की ऐसी वस्तुओं पर निर्भर रहना पड़ता था जिन्हें वह सरलता से प्राप्त कर सकता था। जंगलों तथा पहाड़ों में रहने के कारण, क्योंकि उस समय जंगल और पहाड़ बहुत थे, मनुष्य को क्षुधा निवारण के लिए फलों को तोड़ना और जानवरों को मारना पड़ता था। वह इस अवस्था में बहुत दिनों तक रहा और इस बीच उसने शिकार किए हुए जानवरों की खाल और हड्डियों का उपयोग करना सीखा। आग को खोजने के पश्चात् उसने भोजन पकाना भी सीख लिया। मारे गए जानवरों की चरबी से उसने प्रकाश करने और भोजन बनाने का काम लेना प्रारम्भ किया।

इच्छाओं को तृप्ति करने की अपनी विधियों के कारण मनुष्य ने शीघ्र ही अपने को अन्य सभी जीवित प्राणियों से विशिष्ट बना लिया। उदाहरण के लिए जब अन्य सभी प्राणियों ने जीवन की वाह्य परिस्थितियों को उसी प्रकार स्वीकार कर लिया, जैसी वे उन्हें मिली थीं, तब मनुष्य ने अपने निकट के भौतिक संसार की असुविधाओं को कभी सहन न किया। यही कारण था कि पृथ्वी पर अपने विकास के दीर्घ क्रम में मनुष्य ने कभी, किसी भी वस्तु को अपरिवर्तनीय नहीं माना। इसके विपरीत मनुष्य ने निरन्तर प्रयत्न किया कि अपने वातावरण को बदल दे। उसकी अटूट महत्वाकांक्षा थी कि वह अपने जीवन के प्रकार में परिवर्तन ले आए जिससे अच्छे और उससे भी अच्छे परिणाम प्राप्त हो सकें। उदाहरण स्वरूप, जबकि पशु उसी अवस्था में पड़े रहे जिसमें इस पृथ्वी पर उनके आदिम पूर्वजों ने जन्म लिया था; मनुष्य ने क्रम से भोजन पकाना और अन्न इकठ्ठा करना, पशुओं के बालों और खाल से अपने शरीर को ढँकना, शरण के लिए गुफ़ाएँ बनाना, और ऐसे औज़ारों तथा हथियारों को बनाना जो भोजन की पूर्ति बढ़ाने में सहायक हो सकें, प्रारम्भ किया। वह निरन्तर इस बात के लिए बेचैन रहता था कि किस प्रकार सुविधा, विश्राम, बचाव और सबसे अधिक जीवन की सुरक्षा की परिस्थितियों का निर्माण किया जाए।

मनुष्य ने सुरक्षा की परिस्थितियों के निर्माण के लिए जो अथक प्रयत्न किए वे ही जीवन में महानतम परिवर्तन लाने में सहायक हुए। उदाहरणार्थ, जब मनुष्य ने देखा कि यह निश्चित नहीं है कि जरूरत पड़ते ही वह पशुओं को मार सके, या मछलियां पकड़ सके, तब उसे इस पृथ्वी पर अपनी स्थिति की अनिश्चितता एवं भयावहता के विषय में जागरूक होना ही पड़ा। उसने वन्य पशुओं को इस दृष्टि से पालतू बनाना प्रारंभ किया कि भोजन की पूर्ति निरन्तर होती रहे। इसके पूर्व वह केवल भूख लगने पर ही जानवरों को मारता था; अब इस नवीन विचार का व्यापक प्रभाव मनुष्य के आर्थिक विकास के आगामी क्रम पर पड़ा।

अस्तु, मनुष्य के लिए उसके भोजन की पूर्ति पूर्णतया सुरक्षित हो गई। इससे कुछ अतिरिक्त लाभ भी हुआ। उदाहरण के लिए : इन पालतू जानवरों से वह न केवल मांस चरबी, खाल और हड्डियां ही पा सकता था वरन् उसे दूध, मक्खन और पनीर जैसी अलभ्य वस्तुएँ भी मिल जाती थीं। चूंकि पालतू जानवरों को घास के ऐसे विस्तृत मैदानों की आवश्यकता थी जो चरागाहों का काम दे सकें, इसलिए पृथ्वी का धरातल अब स्पष्ट और विभाजित टुकड़ों में बँटने लगा। प्रत्येक टुकड़ा व्यक्तियों के किसी न किसी समुदाय के साथ सम्बद्ध था और पशुओं के चारे के लिए घास उगाने के काम में आता था।

कृषि अवस्था—सुविधा की आकांक्षा और सभ्यता की प्रगति-दोनों मानव-इतिहास में परस्पर घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध रही है। कठोर तथा श्रम-साध्य जीवन ने मनुष्य को जीवन के सुविधापूर्ण उपाय खोजने पर विवश किया। वह अपने जीवन को जितना सुविधा-पूर्ण और सुखमय बनाने में सफल हो सका; जीवन भी उतना ही विकसित होकर सभ्य कहलाने लगा। जैसे-जैसे मनुष्य अपने जीवन को अधिक सुविधापूर्ण और सुखमय बनाने में सफल हुए वैसे ही उन्हें अधिक सभ्य माना जाने लगा क्योंकि वे सारी बातें जो जीवन को सरल तथा सुखमय बनातीं हैं, मानव-इतिहास में, मनुष्य को सभ्य बनाने का कारण मानी जाती हैं। सुविधा का तात्पर्य केवल इतना नहीं है कि किसी कार्य को अधिक शारीरिक कष्ट के बिना किया जाए; इस शब्द का अर्थ अधिक व्यापक है; उसमें वे सारी बातें सन्निहित हैं जो साधारण रूप से जीवन को एक आनन्दप्रद तथा मनोरंजक अनुभव बना देती हैं।

सुविधा और विश्राम की इस चिर-अतृप्त आकांक्षा ने ही मनुष्य को कृषि की ओर उन्मुख किया। कहा नहीं जा सकता कि कब और संसार के किस भाग में सर्वप्रथम यह निश्चय किया गया कि पृथ्वी के धरातल को खोद कर अन्न पैदा किया जाए। सम्भव है कि अन्न धारण करने वाले पौदों की आकस्मिक खोज ने ही मनुष्य की कल्पना को उत्तेजित किया और बढ़ावा दिया हो कि वह ऐसे पौदों को उपजाने के लिए खेतों में हल चलाए। स्पष्ट है कि इसके पूर्व ही जब मनुष्य अपनी जीविका के लिए प्रकृति की आकस्मिक दयालुता से ही संतुष्ट न रह सका था तो वह अन्न उपजाने वाले पौदों की प्रतिदिन की अनिश्चित खोज पर भी निर्भर न रह सकता था। यही कारण था कि मनुष्य ने इस तरह के पौदों की खेती और उपज की परिस्थितियाँ निर्मित करने का निश्चय किया और यह स्वाभाविक है कि जब एक बार उद्योग का यह रूप संसार के किसी एक भाग में लोकप्रिय हुआ तो बीजों के यातायात और पौदों की बेल लगाने की दोहरी प्रक्रिया से वह धीरे-धीरे क्रमशः अन्य भागों में भी फैला।

इस प्रकार, मानव समाज एक प्रकार की मिली-जुली खेती पर ही निर्भर रहा जिसमें मनुष्य, पशु, हल, पौदे, खाद आदि वस्तुएँ मानव-उपभोग के लिए अनाज, दूध, गोश्त, फलादि की प्रचुर मात्रा उत्पादित करने के लिए अपना-अपना कार्य कर रही थीं। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पशुओं का उपयोग अब प्रत्यक्ष उपभोग के लिए उतना अधिक नहीं होता था जितना कृषि की सहायता के लिए उत्पादन के साधन—रूप में। वस्तुतः अब उनकी उपयोगिता मुख्यतः भारवाही पशुओं के, तथा शक्ति के साधन के रूप में मानी जाने लगी क्योंकि उनका उपयोग न केवल वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचाने के लिए किया जाता जाता था वरन् वे हल चलाने के काम में भी प्रयुक्त होते थे कि ताकि खेती सरल और सफल हो सके।

कृषि के विकास ने मनुष्य की अनेक आवश्यकताओं की तृप्ति करने या उसकी अधिकांश समस्याओं को सुलझाने से अधिक नई इच्छाओं और नई समस्याओं को भी जन्म दिया। फलतः मानव-समाज, भोजन की मात्रा की प्रचुर पूर्त्ति से अथवा जीवन की अपेक्षाकृत अच्छी स्थिति से भी संतुष्ट न हो सका और उसने पहले से कहीं अधिक वस्तुओं और सेवाओं को प्राप्त करने के लिए नए उपाय सोचना प्रारम्भ कर दिया।

सामन्त युग—इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव-विकास की इस लम्बी शृँखला में एक इच्छा की तृप्ति ने केवल दूसरी इच्छा को जन्म दिया और एक वस्तु के निर्माण ने अन्य विविध प्रकार की वस्तुओं के निर्माण का पथ प्रशस्त किया। मानव-समाज इसी परिचित पथ पर बढ़ चला, उसकी संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती गई; यहां तक कि इतिहास के मध्ययुग तक आते-आते हम देखते हैं कि पृथ्वी के अधिकांश भाग न्यूनाधिक आबाद हो गए थे। ये लोग प्रायः किसी न किसी प्रकार की खेती बारी में व्यस्त रहते थे। यदि कुछ लोग तैयार वस्तुएँ बनाते थे तो कुछ लोगों ने कच्चे और पक्के माल को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने के कार्य में ही अपने समय और शक्ति को लगा दिया था। इनके अतिरिक्त कुछ व्यक्ति ऐसे भी थे, जो प्रत्यक्ष रूप से वस्तुओं का उत्पादन और यातायात करने की अपेक्षा, लोगों के कार्यों की देख-रेख करते थे और समाज के सदस्यों पर अपनी शक्ति और अधिकारों का उपयोग करते थे। इन कार्यों के लिए उन्हें नियमित वेतन भी मिलता था।

सम्पूर्ण मध्ययुग में जीवन का मूल आधार प्रायः इसी ढांचे का था—कृषि को ही सबसे महत्वपूर्ण स्थान मिला था। विस्तृत भूमि खंड किसानों के निजी अधिकार में थे और वे अपने परिवार की आवश्यकता के अनुसार उस भूमि से अन्न उपजाने की चेष्टा करते थे। जितना अन्न खाने से बच जाता था वह बेच दिया जाता था और इस तरह प्राप्त नकद द्रव्य के एक अंश से गांव या शहर की बाज़ार में वे आवश्यक वस्तुएँ खरीद ली जाती थीं जिन्हें अन्य-लोग उत्पादित करते थे। इसी नकद द्रव्य में से सामन्तों को लगान दिया जाता था और राज्य के पदाधिकारियों को कर तथा धर्मस्थानों को पूजा दी जाती थी। यदि इस पर भी कुछ बच रहता था तो वह आपदकाल के लिए अलग रख दिया जाता था।

परन्तु साथ ही साथ वे लोग भी, जो मुख्यतः खेती बारी में संलग्न थे, अपने अवकाश के समय में अन्य वस्तुएँ निर्मित करते थे। वे इन अन्य वस्तुओं को मुख्यतः इसी दृष्टि से

बनाते थे कि अपने परिवार की इन वस्तुओं की आवश्यकता पूरी कर सकें। दूसरे शब्दों में प्रायः प्रत्येक कृषक खेत में फ़सलें उगाने के अतिरिक्त, साथ-साथ अवकाश के समय कोई दूसरा कार्य भी करता था जिससे वह अतिरिक्त द्रव्य या वस्तुओं के रूप में कुछ न कुछ कमा सके।

महत्व की दृष्टि से, कृषकों के बाद वे लोग आते थे जिन्होंने अपना सारा समय और शक्ति वस्तुओं के निर्माण में लगाना ठीक समझा इस तरह के कार्य में प्रवृत्त होने में उनका उद्देश्य मुख्यतः यही था कि अपने उत्पादन को बाजार में बेचकर, अपनी इच्छाओं को तृप्त कर सकें। यदि ऐसे व्यक्तियों की रुचि कृषि की ओर थी भी, तो वह प्रमुख न थी। उनका मुख्य व्यवसाय तो वस्तुओं का उत्पादन ही था। यह उत्पादन या तो अपने निजी साधनों से या दूसरों द्वारा प्राप्त साधनों से होता था। ऐसे उत्पादनों के लिए आवश्यक शक्ति, मज़दूरों से प्राप्त होती थी। उत्पादन में आवश्यक पूँजी तथा अन्य साधन अधिकतर स्वयं उत्पादकों के ही होते थे। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि व्यवहारतः सामन्त-युग के ये ग्रामोद्योग करने वाले स्वयं अपने नौकर थे। फिर भी, कुछ ऐसे व्यक्ति थे जो पूँजी तथा अन्य साधन उधार लेकर काम करते थे। ऐसे लोग जो संपन्न हो गए थे या ऐसे लोग जो अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमान थे, दूसरों को अपनी उद्योगशाला में नौकर रखकर, प्रतिदिन अथवा साप्ताहिक मज़दूरी देकर, काम कराते थे।

सामन्त-युग में वस्तुओं का निर्माण—इस प्रकार हम देखते हैं कि सामन्त-युग में निर्माण का कार्य अधिकतर परिचित, घरेलू वातावरण में ही होता था। एक आदमी उतना ही कार्य करता था, जितना वह सरलता पूर्वक कर सकता था। चूंकि किसी अन्य व्यक्ति का कोई भी दबाव न था, अतः किसी दूसरे व्यक्ति के कारण अपनी सामर्थ्य से अधिक परिश्रम करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। उस पर भी, काम के बीच में ही कोई भी व्यक्ति उतना विश्राम कर सकता था जितना स्वास्थ्य या कार्यक्षमता के लिए आवश्यक हो। श्रम-विभाजन उस समय तक अपनी उन्नत अवस्था में न पहुँच सका था, इसलिए उत्पादन की क्रिया न तो नीरस थी और न अरुचिकर ही। जब लोग दूसरों के लिए मज़दूरी पर काम करते थे, तब भी काम की परिस्थितियाँ बहुत बदली हुई न होती थीं। इस प्रकार के व्यवसायों में भी स्वेच्छापूर्वक तथा स्नेहपूर्ण सहयोग का ही वातावरण रहता था। इसमें सन्देह नहीं कि मालिक अपने नौकरों के श्रम के कारण ही समृद्ध होते थे, परन्तु वे इसके लिए शोषण की उन विधियों की सहायता न लेते थे जो आर्थिक इतिहास के बाद के युग में उत्पादन के साथ संलग्न हो गई।

यह स्मरण रखना चाहिऐ कि सामन्त-युग में जीविका-उपार्जन ही उत्पादन का एक मात्र ध्येय था। लोग मूलतः अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिए उत्पादन करते थे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अतिरिक्त उत्पादन होता ही न था। ऐसा निष्कर्ष निकालना समीचीन न होगा, विशेष रूप से इसलिए क्योंकि हम कह चुके हैं कि प्रतिदिन की आवश्यकताओं के लिए उत्पादन करते समय, हर आदमी संकट के दिनों के लिए कुछ न कुछ अतिरिक्त उत्पादन की भी चेष्टा करता था। यह अतिरिक उत्पादन ही चाहे वह द्रव्य रूप में हो या वस्तु रूप में, उसकी बचत था। फिर भी, वैयक्तिक लाभ का विचार अभी तक उत्पादन का आदर्श न बन सका था।

मध्य युग की समाप्ति के समय कृषि और उद्योग के साथ साथ संसार के अनेक भागों में एक महत्वपूर्ण आर्थिक क्रिया के रूप में, व्यापार ने भी प्रतिष्ठा पाई। कृषि, उद्योग और व्यापार के योग का ही यह फल था कि मध्ययुग का अंतिम समय एक अत्यंत व्यापर समद्धि का काल था। परन्तु यह समृद्धि प्रत्येक वर्ग के मनुष्यों में समान रूप से विभाजित न थी : एक विशेष सामाजिक वर्ग अधिक धनी हो गया पर दूसरे वर्गों की अवस्था में कोई विशष उन्नति नहीं हुई। कुछ विशिष्ट सामाजिक वर्गों में ही धन-संपत्ति का उल्लेखनीय आधिक्य संभव हो सका। जो भी हो, समृद्धि के उस उदार काल में सभ्य जीवन के बहुत से क्षेत्रों में अत्यधिक प्रगति हुई। और यही कारण था कि बाद के कुछ ऐतिहासिकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि सामन्त-युग में जितना संतोष और सुख था उतना, उसके बाद आने वाले पूँजीवादी युग में सम्भव न हुआ। कुछ लोगों का तो यह विचार था कि सामन्त-युग में स्वामी तथा भृत्य, शासक तथा शासित और धर्माधिकारी और तथा साधारण जन के बीच उत्तरदायित्व और सेवा का भाव इतना सुगठित और संतुलित था कि उस युग में जीवन संसार का श्रेष्ठतम अनुभव था।

निकट से परीक्षा करने पर इतिहास के प्रति ऐसा दृष्टिकोण भ्रामक सिद्ध होगा। ऐसे भ्रम का कारण यह है कि ये आलोचक सामन्ती समाज और जीवन की अच्छाइयों की तुलना उस विकासोन्मुख औद्योगिक-काल की बुराइयों के साथ करते हैं, जो सामन्तवाद और पूँजीवाद के मध्य में आया। परन्तु, यह भी मानना ही पड़ेगा कि प्रत्येक संक्रान्ति-काल के साथ सर्वदा कुछ न कुछ विस्थापन, बेचैनी, शोषण और कष्ट लगे ही रहते हैं। यह बात उस काल के लिए भी पूर्णतया सच थी जो सामन्तवाद के बाद और पूँजीवाद के पहले आया।

सामन्तवाद से पूँजीवाद की ओर—कुछ समय के पश्चात् प्रत्येक सभ्यता ह्रासशील हो जाती है और तब कोई अधिक अच्छी व्यवस्था उसे स्थानान्तरित कर देती है। इस प्रकार की घटनाओं की स्पष्ट व्याख्या यही है कि जब वर्तमान की अपेक्षा कोई अधिक अच्छी और श्रेष्ठ उत्पादन-विधि ज्ञात हो जाती है तो लोग उत्पादन की प्राचीन-विधि को ही नहीं वरन् उसके सामाजिक जीवन के आधार को और उसकी सभ्यता को भी त्याग देते हैं। यही कारण है कि समाज की पूँजीवादी व्यवस्था ने सामन्तीय व्यवस्था को कुचल दिया।

अब हमें आर्थिक इतिहास के इन दो युगों में भेद करना है। हम देख चुके हैं कि सामन्त-युग में कृषि ही मुख्य आर्थिक क्रिया थी। परन्तु पूँजीवादी युग में कृषि को पहले जैसी प्रमुखता नहीं मिली। सामन्त-युग में निर्माण का महत्व गौण था, परन्तु पूँजीतंत्र में वह उत्पादन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधन बन गया। सामन्त-युग के औद्योगिक उत्पादन में प्रयुक्त शक्ति का मूल स्रोत काम करने वालों के हाथ थे; पूँजी के युग में मशीन निर्माण का प्रमुख साधन बन गई। सामन्त-काल में वस्तुएँ अधिकतर उत्पादकों की इच्छाओं की तृप्ति के लिए बनाई जाती थीं परन्तु पूँजी तंत्र में उत्पादन केवल थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में रहता है और उनका मुख्य उद्देश्य केवल लाभ की प्राप्ति है। इस प्रकार, यदि सामन्त-युग का सामान्य उत्पादक अपनी उत्पादित वस्तु का उपभोक्ता भी था तो पूँजी के युग में वस्तुओं का उत्पादन कोई और करता है और उपभोग कोई और। इस प्रकार उत्पादन और, उपभोग के बीच एक खाई पड़ जाती है और इसका परिणाम यह होता है कि हमेशा वही वस्तुएँ नहीं उत्पादित की जातीं जो सामाजिक दृष्टि से आवश्यक या उपयोगी हैं। दूसरे शब्दों में, जब लाभ ही उत्पादन की मुख्य कसौटी बन

गया है, तो प्रायः ऐसी वस्तुओं का उत्पादन भी होता है जो उपभोग के लिए तनिक भी आवश्यक नहीं होतीं।

जब आर्थिक जीवन में इस प्रकार के मूलभूत तथा क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाएँ तो तो सामाजिक सम्बन्धों में भी विपर्यय हो जाना निश्चित है। फलतः पूँजीवादी युग में उद्योग-पतियों के वर्ग को अत्यधिक महत्व मिला है और सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में उन्होंने अतुलनीय शक्ति पाई है ठीक उसी प्रकार जैसे सामन्त-युग में राजों-महाराजों और भूमिपतियों को अनन्त शक्ति और सुविधाएँ प्राप्त थीं। आर्थिक व्यवस्था में व्यक्ति के स्थान का प्रभाव उसके सामाजिक सम्बन्धों पर प्रायः सर्वदा ही पड़ता है। यही कारण है कि सामन्त-युग के अन्त में और पूँजी-युग के प्रारम्भ में, जब व्यापार प्रायः उतना ही महत्वपूर्ण था जितना कृषि, तब प्रायः सभी व्यावहारिक कार्यों के लिए सामाजिक अधिकार तथा सुविधाएँ ज़मींदारों और व्यवसायी पूँजी-पतियों के बीच बराबर-बराबर बँट गई थीं।

———

अध्याय ६०

पूँजीवाद

पूँजीवाद किस प्रकार आया ?—औद्योगिक उत्पादन की आधुनिक प्रणाली कदाचित अठारहवीं शताब्दी के मध्य में इंग्लैंड में प्रारम्भ हुई। कुछ लोगों के अनुसार औद्योगिक आन्दोलन में इंग्लैंड का अगुवा होना केवल इतिहास की दुर्घटना मात्र थी। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह विचार गलत सिद्ध होगा। इसमें सन्देह नहीं कि यह बहुत विचित्र है कि अठारहवीं शताब्दी के कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण वैज्ञानिक आविष्कार और अनुसन्धान मुख्यतः ब्रिटिश आविष्कारकों और वैज्ञानिकों द्वारा ही हुए। परन्तु जो लोग इस तथ्य को जानते हैं, कि ब्रिटिश द्वीप-समूह शताब्दियों तक शान्तिपूर्ण और निर्विघ्न आर्थिक उन्नति करने में अत्यन्त भाग्यवान देश रहा है, उनके लिए यह निष्कर्ष निकालना बहुत कठिन न होगा कि ऐसी श्रेष्ठ तथा आदर्श परिस्थितियों में ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के लिए निरन्तर तथा निर्विघ्न आर्थिक प्रगति कर सकना कोई असाधारण कार्य न था। अपितु, ब्रिटिश द्वीप समूह में जिस प्रकार के साधन थे उन्होंने भी वहां के निवासियों को अन्य देशों के निवासियों की अपेक्षा औद्योगिक पथ पर पहले चलने के लिए समर्थ बनाया।

अतः यह कहा जा सकता है कि यह अनेक कारणों का सामूहिक परिणाम था कि ब्रिटेन के निवासी काफ़ी पहले ही आधुनिक औद्योगिक उत्पादन को उच्च श्रेणी की पूर्णता तक लाने में समर्थ हो सके। मध्ययुग में ऐसे अन्य देश भी थे जिनकी उत्पादन-प्रणाली इंग्लैंड की अपेक्षा अधिक विकसित थी। परन्तु जब मध्य युग में इतिहास के विघ्नपूर्ण क्रम ने इन देशों को अगुवा बने रहने से वंचित कर दिया तब आधुनिक युग में शक्ति के स्रोत के रूप में भाप का अनुसंधान होने के कारण, इंग्लैंड ने सर्वप्रथम उच्च श्रेणी की औद्योगिक प्रगति प्राप्त की।

जब यह ज्ञात हुआ कि उत्पादन में मशीनों का प्रयोग हो सकता है तो मनुष्यों का एक वर्ग सम्मुख आया और उसने अपने असीमित साधनों को मिलों तथा फ़ैक्टरियों को बनाने के लिए पूँजी के रूप में प्रस्तुत किया। इन व्यक्तियों में अधिकांश उस व्यापारिक, पूँजीपति वर्ग के थे जिसने सामन्त-युग के अन्त में वाणिज्य और व्यापार द्वारा बहुत धन एकत्रित कर लिया था। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य लोग भी थे जो या तो खेतों से सम्बन्धित थे या कुशल कारीगर और कुशल मज़दूर थे। ये व्यक्ति आपस में मिलकर कुछ मशीनें ख़रीदने के लिए आवश्यक द्रव्य का प्रबन्ध कर सकते थे। छोटे और बड़े उद्योगपतियों के इस उठते हुए वर्ग ने उत्पादन की इस नई दिशा को अत्यत्त लाभप्रद पाया। विशेषरूप से सन् १७८० के पश्चात जब फ़ैक्टरियों को चलाने के लिए वाष्प-यंत्र काफी समर्थ सिद्ध हो चुका था, ऐसा जान पड़ा कि वाष्प शक्ति से परिचालित बड़े कारखानों में काफ़ी मज़दूरों को लगाकर उत्पादन करना अत्यधिक लाभप्रद है।

उत्पादन-विधि में हुई इस महान क्रान्ति का परिणाम संपत्ति के अधिकार और साधारणतः संपत्ति-गत सम्बन्धों में तीव्ररूप से दृष्टिगत हुआ। उत्पादित करने की शक्ति और सुविधा एकाग्र होकर, कुछ थोड़े से हाथों में केन्द्रित होती जा रही थी, और अधिकांश लोगों को, दूसरों के लिए, दैनिक, साप्ताहिक अथवा मासिक मज़दूरी पर कार्य करना पड़ता था। कुछ थोड़े से

मनुष्यों के हाथों में उत्पादन की शक्ति सीमित हो जाने के कारण श्रेणियाँ स्पष्ट हो गईं और आर्थिक हितों में संघर्ष प्रारम्भ हुआ। अब उत्पादन के साधनों के स्वामियों और वास्तविक उत्पादकों अर्थात् मज़दूरों के दो विभिन्न तथा विशिष्ट वर्ग बन गए। हितों के इस विभाजन के कारण दोनों वर्गों की शक्ति की परीक्षा प्रारम्भ हुई और इस झगड़े में प्रायः सर्वदा स्वामी ही जीतते रहे। मज़दूरों का दृष्टिकोण प्रायः हमेशा उनके मालिकों को अस्वीकृत रहा।

आर्थिक नीति में परिवर्तन—अस्तु, औद्योगिक उत्पादन की आधुनिक प्रणाली ने उद्योगपतियों के हाथों में कार्यकर्ताओं से कहीं अधिक आर्थिक शक्ति सौंप दी। फिर भी, नए उद्योगपति अपनी पारस्परिक स्थिति के पुष्ट होने तथा सुविधाओं के एकत्रित हो जाने पर भी संतुष्ट नहीं हुए। इसके विपरीत वे अधिकाधिक स्वतंत्रता तथा शक्ति की आकांक्षा करते थे जिससे वे अपनी सुविधाओं के अनुसार ही अपने व्यापार का प्रबन्ध कर सकें। दूसरे शब्दों में, उन्होंने इन वर्तमान धाराओं तथा नियमों का प्रतिवाद किया जो उन्हें ऐसी शर्तों पर मज़दूरों को नौकर रखने पर आपत्ति करते थे, जो पूँजीपतियों के व्यापार के लिये अत्यधिक लाभदायक होतीं।

यह स्मरण रहे कि समस्त सोलवीं और सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लैंड की प्रमुख औद्योगिक नीति यह रही है कि कारखानों में काम तथा नौकरी करने की परिस्थितियों का नियमन करने वाली किसी व्यवस्था की स्थापना की जाए। उस समय की विधान-सभा (parliament) ने उचित और स्वाभाविक समझा कि पीड़ित मज़दूर कानून की शरण में आएँ जिससे प्रति-स्पर्धी पूँजीपति मज़दूरी कम न कर सकें। परन्तु अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक परिस्थिति काफ़ी बदल चुकी थी। फलतः, जब मालिकों ने तत्कालीन मज़दूरी विषयक धाराओं का तीव्र विरोध करना प्रारम्भ किया तो लोक सभा इसके लिए विवश हो गई कि व्यापारों में लगे हुए मज़दूरों और काम सीखने वालों के संरक्षण की अपनी पुरानी नीति त्याग दे।

अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध राजनीतिक उत्तेजना का युग भी था। योरप और विशेष रूप से फ्रांस में राजनीतिक विचारधारा अधिकाधिक उग्र होती जा रही थी। यद्यपि इंग्लैंड में उस समय पार्लियामेण्ट-शासन का एक रूप प्रचलित था, फिर भी नया औद्योगिक वर्ग उस राजनीतिक-नियंत्रण से संतुष्ट न था जो शासन-व्यवस्था को प्राप्त थी। उद्योगपति विशेषतः उन व्यापक अधिकारों के प्रति असंतुष्ट थे जो आर्थिक जीवन को नियमित रखने के लिए राज्य के कार्यकर्ताओं को प्राप्त थे। पूँजीपति चाहते थे कि उन्हें अपने व्यापार के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता हो; वे अपने हितों के दृष्टिकोण से मनमाने ढंग से कार्य करना चाहते थे।

निस्संदेह यह बड़ी विचित्र बात है कि उस समय के अर्थशास्त्रियों की रचनाओं से भी वर्गगत हितों की पुष्टि हुई। उदाहरण के लिए अर्थशास्त्र के जन्मदाता, एडम स्मिथ ने अपनी कृतियों में उद्योगपतियों के हितों का समर्थन किया। यह और भी आश्चर्यजनक है कि केवल एडमस्मिथ ही नहीं, ह्यूम, बेन्थम, माल्थस, रिकार्डो और सीनियर जैसे प्रमुख अर्थ-शास्त्रियों ने भी पूँजीपतियों के दृष्टिकोण का समर्थन किया और मज़दूरों के दृष्टिकोण का नहीं।

अतः उस समय के अर्थशास्त्रियों ने एक परम्परा प्रारम्भ की जिसे 'क्लासिकल' कहा जाता है और उसके प्रवर्त्तकों को 'क्लासिकल अर्थशास्त्री' कहा गया। क्योंकि क्लासिकल अर्थ-

शास्त्रियों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में पूँजीपतियों का पक्ष ग्रहण किया, इसलिए बाद के आलोचकों ने उन पर यह आरोप लगाया कि वे पूँजीपतियों के साथ थे। इस प्रकार की आलोचना ठीक न थी क्योंकि यह परिस्थिति की गलत ज्ञान पर आधारित थी। आखिर क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की देन क्या थी ? यह देखा जाएगा कि उनका दृष्टिकोण किसी भी प्रकार औद्योगिक सम्बन्धों के प्रति एक नया दृष्टिकोण न था। अधिक से अधिक वह उन व्यवहारिक निष्कर्षों का एक साधारणीकरण था जो औद्योगिक जीवन के अनुभवों ने उन्हें तथा अन्य लोगों को बताया था। उद्योगपत्तियों की कठिनाइयों का निरीक्षण करके अर्थशास्त्रियों ने नए, उदीयमान युग की आवश्यकताओं का अनुभव किया था और क्योंकि शासक वर्ग उन लाभों के प्रति आश्वस्त हो गया था जो नई आर्थिक नीति का अनुसरण करने से समाज को मिल सकते थे, अतः शासकों ने नए आर्थिक सिद्धान्तों को सहर्ष स्वीकार कर लिया। परिणाम यह हुआ कि इसके पूर्व जो कार्य शुद्ध लाभ के कारण किया जाता था अब वही सिद्धान्त के रूप में प्रचलित हुआ।

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की देन—मोटे तौर पर हम कहेंगे कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने अपने तर्कों को इस पर आधारित किया कि व्यक्ति अपने सुख अथवा कल्याण को न्यूनतम पीड़ा द्वारा, अधिकतम बनाने की आकांक्षा करता है। इन अर्थशास्त्रियों ने यह माना कि सभी व्यक्ति इसी उद्देश्य से प्रेरित होते हैं और यह निष्कर्ष निकाला कि यदि किसी समाज के सभी प्राणी व्यक्तिगत कल्याण की वृद्धि के लिए उपर्युक्त नीति के अनुसार व्यवहार करें तो परिणाम यह होगा कि कम से कम शारीरिक अथवा मानसिक पीड़ा होगी और संपूर्ण समाज का भौतिक सुख तथा कल्याण अधिअकतम होगा।

उनके तर्क की मूलनीति प्रतियोगिता की भावना थी। उन्होंने ऐसी परिस्थिति की बात सोची जब अपने आर्थिक हितों के लिए प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के साथ स्वतंत्रतापूर्वक प्रतियोगिता करेगा। और उनके साथ न्याय किया जाए तो यह कहा जाएगा कि प्रतियोगिता की ऐसी स्वतन्त्रता तथा ऐसे अधिकार किसी एक वर्ग को देने की बात उन अर्थशास्त्रियों ने न सोची थी। उन्होंने कदाचित ऐसी परिस्थितियों की कल्पना की थी जिनमें पूँजीपति अन्य पूँजीपतियों से; मज़दूर अपने साथी मज़दूरों से; पूँजीपति-वर्ग मज़दूर-वर्ग से; किसान, किसानों तथा ज़मींदारों से और व्यापारीगण, व्यापारियों और उपभोक्ताओं से प्रतियोगिता करते हैं जिससे राष्ट्रीय आय का सर्वाधिक अंश उन्हें मिल सके। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने यह पहले ही मान लिया था कि इस प्रकार व्यवहार करने पर संपूर्ण राष्ट्रीय धन और मानव-सुख में स्वतः वृद्धि होगी।

इस प्रतियोगिता को उन्मुक्त तथा असीमित बनाने के लिए अर्थशास्त्रियों ने व्यक्ति स्वातन्त्र (laissez-faire) नीति का समर्थन किया जिसका तात्पर्य यह था कि जनता के साधारण, प्रतिदिन के आर्थिक जीवन में राज्य तनिक भी हस्तक्षेप न करे। व्यक्ति स्वातन्त्र नीति में निहित मूल विचार तो फ्रांसीसी विचारकों का था परन्तु मुख्यतः आर्थिक जीवन के क्षेत्र में उसका व्यवहारिक उपयोग क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने ही किया। उनका विश्वास था कि यदि राज्यव्यवस्था ने जनता के आर्थिक निर्णयों और अभिरुचियों में हस्तक्षेप किया तो व्यक्ति अपनी इच्छानुसार वस्तुओं की मात्रा और गुण का उत्पादन न कर सकेंगे, और फलतः भौतिक

कल्याण अधिकतम न हो पाएगा। इसलिए अर्थशास्त्रियों ने शासन-कार्य को रक्षा तथा देश में शान्ति-स्थापना आदि प्रारम्भिक कर्तव्यों तक ही सीमित रखना चाहा और राज्य की नीति ऐसी निर्धारित की कि राज्याधिकारी समाज के आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप न कर सकें। दूसरे शब्दों में उन्होंने ऐसे समस्त राजकीय-कार्यों का विरोध किया जो किन्हीं भी परिस्थितियों में व्यक्ति के इच्छित उत्पादन अथवा उपभोग के निर्णयों में प्रतिबन्ध लगा सकते थे।

हमें स्वीकार करना चाहिए कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने अपने सिद्धान्तों का निरूपण सच्चाई और निष्कपटता के साथ किया था। यह भी एक निर्विवाद सत्य है कि यदि आर्थिक शक्तियाँ, प्रवृत्तियाँ और घटनाएँ उसी प्रकार कार्य कर पातीं जैसी उन अर्थशास्त्रियों की कल्पना और सुझाव थ तो यह संसार कदाचित् उतना दुखद न होता जितना कालान्तर में सिद्ध हुआ। अतः आने वाली घटनाओं के उत्तरदायित्व को क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के सिर थोपना नितान्त अनुचित है। यदि उनका कोई भी दोष था तो यही कि मानव-प्रकृति की उनकी परख अपूर्ण एवं संदिग्ध थी। यह उस समय स्पष्ट होगा जब हम पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के व्यवहारिक रूप की परीक्षा करेंगे।

पूँजीवाद की कार्य प्रणाली—क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के मतानुसार जब कोई व्यक्ति उत्पादन में पूँजी लगाना चाहता है तो स्वभावतः वह कुछ व्यक्तियों तथा कुछ वस्तुओं को काम में लगाता है। इसका प्रभाव देश की संपूर्ण अर्थ व्यवस्था पर शीघ्र ही परिलक्षित हो जाता है। दूसरे शब्दों में : किसी एक व्यक्ति द्वारा वस्तुओं के उत्पादन का अर्थ यह होता है कि भूमि और कच्चे माल, शक्ति और मशीनों तथा मानव-श्रम और विशिष्ट पटुता प्रबन्ध-सम्बन्धी संगठन और निपुणता आदि के विक्रेताओं के लिए वह व्यक्ति साथ ही साथ द्रव्य की एक निश्चित मात्रा भी उत्पादित करता है। इस प्रकार, फ़ैक्टरी या मिल की सहायता से यदि कोई व्यक्ति वस्तु-उत्पादन का निश्चय करता है तो समाज के एक यथार्थ अंश की आय में स्वतः वृद्धि हो जाती है। जैसे-जैसे इन उत्पादकों की संख्या बढ़ती है वैसे ही समाज की आय भी बढ़ती है। परन्तु उत्पादकों की संख्या में वृद्धि तभी होगी जब उत्पादन लाभप्रद सिद्ध हो। अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पूँजीवाद के अन्तर्गत लाभ ही उत्पादन की अनिवार्य शर्त है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि पूँजीवादी उत्पादन में हानि कभी होती ही नहीं। स्पष्ट है कि ऐसा विचार, आधुनिक औद्योगिक उत्पादन की वास्तविक परिस्थितियों के प्रति अज्ञान प्रदर्शित करेगा। लाभ पर विशेष बल इसलिए दिया जाता है क्योंकि लाभ का विचार ही उत्पादन को प्रेरित करता है। अतः यह स्मरणीय है कि पूँजीवादी उत्पादन का उद्देश्य 'सर्वजन-हिताय' नहीं है। उत्पादन समाज की भलाई के लिए नहीं किया जाता। विशेषतः, जब हम देखते हैं कि विषैली गैसों और एटम बम तक का उत्पादन किया जाता है, जिनसे दूसरों की केवल क्षति हो सकती है, तो हम पूँजीवादी-उत्पादन के उद्देश्य के विषय में दुविधा में नहीं रखते। हमें ज्ञात होना चाहिए कि हानिकारक उत्पादन से भी जब तक उत्पादक को आर्थिक लाभ होता रहेगा वह उत्पादन बन्द नहीं होगा। यही कारण है कि हम कह सकते हैं कि उत्पादक का प्रथम तथा अन्तिम दृष्टिकोण लाभ ही है। वस्तुतः यह बात इतनी महत्वपूर्ण है कि रोटी जैसी उपयोगी वस्तु भी अधिक मात्रा में उत्पादित न की जाएगी यदि रोटी का उत्पादन एक लाभप्रद उत्पादन नहीं है।

दूसरी ओर सामन्त युग में लोग निजी उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन मुख्यतः इसीलिए करते थे कि निजी आवश्यकताओं को संतुष्ट कर सकें। उनके सम्मुख इसका प्रश्न ही नहीं उठता था कि उनका उत्पादन आर्थिक दृष्टि से लाभदायक है कि नहीं। परन्तु पूँजीवाद के अन्तर्गत हमेशा वही वस्तुएँ नहीं उत्पादित की जातीं जो व्यक्तिगत उपभोग के लिए आवश्यक हों। इसके विपरीत, हम भली-भाँति संपन्न व्यक्तियों को ऐसी वस्तुएँ उत्पादित करते हुए देखते हैं जो उनकी व्यक्तिगत या पारिवारिक आवश्यकताओं के लिए आवश्यक नहीं है, जैसे टाटा द्वारा लाखों टन लोहा और इस्पात का उत्पादन। स्पष्ट है कि ये वस्तुएँ इतनी अधिक मात्रा में केवल लाभ कमाने के लिए ही उत्पादित की जाती हैं। हमारे मत से, पूँजीवादी युग के उत्पादन तथा इतिहास के अन्य किसी युग के उत्पादन में यही मुख्य अन्तर है*।

उत्पादन की पूँजीवादी-विधि की विशेषताएँ—उत्पादन की पूँजीवादी विधि की एक अन्य विशेषता यह है कि जब से भूमि आय का सबसे अधिक उत्पादक-स्रोत न रही तो मशीनें फ़ैक्टरियाँ, खानें, मिल, बैंक, रेल तथा जहाज़ आदि पूँजी की वस्तुएँ उत्पादन का मुख्य साधन बन गईं। वे पूँजीपति जो ऐसी संपत्ति के स्वामी हैं उस अनन्त आर्थिक शक्ति के स्वामी भी हैं जिसका उपयोग वे व्यक्तिगत लाभ की वृद्धि के लिए करते हैं। लाभ कमाने का अवसर देख कर प्रत्येक साहसोद्यमी पूँजी का प्रबन्ध करता है, किसी उद्योग की स्थापना करता है, और इंजीनियरों को निर्माण के लिए, प्रबन्धकों को संगठन के लिए तथा मज़दूरों को मेहनत करने के लिए नौकर रखता है और एक ऐसा बाजार पा जाने की आशा करता है जहां वह अपनी लागत से अधिक मूल्य पर उत्पादित वस्तु को बेंच सके। इस प्रकार, उत्पादन, वितरण तथा विनिमय का एक विशाल ढांचा तैयार हो जाता है जिसमें मांग और पूर्ति मूल्य को निश्चित करते हैं, मूल्य लाभ का परिमाण बताता है और लाभ विविध उद्योगों में भूमि, श्रम, पूँजी आदि की [illegible] को निश्चित करता है।

मूल्य पूँजीवादी संसार का नियंत्रक है। मूल्य की घट-बढ़ ही पूँजीवादी विधि की कार्य-प्रणाली की परिस्थितियाँ निश्चित करती है। मूल्य व्यवस्था का कार्य मांग तथा पूर्ति को स्थिर रखना है। मूल्य परिवर्तन प्रतिबन्धित पूर्ति को नियंत्रित रखते हैं। सारी व्यवस्था सरलता के साथ कार्य करती है, जैसे, अधिक दाम उपभोग को निरुत्साहित और कम दाम उपभोग को उत्साहित

---

*यह बात थोड़ी सी विवादास्पद है। इस विश्लेषण का विरोध यह कह कर किया जाता है कि पूँजीवादी लाभ के दृष्टिकोण का मन्तव्य भी अन्ततः यही होता है कि उत्पादक को अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की तृप्ति के साधन मिल सकें। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ परिस्थितियों में ऐसा ही होता है; वस्तुतः छोटे पैमाने पर किए गए उत्पादन के विषय में यह काफ़ी सच है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि जब हम पूँजीवाद की चर्चा करते हैं तो हम साधारण तथा छोटे पैमाने के व्यापार की बात नहीं करते। हमारा ध्यान आजकल बड़े पैमाने पर किए गए मशीनी उत्पादन पर है जो अत्यधिक उत्पादन करने वाले विशाल उद्योगों द्वारा ही सम्भव है। इसलिए, तत्वतः हमारा निष्कर्ष ठीक है। प्राप्त लाभ के एक अंश को निजी आवश्यकताओं के लिए व्यय किया जा सकता है परन्तु पूँजीवाद के अन्तर्गत लाभ का तात्पर्य मूलतः यही होता है कि कालान्तर में और भी अधिक लाभ कमाया जाए और अन्ततः उसका उपयोग अधिकार प्राप्त करने के लिए किया जाए और अपनी शक्ति का परिचय पाकर आनन्दित तथा प्रफुल्ल हुआ जाए।

करते हैं। साथ ही वह इतने सुचारु रूप से परिचालित रहती है कि लम्बी अवधि में कभी भी मांग पूर्ति से अधिक नहीं हो पाती, और न कभी इसके विपरीत ही होता है।

मूल्य-व्यवस्था का दूसरा कार्य उत्पादित वस्तु का निर्णय करना है। कितना उत्पादन किया जाय और किस सीमा के बाद वस्तु का उत्पादन बन्द कर दिया जाय। यदि लोग कोई विशिष्ट वस्तु चाहते हैं, और उसका मूल्य देने के लिए उद्यत हैं, तो साधन उसी वस्तु के उत्पादन की ओर उन्मुख कर दिए जायँगे। मूल्य-व्यवस्था इसी प्रकार साधनों के नियोजन में सहायता देती है। यह चुनावों और उत्पादन के रूप-दोनों को निश्चित करती है।

प्रत्येक उत्पादन प्रणाली को किसी न किसी भविष्य वाणी पर निर्भर रहना पड़ता है। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मूल्य-प्रणाली ही सम्पूर्ण आवश्यक भविष्यवाणी करती है। यह सर्वविदित है, कि मूल्य प्रणाली मुख्यतः बाजार के माध्यम से कार्य करती है। समस्त अर्थ-व्यवस्था पर नियंत्रण रखती है। बाजार के मूल्य के घटने बढ़ने के अनुसार ही मनुष्य की नियुक्ति या वियुक्ति होती है, कारखानों का निर्माण या ध्वंस होता है, धन उत्पादित या नष्ट किया जाता है, और विकास प्रगतिशील अथवा अगतिशील होता है। यह कहा जाता है कि मूल्य-व्यवस्था प्रत्येक उद्योग में उत्पादन के साधनों का उस सीमा तक वितरित करती है, जहाँ सीमान्त उत्पादन पारिश्रमिक की औसत दर के समान हो जाता है, और सीमान्त लागत मूल्य के बराबर हो जाती है। परिणामतः एक ओर तो चरम-नियुक्ति तथा उत्पादन होता है, और दूसरी ओर अधिकतम सन्तोष की प्राप्ति होती है।

प्रतिस्पर्धा का कार्य—पूँजीवादी उत्पादन की दूसरी विशेषता यह है, कि उसके विस्तार या संकोच की परिचालक-शक्ति प्रतिस्पर्धा की भावना से प्राप्त होती है। कहा जाता है, कि प्रतिस्पर्धा की भावना ने सभी युगों में मानवीय अनुभूतियों, निर्णयों और कार्यों को आन्दोलित किया है। प्रति-स्पर्धा या अनुकरण से प्रेरित होकर मानव ने संघर्ष और साहस के कुछ अत्यन्त असाधारण कार्य किए हैं। अतः अपने तर्कों को मानव—जीवन की इस मुख्य प्रेरणा की स्वस्थ और सूक्ष्म क्रिया पर आधारित करते हुए, क्लासिकल-अर्थशास्त्रियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि अपने व्यक्तिगत कल्याण की वृद्धि करने के लिए एक व्यक्ति को कोई भी बाधा नहीं है, तो वह स्वयं ही धन के उत्पादन द्वारा अपने कल्याण को अधिकतम बनाने का प्रयत्न करेगा। और जब अपने प्रयत्न और साहस के परिणाम स्वरूप कोई व्यक्ति ऐसी वस्तु का उत्पादन करता है, जो उसे धनी अथवा संपन्न बनाने में समर्थ होती है, तब दूसरे व्यक्ति भी सम्पन्नता की वास्तविकता या मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ेंगे। जो सफल होंगे उनके लिए वह एक वास्तविकता होगी, और जिनके प्रयत्न असफल हो जाएँगे उनके लिए वह मृग-मरीचिका से अधिक और हो ही क्या सकती है?

अपने तर्क को सिद्ध करने के लिए हम एक उदाहरण लें। मान लीजिए कि स्थूल अनुगणन के अनुसार **क** अपने निजी या उधार लिए हुए द्रव्य को चीनी के उत्पादन में लगाता है और उत्पादित चीनी को ऐसे मूल्य पर बेचने में सफल होता है, जिससे उसे कुछ लाभ हो। यह देख कर **ख** भी उसी प्रकार की विधि को अनुसरण कर चीनी का उत्पादन करेगा। यदि **क** और **ख** दोनों को सफलता मिलती है तो उनके प्रयत्नों के फल स्वरूप बहुत से व्यक्तियों को मज़दूर, इंजीनियर, मशीन-मैन, प्रबन्धक या संगठनकर्ता के रूप में चीनी उद्योग में वृत्ति मिल जायगी:

भूमि, कच्चे माल, मशीनों, शक्ति और पूँजी आदि की भी एक निश्चित मात्रा ऐसे उत्पादन में आवश्यक होगी।

इसका प्रभाव उस समाज की आय पर क्या होगा, **क** और **ख** जिसके अंग है ? स्पष्ट है कि इन मानवीय तथा भौतिक दोनों वस्तुओं के विक्रेताओं को अतिरिक्त क्रय-शक्ति मिल जायगी , जो चीनी उद्योग के प्रारम्भ न होने पर उन्हें न मिलती। समाज के हाथों में इस अतिरिक्त आय का यह परिणाम होगा कि उस चीनी की मांग , जिसका उत्पादन **क** और **ख** की प्रेरणा से हुआ था अधिक बढ़ जायगी ? अतः जब यह चीनी बाज़ार में बिकने को जायगी तो उसका मूल्य इतना तो होगा ही कि **क** तथा **ख** को लाभ होगा। और इस प्रकार **क** तथा **ख** द्वारा किए गए साहसोद्यम और स्पर्धा सफल होगी।

क्योंकि चीनी का उत्पादन लाभदायक सिद्ध हुआ इसलिए चीनी के उत्पादकों की संख्या में उस सीमा तक वृद्धि होगी (प्रतिस्पर्धा की भावना इस प्रक्रिया के प्रसार में सहायक होगी) जहाँ चीनी के मूल्य में निरन्तर कमी होने के कारण लाभ बहुत कम या शून्य रह जायगा। यह इस प्रकार होगा : चीनी की अधिकाधिक मात्रा का उत्पादन करने के लिए जैसे-जैसे बहुत से उत्पादक एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा करेंगे, चीनी की कुलपूर्ति में वृद्धि होगी , और मांग तथा पूर्ति के नियमों के अनुसार पूर्ति की प्रत्येक वृद्धि के साथ मूल्य निरंतर घटता जायगा। यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जब चीनी का मूल्य नियमित रूप से गिरता जायगा, तभी उपभोक्ताओं का अधिक से अधिक भाग उसे खरीदने में समर्थ होगा। अस्तु प्रतिस्पर्धा की भावना के कारण प्रत्येक उत्पादक चीनी की अधिकतम मात्रा उत्पादित करता है, तो सम्पूर्ण उत्पादन की वृद्धि के साथ उसे चीनी का मूल्य भी कम करना पड़ेगा यदि वह चाहता है कि अन्य उत्पादकों की अपेक्षा उसी की वस्तु बाज़ार में बिके। परन्तु जब एक उत्पादक अपने मूल्य को घटाता है तो यह आवश्यक है कि अन्य उत्पादक भी अपने-अपने मूल्य को कम करें क्योंकि पूर्ण बाज़ार की परिभाषा के अनुसार एक बाज़ार में, एक समय, एक ही वस्तु के दो मूल्य कदापि नहीं हो सकते।

गिरते मूल्य और घटते लाभ—इस प्रकार यह देखा जा सकता है, कि अन्य परिणामों के साथ-साथ प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पादकों के लाभ की मात्रा बराबर कम करती रहती है। अपने को ऐसी असहाय दशा में पाकर स्वभावतः उत्पादक लाभ कम नहीं होने देना चाहते और उसके लिए वे उस प्रत्येक उपाय का सहारा लेते हैं, जो यदि उनके लाभ में वृद्धि न भी कर सके तो कम से कम उसे स्थिर रखने में सहायक हो।

लाभ की इस अत्यधिक कमी को बचाने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि वस्तु का मूल्य बढ़ा दिया जाय या कम से कम उसे गिरने से तो रोका ही जाय। परन्तु प्रतिस्पर्धा में यह सम्भव नहीं है , क्योंकि जब मूल्य माँग तथा पूर्ति के नियमों द्वारा निर्धारित होता है., तो कोई एक उत्पादक किसी एक वस्तु के मूल्य पर अपना नियंत्रण नहीं रख सकता। इसलिए उसके सामने एक यही दूसरा रास्ता है, कि उत्पादन की लागत को कम करे। प्रत्येक उत्पादक इस कार्य को किसी न किसी प्रकार कर सकता है। परन्तु प्रतियोगी उत्पादकों की अधिकाधिक उत्पादन करने की इच्छा के कारण यहां भी कठिनाई उठ खड़ी होती है। जब उत्पादक एक दूसरे के साथ अधिक उत्पादन करने की होड़ कर रहे हों , तो स्वभावतः वे श्रम, कच्चे माल शक्ति के साधन और उत्पादन के लिए आवश्यक अन्य वस्तुओं के विक्रेताओं को यदि वे यह

चाहते हैं कि इन लोगों की सेवाएँ तथा वस्तुएँ उन्हें प्राप्त हो सकें, अधिक दाम देने के लिए विवश होंगे।

अब यह बात सरलता से समझ में आजाएगी कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने यह क्यों कहा था कि प्रतिस्पर्धा से न केवल पूँजीपतियों को लाभ होता है, वरन् जनता के अन्य वर्गों को भी जो या तो उत्पादन में भाग लेते हों या उससे किसी प्रकार संबन्धित हों। वस्तुतः यही कारण था कि उन अर्थशास्त्रियों ने यह कल्पना की कि वृद्धिमान उत्पादन और वृत्ति के साथ साथ मज़दूरों को भी अधिकाधिक मज़दूरी मिलेगी। उत्पादन तथा समाज के प्रति इस आशावादी दृष्टिकोण के कारण ही उन्होंने यह विश्वास किया कि प्रतिस्पर्धा की प्रेरणा उत्पादकों को इस बात के लिए विवश करेगी कि वे उत्पादन के साधनों में अधिक द्रव्य वितरित करें; तभी उत्पादन के साधनों के स्वामी उत्पादकों को अधिक मात्रा में अपनी वस्तुएँ और सेवाएँ देने के लिए प्रोत्साहित होंगे। इस सब का परिणाम यह होगा कि समाज की आय में वृद्धि होगी, तथा उत्पादित वस्तुओं का विक्रय सम्भव होगा।

इस प्रकार उद्योग की एक दिशा पूर्णतया विकसित हो जायगी और अन्ततः दूसरे उद्योग-पतियों को इस दिशा में आने पर या तो बहुत कम या बिल्कुल लाभ न होगा। ऐसी दशा में अन्य उत्पादकों में यही कहानी दोहराई जायगी, जब तक कि ये नवीन उद्योग भी पूर्ण रूप से विकसित न हो जायँ और उत्पादकों, कार्यकर्त्ताओं, कच्चे माल के विक्रेताओं और उत्पादन से सम्बद्ध समाज के अन्य सदस्यों के लिए पहले वाले उद्योग जैसे परिणाम न दृष्टिगत हों। इसके पश्चात् और भी अन्य वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ होगा, और वहां भी स्पर्धा की प्रेरणा कालान्तर में पहले जैसे परिणाम दिखाएगी। वस्तुतः यह प्रक्रिया उस समय तक जारी रहेगी, जब तक की देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था भली भांति विकसित न हो जाय और समाज के लिए सर्वतोन्मुखी सम्पन्नता, कल्याण और सुख की स्थिति न आ जाय। समाज के लिए इसका कुल परिणाम होगा : अधिकतम सामाजिक कल्याण—'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण'—जो उस समय के राजनीतिक विचारकों का भी आदर्श था।

जब मानवता के सम्मुख भविष्य का इतना उज्जवल चित्र रखा गया तो क्लासिकल अर्थ-शास्त्रियों के विचारों की अवमानता कौन कर सकता था? अपने वादों को पूरा करने का अवसर उन्हें देना किसने स्वीकार न किया होगा? यह भी सच है, कि प्रारम्भ में परिस्थितियों की रूप-रेखा पूर्णतः आशानुकूल ही थी। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में पूँजीवादी उद्योग कुछ न कुछ विस्थिति और विपत्ति से संयुक्त थे। परन्तु कुछ ही काल में यह स्पष्ट हो गया कि ऐसी बुराइयाँ उत्पादन के रूपों और विधियों के प्रत्येक महत्वपूर्ण परिवर्तन के साथ संयुक्त रहती हैं। प्रायः सभी लोगों का विश्वास था कि ऐसे संक्रान्ति-काल में दुख और कष्ट की कुछ न कुछ मात्रा अवश्यम्भावी है, और कुछ समय पश्चात् मनुष्य को ऐसे त्याग से अवश्य लाभ होगा। अतः असन्तुष्ट लोगों के विरोध शान्त करा दिए गए और नए युग की आलोचना करने वालों की अवहेलना की गई।

अध्याय ६१

पूँजीवाद का संकट

यद्यपि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की भविष्यवाणियाँ काफी सच निकलीं फिर भी वे सब की सब ठीक सिद्ध न हुईं। कठिनाइयाँ पहले श्रमिकों की ओर से ही उठीं। पहले, ऐसी आशा थी कि वृद्धिमान उत्पादन के साथ राष्ट्रीय आय में मज़दूरों का हिस्सा भी बढ़ेगा जिससे उनकी आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में सर्वतो-मुखी उन्नति अवश्य होगी। वस्तुतः, उन सरकारी नियमों का विरोध करते हुए, जो मज़दूरों की नियुक्ति पर नियंत्रण रखना और मज़दूरी को निश्चित करना चाहते थे, क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने यह विश्वास दिलाया था कि यदि नई, आर्थिक शक्तियों को पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जाए तो श्रमिकों की स्थिति में स्वतः सुधार होगा। उन्होंने आशा की थी कि अधिकाधिक श्रमिकों को नियुक्त करने के लिए जब उत्पादक प्रतियोगिता करेंगे तो वे इन मज़दूरों की मांगों को पूरा करने के लिए विवश भी होंगे। इस प्रकार काम के घंटों में भी कमी होगी और दैनिक मज़दूरियाँ भी बढ़ेंगी।

वस्तुतः अनुभव आशा के विपरीत हुआ। यह देखा गया कि प्रत्येक दृष्टि से मज़दूरों की स्थिति खराब होती जा रही थी। कभी-कभी और कहीं-कहीं तो उन्हें दिन में पन्द्रह सोलह घंटों तक परिश्रम करना पड़ता था और वे अत्यन्त अस्वास्थ्यकर तथा गन्दे वातावरण में रहते थे। उनकी मज़दूरी इतनी कम थी कि वे भली प्रकार अपना जीवन भी न चला सकते थे। अन्य बातों की स्थिति भी खराब थी और धीरे-धीरे उनकी समस्या चिन्ताजनक होती गई। इस प्रकार क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की एक महत्वपूर्ण मान्यता व्यवहार में आकर बिलकुल छिन्न-भिन्न हो गई। ऐसा क्यों हुआ, हम अब यह जानने का प्रयत्न करेंगे।

पूँजीवादी उत्पादन की प्रगति दो सामाजिक प्रवृत्तियों के साथ संयुक्त थी, जो पहले स्पष्ट रूप में समझी न गई थी। एक तो यह कि ऐसा देखा गया कि उद्योगीकरण की गति तीव्र हुई तो बहुत अधिक संख्या में लोग गांवों से नगरों में आने लगे। दूसरे यह कि किसी देश के औद्योगिक विकास के साथ-साथ वहाँ की जनसंख्या में भी अनिवार्य वृद्धि हो रही थी। इस दोहरे विकास का परिणाम यह हुआ कि श्रम की पूर्ति साधारणतः, श्रम की माँग से अधिक हो गई। इसका अनिवार्य फल यह हुआ कि श्रम का बाज़ार घट गया। चूंकि उद्योगपति मुख्यतः अपनी आय को बढ़ाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने ऐसी परिस्थिति से पूर्ण लाभ उठाने का प्रयत्न किया। फलतः काम करने वालों की स्थिति बहुत दयनीय हो गई। उनको इतनी भी मज़दूरी न मिलती थी, जिसे जीविकोपार्जन के लिए यथेष्ट कहा जा सके। साथ ही उन्हें अत्यन्त असुविधा-पूर्ण परिस्थितियों में बहुत अधिक समय तक कार्य करना पड़ता था। इस प्रकार मज़दूर वर्ग के अत्यन्त निर्दय शोषण का एक युग प्रारम्भ हुआ, और मज़दूरों ने समय के प्रवाह को अपने विरुद्ध पाकर बचाव के लिए एक के बाद दूसरा उपाय अपनाया।

परन्तु दुर्भाग्य से मज़दूरों द्वारा अपनाई हुई बचाव की प्रत्येक विधि उनकी परिस्थिति को और अधिक खराब बनाने में सहायक हुई। उदाहरण के लिए जब मज़दूरों ने देखा कि उनकी दैनिक आय परिवार के भरण, पोषण के लिए अपर्याप्त है, तो उन्होंने अपने घर की औरतों को

भी कारखानों में काम करने को भेज दिया। स्पष्ट है, कि उनका दृष्टि कोण यह था कि परिवार के पुरुषों की आय के अतिरिक्त स्त्रियों के काम करने से परिवार के आय में कुछ न कुछ वृद्धि ही होगी। जब मज़दूरों का ही दृष्टिकोण ऐसा था तो इसमें आश्चर्य की कोई बात न थी कि श्रम के बाज़ार में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को कम मज़दूरी दी गई। श्रम के बाज़ार में इस नई स्थिति ने उद्योगपतियों की शक्ति को और बढ़ा दिया। श्रम की पूर्ति में वृद्धि होने के साथ और श्रम के बाज़ार में मज़दूरों के एक ऐसे वर्ग की उपस्थिति के कारण, जो पुरुषों से कम मज़दूरी पाने पर भी स्वेच्छापूर्वक काम करने के लिए उद्यत था, मज़दूरी का सामान्य स्तर और भी गिर गया। इस प्रकार वे औरतें जो कारखानों में परिवार की आय बढ़ाने के लिए काम करने गई थीं, केवल इसमें सफल हुईं कि कुछ समय पश्चात् उन्होंने पुरुषों की मज़दूरी की दर भी कम कर दीं।

जब यह उपाय भी असफल रहा तो मज़दूर एक ही काम और कर सकते थे, कि अपने बच्चों को भी मिलों और कारखानों में भेज दें। परन्तु श्रम के बाज़ार में बच्चों के आजाने से मज़दूरों की परिस्थिति और भी सोचनीय हो गई। चूंकि ये बच्चे बालिगों के बराबर मज़दूरी पाने की आशा न कर सकते थे, इसलिए उन्होंने औरतों से भी कम मज़दूरी पर काम करना स्वीकार किया। उत्पादक तो सदैव लागत की ही बात सोचता था। उसे यह ज्ञात था कि स्त्रियाँ पुरुषों के समान कठिनकार्य अधिक देर तक नहीं कर सकतीं; यह और भी स्पष्ट था कि एक लड़का अपनी मां से भी कम काम कर सकता था। इस प्रकार मज़दूरी की दर बालिगों से नाबालिगों तक गिरती गई।

इस सब ने सामाजिक व्याधि की प्रवृति और परिमाण को उत्तेजित करने में भी सहायता दी। पूँजीपति का हित लागत को कम से कम रखने में ही है। इसलिए उसने अपनी सामर्थ्य भर, औरतों और बच्चों को कठिन तथा अधिक समय तक काम करने के लिए विवश किया। इस प्रकार कष्ट बढ़ा और स्वास्थ्य गिरा; शरीर में रोग तथा मृत्यु की अवरोधक शक्ति घटी, और इन सब का परिणाम यह हुआ कि मृत्यु की दर बढ़ गई। मनुष्य द्वारा निर्मित यह सब समस्याएँ तो थी हीं, प्रकृति ने भी इसमें योग दिया—मृत्यु दर तो बढ़ ही रही थी, इस वर्ग में जन्म दर भी बढ़ना प्रारम्भ हुई। उस समय यह बताना कठिन था कि इसके मूल में प्राकृतिक क्षति पूर्ति का नियम था या मनुष्य के लोभ और लाभ लिप्सा के लिए भाग्य का खेल था। तत्कालीन परिस्थितियों के अध्ययन से जो दुखद निष्कर्ष माल्थस ने निकाले, वे सर्वविदित हैं। हम उन निष्कर्षों से सहमत न हों, यह दूसरी बात है।

मज़दूरों का संगठन—हम पहले कह चुके हैं, कि राजनीतिक दृष्टि से अट्ठारहवीं सदी का उत्तरार्द्ध एक क्रान्ति का युग था। उन्नीसवीं सदी के आते-आते जीवन तथा समाज की समस्याओं के प्रति राजनीतिक-दृष्टिकोण ने अपनी शक्ति नहीं खोई, वरन् और भी घनीभूत हो गई। इसलिए जब ब्रिटिश मज़दूरों ने अपने को ऐसी दुखद अवस्था में पाया तो उन्होंने एक वर्ग आधार पर अपना संगठन प्रारम्भ किया। इस प्रकार श्रम-संघ बनाने का विचार किया गया; और शीघ्र ही ब्रिटेन के समस्त औद्योगिक भागों में बहुत उत्साह के साथ एक के बाद एक श्रम-संघ बने। इन श्रम-संघों का मुख्य उद्देश्य, संगठित तथा सामूहिक क्रिया द्वारा मज़दूरों के कार्य तथा जीवन की परिस्थितियों में सुधार करना था। उन्होंने शासन से बार-बार अपील की

कि उनके कष्टों को हस्तक्षेप द्वारा दूर करें। परन्तु उस समय की सरकार अपनी वह नीति बदलने में असमर्थ रही जिसे उसने कुछ ही समय पहले अपनाया था। फलतः, जब श्रम संघों के नेताओं ने देखा कि सरकार मज़दूरों की माँगों के प्रति उदासीन है, तो उन्होंने मज़दूरों को हड़ताल करने के लिए कहा, ताकि मालिक उनकी माँगों को स्वीकार करने के लिए विवश हो जायँ। कभी-कभी ये हड़तालें सफल हो जातीं थीं, और कभी बुरी तरह असफल रहती थीं। परन्तु कालान्तर तथा अनुभव-वृद्धि के साथ ये श्रम संघ अधिक शक्ति शाली होते गए, और उद्योग-पतियों पर इनका संगठित दबाव बढ़ने लगा, यद्यपि सरकार की सहानुभूति तथा गुरुत्व मज़दूरों की अपेक्षा उद्योग-पतियों की ही ओर अधिक थे। मालिकों ने अपनी सामर्थ्य भर वह सब किया जो मज़दूरों की व्यग्र उत्तेजना को कुचलने के लिए वे कर सकते थे; उन्होंने मज़दूर संगठन को तोड़ने और उनके विद्रोही हड़तालों को चकनाचूर कर देने के प्रयत्न किए। परन्तु इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी मज़दूर आन्दोलन आगे बढ़ता रहा।

इस अशान्ति और संघर्ष को अधिक समय तक चलते रहने नहीं दिया जा सकता था। ब्रिटेन धीरे-धीरे प्रजातन्त्र शासन की ओर बढ़ रहा था। वैधानिक प्रजातंत्र का अर्थ ही यह है कि जनसाधारण के दृष्टिकोण का आदर किया जाय। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने धीरे-धीरे औद्योगिक जनता की शिकायतों को दूर करने के लिए कदम बढ़ाया। मज़दूरों के हितों की रक्षा के लिए पास किए हुए प्रत्येक वैधानिक नियम ने मज़दूर वर्गों को प्रोत्साहित किया कि वे अपने हितों की रक्षा के लिए शक्ति का प्रयोग कर सकें। इस प्रकार लोक सभा ने उद्योगपतियों को मज़दूरों के दृष्टिकोण को मानने के लिए विवश करने वाले कई नियम बनाए। उद्योगपतियों ने अधिकतर ऐसे नियमों का विरोध किया। उनका तर्क यह था कि सरकार की आज्ञा के कारण उन्हें मज़दूरों को जो भी सुविधाएँ देनी पड़ती थीं, वे उत्पादन की लागत को और अधिक बढ़ा देती थीं। फ़लतः उन्होंने मज़दूरों की रक्षा के लिए सरकार की आकांक्षाओं का विरोध करने में कोई सर न उठा रखी, और श्रमिकों की मांगों का सदैव प्रतिवाद किया। परन्तु अब समय का चक्र मज़दूरों के पक्ष में था। इसलिए मालिकों के विरोधी प्रयत्नों का कोई भी फल न निकला। अधिक से अधिक वे श्रम सम्बन्धी नियमों की गति को कम करने में सफल हुए।

गति रोध—पूँजी के पास इस चुनौती का क्या उत्तर था? वस्तुतः, उत्तर तो पूँजीवादी उत्पादन की विचित्र प्रकृति ने ही दे दिया था। औद्योगिक उत्पादन की प्रत्येक प्रगति के साथ अधिक. अच्छी और सस्ती मशीनें मिलती जा रही थीं। सस्ती और अधिक वस्तुओं के उत्पादन के अतिरिक्त इन मशीनों के बढ़ते हुए प्रयोग ने उद्योगों में नियुक्त श्रमिकों की संख्या को घटा दिया। इसलिए, विशेषतः इसी कारण वश, उद्योग-पतियों ने यह अनुभव किया कि दीर्घकाल में इन महँगी मशीनों का खरीदना ही मितव्यय है, न कि अधिक संख्या में श्रमिकों की नियुक्ति जिनकी प्रतिदिन बढ़ती हुई मज़दूरी की मांगें उद्योगों पर असह्य भार बनती जा रही थीं। अस्तु, इन मशीनों से श्रम की बचत हुई क्योंकि इससे अपेक्षाकृत अधिक मज़दूरों की आवश्यकता न रह गई। इसलिए श्रमिकों के संघों के अवरोध को भंग करने के लिए वे सफल शस्त्र सिद्ध हुईं।

एकाधिकार पूँजीपतियों का दूसरा शस्त्र था उद्योगपतियों ने अपने अनुभव द्वारा यह सीखा था कि असीमित प्रतिस्पर्धा उनकी व्यक्तिगत तथा सामूहिक शक्ति को कम कर देती

है। उत्पादक जितना ही अधिक आपस म प्रतिस्पर्धा करेंगे उनकी स्थिति उतनी ही कमजोर हो जायगी। अतः पूँजीपति वर्ग ने यह अनुभव किया कि स्पर्धा करने से कहीं अच्छा होगा कि वे संयोजित और संगठित हो जाएँ, क्योंकि ऐसे संयोजन न केवल मज़दूरों का सामना करने की शक्ति बढ़ाते, वरन् उत्पादन की लागत को घटाने में भी सहायक होते। यह अनुभव किया गया कि संयोजन के बिना बड़े पमाने के उत्पादन से सम्बद्ध यथेष्ट आन्तरिक तथा वाह्य मितव्ययताए सम्भव नहीं थीं, और न वृद्धि मान प्रत्युप्लब्धि से काफी लाभ ही उठाया जा सकता था। संयोजन द्वारा ऐसी सम्भावनाएँ अत्यधिक बढ़ गई। इस प्रकार क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की दूसरी महत्वपूर्ण मान्यता भी नष्ट भ्रष्ट हो गई। व्यापक स्पर्धा के स्थान पर अब उद्योग के क्षत्र में एक दूसरे के सम्मुख दो विशाल एकाधिकार ही शेष रहे—एक तो पूँजीपतियों का और दूसरा श्रमिकों का।

परन्तु सरकार के या स्वयं अपने संगठनों के प्रयत्नों के फलस्वरूप मज़दूरों के पक्ष में जो भी हुआ था उसके बावजूद उनकी स्थिति सामान्यतः कमज़ोर तथा असन्तोषपूर्ण रही। जबकि द्राव्यिक मज़दूरियाँ प्रत्येक दशा में धीरे-धीरे बढ़ रही थीं, वास्तविक मजदूरी में तनिक भी उन्नति न हुई थी। अनेक कारणों से रहन-सहन का व्यय (cost of living) धीरे-धीरे बढ़ रहा था, इसलिए वास्तविक मज़दूरी में वृद्धि होना प्रायः असंभव हो गया। इसलिए अब मज़दूरों के लिए आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति व्यवहारतः पहिले जैसे ही असन्तोष पूर्ण बनी रही, जब कि किसी मनुष्य का तुलनात्मक कल्याण या उसकी प्रतिदिन की अभाव की चिन्ताओं से मुक्ति केवल वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति द्वारा ही सुनिश्चित हो सकता था। परिणामतः श्रम और पूँजी का संघर्ष बना ही रहा; वस्तुतः समय की प्रगति के साथ इन दोनों के बीच की खाई बढ़ती ही गई। जब श्रम की औसत उत्पादन शक्ति तीव्रगति से बढ़ रही थी (क्योंकि उत्पादन क्रिया में मशीनों का प्रयोग बढ़ने लगा था), मज़दूरी भी उसी अनुपात से नहीं बढ़ी। ऐसी परिस्थितियों में चालू उत्पादन और चालू उपभोग में व्यवधान आ जाना अवश्यम्भावी हो गया। दूसरे शब्दों में जब औद्योगिक जनता की उत्पादन-क्षमता अप्रत्याशित रूप से बढ़ रही थी, उनकी उपभोग शक्ति में उसी मात्रा में वृद्धि न हो पा रही थी।

इस प्रकार समस्त उत्पादित वस्तुओं का विक्रय तत्काल ही नहीं हो रहा था। आंशिक अत्युत्पादन (over production) और आंशिक उपभोग न्यूनता (under consumption) दोनों साथ-साथ चल रहे थे। लोगों को अपनी आवश्यकता की सारी वस्तुएँ नहीं मिल पाती थीं, और प्रतिवर्ष उत्पादित सारी वस्तुओं का विक्रय भी न हो पाता था। दूसरे शब्दों में एक ओर तो देश या सम्पूर्ण संसार की अधिकांश जनता बुभुक्षित, निर्वस्त्र तथा वस्तुओं और सेवाओं से वंचित थी, और दूसरी ओर उत्पादकों के पास माल बेकार पड़ा हुआ था क्योंकि उसके ग्राहक ही नहीं थे। इस कथन की सत्यता यह जान लेने पर ज्ञात होगी कि औद्योगिक दृष्टि से विकसित देश में मज़दूरी पाने वाले लोग ही मुख्य रूप से उपभोक्ता होते हैं। जब अत्युत्पादन भयंकर मात्रा में होने लगता है, तो मूल्य गिरने लगता है और फल यह होता है कि हानि होने लगती है और उत्पादन को कम किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में श्रमिकों और अन्य साधनों की वृत्तिहीनता बहुत बढ़ जाती है; और निर्धनता, पीड़ा और हर तरह के दुख लगभग द्विगुणित हो जाते हैं। जब उत्पादन में ऐसे संकट पहले पहल आए, तो लोगों ने सोचा कि वे कुछ अवर्णनीय

कारणों के परिणाम थे, जो पूँजीवाद के सूर्य के औद्योगिक आकाश पर यथा-स्थान आने और अपने प्रकाश को फैलाने पर स्वयं ही तिरोहित होंगे। अपितु, जब यह देखा गया कि प्रत्येक संकट के पश्चात् परिस्थितियाँ तीव्रगति से सुधरने लगती हैं, और न केवल पुराने स्तर तक ही पहुँच जाती हैं वरन् पहले की अपेक्षा उत्पादन और उपभोग की मात्रा अधिक हो जाती है, तो विशेषज्ञ पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के इस चमत्कार को देख कर सन्तुष्ट हो गए। परन्तु जब यह अन्वेषण बाद में हुआ कि ऐसा संकट सात से ग्यारह वर्षों के बीच में निश्चित विरामों के पश्चात् आता है, तो यह स्वाभाविक था, कि ये विशेषज्ञ परिस्थिति के विषय में उलझन में पड़ जायें।

सम्पन्नता और विपन्नता—तेजी और मंदी (Boom and Slump)—ऐसा लगता है कि कठिनाइयाँ मूलतः दो बातों से उत्पन्न हुईं—जब श्रमिक वर्गों की बढ़ती हुई मांगों ने उत्पादकों को वांछित लाभों से वंचित करना प्रारम्भ किया तो उत्पादकों ने इस प्रवृत्ति से बचने के लिए दो उपायों का अवलंबन लिया। पहिले तो मजदूरों को भयभीत करने के लिए उन्होंने उत्पादन में मशीनों की सहायता लेकर मजदूरों को हटा देने का उत्कट प्रयत्न किया। दूसरे स्वयं अपने मध्य में असीमित स्पर्धा की भयंकरता को रोकने के लिए उन्होंने आत्मघातक प्रतिस्पर्धा के स्थान पर संयोजनों की स्थापना की। पहिले उपाय का परिणाम हुआ बेकारी। और जब बेकारी अधिक हो गई तो मजदूर ऐसी कम मजदूरी पर भी काम करने के लिए तैयार हो गए, जिसे वे अन्य किसी अवसर पर स्वीकार न करते। दूसरे उपाय—औद्योगिक संगठन के एकाधिकारी स्वरूप के पक्ष में प्रतिस्पर्धा की अस्वीकृति—के परिणामस्वरूप श्रमिक वर्ग के विरोध में उत्पादकों की शक्ति दृढ़ हो गई और उत्पादक युक्तीकरण (rationalization) तथा बड़े पैमाने के उत्पादन द्वारा अधिकाधिक लाभ कमाने में भी समर्थ हुए। स्पष्ट है कि जब उत्पादकों में समझौता ही हो गया तो मजदूर उत्पादकों की स्पर्धा से फायदा उठाने में असमर्थ हो गए। इन दोनों परिस्थितियों का एक परिणाम यह भी हुआ कि पूँजीवाद की उन्नतावस्था में पूँजी और श्रम की शक्ति की परीक्षा और भी अधिक कटु और विषम हो गई। एकाधि कार के आधार पर किए हुए संयोजन वित्त के विशाल परिणामों को एकत्रित करने में सहायक होते हैं। श्रम की बचत करने वाली बहुमूल्य मशीनें इन्हीं वर्द्धमान स्रोतों (द्रव्य) से खरीदी जाती हैं। जब पूँजी-वस्तुओं (capital goods) की मांग बढ़ती है तो इनका उत्पादन करने वाले उद्योग बहुत अधिक सम्पन्न हो जाते हैं। और जब पूँजी-वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों में लाभ की सम्भावना अधिक होती है, तो उनमें अधिकाधिक पूँजी लगाई जाती है। फलतः कभी-कभी उद्योगों का विकास असन्तुलित और अनुपात हीन हो जाता है। साधारणतया ऐसी प्रवृत्ति में कोई त्रुटि न होनी चाहिए, क्योंकि इस प्रकार के पूँजी उद्योगों के विकास के साथ कालान्तर में देश के मनुष्यों और सामग्रियों को अधिकाधिक वृत्ति मिलती है।

परन्तु, पूँजी-वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों की कुछ ऐसी विचित्र विशेषताएँ होती हैं, जो दुरूहताओं को जन्म देती हैं। ऐसे उद्योगों में उत्पादन 'घुमा-फिरा कर' (round about) होता है। चूंकि मशीनों के उत्पादन में अधिक समय लगता है, अतः ऐसे उद्योगों में निर्माण उसकी मांग के साथ प्रत्यक्ष रूप में संबद्ध नहीं हो सकता, और न यह 'अप्रत्यक्ष' उत्पादन व्यापारिक जगत में प्राप्त होने वाली वास्तविक परिस्थितियों से ही सम्बद्ध होता है। इसके ठीक विपरीत उपभोग की वस्तुएँ उत्पादित करने वाले उद्योगों की परिस्थितियाँ ऐसी वस्तुओं के

लिए जनता की मांग के साथ प्रत्यक्षतः सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध की प्रकृति स्पष्ट है। इन उद्योगों का प्रसार तभी हो सकता है, जब कि उनकी उत्पादित वस्तुओं की मांग बढ़ जाय। इसी प्रकार जब इन वस्तुओं की मांग कम हो जाती है, तो यह स्पष्ट है, कि उनका उत्पादन भी कम हो जाएगा। दूसरी ओर, पूँजी वस्तुओं के उद्योगों का उत्पादन उपभोग की वस्तुओं की मांग से प्रत्यक्षतः संबद्ध नहीं है, क्योंकि पूँजी वस्तुओं की मांग उपभोग-वस्तुओं की मांग से प्राप्त 'व्युत्पन्न मांग' (derived demand) है।

अपने तर्क को सिद्ध करने के लिए हम एक व्यवहारिक उदाहरण लेंगे। मानलीजिए कि उपभोग की वस्तुओं की मांग बढ़ रही है। परिणाम स्वरूप उपभोग-वस्तुओं का उत्पादन भी बढ़ जायगा। और जब ये उद्योग अधिक संख्या में वस्तुएँ उत्पादित करना प्रारम्भ करेंगे, और ये वस्तुएँ लाभ सहित बेची जायंगी, तो इन उद्योगों के स्वामी, अपने उद्योग को चालू रखने के लिए और अधिक मशीनें खरीदना चाहेंगे। पूँजी-वस्तुओं के स्वामी अपने उत्पादन की बढ़ती हुई मांग को देखकर या तो अधिक मात्रा में पूँजी-वस्तुएँ उत्पादित करना प्रारम्भ करेंगे या, अगर मांग बहुत अधिक है तो वे अपने उद्योगों के प्रसार की योजना बनाएँगे। यह प्रसार भविष्य में अधिक पूँजी वस्तुओं को उत्पादित कर सकने वाले नए उद्योगों को प्रारम्भ करके ही सम्भव है। परन्तु यह स्वाभाविक है कि इसमें बहुत अधिक समय लगेगा। और इसीलिए कभी कभी ऐसा भी होता है कि जब तक मशीनों और औजारों की बड़ी संख्या में उत्पादित किया जाय, स्वयं उनकी मांग ही कम हो गई होती है। वास्तविक संसार में ऐसी स्थिति सम्भव ही नहीं, किन्हीं परिस्थितियों में अवश्यम्भावी भी हो जाती है।

उदाहरणार्थ इस समय पूँजी-वस्तुओं, मशीनों आदि की मांग सारे संसार में बहुत अधिक है। अमरीका एक ऐसा भाग्यवान देश है, जो इस संसार व्यापी मांग की पूर्ति कर सकता है। अतः मशीनों और अन्य यंत्रों की इस बढ़ी हुई मांग की पूर्ति के लिए, अमरीकी उद्योगपति इस समय दो कार्य कर रहे हैं। वे या तो अपनी वर्तमान उत्पादक सामर्थ्य भर मशीनों का उत्पादन कर रहे हैं, या नए पूँजी-वस्तु-उद्योगों को बनाने की योजना कर रहे हैं, ताकि आगे आने वाले वर्षों में अधिक मशीनों का उत्पादन हो सके। इन दोनों प्रक्रियाओं में कुछ न कुछ समय अवश्य लगेगा। इसलिए यह भी सम्भव है, कि अमरीका मशीनों की संसार व्यापी मांग को सन् १९५६ के पहले पूरा करने में समर्थ न हो।

अब, खतरा यह है, कि जब अमरीकी उत्पादकों ने ऐसी वस्तुओं के उत्पादन तथा इन उद्योगों के प्रसार में अरबों डालर की पूँजी लगा दी है तो इसी बीच यह ज्ञात हो सकता है कि विविध कारणों से उपभोग वस्तुओं की मांग के कम हो जाने के कारण संसार भर के उद्योगपति पहले जितनी मशीनें नहीं खरीदना चाहते। जब यह बात होती है, तो पूँजी-वस्तुओं के उद्योगों में घबड़ाहट और आशंका का फैल जाना स्वाभाविक ही है। ऐसी दशा में उनके शेयरों और सुरक्षाओं का मूल्य गिर जाना भी निश्चित है; उससे आशंका और भी बढ़ेगी। ऐसे 'शेयरों' और सुरक्षाओं को उनके मालिक घबड़ाहट में जल्दी-जल्दी बेचना प्रारम्भ कर देंगे। पूँजी उन उद्योगों से हटा ली जायगी, और इस प्रकार उनमें से कई बन्द हो जायेंगे। स्मरण रखना चाहिए कि पूँजी-वस्तु-उद्योगों की यह विचित्र प्रकृति ही आधुनिक समय में से संसार के अधिकांश दुर्भाग्यों के लिए उत्तरदायी है।

जब ऐसी स्थिति विकसित हो जाती है, तो इन उद्योगों में सुधार करने में साधारणतया बहुत समय लगता है। इसी बीच जड़ता (stagnation) की स्थिति ग्रा जाती है। मन्दी की ग्रवस्था ग्रा जाने के कारण मशीन, मजदूर और सामग्री की वृत्ति कम हो जाती है, इसलिए मजदूरी और मूल्य दोनों घट जाते हैं। ऐसे समय सट्टा-बाजार में विश्वास गिर जाता है और ऋण की ग्रावश्यकता होती है। सट्ट-बाजार से प्रारम्भ हुग्रा ग्रार्थिक संकट धीरे-धीरे उत्पादन के साधनों का निर्माण करने वाले समस्त उद्योगों में फैल जाता है। पूँजी-वस्तु-उद्योगों के बन्द होने या ध्वस्त हो जाने से श्रम के बाजार में वृत्तिहीनता बढ़ती है, और यह बेरोजगारी उस घटी हुई मांग के साथ उपभोग -वस्तु-उद्योगों में ग्रधिक तीव्रता के साथ फैल जाती है। इससे वृत्तिहीनता को और ग्रधिक बल मिलता है। इसी बीच पूरे तौर पर मन्दी ग्रा जाती है, उत्पादन के प्रत्येक विभाग पर घातक प्रभाव पड़ता है और पूर्ण ग्रार्थिक विपन्नता (deprerssion) की स्थिति ग्रा जाती है।

ग्रब हम क्रमशः तेजी और मन्दी का विश्लेषण करेंगे। पुनरुत्थान (recovery) की स्थिति में उत्पादक प्रायः ग्राशावादी हो जाते हैं। ग्रधिक लाभ की संभावना देख कर वे व्यक्तिगत रूप से ग्रपने उत्पादन का प्रसार करना चाहते हैं। ग्रधिक उत्पादन का मतलब यह होता है कि व्यक्तियों, सामग्री तथा मशीनों की ग्रधिक नियुक्ति की जाय। इन साधनों की ग्रधिक नियुक्ति का फल यह होता है, कि समाज को ग्रधिक मात्रा में क्रय-शक्ति मिल जाती है। ग्रधिक क्रय-शक्ति पाकर उपभोक्ता बाजार में जाकर, सभी तरह की उपभोग की वस्तुएँ खरीदते हैं। इस प्रकार जब उपभोग वस्तुओं की मांग ग्रधिक होती है, मूल्य बढ़ जाते हैं। जब मूल्य बढ़ते हैं, तो लाभ भी बढ़ जाते हैं। ग्रतः निरन्तर मूल्य वृद्धि की ग्राशा तथा लाभ की ऊँची दर की सम्भावना में उत्पादक ग्रपने उत्पादन के पैमाने को और भी विस्तृत कर देते हैं। परन्तु उत्पादन तभी ग्रागे बढ़ सकता है, जब उत्पादक श्रमिकों, इंजीनीयरों, प्रबन्धकों, संगठन-कर्ताओं, कच्चे माल के व्यापारियों, मशीनों, शक्ति और यहां तक कि उधार देने वाले बैंकों तक को ग्रधिक प्रतिफल देने के लिए तत्पर हों। ग्रस्तु हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि ग्रधिक उत्पादन केवल ग्रधिक लागत पर ही संभव है।

जब उत्पादन की लागत बढ़ जाय तो उसका प्रतिबिम्ब बढ़ते हुए दामों पर दृष्टिगत होगा। चढ़ते हुए दाम सामान्यतः ग्रधिक लाभ का ग्राश्वासन देते हैं। इसलिए लाभ की ग्राशा में उत्पादन और ग्रागे बढ़ता है। परन्तु ग्रब उत्पादन के साधनों की पूर्ति करने वाले व्यक्ति उत्पादन में ग्रावश्यक ग्रपनी सेवाओं तक वस्तुओं के लिए और भी ग्रधिक प्रतिफल मांगेंगे। इस प्रकार की परिस्थिति ग्रनिश्चित काल तक नहीं रहने दी जा सकती। उत्पादन की प्रक्रिया में ग्रावश्यक वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए ग्रधिक दाम देना उद्योगपति कम पसन्द करेंगे। चूंकि ग्रधिकांश उद्योगों में मजदूरी ही उत्पादन की लागत में साधारणतया सबसे बड़ा मद होती है, ग्रतः इस स्थान पर पहुँच कर पूँजीपतियों और श्रमिकों में शक्ति की परीक्षा प्रारम्भ होती है। मजदूरों की माँगे अंशतः स्वीकार की जा सकती है, परन्तु उनमें से बहुतों की उपेक्षा भी की जा सकती है, क्योंकि पूँजीपति बहुमूल्य मशीनों को खरीदकर उस मजदूरी को कम कर सकते हैं, जो मशीन के ग्रभाव में उन्हें श्रमिकों को देनी पड़ती। परन्तु इन सारे प्रयत्नों के बावजूद, उत्पादन की लागत बढ़ती ही जाती है, और मूल्य भी बढ़ती हुई लागतों का

अनुसरण करते हैं। इस प्रकार बढ़े हुए दामों के कारण मज़दूरों के रहन-सहन की लागत भी बढ़ती जाती है। इस बढ़े हुए रहन-सहन की लागत को पूरा करने के लिए, श्रमिक अधिक मज़दूरी पाने के लिए और भी ज़ोर देते हैं। परन्तु इस स्थिति पर पहुँच कर पूँजीपतियों के सारे प्रयत्न और शक्तियाँ युक्तीकरण (Rationalizing) तथा उत्पादन की लागत को घटाने की ओर उन्मुख होते हैं। यह कार्य वे मुख्यतः उत्पादन में श्रम का कार्य और उसके प्रतिफल को घटाकर करते हैं।

जब यह सब हो रहा हो तो पूँजी-वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योग अच्छा मुनाफ़ा कमाते हैं। फलतः अधिक व्यक्ति अपनी पूँजी ऐसे ही उद्योगों में लगाने लगते हैं। ऐसी स्थिति में पूँजी-वस्तुओं से संबद्ध उद्योगों के 'शेयरों' और सुरक्षाओं (Securities) का मूल्य अप्रत्याशित रूप से बढ़ जाता है। अस्तु, पूँजी-वस्तुओं के उद्योग विकसित होते जाते हैं; वास्तविक संसार में प्राप्त दशाओं की अधिक चिन्ता वे नहीं करते। परन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, कि उत्पादन में मशीनों के बढ़ते हुए प्रयोग तथा उत्पादकों की एकाधिकारोन्मुख प्रवृत्तियों के कारण श्रमिक वर्ग को ऐसे अवसरों पर प्रायः उतनी मज़दूरी नहीं मिलती, जितनी कि वस्तुतः मिलनी चाहिए। वह वास्तव में मज़दूरों का प्रतिफल न केवल बढ़ी हुई रहन-सहन के लागत के लिए अपर्याप्त होता है, वरन् वह श्रम की सीमान्त उत्पादकता से बहुत कम भी होता है। दूसरे शब्दों में मज़दूर जितना उत्पादन करते हैं, उसके बराबर प्रतिफल नहीं मिलता। परिणाम यह होता है, कि जब उत्पादन भयंकर गति से बढ़ता जाता है, तो उसी अनुपात में या उसी दर से समाज की उपभोग करने की सामर्थ्य नहीं बढ़ती।

आजकल, उत्पादकों की दूसरी महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है—जितना भी सम्भव हो उतना उत्पादित करने का प्रयत्न करना। पूँजीवादी व्यववस्था में एक बड़ा दोष यह है कि उत्पादकों को ज्ञात ही नहीं रहता कि उनकी वस्तु के लिए उपभोक्ताओं की लगभग कितनी माँग होगी। दूसरा दोष यह है कि प्रत्येक उद्योगपति दूसरों को अपने उत्पादन के विस्तार की सीमा बतलाए बिना ही अपना उत्पादन बढ़ाता रहता है। इसलिए हर उत्पादक, व्यवहारिक रूप में प्रत्येक दूसरे उत्पादक के उत्पादन की वृद्धि के विषय में अनभिज्ञ रहता है। इसलिए समस्त उत्पादित मात्रा कभी माँग से कम होती है, कभी बिल्कुल बराबर होती है, और कभी अधिक भी हो सकती है। जब अन्तिम अवस्था होती है, तो उसे तत्कालीन माँग की दृष्टि से अत्युत्पादन कहा जाता है।

आर्थिकमंदी (Depression)—ऐसे समय सामान्यतः परेशानियाँ इस तरह प्रारम्भ होती है। जैसे-जैसे उत्पादन की लागत बढ़ती है, मूल्य भी बढ़ते हैं मूल्यों के बढ़ने के कारण उस समय उत्पादित वस्तुएँ बिक नहीं पाती, इस प्रकार प्रति वर्ष उत्पादक और थोक विक्रेता पहले से एकत्रित वस्तुओं को ही बाज़ार में बेचने के लिए रखते हैं। न बिकी हुई वस्तुओं के इकट्ठा होने के साथ-साथ मूल्य भी गिरने लगते हैं। परन्तु जब गिरते हुए मूल्यों का खतरा उत्पादकों के सामने आता है, तो वे प्रायः सावधान हो जाते हैं। ऐसे समय बैंक भी उधार देने के कठोर नियम बना देते हैं। ब्याज की दर ऊँची चढ़ जाती हैं। ऐसी अवस्था में व्यापारिक जगत में परिस्थितियाँ बिल्कुल स्थिर हो जाती हैं। उस समय न तो प्रसार होता है और न संकुचन ही। परन्तु व्यवहारतः पूँजीवाद में जड़ता की स्थिति उतनी ही भयानक है, जितनी

कि पतनशील स्थिति। सामान्यतः पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था या तो प्रसार करती है या संकोचशील होती है। वह कदाचित कभी स्थिर नहीं रहती। वास्तव में जड़ता की स्थिति बहुधा बुराइयों की सूचक होती है। उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली की यही गति है। तर्क की सहायता से इसे सरलता पूर्वक समझा नहीं जा सकता। परन्तु सामान्य रूप से होता यही है। जिस प्रकार उत्पादन की प्रत्येक प्रणाली के अपने गति के नियम होते हैं, उसी प्रकार पूँजीवाद भी इस विचित्र गति-शीलता का परिचय देता है।

जैसे ही जड़ता की स्थिति प्राप्त होती है, उत्पादन के क्षेत्र में पूर्ण गतिरोध आ जाता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, ऐसे समय परेशानी पहले पूँजी-वस्तुओं के उद्योगों से ही प्रारम्भ होती है, जो अत्यधिक विकसित होने के कारण सबसे पहले हानि उठाते हैं। उनके (हिस्सों) और सुरक्षाओं के मूल्य बिल्कुल गिर जाते हैं। उद्योगों की इस वर्ग की प्रगति में अवरोध होने के कारण समाज की सम्पूर्ण आय कम हो जाती है। सम्पूर्ण आय के कम होने के साथ उपभोग की वस्तुओं की मांग में स्वभावतः कमी हो जायगी। और जब माँग कम होती है, तो दाम भी गिर ही जाते हैं। परिणामतः उपभोग वस्तुओं के उद्योगों में भी अवनति होती है। जब उपभोग-वस्तुओं के उद्योगों को हानि पहुँचती है, तो वे पूँजी-वस्तुओं की मांग नहीं करते। और इस प्रकार पूँजी वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों को और भी हानि पहुंचती है। आतंकित पूँजी लगाने वाले इन उद्योगों से अपनी पूँजी हटाना प्रारम्भ कर देते हैं। अब पूँजीवाद की गाड़ी उलट जाती है। विध्वंसकारी परिस्थितियाँ शीघ्रता तथा सनसनीदार गति से कार्य करती हैं। वर्षों का परिश्रम और साहसोद्यम क्षण भर में नष्ट हो जाता है। वृत्तिहीनता सार्वदेशिक हो जाती है, और गरीबी तथा भुखमरी फैलती है। उद्योग-धन्धे बन्द हो जाते हैं। कच्चे माल और शक्ति के स्रोत नहीं बिक पाते हैं। इस प्रकार चतुर्मुखी मंदी फैल जाती है, जो एक देश को नहीं, वरन् एक के बाद एक करके संसार के सभी देशों को प्रभावित करती है। चूंकि आधुनिक काल में संसार के सभी भाग किसी न किसी रूप में परस्पर निर्भर हैं, इसलिए यदि संसार के किसी एक भाग में सम्पन्नता है, तो निश्चय ही वह अन्य भागों में भी फैलेगी। दूसरी ओर यदि किसी भाग में विपन्नता है, तो भी वह अन्य भागों में फैलेगी ही। आधुनिक संसार की अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति ही यही है। विपन्नता के प्रारम्भ होते-होते उन नैतिक तथा अन्य प्रकार के दुष्परिणामों के साथ, जो व्यापक रूप से राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करती हैं, व्यापक अधिक पीड़ाओं तथा सामाजिक कष्टों के बीच संकट का क्षण आ पहुँचता है। इस अधो-विन्दु से अवनति उन्नति की ओर अग्रसर होती है और अब प्रवैगिकता सीधे रास्ते पर चलने लगती है। फिर से इसी प्रक्रिया की आवृत्ति होती है जो अन्ततः संकट में समाप्त होती है। इस प्रकार यह देखा जायगा कि दो संकटों के बीच उद्योग एक प्रकार के वृत्त में घूमता है। यही कारण है, कि इस सम्पूर्ण घटना को 'व्यवसाय-चक्र' (Trade cycle) कहा जाता है।

स्थायी विपन्नता के चिन्ह

हाल ही में देखा गया है कि औद्योगिक उत्पादन की प्रगति के साथ ही, आर्थिक विपन्नता की शक्ति अधिकाधिक तीव्र होती जा रही है। परिणाम यह होता है, कि अवसर विपन्नता या मंदी द्वारा हुई क्षति और कष्ट का निराकरण करने में बहुत अधिक समय लगता है। चूंकि संसार

की अर्थ-व्यवस्था की प्रकृति अधिकाधिक औद्योगिक होती जा रही है, इसलिए आर्थिक विपन्नता संसार के अधिकाधिक भागों को प्रभावित करती है। और भी, कोई देश औद्योगिक दृष्टि से जितना ही उन्नतिशील होता है, विपन्नता उस देश को उतना ही अधिक क्षत-विक्षत करती है। फलतः बीसवीं शताब्दी में मंदी ने अमरीकी अर्थ व्यवस्था को ही सर्व प्रथम तथा सर्वाधिक हानि पहुँचाई। और सब से अधिक खतरनाक तो यह है, कि हाल में, पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के साथ एक प्रकार की स्थायी विपन्नता को संयुक्त देखा गया है। पूर्व काल में वृत्तिहीनता का बढ़ना और प्राप्त साधनों का पूर्ण उपयोग न होना केवल मन्दी की दशा में ही सम्भव था। परन्तु अब यह देखा जाता है। कि जब तेजी या सम्पन्नता उच्चतम शिखर को छूती रहती है। तब भी व्यक्ति तथा सामग्रियां काफी हद तक वृत्तिहीन और बेकार रहते हैं दूसरे शब्दों में पूँजी-वादी -व्यवस्था में मन्दी एक व्याधि बनती जा रही है। यह निस्संदेह एक विघ्न है ,जिससे कि कुछ विशेषज्ञों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अपनी उन्नत दशा में पूँजीवाद उस समय प्राप्त साधनों का उत्पादन में उपयोग कर सकने में अधिकाधिक असफल सिद्ध होगा।

ऐसे ही विश्वास से प्रेरित होकर लार्ड केन्स (Lord Keynes) जैसे प्रसिद्ध अर्थशास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जैसे-जैसे पूँजीवादी उत्पादन आगे बढ़ता है व्यक्तिगत रूप से उत्पादन में लगी हुई पूँजी धीरे-धीरे विनियोग की उस आदर्श मात्रा से कम होती जाती है, जो किसी समाज में व्यक्तियों और सामग्रियों की पूर्ण वृत्ति (full employment) की परिस्थितियां ले आने के लिये आवश्यक है। यह आदर्श विनियोग लगाना ही अनुकूलतम विनियोग कहलाता है। प्रकट रूप से यह विचार उतना गंभीर नहीं जान पड़ता, जितना कि वह वस्तुतः है। इन सम्भावनाओं से यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि वास्तविक (real) और अनुकूलतम विनियोग के बीच बढ़ते हुए अन्तर को राजकीय विनियोग से बराबर मिटाते रहना चाहिए अर्थात् जन-कार्यों, समाज सेवा के विकास आदि विषयों पर सरकार को अधिकाधिक व्यय करना चाहिए।

ठीक यही बात केन्स ने अपनी रचनाओं में कही है। उन्होंने इस पर बल दिया कि प्रत्येक वर्ष राज्य के व्यय को बढ़ते रहना चाहिए, ताकि वास्तविक तथा अनुकूलतम विनियोग के बीच का अन्तर दूर हो सके और देश के मनुष्यों और साधनों को पूर्ण वृत्ति मिलती रहे। समकालीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार एक आधुनिक और प्रगतिशील राज्य का उच्चतम आर्थिक आदर्श यही होना चाहिए कि देश में पूर्ण वृत्ति बनी रहे। स्पष्ट है कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों, जिन्होंने देश के आर्थिक जीवन में राज्य के हस्तक्षेप न करने का पक्ष ग्रहण किया था, के मौलिक विचारों से यह आधुनिक दृष्टिकोण कितना दूर है।

किन्तु पूँजीवाद के इस संकट को दूर करने के लिए प्रस्तावित उपचारों में से यह केवल एक है। हम इस समस्या के उपचारों या सुझावों की चर्चा यहां पर नहीं करेंगे, वरन् इसी तथ्य पर बल देंगे कि उत्पादन में तेज़ी की परिस्थितियां होने पर भी स्थिति किसी प्रकार सन्तोष जनक नहीं होती। उदाहरण के लिए तेज़ी में होने वाली घटनाओं में उत्पादकों द्वारा उत्पादन की प्रकृति को बदल देने की प्रवृत्ति (मूल्यों और लाभों को घटने से बचाने के लिए जब उपभोग की वस्तुओं की बढ़ती हुई पूर्ति के साथ उनकी माँग न बढ़े) सबसे अधिक गंभीर है। जब उत्पादकों को गिरते हुए मूल्यों की विषम संभावनाओं का सामना करना पड़ता है, तो वे यह प्रयत्न करते हैं, कि अपनी पूँजी को, ऐसे दूसरे या तीसरे उद्योगों के विकास में लगा दें, जो हर

तरह की विलास की सामग्रियों, अस्त्र-शस्त्रों, हानिकर वस्तुओं और अफ़ीम, कोकीन और संखिया जैसे मादक-द्रव्यों आदि के उत्पादन में प्रवृत्त हैं। चूंकि समाज के आय-वितरण में बहुत असमानता होती है, इसलिए ऐसी अनावश्यक व्यर्थ तथा हानिकर वस्तुएँ भी उत्पादित की जाती हैं, और अच्छे दामों पर बिकती हैं, जब कि अधिकांश मनुष्यों को दिन में दो बार भोजन भी नहीं मिलता। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ समय के लिए पूँजीवाद की यह समस्या, सुलझा ली जाती है, और मूल्यों में भयंकर पतन रोक दिया जाता है। परन्तु, जैसा हम देख चुके हैं यह समस्या बहुत थोड़े समय के लिए ही सुलझती है, क्योंकि पूँजी-तंत्र के ध्वंस का दिन अधिक समय तक स्थगित नहीं किया जा सकता, हमेशा की बात तो बहुत दूर है। अन्ततः जब यह देखा जाता है कि ऐसी वस्तुओं का भी इतनी अधिक मात्रा में उत्पादन किया जा चुका है, कि वे तर्क सम्मत दामों में नहीं बिक सकती तो मन्दी की अवस्था आ जाती है। परन्तु मन्दी, संकट और विपन्नतया के अतिरिक्त भी एक प्रश्न है: अधिक, नैतिक या आदर्शात्मक दृष्टि से ऐसी निर्थक और हानिकर वस्तुओं के उत्पादन को कहाँ तक न्याय संगत बताया जा सकता है, जब कि संसार की अधिकांश जनता या तो भूखी या आधा पेट खाकर रहती है?

परिवर्तन की आवश्यकता—अर्थशास्त्रियों तथा अन्य लोगों द्वारा पूँजीवादी उत्पादन की विविध स्थितियों की व्याख्या के लिए बहुत से सिद्धान्त निर्मित हुए हैं। उनकी यहाँ पर परीक्षा करना आवश्यक नहीं है, क्योंकि वे उस अर्थ-सिद्धान्त का अंग है, जो ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों का विषय है। हमारा कार्य 'व्यापार-चक्र' के प्रारम्भिक वर्णन द्वारा ही पूरा हो जायगा। हम किसी अच्छी व्यवस्था द्वारा वर्तमान व्यवस्था को स्थानान्तरित करने की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। सचमुच, यह एक विचित्र और गम्भीर बात जान पड़ेगी, कि बिना किसी संगति या तर्क के हमारी व्यवस्था में इस प्रकार के सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तन होते रहें। यह और भी बुरा है, कि संकट और मन्दियाँ वर्ग विरोधों को तीव्र करें और श्रमिकों की शोचनीय परिस्थितियों को उत्तेजना दें। ऐसी परिस्थिति उस श्रमिक वर्ग को झगड़े के लिये उद्यत हो जाने को विवश करता है, जो पहले पूँजीवाद के मित्र थे। हम अपनी बात का समर्थन सन् १९२९—३२ की आर्थिक मन्दी के अनुभवों द्वारा कर सकते हैं, जिसने यह सिद्ध कर दिया कि राष्ट्रों के जीवन में आर्थिक मन्दी कितनी भयानक घटना है। यातना, घोर निर्धनता व्यापक भुखमरी और मानव आत्मा की असह्य परीक्षा के रूप में आर्थिक मन्दी जिस बड़े मूल्य की माँग करती है, उसका अनुमान नहीं किया जा सकता। विश्व-युद्धों के पक्ष में यही अकेला सबलतम तर्क है। परन्तु यह समस्या का एक दूसरा पहलू है, जिसकी चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे।

अध्याय ६२

समाजवाद

पूँजीवाद के पोषकों और प्रवर्त्तकों ने औद्योगिक उत्पादन की एक ऐसी प्रणाली के जन्म की आशा दिलाई थी जिसके द्वारा विश्व में स्वर्ण युग का आरम्भ होगा, जिसमें प्रतियोगिता-पूर्ण व्यक्तिगत साहसोद्यम के सिद्धान्तों के पालन से न केवल एक ही देश के लोग सुखी होंगे, बल्कि सारा संसार, लगभग समान रूप से समृद्धि और विकास के सर्वव्यापक उत्सव में भाग लेगा। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी भविष्य-वाणी की थी कि विश्व शांति और एकता के स्वस्थ वातावरण में, संसार का प्रत्येक भाग अन्तर्राष्ट्रीय कलह या संघर्ष से मुक्त होकर, आर्थिक उन्नति के पथ पर अग्रसर होगा। किन्तु वास्तव में संसार ने अनुभव कुछ और ही किया।

औद्योगिक दृष्टि से उन्नति शील देशों तक में समृद्धि और सुख जन साधारण के हिस्से में न पड़ सका; और न वे अपने अपने देश की सम्पन्नता में ही भाग ले सके। वास्तव में जहां मनुष्यों का एक वर्ग अत्यधिक धनाढ्य हो गया था, वहीं उनकी एक बड़ी संख्या को कष्ट-मय तथा अरक्षित जीवन की यातना भुगतने को मिली थी। संसार की आर्थिक उन्नति भी निर्बाध गति से न हो सकी, कई देशों में तो गतिरोध आ गया। इसका कारण उत्साही एवं महत्वा-कांक्षी राष्ट्रों की स्वार्थमयी प्रवृत्ति थी। ऐसे राष्ट्र पिछड़े हुए देशों की आर्थिक उन्नति को अवरुद्ध कर उन्हें अविकसित ही बनाए रखना चाहते थे, जिससे वे अपने बनाए माल को उन देशों में बेचते रहें।

इसके अतिरिक्त उन्होंने यह धारणा बना ली थी कि 'करने दो' (laissezfaire) का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी बराबर लागू हो सकता है, और यदि यह व्यापार, बिना किसी बाह्य-शक्ति के संचलन या नियन्त्रण के, अपने आप चलने के लिए छोड़ दिया जाए, तो इससे पिछड़े देशों को उतना ही लाभ होगा जितना उन्नतिशील देशों को। परन्तु, वास्तव में, विशेषतया जर्मनी अमरीका और जापान जैसे महत्वाकांक्षी प्रतिद्वन्द्वियों के उदय होते ही, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मुक्त और अबाध नहीं रह गया। अन्तर्राष्ट्रीय प्रति स्पर्धा की दौड़ में अग्रणी होने को लालायित राष्ट्रों की सरकारों ने टैरिफ़, कोटा और आयात-करों की सहायता लेकर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अधिकाधिक अपनी स्वार्थपरता का अनुचर बनाने की चेष्टा की, और उसकी गति को कृत्रिम दिशाओं में मोड़ने और चलाने का अधिकाधिक प्रयत्न किया।

इस प्रकार, न्याय और समानता के आधार पर संसार की सामूहिक उन्नति असम्भव हो गई। उद्योगशील राष्ट्रों ने पिछड़े देशों पर राजनैतिक अधिकार प्राप्त कर लिया था। यहाँ उन्हें स्वनिर्मित माल के बेचने का एकाधिकार तो था ही, साथ ही, इन देशों के उद्योग धंधों को स्वेच्छा पूर्वक नष्ट भ्रष्ट करके, अपनी अतिरिक्त पूँजी लगाने की भी स्वतन्त्रता थी।

ऐसे अधिकारों का दावा उन राष्ट्रों ने भी किया जो इस संग्राम में बाद में उतरे। इसका परिणाम, एक ओर तो यह हुआ कि औद्योगिक देशों में परस्पर शक्ति-परीक्षण प्रारम्भ हुआ, तथा दूसरी ओर इन राष्ट्रों और पिछड़े देशों में, औपनिवेशिक शोषण के मसले पर संघर्ष

चला। इन घटनाओं ने विश्व-शांति और विश्व एकता के स्वप्नों को चिर स्वप्न बना दिया। वास्तव में समय की गति के साथ प्रतिद्वन्द्वी पूँजीपति राष्ट्रों के बीच विषमता और संघर्ष की खाई बढ़ती गई। अन्त में, विश्व के राजनैतिक क्षेत्र में उन्हें साम्राज्यवादी नीति को खुले रूप से अपनाना पड़ा।

जब समस्या इतनी विषम और जटिल हो गई, और विश्व-कल्याण, समृद्धि और शान्ति के सपने वायु में विलीन हो गए, तब अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों ने इस सांघातिक व्याधि के विश्लेषण की ओर ध्यान दिया। ऐसा करने से उनका उद्देश्य संसार की आर्थिक-स्थिति को युक्तियुक्त एवं न्याय संगत, बनाना था। सुझाव पर सुझाव आए, पर कोई भी ऐसा उपाय न बता सका जिससे इस कुत्सित व्यवस्था को खतम कर दिया जाता। उपचार तो दूर रहा, रोग के लक्षण का सही ज्ञान भी न हो सका।

समाजवादी धारणा का जन्म—औद्योगिक व्यवस्था के स्पष्ट दोषों और विषमताओं ने, इसके विपक्षियों को, पूँजीवाद के आर्थिक कुपरिणाम की आलोचना में और अधिक कटु और ओजपूर्ण बना दिया। स्मरण रहे कि पूँजीवाद के आलोचक पूँजीवाद के प्रादुर्भाव तथा प्रारम्भिक विकास के समय से ही विद्यमान थे। वास्तव में, पूँजीवाद के जन्म के पूर्व से ही समाजवादी और साम्यवादी विचारधाराएँ प्रचलित थीं। परन्तु जब तक, पूँजीवादी उद्योग मनुष्यों की कल्पना को, विश्व समृद्धि, स्वातंत्र्य, समानता, न्याय, और "सर्वे सुखिनः सन्तु" के स्वप्नों में चकाचौंध करने में समर्थ रहा, तब तक इसके आलोचकों को न तो आत्म-विश्वास हुआ और न वे दूसरों को अपने तर्क से प्रभावित ही कर सके।

परन्तु जब पूँजीवाद ने तेजी, मंदी, संकट, विपन्नता, बेकारी निर्धनता, और महायुद्ध के रूप में स्वयं अपने विनाश को जन्म दिया, तो इसके आलोचकों की आवाज़ अपेक्षाकृत अधिक सशक्त हो उठी तथा उनका तर्क अधिक युक्तिपूर्ण और विश्वसनीय प्रतीत होने लगा। उन्होंने नाना प्रकार की व्याख्याएँ उपस्थिति की, और कई प्रकार के उपचार भी बताए। इन आलोचकों में कुछ तो अवश्य क्रियात्मक सूझ बूझ रखते थे। ये लोग सुधार और शिक्षा पर ही अपने आन्दोलन को आधारित करते थे, परन्तु कुछ ऐसे थे जो स्वयं अपने विवेकहीन दृष्टिकोण के प्रभाव से विक्षिप्त से हो उठे थे। उदाहरण के लिए, सर्व प्रथम विलक्षण प्रतिक्रियावादियों का यह दल आया जो पूँजीवाद के समस्त दोषों का उपचार मशीनों के तोड़ने फोड़ने में समझता था, तथा अतीत के पुनरुत्थान के नारे बुलन्द करता था। स्वभावतः, ऐसे पागलपन का सफल होना तो दूर रहा, वह अधिक समय तक चल भी नहीं सका। इसके बाद वह दल आया जो पृथ्वी पर स्वर्ग की कल्पना करने लगा। ऐसे स्वर्ग की सृष्टि के लिए मनुष्यों में पारस्परिक होड़ के स्थान पर उनके सहयोग की आवश्यकता प्रकट की गई। राबर्ट ओवेन (Robert Owen) ने तो—जो इस विचार धारा के विशेष प्रवर्तक थे—एक आदर्श समाज की सृष्टि कर डाली। इस समाज का उद्देश्य, बेहूदी-प्रतियोगिता और दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली को समाप्त करना था, तथा धार्मिक, सांस्कृतिक एवं नैतिक तत्वों के प्रचार से शांति एवं समृद्धि की प्राप्ति करना था। परन्तु यथार्थ-वादियों तथा व्यवहारिक बुद्धि वाले मनुष्यों को यह सीधी भली सूझ, पूँजीवाद की भयंकर समस्या को हल करने में असमर्थ लगी।

इसके अतिरिक्त अन्य लोगों ने अन्य भिन्न-भिन्न विचार-धाराओं और नीतियों का प्रचार किया। वे सभी, श्रमिक-संगठन को श्रम-संघ (trade union) पर आधारित करने के विषय में एक मत थे। मज़दूरों की मांगों की सुनवाई और पूर्ति के लिए, पूँजीपतियों के झुकाने का एक मात्र साधन "श्रम-संघ" ही समझा जाने लगा। "श्रम-संघों" पर अधिक महत्व दिये जाने के कारण ऐसे कई संघ ब्रिटेन, और दूसरे योरपीय देशों में बनाए गए। किन्तु श्रम संघ पर आधारित, इस मज़दूर संगठन ने पूँजीपतियों और मज़दूरों के बीच संघर्ष को कम करने के बदले उसे और भी अधिक बढ़ा दिया। मज़दूर संगठन के प्रत्युत्तर में पूँजीपतियों ने स्वयं अपना एक गुट बनाया, जिसका उद्देश्य केवल मज़दूरों के मुख पर एक ज़ोरदार तमाचा मारना था। इन दोनों दलों के बीच जो यह नया "युद्ध" चला वह अधिक गंभीर और भयानक था। इसी समय एक दूसरा मत जनप्रिय हो रहा था। इस मत के अनुसार आर्थिक और सामाजिक सभी प्रकार की कुरीतियों का कारण वैयक्तिक सम्पत्ति की व्यवस्था थी। फ्रांसीसी लेखक प्रूधों (Proudhon) ने तो साफ साफ कहा: "सम्पत्ति चोरी है, और सम्पति के स्वामी चोर हैं।" उनका कहना था कि किसी प्रकार से यदि "सम्पत्ति" का उन्मूलन हो जाए, तो आर्थिक संसार सुखमय हो जाएगा।

लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था के आलोचक, पूँजीवाद के दोषों के असली स्वरूप से उतने ही अनभिज्ञ थे जितना पूँजीवाद के पोषक और प्रवर्त्तक इसके हठी विचित्र स्वभाव से चकित थे। किसी निश्चित ज्ञान के अभाव में सभी अंधकार में ठोकरें खा रहे थे। आदर्शवादी तथा स्वप्न-दर्शी इस जटिल स्थिति से बाहर निकलने के उपाय बताने में असमर्थ रहे। और क्रान्तिकारियों को भी केवल अपने मौलिक सिद्धान्तों की निस्फलता का ही ज्ञान हुआ।

जो लोग पूँजीवादी प्रथा की आलोचना करके उसे दोषी ठहराते थे, समाज-वादी कहलाए, तथा उनके सिद्धान्तों को "समाज वाद" की संज्ञा दी गई। इन सब का उद्देश्य मूल रूप से सामाजिक सुधारों तथा समुचित-वितरण की योजनाओं द्वारा पूँजीवाद की प्रथा में सुधार, काँट-छाँट या रूपान्तर करना था। किन्तु किसी ने भी ऐसा व्यवहारिक सुझाव न बताया जिससे उक्त उद्देश्यों की पूर्ति होती। और जिन्होंने कुछ उपाय बताए भी, वे स्वयं उनको कार्यान्वित करने की विधि से अवगत न थे जो पूँजीवाद का उन्मूलन कर उसके स्थान पर अधिक मानवोचित व्यवस्था को जन्म देती। आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण उनकी सारी योजनाएँ काल्पनिक एवं अव्यव-हारिक सी थी। यद्यपि सभी ने पूँजीवाद की नृशंसता के विरुद्ध काफी गर्जना की, कि इसी व्यवस्था के बल पर काहिल धनी-वर्ग, ईमानदार मज़दूरों का शोषण कर इतना समृद्धशील हो गया था, किन्तु कोई भी ऐसी व्यवस्था की रूपरेखा न बता सका, जो पूँजीवाद का स्थान ग्रहण करती। यह केवल कार्ल मार्क्स (Karl Marx) की ग्राह्य एवं सामंजस्यमयी प्रतिभा थी, जिसने अन्त में औद्योगिक प्रणाली के दोषों और कुरीतियों का वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण किया और उस विधि का भी निर्देश किया जिसके द्वारा पूँजीवाद को नष्ट कर समाजवाद की सृष्टि हो सकती थी। ऐसे दृष्टिकोण में आस्था रखने वालों को भी "समाजवादी" कहते हैं।

समाजवाद का सिद्धान्त—लेकिन समाजवादी भी कई प्रकार के होते हैं, अतः समाजवादियों की परिभाषा बताना नितान्त असम्भव है। साधारण समाजवादियों के अतिरिक्त विप्लववादी (anarchists), संघवादी (syndicalist), गिल्ड समाजवादी (Guild

socialist), राज्य समाजवादी (state socialists), साम्यवादी तथा अन्य प्रकार के दल हैं। यद्यपि इन सब का कार्यक्रम (programme) एक दूसरे से भिन्न है, तो भी, वैज्ञानिक ढंग से इन्हें समाजवाद के मौलिक सिद्धान्तों से अलग नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, बहुत से शास्त्रीय (academic) उपसिद्धान्त हैं, जो अपनी आर्थिक नीति के प्रतिपादन में, समाजवाद से ही प्रेरणा लेते हैं और समाजवाद के बिल्कुल निकट आ जाते हैं*। इन भिन्न भिन्न तथा कुछ अर्थों में विरोधात्मक विचारधाराओं को दृष्टिगत करते हुए समाजवाद की ऐसी परिभाषा देना, जो सर्वमान्य हो, बहुत कठिन होगा। उदाहरण के लिए जार्ज बर्नार्ड शॉ, जो स्वयं एक समाजवादी थे, समाजवाद की परिभाषा करते हुए कहते हैं कि इसमें "व्यक्तिगत पूँजी का पूर्ण रूप से तिरस्कार होता है और इस प्रकार प्राप्त जनता के धन को समस्त देशवासियों में बिना किसी भेद के, बराबर बाँट दिया जाता है।" किन्तु यह विवेचना, कई समाजवादियों द्वारा प्रतिपादित सामाजिक व्यवस्था (social order) से मेल नहीं खाती। ऐसी परिस्थिति में, समाजवाद की सर्वमान्य परिभाषा के स्थान में यह अधिक अच्छा होगा कि हम इसके आधारभूत सिद्धान्तों की विवेचना करें, तथा इसके उद्देश्यों का स्पष्टीकरण करते हुए, इसकी प्राप्ति के साधनों का उल्लेख करें।

समाजवादी, औद्योगिक समाज में प्रचलित सभी दोषों का निरूपण और उनकी व्याख्या पूँजीवादी व्यवस्था में कूट कूट कर भरे स्वाभावगत दोषों के रूप में करते हैं। उदाहरण के लिए वे औद्योगिकों की पारस्परिक प्रतियोगिता और लाभ के प्रति उनके लालच को ही सब कष्टों का मूल बताते हैं। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं, कि जब तक उत्पादन इन संकीर्ण और बेहूदी प्रथाओं पर आधारित रहेगा, विश्व समृद्धि और जन कल्याण असम्भव बातें हैं। उनका कहना है: चूंकि एक विशेष समय के बाद पूँजीपति को उत्पादन में कमी करने से ही लाभ होता है, (क्योंकि उत्पादन की अधिक वृद्धि मूल्य या लाभ दोनों में कमी लाती है) इसलिए लाभ का लालच उत्पादन की बढ़ती पर अंकुश रखता है। अतः उनके मतानुसार सभी के सुख या हित के लिए पूँजीवादी उत्पादन में लाभ प्राप्ति की इस प्रवृत्ति को हटा देना चाहिए।

लेकिन अब लाभ ही का उन्मूलन हो जाएगा तो कोई औद्योगिक उत्पादन करना क्यों चाहेगा? क्योंकि पूँजीवाद में चीजों का उत्पादन जनहित की भावना से नहीं किया जाता। इसके उत्तर में समाजवादियों का कथन है कि अलग-अलग व्यक्तियों को उत्पादन का मालिक न रहने दिया जाए, तथा उनके स्थान पर उत्पादन की सभी साधनों तथा माध्यमों पर राज्य का स्वामित्व हो जाना चाहिए क्योंकि राज्य जनता के हित के लिए उत्पादन करेगा न कि

---

*उपर्युक्त विचारधाराओं के अतिरिक्त, जो अपने उद्भव और प्रेरणा में समाजवादी है, कुछ राजनैतिक सम्प्रदाय भी ऐसे हैं जो अपने को रूप और आत्मा में समाजवादी ठहराते हैं, किन्तु जो तत्व और वास्तविकता में समाजवादी नहीं है। हिटलर का राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism) इसका अच्छा उदाहरण है। इस 'राष्ट्रीय समाजवाद' के कार्यक्रम में कुछ अंग ऐसे अवश्य थे जिनकी समता समाजवाद से हो सकती थी, लेकिन इस आधार पर, नाजीवाद का समाजवाद के अन्तर्गत अध्ययन करना बड़ी भूल होगी क्योंकि राष्ट्रीय समाजवाद अगर कुछ भी था, तो वह समाजवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया मात्र था।

अपने स्वार्थ के लिए*। दूसरे शब्दों में जब राज्य उत्पादन का कार्य अपने ऊपर ले लेगा तो वह उतनी ही मात्रा में उत्पादन करेगा, जितनी कि मनुष्यों की आवश्यकता होगी; ऐसा करने में चाहे उसे मुनाफा (profit) हो या न हो। यदि किसी दिशा में राज्य को हानि होगी, तो उसकी पूर्ति अन्य दिशा में हो सकती है। इसके विपरीत यदि उत्पादन में उसे लाभ होगा, तो यह अतिरिक्त आय राज्य की सामान्य आमदनी में शामिल कर ली जायगी, और इसका प्रयोग जन-साधारण के हित के लिए ही होगा।

उत्पादन के क्षेत्र से, लाभ के हट जाने पर घातक प्रतियोगिता अपने आप बंद हो जायगी, कम से कम वर्तमान रूप में तो न रहेगी। और यदि समाजवादी राज्य में प्रतियोगिता होगी भी, तो वह बिलकुल भिन्न प्रकार की होगी और उसके उद्देश्यों में भी अन्तर होगा। इस प्रतियोगिता व्यक्ति परस्पर, एक दूसरे से अधिक माल का उत्पादन करने की होड़ करेंगे। ऐसा करने में उन्हें राज्य को अधिक सुदृढ़ बनाना होता है, ताकि राज्य जनता की रक्षा और हित के लिए अधिक सुचारुपूर्वक कार्य कर सके। इसके अतिरिक्त जब गंदी और अस्वस्थ प्रतियोगिता को एक बार सैद्धान्तिक दृष्टि से तिरस्कृत कर दिया जाएगा, तो मज़दूरों की अधिकांश समस्याएँ अपने आप हल हो जाएँगी। वास्तव में, मज़दूरों की समस्याओं का आरम्भ पूँजीपतियों की शोषण की इच्छा से होता है। वे मज़दूरों को कम से कम मज़दूरी देना चाहते हैं; मज़दूर इसका विरोध करते हैं; और पर्याप्त मज़दूरी पाने के लिए, उचित और अनुचित सभी ढंगों का आश्रय लेते हैं। लेकिन इस दिशा में मज़दूरों को बड़ी मुश्किल से सफलता मिलती है; इसका कारण उनके बीच मौजूद प्रतियोगिता की भावना है, जो उनके सामूहिक अनुशासन तथा उनकी संघ शक्ति का ह्रास करती है। और जब वे अपने वर्ग और समाज की इस दुर्बलता को दूर करने के लिए श्रम संघ बनाते हैं, तो पूँजीपतियों की भी दलबन्दी हो जाती है, और फिर जो संग्राम छिड़ता है, उसमें पूँजीपति ही को स्वार्थ-साधन में सफलता मिल जाती है, क्योंकि उसे ही इस युद्ध में सर्वाधिक सुरक्षित स्थान मिलता है।

इस प्रकार की समस्याओं का हल समाजवाद में अनायास ही हो जाएगा। जब राज्य स्वयं उत्पादन पर स्वामित्व प्राप्त कर लेगा, तो वह मज़दूरों को पर्याप्त मज़दूरी देने की व्यवस्था करेगा। प्रारम्भिक अवस्था में सम्भव है कि मज़दूरी बहुत अधिक न हो, परन्तु जैसे जैसे समाजवादी-प्रयोग प्रगति की ओर कदम उठाता जाएगा श्रमिक-वर्गों की मज़दूरी में तदनुसार वृद्धि होती जायगी। समाजवादी राज्य पूँजीवाद की भांति व्यक्तिगत व्यवस्था नहीं है, अतः इसका

---

*हम पहले कह चुके हैं कि भिन्न-भिन्न समाजवादियों के दृष्टिकोणों में बड़ी भिन्नता होती है। आर्थिक क्षेत्र में राज्य के महत्वपूर्ण भाग के विषय में अधिकांश समाजवादी एक-मत है। लेकिन विप्लववादियों (anarchists) के विचार मूलतः भिन्न हैं। यों तो राज्य के प्रति समाजवादियों के दृष्टिकोणों में काफी अन्तर है, उदाहरण के लिए राज्य समाजवादी (state socialists) उत्पादन पर राज्य-स्वामित्व (state ownership) के हिमायती हैं, तथा सहकारी समाजवादी (cooperative socialists) नौकरशाही की आशंका के कारण उत्पादन क्रिया को व्यक्तिगत उत्पादकों पर ही आश्रित रखते हैं; संघवादी गिल्ड समाजवादी तथा औद्योगिक समाजवादी विचार भी करीब-करीब ऐसे ही हैं, किन्तु विप्लववादियों ने राज्य को समस्त शोषण का मूल बता कर सीमा पार कर दी है। उनका कहना है ह कि उस वक्त तक कोई समुचित-सामाजिक व्यवस्था नहीं बन सकेगी, जब तक राज्य नाम की चीज विद्यमान है।

उद्देश्य स्वयं अपने को धनी बनाना नहीं होता। इसके अन्तर्गत मज़दूर जो कुछ भी पैदा करेंगे वह अन्ततोगत्वा उन्हीं को प्राप्त होगा चाहे व अधिक मज़दूरी के रूप में मिले या अन्य सुविधाओं के रूप में। इस प्रकार श्रमिकों के शोषण का अन्त हो जाएगा।

इसी प्रकार, बेकारी, हड़ताल, तालेबन्दियाँ तथा अन्य दोषों का भी अन्त हो जाएगा। उदाहरण के लिए बेकारी, उसी समय होती हैं, जब मज़दूरों की पूर्ति उनकी माँग से अधिक हो जाती है, या पूँजीपति अधिक-उत्पादन द्वारा गिरती हुई कीमत को रोकने के लिए उत्पादन में कमी करने की कोशिश करते हैं। समाजवाद में ऐसी अनिश्चितता नहीं होगी, क्योंकि समाजवादियों की पहली प्रतिज्ञा पूर्ण वृत्ति (full employment) ही का प्रबन्ध करना है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को, जो काम करने का इच्छुक हो, शरीर से हृष्ट पुष्ट हो, तथा प्रचलित मज़दूरी पर काम करने को तैयार हो काम दिलाया जाएगा। समाजवाद में बेकारी हो ज़रूर सकती है, लेकिन वह अस्थायी होगी, जिसका कारण कोई सामयिक परिवर्तन ही हो सकता है। लेकिन दीर्घकालीन या स्थायी वृत्तिहीनता नाम की कोई चीज़ नहीं होगी। हड़ताल और तालेबन्दियों का भी समाजवाद में कोई स्थान नहीं होगा।

इस बात पर दुबारा बल देना अनुचित न होगा कि समाजवादी व्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य देश में प्राप्त सभी मनुष्यों और उपकरणों के उपयोग से आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन इस प्रकार करना है कि प्रत्येक व्यक्ति का रहन सहन एक न्यायोचित स्तर का हो जाए। जब प्रत्येक व्यक्ति को इन आवश्यकताओं का पर्याप्त भाग प्राप्त हो जाएगा, तभी आरामदायक वस्तुओं और विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन की ओर ध्यान दिया जायगा। और अन्त में यदि ऐसी स्थिति उपस्थिति हो जाए, कि मशीनों के प्रयोग से जीवन की सभी उत्तम वस्तुओं के उत्पादन हो चुकने के बाद भी कुछ ऐसे मनुष्य हों जिन्हें काम की आवश्यकता है। तो श्रमिकों के काम करने के समय में कमी कर दी जायगी। वास्तव में समाजवादी प्रयोग के प्रारम्भ ही में काम करने के औसत घंटों में कमी करने की आवश्यकता प्रतीत होगी। बाद में, तो यह कमी निश्चित ही है, क्योंकि उस समय समाजवादियों के सम्मुख हर एक व्यक्ति को नौकरी दिलाने का प्रश्न होगा—चाहे इस कमी का अर्थ दिन में केवल एक घंटे के काम ही से क्यों न हो। निस्संदेह ऐसा प्रबन्ध वर्तमान व्यवस्था से—जिसमें बहुत से तो बेकारी के शिकार होते हैं, तथा जो दूसरे काम करते हैं उन्हें इतनी देर तक तथा इतने परिश्रम से कार्य करना पड़ता है कि उनका जीवन नीरस तथा स्वास्थ्य क्षीण हो जाता है—कहीं अच्छा है।

सबसे गम्भीर अभियोग जो पूँजीवादी सभ्यता के विरुद्ध आरोपित किया जाता है, वह यह है कि यह व्यवस्था विभिन्न सामाजिक और आर्थिक वर्गों की आयों में भयंकर असमानता को जन्म देती है। यह सभी जानते हैं कि इस असमानता का कारण है, उत्पादन के साधनों पर केवल कुछ लोगों का स्वामित्व। इसी की वजह से मनुष्यों की एक बड़ी संख्या "पानी खींचने वालों" तथा "लकड़ी काटने वालों" के स्तर को प्राप्त होती है। समाजवादी इस दूषित असमानता के कट्टर विरोधी हैं। उनके मत के अनुसार सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण के बाद इस असमानता का प्रश्न ही नहीं उठेगा, और यह समस्या बिना किसी कठिनाई के हल हो जायगी।

प्रश्न यह उठता है: उत्पादन प्रणाली पर स्वामित्व ही अकेले इस असमानता का कारण नहीं है। असमान तनख्वाहें और मज़दूरी भी इस असमानता को बढ़ाने में योग देती और दे

सकती हैं। इसीलिए समाजवादी विभिन्न वर्गों की अन्धाधुंध असमान तनख्वाहें देने में विश्वास नहीं करते। एक आदर्श समाजवादी समाज में, मनुष्यों को तनख्वाहें उनके कार्य के अनुपात में नहीं अपितु उनकी आवश्यकताओं के अनुसार दी जाएंगी। जब यह नियम एक बार बन जायगा, आय की असमानता का अन्त हो जाएगा, लेकिन समाजवादी आन्तरिक काल में अवश्य विभिन्न वर्गों को भिन्न-भिन्न तनख्वाहें देने में विश्वास करते हैं। वे ठीक ही सोचते हैं कि समाजवादी प्रयोग की प्रारम्भिक अवस्था में किसी अस्थायी समझौते के बिना, सम्भव है कि उत्पादन में कुछ जटिल अड़चनें उपस्थित हो जायें। फिर मानव स्वभाव ऐसा ही है कि इसमें एकाएक परिवर्तन या सुधार नहीं लाया जा सकता। अतएव समाजवादियों ने समझौते की इस नीति को अपने उच्च सिद्धान्तों में स्थान दिया है। असमान तनख्वाहों से जो आर्थिक असमानता होगी, उसे कम करने के लिए प्रगामी कर नीति (progressive tax) की सहायता ली जाएगी।

अन्य सुधार—इसके अतिरिक्त, समाजवाद में अन्य छोटे छोटे सामाजिक और आर्थिक सुधारों के लिए भी बहुत बड़ा क्षेत्र है। उदाहरण के लिए वर्तमान समय में जबकि जीवन की आवश्यक वस्तुओं का ही पर्याप्त रूप से उत्पादन नहीं होता, दिखावटी, अनावश्यक और हानिकारक वस्तुएं काफी मात्रा में बनाई जाती हैं, क्योंकि इन चीज़ों का उत्पादन आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन से कहीं अधिक लाभदायक होता है। समाजवाद में ऐसी बात नहीं होगी। समाजवादी व्यवस्था केवल समाज के लिए आवश्यक और उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन करेगी। जीवन को सुखमय बनाने के लिए चीज़ों का उत्पादन होगा अवश्य, लेकिन ये चीज़ें उसी हालत में बनेंगी, जबकि आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन पर्याप्त मात्रा में हो चुकेगा। दूसरे शब्दों में समाजवाद में, प्रथम वस्तु को प्रथमता दी जाएगी, तथा सामाजिक और नैतिक मान्यताओं का पूर्ण रूप से अवलम्बन होगा।

आजकल प्रतिद्वन्दी उत्पादकों द्वारा लाखों रुपया विज्ञापनों तथा लोक प्रसिद्धि के लिए बिक्री करवाने में पानी की तरह बहा दिया जाता है। ये प्रतिद्वन्दी चाहते हैं कि उनके द्वारा बनाया हुआ ही माल बिके, दूसरों का नहीं। सामाजिक दृष्टिकोण से यह सर्च बिल्कुल फिजूल है। जब माल की पूर्ति मांग की अपेक्षा कम हो, तो विज्ञापनों पर इस प्रकार रुपया बर्बाद करना बुद्धिमानी का लक्षण नहीं है। चूंकि समाजवादी प्रणाली में प्रतिद्वन्द्वी उत्पादक नहीं होंगे, अतः विज्ञापन पर फिजूल खर्चे का प्रश्न ही नहीं उठता। समाजवाद में अधिकारी वर्ग, उपभोक्ताओं की माँग और अभिरुचि को दृष्टि में रखते हुए केवल उन्हीं चीज़ों का उत्पादन करेंगे जिनकी जन-साधारण में सामान्यतः माँग होगी और जिनके उपभोग से लोगों को हानि न होगी। विचारहीन उत्पादकों की आजकल यह आदत सी हो गई है कि वे खाद्य पदार्थों तथा औषधियों में मिलावट कर देते हैं। ऐसी कुप्रथाएँ समाजवाद में नहीं होंगी।

इसके अतिरिक्त यह सभी जानते हैं कि संकट के क्षण में यदि कीमतों के तेज़ी से गिरने की आशंका होती है, तो व्यवसायी लोग अपने उत्पादन के बड़े भाग को नष्ट कर देते हैं। इस तरह जब कि लाखों भूखे और नंगे रह कर जीवन व्यतीत करते हैं, समाज के लिए लाभप्रद और आवश्यक चीज़ों को जानबूझ कर बेरहमी के साथ नष्ट कर दिया जाता है। इसी प्रकार मौजूदा पूँजी से अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए वे उन वैज्ञानिक अविष्कारों

एवं अनुसंधानों को दबा देते हैं, जिन पर अक्सर वे स्वयं बहुत रुपया खर्च करते हैं। यदि कोई आविष्कार ऐसे क्रान्तिकारी स्वभाव का हो, कि उसके प्रयोग से व्यवसायी विशेष को अपने समस्त औद्योगिक ढांचे को बदलना या नष्ट करना पड़ेगा, तो वह उस वैज्ञानिक रहस्य को या तो लम्बी अवधि तक या सदा के लिए गुप्त रखेगा। इस कुप्रथा का घातक प्रभाव यह होता है कि मानवता ज्ञान की वृद्धि से वंचित रह जाती है और उक्त वैज्ञानिक से भी उसे कोई लाभ नहीं होता। यह रहा दुर्व्यवस्था का एक पहलू। दूसरा पहलू यह है कि कोई नवागन्तुक व्यवसायी, ऐसे आविष्कार को पा जाता है जिसके प्रयोग से उत्पादन की लागत में तीव्र कमी आ सकती है, तो वह उसे फौरन अपना लेता है। इस कार्य द्वारा वह अप्रत्यक्ष रूप में, प्रतिद्वन्दी उत्पादकों को बाध्य करता है कि यदि वे उत्पादन के क्षेत्र में रहना ही चाहते हैं, तो अपने वर्तमान औद्योगिक ढांचे को बदल डालें। इस प्रकार करोड़ों रुपए की लागत की औद्योगिक सामग्री क्षण मात्र में धूल में मिल जाती है। और इन सब का कारण है पूँजीवाद में प्रतिष्ठित प्रतियोगिता की भावना। हम देखते हैं कि उपर्युक्त दोनों परिस्थितियों के परिणाम को समाज ही भुगतता है। हां, जब राज्य उत्पादन के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी हो जाएगा, तभी इस प्रकार के सामाजिक एवं आर्थिक विनाश को हटाया जा सकता है।

यह किस प्रकार होगा ? लेकिन यह सब इतना आकर्षक है कि इसके सत्य होने में भी संदेह हो सकता है। यह प्रश्न हर एक व्यक्ति के हृदय में उठ सकता है कि इस वृहत् परिवर्तन को लाएगा कौन, और कैसे लाएगा। दूसरे शब्दों में, आर्थिक राजनैतिक और सामाजिक प्राप्ति के लिए, समाजवादियों द्वारा निर्दिष्ट नियमों तथा साधनों के जानने की जिज्ञासा सभी को हो सकती है। भिन्न-भिन्न समाजवादियों के नियम उनके आदर्श और प्रकृति के अनुसार, भिन्न-भिन्न होते हैं। क्रान्तिकारी समाजवादियों के विचार में मज़दूर ही पूंजीवादी व्यवस्था में सबसे अधिक पीड़ित और शोषित होते हैं, अतः उन्हीं को समाजवाद की प्राप्ति के लिए संगठित मोर्चा प्रस्तुत करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हिंसात्मक विद्रोह के द्वारा ही अभिनव समाज की सृष्टि हो सकती है। उनका विश्वास है कि जब दलित या सर्वहारा वर्ग (Proletariat) अपने ऐतिहासिक कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक होकर बढ़ेगा, तो दुनियाँ में कोई ऐसी शक्ति नहीं जो उसे इस उद्देश्य की प्राप्ति से पीछे हटा सके। वे हड़ताल को क्रान्ति का हथियार मानते हैं। लेकिन विश्व-क्रान्ति के लिए वे स्थानीय मज़दूर संघों के स्थान में फ़ौजी ढंग के आम हड़ताल को ही मान्यता देते हैं।

दूसरे वर्ग के समाजवादियों का कहना है कि यदि हड़तालें प्रायः होने लगें और व्यापक हो जाएँ तो पूँजीपतियों को मज़दूरों की माँग की आगे झुकना पड़ेगा। इसी बीच सच्ची प्रजातन्त्र भावना के परिणाम स्वरूप जब राज्य पर सामूहिक शक्ति का प्रभाव पड़ेगा, तो वह मज़दूर वर्ग के विचारों का समादर करने में बाध्य हो जाएगा। और जब राज्य का दृष्टिकोण ऐसा हो जाएगा तो वह न केवल पूँजीपतियों को मजदूरों की माँग पूरा करने के लिए बाध्य करेगा, अपितु स्वयं उद्योगों के क्रमिक राष्ट्रीयकरण की ओर ध्यान देगा। इस प्रकार से पूँजीपतियों के विरुद्ध तीन शक्तियाँ कार्य करेंगी। प्रथम यह कि संगठित मज़दूरों की बढ़ती हुई शक्ति के प्रभाव से लाभ की रकम में बराबर और लगातार कमी होती जाएगी। दूसरे, जब प्रजातन्त्र राज्य स्वयं उद्योग के राष्ट्रीयकरण की ओर ध्यान देंगे, तो पूँजीपतियों की स्थिति और भी कठिन हो

जाएगी। तीसरे, संसार या देश की कुल पूँजी की मात्रा में वृद्धि के कारण लाभ की रकम में जो स्वाभाविक कमी होगी, उससे पूँजीवाद नष्ट हो जाएगा। जहां ये समाजवादी यह सोचते हैं कि इन कारणों के पूर्ण रूप से घटित होने के साथ ही पूँजीवाद का अनायास ही उन्मूलन हो जाएगा, वहीं एक दूसरा वर्ग मज़दूरों के सैनिक संगठन के हिंसात्मक विद्रोह में विश्वास करता है। इस वर्ग में साम्यवादी आते हैं।

समाजवादी समाज के बन जाते ही, समाजवादियों के कर्त्तव्यों की इति श्री नहीं हो जायगी। वास्तव में समाजवाद तो निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मात्र है—और यह लक्ष्य है सामाजिक-कल्याण की अधिक से अधिक श्री वृद्धि करना। पूँजीवाद का स्थान जब समाजवाद ग्रहण करेगा, तो उसे उत्पादन, वितरण तथा विनिमय की समस्त प्रणाली को बदलना पड़ेगा, ताकि समाजवादियों द्वारा की गई प्रतिज्ञाएँ पूरी हो सकें। चरमलक्ष्य की प्राप्ति का जो ढंग वे बताते हैं, वह आर्थिक आयोजन (economic planning) है। समाजवाद में आयोजक अधिकारी-वर्ग व्यक्तिगत उत्पादक का स्थान ग्रहण करेगा। आयोजन अधिकारी मनुष्यों की सामूहिक एवं प्रजातन्त्रात्मक अभिरुचि पर विचार करते हुए, उन चीज़ों का उत्पादन करेंगे जिनकी माँग सबसे अधिक होगी।

प्रगति और शान्ति—जब ऐसे आदर्श समाज की प्रतिष्ठा हो जाएगी, तो विदेशों में, शोषण की इच्छा से, माल भेजने का प्रश्न नहीं उठेगा। चूंकि विदेशी व्यापार स्वयं राज्य के द्वारा होगा, अतः केवल उन्हीं चीज़ों का निर्यात होगा जिसके द्वारा आयात का होना संभव होगा। पूँजी को बाहर भेजने का भी अवसर नहीं रहेगा क्योंकि देश की पूँजी का प्रयोग देश ही की उन्नति में होगा। पूँजीपति लोग, अधिक मुनाफे के लिए अपनी पूँजी को अन्य देशों में लगाते हैं। किन्तु जब समाजवाद में पूँजी पर राज्य का स्वामित्व हो जाएगा, तब देश के अन्दर ही पूँजी के प्रयोग पर बल दिया जाएगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सापेक्ष लागतों के सच्चे सिद्धान्त पर संचालित होगा, और इससे सारे संसार को लाभ होगा। और जब विदेशी व्यापार न्यायोचित ढंग से होने लगेगा, तो विश्व संघर्ष की सम्भावना, कम से कम आर्थिक पक्ष में तो कम हो ही जायगी। तब महायुद्ध आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था स्वाभाविक परिणति न होकर, एक दुर्घटना मात्र रह जायगा।

अध्याय ६३

कल्याण क्या है ?

जब हम किसी ऐसे विज्ञान के सम्पर्क में आते हैं, जिसका उद्देश्य मानव के व्यवहार का अध्ययन करता है, तो हम समस्त मानव प्रयत्नों के अन्तिम लक्ष्य सुख अथवा कल्याण की प्राप्ति–को जानने की चेष्टा करते हैं। कोई भी विज्ञान इस व्यापक समस्या का पूर्ण विश्लेषण अथवा परीक्षा नहीं कर सकता। प्रत्येक कला या विज्ञान विस्तृत धरातल के केवल उसी निश्चित अंश की परीक्षा का यत्न करती है, जो उसके क्षेत्र में आता है। एक विज्ञान के रूप में अर्थशास्त्र मनुष्य को उपलब्ध सीमित साधनों से बंधे (conditioned) कल्याण का अध्ययन करता है।

कल्याण एक सूक्ष्म विचार है, और अन्य बहुत से सूक्ष्म विचारों की ही भाँति उसकी निश्चित परिभाषा करना बहुत कठिन है। साधारणतया कल्याण को भलाई, सुख, तृप्ति और सन्तोष आदि शब्दों के साथ रखा जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि ये शब्द कल्याण के पर्यायवाची नहीं है। इनमें सूक्ष्म अन्तर है, जिसे शब्दों में बताना बहुत कठिन है। परन्तु कल्याण के विषय में इस तथ्य को हम असंदिग्ध रूप से बता सकते हैं—बिना इस भय के कि हम शब्द के वास्तविक अर्थ की अशुद्ध व्याख्या करेंगे—कि कल्याण 'अच्छाई' (good) के साथ सम्बद्ध है। कल्याण की निश्चित परिभाषा चाहे जो हो। उसकी सामान्य प्रकृति 'अच्छाई' (good) में ही निहित है। 'अच्छाई' (good) जो स्वयं एक सूक्ष्म धारणा है, की भी सुनिश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती। हम केवल इसकी कल्पना कर सकते हैं, कि हमारे मन में अच्छाई का क्या अर्थ है। उसके बाद तो हम जार्ज मूर (George Moore) के शब्दों में ही कहेंगे कि 'अच्छाई' केवल 'अच्छाई' है।' कल्याण की परिभाषा देने के समय हमें इसी तरह की कठिनाई का सामना करना पड़ता है, और 'अच्छाई' की ही भांति कल्याण का एक विचार-मात्र हम मन में बना सकते हैं। पूछे जाने पर हम केवल यही कह सकेंगे कि 'कल्याण केवल कल्याण है', या जैसा पीगू (Pigou) ने कहा—"कल्याण वही है, जो अच्छाई है।"

किसी विचार की उचित परिभाषा का अभाव ही सामान्यतः उसको भली-भांति न समझ पाने का केवल कारण होता है। यह स्पष्ट है कि किसी विचार की मूल प्रकृति में अन्य वाह्य तत्वों का हस्तक्षेप उसके स्वरूप को विकृत कर देगा। इसी प्रकार यदि उस विचार के मूल तत्वों की अवहेलना की जाय तो वह शक्ति हीन हो जायगा। हम इच्छाओं की परिभाषा नहीं दे सकते (विश्लेषण करने के अर्थ में) वैसे ही जैसे कल्याण की भी नहीं दे सकते। अतः उन तत्वों को, खोजने के लिए हमें परिश्रम करना पड़ता है, जो एक 'इच्छा' को जन्म देते हैं। हम कह सकते हैं कि इच्छा की प्रकृति का एक मूल तत्व यह है, कि सन्तोष के लिए आवश्यक साधनों को पृथक करने का संकल्प किया जाए, और इस कथन को ग़लत भी बता सकते हैं। इसी तरह हम यह भी कह सकते हैं कि इच्छा की तृप्ति के लिए, यह पहले ही आवश्यक है कि इच्छा को तृप्त करने की सामर्थ्य भी हो। हम इस कथन का भी विरोध कर सकते हैं। वस्तुतः हम इन दोनों दशाओं की अवहेलना कर, 'इच्छा' को एक व्यापक अर्थ

दे सकते हैं। यह स्पष्ट है, कि 'इच्छा' को समझने के ये विभिन्न तरीके एक दूसरे से बिल्कुल अलग हैं। इसलिए सारी गड़बड़ी को साफ करने के लिए यह आवश्यक है, कि असन्दिग्ध रूप से यह बताया जाय कि सामान्य विचार में कौन से तत्व वास्तविक हैं, और कौन से नहीं। इसी प्रकार 'कल्याण' को समझने के लिए भी एक स्पष्ट दृष्टिकोण आवश्यक है। आखिर कल्याण के तत्व क्या हैं ? हम इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दे सकते हैं : कल्याण चेतनता की परिस्थितियों से निर्मित होता है, अर्थात् कल्याण एक आत्मिक प्रतिभास है, जिसमें मस्तिष्क की एक विशेष स्थिति निहित रहती है। अतः कोई भी ऐसी वस्तु जो चेतना की स्थिति में नहीं है, कल्याण के अन्तर्गत परिभाषित नहीं की जा सकती। इसलिए भौतिक वस्तुएँ या भौतिक परिस्थितियाँ कल्याण के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकती। उदाहरण के लिए कल्याण के अनुमान में हम एक रेडियो को सम्मिलित नहीं कर सकते, क्योंकि वह बहुत सी भौतिक वस्तुओं से मिलकर बना है।

कल्याण के विषय में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है, कि उसे बड़ी श्रेणियों में नहीं बाँटा जा सकता। यदि कल्याण की दो अवस्थाएँ हों जो भिन्न काल, भिन्न व्यक्तियों या भिन्न वर्गों में बँटी हों तो हम उनकी तुलना करके कह सकते हैं, कि एक अवस्था में कल्याण दूसरी अवस्था के कल्याण से कम या अधिक है। ऐसी तुलना उस मात्रा मूलक माप से भिन्न है, जिसमें इस्पात के किसी टुकड़े का वज़न पांच सेर और किसी इमारत की ऊँचाई, बीस फ़ीट बतलाई जाती है। यह माप बिल्कुल ठीक माने जाते हैं, क्योंकि उनमें किसी वस्तु के परिमाण को काफी हद तक ठीक-ठीक नाप लेना सम्भव नहीं। परन्तु कल्याण के लिए ऐसा कोई माप-दण्ड नहीं बनाया जा सकता, जिससे हम यह कह सकें, कि कल्याण किसी माप की इतनी-इतनी इकाइयों के बराबर है। हम कल्याण की दो परिस्थितियों की तुलनात्मक गणना मात्र कर सकते हैं।

आर्थिक कल्याण—हमने अभी तक कल्याण का सामान्य अध्ययन ही किया है। प्रस्तुत अध्ययन सामान्य से नहीं वरन् आर्थिक कल्याण से सम्बद्ध है। आर्थिक कल्याण सामान्य कल्याण का ही एक भाग है। इसलिए हमने जो कुछ भी पूर्ण के लिए कहा है, वह अंश के भी विषय में सत्य है। पीगू (Pigou) आर्थिक कल्याण की परिभाषा इस प्रकार देते हैं: यह वह कल्याण है, जो राष्ट्रीय-भाज्य (dividend) के कमाने और खर्च करने से उत्पन्न होता है। या दूसरे शब्दों में कहें कि समाज की पूरी आमदनी के उस अंश से जो द्रव्य के माप दण्ड के साथ सम्बन्धित है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं। कल्याण चेतना की एक अवस्था है। चेतना की इस अवस्था के वही लक्षण हैं जो अच्छाई के। अतः यह चेतना की उस प्रत्येक अवस्था से भिन्न होगी जिसकी विशेषता 'अच्छाई' नहीं है।

किसी विशिष्ट समय में बहुत से कारण हमारी चेतना को प्रभावित करते रहते हैं। उसमें से कुछ ऐसे होते हैं, जो कल्याण को जन्म देते हैं, और कुछ ऐसे नहीं होते। कल्याण को जन्म देने वाले विविध कारणों में एक ही बात समान है, और वह उनकी कल्याणोत्पादक शक्ति है। कारणों की एक ऐसी भी श्रेणी होती है, जिसे हम इसकी विशेषता के कारण अन्य श्रेणियों से अलग कर सकते हैं। यह विशेषता राष्ट्रीय भाज्य (dividend) के कमान

और खर्च करने से संबन्धित है। जैसा हम बाद में बताएँगे, राष्ट्रीय भाज्य, उपभोग के लिए प्राप्त ऐसी विविध सेवाओं से, जो द्रव्य द्वारा मापी जा सकती हैं, मिलकर बनता है। जब हम स्वयं ये सेवाएँ करते हैं, तो कल्याण उत्पन्न होता है। इसी कल्याण को आर्थिक कल्याण कहा जाता है। यह सम्पूर्ण कल्याण का एक अंश मात्र है, जो राष्ट्रीय भाज्य से सम्बद्ध किसी भी कारण उत्पन्न हो सकता है।

अब हम एक दूसरा विभेद प्रस्तुत करेंगे। राष्ट्रीय भाज्य से सम्बद्ध कारणों की क्रिया से प्रसूत सम्पूर्ण कल्याण आर्थिक कल्याण नहीं है। प्रो० पीगू (pigou) के अनुसार आय की प्राप्ति और व्यय से उत्पन्न अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के गुण होते हैं। इन्हें आर्थिक कल्याण के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। इसको दो उदाहरण स्पष्ट कर देंगे। बेईमानी या गैर कानूनी तरीकों से कमाई हुई आमदनी कल्याण को उस रूप में नहीं बढ़ा सकती, जितना कि ईमानदारी से कमाई हुई उतनी ही आय बढ़ाएगी। क्योंकि पहली दशा में अवचेतन में अपराध की भावना अवश्य आ जायगी। किन्हीं स्मृतियों से संयुक्त होने के कारण एक विशेष व्यक्ति को किसी खास सिगरेट के पीने से अधिक कल्याण मिल सकता है। परन्तु उसी रुचि और स्वभाव के दूसरे व्यक्ति को सम्भव है कि वही सिगरेट उतना कल्याण न पहुँचाए। दो समान दशाओं में अन्तर इसीलिए होता है, कि आर्थिक कल्याण के निर्माण के साथ अच्छे और बुरे गुण संलग्न रहते हैं। ये गुण एक विशेष आत्मतृप्ति (psyctic satisfaction) के लिए उत्तर-दायी है, जो आर्थिक कल्याण से संबद्ध 'आत्म-तृप्ति' से भिन्न है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि जब हमारा शरीर विशिष्ट क्रियाएँ करता है, तो सम्पूर्ण आत्म-तृप्ति का एक भाग ही आर्थिक कल्याण को जन्म देता है। यह भाग आंशिक रूप से अर्थशास्त्र में प्रयुक्त शब्द—तृप्ति या संतोष (satis-faction) के साथ संबद्ध है, वस्तुतः उसका सम्बन्ध अचेतन इच्छाओं की नहीं वरन् चेतन इच्छाओं की तृप्त द्वारा प्राप्त संतोष से है। हम जानते हैं, कि सन्तोष अचेतन या चेतन इच्छाओं के तृप्त होने पर ही मिलता है। सिगरेट के उदाहरण को ही लें: यदि इच्छा सिगरेट पीने की है, तो प्राप्त सन्तोष का कारण यही होगा कि सिगरेट पीने की आकांक्षा से जनित पीड़ा दूर हो गई है। जब सिगरेट पी ली जाती है तो पीड़ा आनन्द में परिवर्तित हो जाती है, और हम कहते हैं कि सन्तोष की उपलब्धि हुई है। अतीत की स्मृतियों से प्राप्त आनन्द आकस्मिक होता है (यदि प्रारम्भ से ही उसकी आकांक्षा न की गई हो) अतः उसके लिए चेतन इच्छा नहीं होगी। फलतः उस अर्थ में सन्तोष की प्राप्ति भी न होगी, जिससे इस स्थान पर हमारा अभि-प्राय है। ऐसी विवेचना करने पर, आर्थिक कल्याण संपूर्ण कल्याण का अंश मात्र हो जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण कल्याण और आर्थिक कल्याण के परिवर्तन एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध नहीं हैं। सम्पूर्ण कल्याण से परिवर्तन होने का तात्पर्य यह नहीं है, कि आर्थिक कल्याण में भी परिवर्तन हो जाय। और न आर्थिक कल्याण में परिवर्तन होने पर यह आवश्यक है, कि सम्पूर्ण कल्याण में भी उतना ही परिवर्तन हो। यह भी आवश्यक नहीं है, कि आर्थिक कल्याण की वृद्धि के साथ, सम्पूर्ण कल्याण में भी वृद्धि हो जाय। उदाहरणार्थ, यह सम्भव है, कि मादक पदार्थों के सेवन से उत्पन्न हानि, उनके उपयोग द्वारा प्राप्त क्षणिक सन्तोष से कहीं कम हो। इसका स्पष्ट कारण यह है, कि किसी भी समय आर्थिक कल्याण को बदल देने वाला विशिष्ट कारण अनार्थिक कल्याण (non-economic welfare) को प्रभा-

वित तथा परिवर्तित कर देता है। यदि यह संभव हो, कि आर्थिक कल्याण पर पड़े हुए प्रभाव को उसके कारण से अलग कर दिया जाय तो उसकी प्रत्येक वृद्धि सम्पूर्ण कल्याण में पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित होगी। परन्तु, क्योंकि यह सम्भव नहीं है, इसलिए सम्पूर्ण कल्याण आर्थिक कल्याण के परिवर्तनों द्वारा भी घटता और बढ़ता है, साथ ही अनार्थिक कल्याण के परिवर्तन भी उसे प्रभावित करते हैं।

यह सत्य कि आर्थिक और अनार्थिक कल्याण के कारणों के परिणाम जटिल रूप से सम्बद्ध है, हमारे सम्मुख एक गम्भीर समस्या उपस्थित करता है। वस्तुतः ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि आर्थिक कल्याण का अध्ययन उपयोगी नहीं है, क्योंकि हम यह निश्चित नहीं कर पाते कि आर्थिक कल्याण के परिवर्तन किस सीमा तक और किस रूप में सम्पूर्ण कल्याण को प्रभावित करेंगे। आर्थिक कल्याण का अध्ययन उसी समय उपयोगी हो सकता है, जब हम सम्पूर्ण कल्याण पर पड़े हुए उसके प्रभाव को निश्चित रूप में बता सकें। क्योंकि तभी राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री उन कारणों को जन्म दे सकेंगे जो सम्पूर्ण कल्याण की वृद्धि करेंगे। परन्तु, जैसी परिस्थितियाँ हैं, उनमें यह प्रायः असम्भव जान पड़ता है। सम्भव है, कि एक कारण समाज के आर्थिक कल्याण में यथेष्ट वृद्धि करें, परन्तु पूर्ण कल्याण में विशेष लाभदायक सिद्ध न हों। अतः ऐसे कारण को अध्ययन करने का उपयोग ही क्या है? क्योंकि अन्ततः तो हमारा संबन्ध पूर्ण कल्याण से ही है, मनुष्य के पूर्ण सुख से, उसके किसी एक अंश से नहीं।

निस्सन्देह, आर्थिक कल्याण को एक उपयोगी और फलदायक अध्ययन मानने के विरोध में प्रस्तुत किया हुआ यह एक ध्वंसात्मक तर्क है। परन्तु एक दूसरा तर्क भी है, जो आर्थिक कल्याण के पक्ष का समर्थन करता है।

यह आवश्यक नहीं है, कि अंश (part) में हुआ परिवर्तन पूर्ण (whole) में उतना ही परिवर्तन करे। वस्तुतः सम्भव है, कि यह पूर्ण में कोई भी परिवर्तन न करे। फिर भी अंश के इस परिवर्तन का पूरा प्रभाव पूर्ण पर पड़ेगा। यदि अंश किसी निश्चित मात्रा में बदलता है, तो सम्भव है, कि पूर्ण उसी मात्रा में न बदले, परन्तु, अंश के परिवर्तन का प्रभाव पूर्ण पर अवश्य पड़ेगा। हम भले ही यह न बता सकें कि आर्थिक कल्याण में एक विशेष परिवर्तन होने पर सम्पूर्ण कल्याण की स्थिति क्या होगी। फिर भी हम इतना तो जान ही सकते हैं, कि यदि आर्थिक कल्याण में कोई परिवर्तन न हुआ होता तो संपूर्ण कल्याण की मात्रा क्या होती? इसे वास्तविक रूप में जानने में कोई बाधा न पड़ेगी।

आर्थिक कारण और अनार्थिक कल्याण

(१). पहली कठिनाई उस प्रभाव से सम्बद्ध है, जिसे अनार्थिक कल्याण के किसी विशिष्ट कारण ने जन्म दिया है। आर्थिक कल्याण को प्रभावित करने वाले दो कारण उसमें समान परिवर्तन उपस्थित कर सकते हैं। अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं, कि ये दोनों कारण सम्पूर्ण कल्याण के अनार्थिक अंश को भी प्रभावित करेंगे, और इन दोनों कारणों का प्रभाव एक सा न होगा। यह एक सैद्धान्तिक संभावना मात्र नहीं है, वरन् ऐसी प्रत्यक्ष वास्तविकता है, जो प्रायः हमेशा घटित होती है। ऐसी परिस्थितियों में स्वभावतः सम्पूर्ण कल्याण के सम्बन्ध में दोनों कारणों का महत्वपूर्ण रूप से परिवर्तन हो जायगा।

अब हम परीक्षा करेंगे कि किस प्रकार आर्थिक कारण अनार्थिक कल्याण को प्रभावित करते हैं। वे उसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में प्रभावित करते हैं।

अनार्थिक कल्याण पर आर्थिक कारणों के प्रत्यक्ष प्रभाव—कल्याण चेतना की एक अवस्था है। यह चेतनावस्था-मात्र सन्तोष से निर्मित नहीं है, वरन् बोध (cognitions) अनुभूतियाँ (emotions) और आकांक्षाएँ भी इसका अंग हैं। अतः जो कारण सन्तोष को प्रभावित करता है, उसका असर उन दूसरे तत्वों पर भी पड़ता है जो संतोष के साथ संयुक्त हैं। हमारे सन्तोष में वृद्धि करने वाली उपभोग की क्रिया हमारी आकांक्षाओं और अनुभूतियों को भी प्रभावित करती है। यदि कोई व्यक्ति सिगरेट नहीं पीता तो स्पष्ट है, कि उसे सिगरेट की इच्छा ही नहीं है। परन्तु, जब वह सिगरेट पीना प्रारम्भ कर देता है और सिगरेट पीने से सन्तोष भी पाता है, तो सिगरेटों के लिए उसकी आकांक्षा प्रभावित होने लगती है। जितना ही अधिक वह सिगरेट पीता है सिगरेटों के लिए उसकी सामान्य आकांक्षा उतनी ही घनीभूत होती है। आकांक्षा के घनीभूत हो जाने के कारण सम्भव है, कि वह इतनी अधिक सिगरेट पीने लगे कि उसके स्वास्थ्य पर हानिकर प्रभाव पड़े। यह हानिकर प्रभाव सम्पूर्ण कल्याण पर एक नया प्रभाव डालेगा, जो आर्थिक कल्याण की वृद्धि द्वारा डाले गए प्रभाव से भिन्न होगा। यह उदाहरण बतलाता है, कि किस प्रकार आर्थिक कारण आकांक्षाओं पर प्रभाव डालते हैं। यह असर केवल आकांक्षाओं तक सीमित नहीं है, वरन् मनुष्य के संपूर्ण व्यक्तित्व तक फैलता है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है, कि आर्थिक परिस्थितियाँ किसी समाज की प्रकृति, यहाँ तक कि जीवन को भी बदल देती हैं। यह कहना अस्वाभाविक नहीं है कि किसी समाज की नैतिक तथा आदर्शवादी विशेषताएँ उन व्यवसायों द्वारा बिल्कुल बदल दी जाती हैं, जिनमें वह समाज संलग्न है। एक टहलुए, एक कलाकार, और एक मिल मज़दूर तथा एक किसान में ये विशेषताएँ भिन्न होती हैं। इतना ही नहीं, वरन् सहयोग भावना या देश भक्ति आदि भावनाएँ भी कारखानों के साथ-साथ काम करने से आती हैं। यह सारे तत्व न केवल उत्पादित धन की मात्रा में परिवर्तन लाएँगे वरन् समाज के सम्पूर्ण कल्याण पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव डालेंगे। श्रमिकों और स्वामियों का वह द्वन्द जो कारखानों के आकार में वृद्धि होने तथा बड़े पैमाने पर उत्पादन प्रारम्भ होने के कारण शुरू हुआ, इस बात का एक दूसरा उदाहरण है, कि आर्थिक कारण अनार्थिक कल्याण को प्रभावित करते हैं।

अनार्थिक कल्याण पर आर्थिक कारणों के अप्रत्यक्ष प्रभाव—अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक कारण अनार्थिक कल्याण को उन वाह्य परिस्थितियों (objective conditions) द्वारा प्रभावित करते हैं, जो राष्ट्रीय भाज्य (dividend) से सम्बद्ध नहीं है। ऐसा होना दो प्रकार से सम्भव है।

क—प्राकृतिक सौन्दर्य की कुछ वस्तुओं द्वारा की गई सेवाएँ।

ख—कुछ व्यक्तियों द्वारा की गई ऐसी सेवाएँ जिनका पारिश्रमिक द्रव्य के रूप में नहीं दिया गया है।

जहाँ आर्थिक कारण प्राकृतिक सौन्दर्य की वस्तुओं द्वारा प्राप्त सेवाओं को प्रभावित करते हैं, ऐसी दशा का एक उदाहरण 'लोवलिन' (Lowellyin) के उपन्यास 'हाउ ग्रीन वाज़

माई वैली' से दिया जा सकता है, जिसमें वह अत्यन्त संवेदनात्मक ढंग से वर्णन करता है, कि किस प्रकर निकटस्थ कोयले की खान से फेंके हुए कूड़े (slag) के इकट्ठा हो जाने पर एक घाटी का सौन्दर्य धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है। धुँए और कोयले के कारण एक औद्योगिक नगर कितना काला और भद्दा हो जाता है। यह इस प्रकार का एक दूसरा उदाहरण है। दूसरे प्रकार का एक बहुत सच्चा उदाहरण हम उस समय देख सकते हैं, जब पुरुषों की श्रम की माँग कम हो जाने के कारण किसी समाज की स्त्रियों को विवश होकर कारखानों का काम छोड़ कर घर के भीतर काम करना पड़ जाता है। उनकी अवैतनिक सेवाएँ, सामाजिक कल्याण में बहुत महत्व रखती हैं।

अस्तु, हमने देखा कि आर्थिक कारण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अनार्थिक कल्याण को कैसे प्रभावित करते हैं, और इस प्रकार, सम्पूर्ण कल्याण पर किसी आर्थिक कारण का जो भी प्रभाव पड़ता है, उसका अनुमान लगाने में बाधक बन जाते हैं।

(२) दूसरी कठिनाई इस मान्यता से उठती है कि सन्तोष और असन्तोष को द्रव्य में मापा जा सकता है। ऐसी ही मान्यता के द्वारा हम उस आर्थिक कल्याण के परिमाण का अन्दाजा लगा सकते हैं, जो सन्तोषों तथा असन्तोषों से मिल कर बनता है। सन्तोष चेतना की एक अवस्था है। इसलिए वह किसी स्थूल नियम या माप दण्ड से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित नहीं हो सकती। फिर भी सन्तोष के परिमाण का अन्दाजा हम उस इच्छा की तीव्रता से लगा सकते हैं, जिसको तृप्त करने से सन्तोष प्राप्त हुआ है। यदि आकांक्षा अत्यन्त तीव्र है, तो उपलब्ध सन्तोष भी उतना ही अधिक होगा। और यदि तृप्त की गई आकांक्षा साधारण है, तो प्राप्त सन्तोष भी वैसा ही होगा। हम जानते हैं कि एक विशिष्ट कारण सन्तोष को एक सीमा तक बढ़ा सकता है। परन्तु सम्भव है कि सम्पूर्ण कल्याण में उसी सीमा तक वृद्धि नहीं कर सकें। क्योंकि वह साथ ही साथ अनार्थिक कल्याण को भी प्रभावित करता है। अब प्रश्न यह है कि यदि हम यह मान लें कि अनार्थिक कल्याण पर कारणों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता या नगण्य प्रभाव पड़ता है तो क्या यह कारण सम्पूर्ण कल्याण को पूरी तरह बदल सकेंगे? इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में तभी होगा, जब यह शर्त भी पूरी हो जाय कि समान तीव्रता वाली प्रत्येक आकांक्षा के साथ तृप्त होने पर 'समान अच्छाई' प्राप्त हो। जब तक यह शर्त नहीं पूरी की जा सकती हम यह नहीं जान सकेंगे, कि सम्पूर्ण कल्याण में किस सीमा तक परिवर्तन होता है। क्योंकि इसका एक मात्र माप दंड आकांक्षा की तीव्रता ही है। और यदि समान तीव्रता वाली दो आकांक्षाएँ दो विभिन्न परिणाम उपस्थित करेंगी, तो कम से कम जहाँ तक सम्पूर्ण कल्याण का सम्बन्ध है, सन्तोष के हमारे सारे माप दण्ड व्यर्थ हो जायेंगे। समान तीव्रता वाली आकांक्षाएँ, 'अच्छाई' की समान मात्रा नहीं उपस्थित करेंगी, इसके दो कारण हैं:

(क) मान लीजिए कि किसी विशेष आकांक्षा का उद्देश्य किसी निश्चत 'अच्छाई' में योग देने का है। यह भी मान लें कि उस आकांक्षा की तीव्रता अनुपात में उस सम्भावित 'अच्छाई' के समान है, जो आकांक्षा की तृप्ति द्वारा प्राप्त होगी। दूसरे शब्दों में आकांक्षा जितनी ही तीव्र होगी, उसकी तृप्ति द्वारा प्राप्त 'अच्छाई' उतनी ही अधिक होगी। यदि संभावित 'अच्छाई' और आकांक्षा की तृप्ति द्वारा प्राप्त वास्तविक 'अच्छाई' दोनों समान हैं, तो समान तीव्रता वाली दो इच्छाओं के तुष्ट होने पर संपूर्ण कल्याण में एक सी वृद्धि होगी।

परन्तु, वास्तव में ऐसा बहुत कम होता है। भविष्य की घटनाओं को ठीक-ठीक जान सकने की हमारी सामर्थ्य इतनी कम है, कि अधिकांश दशाओं में वास्तविकता हमारी आशाओं के विरुद्ध होती है। अस्तु, आकांक्षा की तीव्रता और संपूर्ण कल्याण के बीच कोई निश्चित संबन्ध स्थापित करना कठिन है।

(ख) उपर्युक्त तर्क इस मान्यता पर आधारित था कि आकांक्षा की तीव्रता सम्भावित 'अच्छाई' के साथ आनुपातिक है। और हमने यह सिद्ध किया कि सम्भावित 'अच्छाई' और वास्तविक 'अच्छाई' में कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है। अब हम इसकी खोज करेंगे कि आकांक्षा की तीव्रता और संभावित 'अच्छाई' में कोई आनुपातिक सम्बन्ध है, अथवा नहीं। अनुभव इसे सिद्ध करता है कि व्यवहार में ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। सन्तोष के परिवर्तनों और सम्पूर्ण कल्याण के परिवर्तनों में कोई निश्चित सम्बन्ध स्थापित करने के हमारे समस्त प्रयत्न व्यर्थ हो जाते हैं। फ्रैंज़ बेन्टानों (Franz Bentano) ने इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय मत प्रकट किया है—"प्रेम की वास्तविक स्थिति का यह तात्पर्य कदापि नहीं है, कि प्रेमपात्र सदा सुयोग्य होता है। ऐसा प्रायः होता है, कि किसी वस्तु को प्रेम करते समय भी प्रेमी यह स्वीकार करता है, कि वह वस्तु उसके प्रेम के अयोग्य है।" अफ़ीम का खाना, जिसमें संभावित 'अच्छाई' और आकांक्षा में कोई अनुपात नहीं होता, इस कथन का एक उदाहरण है। यह बात अधिक मज़दूरी की तीव्र आकांक्षा पर भी लागू होती है, यदि वह मज़दूरी किसी निम्न उत्तेजक आनन्द को प्राप्त करने के लिए मांगी जाती है। उपर्युक्त वाद-विवाद से यह बिल्कुल स्पष्ट है, कि आर्थिक कल्याण और सम्पूर्ण कल्याण के बीच किसी सुनिश्चित सम्बन्ध का होना सम्भव नहीं है। कुछ दशाओं में, इन दोनों में बहुत अधिक अन्तर होना सम्भव है, और कुछ दशाओं में यह अन्तर नगण्य भी हो सकता है। तो क्या हम आर्थिक कल्याण का अध्ययन करने के लिए निराश हो जायँ? नहीं, इस सबके बाद की भी संभावना के एक निर्णय (Judgment of Probability) के लिए स्थान है, और वह यह कि हम जब तक निश्चित रूप से न जान जायँ, कि किसी आर्थिक कारण के प्रभाव विरोधी दिशा में कार्य करते हैं, तब तक हम मान सकते हैं, कि उस कारण का आर्थिक कल्याण पर प्रभाव कदाचित सम्पूर्ण कल्याण पर पड़े हुए प्रभाव की दिशा में ही है, भले ही उतने परिणाम में न हो। अतः जैसा प्रो० एजवर्थ (Edge-Worth) का कहना है कि यह एक अप्रमाणित मान्यता है कि आर्थिक कल्याण पर किसी आर्थिक कारण का प्रभाव वैसा ही और उतना ही होगा, जितना कि सम्पूर्ण कल्याण पर।

राष्ट्रीय-भाज्य (National dividend)—कुछ ऐसे कारण हैं, जो आर्थिक कल्याण को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। सामान्यतः ये कारण उस राष्ट्रीय भाज्य के परिमाण के द्वारा कार्य करते हैं; जो न केवल एक पूर्ण निधि (absolute quantity) है, वरन् एक ऐसा योग है, जो विभिन्न व्यक्तियों या विभिन्न समूहों के बीच, विभिन्न समय में विपरीत किया जायगा। अस्तु, सामान्य रूप से कोई भी ऐसा कारण जिसके आर्थिक कल्याण पड़ने वाले प्रभाव को हम खोजना चाहते हैं—राष्ट्रीय भाज्य की तीन दशाओं में से किसी एक के द्वारा कार्य करेगा। ये तीन दशाएँ हैं, राष्ट्रीय भाज्य का पूर्ण परिमाण, व्यक्तियों में उसका विभाजन, और समय में उसका वितरण। 'राष्ट्रीय भाज्य' पर किसी विशेष कारण का जो प्रभाव पड़ता है, उसके अध्ययन से, और राष्ट्रीय-भाज्य तथा आर्थिक कल्याण में कोई सामान्य

संबन्ध स्थापित करने से हम उस कारण के आर्थिक कल्याण पर पड़े हुए प्रभाव को जान सकते हैं। परन्तु इसके पहले हम स्वयं राष्ट्रीय-भाज्य का सूक्ष्म अध्ययन करेंगे।

प्रो० पीगू (Pigou) राष्ट्रीय भाज्य की परिभाषा इस प्रकार देते हैं:—

"राष्ट्रीय-भाज्य के तत्वों का निर्माण वाह्य-सेवाओं द्वारा होता है, जिनमें से कुछ तो वस्तुओं के रूप में और कुछ प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत की जाती हैं। वस्तुओं के द्वारा की हुई वाह्य सेवाओं के अन्तर्गत, उपभोग के लिए उपलब्ध 'अच्छाई' आ जाती है, जब कि प्रत्यक्ष सेवाओं के अन्तर्गत वैद्यों या वकीलों आदि की सेवाएँ आती हैं। इस दूसरी प्रकार की क्रियाओं को बहुत से अर्थशास्त्रियों ने 'सेवाएँ' कहा है, और वस्तुओं द्वारा प्रस्तुत सेवाओं को 'वस्तुएँ' माना है। अस्तु, राष्ट्रीय-भाज्य के सम्बन्ध में हमने 'वस्तुओं और सेवाओं' के मुहावरे का उपयोग किया है।

जब हम कहते हैं कि राष्ट्रीय-भाज्य में 'वस्तुएं और सेवाएँ' निहित हैं, तो हमारे सामने एक यह डर है कि राष्ट्रीय भाज्य के परिमाण की गणना करते समय, हम एक ही वस्तु की सेवाओं को दो बार जोड़ दें, पहले तो 'वस्तुओं' के अन्तर्गत और दूसरी बार 'सेवाओं' के अन्तर्गत। यह असंभव नहीं है, वरन् अधिक ध्यान न देने पर प्रायः ऐसी गलती हो जाती है। यह संभव है, कि हम भोजन द्वारा प्राप्त 'सेवाओं' तथा भोजन बनाने वाले रसोइए की 'सेवाओं' दोनों को सम्मिलित कर लें। वास्तव में इनमें से एक ही को हमारे अनुगणन में आना चाहिए। रसोइये की सेवाएँ, इतनी ही मूल्यवान है, जितनी कि भोजन बनाने की उसकी सामर्थ्य है।

और भोजन उसी समय तक मूल्यवान है, जब तक कि वह रसोइए की सेवाओं द्वारा दिए हुए आकार में है। जैसा भोजन है, उस रूप में वह रसोइए की सेवाओं के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अतः यदि हम भोजन की सेवा और रसोइए की सेवा—दोनों को जोड़लें, तो हम एक वस्तु के दो बार जोड़ने की गलती करेंगे। इसलिए स्वाभाविक है, कि ऐसे अनुगणन द्वारा, राष्ट्रीय भाज्य के सम्बन्ध में हम एक अत्यंत भ्रमपूर्ण निष्क पर पहुँचें। बड़े पैमाने पर इसी तरह की गलती उस समय होगी, जब हम कच्चे माल की सेवाओं और तैयार माल की सेवाओं का अलग-अलग हिसाब लगाकर दोनों को एक में जोड़ दें। ऐसी ही गलती तब भी होगी, जब हम रेल की इंजन की सेवाओं को और रेल की इंजन को उत्पादित करने वाली कम्पनी के हिस्सों के मूल्य को जोड़ दें। अतः परिणाम राष्ट्रीय भाज्य के ठीक-ठीक अनुगणन से बहुत भिन्न होगा। अस्तु, राष्ट्रीय भाज्य का अनुगणन करते समय, ऐसा दोहरा योग न हो जाय इसका ध्यान रखना होगा। दोहरे योग को बचाने के लिए, हम यह नहीं करते कि राष्ट्रीय-भाज्य के अन्तर्गत आने वाली समस्त सेवाओं की एक सूची बना लें, और इस प्रकार राष्ट्रीय-भाज्य का एक संख्या-पत्र तैयार कर दें, वरन् हम सारी सेवाओं के द्रव्य-मूल्य का इस प्रकार अनुमान लगाते हैं, कि दोहरे जोड़ की सम्भावना न रहे। इस प्रकार का अनुमान लगाने की विधि यह है कि किसी एक उद्योग या उद्योगों के समूह की कुल उत्पत्ति जान ली जाय।

ग्रेट ब्रिटेन की उत्पादन की गणना की प्रारम्भिक रिपोर्ट का कहना है कि "सामग्रियों की कुल लागत और और दूसरी फर्मों से कराए हुए काम के लिए दिए हुए पारिश्रमिक को किसी एक उद्योग या उद्योगों के समूह की कुल-उत्पत्ति के मूल्य से घटाने पर" वास्तविक उत्पत्ति जानी

जा सकती है। इस प्रकार हम वह संख्या जान सकेंगे, जिसे सुविधा के लिए किसी उद्योग या उद्योगों के समूह की वास्तविक उत्पत्ति कहा जा सकता है। यह संख्या हमें बतलाती है, कि उद्योग या उद्योग-समूहों के उत्पादनों का मूल्य, खरीदे हुए कच्चे माल के मूल्य से कितना अधिक है। दूसरे शब्दों में यह संख्या उस मूल्य का निर्देशन करती है, जो निर्माण के क्रम में कच्चे माल के मूल्य में जुड़ जाता है। इसके "अन्तर्गत वह निधि भी आती है, जिससे किसी उद्योग की मज़दूरी, वेतन, भाड़ा, कर, क्षति, और इसी प्रकार के अन्य व्यय तथा लाभ भी चुकाए जाते हैं।" गणना के ऐसे तरीके से दुबारा जोड़ने की सम्भावना नहीं रहती, और देश की राष्ट्रीय भाज्य की काफी हद तक सही संख्या प्राप्त हो जाती है। यदि देश के समस्त उद्योगों की वास्तविक उत्पत्ति और बाहर लगी हुई देश की पूँजी के वास्तविक उत्पादन को जोड़ लिया जाय तो हम एक ऐसी सूची बना लेंगे, जिसमें देश का सम्पूर्ण राष्ट्रीय भाज्य, द्रव्य के माध्यम से उल्लिखित होगा। राष्ट्रीय-भाज्य को 'वस्तुओं और सेवाओं' का योग मानने में दो बार जोड़ने का जो खतरा है, उसी के कारण प्रो० पीगू (Pigou) और प्रो० फ़िशर (Fisher) इसे केवल एक शब्द 'सेवाएँ' के अन्तर्गत रखकर गड़बड़ी को बचाते हैं। प्रो० पीगू के ऐसा मानने के आधार नितान्त व्यवहारिक हैं, सिद्धान्तों से उनका कोई विरोध नहीं है। प्रो० फ़िशर का विरोध सैद्धान्तिक है। हम यहाँ पर पीगू का अनुसरण करेंगे।

राष्ट्रीय-भाज्य के अन्तर्गत कौन सी सेवाएँ आएँगी? —किसी राष्ट्र अथवा समाज को प्राप्त सेवाएँ विविध प्रकार की होती हैं। इन सब सेवाओं को राष्ट्रीय-भाज्य के अन्तर्गत नहीं लिया जाता है। कुछ सेवाएँ जिन्हें वस्तुतः सेवाएँ माना जाता है राष्ट्रीय-भाज्य के अनुमान में सम्मिलित नहीं की जातीं। मार्शल (Marshall) द्वारा प्रयुक्त मान-दण्ड-जिसे प्रो० पीगू ने राष्ट्रीय-भाज्य में न सम्मिलित होने वाली 'सेवाओं' की उन सेवाओं से पृथक करने के लिए स्वीकार किया, जो राष्ट्रीय-भाज्य में सम्मिलित होंगी-द्रव्य के रूप में सेवाओं का माप था। पीगू (Pigou) का कथन है, कि वही 'सेवाएँ' राष्ट्रीय-भाज्य में सम्मिलित की जायँ, जो द्रव्य के माप-दण्ड के अन्तर्गत आ जायँगी। सिद्धान्ततः ऐसा मान-दण्ड उचित नहीं है, क्योंकि 'सेवा' की विशेषता उसके माप में नहीं है, वरन् जन हित की उसकी सामर्थ्य तथा समाज के सम्पूर्ण हित की वृद्धि करने में है। यदि कोई सेवा इन शर्तों को पूरा करती है, तो निश्चय ही वह सेवा है, भले ही उसे द्रव्य के रूप में मापा जा सके या नहीं, उसे सिद्धान्त रूप में, राष्ट्रीय-भाज्य के प्रत्येक अनुमान में सम्मिलित करना चाहिए। प्रो० पीगू इस तर्क को स्वीकार करते हैं, और यह घोषित करते हैं, कि उनका मान-दण्ड सिद्धान्ततः न्याय-संगत नहीं है। वह इस मान-दण्ड को उसकी व्यवहारिक उपयोगिता के कारण ही स्वीकार करते हैं। यदि सभी सेवाओं को राष्ट्रीय-भाज्य में सम्मिलित होने योग्य मान लिया जाय, तो सम्पूर्ण राष्ट्रीय-भाज्य का हिसाब लगाना प्रायः असम्भव हो जायगा, क्योंकि राष्ट्रीय भाज्य के एक अंश को हम मूल्य के अपने एक-मात्र माप-दण्ड —द्रव्य में नहीं माप सकेंगे। इसलिए सुविधा के लिए मार्शल और पीगू द्वारा प्रयुक्त इस मान दण्ड को हमें काफी हद तक उचित मान लेना चाहिए। इस मान-दण्ड के अनुसार राष्ट्रीय-भाज्य में वे समस्त 'सेवाएँ' सम्मिलित होती हैं, जो द्रव्य की आय द्वारा खरीदी जा सकती हैं। इन सेवाओं के साथ ही वे सेवाएँ भी आती हैं, जो किसी मनुष्य को एक घर का मालिक होने और उसमें रहने से प्राप्त होती हैं। परन्तु वे सेवाएँ, जो कोई मनुष्य, अपने परिवार या मित्रों के प्रति स्वेच्छा पूर्वक करता है, राष्ट्रीय भाज्य में नहीं सम्मिलित की

जातीं। उसमें वे सेवाएँ भी नहीं सम्मिलित की जातीं, जो किसी मनुष्य को अपनी निजी वस्तुओं (जैसे फ़र्नीचर और कपड़े आदि) या जन-सम्पत्ति, जैसे सड़क, पार्क, पुल आदि से प्राप्त होती हैं। इन्हीं अर्थों में राष्ट्रीय-भाज्य अगले पृष्ठों में विचार किया जायगा।

कुल (Net) और वास्तविक (Gross) राष्ट्रीय-भाज्य—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है, कि राष्ट्रीय-भाज्य में सम्मिलित 'सेवाओं' के दो समूह है। पहले समूह में वे सेवाएँ आती हैं, जिनका प्रत्यक्ष परिणाम आत्मिक आय या सन्तोष होती है। दूसरे समूह में वे सेवाएँ आती हैं, जिनका प्रयोग दूसरी सेवाओं को जन्म देने वाले ऐसे उपकरणों के लिये किया जाता है, जो भविष्य में आत्मिक आय में रूपान्तरित हो जायँगे। उदाहरणार्थ, डाक्टर या नाई की सेवाएँ तत्काल सन्तोष देती हैं, जब कि मशीन का निर्माण करने वाले शिल्पी की सेवाएँ, उस समय तक सन्तोष न देंगी, जब तक मशीन किसी ऐसे कार्य में न लगा दी जाय, जिसका परिणाम प्रत्यक्ष सन्तोष हो। पहले और दूसरे समूहों की समस्त सेवाओं के योग को प्रो० पीगू कुल राष्ट्रीय-भाज्य कहते हैं। समस्या यह है, कि कुल भाज्य का कौन सा अंश वास्तविक राष्ट्रीय भाज्य है? क्या केवल पहले प्रकार की सेवाएँ राष्ट्रीय-भाज्य के अन्तर्गत आती हैं; या केवल दूसरे प्रकार की? या दोनों प्रकारों के किसी एक अंश की?

मार्शल द्वारा प्रस्तुत हल—मार्शल ने अपनी परिभाषा में यह बताने का प्रयत्न किया है, कि उनके अनुसार कुल राष्ट्रीय-भाज्य का कौन सा हिस्सा वास्तविक राष्ट्रीय-भाज्य में सम्मिलित किया जाना चाहिए।

"किसी देश के साधनों के अनुसार उस देश के श्रम और पूँजी प्रति वर्ष किसी निश्चित तत्वपूर्ण या तत्वहीन वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा उत्पादित करते हैं जिसमें एक प्रकार की सेवाएँ सम्मिलित रहती हैं। यही देश की वास्तविक वार्षिक आय राष्ट्रीय-भाज्य है।" अन्यत्र वह कहते हैं: "यदि हम विशेष रूप से किसी देश की आय को देखें तो हमें उस आय के स्रोतों की घिसावट की भी छूट देनी पड़ेगी। इस प्रकार मार्शल के अनुसार वास्तविक राष्ट्रीय-भाज्य वह है, जो कुल राष्ट्रीय भाज्य से देश की पूँजी को स्थिर रखने के लिए आवश्यक उसके अंश को घटा देने पर प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में मार्शल का वास्तविक वार्षिक राष्ट्रीय-भाज्य उन सेवाओं के योग के बराबर नहीं है, जो किसी निश्चित समय (जैसे एक वर्ष) में तात्कालिक उपभोग के लिए उपलब्ध है। यदि वर्ष के मध्य में ही लोग एक निश्चित बचत कर लेते हैं, और इस प्रकार एक नई पूँजी को जन्म देते हैं, तो वर्ष भर में तात्कालिक उपभोग के लिए उपलब्ध सेवाओं के योग से कहीं अधिक कुल राष्ट्रीय-भाज्य होगा। इसका कारण यह है कि इस भाज्य में अन्य सभी सेवाओं के अतिरिक्त यह नई पूँजी भी जुड़ जायगी। दूसरी ओर यदि हम मशीन की क्षतिपूर्ति के लिए कोई प्रबन्ध नहीं करते अर्थात् उसे सुधारते या नया नहीं करते तो कुल राष्ट्रीय-भाज्य तात्कालिक उपभोग के लिए उपलब्ध 'सेवाओं' से कम होगा। क्योंकि राष्ट्रीय-भाज्य के इस योग (total) में वह द्रव्य नहीं सम्मिलित है, जिसे मरम्मत आदि के लिए सुरक्षित रखना चाहिए था। इस प्रकार मार्शल स्वीकार करते हैं कि यह सम्भव है कि कुल राष्ट्रीय-भाज्य किसी निश्चित समय पर उपलब्ध 'सेवाओं' के योग के बराबर न हों। वस्तुतः, परिस्थितियों के अनुसार, यह भाज्य सेवाओं के योग से कम या अधिक हो सकता है।

प्रो० फ़िशर का हल-मार्शल से प्रो० फ़िशर का मतभेद सैद्धान्तिक है। उनके अनुसार कुल राष्ट्रीय-भाज्य केवल उन सेवाओं द्वारा निरूपित होता है, जो उपभोग के अन्तर्गत आती हैं। उनके विश्लेषण में बचत को आमदनी का एक हिस्सा मान लेना असम्भव है। मार्शल नई पूँजी को, कुल राष्ट्रीय-भाज्य का एक हिस्सा मानते हैं। फ़िशर नई पूँजी को बचत मानकर उसे कुल राष्ट्रीय भाज्य, जो आमदनी है, का एक हिस्सा मानना असम्भव मानते हैं। फ़िशर के अनुसार किन्हीं भी परिस्थितियों में बचत आमदनी नहीं हो सकती। अपने विश्लेषण के आधार पर फ़िशर ने मार्शल के विचारों की यह पहली आलोचना की है।

फ़िशर की दूसरी आलोचना यह है कि मार्शल ने अपने को कुल राष्ट्रीय-भाज्य तक सीमित नहीं रखा, वरन् यह बताया है कि यदि देश की पूँजी पहले जैसी बनी रहे तो कुल राष्ट्रीय-भाज्य कितना होगा। यदि पूँजी स्थिर नहीं रखी जाती तो उस उपलब्ध सेवाओं का एक हिस्सा जो राष्ट्रीय-भाज्य का ही अंग है, राष्ट्रीय-भाज्य के बाहर समझा जायगा। इसका कारण यह है कि उन सेवाओं को देश की पूँजी स्थिर रखने के लिए प्रयुक्त होना चाहिए था, परन्तु वे इस कार्य में नहीं लगाई गई। दूसरी ओर फ़िशर का मत यह है कि हमारा सम्बन्ध उससे होना चाहिए, जो 'है'; उससे नहीं जो 'होना चाहिए था।' क्योंकि देश के आर्थिक कल्याण को प्रभावित करने वाला वर्तमान ही होता है।

मार्शल और फ़िशर के इन दो दृष्टिकोणों में तात्विक तथा विश्लेषणगत अंतर है। एक ही स्थल पर ये दोनों दृष्टिकोण एक रूप हो सकते हैं, और वे भी तात्विक दृष्टि से ही। जब किसी देश के साधन इस प्रकार नियोजित किए जायँ, कि उनका कोई अंश क्षतिपूर्ति पुनर्स्थापन की आवश्यकताओं को पूरी तरह पूरा कर दें। अन्यथा यदि सम्पूर्ण साधनों (resources) का वह हिस्सा, जिसे पूँजी की क्षतिपूर्ति के लिए अलग रख दिया गया है, आवश्यकता से कम पड़ जाता है; तो राष्ट्रीय-भाज्य भी उपभोग के लिए उपलब्ध 'सेवाओं' के योग से उतना ही कम हो जाएगा। इसका कारण यह है, कि ऐसी दशा में राष्ट्रीय भाज्य में सम्पूर्ण साधनों का वह हिस्सा नहीं सम्मिलित हो पाएगा, जिसे देश की पूँजी पूर्ववत रखने के लिए प्रत्युक्त होना चाहिए था। इसी प्रकार यदि क्षति के लिए सुरक्षित सम्पूर्ण साधनों की मात्रा आवश्यकता से अधिक है, तो यह अतिरिक्त निधि बचत हो जायगी और राष्ट्रीय-भाज्य में इतनी ही वृद्धि हो जायगी। अतः किसी भी दशा में राष्ट्रीय-भाज्य और उपभोग के लिए उपलब्ध सेवाओं का का योग एक दूसरे के बराबर न होंगे। ऐसी स्थिति की कल्पना करना अत्यन्त कठिन है जिसमें क्षति के लिए सुरक्षित द्रव्य आवश्यक द्रव्य के ठीक ठीक बराबर हो। यदि हम चाहें कि ऐसी स्थिति साधारण परिस्थितियों में हो न कि आकस्मिक, तो यह आवश्यक है कि हम भविष्य को ठीक-ठीक पहिचान कर उसके लिए वैसी ही सुविधा कर सकें। वास्तव में किसी भी वस्तु को पहले से ठीक ठीक जान लेना असंभव है। अतः यह प्राकृतिक है कि असंगतियाँ होंगी। ऐसी परिस्थिति में यहाँ प्रत्येक वस्तु स्थिर है, अतएव किसी असंगति की सम्भावना नहीं है। क्योंकि ऐसी परिस्थिति में प्रत्येक वस्तु स्थिर तथा जड़ रहेगी, अतः काल क्रम में हुए अनिश्चित परिवर्तनों के कारण किसी प्रकार की दुविधा उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती। अस्तु, भविष्य के परिवर्तनों को पहले से जान लेना, आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि क्षतिपूर्ण की दर का अनुगणन एक बार किया जाए, और वह दश प्रतिशत हो तो, यह क्षतिपूर्ति की दर हमेशा के लिए स्थिर हो जायगी, क्योंकि कोई भी वस्तु गतिशील नहीं है। अतः यह सम्भव हो जायगा कि क्षतिपूर्ति

के लिए उतना ही द्रव्य स्वीकृत किया जाय जितनी वस्तुतः आवश्यकता है। निस्सन्देह, किसी वस्तु के अप्रचलित हो जाने की कोई आशंका नहीं है, क्योंकि हम पहले ही मान चुके हैं, कि किसी भी प्रकार की प्रगति नहीं होगी।

दुर्भाग्य वश, एक स्थिर स्थिति भी एक कल्पनात्मक अवस्था है। और हमारा सम्बन्ध उस वास्तविकता से है, जो गतिशील तथा क्रूर परिवर्तनों से पूर्ण है। इस प्रकार मशीन की रक्षा जो मशीन की कार्य-क्षमता की रक्षा मात्र है, और पूंजी की रक्षा की बीच क्षमता के उसी स्तर पर एक अन्तर आ जाता है। इसका कारण यह है कि प्रवैगिक अवस्था में प्रगति अवश्य ही होगी, और प्रगति स्वभावतः कुछ विकासों तथा सुधारों को जन्म देगी। यह विकास कुछ मशीनों और प्रक्रियाओं को अप्रचलित तथा पुरानी कर देंगे। ऐसी अप्रचलित मशीन सम्भव है, कि बाह्य रूप से बड़ी अच्छी दशा में हो, परन्तु उसे इसलिए अच्छी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसका कोई उपयोग नहीं है। ऐसा ही दुर्भाग्य उस मशीन का होगा, जो किसी ऐसी वस्तु के उत्पादन में संलग्न है, जो उपभोक्ताओं की रुचि में परिवर्तन हो जाने के कारण अचानक अप्रचलित हो जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मार्शल के विश्लेषण के अनुसार इसकी बहुत कम सम्भावना है कि वास्तविक राष्ट्रीय-भाज्य और तात्कालिक उपभोग के लिए उपलब्ध सेवाओं का योग एक दूसरे के बराबर हो। अतएव, फ़िशर की आलोचना ठीक है कि राष्ट्रीय भाज्य का यह विचार "क्या है" इसे सम्बद्ध नहीं है वरन् इससे सम्बद्ध है कि "क्या होना चाहिए।"

अब हम फ़िशर के सिद्धान्त की परीक्षा करेंगे और देखेंगे कि कहाँ तक यह सिद्धान्त मार्शल के सिद्धान्त की कमज़ोरी को दूर करता है, और कहाँ तक वास्तविक राष्ट्रीय भाज्य की समस्या का एक सही और व्यवहारिक हल प्रस्तुत करता है। परन्तु इसके पूर्व कि हम इस कार्य में संलग्न हों, यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाना चाहिए, कि राष्ट्रीय भाज्य के अध्ययन का मूल उद्देश्य क्या है, और राष्ट्रीय भाज्य की समस्या का विश्लेषण करते समय हमें कौन सा लक्ष्य संमुख रखना चाहिए।

हमारा मूल उद्देश्य आर्थिक कल्याण का अध्ययन है, हम राष्ट्रीय-भाज्य से भी सम्बद्ध हैं, क्योंकि जो कारण आर्थिक कल्याण को प्रभावित करते हैं वे ऐसा प्रत्यक्ष रूप से नहीं, वरन् राष्ट्रीय-भाज्य के परिमाण के द्वारा करते हैं। अतः राष्ट्रीय-भाज्य का अध्ययन हमें केवल यही जानने के लिए करना चाहिए कि कैसे और किस प्रकार राष्ट्रीय-भाज्य को प्रभावित करने वाले कारण, आर्थिक कल्याण पर प्रभाव डालेंगे। यदि कोई अध्ययन इस मूल उद्देश्य पर ध्यान नहीं देता, तो सम्भव है, कि वह बहुत उपयोगी न हो।

उपर्युक्त कथन के आधार पर अब हम फ़िशर के सिद्धान्त की परीक्षा करेंगे। मान लीजिए कि एक ऐसा कारण है जो राष्ट्रीय भाज्य को प्रभावित करता है, और हमें यह जानना है कि सन् १९५० में राष्ट्रीय-भाज्य पर इस कारण का क्या प्रभाव पड़ेगा। प्रो० फ़िशर के सिद्धान्त के अनुसार राष्ट्रीय-भाज्य में इस कारण किया हुआ परिवर्तन केवल सन् १९५० तक ही सीमित न रहेगा, वरन् अन्य सभी आगामी वर्षों को भी प्रभावित करेगा। यदि कारण ऐसा है, जो बचत करने के लिए प्रेरित करता है, तो, क्योंकि बचत को राष्ट्रीय-भाज्य में नहीं सम्मिलित किया जाता, इसलिए बचत भविष्य में आय हो जाएगी, और इस प्रकार उसका लेखा-जोखा करना ही पड़ेगा। फलतः इस कारण द्वारा उत्पन्न सम्पूर्ण प्रभाव का अनुमान हम एक वर्ष में नहीं लगा

सकते। इसके लिए कई वर्षों का समय आवश्यक है। मार्शल के अनुसार परिस्थित भिन्न होती है। जब हम सन् १६५० के राष्ट्रीय-भाज्य पर उस कारण के प्रभाव का अनुमान लगाते हैं, तो हम उसमें उस प्रभाव को भी निर्विवाद रूप में सम्मिलित करते हैं, जो भविष्य के उपभोग पर पड़ेगा। मान लीजिए, कि एक 'टाइप-राइटर' सन् १६५० में बनाया जाता है। प्रो० फ़िशर के अनुसार 'टाइप-राइटर' का पूरा मूल्य नहीं, वरन् उसकी सेवाओं का केवल लगानी-मूल्य (rental value) ही सन् १६५० के 'राष्ट्रीय-भाज्य' में सम्मिलित होगा। यह फ़िशर के उस विश्लेषण के अनुसार है, जिसमें वह, उपयोग के लिए तत्काल उपलब्ध सेवाओं को ही सम्मिलित करते हैं। इसलिए टाइप-राइटर की उन्हीं 'सेवाओं' का अनुमान लगाया जायगा, जो सन् १६५० में उपयोग के लिए उपलब्ध हैं।

यह सेवाएँ 'टाइप-राइटर' के उस वर्ष के लगानी-मूल्य से नापी जा सकती है। यह लगानी-मूल्य सन् १६५० के पश्चात् उस समय तक प्रत्येक वर्ष मापा जायगा, जब तक कि टाइप-राटपर किसी भी प्रकार सेवा करने में समर्थ है। इस प्रकार टाइप-राइटर के निर्माण के सम्पूर्ण प्रभाव का अनुमान हम एक वर्ष में नहीं वरन् कई वर्षों में लगा सकेंगे।

मार्शल की धारणा के अनुसार टाइप-राइटर का सम्पूर्ण पूंजी-मूल्य हमारे विचार के अन्तर्गत आएगा। इसमें न केवल १६५० के वरन् आगामी वर्षों के उपभोग पर पड़ा हुआ प्रभाव भी सम्मिलित है। अतः जिसे प्रो० फ़िशर मापते हैं, वह कारण का सम्पूर्ण प्रभाव नहीं, वरन् उसका तात्कालिक प्रभाव है। जो भी हो, हमारा सम्बन्ध किसी कारण के सम्पूर्ण प्रभाव से है, न कि उसके तात्कालिक प्रभाव से, विशेषतः उस समय जब हमारा मुख्य उद्देश्य 'राष्ट्रीय-भाज्य' और आर्थिक कल्याण में सम्बन्ध दिखलाना है। किसी वस्तु के सम्पूर्ण उपभोग द्वारा ही, हम आर्थिक कल्याण पर पड़ने वाले उसके प्रभाव का अनुमान लगा सकते हैं।

यही कारण है, कि मार्शल की योजना प्रो० फ़िशर की योजना से उत्तम है। भले ही तार्किक दृष्टिकोण से उसकी योजना प्रो० फ़िशर की योजना से हीन है, और उसमें बहुत से दोष भी हैं। अतः हम मार्शल का अनुसरण करेंगे।

राष्ट्रीय-भाज्य और आर्थिक-कल्याण—राष्ट्रीय-भाज्य के उपर्युक्त अर्थ को लेकर और यह मान कर कि वह प्रारम्भ से अन्त तक एक ही प्रकार का है—हम इसकी परीक्षा अधिक स्पष्टता पूर्वक कर सकते हैं कि किसी राष्ट्र या जाति के आर्थिक कल्याण पर राष्ट्रीय-भाज्य के परिवर्तनों का क्या प्रभाव पड़ता है? राष्ट्रीय भाज्य को एकरूप (homogeneous) मानना आवश्यक है, अन्यथा, राष्ट्रीय भाज्य के भिन्न रूप के कारण उत्पन्न होने वाली जटिलताओं की प्रकृति इतनी जटिल हो जायगी कि कोई भी सामान्य कथन अत्यन्त कठिन होगा। अतः प्रस्तुत प्रश्न पर हम अत्यन्त साधारण रूप में ही विचार करेंगे और हमारे निष्कर्ष भी साधारण होंगे।

इस प्रकार विचार करने पर राष्ट्रीय-भाज्य और आर्थिक कल्याण के सम्बन्ध के विषय में हम तीन प्रस्तावनाएँ उपस्थिति कर सकते हैं।

(१) यदि किसी कारण से राष्ट्रीय-भाज्य में वृद्धि हो जाती है तो अन्य वस्तुओं के समान रहने पर आर्थिक कल्याण में भी वृद्धि होगी। यह वृद्धि उस समय सम्भव न होगी यदि राष्ट्रीय-भाज्य में सामयिक वृद्धि होती है। यदि इस वर्ग को मिलने वाले राष्ट्रीय-भाज्य का वास्तविक

अंश नहीं घटता, तो कल्याण में अवश्य वृद्धि होगी। यदि ऐसी वस्तुओं की वृद्धि होती है, जिनका उपभोग करने का आदी वह समूह नहीं है, तो आर्थिक कल्याण में वृद्धि न होगी चाहे राष्ट्रीय-भाज्य भले ही बढ़ जाय। उदाहरणार्थ, यदि मनुष्यों के किसी विशेष समूह के लिए जो मोटर कार का उपयोग करने का आदी नहीं है, मोटर कारों की पूर्ति बढ़ जाय, तो समूह के आर्थिक कल्याण में वृद्धि न होगी भले ही उससे राष्ट्रीय भाज्य में वृद्धि हो जाय। परन्तु यदि दूसरी ओर उन धोतियों के उत्पादन में वृद्धि हो जाय, जो विचाराधीन समूह द्वारा बराबर उपभोग की जाती हैं, तो उस समूह के आर्थिक कल्याण में वृद्धि अवश्य होगी।

राष्ट्रीय-भाज्य दो प्रकार से बढ़ सकता है। यह माँग या पूर्ति की ओर कार्य करने वाले कारणों के द्वारा बढ़ सकता है। पूर्ति के अन्तर्गत आने वाले कारण वे हैं जो किसी वस्तु को कम लागत पर उत्पादित करने में समर्थ हों। माँग की श्रेणी में आने वाले कारण वे हैं जो माँग को तीव्र बना देते हैं।

लागत में कमी प्रायः तभी होती है, जब उत्पादन की विधि में कोई उन्नति की जाती है। ऐसे सुधारों का परिणाम सामान्यतः उत्पादन में वृद्धि है, यदि साथ ही साथ माँग न गिर जाय। उत्पादन में इस वृद्धि का तात्पर्य यह है, कि राष्ट्रीय भाज्य में भी वृद्धि होगी। जिसका फल यह होगा कि उपभोग के लिए उपलब्ध सेवाओं की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा के कारण सन्तोष की मात्रा भी बढ़ जायगी। इसी प्रकार किसी वस्तु की आकांक्षा में वृद्धि होने का फल यह होगा कि एक तो उपयोग की उतनी ही मात्रा से सन्तोष अधिक मात्रा में उपलब्ध होगा, और दूसरे यह नवीन चालित उद्योगों के उत्पादन की वृद्धि करेगी, जो स्वयं किसी विशेष वस्तु के उपभोग से प्राप्त अधिक सन्तोष को और भी अधिक बढ़ा देगी। केवल इसी की सम्भावना नहीं है कि माँग के घनत्व के कारण उत्पादन में एक अस्थायी वृद्धि हो जाय, वरन् इसकी भी सम्भावना है कि राष्ट्रीय-भाज्य का धरातल सदैव ऊपर की ही ओर गतिशील रहे। इसका कारण आविष्कार आदि होंगे, जो किसी वस्तु के उपभोग में रुचि देखकर प्रस्तुत किए जायेंगे। राष्ट्रीय-भाज्य की यह स्थायी वृद्धि आर्थिक कल्याण की भी स्थायी वृद्धि बन जायगी। इसी प्रकार सम्भव है कि वस्तु की पूर्ति में अस्थाई वृद्धि उस वस्तु की माँग को इतना अधिक तीव्र कर दे कि उस वस्तु की माँग स्थायी और घनीभूत हो जाय। ऐसा विशेष रूप से उस समय होगा, जब सम्बन्धित वस्तु ऐसी है, कि उसकी माँग प्रारम्भिक अवस्था में है। ऐसी नई वस्तु जिसक प्रचार अभी अधिक नहीं हुआ है, की दशा भी ऐसी ही होगी। इसका एक परोक्ष प्रभाव भी पड़ेगा। किसी वांछित वस्तु को इस प्रकार लोक प्रिय बनाया जा सकता है कि वह न केवल अधिक प्रत्यक्ष सन्तोष दे, वरन् ऐसे अप्रत्यक्ष परिणाम भी उपस्थिति करे, जो कल्याण की वृद्धि कर सकें, जैसे, गरीबों में बचत बैंक की लोक प्रियता।

(२.) यदि वास्तविक राष्ट्रीय-भाज्य के वितरण में असमानता कम हो, तो अन्य परिस्थितियों के समान रहने पर आर्थिक कल्याण में वृद्धि होने की सम्भावना रहती है। इस सामान्य प्रस्तावना की व्याख्या हम सरलता पूर्वक कर सकते हैं। एक साधारण उदाहरण लें, जिसमें एक ही स्वभाव और रुचि के दो व्यक्ति हैं, जिनमें एक ग़रीब और दूसरा अमीर है। अमीर व्यक्ति की आमदनी यदि ग़रीब आदमी के पास चली जाय, तो ग़रीब व्यक्ति की अधिक इच्छाएँ तृप्त हो सकेंगी। अमीर व्यक्ति अपनी तीव्र इच्छाओं को सरलता से तृप्त कर लेता है,

उसकी केवल दुर्बल इच्छाएँ ही अतृप्त रह जाती हैं। दूसरी ओर गरीब व्यक्ति अपनी तीव्र इच्छाओं को भी नहीं सन्तुष्ट कर पाता। यह 'क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास' नियम द्वारा स्पष्ट हो जाता है। इस नियम के अनुसार द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता एक अमीर व्यक्ति को किसी ग़रीब व्यक्ति की अपेक्षा बहुत कम है। इसलिए, सीमा पर किसी निश्चित द्रव्य से अमीर व्यक्ति को ग़रीब की अपेक्षा कहीं कम सन्तोष प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में यदि अमीर व्यक्ति की आय पाँच रुपया घटा दी जाय, तो उपयोगिता की जो कमी होगी, वह किसी ग़रीब आदमी की आय में पाँच रुपया बढ़ जाने से प्राप्त उपयोगिता से बहुत कम होगी। इसका कारण यह है कि पांच रुपए की सीमान्त उपयोगिता अमीर आदमी के लिए ग़रीब की अपेक्षा कम है। अतएव, ग़रीब की आय को अमीर की आय से स्थानान्तरित करके, अमीर के ही स्तर पर ले आने का अर्थ यह है, कि अमीर तथा ग़रीब दोनों व्यक्तियों की प्राप्त उपयोगिता में निश्चित वृद्धि हो जाएगी। अतः ऐसे समाज में जहाँ इस प्रकार के स्थानान्तरण होते हैं, अमीरों को कम हानि होती है. लेकिन ग़रीब को अधिक लाभ जिससे समाज के सम्पूर्ण कल्याण में वृद्धि होती है।

जो भी हो, इस सम्बन्ध में एक ऐसा विधान है, जिसे हमें ध्यान में रखना चाहिए। यदि इस दृष्टि से 'राष्ट्रीय-भाज्य' का पुनर्वितरण किया जाय, (कुछ अंश अमीरों से लेकर ग़रीबों को दे दिया जाय) तो यह याद रखना चाहिए, कि 'राष्ट्रीय-भाज्य' का सम्पूर्ण परिमाण न बदले क्योंकि यदि 'राष्ट्रीय-भाज्य' में परिवर्तन होता है, तो देश का आर्थिक कल्याण भी उस रूप में प्रभावित होगा जैसा कि हम पहिली प्रस्तावना में कह आए हैं। उदाहरण के लिए, यदि सम्पूर्ण 'राष्ट्रीय-भाज्य' उस समय घटता है जब स्थानान्तरण किया जा रहा है, तो यह सम्भव है, कि आर्थिक कल्याण में इस स्थानान्तरण द्वारा हुई वृद्धि नष्ट हो जाय, क्योंकि समग्र रूप से 'राष्ट्रीय-भाज्य' के कम हो जाने से, कल्याण में भी कमी होगी ही। इस तथ्य को दृष्टिगत करके प्रो० पीगू ने यह निर्देश प्रस्तुत किया है : "यदि कोई ऐसा कारण निर्धारित किया जाता है, जो अपेक्षाकृत गरीब व्यक्तियों के समूह के पूरे हिस्से में वृद्धि ला देता है, (उन वस्तुओं के रूप में जिन्हें यह समूह मुख्यतः उपभोग करने के आदी हैं)" और यदि सम्पूर्ण राष्ट्रीय भाज्य के परिमाण (सामान्य वस्तुओं के रूप में) में कमी न हो, तो आर्थिक कल्याण में वृद्धि होने की सम्भावना है।

इस निर्देश को प्रस्तुत करते समय हम इस मान्यता को लेकर चले हैं कि उन व्यक्तियों का स्वभाव एक सा होगा जिनका हम अध्ययन कर रहे हैं। व्याख्या करने पर इस मान्यता का अर्थ यह निकलता है कि विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों के आनन्द मनाने की सामर्थ्य और सामान्य वस्तुओं के उपभोग द्वारा प्राप्त संतोष, दोनों, समान होने चाहिये। इसे एक उदाहरण स्पष्ट कर देगा। यदि किसी ग़रीब को अधिक द्रव्य दे दिया जाय, तो यदि वह चाहे, अच्छे किस्म की एक ऐसी धोती खरीद सकता है, जैसी पहिनने का आदी वह नहीं है। मान लीजिए उसकी प्रकृति ऐसी है कि उसके लिये अच्छे किस्म के कपड़े से कोई अतिरिक्त आनन्द प्राप्त नहीं होता। तो क्या यह अतिरिक्त द्रव्य, जो अच्छी किस्म की धोती के लिए खर्च किया गया है, उसके आर्थिक कल्याण में वृद्धि करेगा ? स्पष्ट है कि नहीं। उससे उपलब्ध सन्तोष उतना ही होगा, जितना किसी घटिया किस्म की ऐसी धोती के उपभोग द्वारा उसे प्राप्त होता है, जिसका कि वह आदी है। अतः अच्छे किस्म की धोती पर व्यय किया हुआ अतिरिक्त द्रव्य से अधिक उपयोगिता प्राप्त न होगी। इस प्रकार का तर्क साधारणतया कुछ दशाब्दियों पहले, अधिक सुसंस्कृत राष्ट्रों द्वारा प्रस्तुत किया जाता था। यह तर्क पिछड़े हुए देशों के लिए था।

यह कहा गया कि ये पिछड़ी हुई जातियाँ, वस्तुतः जीवन के जिस स्तर की आदी हैं, उससे कुछ ऊँचे स्तर को महत्व नहीं दे सकतीं, और इसलिए उनके जीवन के स्तर को बढ़ाने में सहायक सुविधाओं को देना और इस प्रकार उनके आर्थिक कल्याण में वृद्धि करना एक व्यर्थ प्रयत्न होगा। अब ऐसे तर्क कम सुनाई देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ व्यक्ति जो आधुनिक सभ्यता से दूर हैं, सम्भव है कि उनकी सुविधाओं के महत्व को शीघ्र न समझ सकें, परन्तु जो भी हो केवल इसी कारण हम यह विश्वास नहीं कर सकते कि वे इन वस्तुओं को कभी पसन्द न कर सकेंगे। समय और शिक्षा की प्रगति के साथ वे उतनी ही सरलता पूर्वक इस सब के आदी हो सकते हैं जितनी जल्दी कोई अन्य भाग्यवान जातियाँ। इस प्रकार स्वभाव और रुचि की समानता की मान्यता, एक सैद्धान्तिक मान्यता है, जो व्यवहार जगत के हमारे निष्कर्षों को बहुत अधिक प्रभावित नहीं करती।

इस प्रकार की प्रस्तावना के विरुद्ध, दूसरे आधारों पर यह तर्क उपस्थित किया जाता है, कि मजदूरों की मज़दूरी में वृद्धि होने से यह आवश्यक नहीं है कि उनके आर्थिक कल्याण में भी वृद्धि हो क्योंकि अतिरिक्त आय व्यर्थ आनन्दों पर व्यय करदी जायगी। ऐसी परिस्थितियों में हानिप्रद मादक पदार्थों पर अधिक व्यय करना कोई ऐसी बात नहीं है, जो मज़दूरों के लिए अस्वाभाविक हो। परन्तु यह तर्क भी वैध नहीं है। क्योंकि मज़दूर वर्ग में, इस प्रकार का व्यवहार तभी देखा जायगा, यदि मज़दूरी की वृद्धि आकस्मिक और अस्थायी है। यदि यह बढ़ी हुई आय कुछ समय तक बनी रहती है तो धीरे-धीरे यह अधिक उपयोगी कार्यों के लिये प्रयुक्त होने लगेगी और तब देश के आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी। प्रारंभ में ही, इस बरबादी को रोका जा सकता है, यदि मज़दूरी की वृद्धि धीरे-धीरे हो। बहुत से अधिकारियों का मत है, कि रोज़गार की सुरक्षा और अधिक मज़दूरी ही सम्मान और चरित्र को ऊँचा करते हैं।

इस सम्बन्ध में जो दूसरा तर्क प्रस्तुत किया जाता है, यह है कि कल्याण की वृद्धि से मज़दूर-वर्ग में जन्म-दर बढ़ जाती है। यह तर्क मज़दूरी के लौह नियम पर आधारित है। इस तर्क पर अधिक ध्यान देना आवश्यक नहीं है। बहुत पहले ही आंकड़ों के आधार पर इसका खंडन हो चुका है। यह देखा गया है कि मज़दूरी बढ़ जाने से शिक्षा में वृद्धि होती है जिससे दृष्टिकोण विस्तृत हो जाता है, चरित्र ऊँचा हो जाता है और बाल-प्रेम के कारण परिवार छोटे होने लगते हैं।

(३) यदि कोई ऐसा कारण प्रस्तुत किया जाता है, जो अपनी क्रिया से 'राष्ट्रीय-भाज्य' में समयानुसार होने वाले परिवर्तन या असमानता को कम कर देता है, विशेष रूप से, 'राष्ट्रीय-भाज्य' के उस अंश को, जो गरीबों को मिलता है, तो सामान्यतः समाज का आर्थिक कल्याण वृद्धिशील होगा। वास्तविक-जीवन के परिस्थितियों में कोई भी वस्तु जड़ नहीं है, प्रत्येक वस्तु निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। संसार स्थिर नहीं, गति शील है। अतः इसमें सन्देह नहीं, कि 'राष्ट्रीय-भाज्य' भी इस परिवर्तनशीलता से प्रभावित होगा। हमारी प्रस्तावना के अनुसार 'राष्ट्रीय-भाज्य' में और विशेष रूप से गरीबों के हिस्से में जितना ही कम परिवर्तन होगा, उतनी ही अधिक समाज के आर्थिक-कल्याण में वृद्धि होगी।

इस परिवर्तन का प्रभाव ग़रीब व्यक्तियों के आर्थिक कल्याण पर अधिक पड़ेगा। इसलिए वह कारण जो ग़रीबों के लिए इस परिवर्तन शीलता को कम करता है, सम्भव है कि सम्पूर्ण समाज के कल्याण में एक निश्चित वृद्धि कर दे।

अपने कथन को पुष्ट करने के लिए हम एक सूक्ष्म तथा एक व्यवहारिक जीवन का अनुभूत प्रमाण उपस्थित करेंगे। सैद्धान्तिक सीमान्त-उपयोगिता-ह्रास-नियम के अनुसार, जैसे-जैसे किसी व्यक्ति के पास द्रव्य का संग्रह बढ़ता है, उस मनुष्य के लिए द्रव्य की सीमान्त इकाई की उपयोगिता घटती जाती है। यह सीमान्त-उपयोगिता न केवल घटती है- वरन् एक ह्रास-मान गति से घटती है, यदि ऐसा है , तो यह स्पष्ट है, कि जब द्रव्य की मात्रा कम है, जैसे कि गरीब व्यक्ति के साथ होती है, तो सीमान्त-उपयोगिता के परिवर्तन की दर अधिक होगी। इसके विपरीत परिवर्तन की दर उस समय कम होगी, जब द्रव्य की मात्रा अधिक है, और उसमें होने वाले परिवर्तन की सीमा पहले जैसी ही है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए, दो व्यक्ति **क** और **ख** हैं, जिसमें **क** अपेक्षाकृत अधिक धनी है। मान लीजिए कि उनकी आय क्रमशः ५००) रु० और ५०) रु० है। यदि उन दोनों की आय में १०) रु० का परिवर्तन हो, तो उपयोगिता का अन्तर **क** की अपेक्षा **ख** के लिए अधिक होगा। यदि दोनों की आय में कमी हो जाती है, तो इसका अर्थ यह है, कि दोनों की उपयोगिता और कल्याण की हानि होगी। परन्तु गरीब व्यक्ति की हानि बहुत अधिक होगी। क्योंकि सीमान्त पर गरीब व्यक्ति का उपयोगिता-वक्र अमीर व्यक्ति के उपयोगिता-वक्र की अपेक्षा अधिक ढालू होता है
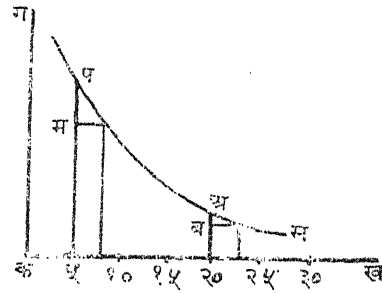
सीमा पर द्रव्य की प्रत्येक इकाई , एक गरीब व्यक्ति को अमीर की अपेक्षा अधिक मात्रा म उपयोगिता देती है। इसे एक मान चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। प्रस्तुत मान-चित्र में मान लीजिए कि **प य** उपयोगिता वक्र है। **क ख** अक्ष पर आय और **क ग** अक्ष पर उपयोगिता मापी गई है। यदि एक व्यक्ति की आय ५) है और उसमें ३) की वृद्धि होती है, तो उपयोगिता में जो परिवर्तन होगा, उसे **प स** द्वारा प्रदर्शित करेंगे। २०) की आमदनी वाले व्यक्ति की आय में भी यदि ३) की ही वृद्धि हो तो उपयोगिता की वृद्धि **अ ब** होगी। चित्र से यह स्पष्ट है कि आय में समान परिवर्तन होने के कारण जो परिवर्तन गरीब व्यक्ति के साथ होगा, वह अमीर व्यक्ति के साथ हुए परिवर्तन से कहीं अधिक होगा। जब तक उपयोगिता-वक्र केन्द्र-विन्दु की ओर उन्नतोदर होगा, असंदिग्ध रूप में यही परिणाम होगा। इसलिए यह सम्भव है कि अमीर व्यक्ति की आय में परिवर्तन की वृद्धि करके गरीब व्यक्ति की आय में परिवर्तन को कम कर देने से सारे समाज के कल्याण में वृद्धि हो जाय। इस प्रकार वह कारण जो दो वर्गों की आय की पारस्परिक अस्थिरता में ऐसा परिवर्तन ले आए, निश्चय ही सम्पूर्ण समाज के कल्याण में वृद्धि करेगा।

अनुभव द्वारा हम निम्नलिखित प्रमाण निकालेंगे :—

(१) आय की अस्थिरता का अर्थ न केवल वर्तमान सन्तोष की हानि है, वरन् इसके परिणाम भविष्य में कल्याण के लिए हानिकर भी हो सकते हैं। ये परिणाम गरीब व्यक्तियों के साथ और भी हानिकर हो जाते हैं। प्रभाव शारीरिक और नैतिक दोनों धरातलों पर होना सम्भव है। शारीरिक दृष्टि से आय की स्थिरता से आवश्यक रूप में संलग्न सुविधाओं का अभाव, मजदूरों की शक्ति (विशेषतः तरुणों की शक्ति को) खोखला बना देगा। सुविधाओं के अभाव का परिणाम यह भी हो सकता है, कि समाज के नैतिक तन्तु हमेशा के लिए ढीले पड़ जायँ। अनुभव ने बार-बार बतलाया है कि यह सच है। इंगलैण्ड के निर्धनों के कानून (poor-laws) से संबद्ध आंकड़ों ने भी इसके यथेष्ट प्रमाण उपस्थित किए हैं।

(२) निर्धनों के उपभोग में अस्थिरता होने के कारण वृत्ति में भी कुछ अंशों तक अस्थिरता आ जाती है। निर्धनों के उपभोग का घटना-बढ़ना उन वस्तुओं की माँग की मात्रा द्वारा ज्ञात होता है, जिनका निर्धन प्रायः उपभोग करते हैं। इसका परिणाम उन वस्तुओं की उत्पादन की मात्रा पर भी पड़ता है। उत्पादन की मात्रा के घटने-बढ़ने का स्वाभाविक परिणाम यह है कि वृत्ति (employment) भी अस्थिर हो जाएगी, क्योंकि किसी समय पूर्ण वृत्ति हो सकती है, किसी समय बेकारी। यह स्पष्ट है कि वृत्ति की अस्थिरता एक सामाजिक व्याधि है। यह जबर्दस्ती लादी हुई बेकारी ही बहुत सी आर्थिक और अन्य प्रकार की अक्षमता का कारण है। यह साधारणतया देखा गया है कि शिथिल (slack) वृत्ति की दशा में मादक द्रव्यों का सेवन बढ़ जाता है। निर्धनों के कानूनों से सम्बन्धित शाही कमीशनों ने ऐसी बेरोजगारी के प्रभाव का उल्लेख किया है : "किसी नौकरी के समाप्त होने के पश्चात् लादी हुई बेकारी स्वभावतः, लोगों को अपने निजी साधनों पर, जो दस में नौ दशाओं में निकटस्थ ताड़ीखाना होता है निर्भर रहने के लिए विवश कर देती है, कठिन परिश्रम से नितान्त अनुद्योग की अवस्था में प्रायः परिवर्तन होने के कारण इस प्रकृति के मनुष्य स्वभावतः क्रमशः नैतिक और शारीरिक पतन की ओर बढ़ते हैं। और अन्त में बाद में कोई अवसर मिलने पर भी ये व्यक्ति कार्य के लिये अयोग्य हो जाते हैं।"

(३) उपभोग की अस्थिरता और वृत्ति की अस्थिरता दोनों श्रमिकों के मन में अरक्षा और अनिश्चिता का प्रबल भाव उत्पन्न करती हैं। प्रो० ले रॉय बेल्यू (Leroy Beaulieu) की पुस्तक 'रिपार्टिशन-डी-रिचेसेस' (Repartition-Des-Richeses) में यह चर्चा बहुत सच और गम्भीर विचार के योग्य है कि सामान्यतः और अपवादों को छोड़कर वर्तमान सामाजिक व्याधियों का कारण वेतन की अयथेष्टता नहीं, वरन् नियुक्ति की अनिश्चितता है।"

राष्ट्रीय-भाज्य का माप

अभी तक हमने यह माना है, कि राष्ट्रीय-भाज्य निश्चित और असन्दिग्ध है। जब हमने यह निर्देश प्रस्तुत किया, तो यह निश्चित मान लिया गया था कि राष्ट्रीय भाज्य का घटना और बढ़ना किसी एक या दूसरी दिशा में निश्चित गति (Movement) से होता है। वस्तुतः हमने राष्ट्रीय-भाज्य के घटने और बढ़ने का विचार उसी प्रकार किया, जैसे हम किसी

वस्तु की पूर्ति की वृद्धि पर विचार करते हैं। परन्तु वास्तव में यह ऐसा नहीं है। राष्ट्रीय-भाज्य एक संपूर्ण इकाई नहीं है, जैसे चावल या सीमेन्ट हैं, जिनके विषय में हम निश्चित रूप से यह निरूपित कर सकते हैं, कि इनकी कितनी मात्रा, कितने व्यक्तियों में और किस अनुपात में वितरित होगी। किसी समाज का 'राष्ट्रीय भाज्य' बहुत सी वस्तुओं की छोटी-छोटी मात्राओं में प्राप्त होता है, न कि किसी एक वस्तु की स्थूल-मात्रा में। इस पर भी यदि इन विभिन्न वस्तुओं की छोटी इकाइयों में परस्पर कोई मूल-सम्बन्ध होता तो इन्हें एक साथ रख कर एक तत्व माना जा सकता था। परन्तु वास्तव में विभिन्न वस्तुओं की यह छोटी मात्राएँ, एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं, और इनमें भिन्न गति से परिवर्तन भी होता है। इस लिए राष्ट्रीय-भाज्य के परिवर्तनों को मापने के लिए कोई भी माप दंड बनाना अत्यन्त कठिन है। अधिक से अधिक यह किया जा सकता है कि अपने उद्देश्य को दृष्टि में रख कर हम स्वेच्छानुसार कोई एक माप-दण्ड चुन लें। अतः समस्या यह हो जाती है कि राष्ट्रीय-भाज्य के परिवर्तनों को मापने का कोई साधन ढूंढ़ निकाला जाय जो भिन्न-रस हो, न कि एक रस जैसा हम उपर्युक्त तीन प्रस्तावनाओं का निरूपण करते समय मान आए हैं।

किसी व्यक्ति या किसी समाज को किसी समय उपलब्ध सेवाओं की मात्रा दो बातों पर निर्भर होती है: एक तो अपने पास क्रय शक्ति के रूप में द्रव्य की आय का उपलब्ध होना और दूसरे उन वस्तुओं के मूल्य का स्तर, जिन्हें संबन्धित जन-समूह या जाति उपभोग करने की आदी है। व्यक्ति या समूह को उपलब्ध सेवाओं की मात्रा अधिक होगी यदि द्रव्य की आय अधिक है; वह कम होगी, यदि द्रव्य की आय कम है। बीस रुपया प्रति माह पाने वाला मनुष्य उतनी अधिक सेवाएँ नहीं प्राप्त कर सकेगा, जितना कि कोई दूसरा व्यक्ति प्राप्त करेगा जिसकी आय एक सौ रुपया प्राप्त है। इसलिए जब किसी व्यक्ति की द्रव्य-आय में कोई परिवर्तन होता है, तो राष्ट्रीय भाज्य के उस हिस्से में जो उसे मिलेगा, उसी दिशा में परिवर्तन होगा। यह तभी होगा, यदि उस व्यक्ति द्वारा उपर्युक्त वस्तुओं के मूल्य का स्तर समान रहता है। दूसरे शब्दों में कहेंगे कि राष्ट्रीय भाज्य उसी दिशा में परिवर्तित होता है, जिसमें कि द्राव्यिक आय। यदि द्राव्यिक आय में वृद्धि होती है, तो समूह में वितरित होने वाले राष्ट्रीय-भाज्य में भी वृद्धि होगी, अन्यथा नहीं। मूल्य के साथ परिस्थिति भिन्न है। यदि मूल्य का स्तर ऊँचा है और आय स्थिर रहता है, तो किसी व्यक्ति या जन समूह को उपलब्ध सेवाओं की मात्रा कम होगी; यदि मूल्य का स्तर नीचा होगा, तो मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होगी। इसलिए यदि उन वस्तुओं का मूल्य बढ़ता है जो संबन्धित जन-समूह के उपभोग के अन्तर्गत आती है, तो इस समूह को प्राप्त, राष्ट्रीय भाज्य का अंश भी कम हो जायगा। दूसरी ओर यदि मूल्य का स्तर गिर जाता है, तो संबन्धित जन समूह को राष्ट्रीय-भाज्य में अपेक्षाकृत अधिक हिस्सा मिलेगा। इस प्रकार राष्ट्रीय-भाज्य उसी दिशा की ओर उन्मुख होगा, जिस दिशा में द्रव्य आय में परिवर्तन। वह मूल्य के स्तर धरातल के परिवर्तन की विरोधी दिशा में जायगा। अतः राष्ट्रीय-भाज्य के परिवर्तन द्रव्य की आय और स्तर के परिवर्तनों पर निर्भर रहते हैं। यदि किसी विशिष्ट परिस्थिति में हम इन तीनों की मात्राओं के पूर्ण परिवर्तनों को न लेकर आनुपातिक परिवर्तनों को लें, तो हम उनके बीच में, कोई निश्चित सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ होंगे। द्राव्यिक आय और मूल्य स्तर में परिवर्तनों के कारण राष्ट्रीय-भाज्य पर जो सम्पूर्ण प्रभाव पड़ता है, उसे निम्न लिखित समीकरण द्वारा निरूपित किया जा सकता है:—

द्राव्यिक आय में आनुपातिक परिवर्तन ÷ मूल्यों में आनुपातिक परिवर्तन
= राष्ट्रीय-भाज्य के संपूर्ण हिस्से में आनुपातिक परिवर्तन

यदि सुविधा के लिए हम यह मान लें, कि द्राव्यिक आय स्थिर रहती है, तो राष्ट्रीय-भाज्य के आनुपातिक परिवर्तन, मूल्यों के पारस्परिक आनुपातिक परिवर्तन के बराबर होगा। अर्थात्:—

$$\frac{१}{\text{मूल्यों में आनुपातिक परिवर्तन}} = \text{राष्ट्रीय-भाज्य के सम्पूर्ण हिस्से में आनुपातिक परिवर्तन।}$$

यदि हम विभिन्न समय तथा स्थानों में मूल्य-परिवर्तनों के माप को जान सकें, तो हम सम्पूर्ण राष्ट्रीय-भाज्य के उन आनुपातिक परिवर्तनों को भी मापने में समर्थ होंगे जो विभिन्न समय या स्थानों में प्राप्त होता है। मूल्य-स्तार में आनुपातिक परिवर्तनों को जानने की जो विधि हम स्वीकार कर सकते हैं, वह तत्काल ही देशनांक (index number) तैयार करने की कठिन समस्या को सम्मुख ले आती हैं। ठीक तरह से बनाए हुए देशनांक हमें मूल्य के स्तर में विभिन्न परिवर्तन की सीमा बतला देंगे। इस प्रकार हम देशनांकों की सहायता से मूल्यों के आनुपातिक परिवर्तन को जान सकेंगे। जैसा कि हम कह चुके हैं, इस प्रकार के लेन-देन से हम राष्ट्रीय-भाज्य के परिवर्तनों का कोई एक माप दंड बना लेंगे। राष्ट्रीय-भाज्य का यह माप किन्हीं निश्चित मान्यताओं के अन्तर्गत ही सत्य सिद्ध होगा। संक्षेप में ये मान्यताएँ इस प्रकार हैं :—

(१) जहाँ 'राष्ट्रीय-भाज्य' के हिस्से का अनुमान करना है, समूह की द्राव्यिक आय स्थिर रहती है।

(२) समूहों की रुचि और स्वभाव स्थिर रहते हैं।

(३) समूह द्वारा मुख्य रूप में उपभोग की जाने वाली वस्तुओं की सूची में किसी नई वस्तु का नाम नहीं जुड़ता।

(४) वह अनुपात जिसमें विविध वस्तुओं का उपभोग किया जाता है, पहले जैसा ही रहता है।

ऐसी शर्तों वाली परिस्थितियों में हमारा माप दण्ड राष्ट्रीय-भाज्य के परिवर्तनों का अनुमान लगाने में एक साधन सिद्ध होगा। यह कहा जा सकता है, कि राष्ट्रीय-भाज्य को नापने का यह तरीका बहुत ठीक नहीं है। यह हमें केवल लगभग सही माप ही देगा।

राष्ट्रीय-भाज्य की समस्या का जीव-विज्ञान सम्बन्धी पहलू—जीव-विज्ञान-वेत्ता प्रायः यह कहते हैं, कि अर्थ-शास्त्र के अन्तर्गत हम जो भी परीक्षण करते हैं, वह व्यर्थ और त्रुटि-पूर्ण है। हम मनुष्य के वातावरण में जो परिवर्तन ले आना चाहते हैं—ताकि अपने सन्तोष की प्राप्ति के लिए, उसके पास अधिकाधिक साधन हों—वे अस्थायी और क्षणिक हैं। इन जीव-शास्त्रियों के अनुसार वातावरण के इन परिवर्तनों में कोई ऐसी निहित शक्ति नहीं होती कि वे अपने को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचा दें। उनके विश्वास का आधार यह शरीर-सम्बन्धी सत्य है कि प्राप्त विशेषताएँ उत्तराधिकार में नहीं मिलतीं। जीवाणु (Germ-cell) जो उत्पत्ति के उत्तरदायी हैं, उस शरीर से संबद्ध नहीं है, जिसमें वे स्थित हैं। वरन् वे जीवाणुओं की पूर्व-जन्म स्थिति से सम्बद्ध हैं। अस्तु, जीवाणु के शरीर की विशेषता जो भी हो,

परन्तु वे पहले के जीवाणुओं से सम्बद्ध विशेषताओं को पुनर्जन्म देंगे। शरीर तो एक शाखा मात्र है, इसलिए यदि पुत्र पिता की भांति है, तो वह इसलिए नहीं है कि पिता ने उसे जन्म दिया है, वरन् इसलिए कि पिता और पुत्र दोनों को उसी वीर्य (Germ plasm) से जन्म मिला है। ऐसा होने के कारण, जीव-शास्त्री कहते हैं, कि दीर्घकालीन दृष्टिकोण से, अर्थशास्त्र मानव के कल्याण में कोई भी वृद्धि नहीं कर सकता। अर्थ-शास्त्रियों को जिसमें सफलता मिली है वह 'राष्ट्रीय-भाज्य' के द्रव्य के वितरण में परिवर्तनों, वृद्धि या स्थिरता से सम्बन्ध रखते हैं और ये विकास शुद्ध-रूप से वातावरण प्रधान हैं। वातावरण के ये परिवर्तन वैसी परिस्थितियों में रहने वाले लोगों को प्रभावित करता है, परन्तु वह उनके बच्चों पर कोई प्रभाव नहीं डालता। प्रो० पनेट (Punnett) इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं, जब वे यह कहते हैं, कि "स्वास्थ्य-रक्षा, शिक्षा आदि वस्तुएँ अधिक से अधिक अस्थायी निदान हैं जिनको रोक देने पर वे कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं, जिन्हें सुलझाने के लिए इन निदानों का प्रतिपादन किया जाता है। स्थायी प्रगति अध्यापन कार्य नहीं है, वरन् उत्पत्ति से सम्बध एक प्रश्न है; यह प्रशिक्षण का नहीं, वरन् रतिक्रिया का एक प्रश्न है*।" वह उसी पुस्तक में आगे लिखते हैं, "मनुष्य के लिए शिक्षा का वही महत्व है जो मटर के लिए खाद का। शिक्षित वर्ग अपने आप ही अच्छे हैं परन्तु उनका अनुभव उनके बच्चों की अटल प्रकृति को तनिक भी नहीं बदलेगा।" या जैसे प्रो० ईशल्ज़ (Eich-holz) ने कहा है "ध्यान न देना, निर्धनता और पिता-माता के अज्ञान (जिनका परिणाम भयंकर होता है) की ही तरह गंभीर कोई पैतृक प्रभाव डालते†।

जीव-शास्त्रियों के निष्कर्षों की परीक्षा हम दो बातों को दृष्टि में रखकर करेंगे :—

(१) जीव-शास्त्रियों के दृष्टि-कोण से, और

(२) समाज-शास्त्र के दृष्टि-कोण से।

सबसे पहले तो हम यह कहेंगे कि जीव-शास्त्र में भी यह एक प्रतिष्ठित सत्य नहीं है कि ग्रहण की हुई विशेषताएँ पीढ़ीगत नहीं हैं। बहुत से प्रसिद्ध जीव-शास्त्रियों को इन विशेषताओं के पीढ़ीगत होने में सन्देह है। अस्तु ऐसी सन्दिग्ध स्थिति पर आधारित तर्क भी सन्दिग्ध ही होगा। फिर भी यदि हम यह मान लें कि ग्रहण की हुई विशेषतायें पीढ़ीगत नहीं होती, तो हम इससे निरूपित समाज शास्त्रीय निष्कर्षों से मत-भेद प्रकट कर सकते हैं। यह विश्वास भ्रामक है कि वातावरण के परिवर्तन आगे आने वाले पीढ़ियों के जन्म जात-गुणों को नहीं प्रभावित करते, और इसलिए वातावरण के परिवर्तन व्यर्थ होते हैं। इसके उतर में हम यही कह सकते हैं कि वातावरण के परिवर्तनों का प्रभाव इस अर्थ में स्थायी होता है कि वे भविष्य की पीढ़ियों के वातावरण को प्रभावित कर सकते हैं। वातावरण विचारों को जन्म देता है, और विचार किसी पीढ़ी द्वारा ग्रहण किए जाने पर भविष्य की पीढ़ियों के वातावरण को पुनर्निरूपित करते हैं। इस प्रकार वातावरण के परिवर्तन स्थायी परिणामों को जन्म देते हैं। प्रो० मार्शल का विचार है कि "वह परिवर्तन जो एक पीढ़ी के श्रमिकों को अधिक अच्छी आय और अपने गुणों के विकसित करने के लिए अच्छे अवसर दे सकता है, उन भौतिक और नैतिक सुविधाओं

*प्रो० पनेट: Mendalism

†Eich-holz—Evidence to the committee—Report on physical deterioration

की वृद्धि करेगा, जिन्हें श्रमिक अपने बच्चों को दे सकते हैं। स्वयं अपनी कुशलता, बुद्धि और दूरदर्शिता को बढ़ाने से, इस प्रकार का परिवर्तन कुछ सीमा तक अपने निजी सुख को बलिदान करके बच्चों के कल्याण की वृद्धि करने में सहायक होगा।" जब ये बच्चे अधिक बलवान और प्रतिभाशाली हो जायँगे, तो बड़े होने पर एक अच्छे वातावरण का निर्माण करेंगे। यह प्रभाव बढ़ता ही चला जाता है। वातावरण के परिवर्तन ऐसी शक्तियों को जन्म देते हैं, जो निरन्तर तथा समग्र रूप से, भविष्य के वातावरण को परिवर्तित करती रहती हैं। अतः जीव-शक्तियों का वक्तव्य उचित नहीं है। ग्रहण की हुई विशेषताओं के महत्व को और उन कारणों को जो जन्म जात गुणों की अपेक्षा इन विशेषताओं को अधिक प्रभावित करते हैं, यह वक्तव्य कम कर देता है। वस्तुतः ये दोनों समान रूप से महत्वपूर्ण हैं, और इन्हें एक दूसरे का पूरक मानना चाहिए।

जीव-शास्त्रियों की दूसरी आलोचना उन प्रस्तावनाओं से सम्बन्ध रखती है, जिन्हें हमने राष्ट्रीय-भाज्य और आर्थिक कल्याण के परिवर्तनों के संबन्ध में प्रस्तुत किया था। विशेष रूप से उन्होंने पहली दो प्रस्तावनाओं की आलोचना की। यह प्रस्तावनएँ राष्ट्रीय-भाज्य की वृद्धि से, और उसके ऐसे वितरण से जो निर्धनों का अंश बढ़ा सकें सम्बद्ध थी। जीव-शास्त्रियों का कथन है कि राष्ट्रीय भाज्य की वृद्धि करने वाले प्रत्येक प्रयत्न प्राकृतिक वरण (selection) की प्रक्रिया में हस्तक्षेप करेंगे, और कमजोर तथा दुबले बच्चों को जीवित रखने में सहायक होंगे। इसका सामूहिक परिणाम यह होगा कि सम्पूर्ण राष्ट्र दुर्बल हो जायगा। इसी प्रकार गरीबों के पक्ष में, राष्ट्रीय-भाज्य का कोई भी पुनर्वितरण निम्न श्रेणी के व्यक्तियों को प्रश्रय देने के समान होगा और इसका परिणाम होगा संपूर्ण राष्ट्र की दुर्बलता। अतः इस दृष्टि-कोण से, हमारी वे प्रस्तावनाएँ, जिन्हें हमने आर्थिक कल्याण की ओर उसके द्वारा सामान्य कल्याण की वृद्धि के लिए प्रस्तुत किया था, निश्चित ही संदिग्ध प्रतीत होंगी।

इसमें सन्देह नहीं कि वातावरण के शिथिल हो जाने से, कमज़ोर बच्चों को जीवित रहने का अवसर मिल जाता है, और यह किसी राष्ट्र की शक्ति के कम होने का कारण हो सकता है, परन्तु इसकी सम्भावना अधिक नहीं है। इसके दो कारण हैं:—

(१) ऐसे दुर्बल बच्चे, जिनकी दुर्बलता पैत्रिक नहीं, वरन् आकस्मिक है, जीवित रहने पर अन्य ऐसे बच्चों को जन्म देंगे जिनके पूर्ण स्वास्थ्य होने की पूरी सम्भावना हो।

(२) धन की वृद्धि न केवल अयोग्य व्यक्ति को जीवित रखती है, वरन् उससे योग्य व्यक्ति भी दुर्बल हो सकते हैं। यदि जीवन चलाने के लिए उपयुक्त साधन उपलब्ध नहीं होंगे, तो बहुत सम्भव है, कि वे व्यक्ति जो स्वस्थ जन्मे हैं, बाद को कमज़ोर हो जायँ। धन इस प्रकार की घटनाओं को दूर करने का प्रयत्न करता है। संभव है इस दोहरी क्रिया का पूर्ण प्रभाव लाभप्रद अधिक हो।

गरीबों के पक्ष में राष्ट्रीय-भाज्य का पुनर्वितरण और परिणाम स्वरूप राष्ट्र की शक्ति और क्षमता पर उसका प्रभाव इनको ध्यान में रखते हुए, हमें यह जानना चाहिए, कि निर्धनता और जन्म-जात अक्षमता के बीच कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है। अक्षमता, बुरे वातावरण का उतना ही परिणाम है, जितना जन्म-जात बुरे गुणों का। अतः यह अतिशयोक्ति है, कि

गरीबों द्वारा अधिक सन्तान उत्पन्न करने का परिणाम राष्ट्र की दुर्बलता होता है। परन्तु, यदि यह सच भी होता कि ग़रीबी और अक्षमता में किसी प्रकार का सम्बन्ध है, तो भी यह सच नहीं है कि ग़रीबों की दशा में सुधार होने का आवश्यक परिणाम यह होगा कि उनके सन्तानोत्पादन में वृद्धि हो जाय, और फलतः अमीरों की तुलना में ग़रीबों के बच्चों का अनुपात बहुत अधिक बढ़ जाय। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि ग़रीबों की दशा में सुधार होने का परिणाम असंयमित सन्तानोत्पादन नहीं होता, वरन् ऐसी दशा में सन्तानोत्पत्ति की दर घट-जाती है। अतः उनके पक्ष में आय का पुनर्वितरण उनकी संख्या को घटावेगा ही, बढ़ागवो नहीं।

अब हम यह कह सकते हैं कि हमारे निष्कर्षों का विरोध करने वाली जीव शास्त्रियों की कोई भी आलोचना ठीक नहीं है। अतएव, हमारी प्रस्तावनाएँ उसी रूप में सच हैं जैसी वे निरूपित की गई थीं।

अध्याय ६४

आर्थिक आयोजन*

आर्थिक आयोजन क्या है ?

सामान्य दृष्टिकोण—आर्थिक आयोजन किसी दिए समय में स्पष्ट निश्चित ध्येय प्राप्ति हेतु आर्थिक शक्तियों का युक्तिपूर्ण नियंत्रण है। इसका अर्थ है आर्थिक साधनों, जो माँग की दृष्टि से अलभ्य हैं, के वैकल्पिक उपयोगों की इस प्रकार व्यवस्था करना कि उनके द्वारा प्राप्त संतुष्टि अधिकतम बनी रहे। अन्य शब्दों में, आर्थिक आयोजन के अंतर्गत किसी पूर्व निश्चित-ध्येय की प्राप्ति के लिए अलभ्य साधनों के सम्बंध में चुनाव करना पड़ता है। यह सावधानी पूर्वक सोच विचार कर निर्णीत सम्बद्ध ध्येय-प्राप्ति सम्बंधी नीति है।

मोटे तौर पर व्यक्ति, व्यापारिक फर्म, उद्योग और राज्य अपने अपन क्षेत्र के आर्थिक साधनों पर नियंत्रण रख सकते हैं। परन्तु प्रथम तीन वर्गों का नियंत्रण अति सीमित होता है जबकि राज्य का नियंत्रण देश के सम्पूर्ण आर्थिक साधनों पर हो सकता है। व्यक्ति, फर्म तथा उद्योग द्वारा उत्पादन के साधनों की नियंत्रित व्यवस्था को "व्यापारिक प्रबन्ध" तथा "युक्तिकरण" से सम्बोधित करते हैं और आर्थिक आयोजन यथार्थतः राज्य द्वारा किए आयोजन को कहते हैं।

वास्तव में, राज्य चाहे पूर्ण अर्थ व्यवस्था के एक अंग का नियंत्रण करे, या किसी प्रादेशिक अर्थ व्यवस्था का या पूर्ण अर्थ व्यवस्था का, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। जब तक नियंत्रण बहुत सोच विचार कर किया जाता है, संबद्ध है और विशिष्ट उद्देश्य के लिए है, यह आर्थिक आयोजन कहलाएगा।

विशिष्ट दृष्टिकोण—यह स्पष्ट ध्यान रहे कि आर्थिक आयोजन तभी प्रभावित होगा जब वह पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का हो, न कि अर्थ-व्यवस्था के अंतर्गत, क्योंकि विभिन्न वर्ग और प्रदेश सम्पूर्ण इकाई के अंग हैं और पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के आयोजन के बिना उनका अलग-अलग आयोजन नहीं किया जा सकता।

यहाँ इसी अर्थ में आर्थिक आयोजन समझा गया है कि यह पूर्ण अर्थ व्यवस्था का केन्द्रीय-आयोजन है।

इसी तरह आर्थिक आयोजन के निम्नांकित लक्षण हैं। (१) इसके अन्तर्गत एक ध्येय चुनते हैं। (२) उस ध्येय को स्पष्ट निश्चित समय में प्राप्त करना होता है। (३) ध्येय

---

*देखिये बारबा वूटन—प्लान ऑर नो प्लान ; फर्डिनेन्ड ज़्युग —दि प्लानिंग ऑव फ्री सोसायटीज़; क्लाड डेविड बाल्डविन—इकनामिक प्लानिंग : इट्स एम्स एंड इम्प्लीकेशन्स; जे आर बेलर्बी—इकनामिक रिकन्सट्रक्शन; फेबिअन सोसाइटी [illegible] प्लानिंग बी डेमोक्रेटिक; सर ह्यबर्ट हेन्डरसन—दि यूज़ेज़ एंड एब्यूज़ेज़ ऑव इकनामिक प्लानिंग (दि बीड लेक्चर, १९४७)।

प्राप्ति के लिए आर्थिक-साधनों की युक्ति संगत व्यवस्था करते हैं। (४) आयोजनानुसार उत्पादन-साधनों का नियंत्रण करते हैं। (५) व्यक्तियों के निर्णय के बजाय साधनों पर राज्य का नियंत्रण होता है।

आर्थिक आयोजन के प्रकार—आर्थिक आयोजन के मुख्यतः तीन प्रकार हैं: (१) साम्यवादी आर्थिक आयोजन; (२) फासिस्ट आर्थिक आयोजन तथा (३) पूंजीवादी आर्थिक आयोजन। पहले और दूसरे में केवल दो बातों का अंतर है—(अ) साम्यवादी आयोजन में उत्पादक के सभी भौतिक साधनों का राष्ट्रीयकरण हो जाता है और उन पर राज्य का नियंत्रण होता है। फासिस्ट आयोजन में स्वामित्व तो वैयक्तिक ही होता है परन्तु साधनों के उपयोग का निर्देश राज्य देता है। (ब) साम्यवादी आयोजन का ध्येय समग्र जनता, विशेषतः दलित जन का हित करना होता है। इसके अंतर्गत सामान्य सामाजिक कल्याण हेतु आयोजन किया जाता है। फासिस्टवादी आयोजन का ध्येय एक अल्पसंख्यक वर्ग—सैनिक वर्ग—का हित पूर्ति करना होता है। यह राजनैतिक सत्ता और युद्ध हेतु किया गया आयोजन होता है, न कि जन कल्याण हेतु।

साम्यवादी आयोजन का उदाहरण रूसी नियोजित अर्थ-व्यवस्था है। दूसरी के उदाहरण जर्मनी का नात्सी आयोजन तथा इटली का फासिस्ट आयोजन है।

यह दोनों प्रकार एक से हैं। अतः दोनों पर "आर्थिक आयोजन" नाम से ही विचार करेंगे।

पूंजीवादी आर्थिक आयोजन का अध्ययन अन्य उपयुक्त शीर्षक के अंतर्गत होगा। इसकी प्रकृति, संचालन और क्षेत्र का वहीं उल्लेख किया जाएगा। इसके उदाहरण हैं—संयुक्त राष्ट्र अमरीका का न्यू डील (New Deal) और ब्रिटेन तथा संयुक्त राष्ट्र अमरीका का युद्ध-कालीन आयोजन।

आर्थिक आयोजन क्यों?—आर्थिक आयोजन का विचार ईसा-पूर्व चार शताब्दि पुराना है, परन्तु इसका व्यवहार सन् १९१८ से आरंभ हुआ, विशेषतः सन् १९२८ से जब रूस की प्रथम पंचवर्षीय योजना चालू की गई।

द्वितीय महायुद्धकाल से आर्थिक आयोजन सामयिक बन गई है। यह सभी आर्थिक कठिनाइयों का हल समझी जाती है: सभी आर्थिक रोगों की दवा। साम्यवादी, समाजवादी राष्ट्रवादी, सैनिकवादी, औद्योगीवादी व्यक्ति, (चाहे वे पिछड़े देशों के हों या विकसित देशों के या व्यक्तिवाद प्रधान देश के)। उद्योगपति, मज़दूरवादी, अर्थशास्त्री, राजनीतिज्ञ सभी आर्थिक योजना के प्रतिपादक हैं।

इस स्थिति के निम्न कारण हैं:—

१—पूंजीवादी प्रणाली के निम्नांकित संक्षेप में दिये दोषों के कारण होने वाली निराशा—

(अ) इस प्रणाली के कारण विषमता भयंकर रूप में बढ़ गई है। इसके कारण अत्यधिक धनराशि तो पैदा की गई है परन्तु इसका न्यायोचित

वितरण नहीं किया जा सका है । इसका अधिकांश स्वामियों को मिलता है और एक छोटा अंश ही जनता को प्राप्त हो पाता है । फलतः विषमता होती है जो आजकल बहुत बढ़ गई है ।

(ब) यह प्रणाली अक्षमतावान सिद्ध हुई है। इसको केवल लाभ की आशा से प्रेरणा मिलती है। जब तक किसी उत्पादन संस्था से लाभ की आशा नहीं होगी तब तक उसका संचालन नहीं किया जाएगा। फलतः भौतिक तथा माननीय साधनों का एक बड़ा अंश बेकार पड़ा रहता है यदि उससे वैयक्तिक साहसोद्यमियों को कोई लाभ होने की आशा नहीं है । इस प्रकार इन साधनों की बहुत बरबादी होती है ।

(स) आय की विषमता और लाभगत प्रेरणा के कारण धनिक वर्ग के लिए ही साधनों का प्रयोग होता है । धनी-मानी व्यक्तियों की अस्थायी और अनावश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साधनों का प्रयोग होता है और शष जनता की आवश्यक माँगें पड़ी रहती हैं । इस प्रकार उपभोग के अनर्थ फल होते हैं ।

(द) इस प्रणाली की समय-समय पर गाड़ी अटक जाती है । इसके अंतर्गत बड़ी मात्रा में और दूर स्थित समय के लिए उत्पादन किया जाता है और इसके विभिन्न साहसोद्यमी एक दूसरे से स्वतंत्र होकर (और बिना यह जाने कि दूसरे क्या कर रहे हैं) उत्पादन करते हैं । फलतः लगभग निश्चित कालांतरों पर अत्युत्पादन होता है और इससे आर्थिक संकट पदा होता है । माल भरा पड़ा रहता है ; जनता भी उन्हें अधिक मात्रा में प्राप्त करना चाहती है, परन्तु उनका क्रय-विक्रय नहीं होता क्योंकि बाजार मूल्य उत्पादकों और व्यापारियों के लिए लाभप्रद नहीं होते । अतः उत्पादन विनिमय और वितरण की सारी प्रणाली रुक जाती है । बेकारी बहुत रहती है—अतः जनता को दुख भी बहुत होता है । इस प्रकार यह प्रणाली अस्थिर है ।

२—दूसरा कारण, आर्थिक आयोजन द्वारा ही यह आशा है कि इससे न केवल अबाध्य अर्थ-प्रणाली के दोषों से मुक्ति मिल जायगी वरन् उससे भी उत्तम व्यवस्था होगी । यद्यपि जहाँ नियोजित अर्थ-व्यवस्था आरंभ की गई है उसको और उसके फल को दृष्टि में रख कर ऐसी व्यवस्था के सबंध में कोई अंतिम निर्णय नहीं दिया जा सकता, निस्संदेह अपने कार्यान्वित होने के अल्प काल में भी इसने आर्थिक स्थिति में बहुत कुछ सुधार किया है । कुछ समय पूर्व फासिस्टवादी जर्मनी, इटली और जापान तथा साम्यवादी रूस में आर्थिक आयोजन के कारण प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादन में अत्यंत वृद्धि हुई, वृत्ति में बहुत वृद्धि हुई (भले ही पूर्ण रूप से बेकारी नहीं हटी हो) और विषमताओं तथा बरबादी में (विशेषतः रूस में) उत्साहपूर्ण कमी हुई । यह कहा जाता है कि यदि रूस में आर्थिक आयोजन न हुआ होता, तो द्वितीय महायुद्ध में वह कभी विजयी न होता ।

३—दूसरे कारण से मिला-जुला एक तीसरा कारण यह है कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध में संलग्न देशों में (उन देशों में जहाँ आर्थिक आयोजन करना पड़ा) आयोजित

उत्पादन की सफलता है । यह विशेषतः पश्चिमी देशों और संयुक्त में सत्य है । इन देशों में जनता की निम्नतम आवश्यकताओं की पूर्ति और सैन्य सम्बन्धी अधिकतम आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही उत्पादन आयोजित किया गया । उत्पादन-योजनाएँ बनाई गईं, उपलब्ध साधनों पर सरकार ने बाध्य रूप से अधिकार जमाया और वैयक्तिक तथा राज्य द्वारा स्थापित संस्थाओं द्वारा उन्हें विभिन्न उपयोग में लगाया, अधिकारियों ने युद्ध-जनित आवश्यकताओं को पूरा करके राशनिंग व्यवस्था द्वारा जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की चेष्टा की थी । इन नियंत्रणों की सहायता से इन देशों ने उस स्थिति को भली प्रकार संभाल लिया। इस कारण आयोजित अर्थ-व्यवस्था में जनता का विश्वास बढ़ गया । अब यह तर्क करते हैं कि यदि युद्ध-काल में आयोजित अर्थ व्यवस्था क्षमता प्रदान कर सकती है तो कोई कारण नहीं कि शांतिकाल में ऐसा न कर सके ।

आर्थिक आयोजन किस लिए ?—ऊपर हमने आर्थिक आयोजन की परिभाषा दी है कि यह अलभ्य आर्थिक साधनों का इस प्रकार उपयोग और संगठन है कि वांछनीय निश्चित ध्येय की प्राप्ति हो जाय ; आर्थिक आयोजन ध्येय तक पहुँचने का साधन है, स्वयं ध्येय नहीं है । वह कौन सा ध्येय है जिसे आयोजित अर्थ-व्यवस्था द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा करते रहते हैं ?

यह ध्येय आर्थिक या कोई अन्य हो सकता है । यह अंशतः आर्थिक हो, अंशतः राजनैतिक और अंशतः सामाजिक । साधारणतया पिछले बीस वर्षों में जिन ध्येयों के लिए आयोजन किया गया है वे मिले-जुले किस्म के ही रहे हैं । ये निम्नांकित हैं :—

(१) सुरक्षा तथा राजनैतिक सत्ता—शांति-प्रिय देशों में सुरक्षा ध्येय रहा है और आक्रमणकारी देशों में, राजनैतिक-सत्ता अर्थात् दूसरे देश पर अधिकार जमाने की इच्छा ।

(२) पिछड़े क्षेत्रों का विकास और आत्मनिर्भरता । आत्मनिर्भरता कई देशों की नीति रही है और वास्तव में उसमें प्राय. उनका राजनैतिक सत्ता सम्बन्धी ध्येय निहित है । पिछड़े और अर्द्ध-विकसित देशों के विकास इसलिए ध्येय बना जिससे ये देश बढ़े हुए देशों की बराबरी में आ जायँ—विशेषतः, जिससे कृषि-प्रधान देशों में अधिक भोजन और कच्चे माल की माँग वहीं से पूरी हो सके और आर्थिक मंदी जैसे संकटों को भोगा जा सके । इन देशों में कभी-कभी अपने देशवासियों—विशेषतः किसानों और मजदूरों—की मौलिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिए स्वेच्छाचारी ध्येय बनाए गए हैं ।

(३) पूर्ण वृत्ति—पूर्ण वृत्ति के दो अर्थ हैं—(अ) सारे समाज के लिए इसका अर्थ श्रम और अवकाश (leisure) में उपयुक्त संतुलन प्राप्त करना है—ऐसा संतुलन जिससे कार्य और अवकाश के फलस्वरूप अधिकतम संतुष्टि मिल सके । (ब) प्रत्येक व्यक्ति के लिए इसका अर्थ उसे कार्य के लिए उचित और निश्चित अधिकार देना है । (जब तक श्रम कार्य पर निर्भर है) और इसी प्रकार अवकाश का भी उचित भाग । साधारण भाषा में इसका यह अर्थ हुआ कि काम माँगने वाले को काम मिलेगा, फिर चाहे वह किसी वर्ग का हो । इसमें यह बात निश्चित है कि काम लाभप्रद होगा ।

इसी ध्येय को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि हम सामान्य जीवन स्तर को ऊँचा उठाने के लिए आयोजन कर रहे हैं।

_ सभी आर्थिक आयोजन का ध्येय पूर्ण वृत्ति रहा है—इसलिए नहीं कि राष्ट्रीय धन की वृद्धि करना है वरन् इसलिए कि मनुष्य को मानसिक-आय मिल सके अर्थात् काम करने वालों को यह संतोष रहे कि वे काम करते हैं और समाज के उपयोगी सदस्य होने के नाते उनका आत्म सम्मान है।

(४) आर्थिक सुरक्षा—यह भी उचित मजदूरी पर पूर्णवृत्ति का दूसरा नाम ही है—उचित मजदूरी से हमारा अर्थ उस मजदूरी से है जिससे परिवार का कम से कम प्रचलित स्तर पर पोषण किया जा सके। आर्थिक सुरक्षा तब तक नहीं हो सकती जब तक प्रत्येक व्यक्ति को जो वृत्ति चाहता है (और आयोजित अर्थ व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति यह चाहेगा ही) वृत्ति अनिश्चित रूप से उचित मजदूरी पर मिलने का आश्वासन न हो।

यदि आयोजित अर्थ-व्यवस्था पूँजीवादी या फासिस्टवादी है, तो आर्थिक सुरक्षा का अर्थ निम्न बातों की प्राप्ति होगा :—

(अ) पूर्ण-वृत्ति

(ब) उचित मजदूरी

(स) उचित लाभ

और इस कारण उचित मूल्य, भाटक, व्याज को दर आदि।

(५) सामाजिक समानता—यह उद्देश्य अनार्थिक प्रकृति का है, और इसकी उत्पत्ति दो भावनाओं में है:—

(अ) वर्तमान समय में दीख पड़ने वाली विकट असमानतायें जो अमीरों के दिखा-ऊपन का परिणाम हैं। उनके कारण राष्ट्रीय साधनों की बर्बादी होती है। अमीर अपनी मामूली से मामूली आवश्यकताओं को संतुष्ट कर लेते हैं और गरीबों की जीवन रक्षक आवश्यकतायें भी सन्तुष्ट नहीं हो पातीं। (ब) दूसरी न्याय की भावना है। प्रतिस्पर्धा प्रणाली से उत्पन्न असमानता का पता लग जाने के कारण, शिक्षा का प्रसार, जनता की जागृति तथा समाजवादी आन्दोलन के कारण मालिकों में उचित व्यवहार तथा न्याय की भावना बढ़ती जा रही है और ऐसी सामाजिक व्यवस्था-जिसमें सभी समान होंगे प्राप्त करने योग्य एक आदर्श बनता जा रहा है। पूर्ण समानता न सम्भव है और न कोई इसे चाहता ही है। अतः समाज जिसे स्थापित करने की बात कही जाती है ऐसा होगा जिसमें विभिन्न क्षमताओं के कारण उत्पन्न असमानताएँ होंगी। रूस में 'प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार तथा प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार' का नारा अब बदल कर प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार तथा प्रत्येक को उसके कार्य के अनुसार हो गया है।'

(६)—युद्धोपरांत पुनर्संगठन तथा शान्ति के लिए पुनर्निर्माण—यह उन देशों का उद्देश्य है जो दूसरे महासमर में बर्बाद हो गये हैं। युद्ध के कारण उनकी अर्थ-व्यवस्था भंग हो गई और उनकी सम्पत्ति को भारी हानि हुई। इससे उत्पन्न समस्याओं का उन्हें सामना करना पड़ रहा है और उन्हें पूरा करने का वह प्रयास कर रहे हैं। तात्कालीन समस्या युद्धोपरान्त पुनर्संगठन की है और दीर्घकालीन समस्या शान्ति के पुनर्निर्माण की। इनको सुलझाने के लिये योजनायें प्रस्तुत की जा रही हैं।

इन उद्देश्यों के संबंध में यह ध्यान रखने योग्य बात है कि आर्थिक को अनार्थिक से अलग नहीं किया जा सकता है और न इसकी आवश्यकता ही है। आर्थिक उद्देश्यों का अनार्थिक परिणाम भी होता है। आर्थिक आयोजन का अन्ततः उद्देश्य सामान्य आयोजन ही होता है क्योंकि इससे व्यक्तियों तथा वर्गों के आपसी सम्बन्ध बदल जाते हैं। ऐसा उनके उत्पत्ति के साधनों से संबंध बदल जाने के कारण होता है जैसा कि उस समय होता है जब पूँजी तथा भूमि में व्यक्तिगत संपत्ति का अन्त कर दिया जाता है। इन दशाओं में आर्थिक आयोजन लगभग व्यक्तियों का आयोजन हो जाता है क्योंकि उनकी आदतों को बदलना पड़ता है।

यह कहा जा सकता है कि आर्थिक उद्देश्य पूर्ण वृत्ति या रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना या आर्थिक सुरक्षा है क्योंकि इन तीनों का अर्थ लगभग एक सा है या यों कहिये कि इन तीनों का परिणाम एक ही निकलता है। शान्ति या उन्नति के लिये आयोजित अर्थ-व्यवस्था में इनमें से कोई एक उद्देश्य मान लिया जाता है और उसकी प्राप्ति के लिये कार्य किया जाता है चाहे उसका परिणाम कुछ भी निकले।

आर्थिक आयोजन का रूप—आर्थिक आयोजन क्या है? के अन्तर्गत हमने जो कुछ बताया है उससे आर्थिक आयोजन का रूप अवश्य स्पष्ट हो गया होगा। सूक्ष्म में उसे पुनः बताया जा सकता है। हम कह आये हैं कि आर्थिक आयोजन का अर्थ सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को किसी एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये तार्किक तथा सुचारु रूप से नियंत्रित करना है। ध्यान रहे कि राष्ट्र द्वारा लगाये गये प्रतिबन्ध या हस्तक्षेप आर्थिक आयोजन के अन्तर्गत नहीं आते। प्रत्येक देश में राष्ट्र का कुछ न कुछ हस्तक्षेप अवश्य रहा है। आजकल इसका हस्तक्षेप बढ़ गया है और यह उत्पादन, उपभोग, वितरण, विनियोग, व्यवसाय आदि सभी आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप करता है। परन्तु इस प्रकार का हस्तक्षेप आर्थिक आयोजन नहीं है जब तक किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये आर्थिक स्रोतों के प्रयोग का नियंत्रण नहीं होता।

आर्थिक आयोजन में निहित प्रतिबन्धों से स्वतंत्र-जोखिम प्रणाली के अन्तर्गत प्राप्त आर्थिक चुनावों की स्वतन्त्रता पर रोक लग जाती है। यह स्वतन्त्रता पाँच प्रकार की है। (१) उत्पादन की स्वतन्त्रता—कितनी मात्रा में तथा किस वस्तु का उत्पादन करना, (२) विनिमय दर की स्वतन्त्रता—वस्तुएँ किस दर पर क्रय-विक्रय की जायँ, (३) मनुष्य किस पेशे को अपनावें तथा क्या व्यवसाय करें, (४) बचत तथा विनियोग की स्वतंत्रता—अपनी आय के कितने भाग का व्यक्ति विनियोग करें, तथा (५) उपभोग की स्वतन्त्रता-प्रत्येक मनुष्य किस वस्तु का कितनी मात्रा में उपभोग करे।

आर्थिक आयोजन में चुनावों की यह स्वतन्त्रतायें राष्ट्र द्वारा पूर्ण या आंशिक रूप से कम करदी जाती हैं। यदि इनको पूर्ण रूप से कम कर दिया जाता है तो प्रतिबन्ध पूर्ण होता हैं अन्यथा आँशिक। एक राष्ट्र इन्हें कितने अंश तक कम करेगा यह राष्ट्र द्वारा निर्धारित होता है परन्तु यह निश्चित है कि ऐसी कोई भी स्वतन्त्रता जो निर्दिष्ट उद्देश्य प्राप्त करने में बाधा पहुँचाये, उसे व्यक्तियों को नहीं देगा।

आर्थिक आयोजन में जिन स्वतंत्रताओं पर रोक लग जाती है उन्हें आयोजन-अधिकारी स्वयं ले लेते हैं। वह सब बातें जो व्यक्ति तय करते थे, अब आयोजन-अधिकारी निर्धारित करते हैं। और वह उन बातों को इस प्रकार से निर्धारित करते हैं कि निर्दिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति सम्भव हो जाय। आर्थिक प्रणाली के विभिन्न अंगों को आपस में सम्बद्ध कर उसे किन्हीं उद्देश्यों पर आधारित कर दिया जाता है। यह सम्बद्ध प्रतिबंधों का एक रूप है।

प्रतिबन्ध

प्रतिबन्धों के प्रकार—आयोजन-अधिकारियों द्वारा लगाये गये प्रतिबंध दो प्रकार के होते हैं—(१) प्रत्यक्ष तथा (२) अप्रत्यक्ष।

(१) प्रत्यक्ष प्रतिबन्ध 'आज्ञा' जैसे प्रबन्धिक कार्यों द्वारा लगाये जाते हैं। इसके कारण बाज़ार की कार्य-विधि प्रभावित हो जाती है और संस्थिति से हट जाती है। यह केन्द्रीय आयोजित अर्थ प्रणाली के उपयुक्त है।

(२) अप्रत्यक्ष प्रतिबन्ध समाज की आर्थिक हलचलों को प्रोत्साहित कर, रोक कर या सहायता देकर लगाये जाते हैं। इससे बाज़ारी कार्य-विधि बेकार नहीं हो जाती। केवल उसकी प्रगति प्रभावित होती है। यह एक अ-आयोजित अर्थ-व्यवस्था के लिए उपयुक्त है।

विभिन्न प्रतिबन्ध तथा उनकी आवश्यकता

(१) **उत्पादन पर प्रतिबन्ध**—यह बहुत महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध है। इसका प्रयोग किसी वस्तु के उत्पादन को स्थिर करने के लिये किया जाता है, जब सरकार यह चाहती है कि व्यक्ति इसका उपभोग अधिक मात्रा में न करें। इसका प्रयोग किसी वस्तु का उत्पादन कम करने के लिये भी किया जाता है जब सरकार यह चाहती है कि इसका उपभोग कम किया जाय। अधिकतर इसका प्रयोग उत्पादन बढ़ाने, व्यक्तियों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने तथा देश के उन्नति के लिये किया जाता है। उत्पादन को किसी एक दिशा में या सभी दिशाओं में बढ़ाने की बात हो सकती है। किसी एक दिशा में उत्पादन बढ़ाने की बात ऐसे अवसरों पर होती है जैसे युद्ध या रक्षा के लिये आयोजन करते समय युद्धोपयोगी उद्योगों को बढ़ाने की बात या युद्धोपरांत पुनरुत्थान के लिये मकानों के निर्माण के लिये आवश्यक वस्तुओं के उद्योगों की उन्नति की बात या औद्योगीकरण के लिये पूँजीगत उद्योगों की उन्नति की बात या खाद्य सामान या कच्चे माल के उत्पादन बढ़ाने की किसी योजना में कृषि का उत्पादन बढ़ाने की बात और सभी दिशाओं में उत्पादन बढ़ाने की बात उस समय होती है जब पूर्ण-रोजगार के लिये या आर्थिक सुरक्षा के लिये या जीवन स्तर बढ़ाने के लिये आयोजन किया जाय।

उत्पादन पर नियंत्रण रखने का क्षेत्र बहुत बड़ा है । इससे उत्पादन तथा उपभोग की मात्राएँ निर्धारित की जाती हैं और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अर्थ-प्रणाली का प्रत्येक अंग प्रभावित होता है । इसके अन्तर्गत मूल्यों, श्रमिकों के वेतन, पूंजी का विनियोग, श्रमिकों की विभिन्न उद्योगों में पूर्ति, वस्तुओं की बिक्री आदि पर नियंत्रण रखना पड़ता है ।

(२) **उपभोग पर नियंत्रण**—यह भी बड़ा महत्वपूर्ण नियन्त्रण है । यह वृद्धिमान हो सकता है (अर्थात् कुछ वस्तुओं का उपभोग बढ़ाने का इसका ध्येय हो सकता है) या ह्रासमान (अर्थात् कुछ वस्तुओं का उपभोग कम करने का इसका उद्देश्य हो सकता है) । पहले प्रकार का प्रतिबन्ध उस समय लगाया जाता है जब व्यक्ति किसी एक वस्तु का उपभोग पसन्द नहीं करते परन्तु सरकार उसका उपभोग बढ़ाना चाहती है जिससे उस वस्तु का उत्पादन बड़ी मात्रा में किया जा सके । ऐसा विशेषतः उसी समय होता है जब अर्थ-व्यवस्था अपूर्ण या आंशिक वृत्ति वाली है ।

दूसरे प्रकार का प्रतिबन्ध उस समय लगाया जाता हैं जब बचत की अधिक आवश्यकता होने के कारण सरकार बचत की मात्रा बढ़ाना चाहती है या उपभोक्ताओं में प्रतिस्पर्धा रोकने के लिये मूल्य-नियन्त्रण करना चाहती है । इस प्रकार का प्रतिबन्ध विशेषतः युद्धोपयोगी उत्पादन के आयोजन के समय या औद्योगीकरण की प्रगति तीव्र करने के लिए लगाया जाता है क्योंकि इन समयों में वस्तु की पर्याप्त मात्रा में उपलब्धि के लिए उपभोग पर नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है । यह प्रतिबन्ध उस समय भी लगाया जाता है जब सरकार जनस्वास्थ्य तथा कार्य-कुशलता को ध्यान में रखते हुए किन्हीं वस्तुओं का उपभोग अनावश्यक समझती है जैसे शराब, बेकार विलासिता की वस्तुओं, भांग, चरस आदि और इनका उपभोग कम करना चाहती है या जब वह उपभोक्ताओं की शीघ्र परिवर्तनीय पसंद को रोकना चाहती है जिसके कारण उसकी योजना में गड़बड़ी पड़ जाती है या जब वह 'दोहरे मत' को जो अमीर तथा धनवान व्यक्तियों को प्राप्त है, जिससे वह अपनी मामूली से मामूली आवश्यकताओं को सन्तुष्ट कर लेते हैं और गरीब अपनी जीवन रक्षक आवश्यकताओं को भी सन्तुष्ट नहीं कर पाते, रोकना चाहते हैं ।

(३) **विनियोग का प्रतिबन्ध**—यह अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध है । यह प्रत्येक आयोजित अर्थ-व्यवस्था का आधार है । प्रत्येक आयोजित अर्थ-व्यवस्था में—चाहे आयोजन युद्धोपयोगी उत्पादन या औद्योगीकरण या पूर्ण-वृत्ति के लिए हो—एक उत्पादन का कार्य-क्रम होता है (जिसके अनुसार उत्पादित वस्तु की मात्रा आवश्यकता के बराबर होनी जरूरी है) और इस कार्य-क्रम को पूरा करना होता है । यह आर्थिक स्रोतों को तार्किक ढङ्ग से व्यवहार में लाने से ही पूरा हो सकता है । यह विनियोग-दर पर नियन्त्रण लगा कर ही पूरा किया जा सकता है । इसी प्रकार उद्योगों का विशिष्टीकरण तथा केन्द्रीयकरण विनियोग के प्रतिबन्ध पर ही निर्भर हैं । इसी पर किसी उद्योग की अवस्था, रूप तथा कार्य क्षमता, फर्मों द्वारा उत्पत्ति के साधनों का अनार्थिक प्रयोग या उनमें अनुचित प्रतिस्पर्धा निर्भर हैं ।

(४) **पेशे तथा रोजगारों पर प्रतिबन्ध**—एक आयोजित अर्थ-व्यवस्था में इसका अधिक महत्व नहीं है । इस सम्बंध में प्रत्यक्ष नियंत्रण बेकार सा ही है । राष्ट्र यह

निर्धारित नहीं करता कि व्यक्ति किस पेशे तथा रोज़गार को अपनायें । केवल दास-अर्थ-व्यवस्था में ही ऐसा होता है। एक बड़े विशिष्ट अवसर पर जैसे युद्ध के समय या अकाल पड़ने पर, राष्ट्र इस प्रकार का प्रतिबंध लगाये अर्थात् वह श्रमिकों-को भर्ती करे और उन्हें काम करने के लिये बाध्य करे ।

पेशे तथा रोज़गार पर अप्रत्यक्ष प्रतिबंध लगाने की प्रथा का कभी-कभी प्रयोग किया जाता है । अधिकारी यह निश्चित कर लेते हैं कि क्या क्या काम होना है और प्रत्येक कार्य के लिये मिलने वाला वेतन भी । फिर श्रमिकों पर यह छोड़ दिया जाता है कि वह इनमें से जो चाहें काम चुन लें । उन्हें मजदूरी का प्रलोभन रहता है ।

(५) आंतरिक विनिमय-दर या मूल्यों पर प्रतिबन्ध—यह भी अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध है। यह केवल उपभोग की वस्तुओं के मूल्यों से ही सम्बद्ध नहीं है वरन् उत्पादन के साधनों के मूल्यों से भी । इसका अर्थ यह हुआ कि यह आय के कार्यवत् वितरण को भी नियन्त्रित करता है ; और क्योंकि आय का कार्यवत् वितरण आय के व्यक्तिगत वितरण से भी संबन्धित है, इस कारण व्यक्तिगत आय को भी ।

उत्पादन, विनियोग तथा उपभोग के उचित प्रतिबन्ध के लिये मूल्यों का नियन्त्रण भी आवश्यक है । इससे उत्पादन तथा उपभोग का नियोजन सुगम हो जाता है । इससे साधनों का अधिक उचित उपयोग सम्भव हो जाता है । इससे मूल्य स्थिर रहते हैं जिसकी एक आयोजित अर्थ-व्यवस्था में विनियोग की मात्रा उचित रूप से बढ़ाने के लिये बड़ी आवश्यकता है । इससे सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को सुरक्षा का प्रतिभास मिल जाता है जिसकी आजकल बड़ी आवश्यकता है ।

व्यक्तिगत आय पर बन्धन लगाना भी बचत बढ़ाने तथा आमदनी को सम्पन्न करने का एक साधन है ।

परन्तु सफलता के लिए आवश्यक है कि व्यवहारिक रूप में सभी जगह नियन्त्रण हो । यह आवश्यक है कि नियन्त्रण कच्चे माल से लेकर वस्तु के उपभोक्ताओं के हाथों में पहुँचने तक की उत्पादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया को अपने में सम्मिलित कर सके । यदि प्रारम्भ और अंत के बीच कोई स्थिति अनियंत्रित रहने दी जाए या रह जाय तो कीमत का नियंत्रण अप्रभावोत्पादक सिद्ध हो सकता है । फिर, किसी एक उद्योग में क़ीमतों के नियन्त्रण को दूसरे उद्योगों में भी ऐसे नियन्त्रण से सहायता मिलनी चाहिए ।

(६) विदेशी-विनिमय तथा विदेशी व्यापार का नियन्त्रण—यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण नियंत्रण है । यह आवश्यक है कि देश में द्रव्य की क्रय-शक्ति को स्थिर कर दिया जाय और अर्थ-व्यवस्था को सुयोजित ढंग से बढ़ाया जाय । विदेशी विनिमय के नियन्त्रण का अर्थ यह है कि विनिमय के अनुपातों (ratio) और पूंजी, सोना, करेंसी, और बैंक की परिसम्पदाओं (assets) आदि की गति पर भी नियन्त्रण हो जाय । सामान्य रूप से इसका अर्थ यह है कि दूसरे देशों के साख सम्बन्धों (credit relations) और द्रव्य का नियन्त्रण किया जाय ।

विदेशी विनिमय के नियन्त्रण की आवश्यकता इसलिए होती है, क्योंकि योजना बनाने वाले अधिकारी कीमतों और मजदूरी को एक उचित स्तर पर जब एक बार वह प्राप्त हो जाय, स्थिर करना चाहते हैं। इस स्तर को स्थिर रखा जा सकता है, यदि अर्थ-व्यवस्था में विदेशी-विनिमय के उतार-चढ़ावों से अड़चनें न आ जायँ। अत: अधिकारियों को चाहिये कि वे अवमूल्यन या पुनर्मूल्यन (revaluation) द्वारा विदेशी-विनिमय को स्थिर कर दें।

पूँजी, सोना, करेंसी और बैंक की सम्पत्ति आदि की गति पर नियंत्रण इसलिए आवश्यक है कि पूँजी को देश के बाहर जाने से बचाया जाय ताकि आयोजित अर्थ-व्यवस्था को हानि न पहुंचे। सम्भव है कि विदेशों में पूँजी के विनियोग पर इतने अधिक कर न हों जितने देश में हैं; साहसोद्यमी हमेशा अपनी पूँजी को ऐसी जगहों में लगाना पसन्द करेंगे क्योंकि इसमें बहुत लाभ है। परन्तु इसका फल यह होगा कि स्वदेश में आवश्यक पूँजी नहीं रह जाएगी। अत: सरकार को देश के बाहर पूँजी के आने जाने पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए।

विदेशी-विनिमय के नियंत्रण का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से विदेशी-व्यापार का नियंत्रण भी होता है। यह स्पष्ट है कि विदेशी व्यापार का परिमाण विदेशी-विनिमय की उस मात्रा द्वारा सीमित हो जाएगा जिसे सरकार आयात करने वालों के बीच बाँटना उचित समझती है। परन्तु विदेशी व्यापार को प्रत्यक्ष रूप में भी नियंत्रण करना पड़ता है। आयोजित अर्थ-व्यवस्था में मुक्त व्यापार का कोई स्थान नहीं है मुक्त व्यापार की उपस्थिति, आयोजित अर्थ-व्यवस्था को तत्काल नष्ट कर देती है। परन्तु विदेशी व्यापार के नियंत्रण में भी यह ध्यान रखना चाहिये, कि योजना, और जन-साधारण की आवश्यकताएँ क्या हैं? सम्भव है, कि उत्पादन की योजना पूरी करने के लिए, विदेशी-मशीनों या कच्चे माल की आवश्यकता पड़े, और उपभोग की ऐसी वस्तुओं की भी, जो देश में उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी परिस्थितियों में आयात पर ऐसा नियंत्रण करना होगा, जिससे आवश्यक मशीनें, कच्चा माल, और उपभोग की वस्तुएँ अधिकारियों को प्राप्त हो सके। जहाँ तक निर्यात का सम्बन्ध है, उनके नियंत्रण का लक्ष्य यह होगा कि वे आवश्यक आयातों को सम्भव बना सकें। सरकार के लिए यह आवश्यक है, कि उतना निर्यात करने की आज्ञा दे, जितने से आयात के मूल्य का भुगतान किया जा सके। इसमें संदेह नहीं कि सरकार विदेशी द्रव्य का कुछ परिमाण भविष्य के उपयोग के लिए रखना चाहेगी। ऐसी दशा में सरकार को उतनी मात्रा में निर्यात करना पड़ेगा, जितना अपने उद्देश्य के लिए वह आवश्यक समझे।

व्यवहारगत योजना

आयोजन के सोपान और उसके उपाय—एक आर्थिक योजना किसी भी राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था का सामान्य परिचय देती है। यह योजना अर्थ-व्यवस्था की विविध शाखाओं और क्षेत्रों का निरूपण करती है, और अर्थ-व्यवस्था के प्रत्येक अंग को कार्यान्वित करने की निश्चित प्रणाली बनाती है। उसके मूल-तत्व "वे योजनाएँ हैं, जिनमें नीति सम्बन्धी निर्णय स्पष्टतया कार्य-क्रमों के रूप में, और ऐसे उपायों के रूप में व्यक्त होते हैं, जो उन कार्य-क्रमों को पूरा करने के लिए आवश्यक हैं।"

पूर्वताओं (priorities) के क्रम का भी निश्चय हो जाना आवश्यक है।

पाँच सोपन—व्यवहार में आर्थिक-आयोजन सोपानों से होकर गुजरता है। प्रत्येक सोपान की अपनी समुचित कार्य प्रणाली होती है।

पहले सोपान—में सामान्य नीति का निर्धारण होता है, जिसके अन्तर्गत उद्देश्य और कार्य के नियम आते हैं। यह केंद्रीय सरकार का, या राष्ट्रीय विधान सभा का कार्य है।

दूसरा सोपान—योजना की रूपरेखा बनाना है। यह उस केन्द्रीय योजना कमीशन द्वारा होता है, जिसमें विशेषज्ञों की नियुक्त की जाती है। कमीशन एक सामान्य योजना बना देता है। यह योजना, सरकार के अनुसंधान और आंकिक विभागों, द्वारा प्रस्तुत देश के वास्तविक और शक्ति-पूर्ण अध्ययन द्वारा निरूपित की जाती है।

इसमें निम्नलिखित वस्तुएँ आती है:—योजना के अन्तर्गत निश्चित मात्राओं के रूप में निर्दिष्ट उद्देश्य, विविध 'फर्मों, और उद्योगों के उत्पादन की मात्रा इन 'फर्मों, के अभिप्रेत उत्पादन कर सकने के लिए। आवश्यक उत्पादन के साधनों की मात्रा, वैत्तिक सहायताएं, उत्पादन और सम्पादन की विविध स्थितियों में वसूल की जाने वाली कीमतें।

केन्द्रीय योजना कमीशन के साथ-साथ प्रादेशिक, विभागिक (sectional), और यहाँ तक कि नगर संघ-योजना बोर्ड भी होते हैं। अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाले कारखानें, और व्यवसाय भी अपनी-अपनी योजनाएँ तैयार करते हैं। और उन्हें योजना बोर्ड आदि संस्थाओं द्वारा केन्द्रीय योजना कमीशन के पास भेजते हैं, जहाँ से उनके पास पहले ही सामान्य योजना (general plan) भेजी जा चुकी होती है।

तत्पश्चात्, केन्द्रीय योजना कमीशन सामान्य योजना का ध्यान पूर्वक परीक्षण करता है, और विविध सहयोजनाओं की सहायता से उनमें उपयुक्त परिवर्तन-परिवर्द्धन करता है। और तब योजना तैयार हो जाती है।

तीसरा सोपान—योजना की स्वीकृति है। इसका अधिकार राष्ट्रीय सरकार को दिया जाता है या किसी सर्वोच्च आर्थिक कॉन्सिल को, जो इस कार्य के लिए निर्मित की जाती है, या पहिले से ही बनी होती है। सरकार या 'कॉन्सि को योजना में परिवर्तन करने का अधिकार भी मिलता है, भले ही यह परिवर्तन बहुत अधिक न हो।

चौथा सोपान—योजना को कार्यान्वित करना है, जब योजना स्वीकार कर ली जाती है, तो उसे घोषित किया जाता है, उसके बाद उसे कार्यान्वित करते हैं।

यह कार्य केन्द्रीय-शासन को सौंप दिया जाता है, जो इसे अपनी प्रान्तीय, प्रादेशिक और स्थानीय शाखाओं में कार्यन्वित करता है।

पाँचवाँ सोपान—अन्तिम सोपान इस कार्य की देख-रेख और चौथे सोपान के साथ-साथ चलता है। यह अत्यन्त आवश्यक है। किसी प्रकार की अड़चनों के उत्पन्न होने पर इन्हें दूर करना होगा। नई सामग्री के कारण नई परिस्थितियाँ उठ सकती हैं। नए तथ्य

और नई आवश्यकताएँ ज्ञात हो सकती हैं; और उनके प्रकाश में योजना को फिर से सुधारने की आवश्यकता पड़ सकती है। इसलिए भावी योजनाओं की रूपरेखा निश्चय करनी होती है और भविष्य की योजनाओं के सुधार का प्रश्न सम्मुख आता है। निरंतर देख रेख के बिना यह सब नहीं किया जा सकता।

योजना की देख-रेख का कार्य केन्द्रीय-योजना-कमीशन या सर्वोच्च आर्थिक कौंसिल या इस कार्य के लिए नियुक्त किसी विशेष संस्था को सौंपा जा सकता है।

केन्द्रीय तथा अन्य योजना कमीशनों, वैज्ञानिक तथा आँकड़ों से संबन्धित संस्थाओं और शासन-विभाग के अतिरिक्त भी, राज्य अन्य बहुत सी संस्थाओं का निर्माण कर सकता है, ताकि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की प्रत्येक दिशा में योजना सुगमता पूर्वक सफल हो सके। उदाहरणार्थ, राज्य उत्पादित वस्तुओं की कीमतों को निश्चित रखने के लिए, देश के वाणिज्य और व्यापार को संगठित तथा परिचालित करने के लिए, पूर्वताओं को निश्चित करने के लिए, और उत्पादन के साधनों को बाँटने के लिए, विशेष संस्थाएं नियुक्त कर सकता है।

आयोजन के सिद्धान्त

आर्थिक योजना का अर्थ है नियंत्रणों का शासन या वैयक्तिक चुनावों का योजना-अधिकारी के पास हस्तांतरण।

प्रश्न यह है, कि वे कौन से सिद्धान्त हैं जिनके अनुसार नियंत्रण रखते हैं, या हस्तांतरित चुनावों का निर्णय करते हैं।

इस सम्बन्ध में मुख्य रूप से पाँच प्रश्न हैं, जिन्हें हमें हल करना है। (१) ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का, जिनका उत्पादन हो चुका है, किस प्रकार उपभोक्ताओं के बीच परिसीमन (ration) किया जाय ? (२) कौन सी वस्तुएँ, कितनी मात्रा में उत्पादित की जाँय : (३) विविध औद्योगिक इकाइयों (फर्मों) में उत्पादन के साधनों को किस प्रकार बाँटा जाय कि उत्पादित की जाने वाली वस्तुएँ आवश्यक अनुपात में उत्पादित की जा सकें ? (४) वस्तुओं या आय के रूप में उत्पादन के कौन से अंश, उत्पादन में योग देने वालों को दिए जायँ ? (५) तात्कालिक उत्पादन का कितना हिस्सा भविष्य के लिये अर्थात् विनियोग के लिये बचा लिया जाय ?

प्रत्येक अर्थ व्यवस्था को चाहे वह आयोजित हो, या अनायोजित, इन प्रश्नों को सुलझाना पड़ता ही है। अनायोजित अर्थात् प्रतिस्पर्धी अर्थ-व्यवस्था जिस प्रकार इस प्रश्न को हल करती है, उसका संक्षेप में यहाँ उल्लेख किया जाता है, ताकि तुलनात्मक दृष्टि-कोण से आयोजित अर्थ व्यवस्था का हल , जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे, स्पष्टतापूर्वक समझा जा सके।

स्पर्धा में इन प्रश्नों का समाधान—प्रतिस्पर्धा अर्थ-व्यवस्था में कीमत या बाज़ार की व्यवस्था, इन प्रश्नों को स्वयं ही हल कर देती है। पहले तो कीमतें वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति को उपभोक्ताओं के बीच वितरित करने में सहायक होती हैं बाज़ार में वस्तुओं की कीमतें उनकी पूर्ति की परिस्थिति की सूचक हैं। वस्तुओं की ऊँची कीमतों का

अर्थ है उनका अभाव, और नीची कीमतों का अर्थ है, उनका अपेक्षाकृत बाहुल्य, परन्तु यदि कीमतें अधिक हैं तो खरीद की मात्रा किसी निश्चित समय और निश्चित बाज़ार में कम होती जाती है, और यदि कीमतें कम हैं, तो खरीद की मात्रा बढ़ जाती है। इस प्रकार पूर्ति ख़रीद के अनुसार व्यवस्थित हो जाती है, और वहाँ पहुँच जाती है जहाँ माँग सब से अधिक है। माँग और पूर्ति के बीच में इस प्रकार संस्थिति आ जाती है।

दूसरे, मूल्य-व्यवस्था यह भी निश्चित करती है कि कौन सी वस्तुएँ किस अनुपात में उत्पादित की जायँगी। उत्पादन उपभोक्ताओं की मांग द्वारा निर्देशित होता है। उपभोक्ता विविध वस्तुओं के लिए, अपनी अभिरुचियाँ उन कीमतों द्वारा प्रकट करते हैं, जो वे उन वस्तुओं के लिए देना स्वीकार करते हैं। यदि वे अन्य वस्तुओं की अपेक्षा, किन्हीं वस्तुओं के लिए, अधिक कीमत देना चाहते हैं, तो इसका अर्थ यह है, कि उपभोक्ताओं को इन वस्तुओं की अधिक आवश्यकता है। परिणामतः उत्पादक गण अन्य वस्तुओं की अपेक्षा, इन वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा देंगे। और इन वस्तुओं के अनुपात में भी इस प्रकार वृद्धि हो जायगी। यह इसलिए होगा क्योंकि उत्पादक इन वस्तुओं के उत्पादन द्वारा अधिक लाभ की आशा करते हैं।

तीसरे, मूल्य-व्यवस्था मनोवांछित मात्रा में वस्तुओं के उत्पादन की वैकल्पिक दशाओं में, उत्पादन के साधनों की नियुक्ति को नियन्त्रित करता है। उत्पादन के साधनों का नियुक्ति-द्वारा उत्पादन किया जाता है। उपभोग-वस्तुओं की ही भाँति, उत्पादन के साधनों की भी कीमतें होती हैं। भूमि की कीमत भाटक है, श्रम की कीमत मज़दूरी, पूँजी की कीमत व्याज है, और साहसोद्यम का लाभ। उन्नतिशील व्यवसायों के लिए अधिक मात्रा में उत्पादन के साधनों की आवश्यकता होगी, और ह्रासशील व्यवसायों के लिए कम साधनों की। अतः पहली दशा में उत्पादन के साधनों की कीमत बढ़ जाती है, और फल यह होता है, कि उनकी मात्रा बढ़ जाती है। दूसरी दशा में साधनों की कीमतें घट जाने से यह संभावना हो जाती है कि इन उत्पादन के साधनों को अन्यत्र अधिक अच्छा पारिश्रमिक मिल सके। इस प्रकार मूल्य-व्यवस्था उत्पादन के साधनों को उनके वैकल्पिक उपयोगों के बीच वितरित कर सकती है।

चौथे मूल्य-व्यवस्था उत्पादित धन के उन हिस्सों को निश्चित करती हैं, जो उसके उत्पादन में योग देने वालों को मिलने चाहिए। एक ओर तो उत्पादन के साधनों की कीमतें उनकी पूर्ति और उत्पादनों में उनके वितरण को नियमित करती हैं और दूसरी ओर वही इन साधनों के कार्य का प्रतिफल भी बन जाती हैं। इसको इस प्रकार कहेंगे कि पहली दशा में कीमतें उत्पादन की लागत हैं, और दूसरी दशा में आय के रूप में उत्पादन का वह हिस्सा जिसे इन साधनों के स्वामी प्राप्त करते हैं।

पांचवे, मूल्य-व्यवस्था तात्कालिक उत्पादन के उस अनुपात का निर्णय करती है, जिसे भविष्य के लिए बचाना है। पूँजीवादी उत्पादन बहुत घुमा फिरा कर और जटिल होता है। उसे चलाए रखने के लिए बचत करना और पूंजी का विनियोग आवश्यक हैं। ये दोनों मूल्य-व्यवस्था द्वारा प्रभावित होते हैं। विनियोग की कीमत व्याज की दर है। व्याज की दर कुछ सीमा तक बचत को भी निर्धारित करती है। परन्तु विनियोग को तो वह प्रायः पूर्ण-रूप

से निर्दिष्ट करती है। यदि व्याज की दर बढ़ती है, तो विनियोग भी बढ़ता है; यदि दर गिर जाती है, तो विनियोग भी कम हो जाता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि ये सब कार्य सीमान्त-सिद्धान्त के अनुसार होते हैं। उपभोक्ता, उत्पादक, उत्पादन के साधनों के स्वामी और पूंजी लगाने वाले, सभी अपने सन्तोष, लाभ, और आय को अधिकतम बनाने की आकांक्षा से प्रेरित होते हैं। ये उस समय अधिकतम होते हैं जब समसन्तुिष्ट का विंदु (point of indifference) अर्थात् सीमा (margin) की स्थिति आ पहुँचे। इस स्थिति पर लाभ तथा सन्तोष आदि की प्रगति रुक जाती है। उपभोक्ताओं द्वारा वस्तुओं की क्रय की दशा में, यह स्थिति उस समय आती है, जब उनके वैकल्पिक क्रयों (alternative-purchases) की सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर हो जायं; उत्पादकों की दशा में यह उस समय होगा जब वैकल्पिक प्रयोगों (uses) में नियुक्त साधनों की सीमान्त उत्पादकता बराबर हो जाय; उत्पादन-साधनों के स्वामियों के साथ यह उस समय होता है जब उनकी सहायता से उत्पन्न धन में से उनको मिलने वाला भाग उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर हो जाय; और पूंजी लगाने वालों के साथ यह तब होता है, जब उनके विनियोग के लिए चुकाई गई व्याज की दर, उनकी सीमान्त परित्याग (marginal abstinences) या सीमान्त तरलताग्रह (liquidity Preferences) के बराबर हो जाय।

आयोजन में इन प्रश्नों का समाधान—अब हम एक आयोजित अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से इन पाँच प्रश्नों के हल पर विचार कर सकते हैं। स्मरण रहे कि आयोजित अर्थ-व्यवस्था व्यक्तिगत आर्थिक निर्णयों के उन्मूलन, उत्पादन के भौतिक साधनों के निर्देशन या समाजीकरण, और व्यवहारतः समस्त आर्थिक क्रिया और प्रक्रिया के राज्य द्वारा नियंत्रण पर आधारित है। इसका अर्थ यह है कि इन प्रश्नों के आयोजित समाधान में अधिकारियों के निर्णय ही सब कुछ होंगे; न कि बाजार की व्यवस्था या मांग और पूर्ति के अवैयक्तिक नियम। अब हम इसे स्पष्ट करेंगे।

उपभोक्ताओं के बीच पूर्ति का वितरण

(क) योजनाधिकारी इसका निर्णय कर सकते हैं कि वस्तुओं की सीमित पूर्ति, प्रतियोगी सिद्धान्त के अनुसार उपभोक्ताओं के बीच बाँट दी जाय। यह उसी समय सफल होगा, यदि उपभोक्ताओं के चुनाव व्यक्तियों पर छोड़ दिए जायँ। ऐसी दशा में विविध वस्तुओं के लिए उपभोक्ताओं की अभिरुचियाँ वस्तुओं की कीमतों को, उस स्तर पर निश्चित करेंगी जहाँ पर बाजार से वर्तमान पूर्तियाँ समाप्त हो जायँ। किन्हीं वस्तुओं के अधिकाधिक अभाव की दशा में उनकी कीमतें बढ़ जायँगी, और यदि माँग कम है, तो कीमतें इस तरह गिरेंगी कि माँग और पूर्ति संस्थिति की दशा में आ जायँ। माँग और पूर्ति की अवैयक्तिक शक्तियों का स्वरूप ठीक वैसा ही है, जैसा प्रतियोगी व्यवस्था में होता है।

यदि योजनाधिकारी प्रतियोगी हल की शरण में जायँगे, तो आयोजित अर्थ-व्यवस्था और अनायोजित अर्थव्यवस्था में केवल एक ही अन्तर रह जायगा, कि आयोजित अर्थ-व्यवस्था सामाजिक साहसोद्यमों (socialised enterprizes) द्वारा निर्मित होती है।

(ख) योजनाधिकारी मूल्य-व्यवस्था का नितान्त वहिष्कार करने का निर्णय कर सकते हैं। वे उपभोक्ताओं में वस्तुओं को इस प्रकार वितरित कर सकते हैं, कि उपभोक्ता आज्ञापत्रों द्वारा अधिकृत दूकानों से, निश्चित-मात्रा में निश्चित वस्तुएँ ले लें। आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ लेने की आज्ञा नहीं मिलेगी। वितरण-परिसीमन के इस ढंग को कार्यान्वित करना बहुत कठिन है। सोवियत-संघ में यह विधि सन् १६२० में अपनाई गई थी परन्तु, इसके कारण बहुत अव्यवस्था फैली, अतः इसे त्याग दिया गया। और एक दूसरी ही मूल्य व्यवस्था प्रचलित की गई, जो नीचे दी जा रही है।

(ग) योजनाधिकारी किसी प्रकार की परिष्कृति और संशोधित मूल्य-व्यवस्था का निर्माण कर सकते हैं। यह सर्वश्रेष्ठ है, और अधिकारियों के उद्देश्य की पूर्ति सफलता पूर्वक करता है। इसमें दूकानों में बेची जाने वाली वस्तुओं की कीमतों को निश्चित कर दिया जाता है। अपनी अभिरुचियों से प्रेरित होकर उपभोक्ता यदि इन कीमतों पर वस्तुओं को इतनी मात्रा में खरीदें कि उनकी पूर्ति समाप्त हो जाय, तब तो बहुत अच्छा होगा : माँग और पूर्ति सन्तुलित हो जायँगे। परन्तु यदि ऐसा नहीं होता, और पूर्ति का कुछ अंश नहीं बिक पाता, तो अधिकारी या तो कीमतें घटा देंगे या मजदूरी बढ़ा देंगे, ताकि उपभोक्ता और अधिक खरीद सकें और इस प्रकार बाजार से वर्तमान पूर्ति को समाप्त कर सकें।

यदि किसी कारणवश कुछ विशेष वस्तुएँ जिनके विषय में अधिकारी गण चाहते हैं कि लोग उन्हें खरीदें और उनका उपभोग करें, नहीं बिक पातीं, तो अधिकारी लोगों को अन्य वस्तुओं के साथ इन वस्तुओं की भी एक निश्चित मात्रा को उपयुक्त कीमत पर खरीदने के लिए विवश करते हैं। वस्तुओं के परिसीमन (rationing) की इस संशोधित मूल्य व्यवस्था की राशन-कार्डों की योजना के साथ संयुक्त किया जा सकता है। इन कार्डों द्वारा विशिष्ट वस्तुओं की निश्चित मात्राएँ एक निश्चित कीमत पर खरीदी जा सकती हैं।

कार्डों द्वारा वितरण उस समय किया जा सकता है जब पूर्ति की मात्रा इतनी कम होती है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक वस्तुएँ सुलभ करने के लिए परिसीमन विधि की शरण लेनी पड़ती है।

अधिकारियों द्वारा इस विधि का उपयोग समाज के कुछ अंगों का पक्ष लेने और दूसरों को दंड देने के लिए किया जाता है।

अनुगृहीत व्यक्ति वे होते हैं जिन्होंने विशेष रूप से राज्य या समाज को सहायता दी हो, और अन्य विरोधी दल के माने जाते हैं। जब ऐसा होता है तो कार्डों द्वारा पहले प्रकार के व्यक्तियों को अधिक राशन और दूसरे प्रकार के व्यक्तियों को अपेक्षाकृत कम राशन मिलने की व्यवस्था की जाती है।

किन वस्तुओं का और प्रत्येक का कितनी मात्रा में उत्पादन किया जाय? इस सम्बन्ध में योजना-अधिकारियों को यह निर्णय करना होता है कि वे उन वस्तुओं का उत्पादन करें, जिनकी उपभोक्ताओं को इच्छा है, या उन्हें जिनकी उपभोक्ताओं को आवश्यकता है।

यदि वे उपभोक्ताओं की इच्छा के अनुसार कार्य करें, तो उत्पादन को उस दिशा की ओर उन्मुख करना होगा जिधर उपभोक्ताओं की अभिरुचियाँ इंगित करती हैं। इसका परिचय उन कीमतों से लगता है, जो विविध वस्तुओं के लिए उपभोक्ता दे रहे हैं, या देने को प्रस्तुत हों। यदि वे उपभोक्ताओं के आवश्यकता के अनुसार कार्य करें तो अधिकारियों को सामाजिक या सर्वसम्मत अभिरुचियों का मापदंड बनना होगा, और इस सामाजिक माप के अनुसार ही वस्तुओं को उनके वाँछित अनुपात में उत्पादित करना होगा। इस माप में निजी व्यक्तिगत अभिरुचियों का उतना ही विचार रक्खा जायगा, जितना अधिकारीगण उचित समझते हैं। परन्तु भविष्य की व्यवस्था में राजनीतिक, सामाजिक तथा शिक्षा और संस्कृति सम्बन्धी विकास को पूर्ण सुविधा और विस्तृत क्षेत्र दिये जाएँगे। चूँकि आर्थिक योजना का कर्तव्य यह भी है कि वह व्यक्तिगत रुचियों को सुधारे, इसलिए योजना के अधिकारी "क्या और कितना उत्पन्न किया जाय?" प्रश्न का हल मान्य (authoritative) अभिरुचियों के माप-दंड के आधार पर ही निकालना पसन्द करेंगे।

इसका ध्यान रखना चाहिए, कि उत्पादन सम्बन्धी निर्णय दोहरे होते हैं; एक तो उपभोग-वस्तुओं की उन मात्राओं के उत्पादन से सम्बधित हैं, जिन्हें तात्कालिक उपभोग के लिए स्वीकृत किया गया है; दूसरे भविष्य में उपभोग के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए पूँजी-वस्तुओं के उत्पादन से सम्बद्ध हैं।

उत्पादन के साधना और वितरण—जब स्वीकृत अनुपात में वस्तुओं के उत्पादन का निर्णय हो जाता है, तो अधिकारियों को उत्पादन की विविध औद्योगिक इकाइयों (फर्मों के बीच आवश्यक साधनों के बँटवारे के प्रश्न को हल करना पड़ता है। यह इसलिए आवश्यक है जिससे कम से कम लागत में उत्पादन किया जा सके। अधिकारीगण इस प्रश्न को प्रत्यक्ष निर्णयों द्वारा हल करते हैं वे फर्मों के बीच बाँटे जाने वाले उत्पादन के साधनों के अनुपात का निर्णय करते हैं ताकि फर्में योजना के अनुसार उत्पादन करने में समर्थ हो सकें। इसका तात्पर्य यह है कि यह बँटवारा उसी प्रकार होता है जैसा अधिकारी उचित समझते हैं। अवश्य ही यह निर्णय विशेषज्ञों से सलाह लेने के पश्चात ही स्वीकृत होते हैं।

यदि अधिकारी समझते हैं कि किसी एक उद्योग को भूमि या पूँजी या दोनों की अधिक आवश्यकता है, तो वे इस उद्योग को उत्पादन के ये साधन दूसरे उद्योग की अपेक्षा अधिक मात्रा में देंगे, और जहाँ तक सम्भव हो सकेगा, श्रम के विषय में ऐसा ही होगा।

भूमि और पूँजी के विषय में ऐसा बँटवारा अपेक्षाकृत आसान होता है, क्योंकि राज्य का इन पर पूर्ण नियंत्रण होता है; किन्तु, क्योंकि श्रमिक अपनी संपत्ति (श्रम) के स्वामी स्वयं ही होते हैं, इसलिए उनके सम्बन्ध में बँटवारे की प्रत्यक्ष विधि उस समय तक नहीं अपनाई जा सकेगी, जब तक कि उनका सक्रिय सहयोग न मिले या जब तक वे स्वभावतः ही विनम्र न हों। इसलिए श्रम के बँटवारे को कार्यान्वित करने के लिए योजनाधिकारी मूल्य-व्यवस्था पर निर्भर रहते हैं। मज़दूरों को विविध कामों में लगाने के लिए मज़दूर को आवश्यक मज़दूरियाँ दी जाती हैं, और इस प्रकार विविध श्रेणियों के श्रमिकों की आवश्यक पूर्ति विविध

उद्योगों और व्यवसायों में वितरित हो जाती है। वे सिद्धान्त जिसके अनुसार मजदूरी निश्चित की जाती है, बाद में दिए जायंगे। वह सिद्धान्त जिसके अनुसार श्रम का बँटवारा किया जाता है, कार्य क्षमता और दुर्लभता का, या मूल्य व्यवस्था का सिद्धान्त है।

इसे स्मरण रखना चाहिए कि आयोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत समस्त सिद्धान्तों की पृष्ठ भूमि में, योजना अधिकारियों की वह सत्ता है जिसके द्वारा वे राष्ट्रीय संकट में किसी निश्चित आयु वाले व्यक्तियों को जहाँ भी आवश्यकता हो, काम करने के लिए विवश कर सकते हैं। इसका भी ध्यान रखना चाहिए कि श्रमिकों की देशभक्ति को उत्तेजित करने वाली अपीलों और सम्मान को पुरस्कारों तथा पदवियों का भी प्रायः अवलंबन लिया जाता है, जिससे श्रमिक—और विशेष रूप से विरल प्रतिभा और योग्यता वाले श्रमिक कार्य करने के लिए आकर्षित किए जा सकें।

उत्पादन के साधनों के बँटवारे से संयुक्त उत्पादन के सम्बन्ध में इतना कहना और आवश्यक है कि यद्यपि आयोजित अर्थ-व्यवस्था में यह आशा की जायगी कि प्रत्येक उत्पादक यंत्र द्वारा लाभ हो, या कम से कम अपनी लागत ही पूरा करे, फिर भी इन यंत्रो की स्थिति केवल इसी पर निर्भर नहीं है कि उनसे लाभ हो ही। वे यंत्र कार्य करते रहेंगे, और उनसे हानि होने पर भी यह सम्भव है कि उनका विस्तार कर दिया जाय, यदि समाज के हित के लिए उनका जारी रहना या उनकी वृद्धि करना आवश्यक हो। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय-कोष से सहायता देकर उनकी हानि को पूरा किया जाता है। आयोजित अर्थ-व्यवस्था का उद्देश्य लाभ नहीं होता। उसे लाभ से नहीं वरन् अन्य उद्देश्यों-सामान्य कल्याण की वृद्धि—की आकांक्षा से प्रेरणा मिलती है।

परन्तु यह भी स्मरणीय है कि भले ही अर्थ-व्यवस्था की औद्योगिक इकाइयाँ अलग-अलग लाभप्रद न हों, फिर भी कालान्तर में सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को एक लाभकारी संस्था होना ही चाहिए। अन्यथा उसकी स्थिति खतरे में पड़ जायगी। लाभ एक आर्थिक सिद्धान्त है, न कि एक पूंजी-वादी सिद्धान्त। इस तथ्य को रूसी अर्थ-व्यवस्था में मान लिया गया है, और कम्युनिस्ट सरकार ने एक विस्तृत क्षेत्र में लाभ प्राप्त किया है। सोवियत सरकार न केवल यह चाहती है कि सामाजिक उद्योगों में नुकसान न हो, बल्कि उन्हें लाभ कमाने के लिए उत्पादित भी करती है। यह अवश्य है कि लाभ की मात्रा और लाभ के प्रयोग को ध्यान पूर्वक संचालित किया जाता है। लाभ के एक अंश को कर के रूप में सामान्य बजट के अन्तर्गत ले लिया जाता है; एक अंश को पूंजी के विकास के लिए उद्योग को ही दे दिया जाता है; और शेष को श्रमिकों की दशा में सुधार करने के लिए और कार्य-कर्ताओं को बोनस देने के लिए रख लिया जाता है।

आय का वितरण—किसी आयोजित अर्थ-व्यवस्था की पूर्ण वार्षिक आय, निम्न-लिखित स्रोतों से आती है :—

(१) राष्ट्रीय साधनों और भूमि से प्रतिदान।

(२) पूंजी का व्याज (अनुगणन के रूप में)

(३) यदि हों, तो अनुनमेय (unestimatable) तत्वों या सामाजिक व्ययों (सामाजिक उपभोग या जनोपयोगी सेवाएँ) के लिए लिया गया भुगतान।

(४) राजकीय उद्योगों से प्राप्त होने वाला लाभ।

(५) श्रमिकों की आय पर यदि कोई कर लगाया जाय तो उससे प्राप्त द्रव्य।

(६) श्रम की सेवाओं की अनुगणन-लागतें (accounting costs of labour services)।

इन स्रोतों से राज्य अपना बजट बनाता है और उत्पादन करता है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि, चूँकि पूँजी-सामग्रियों, भूमि और खानों, और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाता है, इनसे प्राप्त ब्याज, लगान और लाभ आदि प्रतिदान—भले ही वे अनुगणन मात्र (accounting items) हों—राज्य को मिलते हैं, न कि व्यक्तियों को। श्रम ही उत्पादन का एक मात्र व्यक्तिगत साधन रहता है।

सम्पूर्ण वार्षिक आय को राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के निम्नलिखित प्रमुख अगों पर वितरित किया जाता है :—

(१) मरम्मत, पुनर्स्थापन, नवीनीकरण, क्षय और घिसावट आदि के व्यय।

(२) विनियोग—खानों, कारखानों, आवागमन के मार्गों; व्यापार की सुविधाओं, फर्मों, नए उद्योगों के विस्तार आदि।

(३) जनोपयोगी सेवाएँ या "सामाजिक उपयोग" के खर्चे।

(४) राज्य के अपरिवर्ती या ऊपरी (over head or constant) खर्चे—सरकारी विभागों का संचालन राष्ट्रीय सुरक्षा, अनुसन्धान, वैज्ञानिक खोज आदि।

(५) श्रम की मजदूरी।

श्रम की मज़दूरी तथा व्यापारिक सङ्घ

अब प्रश्न यह है कि श्रम के प्रतिफल को किस प्रकार निश्चित किया जाय, अर्थात् राष्ट्रीय आय का कौन सा अंश उत्पादन के एक व्यक्तिगत साधन के पास जायँ। यहाँ मज़दूरी के स्तर और मज़दूरी के मापदंड को निश्चित करने की समस्या का हल निकालना है। मज़दूरी का स्तर क्या होगा—यह आय के उस अंश पर निर्भर होगा जिसे मज़दूरी के खर्चे को पूरा करने के लिए अलग कर दिया गया है; इसे 'मज़दूरी-कोष' (wages-fund) कहेंगे। इस 'मज़दूरी-कोष' से ही, मज़दूरी का माप बनाया जायगा।

मजदूरी कोष का निश्चय करना, राज्य के अधिकारियों का कर्तव्य है। वे इसका निश्चय व्यय के अन्य सभी मदों—और विशेषतः भविष्य के स्तर को उन्नत करने के लिए लगाए

गए धनों —को ध्यान में रख कर करगे । मजदूरी कोष को किसी निश्चित अवधि में व्यक्तिगत उपभोग के लिए प्रस्तुत समस्त उपभोग-वस्तुओं और सेवाओं के कुल मूल्य के बराबर होना चाहिए । यदि ऐसा नहीं है, जैसा कि पूँजी वस्तु-उद्योगों की शीघ्रतापूर्वक वृद्धि करने की दशा में होता है, तो मज़दूरी को कम कर देना पड़ेगा, कीमतों को बढ़ाना होगा ।

कुल मज़दूरी कोष के आधार पर योजना के अधिकारी मज़दूरी का एक राष्ट्रीय माप बना लेते हैं, और तब उसी माप के अनुसार कोष को श्रमिकों और अन्य कर्मचारियों के बीच बाँट दिया जाता है ।

मज़दूरी के किसी माप का निश्चय कई सिद्धान्तों पर आधारित किया जा सकता है । अधिकारीगण, आर्थिक समता के सिद्धान्त या एक परिवार की सामान्य आवश्यकताओं या क्षमता, अभाव, उत्तरदायित्व या जातीय और राष्ट्रीय भेद-भाव तक के सिद्धान्त को आधार मान सकते हैं ।

'सोवियत यूनियन' में अधिकारियों ने पहले तो आर्थिक समता के सिद्धान्त पर मज़दूरी की दर को निश्चित करना चाहा; उसके बाद उन्होंने क्षमता और भाव के सिद्धान्त को व्यवहृत किया—"प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यता के अनुसार, और प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्य के अनुसार ।" सोवियत रूस में, यह सिद्धान्त अभी तक प्रचलित है और इसके द्वारा बहुत सी असमानताएँ दूर की गई हैं । नाज़ी जर्मनी में जातीय भेद-भाव के सिद्धान्त को ग्रहण किया गया है । जर्मनों, पोलैण्डवासियों, और यहूदियों आदि को एक ही काम के लिए भिन्न मज़दूरी दी जाती थी । फासिस्ट इटली में, जहाँ प्रभुत्व और धर्म-शासन प्रधान थे, उत्तरादायित्व के सिद्धान्त को मुख्यता मिली । किन्हीं आयोजित अर्थ-व्यवस्थाओं में परिवार की सामान्य आवश्यकताओं" के सिद्धान्त का पालन किया जा सकता है । छोटे "परिवार वालों की अपेक्षा बड़े परिवार वाले श्रमिकों को अधिक मज़दूरी दी जा सकती है । कुछ अन्य देशों में भौगोलिक या प्रादेशिक आधार पर श्रमिकों को मज़दूरी दी जाती है ।

एक बार निश्चित कर दिए जाने के बाद प्रत्येक सम्बन्धित मनुष्य को मज़दूरी की दर का पालन करना चाहिए । मज़दूरों को यह आज्ञा नहीं है कि वे हड़तालों द्वारा मज़दूरी के माप दण्ड को बदले जाने के लिए विवश करें । आयोजित अर्थ-व्यवस्था में हड़तालें और तालेबन्दियाँ निश्चित रूप से वहिष्कृत हैं । उन्हें कभी भी वैध नहीं ठहराया जा सकता, अन्यथा अर्थ-व्यवस्था को कार्यान्वित करने में बाधा पड़ेगी ।

आयोजित समाज में श्रम-संघों का बड़ा महत्व होता है । परन्तु पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था की तरह इस आयोजित समाज में वे वर्ग-संघर्ष का हथियार बनने वाली युद्ध-संस्थाएँ नहीं होती पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में श्रम-संघ इसलिए बनाए जाते हैं, कि प्रबन्धकों के लाभ के मत्थे अधिकतम मज़दूरी प्राप्त कर सकें, अर्थात् उनकी मज़दूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर हो जाय । आयोजित अर्थ-व्यवस्था में, इस प्रकार का उद्देश्य न्याय संगत नहीं होता । यहाँ वर्ग-संघर्ष के लिए स्थान नहीं है, क्योंकि लाभ, ओर उसके परिणाम तथा प्रयोग को, अधिकारियों द्वारा नियंत्रित किया जाता है । केवल लाभ की उतनी ही मात्रा को ओर उसके वैसे ही प्रयोग को स्वीकृति मिलती है, जितना योजनाओं के उद्देश्यों के दृष्टिकोण से वांछनीय हो ।

आयोजित अर्थ-व्यवस्था में श्रम-संघों के निम्नलिखित कर्तव्य होते हैं :—

(१) नियुक्ति और काम करने की दशाओं से सम्बन्धित सभी प्रश्नों में वे अपने सदस्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे इसका ध्यान रखते हैं, कि मज़दूरों की रक्षा से सम्बधित कानूनी सुविधाएँ, जैसे सामाजिक बीमें, मज़दूरी का भुगतान, स्वास्थ्य, और दुर्घटनाओं की रोक-थाम आदि प्रबन्धकों द्वारा कार्यान्वित की जायँ।

(२) श्रम-संघ, उद्योग को चालू रखने के लिए प्रबन्धकों और राज्याधिकारियों के साथ सहयोग भी करते हैं। वे राज्य के कार्यों में उत्पादन की योजनाओं को तत्काल फलीभूत करने का निश्चित उत्तरदायित्व भी ग्रहण करते हैं, और आर्थिक क्रियाओं के नियन्त्रण तथा संगठन में भाग लेते हैं।

इस सब का अर्थ है कि आयोजित अर्थ-व्यवस्था में श्रम-संघ अपने सदस्यों के जीवन-स्तर को उन्नत करने और सदस्यों की कार्य-क्षमता और उत्पादन शक्ति के विकास के लिए निश्चित सहयोग देने पर सामान आग्रह करते हैं। इसका अर्थ यह भी है कि मज़दूरी की नीति लाभ और मज़दूरी तथा पूँजी और श्रम के बीच एक संघर्ष का विषय नहीं है, वरन् आर्थिक भोजन को पूरा करने के लिए श्रम-संघ के सहयोग का विषय है। एक पूर्व निश्चित मज़दूरी-नीति आर्थिक योजना की सफलता की महत्वपूर्ण शर्त है।

बचत और विनियोग—आयोजित अर्थ-व्यवस्था में इनके दो स्रोत होते हैं—(१) सामाजिक संचय तथा (२) व्यक्तिगत आय।

(१) योजनाधिकारी यह आशा करते हैं कि प्रत्येक इकाई, फर्म, कारखाना और व्यवसाय अपने लाभों की एक निश्चित मात्रा को बचाए और उसे राज्य के बैंकों में जमा कर दे। सरकार कुछ कर भी लगा सकती है। ऐसे करों में सोवियत रूस का 'समग्र व्यापार-कर' (turn over tax) सबसे अधिक महत्व पूर्ण है।

(२) सामान्यतः व्यक्तियों की बचत और विनियोग उसी प्रकार के प्रोत्साहनों द्वारा प्रेरित होते हैं, जैसे पूँजीवादी देशों में अधिकारी ऋण लेते हैं, और जनता को ऋण में सहयोग देने के लिए प्रेरित करते हैं। इस ऋण के लिए सरकार कुछ व्याज भी देती है, कभी कभी व्याज की दर के साथ लाटरी आदि की भी व्यवस्था रहती है, जिसमें पुरस्कार या तो द्रव्य या सवेतन छुट्टी जैसी किसी सुविधा के रूप में होता है। जनता के उत्साह और देश-भक्ति के प्रति अपीलें कर के व्याज की दर को यथा सम्भव कम रखा जाता है।

इन दो स्रोतों से प्राप्त द्रव्य कोष से योजनाधिकारी दीर्घकालीन विनियोग के लिए विविध उद्योगों को व्याज की कम दर पर बिना व्याज लिए रुपया उधार देते हैं।

यदि विनियोग-निधि यथेष्ट न हो तो सरकार बैंकों द्वारा इतना द्रव्य निर्मित कर सकती है कि परिस्थिति की आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें।

आयोजित अर्थ-व्यवस्था में द्रव्य और ऋण—विनियोग एक वैत्तिक समस्या है और वित्त का अर्थ द्रव्य तथा ऋण का प्राप्त करना है। आयोजित अर्थ-व्यवस्था में इन दोनों के महत्व को हम स्पष्ट कर सकते हैं।

अनायोजित अर्थ-व्यवस्था में द्रव्य और ऋण स्वतन्त्र रूप में कार्य करते है। ये उस अर्थ-व्यवस्था की धुरी हैं, क्योंकि द्रव्य और ऋण पर ही आधुनिक अर्थ-व्यवस्था आधारित है। अर्थ-व्यवस्था की कार्य-प्रणाली इन्हीं के द्वारा निर्देशित तथा नियन्त्रित होती है। वह इनकी सीमा के बाहर कार्य नहीं कर सकती। अर्थ-व्यवस्था को अपने को उपलब्ध-वित्त के साथ व्यवस्थित करना पड़ता है, और वित्त की उपलब्धि, लाभ तथा उद्योगों की ऋण चुकाने की योग्यता पर निर्भर रहती है। जब तक उद्योग लाभदायक नहीं हैं, वित्त नहीं प्राप्त होगा। यह दुहराया जा सकता है कि लाभ अनायोजित अर्थ-व्यवस्था का उद्देश्य होता है।

आयोजित अर्थ-व्यवस्था की स्थिति इसके बिलकुल विरुद्ध है। उसमें द्रव्य तथा ऋण अपनी स्वतन्त्र तथा केन्द्रीय-स्थिति खो देते हैं। यहाँ वे राज्य के अधीन रहते हैं। वे समग्र-अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं के लिए उपयोगी अनुचर की भाँति होते हैं। आयोजित अर्थ-व्यवस्था में द्रव्य और ऋण मुख्यतः अनुगणन मूल्यों और लागतों (cost accounting and pricing) के रूप में काम करते हैं। आयोजित अर्थ-व्यवस्था न तो द्रव्य केन्द्रित होती है, और न ऋण केन्द्रित और न वह लाभ के उद्देश्य से परिचालित होती है। वस्तुतः वह वस्तु केन्द्रित होती है। यदि उसमें मानवीय और मौलिक साधन अप्रयुक्त रह जाते हैं तो इसका कारण यह नहीं है कि उसमें लाभ का अभाव है, या उन साधनों को नियुक्त करने के लिए, वित्त का अभाव है। इसका कारण यही हो सकता है कि उस आयोजित अर्थ-व्यवस्था में संगठन या सहयोजन या उचित अनुगणन-पद्धति का अभाव है। पूंजीवादी व्यवस्था की भाँति इस व्यवस्था में वित्त की समस्याओं को उत्पादन की समस्यायों पर पूर्वता (priority) नहीं दी जाती। यदि साधन चलिष्णु हैं और उनकी नियुक्ति समाज के लिए उपयोगी है, तो वित्त-द्रव्य और ऋण आसानी से जुटाए जा सकते हैं, और जुटाए जाते हैं। वस्तुतः आयोजित अर्थ-व्यवस्था का निर्देशक सिद्धान्त यह है कि उसे पर्याप्त वैत्तिक साधनों का बल प्राप्त हो जिससे अर्थ-व्यवस्था अपनी पूर्ण सामर्थ्य तक पहुंच सके। इसका अर्थ यह है कि आयोजित कार्यक्रम की आवश्यकताओं के अनुसार वित्त अपने को व्यवस्थित कर लेता है। सोवियत अर्थ-व्यवस्था द्वारा यह भली प्रकार प्रमाणित है कि आयोजित अर्थ-व्यवस्था न केवल द्रव्य और ऋण के सम्बन्ध में वरन् अन्य प्रत्येक वस्तु के विषय में एक प्रसारशील अर्थ-व्यवस्था है।

वित्त की पूर्ति बैंकों का कार्य है, परन्तु आयोजित अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत बैंकें ऐसी स्वतन्त्र संस्थाएँ नहीं होतीं, जो हिस्सेदारों के लिए लाभ प्राप्त करने के लिए चलाई जाती हैं। वे इस अर्थ-व्यवस्था के लिए अनुबन्ध-मात्र हैं और योजना के सम्पादित करने के लिए आवश्यक वित्त का प्रबन्ध करने के विशिष्ट साधन हैं। अस्तु, उनका पूर्ण केन्द्रीकरण हो जाता है और उनके निम्नलिखित दो कर्तव्य होते हैं :—

(१) वे राज्य और आयोजित अर्थ-व्यवस्था के कोषाध्यक्षों का कार्य करते हैं। वे अधिकारियों द्वारा स्वीकृत भोजन के कार्यक्रम का सम्पादन करने के लिए, उद्योगों को आर्थिक साधन प्रदान करते हैं।

(२) वे आयोजित कार्यक्रम के सम्पादन का निरीक्षण करते हैं कम से कम जहाँ तक कार्य क्रम के वैत्तिक पक्ष का प्रश्न है। वे यह परीक्षा करते है कि वे उद्योग जिन्हें वित्त प्रदान किया गया है उन आर्थिक विधानों के अनुसार कार्य करते हैं या नहीं, जो योजना में उनके लिए निश्चित किए हैं। यह निरीक्षण स्वीकृति के दृष्टिकोण से होता है न कि लाभ की दृष्टि से।

उपर्युक्त व्यवस्था से यह स्पष्ट होता है कि आयोजित अर्थ-व्यवस्था में योजना-अधिकारियों के निर्णय ही पाँचों प्रश्नों का हल प्रस्तुत करते हैं। ये निर्णय श्रम के वितरण और बचत तथा विनियोग के निजी क्षेत्र को छोड़ कर मूल्य-व्यवस्था के स्थानापन्न सदृश हैं। श्रम तथा बचत आदि के साथ बाजार की व्यवस्था कुछ न कुछ कार्य करती ही रहती है वे उत्पादित विनिमय की गई, उद्योग में लगाई हुई, और उपभुक्त वस्तुओं की कीमतों और मात्राओं को न्यूनाधिक निश्चित योजनाओं द्वारा निर्धारित रखते हैं और माँग तथा पूर्ति को संस्थिति में रखते हैं। यह कहा जा सकता है, कि निर्णय यद्यपि कीमतों की गतिविधि का ध्यान रखे बिना ही किए जाते हैं, फिर भी उन निर्णयों का मानसिक आधार कुछ न कुछ उसी प्रकार का होता है। कुछ भी हो, हर प्रकार के वैकल्पिक उपायों पर विचार किया जाता है, और निर्णय उसी उपाय के पक्ष में होता है, जिससे सर्वश्रेष्ठ परिणामों की आशा हो। "आयोजित अर्थ-व्यवस्था मूल्य-चालित नहीं होती, वरन् तंत्र-चालित होती है।"—वह प्रत्यक्ष शासन-क्रिया से परिचालित होती है, मूल्यों के किसी द्राव्यिक माप-दण्ड से नहीं।

पूँजीवादी आर्थिक योजना

अब प्रश्न यह है कि क्या आर्थिक योजना पूँजीवाद में सम्भव है?

(१) यदि आर्थिक योजना को हम उसी रूप में समझें जिसमें उसकी व्याख्या की गई है, अर्थात् उसे समग्र अर्थ-व्यवस्था आयोजन मानें तो इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक होगा। पूँजीवाद एक आर्थिक संगठन है, जिसमें उत्पादन के भौतिक साधन को विभिन्न व्यक्ति मूल्य या किराए पर ले लेते हैं और उनसे अपनी इच्छानुसार इस दृष्टिकोण से कार्य लेते हैं कि उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं को बेचने से लाभ हो सके। उत्पादन के साधनों का व्यक्तिगत स्वामित्व और स्वतंत्र ठेका इस व्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ हैं। इसके अन्तर्गत एक-एक उद्योग में सैकड़ों और हजारों फर्में होती हैं जो या तो स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करती हैं या यदि संयुक्त भी होती हैं तो बहुत अपर्याप्त रूप में। आयोजित अर्थ-व्यवस्था एक ऐसा संगठन है जिसमें उत्पादन के साधन या तो न्यूनाधिक राज्य के आधीन होते हैं या राज्य उनका पूर्ण नियंत्रण रखता है। एक लघु क्षेत्र को छोड़ कर जिसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं इस व्यवस्था में ठेके की स्वतंत्रता नहीं रहती। प्रत्येक उद्योग सहयोजित और सहयोगी इकाई होता है।

इन दो आर्थिक व्यवस्थाओं के अन्तर को देखते हुए हम कह सकते हैं कि उस प्रकार की आर्थिक योजना, जिसकी चर्चा हम पहले कर आए हैं, पूँजीवाद में सम्भव नहीं है। उसके

लिए सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का केन्द्रीय नियंत्रण आवश्यक है । यह नियंत्रण आर्थिक योजना की प्रथम शर्त है । पूँजीवाद में नियंत्रणों की बाहुल्यता होती है जो आर्थिक योजना के स्वभाव के विरुद्ध है । आर्थिक, मितव्यय की दृष्टि से आयोजन के लिए प्रत्येक अर्थ व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने क्षेत्र के समस्त आर्थिक साधनों का नियंत्रण कर सकें । सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के लिए एक उत्कृष्ठ एकरूप योजना आवश्यक है । प्रभावोत्पादक योजना उस समय तक सम्भव है जब तक कि योजनाधिकारियों को उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रखने की पूरी शक्ति नहीं मिलती । नियंत्रण की वह शक्ति ऐसी होनी चाहिए कि अधिकारी यह कह सकें कि 'अमुक-अमुक योजना ही कार्यन्वित होगी ।'

(२) यदि 'आर्थिक योजना' का अर्थ यह हो, जैसा कुछ लोग सोचते हैं, कि बाजार-व्यवस्था की स्वतंत्र क्रिया में राज्य इस अभिप्राय से हस्तक्षेप करे कि समाज की आर्थिक व्याधियाँ किसी एक या दूसरी दिशा में सुधर सकें या दूर हो सकें—तो आर्थिक योजना निश्चय ही पूँजीवाद में सम्भव है । राज्य ने हस्तक्षेप की ऐसी नीति उस समय अपनाई, जब इंगलैंड तथा अन्य सभी पूँजीवादी देशों में 'करने-दो' व्यवस्था के दोष प्रकाश में आए । इस हस्तक्षेप नीति से बहुत कुछ भला भी हुआ है । परन्तु ऐसे हस्तक्षेप नीति को आर्थिक योजना कहना नितान्त भ्रमपूर्ण है । वह राज्य की योजना हो सकता है । परन्तु उसे राज्य की आर्थिक योजना नहीं कहा जा सकता । उसे केवल राज्य की आर्थिक क्रिया की संज्ञा दी जा सकती है । निःसंदेह यह आर्थिक क्रिया उन परिस्थितियों का सुधार करती हैं, जिनके अन्तर्गत मूल्य-व्यवस्था साधनों के वितरण को निर्धारित करती है, परन्तु यह आर्थिक क्रिया अन्तिम परिणाम को अनिश्चित छोड़ देतीं है । जो व्यक्तिगत निर्णयों पर निर्भर रहता है । कृषि-योजनाएँ, औद्योगिक योजनाएँ, जनसंख्या-योजनाएँ, आवागमन की योजनाएँ आदि अधिकांश योजनाएँ जो पिछले वर्षों में अधिकांश पूँजीवादी देशों में, जिनमें भारतवर्ष भी सम्मिलित है, प्रकाशित हुई हैं, इसी प्रकार की हैं । ये योजनाएँ मानती हैं कि राज्य या तो एक निरीक्षक संस्था है, या अपनी योजनाओं को कानून बनाकर या प्रोत्साहन द्वारा या अन्य अप्रत्यक्ष तरीकों से लागू करने वाली संस्था जो इन योजनाओं के सम्पादन को व्यक्तियों के हाथों में छोड़ देती है; कि वे कम या अधिक स्वेछानुसार योजनाओं को कार्यान्वित कर सकें ।

(३) यदि 'आर्थिक योजना' का अर्थ यह हो जैसा कुछ लोग सोचते हैं, कि राज्य केवल अर्थ-व्यवस्था के उन मुख्य अंगों पर नियंत्रण रखे; जिन्हें मुख्य या आधारभूत-उद्योग (key-industries) कहा जा सकता है, और कम महत्वपूर्ण वस्तुओं तथा सेवाओं को व्यक्तिगत साहसोद्यम के लिए छोड़ दे तथा द्रव्य और ऋण को केन्द्रीय बैंक-नीति द्वारा नियंत्रित करें और विनियोग और जन-कार्यों के दीर्घ-कालीन प्रबन्ध आदि को ही अपने हाथों में रखें, तो भी वह पूँजीवाद में सम्भव है । वस्तुतः जब 'आयोजित पूँजीवाद, की बात सोची जाती है तो काफी हद तक उसका तात्पर्य कीमत निश्चित करके 'कोटा' का नियंत्रण करने, भूमि के क्षेत्रफल पर प्रतिबन्ध लगाने आदि से मिलते-जुलते कामों से ही होता है । नियन्त्रणों के ये प्रकार अधिकतर हस्तक्षेप नीति के समान होते हैं । उनके संबन्ध में यह कहा जा सकता है (अ) कि मुख्य-उद्योगों (key-industries) का निश्चय कठिन और जटिल होता है; यहाँ बहुत सम्भव है कि अधिकारीगण कोरी कल्पना में बह जाएँ ; (ब) कि यदि-विनियोग

का पूर्ण नियंत्रण न हो तोइसकी सम्भावना है कि राज्याधि-कारियोंद्वारा नियंत्रित क्षेत्रों के अतिरिक्त जो अन्य व्यक्तिगत क्षेत्र हैं वे विरोधी की ओर उन्मुख हो जायँ ;

और (३) कि निजी फर्मों की विनियोग-नीतियों के कारण इसकी आवश्यकता होगी कि उनके गुण-प्रवगुण का परीक्षण किया जाय और यह भी निश्चय किया जाय कि एक उद्योग से दूसरे की अपेक्षा कितनी पूँजी लगायी जाय। इन तीन बातों के परिणाम-स्वरूप राजकीय नियंत्रण को दूसरे क्षेत्रों तक विस्तृत करने की मनोवृत्ति होगी। और कीमतों को निश्चित करने, 'कोटों' को नियंत्रित करने, और भूमि पर प्रतिबन्ध लगाने आदि के उपायों का प्रयोग इसलिए किया जाने लगेगा कि वैयक्तिक क्षेत्र अधिकाधिक राजकीय क्षेत्र पर निर्भर रहें। यदि यह क्रम तार्किक अंत तक ले जाया जाय तो उसका फल वह व्यवस्था होगी जिसका स्वरूप तो कदाचित पूँजीवाद जैसा ही होगा, पर तत्त्व कुछ और ही।

फिर भी, यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पूँजीवाद का जितना भी आयोजन हो सकता है वह प्रत्यक्ष नियंत्रण द्वारा नहीं, वरन् क्षतिपूर्तियों (compensation), पूरक सहायताओं (supplementation), प्रोत्साहन (stimulation) या प्रतिबन्धों (restriction) आदि अप्रत्यक्ष साधनों द्वारा ही सम्भव है।

केवल इन्हीं साधनों की सहायता से राज्य अनायोजित अर्थ-व्यवस्था के उन स्वतंत्र हज़ारों लाखों उद्योगों की गति-विधि का नियमन कर सकता है, जिससे सम्भावित परिणाम आयोजित अर्थ व्यवस्था के परिणामों के निकट पहुँच सकें।

इसका कारण यह है कि पूँजीवाद के अन्तर्गत सरकार को एक गंभीर असुविधा यह होती है कि कोई भी ऐसा महत्वपूर्ण साधन उसके पास नहीं होता जिसका सम्पूर्ण नियंत्रण सरकार करती हो। इसलिए सरकार केवल यही कर सकती है, कि आर्थिक क्रिया को पूरा करने या सहायता देने या उस पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए अप्रत्यक्ष विधियों का प्रयोग करे। उदाहरणार्थ सरकार उपयोग-वस्तुओं के उत्पादन को पूर्ण तथा नियन्त्रित नहीं कर सकती, परन्तु वह उनके उत्पादन का पूरक या सहायक बन सकती है; सरकार पूंजी-वस्तुओं का बड़े पैमाने पर उत्पादन स्वयं नहीं करती, परन्तु वह उनके उत्पादन को सस्ते या गारंटी-प्राप्त ऋणों द्वारा प्रोत्साहन दे सकती है। सरकार वस्तुओं की सामान्य कीमत को नियत नहीं करती, परन्तु वह द्रव्य नीति द्वारा कीमतों के सामान्य-स्तर को प्रभावित कर सकती है और आवश्यकता पड़ने पर महत्त्वपूर्ण वस्तुओं की अधिकतम कीमतों को नियत कर सकती है; सरकार द्रव्य-नीति का नियंत्रण नहीं करती परन्तु वह नोटों को प्रकाशित करने के नियम बना कर और बैंकों से उधार लेकर द्रव्य-नीति पर दबाव डाल सकती है; सरकार का मज़दूरी, व्याज या लगान के सामान्य-स्तर पर कोई भी नियंत्रण नहीं है। फिर भी वह राजकीय ऋण और उसके भुगतान के नियमों में परिवर्तन द्वारा एक सीमा तक इन्हें निश्चय ही प्रभावित कर सकती है; आय के वितरण से सामान्यतः सरकार का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। परन्तु वह करों द्वारा आमदनी के एक बड़े हिस्से को पुनर्वितरित कर सकती है; सरकार मज़दूरी की दरों का निश्चय नहीं करती, परन्तु न्यूनतम मज़दूरी को तो नियत कर ही सकती है।

सरकार के पास अन्य असंख्य विधियाँ हैं, जिनके द्वारा वह किसी समाज की आर्थिक प्रक्रियायों को फिर से पंक्तिबद्ध और व्यवस्थित कर सकती है। विनियोग के नियंत्रण का उपाय विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके अन्तर्गत विनियोग-न्यूनता (under-investments) और न केवल वैयक्तिक उद्यमों के विनियोग और व्यक्तिगत व्यवसायों को दी हुई आर्थिक सहायता ही आते हैं, वरन् जन-कार्यों के तथा जातीय उपभोग की योजनाओं के विनियोग भी सम्मिलित हैं। उदाहरण स्वरूप शिक्षा, गृह-व्यवस्था, यातायात, तथा स्वास्थ्य-शिक्षा आदि पर किए गए व्ययों का नाम लिया जा सकता है।

यदि ये सभी विधियाँ समझदारी से संयुक्त तथा संगठित की जाँय तो वे काफ़ी हद तक उन उद्देश्यों को प्राप्त कर लेंगी जो आर्थिक योजना के उद्देश्य (पूर्ण वृत्ति, असमानताओं में कमी, जीवन-स्तर का विकास और आर्थिक सुरक्षा आदि) हैं। यह सच है कि लक्ष्यों का ठीक-ठीक निश्चय, और एक निश्चित अवधि में उनकी प्राप्ति उतना सम्भव न होगा; परन्तु लक्ष्य से कुछ ही कम तो अवश्य प्राप्त कर लिया जायगा।

अर्थ-सिद्धान्त और आर्थिक आयोजन

आर्थिक आयोजन का कोई अपना पृथक सिद्धान्त नहीं है। इस ओर जो भी प्रयत्न किए गए हैं वे व्यक्तिवादी साहसोद्यम के सिद्धान्तों को सामूहिक उद्यमों के सिद्धान्तों में परिणत करने की दिशा में ही हुए हैं। इस प्रश्न को लेकर अर्थ-शास्त्रियों में गर्मागर्म विवाद रहा है। कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है, कि ये सिद्धान्त आयोजित अर्थ-व्यवस्था पर लागू होते हैं और अन्य अर्थशास्त्रियों के अनुसार ऐसा नहीं होता। ऐसा होता है या नहीं, यह निम्नलिखित कथन से स्पष्ट होगा।' आर्थिक सिद्धान्त दुर्लभ साधनों और वैकल्पिक लक्ष्यों के सम्बन्ध का अध्ययन है। वह वैकल्पिक लक्ष्यों में दुर्लभ साधनों के वितरण की व्याख्या करता है, ताकि सर्वश्रेष्ठ परिणाम प्राप्त हो सकें। आर्थिक-सिद्धान्त को इसकी चिन्ता नहीं रहती कि लक्ष्य क्या है। लक्ष्यों का निश्चय आर्थिक क्रिया के उद्देश्य से सम्बद्ध है, न कि उसके व्यापार या व्यवहार से जो दुर्लभ साधनों के वितरित करने से सम्बन्धित है। पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में उपभोक्ताओं की विविध वस्तुओं की पसन्दों द्वारा लक्ष्यों (मूल्यों के एक माप दण्ड) को निश्चित किया जाता है। जैसे पहिले कहा जा चुका है, यह लक्ष्य-वस्तुओं की उन मात्राओं का निर्णय करते हैं जो उत्पादित की जायँगी। उन पसन्दों द्वारा निर्देशित होने पर उत्पादकगण उत्पादन के दुर्लभ साधनों को वैकल्पिक उपयोगों में इस ढंग से लगाते हैं, कि वस्तुओं की आवश्यक मात्राएँ न्यूनतम लागत पर उत्पादित हो जाती हैं। इस प्रकार एक स्वतंत्र आर्थिक व्यवस्था में, आर्थिक क्रिया का लक्ष्य उपभोक्तओं की इच्छाओं की सन्तुष्टि है।

आयोजित व्यवस्था के मूल्यों का भी एक माप-दण्ड—लक्ष्य—होता है। यह योजनाधिकारियों के निर्णयों द्वारा ही निर्दिष्ट होता है। मूल्यों का यह माप-दण्ड अनायोजित अर्थ व्यवस्था की ही भाँति उपभोक्तओं का सन्तोष हो सकता है या सामाजिक सुरक्षा अथवा पूर्ण वृत्ति सरीखा कोई अन्य लक्ष्य भी हो सकता है। दुर्लभ उत्पादक साधन विविध उपयोगों में बाँट दिए जाते हैं ताकि उनको इन लक्ष्यों की प्राप्ति सर्वोत्तम उपायों द्वारा हो सके। इसमें सन्देह

नहीं कि साधनों के बँटवारे का यह कार्य प्रायः स्वेच्छापूर्वक (arbitrarily) किया जाता है परन्तु इसका लक्ष्य वही होता है जो प्रतियोगी संगठनों का होता है। और मानसिक रूप से दोनों के सिद्धान्त भी एक हैं।

इस प्रकार सिद्धान्ततः और मूलतः आयोजित अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक सिद्धान्तों का महत्व स्वतंत्र उद्योग व्यवस्था सरीखा ही होता है। आर्थिक सिद्धान्त इसकी अपेक्षा नहीं करते कि मूल्यों के माप-दण्ड लक्ष्यों को बलात् प्राप्त किया जाता है या प्रजातान्त्रिक ढंग से। आर्थिक सिद्धान्त आर्थिक क्रिया के उद्देश्य को निश्चित करने के प्रश्न से सम्बद्ध नहीं हैं। वे केवल उस क्रिया के सम्पादन से संबन्धित हैं।

जो भी हो इन दोनों अर्थ-व्यवस्थाओं के एक अन्तर को ध्यान रखना चाहिए। अन्तर यह है कि आयोजित अर्थ व्यवस्था में मूल्यों का माप-दण्ड अनायोजित व्यवस्था के माप-दण्ड से भिन्न होता है। अतः मूल्यों के इस नए माप-दण्ड के अनुसार उत्पादन के साधनों के बँटवारे के अनुपात परिवर्तन हो जाएँगे।

परन्तु यह परिवर्तन केवल व्यवहार का है, न कि सिद्धान्त का। इसका एक श्रेष्ठ उदाहारण किसी युद्ध के सम्पादन के लिए की हुई उत्पादन की योजना है। युद्ध में आर्थिक क्रिया का उद्देश्य यह होता है कि जितना भी सम्भव हो सके युद्धरत सेनाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति की जाय और साधारण जनता को केवल नितान्त आवश्यक वस्तुएँ ही मिल सकें।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उत्पादक साधन दूसरे उद्योगों से हटाकर रक्षा-उद्योगों की ओर उन्मुख कर दिए जाते हैं। ऐसा ही अन्य बहुत सी सामग्रियों के साथ भी होता। साधारण नागरिक मूल्यों के इस नए माप-दण्ड से स्वभावतः कष्ट पाते हैं। परन्तु अर्थ-शास्त्र के सिद्धांत पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। यह उचित ही कहा गया है कि युद्ध की अर्थ-व्यवस्था किसी निश्चित वास्तविक लक्ष्य के लिए वास्तविक साधनों के बँटवारे का एक विशेष अध्ययन मात्र है। इस सम्बन्ध में एक बात का उल्लेख कर आवश्यक है। यह पहले कहा गया था कि वैकल्पिक लक्ष्यों के बीच, सीमित साधनों को बांटने के लिए, योजनाधिकारियों द्वारा किए गए निर्णय, प्रायः अविहित (arbitrary) होते हैं। यह इसलिए है क्योंकि आयोजित अर्थ-व्यवस्था में, बाजार या मूल्य-व्यवस्था की भाँति, कोई भी ऐसा सैद्धान्तिक यंत्र नहीं होता, जो अभिरुचियों और सम्भावनाओं को माप सके। इस प्रकार का कोई यंत्र अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि आर्थिक व्यवस्था को एक वैज्ञानिक आधार देना होता है। ऐसे यंत्र के अभाव में आर्थिक अनुगणन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाते हैं। और इसकी सम्भावनाएँ बहुत हैं, कि निर्णय अन्याय पूर्ण या 'तीर नहीं तो तुक्का' प्रकार के या तात्कालिक और स्वार्थ्य स्वार्थों से प्रभावित हो जाये, जिसका परिणाम यह होगा कि ऐसे निर्णय अर्थ-व्यवस्था को भारी और गम्भीर हानि पहुँचाएँगे।

सफल आर्थिक आयोजन की शर्तें—आर्थिक आयोजन कोई सरल क्रिया नहीं है यह आर्थिक साधनों को विविध दिशाओं में लगाने से सम्बद्ध, निर्देशन और नियोजन मात्र नहीं है। सफल होने के लिए आयोजित समाज को कुछ शर्तें पूरी करनी होती हैं। यह निम्नलिखित है :—

(१) योजना हर प्रकार से त्रुटिहीन होनी चाहिए । उसे ठीक हिसाब-किताब और प्राकृतिक साधनों के सम्पूर्ण तथा गम्भीर अन्वेषण, अनुसन्धान और खोज का परिणाम होना चाहिए । उसे सच्चे तथ्यों और वैज्ञानिक-गणन (accounting) पर आधारित होना चाहिए। पूर्वताओं (priorities) का एक माप भी होना आवश्यक है । यदि ऐसा नहीं है. तो निश्चित रूप से योजना असफल रहेगी ।

(२) योजना का सम्पादन कुशल, शिक्षित, ईमानदार और उत्तरदायित्व को समझने वाले व्यक्तियों के हाथों में होना चाहिए । सफलता और विजय की आकांक्षा उनके हर कार्य को शक्ति दे—यह जरूरी है ।

(३) जनता का पूर्ण सहयोग मिलना चाहिए। योजना को सफल बनाने के लिए, जनता में उद्देश्य और इच्छा की एकता होनी चाहिए । लोगों को चाहिए कि आर्थिक योजना को अपनी योजना समझें, और सामान्य हित में त्याग करने और सरकार के दबाव को मानने के लिए भी सहर्ष प्रस्तुत हों। युद्ध काल में इस प्रकार का सहयोग मिलना आसान होता है और इसलिए युद्ध के समय आर्थिक आयोजन अपेक्षाकृत आसान काम होता है ।

(४) योजना का उद्देश्य स्पष्ट और निश्चित होना चाहिए । पार्टीबन्दी की राजनीति के कारण सरकार में परिवर्तन हो जाने पर योजना में भी परिवर्तन न होना चाहिए। यदि योजना परिवर्तनशील है, तो उसमें कोई भी स्थिरता न आ पाएगी और उसमें गतिरोध आने लगेंगे। युद्ध, अकाल और आर्थिक संकट जैसे आपत्ति कालों में उद्देश्य स्पष्ट और निश्चित हो जाते हैं, और विशेष रूप से युद्ध के समय योजना के सम्पादन की गति अपेक्षाकृत सहज हो जाती है।

(५) जनता की इच्छाओं और आकांक्षाओं में किसी सीमा तक एकरूपता होनी चाहिए या उपभोक्ताओं के चुनावों को मापने के लिए कोई वैज्ञानिक यंत्र होना चाहिए। यदि समाज की इच्छाएँ एक ही प्रकार की हैं, या (इस गुण के अभाव में) यदि इच्छाओं का वैज्ञानिक अनुगणन किया जा सकता है , तो आवश्यक वस्तुओं की मात्रा या विविध वस्तुओं की विविध-मात्राओं का ठीक-ठीक अनुमान लगा लिया जायगा, और उनके उत्पादन की योजना सरल हो जायगी । उपभोक्ताओं की पसन्द के वैज्ञानिक ज्ञान के बिना विविध तथा असंख्य इच्छाओं की तृप्ति के लिए योजना बनाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि ऐसी दशा में सम्भव है, कि कभी तो उत्पादित वस्तुओं की पूर्ति मांग से अधिक हो जाय और कभी मांग की मात्रा पूर्ति से बहुत बढ़ जाय ।

(६) सरकार को इतना सबल होना चाहिए कि वह अपनी शक्ति का प्रयोग कर सके, ताकि अनुशासन स्थापित हो और देश में कानून तथा व्यवस्था बनी रहे । अपराधियों और बेईमान अफसरों को दण्ड देने और लोगों को आयोजित व्यवस्था की स्वाभाविकता' 'युक्ति-युक्तता' और 'वैज्ञानिकता' में विश्वास दिलाने के लिए सरकार को सदैव उद्यत रहना चाहिए, जिससे जनता पूर्ण रूप से विश्वस्त हो सके ।

आर्थिक आयोजन की आलोचनाएँ—इसका उल्लेख किया जा चुका है कि व्यक्तिगत उद्योग व्यवस्था की त्रुटियों को दूर करने का सबसे अच्छा सुझाव आर्थिक आयोजन ही प्रस्तुत करता

है। इसके अतिरिक्त आर्थिक आयोजन के अन्तर्गत, वैयक्तिक अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा कहीं अधिक संभावनाएँ भी आती हैं। आर्थिक आयोजन समस्त आर्थिक एवं सामाजिक व्याधियों का निदान है। आय की असमानताओं, उपभोग में अपव्ययों, साधनों के विनाश, आर्थिक संकटों, निम्न-जीवन-स्तरों आदि बुराइयों को आर्थिक आयोजन ही दूर करेगी।

परन्तु, आर्थिक आयोजन से होने वाले लाभों का मूल्य भी चुकाना पड़ता है। यह मूल्य व्यक्तियों की आर्थिक स्वतन्त्रता का अपहरण है—उत्पादन, व्यवसाय, (occupation), बचत, विनियोग और उपभोग सम्बन्धी चुनावों की स्वतन्त्रता का अपहरण और उनके स्थान पर राजकीय नियंत्रण की पद्धति की स्थापना।

आर्थिक आयोजन के विरुद्ध यह आपत्ति की जा सकती है और की जाती है, और इसीलिए अमरीका जैसे कुछ देश जो, आर्थिक स्वतंत्रता को, आर्थिक सुरक्षा तथा उच्चतर जीवन-स्तर से अधिक महत्व देते हैं वैयक्तिक अर्थ-व्यवस्था को आयोजित व्यवस्था से स्थानापन्न नहीं करना चाहते।

परन्तु, यह आपत्ति बहुत गम्भीर नहीं है। आर्थिक स्वतन्त्रता की हानि की क्षति पूर्ति अभावों और बेकारी से मुक्ति के रूप में हो जाती है। अमेरिका जैसे देशों में, इस आलोचना का समर्थन इसलिए अधिक होता है क्योंकि वहाँ अन्य देशों की अपेक्षा आर्थिक सुरक्षा कहीं अधिक है। भारत और चीन जैसे निर्धनताग्रस्त देशों में ऐसी आपत्ति पर बहुत ध्यान न देना चाहिए।

दूसरी आपत्ति यह है, कि आर्थिक योजना साधनों का अनुकूलतम (optimum) वितरण नहीं कर सकती, क्योंकि इस कार्य के लिए उत्तरदायी अधिकारी न तो समाज की आवश्यकताओं का पूरा अनुमान लगा सकते हैं, और न उत्पादन के साधनों को सर्वश्रेष्ठ आर्थिक-संगठन के रूप में संयोजित कर सकते हैं, ऐसा करने के लिए केन्द्रीय-शक्ति को अपने निर्णयों पर निर्भर रहना पड़ेगा। अन्याय पूर्ण और आकस्मिक निर्णयों का परिणाम होगा—असफलताएँ और हानियाँ। अनायोजित अर्थ-व्यवस्था में, असफलताएँ और हानियाँ अपना सुधार स्वयं कर लेती हैं। आयोजित अर्थ-व्यवस्था में वे द्विगुणित हो जाते हैं।

निश्चय ही यदि निर्णय गलत है, तो असफलताएँ और हानियाँ होंगी। परन्तु, जैसी परिभाषा दी गई है, उसके अनुसार यदि आर्थिक योजना तर्कयुक्त तथा न्याय संगत है, तो असफलताओं और हानियों की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। ऐसी अर्थ-व्यवस्था की पृष्ठ-भूमि में समाज के सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्क होंगे, और यथा सम्भव इसका प्रयत्न करेंगे, कि असफलता और हानि न हो।

एक तीसरी आपत्ति यह है कि आर्थिक आयोजन आर्थिक क्रियाओं को अपने आप चलने देने के लिए कोई उपाय प्रस्तुत नहीं करती जैसा वैयक्तिक साहसोद्यम में लाभ की आकांक्षा द्वारा होता है। इस प्रकार की प्रेरणा अभाव में लोग आर्थिक योजना को सफल बनाने के लिए पूरा पूरा प्रयत्न न करेंगे। इसमें सन्देह नहीं कि आयोजित अर्थ-व्यवस्था में व्यक्तिवादी आर्थिक उद्देश्य का अभाव होगा। परन्तु आयोजन के समर्थकों का विश्वास है,

कि अन्य उतने ही सबल उद्देश्य इस अन्तर की पूर्ति कर देंगे। इन समर्थकों को विश्वास है कि मानवीय आचरण का व्यक्तिवादी रूप सामूहिक रूप में परिवर्तित हो जायगा, और जो कार्य पहले अपने निजी हितों के लिए किए जाते थे, अब समाज की प्रगति तथा उन्नति के लिए किए जाने लगेंगे।

एक और भी आपत्ति है जिस पर हमें विचार करना है। वह आपत्ति यह है कि आर्थिक आयोजन न केवल आर्थिक स्वतंत्रता का वरन हर प्रकार की अन्य स्वतंत्रता का भी अपहरण कर लेगा। प्रजातंत्र एक सर्व-सम्मानित विचार है और इसका बलिदान आसानी से नहीं किया जा सकेगा। आदर्श की दृष्टि से आयोजित अर्थ-व्यवस्था, प्रजातंत्रवाद के सर्वश्रेष्ठ रूप का प्रतिनिधित्व करती है, क्योंकि वह जनता के सहयोग पर आधारित है। परन्तु उसके अन्तर्गत शक्ति के केन्द्रीकरण—एक सर्वशक्तिमान, राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियों पर एकाधिकार करने वाले महामानव राज्य के निर्माण—का प्रश्न आता है। परन्तु यदि यह शक्ति, ऐसे बेईमान व्यक्तियों के हाथ में पड़ गई, जो केवल अपने या अपने दलों के हितों की चिन्ता करते हैं, तो सम्भव है कि वे प्रजातांत्रिक स्वतंत्रता को इस बर्बरता से कुचल डालें कि प्रजातंत्र की सत्ता नाम-मात्र को रह जाय। ऐसी दशा में अपने शासकों के निर्वाचन की स्वतंत्रता, भाषण की स्वतंत्रता, संगठन की स्वतंत्रता, और धार्मिक विश्वास की स्वतंत्रता आदि हर प्रकार की स्वतंत्रताएँ नष्ट हो जायँगी।

कहा जा सकता है कि यह खतरा राजनीतिक अधिक है और आर्थिक कम। सतत् जागरुकता द्वारा ही इस भय से बचा जा सकता है। लास्की ने ठीक ही कहा है : "सतत् जागरुकता ही स्वतंत्रता का मूल्य है।"

अनुक्रमणिका

ब

भ

म

य